भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में

निग्गंथं पावयणं

दसवेआलियं

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण)

वाचना प्रमुख

आचार्य तुलसी

संपादक और विवेचक

मुनि नथमल

प्रकाशक

जैन विश्व भारती

लाडनूं (राजस्थान)

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

आर्थिक सहायता
बेगराज भँवरलाल चोरड़िया
चेरिटेबल ट्रस्ट

प्रबन्ध-सम्पादक
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन
(जै० वि० भा०)

प्रथम संस्करण १९६४
द्वितीय संस्करण १९७४
प्रकाशन तिथि :
विक्रम संवत् २०३१
२५०० वां निर्वाण दिवस

पृष्ठांक :
६५०

मूल्य :
रु० ८५.००

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली-९

DASAVEĀLIYAM

(Text, Sanskrit Rendering and Hindi Version with notes)

Vācanā Pramukha

ĀCĀRYA TULASI

Editor and Commentator

Muni Nathamal

Publisher

JAIN VISHWA BHARATI

LADNUN (Raj.)

समर्पण

॥ १ ॥

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था।
सत्य-योग में प्रवरचित्त था,
उस भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥ २ ॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।
सज्झाय-सज्झाण-रयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥ ३ ॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ॥

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों मे उप्त और सिंचित द्रुम-निकुंज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नो से प्राणवान् देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमो का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगे। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अत मेरे इस अन्तस्तोष मे मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति मे संविभागी रहे हैं। संक्षेप मे वह संविभाग इस प्रकार है

सम्पादक और विवेचक : : मुनि नथमल

सहयोगी : : मुनि मीठालाल

: : मुनि दुलहराज

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

दसवेआलियं (दशवैकालिक) का यह दूसरा संस्करण जनता के हाथों में है। इसका प्रथम संस्करण सरावगी चेरिटेबल फण्ड के अनुदान से स्वर्गीय श्री महादेवलालजी सरावगी एवं उनके दिवंगत पुत्र पन्नालालजी सरावगी (एम० पी०) की स्मृति में श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता की ओर से माघ-महोत्सव, वि० सं० २०२० (सन् १९६४) में प्रकाशित हुआ था। वह संस्करण कभी का समाप्त हो गया था। उसके दूसरे संस्करण की माँग थी और वह 'जैन विश्व भारती', लाडनूं के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

परमपूज्य आचार्यदेव एवं उनके इंगित और आकार पर सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्यक्षेत्र में युगान्तरकारी है, इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं, पर तथ्य है। बहुमुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य श्री तुलसी ज्ञान-क्षितिज के महान् तेजस्वी रवि हैं और उनका मंडल भी शुभ्र-नक्षत्रों का तपोपुञ्ज है, यह इस श्रम-साध्य कृति से स्वयं फलीभूत है।

आचार्यश्री ने आगम-संपादन के कार्य के निर्णय की घोषणा सं० २०११ की चैत्र सुदी १३ को की। उसके पूर्व से ही श्रीचरणों में विनम्र निवेदन रहा—आपके तत्वावधान में आगमों का संपादन और अनुवाद हो—यह भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कड़ी के रूप में अपेक्षित है। यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा जिसका लाभ एक, दो, तीन ही नहीं अपितु अचिन्त्य भावी पीढ़ियों को प्राप्त होता रहेगा। इस आगम-ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ मेरी मनोभावना अंकुरित ही नहीं, फलवती और रसवती भी हुई थी। इसका प्रकाशन अत्यन्त समादृत हुआ और माँग की पूर्ति के लिए यह अपेक्षित दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

मुनिश्री नथमलजी तेरापथ संघ के अप्रतिम मेधावी सन्त हैं। उनका श्रम पग-पग पर मुखरित हुआ है। आचार्यश्री तुलसी की दृष्टि और मुनिश्री नथमलजी की सृष्टि का यह मणि-कांचन योग है। आगम का यह प्रथम पुष्प होने के कारण मुनिश्री को इसके विवेचन में सैकड़ों ग्रंथ देखने पड़े हैं। इनके दृढ़ अध्यवसाय और पैनी दृष्टि के कारण ही यह ग्रन्थ इतना विशद और विस्तृत हो सका है।

मुनिश्री दुलहराजजी ने आद्योपान्त अवलोकन कर इस संस्करण को परिष्कृत करने में बड़ा श्रम किया है। उनके अथक परिश्रम के बिना इतना शीघ्र पुनःप्रकाशन कठिन ही नहीं असम्भव होता।

इस आगम ग्रन्थ के अर्थ-व्यय की पूर्ति बेगराज भंवरलाल चेरिटेबल ट्रस्ट के अनुदान से हो रही है। इसके लिए संस्थान चोरड़िया बन्धु एवं उक्त न्यास के प्रति कृतज्ञ है।

जैन विश्व भारती के अध्यक्ष श्री खेमचन्दजी सेठिया, मन्त्री श्री सम्पतरायजी भूतोड़िया आदि के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूं, जिनका सहृदय सहयोग मुझे निरन्तर मिलता रहा।

श्री देवीप्रसाद जायसवाल (कलकत्ता) एवं श्री मन्नालालजी बोरड़ के प्रति भी मेरी कृतज्ञता है जिनके सहयोग से कार्य समय पर सम्पन्न हो पाया है।

आशा है, इस दूसरे संस्करण का पूर्ववत् ही स्वागत होगा।

दिल्ली
कार्तिक कृष्णा १५, २०३१
(२५००वाँ महावीर निर्वाण दिवस)

श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम एवं साहित्य प्रकाशन

सम्पादकीय

सम्पादन का कार्य सरल नही है —यह उन्हे सुविदित है, जिन्होने इस दिशा मे कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थो के सम्पादन का कार्य और भी जटिल है, जिनकी भाषा और भाव-धारा आज की भाषा और भाव-धारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार मे आरब्ध होता है, वह उसी आकार मे स्थिर नही रहता - या तो वह बडा हो जाता है या छोटा। यह ह्रास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। कोई भी आकार ऐसा नही है, जो कृत है और परिवर्तनशील नही है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारो और आचारो के प्रति अपरिवर्तनशीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-बिन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। कृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहा परिवर्तन का स्पर्श न हो ? इस विश्व में जो है, वह वही है जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विमुक्त नही है।

शब्द की परिधि मे बधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है जो तीनो कालो मे समान रूप मे प्रकाशित रह सके ? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है—भाषा-शास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नही रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है जो वर्तमान मे प्रचलित है। 'पाषण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-ग्रन्थो और अशोक के शिलालेखो मे है, वह आज के श्रमण-साहित्य मे नहीं है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम-साहित्य के सैकडो शब्दो की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नही दे रहे हैं। इस स्थिति मे हर चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरूह है।

मनुष्य अपनी शक्ति मे विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अत वह किसी भी कार्य को इसलिए नही छोड देता कि वह दुरूह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नही हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है, वह अतीत के किसी भी क्षण मे विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के सामने अनेक कठिनाइयां थीं। उन्होने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है—

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नही है।

२. सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नहीं है।

३. अनेक वाचनाएं (आगमिक अध्यापन की पद्धतियां) हैं।

४. पुस्तकें अशुद्ध हैं।

५. कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गंभीर हैं।

६ अर्थ विषयक मतभेद भी हैं।[1]

इन सारी कठिनाइयों के उपरान्त भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गए।

कठिनाइया आज भी कम नही है, किन्तु उनके होते हुए भी आचार्यश्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथो में ले लिया। उनके शक्तिशाली हाथो का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य, जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राण-सचार करना क्या बड़ी बात है? बड़ी बात यह है कि आचार्यश्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियों की असमर्थ अगुलियो द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। सम्पादन कार्य मे हमे आचार्यश्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नही है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है। आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए अपना पर्याप्त समय दिया है। उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का सबल पा हम अनेक दुस्तर धाराओ का पार पाने मे समर्थ हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण का विद्वानो ने जो स्वागत किया, वह उनकी उदार भावना का परिचायक है। आगम-सम्पादन कार्य के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा स्वीकृत तटस्थ नीति तथा सम्पादन-कार्य मे सलग्न साधु-साध्वियो का श्रम भी उसका हेतु है। द्वितीय संस्करण मे सामान्य सशोधनो के सिवाय कोई मुख्य परिवर्तन नही किया गया है। हमे विश्वास है कि यह द्वितीय सस्करण भी पाठको के लिए उतना ही स्मरणीय होगा।

हमारे सम्पादन-क्रम मे सब से पहला कार्य है सशोधित पाठ का सस्करण तैयार करना, फिर उसका हिन्दी अनुवाद करना। प्रस्तुत पुस्तक दशवैकालिक सूत्र का द्वितीय संस्करण है। इसमें मूल पाठ के साथ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पण है। इसके प्रथम सस्करण मे शब्द-सूची थी, पर शब्द-सूची मूल पाठ के सस्करण के साथ रखी गई है, इसलिए इस सस्करण मे उसे नही रखा गया है। प्रस्तुत सूत्र के अनुवाद और सपादन कार्य मे जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष योग रहा, उन सबके प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करता हूँ।

अणुव्रत विहार
नई दिल्ली
२५०० वा निर्वाण दिवस

मुनि नथमल

---

१. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति १, २

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद्, मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥

भूमिका

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

ज्ञान पाँच हैं— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। इनमे चार ज्ञान स्थाप्य हैं—वे केवल स्वार्थ हैं। परार्थज्ञान केवल एक है, वह है श्रुत। उसी के माध्यम से सारा विचार-विनिमय और प्रतिपादन होता है।[1] व्यापक अर्थ में श्रुत का प्रयोग शब्दात्मक और संकेतात्मक— दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के अर्थ मे होता है। अतएव उसके चौदह विकल्प बनते हैं[2]—

(१) अक्षर-श्रुत।
(२) अनक्षर-श्रुत।
(३) संज्ञी-श्रुत।
(४) असंज्ञी-श्रुत।
(५) सम्यक्-श्रुत।
(६) मिथ्या-श्रुत।
(७) सादि-श्रुत।
(८) अनादि-श्रुत।
(९) सपर्यवसित-श्रुत।
(१०) अपर्यवसित-श्रुत।
(११) गमिक-श्रुत।
(१२) अगमिक-श्रुत।
(१३) अंगप्रविष्ट-श्रुत।
(१४) अनंगप्रविष्ट-श्रुत।

संक्षेप में 'श्रुत' का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है। वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद' और बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है, वैसे ही जैन-शास्त्रों को 'आगम' कहा जाता है। आगम के कर्ता विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। इसलिए शेष साहित्य से उनका वर्गीकरण भिन्न होता है।

कालक्रम के अनुसार आगमों का पहला वर्गीकरण समवायांग मे मिलता है। वहा केवल द्वादशाङ्गी का निरूपण है। दूसरा वर्गीकरण अनुयोगद्वार में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का नामोल्लेख मात्र है। तीसरा वर्गीकरण नन्दी का है, वह विस्तृत है। जान पड़ता है कि समवायांग और अनुयोगद्वार का वर्गीकरण प्रासंगिक है। नन्दी का वर्गीकरण आगम की सारी शाखाओं का निरूपण करने के ध्येय से किया हुआ है। वह इस प्रकार है—

१—अनुयोगद्वार सूत्र २ : तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति णो समुद्दिसंति णो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो ·· अणुओगो य पवत्तइ।

२—नंदी सूत्र ५१ : से किं त सुयनाणपरोक्खं·· चोद्दसविहं पण्णत्तं तं जहा—अक्खरसुयं · अणंगपविट्ठं।

आगम
अंगप्रविष्ट
आचार
सूत्रकृत
स्थान
समवाय
व्याख्याप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा
उपाशकदशा
अन्तकृतदशा
अनुत्तरोपपातिकदशा
प्रश्नव्याकरण
विपाक
दृष्टिवाद
अंगबाह्य
आवश्यक
सामायिक
चतुर्विंशतिस्तव
वन्दना
प्रतिक्रमण
कायोत्सर्ग
प्रत्याख्यान
आवश्यक व्यतिरिक्त
कालिक
उत्तराध्ययन
दशाश्रुतस्कध
कल्प
व्यवहार
निशीथ
महानिशीथ
ऋषिभाषित
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
चन्द्रप्रज्ञप्ति
क्षुल्लिका विमान-प्रविभक्ति
महल्लिका विमान-प्रविभक्ति
अङ्गचूलिका
वर्गचूलिका
विवाहचूलिका
अरुणोपपात
वरुणोपपात
गरुलोपपात
धरणोपपात
वेसमणोपपात
वेलन्धरोपपात
देविन्दोपपात
उत्थानश्रुत
समुत्थानश्रुत
नागपरियापनिका
निरयावलिका
कल्पिका
कल्पावतंसिका
पुष्पिका
पुष्पचूलिका
उत्कालिक
दशवैकालिक
कल्पिकाकल्पिक
चुल्लकल्पश्रुत
महाकल्पश्रुत
औपपातिक
राजप्रश्नीय
जीवाभिगम
प्रज्ञापना
महाप्रज्ञापना
प्रमादाप्रमाद
नन्दी
अनुयोगद्वार
देवेन्द्रस्तव
तन्दुलवैचारिक
चन्द्रकवेध्यक
सूर्यप्रज्ञप्ति
पौरुषीमण्डल
मण्डलप्रवेश
विद्याचरणविनिश्चय
गणिविद्या
ध्यानविभक्ति
मरणविभक्ति
आत्मविशोधि
वीतरागश्रुत
संलेखनाश्रुत
विहारकल्प
चरणविधि
आतुरप्रत्याख्यान
महाप्रत्याख्यान

परिकर्म[1]

(१) सिद्ध श्रेणिका	(२) मनुष्य श्रेणिका	(३) पृष्ट श्रेणिका	(४) अवगाढ श्रेणिका	(५) उपसंपद् श्रेणिका
मातृका पद	मातृका पद	पृथक् आकाश पद	पृथक् आकाश पद	पृथक् आकाश पद
एकार्थिक पद	एकार्थिक पद	केतुभून	केतुभूत	केतुभूत
अर्थ पद	अर्थ पद	राशिबद्ध	राशिबद्ध	राशिबद्ध
पृथक् आकाश पद	पृथक् आकाश पद	एकगुण	एकगुण	एकगुण
केतुभूत	केतुभूत	द्विगुण	द्विगुण	द्विगुण
राशिबद्ध	राशिबद्ध	त्रिगुण	त्रिगुण	त्रिगुण
एकगुण	ए कगुण	केतुभूत	केतुभूत	केतुभूत
द्विगुण	द्विगुण	प्रतिग्रह	प्रतिग्रह	प्रतिग्रह
त्रिगुण	त्रिगुण	ससार-प्रतिग्रह	ससार-प्रतिग्रह	ससार-प्रतिग्रह
केतुभूत	केतुभूत	नन्दावर्त	नन्दावर्त	नन्दावर्त
प्रतिग्रह	प्रनिग्रह	पृष्टावर्त	अवगाढावर्त	उपसपदावर्त
ससार-प्रतिग्रह	ससार-प्रतिग्रह			
नन्दावर्न	नन्दावर्त			
सिद्धावर्त	मनुष्यावत			

१—नंदी सूत्र [illegible] ।

दृष्टिवाद

(६) विप्रहाण श्रेणिका

पृथक् आकाश पद
केतुभूत
राशिबद्ध
एकगुण
द्विगुण
त्रिगुण
केतुभूत
प्रतिग्रह
संसार-प्रतिग्रह
नन्दावर्त
विप्रहाणावर्त

(७) च्युताच्युत श्रेणिका

पृथक् आकाश पद
केतुभूत
राशिबद्ध
एकगुण
द्विगुण
त्रिगुण
केतुभूत
प्रतिग्रह
ससार-प्रतिग्रह
नन्दावर्त
च्युताच्युतावर्त

सूत्र[1]

ऋजुसूत्र
परिणतापरिणत
बहुभंगिक
विजय चरित
अनन्तर
परस्पर
समान
संयूथ
सभिन्न
यथात्याग
सौवस्तिकघट
नन्दावर्त
बहुल
पृष्टापृष्ट
यावर्त
एवभूत
द्वयावर्त
वर्तमान पद
समभिरूढ
सर्वतोभद्र
पन्याम
दुष्प्रतिग्रह

पूर्वगत[2]

उत्पाद
अग्रायणीय
वीर्य
अस्तिनास्तिप्रवाद
ज्ञानप्रवाद
सत्यप्रवाद
आत्मप्रवाद
कर्मप्रवाद
प्रत्याख्यान
विद्यानुप्रवाद
अवन्ध्य
प्राणायु
क्रियाविशाल
लोकबिन्दुसार

अनुयोग[3]

मूलप्रथमानुयोग

गंडिकानुयोग[4]

कुलकर गंडिका
तीर्थंकर गडिका
चक्रवर्ती गडिका
दशार्ह गडिका
बलदेव गडिका
वासुदेव गडिका
गणधर गडिका
भद्रबाहु गडिका
तप कर्म गडिका
हरिवंश गंडिका
अवसर्पिणी गडिका
उत्सर्पिणी गंडिका
चित्रान्तर गंडिका

चूलिका[5]

उत्पादपूर्व — चार चूलिकायें
अग्रायणीय — बारह चूलिकायें
वीर्य — आठ चूलिकायें
अस्तिनास्तिप्रवाद — दस चूलिकायें

१—नंदी सूत्र ९९। २—नंदी सूत्र १०१। ३—नंदी सूत्र ११६। ४—नंदी सूत्र ११८। ५—चार पूर्वों के चूलिकायें हैं, शेष पूर्वों के चूलिकायें नहीं हैं— नंदी सूत्र ११९।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है[1] :—

आगम

- **अंगप्रविष्ट**
  - आचार
  - सूत्रकृत्
  - स्थान
  - समवाय
  - व्याख्याप्रज्ञप्ति
  - ज्ञात धर्मकथा
  - उपासकदशा
  - अन्तकृतदशा
  - अनुत्तरोपपातिकदशा
  - प्रश्नव्याकरण
  - विपाक
  - दृष्टिवाद
    - **परिकर्म**
      - चन्द्रप्रज्ञप्ति
      - सूर्यप्रज्ञप्ति
      - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
      - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
      - व्याख्याप्रज्ञप्ति
    - **सूत्र**
    - **प्रथमानुयोग**
    - **पूर्वगत**
      - उत्पाद
      - अग्रायणीय
      - वीर्यानुप्रवाद
      - अस्तिनास्तिप्रवाद
      - ज्ञानप्रवाद
      - सत्यप्रवाद
      - आत्मप्रवाद
      - कर्मप्रवाद
      - प्रत्याख्यानप्रवाद
      - विद्यानुप्रवाद
      - कल्याण
      - प्राणावाय
      - क्रियाविशाल
      - लोकबिन्दुसार
    - **चूलिका**
      - जलगता
      - स्थलगता
      - मायागता
      - आकाशगता
      - रूपगता
- **अंगबाह्य**
  - सामायिक
  - चतुर्विंशतिस्तव
  - वन्दना
  - प्रतिक्रमण
  - वैनयिक
  - कृतिकर्म
  - दशवैकालिक
  - उत्तराध्ययन
  - कल्प व्यवहार
  - कल्पाकल्प
  - महाकल्प
  - पुंडरीक
  - महापुंडरीक
  - अशीतिका

---

१ – तत्त्वार्थ सूत्र १-२० (श्रुतसागरीय वृत्ति)।

आगम-विच्छेद का क्रम

आगमों के ये वर्गीकरण प्राचीन हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आज कोई भी आगम उपलब्ध नहीं है। वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अंग साहित्य लुप्त हो गया। उसका क्रम इस प्रकार है[1]—

		तिलोयपण्णत्ती	धवला (वेदनाखंड)	जयधवला	आदिपुराण	श्रुतावतार	काल
केवली :	१	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	तीन केवली
	२	सुधर्मा	लोहार्य	सुधर्मा	सुधर्मा	सुधर्मा	६२ वर्ष
	३	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	
श्रुतकेवली	१	नन्दि	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु	चार श्रुतकेवली
	२	नन्दिमित्र	नन्दि	नन्दिमित्र	नन्दिमित्र	नन्दि	१०० वर्ष
	३	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	
	४	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	
	५	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	भद्रबाहु	
दशपूर्वधारी	१.	विशाख	विशाख	विशाखाचार्य	विशाख	विशाखदत्त	ग्यारह दशपूर्वधारी
	२	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	१८३ वर्ष
	३	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	
	४	जय	जय	जयसेन	जय	जय	
	५	नाग	नाग	नागसेन	नाग	नाग	
	६	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	
	७.	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिषेण	
	८	विजय	विजय	विजय	विजय	विजयसेन	
	९	बुद्धिल	बुद्धिल	बुद्धिल	बुद्धिल	बुद्धिमान्	
	१०	गंगदेव	गंगदेव	गंगदेव	गंगदेव	गंग	
	११.	सुधर्म	धर्मसेन	सुधर्म	सुधर्म	धर्म	
एकादशांगधारी	१	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	पांच एकादशांगधारी
	२	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	२२० वर्ष
	३	पाण्डु	पाण्डु	पाण्डु	पाण्डु	पाण्डु	
	४	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	द्रुमसेन	
	५	कंसार्य	कंस	कंसाचार्य	कंसार्य	कंस	
आचारांगधारी	१.	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	चार आचारांगधारी
	२	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	अभयभद्र	११८ वर्ष / ६८३ वर्ष
	३	यशोबाहु	यशोबाहु	यशोबाहु	भद्रबाहु	जयबाहु	
	४.	लोहार्य	लोहाचार्य	लोहार्य	लोहार्य	लोहार्य	

दिगम्बर कहते हैं कि अङ्ग-गत अर्द्धमागधी भाषा का वह मूल साहित्य प्रायः सर्व लुप्त हो गया। दृष्टिवाद अङ्ग के पूर्वगत-ग्रन्थ का कुछ अंश ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि वह शेषांश भी लिपिबद्ध नहीं किया

[1] —जय धवला—प्रस्तावना पृष्ठ ४९।

जायेगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायगा। अतः उन्होंने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतबलि सदृश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरिनार की चन्द्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पंचमी' पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण बन गया है[1]।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी आगमों का विच्छेद और ह्रास हुआ है फिर भी कुछ आगम आज भी उपलब्ध हैं। उनके विच्छेद और ह्रास का क्रम इस प्रकार है—

केवली:—

१ सुधर्मा
२ जम्बू

चौदह पूर्वी:—

१ प्रभव
२ शय्यंभव
३ यशोभद्र
४ संभूतविजय
५ भद्रबाहु —(वीर निर्वाण—१५६-१७०)
६ स्थूलभद्र[2] (वीर निर्वाण १७०-२१५) } सूत्रतः चौदहपूर्वी, अर्थतः दसपूर्वी

दसपूर्वी:—

१ महागिरी
२ सुहस्ती
३ गुणसुन्दर
४ श्यामाचार्य
५ स्कदिलाचार्य
६ रेवतीमित्र
७ श्रीधर्म
८ भद्रगुप्त
९ श्रीगुप्त
१० विजयसूरि

तोसलिपुत्र आचार्य के शिष्य श्री आर्यरक्षित नौ पूर्व तथा दसवें पूर्व के २४ यविक के ज्ञाता थे[3]। आर्यरक्षित के वंशज आर्यनंदिल (वी० ५९७)[4] भी ९॥ पूर्वी थे ऐसा उल्लेख मिलता है[5]। आर्यरक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्वी थे।

---

१. धवला टीका भा० १, भूमिका पृ० १३-३२।

(क) चौदह पूर्वी की तरह १३, १२, ११, पूर्वी की परम्परा रही हो—ऐसा इतिहास नहीं मिलता। सम्भव है ये चारों पूर्व एक साथ ही पढ़ाये जाते रहे हों। आचार्य द्रोण ने ओघनिर्युक्ति की टीका (पत्र ३) में यह उल्लेख किया है कि १४ पूर्वी के बाद १० पूर्वी ही होते हैं।

(ख) चतुःशरण गाथा ३३ की वृत्ति में ऐसा उल्लेख है कि ये चारों पूर्व (११ से १४) एक साथ व्युच्छिन्न होते हैं—अन्त्यानि चत्वारि पूर्वाणि प्रायः समुदितान्येव व्युच्छिद्यन्ते इति चतुर्दशपूर्व्यनन्तरं दशपूर्विणोऽभिहिताः।

३. प्रभावक चरित्र—'आर्यरक्षित' श्लोक ८२-८४।

४. प्रबन्ध पर्यालोचन पृ० २२।

५. प्रभावक चरित्र—'आर्यनन्दिल'।

दस पूर्वी या ६-१० पूर्वी के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का एक पूर्वी के रूप मे उल्लेख हुआ है । प्रश्न होता है कि क्या ६, ८, ७, ६ आदि पूर्वी भी हुए हैं या नही ? इस प्रश्न का समुचित समाधान उल्लिखित नही मिलता । परन्तु यत्र-तत्र के बिकीर्ण उल्लेखों से यह संभाव्य है कि ८, ७, ६ आदि पूर्वों के धारक अवश्य रहे हैं । जीतकल्प सूत्र की वृत्ति मे ऐसा उल्लेख है कि आचार प्रकल्प से आठ पूर्व तक के धारक को श्रुत-व्यवहारी कहा है । इससे सभव है कि आठ पूर्व तक के धारक अवश्य थे । इसके अतिरिक्त कई चूर्णियों के कर्त्ता पूर्व धर थे ।[1]

"आर्य रक्षित, नन्दिलक्षमण, नागहस्ति, रेवतिनक्षत्र, सिंहसूरि—ये साढे नौ और उससे अल्प-अल्प पूर्व के ज्ञान वाले थे । स्कन्दिलाचार्य, श्री हिमवन्त क्षमाश्रमण, नागार्जुनसूरि– ये सभी समकालीन पूर्वविन् थे । श्री गोविन्दवाचक, सयमविष्णु, भूतदिन्न, लोहित्य सूरि, दुष्यगणि और देववाचक -ये ११ अग तथा १ पूर्व से अधिक के ज्ञाता थे[2] ।"

भगवती (२०.८) मे यह उल्लेख है कि तीर्थंकर सुविधिनाथ से तीर्थंकर शान्तिनाथ तक के आठ तीर्थंकरो के सात अन्तरो में कालिक सूत्र का व्यवच्छेद हुआ । शेष तीर्थंकरो के नही । दृष्टिवाद का विच्छेद महावीर से पूर्व-तीर्थंकरो के समय में होता रहा है ।

इसी प्रकरण मे यह भी कहा गया है कि महावीर के निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष मे पूर्वगत का विच्छेद हुआ और एक पूर्व को पूरा जानने वाला कोई नही बचा ।

यह भी माना जाता है कि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती आचार्यों मे पूर्व-ज्ञान का कुछ अंश अवश्य था । इसकी पुष्टि स्थान-स्थान पर उल्लिखित पूर्वो की पक्तियो तथा विषय-निरूपण से होती है ।[3]

प्रथम सहनन – वज्रऋषभनाराच, प्रथम सस्थान—समचतुरस्र और अन्तर् मुहूर्त मे चौदह पूर्वो को सीखने का सामर्थ्य - ये तीनों स्थूलिभद्र के साथ-साथ व्युच्छिन्न हो गए ।[4]

अर्द्धनाराच संहनन और दस पूर्वो का ज्ञान वज्रस्वामी के साथ-साथ विच्छिन्न हो गया[5] ।

वज्रस्वामी के बाद तथा शीलाकसूरि से पूर्व आचाराग के 'महापरिज्ञा' अध्ययन का ह्रास हुआ । यह भी कहा जाता है कि इसी अध्ययन के आधार पर दूसरे श्रुतस्कध की रचना हुई ।

स्थानांग मे वर्णित प्रश्न व्याकरण का स्वरूप उपलब्ध प्रश्न व्याकरण से अत्यन्त भिन्न है । उस मूल स्वरूप का कब, कैसे ह्रास हुआ, यह अज्ञात है ।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा की अनेक उपाख्यायिकाओं का सर्वथा लोप हुआ है ।

इस प्रकार द्वादशागी के ह्रास और विच्छेद का यह सक्षिप्त चित्र है ।

उपलब्ध आगम

आगमो की सख्या के विषय मे अनेक मत प्रचलित हैं । उनमे तीन मुख्य हैं—

(१) ८४ आगम

(२) ४५ आगम

(३) ३२ आगम

---

१. सिद्धचक्र, वर्ष ४, अक १२, पृ० २८४ ।

२. जैन सत्य प्रकाश (वर्ष १, अक १, पृ० १५) ।

३. आव० नि० पत्र ५६६ ।

४. आव० नि० द्वितीय भाग पत्र ३६५ ।

५. आ० नि० द्वितीय भाग पत्र ३६६ : तम्मि य भयवं ते अद्धनारायं दस पुव्वा य वोच्छिन्ना ।

आगम

श्रीमज्जयाचार्य के अनुसार ८४ आगम इस प्रकार हैं—

उत्कालिक :—

(१) दशवैकालिक
(२) कल्पिकाकल्पिक
(३) क्षुल्लककल्प
(४) महाकल्प
(५) औपपातिक
(६) राजप्रश्नीय
(७) जीवाभिगम
(८) प्रज्ञापना
(९) महाप्रज्ञापना
(१०) प्रमादाप्रमाद
(११) नदी
(१२) अनुयोगद्वार
(१३) देवेन्द्रस्तव
(१४) तन्दुल वैचारिक
(१५) चन्द्रवेध्यक
(१६) सूर्यप्रज्ञप्ति
(१७) पोरसीमडल
(१८) मडलप्रवेश
(१९) विद्याचरणविनिश्चय
(२०) गणिविद्या
(२१) ध्यानविभक्ति
(२३) मरणविभक्ति
(२३) आत्मविशोधि
(२४) वीतरागश्रुत
(२५) संलेखनाश्रुत
(२६) विहारकल्प
(२७) चरणविधि
(२८) आतुरप्रत्याख्यान
(२९) महाप्रत्याख्यान

कालिक :—

(१) उत्तराध्ययन
(२) दशाश्रुतस्कं
(३) बृहत्कल्प
(४) व्यवहार
(५) निशीथ
(६) महानिशीथ
(७) ऋषिभाषित
(८) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
(१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(११) क्षुल्लिकाविमानविभक्ति
(१२) महतीविमानविभक्ति
(१३) अग चूलिका
(१४) बग चूलिका
(१५) विवाह चूलिका
(१६) अरुणोपपात
(१७) वरुणोपपात
(१८) गरुडोपपात
(१९) धरणोपपात
(२०) वैश्रमणोपपात
(२१) वेलन्धरोपपात
(२२) देवेन्द्रोपपात
(२३) उत्थानश्रुत
(२४) समुत्थानश्रुत
(२५) नागपरितापनिका
(२६) कल्पिका
(२७) कल्पवतंसिका
(२८) पुष्पिका
(२९) पुष्प चूलिका
(३०) वृष्णी दशा

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत
(३) स्थान
(४) समवाय

(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृतदशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक
(१२) दृष्टिवाद
(२९ + ३० + १२ = ७१)
(७२) आवश्यक[1]
(७३) अन्तकृतदशा (अन्य वाचना का)
(७४) प्रश्नव्याकरणदशा
(७५) अनुत्तरोपपातिक दशा (अन्य वाचना का)
(७६) बन्धदशा
(७७) द्विगृद्धिदशा
(७८) दीर्घदशा[2]
(७९) स्वप्न भावना
(८०) चारण भावना
(८१) तेजोनिसर्ग
(८२) आशीविष भावना
(८३) दृष्टिविष भावना[3]
(८४) ५५ अध्ययन कल्याणफल विपाक ।
५५ अध्ययन पापफल विपाक ।

४५ आगम[4]

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृतदशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक

उपांग :—

(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(८) निरयावलिका
(९) कल्पावतंसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्प चूलिका
(१२) वृष्णिदशा

प्रकीर्णक :—

(१) चतुःशरण
(२) चन्द्रवेध्यक
(३) आतुरप्रत्याख्यान
(४) महाप्रत्याख्यान

---

१. उपरोक्त ७२ नाम नन्दी सूत्र में उपलब्ध होते है ।
२. ये छह (७३ से ७८) स्थानांग (सूत्र २३४७) में हैं।
३. ये पांच (७९ से ८३) व्यवहार सूत्र में हैं ।
४. सामाचारी शतक : आगमस्थापनाधिकार (३८ वां)—समयसुंदरगणि विरचित ।

(५) भक्तप्रत्याख्यान
(६) तन्दुल वैकालिक (वैचारिक)
(७) गणिविद्या
(८) मरणसमाधि
(९) देवेन्द्रस्तव
(१०) संस्तारक

छेद :—

(१) निशीथ
(२) महानिशीथ
(३) व्यवहार
(४) बृहत्कल्प
(५) जीतकल्प
(६) दशाश्रुतस्कध

मूल :—

(१) ओघनिर्युक्ति
अथवा
आवश्यकनिर्युक्ति
(२) पिण्डनिर्युक्ति
(३) दशवैकालिक
(४) उत्तराध्ययन
(५) नंदी
(६) अनुयोगद्वार

३२ आगम

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञाताधर्म-कथा
(७) उपासक-दशा
(८) अन्तकृत-दशा
(९) अनुत्तरोपपातिक दशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) विपाक

उपांग :—

(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(७) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(८) निरयावलिका
(९) कल्पावतंसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्पचूलिका
(१२) वृष्णि दशा

मूल :—

(१) दशवैकालिक
(२) उत्तराध्ययन
(३) नन्दी
(४) अनुयोगद्वार

छेद :—

(१) निशीथ
(२) व्यवहार
(३) बृहत्कल्प
(४) दशाश्रुतस्कंध

(११+१२+४+४—३१)

(३२) आवश्यक

उपर्युक्त विभागों में स्वत प्रमाण केवल ग्यारह अंग ही है। शेष सब परतः प्रमाण हैं।

अनुयोग

व्याख्याक्रम व विषयगत वर्गीकरण की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने आगमो को चार भागों मे वर्गीकृत किया –

(१) चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत ।

(२) धर्मानुयोग—ऋषि भाषित, उत्तराध्ययन आदि ।

(३) गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ।

(४) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद या सूत्रकृत आदि ।

यह वर्गीकरण विषय-सादृश्य की दृष्टि से है। व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमो के दो रूप बनते हैं—

(१) अपृथक्त्वानुयोग ।

(२) पृथक्त्वानुयोग ।

आर्यरक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था। उसमे प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी। यह व्याख्या-क्रम बहुत जटिल और बहुत बुद्धि-स्मृति सापेक्ष था। आर्यरक्षित ने देखा कि दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसा मेधावी मुनि भी इस व्याख्या-क्रम को याद रखने मे श्रान्त-क्लान्त हो रहा है तो अल्प मेधा वाले मुनि इसे कैसे याद रख पायेंगे। एक प्रेरणा मिली और उन्होंने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया। उसके अनुसार चरण-करण आदि विषयो की दृष्टि से आगमो का विभाजन हो गया।[1]

सूत्रकृत चूर्णि के अनुसार अपृथक्त्वानुयोग काल मे प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण आदि चार अनुयोग तथा सात सौ नयों से की जाती थी। पृथक्त्वानुयोग काल मे चारों अनुयोगों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की जाने लगी।[2]

वाचना

वीर निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष के मध्य में आगम साहित्य के संकलन की चार प्रमुख वाचनाएँ हुई: –

पहली वाचना

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे (वी० नि० के १६० के वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र मे बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। उस समय श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए। अन्यान्य दुविधाओ के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नहीं हो सका, अत. आगम ज्ञान की शृंखला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा। उस काल मे विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए। ग्यारह अंग एकत्रित किए। उस समय बारहवे अग के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी थे और वे नेपाल मे महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। सघ के विशेष निवेदन पर स्थूलिभद्र मुनि को बारहवे अग की वाचना देना स्वीकार किया। उन्होने दस पूर्व अर्थ सहित सीख लिए। ग्यारहवें पूर्व की वाचना चालू थी। बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होने सिंह का रूप बनाया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। आगे वाचना बन्द कर दी। फिर विशेष आग्रह करने पर अन्तिम चार पूर्वों की वाचना दी, किन्तु अर्थ नहीं बताया। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलिभद्र शाब्दिक दृष्टि से चौदह पूर्वी थे किन्तु आर्थी-दृष्टि से दस पूर्वी ही थे।

१—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७७३-७७४ : अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥

२—सूत्रकृत चूर्णि पत्र ४ : जत्थ एते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिहं वक्खाणिज्जंति पुहुत्ताणुयोगो, अपुहुत्ताणुओगो पुण जं एक्केक्कं सुत्तं एतेहिं चउहि वि अणुयोगेहिं सत्तहिं णयसतेहिं वक्खाणिज्जति ।

दूसरी वाचना

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के मध्यकाल में हुआ।

उस काल में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष हुआ। भिक्षा मिलना अत्यन्त दुष्कर हो गया। साधु छिन्न-भिन्न हो गए। वे आहार की उचित गवेषणा मे दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक बहुश्रुत तथा आगमधर मुनि दिवंगत हो गए। भिक्षा की प्राप्ति न होने के कारण आगम का अध्ययन-अध्यापन, धारण और प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गए। धीरे-धीरे श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत का नाश हुआ। अंगों और उपांगों का भी अर्थ से ह्रास हुआ। उनका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। बारह वर्ष के इस दुष्काल के बाद सारा श्रमण संघ स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता मे मथुरा मे एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणो को जितना-जितना स्मृति मे था, उसका अनुसन्धान किया। इस प्रकार कालिक सूत्र और पूर्वगत के कुछ अश का सकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे "माथुरी वाचना" कहा गया। युगप्रधान आचार्य स्कन्दिल ने उस सकलित-श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी, अतः वह अनुयोग उनका ही कहलाया। माथुरी वाचना को "स्कन्दिली वाचना" भी कहा गया।

मतान्तर के अनुसार यह भी जाना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किञ्चित् भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ। उस समय सारा श्रुत विद्यमान था, किन्तु आचार्य स्कन्दिल के अतिरिक्त शेष सभी अनुयोगधर मुनि काल-कवलित हो गए थे। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में पुन. अनुयोग का प्रवर्तन किया, इसीलिए उसे "माथुरी वाचना" भी कहा गया और वह सारा अनुयोग "स्कन्दिल सम्बन्धी गिना गया।[1]

तीसरी वाचना

इसी समय (वीर-निर्वाण ८२७-८४०) वल्लभी मे आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे सघ एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणो को जितना-जितना याद था उसका सकलन प्रारम्भ किया किन्तु यह अनुभव हुआ कि वे बीच-बीच में बहुत कुछ भूल चुके हैं। श्रुत की सम्पूर्ण व्यवच्छित्ति न हो जाए. इसलिए जो स्मृति मे था उसे संकलित किया। उसे "वल्लभी वाचना" या "नागार्जुनीय वाचना" कहा गया।

चौथी वाचना

वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे वल्लभी में पुन. श्रमण सघ एकत्रित हुआ। स्मृति-दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणो से श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट हो चुका था. किन्तु एकत्रित मुनियो को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित जो कुछ स्मृति थी उसकी व्यवस्थित संकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी संयोजना कर उसे पुस्तकारूढ़ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओ के कंठगत आगमो को एकत्रित कर उन्हे एकरूपता देने का प्रयास हुआ। जहाँ अत्यन्त मतभेद रहा वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठो को पाठान्तर मे स्थान दिया गया। यही कारण है कि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों मे यत्र-तत्र "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा उल्लेख हुआ है।

विद्वानों की मान्यता है कि इस संकलना से सारे आगमो को व्यवस्थित रूप मिला। भगवान् महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों मे घटित मुख्य घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों मे किया गया। जहा-जहाँ समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था, उन्हें संक्षिप्त कर एक दूसरे का पूर्ति-सकेत एक दूसरे आगम में किया गया।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि उपलब्ध आगम एक ही आचार्य की संकलना है तो अनेक स्थानों में विसंवाद क्यों?

१—(क) नंदी गा० ३३, मलयगिरि वृत्ति पत्र ५१।
(ख) नंदी चूर्णि पत्र ८।

इसके दो कारण हो सकते हैं—

(१) जो श्रमण उस समय जीवित थे और जिन्हें जो-जो आगम कण्ठस्थ थे, उन्हीं के अनुसार आगम संकलित किये गए। यह जानते हुए भी कि एक ही बात दो भिन्न आगमों मे भिन्न प्रकार से कही गई है, देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने उनमें हस्तक्षेप करना अपना अधिकार नहीं समझा।

(२) नौवीं शताब्दी में सम्पन्न हुई माथुरी तथा वल्लभी वाचना की परम्परा के अवशिष्ट श्रमणों को जैसा और जितना स्मृति में था उसे सकलित किया गया। वे श्रमण बीच-बीच में अनेक आलापक भूल भी गये हों—यह भी विसंवादों का मुख्य कारण हो सकता है।[1]

ज्योतिष्करंड की वृत्ति मे कहा गया है कि वर्तमान में उपलब्ध अनुयोगद्वार सूत्र माथुरी वाचना का है और ज्योतिष्करंड के कर्ता वल्लभी वाचना की परम्परा के आचार्य थे। यही कारण है कि अनुयोगद्वार और ज्योतिष्करण्ड के संख्या स्थानों में अन्तर प्रतीत होता है।[2]

अनुयोगद्वार के अनुसार शीर्षप्रहेलिका की संख्या १९३ अंको की है और ज्योतिष्करण्ड के अनुसार वह २५० अंकों की।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ (लगभग १७५-१८२) मे उच्छिन्न अंगों के संकलन का प्रयास हुआ था। चक्रवर्ती खारवेल जैन-धर्म का अनन्य उपासक था। उसके सुप्रसिद्ध "हाथी गुम्फा" अभिलेख में यह उपलब्ध होता है कि उसने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन श्रमणों का सघ बुलाया और मौर्य काल में जो अंग उच्छिन्न हो गये थे उन्हें उपस्थित किया।[3]

इस प्रकार आगम की व्यवस्थिति के लिए अनेक बार अनेक प्रयास हुए।

यह भी माना जाता है कि प्रत्येक अवसर्पिणी में चरम श्रुतधर आचार्य सूत्र-पाठ की मर्यादा करते हैं और वे दशवैकालिक का नवीन संस्करण प्रस्तुत करते हैं। यह अनादि सस्थिति है। इस अवसर्पिणी में अन्तिम श्रुतधर वज्रस्वामी थे। उन्होने सर्वप्रथम सूत्र-पाठ की मर्यादा की। प्राचीन नामों में परिवर्तन कर मेघकुमार, जमालि आदि के नामो को स्थान दिया।[4]

इस मान्यता का प्राचीनतम आधार अन्वेषणीय है। आगम-संकलन का यह संक्षिप्त इतिहास है।

प्रस्तुत आगम : स्वरूप और परिचय

प्रस्तुत आगम का नाम दशवैकालिक है। इसके दस अध्ययन हैं और यह विकाल में रचा गया इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। इसके कर्ता श्रुतकेवली शय्यभव हैं। अपने पुत्र शिष्य—मनक के लिए उन्होंने इसकी रचना की। वीर संवत् ७२ के आस-पास "चम्पा" में इसकी रचना हुई। इसकी दो चूलिकाए हैं।

अध्ययनों के नाम, श्लोक सख्या और विषय इस प्रकार हैं—

अध्ययन	श्लोक संख्या	विषय
(१) द्रुमपुष्पिका[5]	५	धर्म-प्रशंसा और माधुकरी वृत्ति।
(२) श्रामण्यपूर्वक	११	संयम में धृति और उसकी साधना।
(३) क्षुल्लकाचार-कथा	१५	आचार और अनाचार का विवेक।
(४) धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	सूत्र २३ तथा श्लोक २८	जीव-संयम तथा आत्म-संयम का विचार।

१—सामाचारी शतक—आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।

२—(क) सामाचारी शतक -आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।
 (ख) गच्छाचार पत्र ३-४।

३—जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३, पृ० २३६

४—प्रवचन परीक्षा, विश्राम ४, गाथा ६७, पत्र ३०७-३०९।

५—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति (पत्र ६७) में इसका नाम "वृक्षकुसुम" दिया है।

(५) पिंडैषणा	१५०	गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि।
(६) महाचार-कथा	६८	महाचार का निरूपण।
(७) वाक्यशुद्धि	५७	भाषा-विवेक।
(८) आचार प्रणिधि	६३	आचार का प्रणिधान।
(९) विनय-समाधि	श्लोक ६२ तथा सूत्र ७	विनय का निरूपण।
(१०) सभिक्षु	२१	भिक्षु के स्वरूप का वर्णन।
पहली चूलिका— रतिवाक्या	श्लोक १८ तथा सूत्र १	संयम में अस्थिर होने पर पुनः स्थिरीकरण का उपदेश।
दूसरी चूलिका—विविक्तचर्या	१६	विविक्तचर्या का उपदेश।

दशवैकालिक : विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में

निर्युक्तिकार के अनुसार दशवैकालिक का समावेश चरण-करणानुयोग में होता है। इसका फलित अर्थ यह है कि इसका प्रतिपाद्य आचार है। वह दो प्रकार का होता है[1]—

(१) चरण – व्रत आदि।

(२) करण—पिंड-विशुद्धि आदि।

धवला के अनुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[2]

अंगपण्णत्ति के अनुसार इसका विषय गोचर-विधि और पिंड-विशुद्धि है।[3]

तत्त्वार्थ की श्रुतसागरीय वृत्ति मे इसे वृक्ष-कुसुम आदि का भेद कथक और यतियों के आचार का कथक कहा है।[4]

उक्त प्रतिपादन से दशवैकालिक का स्थूल रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, किन्तु आचार्य शय्यंभव ने आचार-गोचर की प्ररूपणा के साथ-साथ अनेक महत्वपूर्ण विषयो का निरूपण किया है। जीव-विद्या, योग-विद्या आदि के अनेक सूक्ष्म बीज इसमे विद्यमान हैं।

दशवैकालिक का महत्त्व

दशवैकालिक अति प्रचलित और अति व्यवहृत आगम ग्रन्थ है। अनेक व्याख्याकारों ने अपने अभिमत की पुष्टि के लिए इसे उद्धृत किया है।[5]

इसके निर्माण के पश्चात् श्रुत के अध्ययन-क्रम में भी परिवर्तन हुआ है। इसकी रचना के पूर्व आचारांग के बाद उत्तराध्ययन सूत्र पढ़ा जाता था। किन्तु इसकी रचना होने पर दशवैकालिक के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाने लगा।[6] यह परिवर्तन यौक्तिक था। क्योंकि साधु को

१—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ४ : अपुहुत्तपुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरण करणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति ॥

२ —धवला-संत प्ररूपणा पृ० ९७ : दसवेआलियं आयारगोयरविहिं वण्णेइ।

३—अंगपण्णत्ति चूलिका गाथा २४ : जदि गोयरस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च जं परूवेहि।
दसवेआलिय सुत्तं दह काला जत्थ संवुत्ता ॥

४—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति पृ० ६७ : वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकञ्च दशवैकालिकम्।

५—देखें उत्तरा० बृहद् वृत्ति, निशीथ चूर्णि आदि-आदि।

६—व्यवहार, उद्देशक ३, भाष्य गाथा १७५ (मलयगिरि-वृत्ति) : आयारस्स उ उवरिं उत्तरज्झयणाउ आसि पुव्वं तु।
दसवेआलिय उवरिं इयाणिं किं ते न होंती उ ॥
पूर्वमुत्तराध्ययनानि आचारस्याचारांगस्योपर्यासीरन् इदानीं दशवैकालिकस्योपरि पठितव्यानि। किं तानि तथारूपाणि न भवन्ति ? भवन्त्येवेति भावः।

सर्व प्रथम आचार का ज्ञान कराना आवश्यक होता है और उस समय वह आचारांग के अध्ययन-अध्यापन से कराया जाता था। परन्तु दशवैकालिक की रचना ने आचार-बोध को सहज और सुगम बना दिया और इसीलिए आचारांग का स्थान इसने ले लिया।

प्राचीन-काल मे आचारांग के अन्तर्गत 'शस्त्र-परिज्ञा' अध्ययन को अर्थतः जाने-पढ़े विना साधु को महाव्रतो की विभागतः उपस्थापना नही दी जाती थी, किन्तु बाद मे दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन 'षड्जीवनिका' को अर्थतः जानने-पढने के पश्चात् महाव्रतों की विभागतः उपस्थापना दी जाने लगी।[1]

प्राचीन परम्परा मे आचारांग सूत्र के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाचवें उद्देशक 'ब्रह्मचर्य' के 'आमगन्ध' सूत्र को जाने-पढ़े विना कोई भी पिण्ड-कल्पी (भिक्षाग्राही) नही हो सकता था। परन्तु बाद मे दशवैकालिक के पाचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' को जानने-पढ़ने वाला पिण्ड-कल्पी होने लगा।[2] दशवैकालिक के महत्व और सर्वग्राहिता को बताने वाले ये महत्वपूर्ण सकेत हैं।

निर्यूहण कृति

रचना दो प्रकार की होती है—स्वतन्त्र और निर्यूहण। दशवैकालिक निर्यूहण कृति है, स्वतन्त्र नही। आचार्य शय्यभव श्रुतकेवली थे। उन्होने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया—यह एक मान्यता है।[3]

दशवैकालिक की निर्युक्ति के अनुसार चौथा अध्ययन आत्म प्रवाद पूर्व से, पाँचवाँ अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से; सातवा अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष सभी अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।

दूसरी मान्यता के अनुसार इसका निर्यूहण गणिपिटक द्वादशागी से किया गया।[4] किस अध्ययन का किस अग से उद्धरण किया गया इसका कोई उल्लेख प्राप्त नही है। किन्तु तीसरे अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।६ से प्राप्त होता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।११।७,८, आचारांग १।१ का क्वचित् सक्षेप और क्वचित् विस्तार है। पाचवें अध्ययन का विषय आचारांग के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक और आठवे 'विमोह' अध्ययन के दूसरे उद्देशक मे प्राप्त होता है। छठा अध्ययन समवायांग १८ के 'वयछक्क कायछक्क' इस श्लोक का विस्तार है। सातवे अध्ययन के बीज आचारांग १।६।५ मे मिलते है। आठवें अध्ययन का आंशिक विषय स्थानांग

१—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७५ : बितितंमि बंभचेरे पंचम उद्देसे आमगंधम्मि ।
सुत्तंमि पिंडकप्पी इह पुण पिंडेसणाए ओ ॥

मलयगिरि टीका—पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्नि द्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मचर्याख्यः पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगन्धिसूत्रं सव्वामगधं परिन्नाय इति तस्मिन् सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत्। इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैषणायामपि सूत्रतोऽर्थतश्चाधीतायां पिण्डकल्पिकः क्रियते सोऽपि च भवति तादृश. इति ।

२—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७४ : पुव्वं सत्थपरिण्णा अधीयपढियाइ होउ उवट्ठवणा ।
इण्हि छज्जीवणया किं सा उ न होउ उवट्ठवणा ॥

मलयगिरि टीका—पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुन. सा उपस्थापना किं षट्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति भवत्येवेत्यर्थः ।

३—दसवैकालिक निर्युक्ति गा० १६-१७ : आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

४—वही १८ : बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।
एअं किर निज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ।

५।५९८,६०६,६१५ से मिलता है। आंशिक तुलना अन्यत्र भी प्राप्त होती है।[1]

आयारचूला के पहले और चौथे अध्ययन से क्रमशः इसके पांचवें और सातवें अध्ययन की तुलना होती है। किन्तु हमारे अभिमत में वह दशवैकालिक के बाद का निर्यूहण है। इसके दूसरे, नवें तथा दसवें अध्ययन का विषय उत्तराध्ययन के प्रथम और पन्द्रहवें अध्ययन से तुलित होता है, किन्तु वह अंग-बाह्य आगम है।

यह सूत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य रहा है। श्वेताम्बर इसका समावेश उत्कालिक सूत्र में करते हुए चरण-करणानुयोग के विभाग में इसे स्थापित करते हैं। इसे मूलसूत्र भी माना गया है। इसके कर्तृत्व के विषय में भी श्वेताम्बर साहित्य में प्रामाणिक ऊहापोह है। श्वेताम्बर आचार्यों ने इस पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, दीपिका, अवचूरी आदि-आदि व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं।

दिगम्बर परम्परा में भी यह सूत्र प्रिय रहा है। धवला, जयधवला, तत्वार्थ राजवार्तिक, तत्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति आदि में इसके विषय का उल्लेख मिलता है, परन्तु इसके निश्चित कर्तृत्व तथा स्वरूप का कहीं भी विवरण प्राप्त नहीं होता। इसके कर्तृत्व का उल्लेख करते हुए "आरातीयैराचार्यैर्निर्यूढं"—इतना मात्र संकेत देते हैं। कब तक यह सूत्र उनको मान्य रहा और कब से यह अमान्य माना गया—यह प्रश्न आज भी असमाहित है।

व्याख्या-ग्रन्थ

दशवैकालिक की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति है। उसमें इसकी रचना के प्रयोजन, नामकरण, उद्धरण-स्थल, अध्ययनों के नाम, उनके विषय आदि का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती सभी व्याख्या-ग्रन्थों का आधार रहा है। यह पद्यात्मक है। इसकी गाथाओं का परिमाण टीकाकार के अनुसार ३७१ है। इसके कर्ता द्वितीय भद्रबाहु माने जाते हैं। इनका काल-मान विक्रम की पांचवीं-छठी शताब्दी है।

इसकी दूसरी पद्यात्मक व्याख्या भाष्य है। चूर्णिकार ने भाष्य का उल्लेख नहीं किया है। टीकाकार भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों में प्रयोग करते हैं।[2] टीकाकार के अनुसार भाष्य की ६३ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता की जानकारी हमें नहीं है। टीकाकार ने भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं किया है।[3] वे निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार से पहले हुए हैं।

हरिभद्रसूरि ने जिन गाथाओं को भाष्यगत माना है, वे चूर्णि में हैं। इससे जान पड़ता है कि भाष्यकार चूर्णिकार के पूर्ववर्ती हैं।

भाष्य के बाद चूर्णियाँ लिखी गई हैं। अभी दो चूर्णियां प्राप्त हैं। एक के कर्ता अगस्त्यसिंह स्थविर हैं और दूसरी के कर्ता

---

१ (क) आयारो, १।११८ :
संतिमे तसा पाणा तंजहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया समुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।

(क) दसवै० ४ सू०९ :
अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया।

(ख) आयारो, २।१०२ :
ण मे देति ण कुप्पेज्जा।

(ख) दसवै० ५।२।२८ :
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा।

(ग) सूत्रकृत १।२।२।१८ :
सामायिक माहु तस्स जं जो गिहिमत्तेऽसणं ण भुंजति।

(ग) दसवै० ३।३ :
······गिहिमत्ते······।

२—(क) दसवै० हारिभद्रीय टीका प० ६४ : भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति।

(ख) दसवै० हा० टी० प० १२० : आह च भाष्यकार :।

(ग) दसवै० हा० टी० प० १२८ : व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः। इसी प्रकार भाष्य के प्रयोग के लिए देखें—हा० टी० प० : १२३, १२५, १२६, १२९, १३३, १३४, १४०, १६१, १६२, १७८।

३—दसवै० हा० टी० प० १३२ : सामेव निर्युक्तिगाथां लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः।—एतदपि नित्यत्वादिप्रसाधकमिति निर्युक्तिगाथायामनुपन्यस्तमप्युक्तं सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेति गाथार्थः।

जिनदास महत्तर (वि० ७वीं शताब्दी)। मुनि श्री पुण्यविजयजी के अनुसार अगस्त्यसिंह की चूर्णि का रचना-काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।[1]

अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में तत्वार्थसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, कल्प भाष्य आदि ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इनमे अन्तिम रचनाएँ भाष्य हैं। उनके रचना-काल के आधार पर अगस्त्यसिंह का समय पुनः अन्वेषणीय है।

अगस्त्यसिंह ने पुस्तक रखने की औत्सर्गिक और आपवादिक – दोनो विधियों की चर्चा की है।[2] इस चर्चा का आरम्भ देवर्द्धिगणी ने आगम पुस्तकारूढ किए तब या उनके आस-पास हुआ होगा। अगस्त्यसिंह यदि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हो तो इनका समय विक्रम की पाचवी-छठी शताब्दी हो जाता है।

इन चूर्णियो के अतिरिक्त कोई प्राकृत व्याख्या और रही है पर वह अब उपलब्ध नही है। उसके अवशेष हरिभद्रसूरि की टीका मे मिलते हैं।[3]

प्राकृत युग समाप्त हुआ और संस्कृत युग आया। आगम की व्याख्याएँ संस्कृत भाषा मे लिखी जाने लगीं। इस पर हरिभद्रसूरि ने सस्कृत में टीका लिखी। इनका समय विक्रम की आठवी शताब्दी है।

यापनीय सघ के अपराजितसूरि (या विजयाचार्य – विक्रम की आठवी शताब्दी) ने इस पर 'विजयोदया' नाम की टीका लिखी। इसका उल्लेख उन्होने स्वरचित आराधना की टीका मे किया है।[4] परन्तु वह अभी उपलब्ध नही है। हरिभद्रसूरि की टीका को आधार मान कर तिलकाचार्य (१३-१४ वी शताब्दी) ने टीका, माणिक्यशेखर (१५ वी शताब्दी) ने निर्युक्ति-दीपिका तथा समयसुन्दर (विक्रम १६११) ने दीपिका, विनयहस (विक्रम १५७३) ने वृत्ति, रामचन्द्रसूरि (विक्रम १६७८) ने वार्तिक और पायचन्द्रसूरि तथा धर्मसिंह मुनि (विक्रम १८ वी शताब्दी) ने गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा मे टब्बा लिखा। किन्तु इनमे कोई उल्लेखनीय नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नही है। वे सब सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से रचे गए हैं। इसकी महत्वपूर्ण व्याख्याएँ तीन ही हैं - दो चूर्णियाँ और तीसरी हरिभद्रसूरि की वृत्ति।

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि इन सबमे प्राचीनतम है इसलिए वह सर्वाधिक मूल-स्पर्शी है। जिनदास महत्तर अगस्त्यसिंह स्थविर के आस-पास भी चलते हैं और कही-कही इनसे दूर भी चले जाते हैं। टीकाकार तो कही-कही बहुत दूर चले जाते हैं। इनका उल्लेख यथास्थान टिप्पणियों में किया गया है।

लगता है चूर्णि के रचना-काल मे भी दशवैकालिक की परम्परा अविच्छिन्न नही रही थी। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अनेक स्थलों पर अर्थ के कई विकल्प किए हैं। उन्हे देखकर सहज ही जान पड़ता है कि वे मूल अर्थ के बारे में असंदिग्ध नही हैं।

आर्य सुहस्ती ने इस बार जो आचारशैथिल्य की परम्परा का सूत्रपात किया वह आगे चल कर उग्र बन गया। ज्यों-ज्यों जैन आचार्य लोक-संग्रह की ओर अधिक झुके त्यो-त्यो अपवादो की बाढ सी आ गई। वीर निर्वाण की नवी शताब्दी ८५० मे चैत्य-वास का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद शिथिलाचार की परम्परा बहुत ही उग्र हो गई। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण (वीर निर्वाण की दसवी शताब्दी)

१—बृहत्कल्प भाष्य, भाग ६, आमुख पृ० ४।

२—दशवैकालिक १।१ अगस्त्य चूर्णि पृ० १२ : उवगरणसंजमो—पोत्थएसु घेप्पतेसु असजमो महाधणमोल्लेसु वा दूसेसु, वज्जणं तु संजमो, कालं पडुच्च चरणकरणट्ठं अव्वोच्छित्तिनिमित्तं गेण्हंतस्स संजमो भवति।

३—हा० टी० प० १६५ : तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयणं, अणणुण्णायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण संसयो उण्णिक्खमणे त्ति।

जिनदास चूर्णि (पृ० १७१) में इन आशय की जो पंक्तियां है, वे इन पंक्तियों से भिन्न हैं। जैसे—'जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवंति, अहवि ण उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावओ मेहुणं पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसणं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ—किं जोएसि? ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाओत्तिकाउं अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्तं करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।'

अगस्त्य चूर्णि पृ० १०२ की पंक्तियां इस प्रकार हैं—चागविचित्तीकतस्स सव्वमहव्वतपीला, जहु उप्पव्वतति ततो वय-च्छेदो, अणुपव्वयतस्स पीडा वयाण, तासु गयचित्तो रियं न सोहेतित्ति पाणातिवातो। पुच्छितो किं जोएसित्ति? अवलवति मुसावातो, अदत्तादाणमणणुण्णातो तित्थकरेहिं मेहुणे विगयभावो मुच्छाए परिग्गहो त्ति।

४—गाथा ११९७ की वृत्ति : दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।

के बाद चैत्यवास का प्रभुत्व बढ़ा और वह जैन परम्परा पर छा गया। अभयदेवसूरि ने इस स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है—"देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को मैं भाव-परम्परा मानता हूँ। इसके बाद शिथिलाचारियों ने अनेक द्रव्य-परम्पराओं का प्रवर्तन कर दिया।"[1] आचार-शैथिल्य की परम्परा में जो ग्रन्थ लिखे गये, उनमें ऐसे अपवाद भी हैं जो आगम में प्राप्त नहीं हैं। प्रस्तुत आगम की चूर्णि और टीका तात्कालिक वातावरण से मुक्त नहीं है। इन्हें पढ़ते समय इस तथ्य को नही भूल जाना चाहिए।

उत्सर्ग की भांति अपवाद भी मान्य होते हैं। पर उनकी भी एक निश्चित सीमा है। जिनका बनाया हुआ आगम प्रमाण होता है उन्हीं के किए हुए अपवाद मान्य हो सकते हैं। वर्तमान में जो व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, वे चतुर्दशपूर्वी या दशपूर्वी की नहीं हैं इसलिए उन्हें आगम (अर्थागम) की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

दोनों चूर्णियों में पाठ और अर्थ का भेद है। टीकाकार का मार्ग तो उनसे बहुत ही भिन्न है।

चैत्यवासी और संविग्न-पक्ष के आपसी खिंचाव के कारण संभव है उन्हे (टीकाकार को) अगस्त्य चूर्णि उपलब्ध न हुई हो। उसके उपलब्ध होने पर भी यदि इतने बड़े पाठ और अर्थ के भेदों का उल्लेख न किया हो तो यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। पर लगता यही है कि टीका-काल में टीकाकार के सामने अगस्त्यसिंह चूर्णि नहीं रही। यदि वह उनके सम्मुख होती तो टीका और चूर्णि में इतना अर्थ-भेद नहीं होता। टीकाकार ने 'अन्ये तु', 'तथा च वृद्धसम्प्रदाय', 'तथा च वृद्धव्याख्या' आदि के द्वारा जिनदास महत्तर का उल्लेख किया है[2] पर उनके नाम और चूर्णि का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

हरिभद्रसूरि संविग्न-पाक्षिक थे। इनका समय चैत्यवास के उत्कर्ष का समय है। पुस्तकों का संग्रह अधिकांशतया चैत्यवासियों के पास था। संविग्न पक्ष एक प्रकार से नया था। चैत्यवासी इसे मिटा देना चाहते थे। इस परिस्थिति में टीकाकार को पुस्तक-प्राप्ति की दुर्लभता रही हो, यह भी आश्चर्य की बात नहीं है।

आगमो की माथुरी और वल्लभी—ये दो वाचनाएँ हुईं। देवर्द्धिगणी ने अपने आगमो को पुस्तकारूढ़ करते हुए उन दोनों का समन्वय किया। माथुरी मे उससे भिन्न पाठ थे। उन्हें पाठ-भेद मान शेष अंश को वल्लभी में समन्वित कर दिया। यह पाठ-भेद की परम्परा मिटी नहीं। कुछ आगमों के पाठ-भेद केवल आगमों की व्याख्याओं में उपलब्ध हैं। व्याख्याकार - "नागार्जुनीयास्तु एवं पठन्ति" लिखकर उसका निर्देश करते रहे हैं और कुछ आगमों के पाठ-भेद मूल से ही सम्बद्ध रहे, इस कारण से उनका परम्परा-भेद चलता ही रहा। दशवैकालिक सम्भवतः इसी दूसरी कोटि का आगम है। इसकी उपलब्ध व्याख्याओ मे सबसे प्राचीन व्याख्या अगस्त्य चूर्णि है। उसमें अनेक स्थलों पर परम्परा-भेद का उल्लेख है।[3] इस सारी वस्तु-सामग्री को देखते हुए लगता है कि चूर्णिकार और टीकाकार के सामने भिन्न-भिन्न परम्परा के आदर्श रहे हैं, और टीकाकार ने अपनी परम्परा के आदर्श और व्याख्या-पद्धति को महत्व दिया हो और सम्भव है कि परम्परा-भेद के कारण चूर्णियों की उपेक्षा की हो। कल्पना की इस भूमिका पर पहुंचने के बाद चूर्णि और टीका के पाठ और अर्थ के भेद की पहेली सुलझ जाती है।

अनुवाद और सम्पादन

हमने वि० सं० २०१२ औरंगाबाद में महावीर-जयन्ती के अवसर पर जैन-आगमों के हिन्दी अनुवाद और सम्पादन के निश्चय की घोषणा की। उसी चातुर्मास (उज्जैन) में आगमों की शब्द-सूची के निर्माण से कार्य का प्रारम्भ हुआ। साथ-साथ अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया गया। उसके लिए सबसे पहले दशवैकालिक को चुना गया।

लगभग सभी स्थलों के अनुवाद में हमने चूर्णि और टीका का अवलम्बन लिया है फिर भी सूत्र का अर्थ मूल-स्पर्शी रहे, इस लिए हमने व्याख्या-ग्रन्थों की अपेक्षा मूल आगमों का आधार अधिक लिया है। हमारा प्रमुख लक्ष्य यही रहा है कि आगमों के द्वारा

१—देवड्ढिखमासमणजा, परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा।

२—(क) हा० टी० प० ७; जि० चू० पृ० ४ : 'अन्ने तु'।
(ख) हा० टी० प० १७१, जि० चू० पृ० १८० : 'एवं च वृद्धसम्प्रदायः'।
(ग) हा० टी० प० १४२, १४३ जि० चू० पृ० १४१-१४२ : 'तथा च वृद्धव्याख्या'।

३—उदाहरण स्वरूप देखें—पांचवें अध्ययन (प्रथम उद्देशक) का टि० २६ तथा ११२४ का टिप्पण।

ही आगमों की व्याख्या की जाए। आगम एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। एक विषय कहीं संक्षिप्त हुआ है तो कहीं विस्तृत। दशवैकालिक की रचना संक्षिप्त शैली की है। कहीं-कहीं केवल संकेत मात्र है। उन सांकेतिक शब्दों की व्याख्या के लिए आयारचूला और निशीथ का उपयोग न किया जाये तो उनका आशय पकड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। इस कठिनाई का सामना टीकाकार को करना पड़ा। निदर्शन के लिए देखिए ५।१।६६ की टिप्पणी। दशवैकालिक की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्याग्रन्थ चूर्णि है। उसमे अनेक स्थलों पर वैकल्पिक अर्थ किए हैं। वहाँ चूर्णिकार का बौद्धिक विकास प्रस्फुटित हुआ है पर वे यह बताने मे सफल न हो सके कि यहाँ सूत्रकार का निश्चित प्रतिपाद्य क्या है। उदाहरण के लिए देखिए ३।६ के उत्तरार्द्ध की टिप्पणी।

अनुवाद को हमने यथासम्भव मूल-स्पर्शी रखने का यत्न किया है। उसका विशेष अर्थ टिप्पणियों मे स्पष्ट किया है। व्याख्याकारों के अर्थ-भेद टिप्पणियों मे दिए है, कालक्रम के अनुसार अर्थ कैसे परिवर्तित हुआ है, हमें बताने की आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि इसका इतिहास व्याख्या की पंक्तियां स्वयं बता रही हैं। कहीं-कहीं वैदिक और बौद्ध साहित्य से तुलना भी की है। जिन सूत्रों का पाठ-संशोधन करना शेष है, उनके उद्धरणों मे सूत्रांक अन्य मुद्रित पुस्तकों के अनुसार दिए हैं। इस प्रकार कुछ-एक रूपों मे यह कार्य सम्पन्न होता है।

यह प्रयत्न क्यों ?

दशवैकालिक की अनेक प्राचीन व्याख्याएँ हैं और हिन्दी मे भी इसके कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं फिर नया प्रयत्न क्यों आवश्यक हुआ ? इसका समाधान हम शब्दों मे देना नही चाहेंगे। वह इसके पारायण से ही मिल जाएगा।

सूत्र-पाठ के निर्णय मे जो परिवर्तन हुआ है—कुछ श्लोक निकले हैं और कुछ नए आए हैं, कहीं शब्द बदले हैं और कही विभक्ति—उसके पीछे एक इतिहास है। 'धूवणेत्ति वमणे य' (३।६) इसका निर्धारण हो गया था। 'धूवणे' को अलग माना गया और 'इति' को अलग। उत्तराध्ययन (३५।४) मे धूप से सुवासित घर में रहने का निषेध है। आयारचूला (१३।६) मे धूपन-जात से पैरों को धूपित करने का निषेध है। इस पर से लगा कि यहाँ भी उपाश्रय, शरीर और वस्त्र आदि के धूप खेने को अनाचार कहा है। अगस्त्य चूर्णि में वैकल्पिक रूप में 'धूवणेत्ति' को एक शब्द माना भी गया है, पर उस ओर ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। एक दिन इसी सिलसिले मे चरक का अवलोकन चल रहा था। प्रारम्भिक स्थलों मे 'धूमनेत्र' शब्द पर ध्यान टिका और 'धूवणेत्ति' शब्द फिर आलोचनीय बन गया। उत्तराध्ययन के 'धूमणेत्त' की भी स्मृति हो आई। परामर्श चला और अन्तिम निर्णय यही हुआ कि 'धूवणेत्ति' को एक पद रखा जाए। फिर सूत्रकृतांग मे 'णो धूमणेत्त परियापिएज्जा' जैसा स्पष्ट पाठ भी मिल गया। इस प्रकार अनेक शब्दों की खोज के पीछे घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। अर्थ-चिन्तन मे भी बहुधा ऐसा हुआ है। मौलिक अर्थ को ढूंढ निकालने मे तटस्थ दृष्टि से काम किया जाए, वहाँ साम्प्रदायिक आग्रह का लेश भी न आए—यह दृष्टिकोण कार्यकाल के प्रारम्भ से ही रखा गया और उसकी पूर्ण सुरक्षा भी हुई है। परम्परा-भेद के स्थलों मे कुछ अधिक चिन्तन हो, यह स्वाभाविक है। 'नियाग' का अर्थ करते समय हमें यह अनुभव हुआ। 'नियाग' का अर्थ हमारी परम्परा मे एक घर से नित्य आहार लेना किया जाता है। प्राचीन सभी व्याख्याओं मे इसका अर्थ—'निमंत्रण पूर्वक एक घर से नित्य आहार लेना' मिला तो वह चिन्तन-स्थल बन गया। हमने प्रयत्न किया कि इसका समर्थन किसी दूसरे स्रोत से हो जाए तो और अच्छा हो। एक दिन भगवती मे 'अनाहूत' शब्द मिला। वृत्तिकार ने उसका वही अर्थ किया है, जो दशवैकालिक की व्याख्याओं मे 'नियाग' का है। श्रीमज्जयाचार्य की 'भगवती की जोड़' (पद्यात्मक व्याख्या) को देखा तो उसमे भी यही अर्थ मिला। फिर 'निमंत्रणपूर्वक' इस वाक्यांश के आगम-सिद्ध होने मे कोई सन्देह नही रहा। इस प्रकार अनेक अर्थों के साथ कुछ इतिहास जुड़ा हुआ है।

हमने चाहा कि दशवैकालिक का प्रत्येक शब्द अर्थ की दृष्टि से स्पष्ट हो—अमुक शब्द वृक्ष-विशेष, फल-विशेष, आसन-विशेष, पात्र-विशेष का वाचक है, इस प्रकार अस्पष्ट न रहे। इस विषय मे आज के युग की साधन-सामग्री ने हमें अपनी कल्पना को सफल बनाने का श्रेय दिया है।

साधुवाद

इस कार्य में तीन वर्ष लगे हैं। इसमें अनेक साधु-साध्वियों व श्रावकों का योगदान है। इसके कुछ अध्ययनों के अनुवाद व टिप्पणियां तैयार करने में मुनि मीठालाल ने बहुत श्रम किया है। मुनि दुलहराज ने टिप्पणियों के संकलन व समग्र ग्रन्थ के समायोजन में

---

१. देखिए—नियाग (३।२) शब्द का टिप्पण।

सर्वाधिक प्रयत्न किया है। संस्कृत-छाया में मुनि सुमेरमल (लाडनूं) का योग है। मुनि सुमन तथा कहीं-कहीं हंसराज और बसंत भी प्रतिलिपि करने में मुनि नथमल के सहयोगी रहे हैं। श्रीचन्दजी रामपुरिया ने इस कार्य में अपने तीव्र अध्यवसाय का नियोजन कर रखा है। मदनचन्दजी गोठी भी इस कार्य में सहयोगी रहे हैं। इस प्रकार अनेक साधु-साध्वियों व श्रावकों के सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है।

दशवैकालिक सूत्र के सर्वाङ्गीण सम्पादन का बहुत कुछ श्रेय शिष्य मुनि नथमल को ही मिलना चाहिए, क्योंकि इस कार्य में अहर्निश वे जिस मनोयोग से लगे हैं, इसीसे यह कार्य सम्पन्न हो सका है अन्यथा यह गुरुतर कार्य बड़ा दुरूह होता। इनकी वृत्ति मूलतः योगनिष्ठ होने से मन की एकाग्रता सहज बनी रहती है, साथ ही आगम का कार्य करते-करते अन्तर्-रहस्य पकड़ने में इनकी मेधा काफी पैनी हो गई है। विनय-शीलता, श्रम-परायणता और गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव ने इनकी प्रगति में बड़ा सहयोग दिया है। यह वृत्ति इनकी बचपन से ही है। जब से मेरे पास आए मैंने इनकी इस वृत्ति में क्रमशः वर्धमानता ही पाई है। इनकी कार्य-क्षमता और कर्तव्य-परता ने मुझे बहुत संतोष दिया है।

मैंने अपने संघ के ऐसे शिष्य साधु-साध्वियों के बल-बूते पर ही आगम के इस गुरुतर कार्य को उठाया है। अब मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे शिष्य साधु-साध्वियों के निःस्वार्थ, विनीत एवं समर्पणात्मक सहयोग से इस बृहत् कार्य को असाधारण रूप से सम्पन्न कर सकूंगा।

मुनि पुण्यविजयजी का समय-समय पर सहयोग और परामर्श मिला है उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। उनका यह संकेत भी मिला था कि आगम कार्य यदि अहमदाबाद में किया जाये तो साधन-सामग्री की सुविधा हो सकती है।

हमारा साधु-साध्वी वर्ग और श्रावक-समाज भी चिरकाल से दशवैकालिक की प्रतीक्षा में है। प्रारम्भिक कार्य होने के कारण कुछ समय अधिक लगा फिर भी हमें संतोष है कि इसे पढ़कर उसकी प्रतीक्षा संतुष्टि में परिणत होगी।

आजकल जन-साधारण मे ठोस साहित्य पढ़ने की अभिरुचि कम है। उसका एक कारण उपयुक्त साहित्य की दुर्लभता भी है। मुझे विश्वास है कि चिरकालीन साधना के पश्चात् पठनीय सामग्री सुलभ हो रही है, उससे भी जन-जन लाभान्वित होगा।

इस कार्य-सकलन में जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग रहा, उन सबके प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करता हूँ।

भिक्षु-बोधि स्थल
राजसमन्द
वि. सं. २०१६ फाल्गुन शुक्ला तृतीया

आचार्य तुलसी

विषय-सूची

श्लोक १३ गमन की विधि।
,, १४ अविधि-गमन का निषेध।
,, १५ शंका-स्थान के अवलोकन का निषेध।
,, १६ मन्त्रणागृह के समीप जाने का निषेध।
,, १७ प्रतिक्रुष्ट आदि कुलो से भिक्षा लेने का निषेध।
,, १८ साणी (चिक) आदि को खोलने का विधि-निषेध।
,, १९ मल-मूत्र की बाधा को रोकने का निषेध।
,, २० अधकारमय स्थान मे भिक्षा लेने का निषेध।
,, २१ पुष्प, बीज आदि बिखरे हुए और अधुनोपलिप्त आगण मे जाने का निषेध—एषणा के नवें दोष—'लिप्त' का वर्जन।
,, २२ मेष, वत्स आदि को लांघकर जाने का निषेध।
२३-२६ गृह-प्रवेश के बाद अवलोकन, गमन और स्थान का विवेक।

२. ग्रहणैषणा

भक्तपान लेने की विधि :—

श्लोक २७ आहार-ग्रहण का विधि-निषेध।
,, २८ एषणा के दसवें दोष 'छर्दित' का वर्जन।
,, २९ जीव-विराधना करते हुए दाता से भिक्षा लेने का निषेध।
,, ३०,३१ एषणा के पाँचवें (सहृत नामक) और छट्ठे (दायक नामक) दोष का वर्जन।
,, ३२ पुर.कर्म दोष का वर्जन।
,, ३३,३४,३५ असंसृष्ट और ससृष्ट का निरूपण तथा पश्चात्-कर्म का वर्जन।
,, ३६ ससृष्ट हस्त आदि से आहार लेने का निषेध।
,, ३७ उद्गम के पन्द्रहवें दोष 'अनिसृष्ट' का वर्जन।
,, ३८ निसृष्ट भोजन लेने की विधि।
,, ३९ गर्भवती के लिए बनाया हुआ भोजन लेने का विधि-निषेध—एषणा के छट्ठे दोष 'दायक' का वर्जन।
,, ४०,४१ गर्भवती के हाथ से लेने का निषेध।
,, ४२,४३ स्तनपान कराती हुई स्त्री के हाथ से भिक्षा लेने का निषेध।
,, ४४ एषणा के पहले दोष 'शंकित' का वर्जन।
,, ४५,४६ उद्गम के बारहवें दोष 'उद्भिन्न' का वर्जन।
,, ४७,४८ दानार्थ किया हुआ आहार लेने का निषेध।
,, ४९,५० पुण्यार्थ किया हुआ आहार लेने का निषेध।
,, ५१,५२ वनीपक के लिए किया हुआ आहार लेने का निषेध।
,, ५३,५४ श्रमण के लिए किया हुआ आहार लेने का निषेध।
,, ५५ औद्देशिक आदि दोष-युक्त आहार लेने का निषेध।
,, ५६ भोजन के उद्गम की परीक्षा-विधि और शुद्ध भोजन लेने का विधान।
,, ५७,५८ एषणा के सातवें दोष उन्मिश्र का वर्जन।
,, ५९-६२ एषणा के तीसरे दोष 'निक्षिप्त' का वर्जन।
,, ६३,६४ दायक-दोष-युक्त भिक्षा का निषेध।
,, ६५,६६ अस्थिर शिला, काष्ठ आदि पर पैर रखकर जाने का निषेध और उसका कारण।
,, ६७,६८,६९ उद्गम के तेरहवें दोष 'मालापहृत' का वर्जन और उसका कारण।

कषाय

ब्रह्मचर्य की साधना और उसके साधन

द्वितीय चूलिका : विविक्तचर्या (विविक्तचर्या का उपदेश) **५१७-५३१**

श्लोक १ चूलिका के प्रवचन की प्रतिज्ञा और उसका उद्देश्य।
,, २ अनुस्रोत-गमन को बहुजनाभिमत दिखाकर मुमुक्षु के लिये प्रतिस्रोत-गमन का उपदेश।
,, ३ अनुस्रोत और प्रतिस्रोत के अधिकारी, ससार और मुक्ति की परिभाषा।
,, ४ साधु के लिये चर्या, गुण और नियमो की जानकारी की आवश्यकता का निरूपण।
,, ५ अनिकेतवास आदि चर्या के अंगो का निरूपण।
,, ६ आकीर्ण और अवमान संखडि-वर्जन आदि भिक्षा-विशुद्धि के अगों का निरूपण व उपदेश।
,, ७ श्रमण के लिये आहार-विशुद्धि और कायोत्सर्ग आदि का उपदेश।
,, ८ स्थान आदि के प्रतिबन्ध व गाँव आदि मे ममत्व न करने का उपदेश।
,, ९ गृहस्थ की वैयावृत्य आदि करने का निषेध और असंक्लिष्ट मुनिगण के साथ रहने का विधान।
,, १० विशिष्ट संहनन-युक्त और श्रुत-सम्पन्न मुनि के लिए एकाकी विहार का विधान।
,, ११ चातुर्मास और मासकल्प के बाद पुन: चातुर्मास और मासकल्प करने का व्यवधान-काल। सूत्र और उसके अर्थ के चर्या करने का विधान।
,, १२,१३ आत्म-निरीक्षण का समय, चिन्तन-सूत्र और परिणाम।
,, १४ दुष्प्रवृत्ति होते ही सम्हल जाने का उपदेश।
,, १५ प्रतिबुद्धजीवी, जागरूकभाव से जीने वाले की परिभाषा।
,, १६ आत्म-रक्षा का उपदेश और अरक्षित तथा सुरक्षित आत्मा की गति का निरूपण।

卐

पढमं अज्झयणं

दुमपुप्फिया

प्रथम अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

आमुख

भारतीय चिन्तन का निचोड़ है —'अस्तिवाद'। 'आत्मा है'— यह उसका अमर घोष है। उसकी अन्तिम परिणति है—'मोक्षवाद'। 'आत्मा की मुक्ति सभव है' —यह उसकी चरम अनुभूति है। मोक्ष साध्य है। उसकी साधना है —'धर्म'।

धर्म क्या है ? क्या सभी धर्म मगल हैं ? अनेक धर्मों मे से मोक्ष-धर्म - सत्य-धर्म की पहचान कैसे हो ? ये चिर-नित्य प्रश्न रहे हैं। व्यामोह उत्पन्न करनेवाले इन प्रश्नों का समुचित समाधान प्रथम श्लोक के दो चरणों मे किया गया है। जो आत्मा का उत्कृष्ट हित साधता हो वह धर्म है। जिनसे यह हित नहीं सधता वे धर्म नहीं, धर्माभास हैं।

'धर्म' का अर्थ है —धारण करनेवाला। मोक्ष का साधन वह धर्म है जो आत्मा के स्वभाव को धारण करे। जो विजातीय तत्त्व को धारण करे वह धर्म मोक्ष का साधन नहीं है। आत्मा का स्वभाव अहिसा, सयम और तप है। साधना-काल मे ये आत्मा की उपलब्धि के साधन रहते हैं और सिद्धि-काल मे ये आत्मा के गुण स्वभाव। साधना-काल मे ये धर्म कहलाते हैं और सिद्धि-काल मे आत्मा के गुण। पहले ये साधे जाते है फिर ये स्वय सध जाते हैं।

मोक्ष परम मगल है, इसलिए इसकी उपलब्धि के साधन को भी परम मगल कहा गया है। वही धर्म परम मगल है जो मोक्ष की उपलब्धि करा सके।

'धर्म' शब्द का अनेक अर्थों मे प्रयोग होता है और मोक्ष-धर्म की भी अनेक व्याख्याएँ हैं। इसलिए उसे कसौटी पर कसते हुए बताया गया है कि मोक्ष-धर्म वही है जिसके लक्षण अहिसा, सयम और तप हों।

प्रश्न है —क्या ऐसे धर्म का पालन सम्भव है ? समाधान के शब्दों मे कहा गया है जिसका मन सदा धर्म मे होता है उसके लिए उसका पालन भी सदा सम्भव है। जो इस लोक मे निस्पृह होता है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

सिद्धि-काल मे शरीर नहीं होता, वाणी और मन नहीं होते, इसलिए आत्मा स्वय अहिंसा बन जाती है। साधना-काल मे शरीर, वाणी और मन -ये तीनों होते है। शरीर आहार बिना नहीं टिकता। आहार हिंसा के बिना निष्पन्न नहीं होता। यह जटिल स्थिति है। अब भला कोई कैसे पूरा अहिसक बने ? जो अहिंसक नहीं, वह धार्मिक नहीं। धार्मिक के बिना धर्म कोरी कल्पना की वस्तु रह जाती है। साधना का पहला चरण इस उलझन से भरा है। शेष चार श्लोकों मे इसी समस्या का समाधान दिया गया है। समाधान का स्वरूप माधुकरी वृत्ति है। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ है·

(१) मधुकर अवधजीवी होता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए किसी प्रकार का समारम्भ, उपमर्दन या हनन नहीं करता। वैसे ही श्रमण-साधक भी अवधजीवी हो—किसी तरह का पचन-पाचन और उपमर्दन न करे।

(२) मधुकर पुष्पों से स्वभाव-सिद्ध रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण-साधक गृहस्थों के घरों से, जहाँ आहार-जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं, प्रासुक आहार ले।

(३) मधुकर फूलों को म्लान किये बिना थोडा-थोडा रस पीता है। वैसे ही श्रमण अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

(४) मधुकर उतना ही रस ग्रहण करता है जितना कि उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है। वह दूसरे दिन के लिए कुछ संग्रह कर नहीं रखता। वैसे ही श्रमण सयम-निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ग्रहण करे—संचय न करे।

(५) मधुकर किसी एक वृक्ष या फूल से ही रस ग्रहण नहीं करता परन्तु विविध वृक्षों और फूलों से रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण भी किसी एक गाँव, घर या व्यक्ति पर आश्रित न होकर सामुदानिक रूप से भिक्षा करे।

इस अध्ययन में द्रुम-पुष्प और मधुकर उपमान है तथा यथाकृत आहार और श्रमण उपमेय। यह देश उपमा है[1]। निर्युक्ति के अनुसार मधुकर की उपमा के दो हेतु हैं—(१) अनियत-वृत्ति और (२) अहिंसा-पालन[2]।

अनियत-वृत्ति का सूचन—'जे भवंति अणिस्सिया'[3] (१ ५) और अहिंसा पालन का सूचन —'न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं' (१ २) से होता है। द्रुम-पुष्प की उपमा का हेतु है—सहज निष्पन्नता। इसका सूचक 'अहागडेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरा जहा' (१ ४) यह श्लोकार्द्ध है।

अहिंसा-पालन मे श्रमण क्या ले और कैसे ले - इन दोनों प्रश्नों पर विचार हुआ है और अनियत-वृत्ति मे केवल कैसे ले, इसका विचार है। कैसे ले—यह दूसरा प्रश्न है। पहला प्रश्न है—क्या ले? इससे मधुकर की अपेक्षा द्रुम-पुष्प का सम्बन्ध निकटतम है।

भ्रमर के लिए सहजरूप से भोजन प्राप्ति का आधार द्रुम-पुष्प ही होता है। माधुकरी वृत्ति का मूल केन्द्र द्रुम-पुष्प है। उसके बिना वह नहीं सधती। द्रुम-पुष्प की इस अनिवार्यता के कारण 'द्रुम-पुष्पिका' शब्द समूची माधुकरी-वृत्ति का योग्यतम प्रतिनिधित्व करता है। इस अध्ययन मे श्रमण को भ्रामरी-वृत्ति से आजीविका प्राप्त करने का बोध दिया गया है। इस वृत्ति का सूचन द्रुम-पुष्पिका शब्द से अच्छी तरह होता है, अत इसका नाम द्रुम-पुष्पिका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सूत्रकार का प्रधान प्रतिपाद्य है—धर्म के आचरण की सम्भवता। नि सन्देह यह अध्ययन अहिंसा और उसके प्रयोग का निदर्शन है। अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करनेवाला श्रमण अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी हिंसा न करे, यथाकृत आहार ले तथा जीवन को सयम और तपोमय बना कर धर्म और धार्मिक की एकता स्थापित करे।

धार्मिक का महत्त्व धर्म होता है। धर्म की प्रशसा है वह धार्मिक की प्रशसा है और धार्मिक की प्रशसा है वह धर्म की प्रशसा है। धार्मिक और धर्म के इस अभेद को लक्षित कर ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने कहा है—"पढमे धम्मपसंसा" (नि० गा० २०) पहले अध्ययन मे धर्म की प्रशसा महिमा है।

१—(क) नि० गा० ९६ : जह भमरोत्ति य एत्थ दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे।

(ख) नि० गा० ९७ : एव भमराहरणे अणिययवित्तित्तण न सेसाणं। गहणं ·· ·· · ॥

२—नि० गा० १२६ · उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्त अहिंसअणुपालणट्ठाए॥

३—हा० टी० प० ७२ : 'अनिश्रिता:' कुलादिषु अप्रतिबद्धा·।

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

दुमपुप्फिया : द्रुमपुष्पिका

मूल

१—[1]धम्मो मंगलमुक्किट्ठं
अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति
जस्स धम्मे सया मणो ॥

२—जहा दुमस्स पुप्फेसु
भमरो आवियइ[9] रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ
सो य पीणेइ अप्पयं ॥

३—एमेए[12] समणा मुत्ता
जे लोए संति साहुणो[15] ।
विहंगमा व पुप्फेसु
दाणभत्तेसणे रया ॥

४—वयं च वित्तिं लब्भामो
न य कोइ उवहम्मई ।
अहागडेसु रीयंति
पुप्फेसु भमरा जहा ॥

५—महुकारसमा बुद्धा
जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिंडरया दंता
तेण वुच्चंति साहुणो ॥
त्ति बेमि

संस्कृत छाया

धर्मः मङ्गलमुत्कृष्टम्
अहिंसा संयमः तपः ।
देवा अपि तं नमस्यन्ति
यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥

यथा द्रुमस्य पुष्पेषु
भ्रमर आपिबति रसम् ।
न च पुष्पं क्लामयति
स च प्रीणाति आत्मकम् ॥ २ ॥

एवमेते श्रमणा मुक्ताः
ये लोके सन्ति साधवः ।
विहङ्गमा इव पुष्पेषु
दानभक्तैषणे रताः ॥ ३ ॥

वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे
न च कोप्युपहन्यते ।
यथाकृतेषु रीयन्ते
पुष्पेषु भ्रमरा यथा ॥ ४ ॥

मधुकरसमा बुद्धाः
ये भवन्त्यनिश्रिताः ।
नानापिण्डरता दान्ताः
तेन उच्यन्ते साधवः ॥ ५ ॥
इति ब्रवीमि

हिन्दी अनुवाद

धर्म[2] उत्कृष्ट मगल[3] है । अहिंसा[4], सयम[5] और तप[6] उसके लक्षण हैं[7] । जिसका मन सदा धर्म मे रमा रहता है, उसे देव भी[8] नमस्कार करते हैं ।

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पो से थोड़ा-थोडा रस पीता है,[9] किसी भी पुष्प को[10] म्लान नही करता[11] और अपने को भी तृप्त कर लेता है—

उसी प्रकार लोक मे जो मुक्त[13] (अपरिग्रही) श्रमण[14] साधु[16] है वे दानभक्त[17] (दाता द्वारा दिये जानेवाले निर्दोष आहार) की एषणा मे रत[18] रहते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों मे ।

हम[19] इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो । क्योंकि श्रमण यथाकृत[20] (सहज रूप से बना) आहार लेते हैं, जैसे—भ्रमर पुष्पों से रस ।

जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं[21]—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिंड में रत हैं[22] और जो दान्त हैं[23] वे अपने इन्ही गुणों से साधु कहलाते हैं[24] ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन १

श्लोक १

१. तुलना :

'धम्मपद' (धम्मट्ठवग्गो १९.६) के निम्नलिखित श्लोक की इससे आंशिक तुलना होती है :

> **यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो ।**
> **स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो ति पवुच्चति ।।**

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :

> **जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम होता है।**
> **उस मल रहित धीर भिक्षु को स्थविर कहा जाता है।।**

२. धर्म (धम्मो [क]) :

'धृ' धातु का अर्थ है—धारण करना। उसके अन्त मे 'मन्' या 'म' प्रत्यय लगने से 'धर्म' शब्द बनता है[1]। उत्पाद, व्यय और स्थिति—ये अवस्थाएँ जो द्रव्यो को धारण कर रखती हैं—उनके अस्तित्व को टिकाए रखती हैं—'द्रव्य-धर्म' कहलाती हैं[2]। गति मे सहायक होना, स्थिति में सहायक होना, स्थान देने मे सहायक होना, मिलने और बिछुड़ने की शक्ति से सम्पन्न होना, जानने-देखने की क्षमता का होना, धर्म आदि पाँच अस्तिकायो के ये स्वभाव या लक्षण —जो उनके पृथक्त्व को सिद्ध करते हैं और उनके स्वरूप को स्थिर करते हैं—'अस्तिकाय-धर्म' कहे जाते हैं[3]। इसी तरह सुनना, देखना, सूघना, स्वाद लेना और स्पर्श करना जो जिस इन्द्रिय का प्रचार—विषय—होता है वह उसका 'इन्द्रिय-धर्म' कहलाता है[4]। विवाह्याविवाह्य, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेयादि के नियम जो किसी स्थान की विवाह तथा खान-पान विषयक परम्परा के निर्णायक होते है 'गम्य-धर्म' कहलाते हैं। वस्त्राभूषणादि के रीति-रिवाज जो किसी देश की रहन-सहन विषयक प्रथा के आधारभूत होते है 'देश-धर्म' कहलाते हैं। करादि के विधान जो राज्य की आर्थिक-स्थिति को संतुलित रखते हैं 'राज्य-धर्म' कहलाते है। गणो की पारस्परिक व्यवस्था जो गणो को सगठित रखती है 'गण-धर्म' कहलाती है। दण्डादि की विधि जो राजसत्ता को सुरक्षित रखती है 'राज-धर्म' कहलाती है।

इस तरह द्रव्यो के पर्याय और गुण, इन्द्रियो के विषय तथा लौकिक रीति-रिवाज, देशाचार, व्यवस्था, विधान, दण्डनीति आदि सभी धर्म कहलाते हैं, पर यहाँ उपर्युक्त द्रव्य आदि धर्मों, गम्य आदि सावद्य लौकिक धर्मों और कुप्रावचनिक धर्मों को उत्कृष्ट नही कहा है[5]।

जो दुर्गति में नही पड़ने देता वह धर्म[6] यहाँ अभीष्ट है। ऐसा धर्म सयम में प्रवृत्ति और असयम से निवृत्ति रूप है[7] तथा अहिंसा, सयम और तप लक्षणवाला है। उसे ही यहाँ उत्कृष्ट मगल कहा है[8]।

१—(क) जि० चू० पृ० १४ : 'धृञ् धारणे' अस्य धातोर्मन्प्रत्ययान्तस्येव रूपं धर्म इति।
(ख) हा० टी० प०२० : 'धृञ् धारणे' इत्यस्य धातोर्मप्रत्ययान्तस्येदं रूप धर्म इति।

२—नि० गा० ४० : दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स।

३—जि० चू० पृ० १६ : अत्थि वेज्जति काया य अत्थिकाया, ते इमे पच, तेसिं पंचण्हवि धम्मो णाम सब्भावो लक्खणति एगट्ठा·····।

४—जि० चू० पृ० १६ : पयारधम्मा णाम सोयाईण इन्दियाण जो जस्स विसयो सो पयारधम्मो भवइ···।

५—(क) नि० गा० ४०-४२ : दव्व च अत्थिकायप्पयारधम्मो अ भावधम्मो अ। दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स ।।
धम्मत्थिकायधम्मो पयारधम्मो य विसयधम्मो य। लोइयकुप्पावयणिअ लोगुत्तर लोगऽणेगविहो ।।
गम्मपसुदेसरज्जे पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं। सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहिं उ पसत्थो ।।
(ख) नि० गा० ४२, हा० टी० प० २२ : कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव।
(ग) जि० चू० पृ० १७ : वज्जो णाम गरहिओ, सह वज्जेण सावज्जो भवइ।
(घ) नि० गा० ४२, हा० टी० प० २२ : अवद्य—पाप, सह अवद्येन सावद्यम्।

६—जि० चू० पृ० १५ : यस्मात् जीव नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतंत धारयतीति धर्मः। उक्तं च—
"दुर्गति-प्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते ततः।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्थितः ।।"

७—जि० चू० पृ० १७ : असजमाउ नियत्ती सजमंमि य पवित्ती।

८—(क) नि० गा० ८१ : धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममगल पइन्ना।
(ख) जि० चू० पृ० १५ : अहिंसातवसजमलक्खणे धम्मे ठिओ तस्स एस णिद्देसोत्ति।

३. उत्कृष्ट मंगल (मंगलमुक्किट्ठं [क]) :

जिससे हित हो, कल्याण सधता हो, उसे मंगल कहते है[1]। मंगल के दो भेद हैं :—(१) द्रव्य-मंगल—औपचारिक या नाममात्र के मंगल और (२) भाव-मंगल—वास्तविक मंगल। संसार में पूर्ण-कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शंख-ध्वनि, गीत, ग्रह आदि मंगल माने जाते हैं। इनसे धन-प्राप्ति, कार्य-सिद्धि आदि मानी जाती है। ये लौकिक मंगल हैं—लोक-दृष्टि में मंगल हैं, पर ज्ञानी इन्हें मंगल नहीं कहते, क्योंकि इनसे आत्मा का कोई हित नहीं सधता। आत्मा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्ध रखनेवाला मंगल 'भाव-मंगल' कहलाता है। धर्म आत्मा की शुद्धि या सिद्धि से सम्बन्धित है, अत: वह भाव-मंगल है[2]।

धर्म ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है। वह ऐसा मंगल है जो सुख ही सुख रूप है। साथ ही वह दुःख का आत्यन्तिक क्षय करता है, जिससे उसके अंकुर नहीं रह पाते। द्रव्य मंगलो में ऐकान्तिक सुख व आत्यन्तिक दुःख-विनाश नहीं होता[3]। धर्म आत्मा की सिद्धि करने वाला, उसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला होता है (सिद्धि त्ति काउणं – नि० ४४)। वह भव—जन्म-मरण के बन्धनों को गलाने वाला—काटने वाला होता है (भवगालनादिति – नि० ४४, हा० टी० प० २४)। संसार-बंधन से बड़ा कोई दुःख नहीं। संसार-मुक्ति से बड़ा कोई सुख नहीं। मुक्ति प्रदान करने के कारण धर्म उत्कृष्ट मंगल - अनुत्तर मंगल है[4]।

४. अहिंसा (अहिंसा [ख]) :

हिंसा का अर्थ है दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण-व्यपरोपण करना[5]। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जीवों का अतिपात न करना अहिंसा है[6] अथवा प्राणातिपात-विरति अहिंसा है[7]। "जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सब जीवों को है। जैसे मैं जीने की कामना करता हूँ वैसे ही सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरने की नहीं। अत: मुझे किसी भी जीव को अल्प से अल्प पीड़ा भी नहीं पहुँचानी चाहिए"—ऐसी भावना को समता या आत्मौपम्य कहते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग' में कहा है—"जैसे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दुःख होता है; जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है—यह सोच कर किसी भी प्राणी भूत, जीव और सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर अनुशासन नहीं करना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है[8]।"

यहाँ 'अहिंसा' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत है। इसलिए मृषावाद-विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन-विरति, परिग्रह-विरति भी इसमे समाविष्ट है।

५. संयम (संजमो [ग]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'संयम' का अर्थ है 'उपरम'। राग-द्वेष से रहित हो एकीभाव—समभाव में स्थित होना संयम है[9]। हरिभद्र सूरि ने संयम का अर्थ किया है—"आश्रवद्वारोपरमः"—अर्थात् कर्म आने के हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन और परिग्रह ये जो पाँच

१—हा० टी० प० ३ : मंग्यते हितमनेनेति मंगलं, मंग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति।

२—(क) नि० गा० ४४ : दव्वे भावेऽवि अ मंगलाइं दव्वम्मि पुण्णकलसाई।
धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊणं ॥

(ख) जि० चू० पृ० १६ : जाणि दव्वाणि चेव लोगे मंगलबुद्धीए घेप्पंति जहा सिद्धत्थगदहिसालिअक्खयादीणि ताणि दव्वमंगलं, भावमंगलं पुण एसेव लोगुत्तरो धम्मो, जम्हा एत्थ ठियाणं जीवाणं सिद्धी भवइ।

३—(क) जि० चू० पृ० १६ : दव्वमंगलं अणेगंतियं अणच्चन्तियं च भवति, भावमंगलं पुण एगंतियं अच्चंतियं च भवइ।

(ख) नि० गा० ४४, हा० टी० प० २४ : अयमेव चोत्कृष्टं – प्रधानं मंगलम्, ऐकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च।

४—जि० चू० पृ० १५ : उक्किट्ठं नाम अणुत्तरं, ण तओ अण्णं उक्किट्ठयरंति।

५—जि० चू० पृ० २० : मणवयणकाएहिं जोएहिं दुप्पउत्तेहिं जं पाणववरोवणं कज्जइ सा हिंसा।

६—नि० गा० ४५ : हिंसाए पडिवक्खो होइ····अहिंसऽजीवाइवाओत्ति ॥

७—(क) जि० चू० पृ० १५ : अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।

(ख) टी० टीका पृ० १ : न हिंसा अहिंसा जीवदया प्राणातिपातविरतिः।

८—सू० २.१.१५।

९—जि० चू० पृ० १५ : संजमो नाम उवरमो, रागद्दोसविरहियस्स एगिभावे भवइत्ति।

द्वार हैं उनसे उपरमता—उनसे विरति। पर यहाँ 'संयम' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक प्रतीत होता है। हिंसा आदि पाँच अविरतियों का त्याग, कषायों पर विजय, इन्द्रियों का निग्रह, समितियों (आवश्यक प्रवृत्तियों को करते समय विहित नियमों) का पालन तथा मन, वचन, काया की गुप्ति—ये सब अर्थ 'संयम' शब्द में अन्तर्निहित हैं।

अहिंसा की परिभाषा है—सब जीवों के प्रति संयम। संयम का अर्थ है—हिंसा आदि आश्रवों की विरति। इस तरह जो अहिंसा है वही संयम है। अतः प्रश्न उठता है—जब अहिंसा ही तत्त्वतः संयम है तब संयम का अलग उल्लेख क्या अयुक्त नहीं है? इसका उत्तर यह है कि संयम के बिना अहिंसा टिक नहीं सकती। अहिंसा का अर्थ है सर्व प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच महाव्रत। संयम का अर्थ है उनकी रक्षा के लिए आवश्यक नियमों का पालन। इस प्रकार संयम का अहिंसा पर उपग्रहकारित्व है। दूसरी बात यह है अहिंसा से केवल निवृत्ति का भाव परिलक्षित होता है। संयम में संयत प्रवृत्ति भी अन्तर्निहित है। संयमी के ही भावतः सम्पूर्ण अहिंसा हो सकती है। अतः धर्म के अवयव रूप में अहिंसा के साथ संयम का उल्लेख आवश्यक है और किंचित् भी अयुक्त नहीं[1]।

६. तप (तवो ^ख^) :

जो आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को तपाता है—उनका नाश करता है, उसे तप कहते हैं[2]। तप बारह प्रकार का कहा गया है :—(१) अनशन—आहार-जल आदि का एक दिन, अधिक दिन या जीवनपर्यन्त के लिए त्याग करना अर्थात् उपवास आदि करना; (२) ऊनोदरता—आहार की मात्रा में कमी करना, पेट को कुछ भूखा रखना, क्रोधादि को न्यून करना, उपकरणों को न्यून करना, (३) भिक्षाचर्या—अभिग्रहपूर्वक भिक्षा का संकोच करना, (४) रस-परित्याग—दूध, मक्खन आदि रसों का त्याग तथा प्रणीत पान-भोजन का वर्जन, (५) कायक्लेश—वीरासन आदि उग्र आसनों में शरीर को स्थित करना, (६) प्रतिसंलीनता—इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में राग-द्वेष न करना, अनुदीर्ण क्रोध आदि का निरोध तथा उदय में आए क्रोध आदि को विफल करना, अकुशल मन आदि का निरोध और कुशल मन आदि की प्रवृत्ति तथा स्त्री-पशु-नपुंसक-रहित एकान्त स्थान में वास; (७) प्रायश्चित्त—चित्त की विशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण आदि करना, (८) विनय—देव, गुरु और धर्म का विनय—उनमें श्रद्धा और उनका सम्यक् आदर, सम्मान आदि करना; (९) वैयावृत्त्य—संयमी साधु की शुद्ध आहार आदि से निरवद्य सेवा करना; (१०) स्वाध्याय—अध्यापन, प्रश्न, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा चिंतन और धर्मकथा, (११) ध्यान—आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान का त्याग कर धर्म्य-ध्यान या शुक्ल-ध्यान में आत्मा की स्थिरता और (१२) व्युत्सर्ग—काया की हलन-चलन आदि प्रवृत्तियों को छोड़ धर्म के लिए शरीर तथा उपधि आदि का व्युत्सर्ग करना।

७. लक्षण हैं :

प्रश्न होता है कि अहिंसा, संयम और तप से भिन्न कोई धर्म नहीं है और धर्म से भिन्न अहिंसा, संयम और तप नहीं हैं, फिर धर्म और अहिंसा आदि का पृथक् उल्लेख क्यों?

इसका समाधान यह है कि 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। गम्य-धर्म आदि लौकिक-धर्म अहिंसात्मक नहीं होते। उन धर्मों से मोक्ष-धर्म को पृथक् करने के लिए इसके अहिंसा, संयम और तप—ये लक्षण बतलाए गए हैं। तात्पर्य यह है कि जो धर्म अहिंसा, संयम और तपोमय है वही उत्कृष्ट मंगल है, शेष धर्म उत्कृष्ट मंगल नहीं हैं[3]।

दूसरी बात—धर्म और अहिंसा आदि में कार्य-कारण भाव है। अहिंसा, संयम और तप धर्म के कारण हैं। धर्म उनका कार्य है। कार्य कथञ्चित् भिन्न होता है, इसलिए धर्म और उसके कारण—अहिंसा, संयम और तप का पृथक् उल्लेख किया गया है।

घट और मिट्टी को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, इस दृष्टि से वे दोनों अभिन्न हैं, किन्तु घट मिट्टी से पूर्व नहीं होता, इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। धर्म और अहिंसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता इसलिए ये अभिन्न हैं और अहिंसा के पूर्व धर्म नहीं होता इसलिये ये भिन्न भी हैं।

धर्म और अहिंसा के इस भेदात्मक सम्बन्ध को समझाने और अहिंसात्मक-धर्मों से हिंसात्मक-धर्मों का पृथक्करण करने के लिए

१—(क) जि० चू० पृ० २० : सिस्सो आह—णणु जा चेव अहिंसा सो चेव संयमोऽवि। आयरियो आह—अहिंसागहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। संयमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ। संपुण्णाय अहिंसाय संयमोवि तस्स भवइ।

(ख) नि० गा० ४६, हा० टी० प० २६ : आह—अहिंसैव तत्त्वतः संयम इतिकृत्वा तद्भेदेनास्याभिधानमयुक्तम्, न, संयमस्याहिंसाया एव उपग्रहकारित्वात्, संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वादिति कृतं प्रसंगेन।

२—जि० चू० पृ० १५ : तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठिं, नासेतित्ति वुत्तं भवइ।

३—नि० गा० ८९ : धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममंगल पइण्णा।

धर्म और अहिंसा आदि लक्षणों को अलग-अलग कहा गया है[1]।

८. देव भी (देवा वि ग) :

जैन-धर्म में चार गति के जीव माने गये हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इनमें देव सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली और प्रभुत्व वाले होते हैं। साधारण लोग उनके अनुग्रह को पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। यहाँ कहा गया है कि जिसकी आत्मा धर्म में लीन रहती है उस धर्मात्मा की महिमा देवो से भी अधिक होती है, क्योंकि मनुष्य की तो बात ही क्या लोकपूज्य देव भी उसे नमस्कार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नरपति आदि तो धर्मी की पूजा करते ही हैं, महाऋद्धि-सम्पन्न देव भी उसकी पूजा करते हैं। यह धर्म-पालन का आनुषंगिक फल है। यहाँ यह बतलाया गया है कि धर्म से धर्मी की आत्मा के उत्कर्ष के साथ-साथ उसे असाधारण सांसारिक पूजा—मान-सम्मान आदि भी स्वय प्राप्त होते हैं। पर धर्म से आनुषगिक रूप मे सासारिक ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर भी धर्म का पालन ऐसे सावद्य हेतु के लिए नहीं करना चाहिए। *'नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए'*—निर्जरा—आत्म-शुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से धर्म की आराधना न की जाय, यह भगवान् की आज्ञा है।

श्लोक २ :

९. थोड़ा-थोड़ा ··पीता है (आवियइ ख) :

'आवियइ' का अर्थ है थोडा-थोड़ा पीना अर्थात् मर्यादापूर्वक पीना। तात्पर्य है—जिस प्रकार फूलों से रस-ग्रहण करने में भ्रमर मर्यादा से काम लेता है उसी प्रकार गृहस्थो से आहार की गवेषणा करते समय भिक्षु मर्यादा से काम ले—थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

१०. किसी भी पुष्प को (पुप्फं ग) :

द्वितीय श्लोक के प्रथम पाद मे 'पुप्फेसु' बहुवचन मे है। तीसरे पाद मे 'पुप्फ' एकवचन मे है। 'न य पुप्फ' का अर्थ है—एक भी पुष्प को नही--किसी भी पुष्प को नही।

११. म्लान नहीं करता (न य···किलामेइ ग) :

यह मधुकर की वृत्ति है कि वह फूल के रूप, वर्ण या गन्ध को हानि नही पहुँचाता। इसी प्रकार श्रमण भी किसी को खेद-खिन्न किये बिना, जो जितना प्रसन्न मन से दे उतना ले। 'धम्मपद' (पुप्फवग्गो ४.६) मे कहा है :

> यथापि भमरो पुप्फ वण्णगन्धं अहेठय।
> पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥

—जिस प्रकार फूल या फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।

श्लोक ३ :

१२. (एमेए क) :

'अगस्त्य-चूर्णि' में 'एमेए' (एवम् एते) के 'एव' के 'व' का लोप माना है[2]। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'एवमेव' का रूप 'एमेव' बनता है[3]। 'एमेव' पाठ अधिक उपयुक्त है। किन्तु सभी आदर्शों और व्याख्याओ में 'एमेए' पाठ मिलता है, इसलिए मूल-पाठ उसी को माना है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३७-३८ : सीसो आह—····धम्मग्गहणेण चेव अहिंसासंजमतवा घेप्पंति, कम्हा ? जम्हा अहिंसा संजमे तवो चेव धम्मो भवइ, तम्हा अहिंसासंजमतवग्गहण पुनरुत्तं काऊण ण भणियव्व। आचार्याह—अनैकान्तिकमेतत्, अहिंसासजमतवा हि धर्मस्य कारणानि, धर्मः कार्यं, कारणाच्च कार्यं स्याद् भिन्न, कथमिति ? अत्रोच्यते, अन्यत्कार्यं कारणात्, अभिधानवृत्तिप्रयोजनभेददर्शनात् घटपटवत्···अहवा अहिंसासंजमतवग्गहणे सीसस्स संदेहो भवइ धम्मबहुत्वे कतरो एतेसिं गम्मपसुवेसादीणं धम्माणं मंगलमुक्किट्ठं भवइ ? अहिंसासंजमतवग्गहणेण पुण नज्जइ जो अहिंसासजमतवजुत्तो सो धम्मो मगलमुक्किट्ठं भवइ।

(ख) जि० चा० ४८, हा० टी० प० ३२ : धर्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपोग्रहणमयुक्तं, तस्य अहिंसासयमतपोरूपत्वाव्यभिचारादिति, उच्यते, न अहिंसादीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद्भेदात्, कथञ्चिद्भेदश्च तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात्, उक्तं च—'नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति जं तेण जुज्जइ अणण्णो। जं पुण घडुत्ति पुव्वं नासी पुढवीइ तो अण्णो।' गन्धादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं वाऽहिंसादिग्रहणमदुष्टं इति।

२—अ० चू० पृ० ३२ : वकारलोपो सिलोगपायाणुलोमेणं।

३—हैमश० ८-१-२७१ : यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः।

१३. मुक्त (मुत्ता [क]) :

पुरुष चार प्रकार के होते हैं[१]—

(१) बाह्य परिग्रह से मुक्त और आसक्ति से भी मुक्त ।

(२) बाह्य परिग्रह से मुक्त किन्तु आसक्ति से मुक्त नहीं ।

(३) बाह्य परिग्रह से मुक्त नही किन्तु आसक्ति से मुक्त ।

(४) बाह्य परिग्रह से मुक्त नही और आसक्ति से भी मुक्त नहीं ।

यहाँ 'मुक्त' का अर्थ है—ऐसे उत्तम श्रमण जो बाह्य-परिग्रह और आसक्ति दोनो से मुक्त होते हैं[२] ।

१४. श्रमण (समणा [क]) :

'समण' के सस्कृत रूप—समण, समनस्, श्रमण और शमन—ये चार हो सकते हैं ।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' का अर्थ है सब जीवों को आत्म-तुला की दृष्टि से देखनेवाला समता-सेवी[३] । 'समनस्' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मनवाला—मध्यस्थवृत्ति वाला[४] । ये दोनो आगम और निर्युक्तिकालीन निरुक्त है । इनका सम्बन्ध 'सम' (सममणति और सममनम्) शब्द से ही रहा है । स्थानाङ्ग-वृत्ति में 'समन' का अर्थ पवित्र मनवाला भी किया गया है[५] । टीका-साहित्य मे 'समण' को 'श्रम' धातु से जोडा गया और उसका संस्कृत रूप बना 'श्रमण' । उसका अर्थ किया गया है—तपस्या से श्रान्त[६] या तपस्वी[७] । 'शमन' की व्याख्या हमे अभी उपलब्ध नही है ।

'समण' को कैसा होना चाहिए या 'समण' कौन हो सकता है—यह निर्युक्ति मे उपमा द्वारा समझाया गया है[८] ।

प्रवृत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' की व्यापक परिभाषा 'सूत्रकृताङ्ग' मे मिलती है । "जो अनिश्रित, अनिदान—फलाशसा से रहित, आदानरहित, प्राणातिपात, मृषावाद, बहिस्तात्- अदत्त, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष और सभी आस्रवो से विरत, दान्त, द्रव्य -मुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट-काय- शरीर के प्रति अनासक्त है, वह समण कहलाता है[९] ।

पर्यायवाची नाम—

'समण' भिक्षु का पर्याय शब्द है । भिक्षु चौदह नामो से वचनीय है । उनमें पहला नाम 'समण' है । सब नाम इस प्रकार हैं—समण, माहन (ब्रह्मचारी या ब्राह्मण), क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती (परमार्थ पडित), विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी और चरण-करण पारविद्[१०] ।

निर्युक्ति के अनुसार प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, तापस, परिव्राजक, समण, निर्ग्रन्थ, सयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि,

---

१—ठा० ४.६१२ : चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं० मुत्ते णाममेगे मुत्ते, मुत्ते णाममेगे अमुत्ते, अमुत्ते णाममेगे मुत्ते, अमुत्ते णाममेगे अमुत्ते ।

२—हा० टी० प० ६८ : 'मुक्ता' बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन ।

३—नि० गा० १५४ : जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं । न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ।।

४—नि० गा० १५५-१५६ : नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु । एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ।।
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो । सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु ।।

५—स्था० टीका पृ० २६८ : सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्तत इति समनसः ।

६—सू० १.१६.१ टी० प० २६३ । श्राम्यति—तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणः ।।

७—हा० टी० प० ६८ : श्राम्यन्तीति श्रमणाः, तपस्यन्तीत्यर्थः ।

८—नि० गा० १५७ : उरग-गिरि-जलण-सागर-नहयल-तरुगणसमो य जो होइ । भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो जओ समणो ।।

९—सू० १.१६.२ : एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाण च, अतिवायं च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च, इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआदंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे ।

१०—सू० २.१.१५ : उपसहारात्मक अश . से भिक्खू परिण्णायकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेवं वयणिज्जे, तंजहा-समणेति वा, माहणेति वा, खंतेति वा, दंतेति वा, गुत्तेति वा, मुत्तेति वा, इसीति वा, मुणीति वा, कतीति वा, विऊति वा, भिक्खूति वा लूहेति वा, तीरट्ठीति वा, चरण-करण-पारविऊत्ति बेमि ।

क्षान्त, दान्त, विरत, रूक्ष और तीरार्थी (तीरस्थ)---ये 'समण' के पर्यायवाची नाम हैं[1]।

प्रकार --'समण' के पांच प्रकार हैं --निर्ग्रन्थ, शाक्य तापस, गैरिक और आजीवक[2]।

१५. संति साहुणो (ख) :

'संति' के संस्कृत रूप 'संति' और 'शान्ति' दो बनते हैं। 'सन्ति' अस् धातु का बहुवचन है। 'सन्ति साहुणो' अर्थात् साधु हैं।

'शान्ति' के कई अर्थ उपलब्ध होते हैं- सिद्धि, उपशम, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, अकुतोभय और निर्वाण। इस व्याख्या के अनुसार 'सन्ति साहुणो' का अर्थ होता है- सिद्धि आदि की साधना करनेवाला।

चूर्णि और टीका में इसकी उक्त दोनो व्याख्याएँ मिलती हैं।[3]

आगम मे 'सन्ति' हिंसा-विरति अथवा शान्ति के अर्थ मे भी व्यवहृत हुआ है[4]। उसके अनुसार इसका अर्थ होता है --अहिंसा की साधना करनेवाला अथवा शान्ति की साधना करनेवाला। प्रस्तुत प्रकरण मे 'समण' शब्द निर्ग्रन्थ श्रमण का द्योतक है।

१६. साधु हैं (साहुणो ख) :

'साधु' शब्द का अर्थ है - सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र के योग से अपवर्ग---मोक्ष की साधना करने वाला[5]। जो छह जीवनिकाय का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर उनकी हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से सर्वथा विरत होते हैं तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-- इन पांचो मे सकल दु:ख-क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं, वे साधु कहलाते हैं[6]।

१७. दानभक्त (दाणभत्त घ) :

श्रमण साधु सर्वथा अपरिग्रही होता है। उसके पास रुपये-पैसे नही होते। शिष्य पूछता है--'तब तो जैसे भ्रमर फूलो से रस पीता है वैसे ही साधु क्या वृक्षो के फल और कन्द-मूल आदि तोडकर ग्रहण करे?' ज्ञानी कहते है -'श्रमण फल-फूल, कन्द-मूल कैसे ग्रहण करेगा? ये जीव है और वह सम्पूर्ण अहिंसा का व्रत ले चुका है। वृक्षो के फल आदि को ग्रहण करना वृक्ष-सन्तान की चोरी है।' शिष्य पूछता है- 'तब क्या श्रमण आटा-दाल आदि माँग कर आहार पकाए?' ज्ञानी कहते हैं- 'अग्नि जीव है। पचन-पाचन आदि क्रियाओं---आरम्भो मे अग्नि, जल आदि जीवो का हनन होगा। अहिंसक श्रमण ऐसा नही कर सकता।' शिष्य पूछता है 'तब श्रमण उदरपूर्ति कैसे करे?' ज्ञानी कहते है-- 'वह दानभक्त-- दत्तभक्त की गवेषणा करे। चोरी से बचने के लिये वह दाता द्वारा दिया हुआ ले। बिना दी हुई कोई चीज कही से न ले और दत्त ले-- अर्थात् दाता के घर स्व प्रयोजन के लिए बना प्रासुक- निर्जीव ग्रहण-योग्य जो आहार-पानी हो वह ले[7]। ऐसा करने से वह अहिंसा-व्रत की अक्षुण्ण रक्षा कर सकेगा।' शिष्य ने पूछा- 'भ्रमर बिना दिया हुआ कुसुम-रस पीते हैं और श्रमण दत्त ही ले सकता है, तब श्रमण को भ्रमर की उपमा क्यो दी गई है?' आचार्य कहते हैं - 'उपमा एकदेशीय होती है। इस उपमा मे अनियतवर्तिता

१- नि० गा० १५८, १५९ : पव्वइए अणगारे पासंडे चरग तावसे भिक्खू। परिवाइये य समणे निग्गंथे संजए मुत्ते ॥
तिन्ने ताई दविए मुणी य खंते य दंत विरए य। लूहे तीरट्ठेऽविय हवंति समणस्स नामाइं ॥

२--हा० टी० प० ६८ : निग्गंथसक्कतावसगेरुयआजीव पंचहा समणा।

३ --(क) हा० टी० प० ६८ : सन्ति---विद्यन्ते शान्ति :---सिद्धिरुच्यते तां साधयन्तीति शान्तिसाधवः।

(ख) अ० चू० पृ० ३२, ३३ : सन्ति- विज्जंति खेत्तंतरेसुवि एव धम्मताकहणत्थ। अहवा सन्ति---सिद्धि साधेंति सतिसाधवः। उवसमो वा सन्ती त साहेंति सन्तिसाहवो। णेव्वाण-साहणेण साधव.।

(ग) जि० चू० पृ० ६६ : शान्तिनाम ज्ञानदर्शनचारित्राणि अभिधीयन्ते, तामेव गुणविशिष्टां शान्ति साधयन्तीति साधवः, अहवा सति अकुतोभय भण्णइ।

४--(क) सू० १.११.११ : उड्ढ अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा। सव्वत्थ विरतिं विज्जा, सन्ति निव्वाणमाहियं ॥

(ख) उत्त० १२.४४ : कम्मेहा संजमजोगसती। उत्त० १८.३८ : सती सतिकरे लोए।

५-- नि० गा० १४६, हा० टी० प० ७९ : साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः।

६--(क) नि० गा० ९३, हा० टी० प० ६३ : प्रव्रजिता: षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारितादिपरिवर्जनेन च।

(ख) भा०गा० १, हा० टी० प० ६३ : एस पइण्णासुद्धी, हेऊ अहिंसाइएसु पंचसुवि। सब्भावेण जयंती, हेउविसुद्धी इमा तत्थ ॥

७--(क) नि० गा० १२३ : दाणेत्ति दत्तगिण्हण भत्ते भज सेव फासुगेण्हणया। एसणतियंमि निरया उवसंहारस्स सुद्धि इमा ॥

(ख) हा० टी० प० ६८ : दानग्रहणाद्दत्तं गृह्णन्ति नादत्तम्, भक्तग्रहणेन तदपि भक्तं प्रासुकं न पुनराधाकर्मादि।

(ग) तिलकाचार्य वृत्ति : दानभक्तैषणे---दात्रा दानाय आनीतस्य भक्तस्य एषणे।

आदि धर्मों मे श्रमण की भ्रमर के साथ तुलना होती है, किन्तु सभी धर्मों से नही। भ्रमर अदत्त रस भले ही पीता हो किन्तु श्रमण अदत्त लेने की इच्छा भी नही करते[1]।

१८. एषणा में रत (एसणे रया [घ]) :

साधु को आहारादि की खोज, प्राप्ति और भोजन के विषय मे उपयोग- सावधानी रखनी होती है, उसे एषणा-समिति कहते हैं[2]। एषणा तीन प्रकार की होती हैं : (१) गोचर्या के लिये निकलने पर साधु आहार के कल्प्याकल्प्य के निर्णय के लिये जिन नियमो का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे गो-| एषणा = गवेषणा कहते है। (२) आहार आदि को ग्रहण करते समय साधु जिन-जिन नियमो का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे ग्रहणैषणा कहते है। (३) मिले हुए आहार का भोजन करते समय साधु जिन नियमो का पालन अथवा दोषो का निवारण करता है, उन्हे परिभोगैषणा कहते है।[3] निर्युक्तिकार ने यहाँ प्रयुक्त 'एषणा' शब्द मे तीनो एषणाओ को ग्रहण किया है[4]। अगस्त्यसिंह चूर्णि और हारिभद्रीय टीका मे भी ऐसा ही अर्थ है[5]। जिनदास महत्तर 'एषणा' शब्द का अर्थ केवल गवेषणा करते हैं[6]। एषणा मे रत होने का अर्थ है—एषणा-समिति के नियमो मे तन्मय होना—पूर्ण उपयोग के साथ समस्त दोषो को टालकर गवेषणा आदि करना।

श्लोक ४ :

१९. हम (वयं [क]) :

गुरु शिष्य को उपदेश देते है कि यह हमारी प्रतिज्ञा है—"हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेगे कि किसी जीव का उपहनन न हो।"

यहाँ प्रथम पुरुष के प्रकरण मे जो उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है उसके आधार पर अन्य कल्पना भी की जा सकती है। ५।२।५ और ८।२० के श्लोक के साथ जैसे एक-एक घटना जुडी हुई है, वैसे यहाँ भी कोई घटना जुडी हुई हो, यह सम्भव है। वहाँ (जि० चू० पृ० १९५, २८०) चूर्णिकार ने उसका उल्लेख किया है, यहाँ न किया हो। जैसे कोई श्रमण भिक्षा के लिए किसी नवागन्तुक भक्त के घर पहुँचे। गृहस्वामी ने वन्दना की और भोजन लेने के लिए प्रार्थना की।

श्रमण ने पूछा—"भोजन हमारे लिए तो नही बनाया ?"

गृहस्वामी सकुचाता हुआ बोला—"इससे आपको क्या ? आप भोजन लीजिये।"

श्रमण ने कहा—"ऐसा नही हो सकता। हम उद्दिष्ट—अपने लिए बना भोजन नही ले सकते।"

गृहस्वामी—"उद्दिष्ट भोजन लेने से क्या होता है ?"

श्रमण—"उद्दिष्ट भोजन लेनेवाला श्रमण त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के पाप से लिप्त होता है[7]।"

गृहस्वामी—"तो आप जीवन कैसे चलायेंगे ?"

श्रमण "हम यथाकृत भोजन लेंगे।"

२० यथाकृत (अहागडेसु [ग]) :

गृहस्थो के घर आहार, जल आदि उनके स्वय के उपयोग के लिए उत्पन्न होते रहते हैं। अग्नि तथा अन्य शस्त्र आदि से परिणत अनेक प्रासुक निर्जीव वस्तुएँ उनके घर रहती है। इन्हे 'यथाकृत' कहा जाता है[8]। इनमे से जो पदार्थ सेव्य हैं, उन्हे श्रमण लेते है।

---

१ (क) नि० गा० १२६ : उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए ॥
(ख) नि० गा० १२४ . अवि भमरमहुयरिगणा अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं। समणा पुण भगवंतो नादिन्नं भोत्तुमिच्छंति ॥

२—उत्त० २४ : २ : इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय।

३ (क) उत्त० २४ : ११ : गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य। आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए ॥
(ख) उत्त० २४ : १२ उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं। परिभोयम्मि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई ॥

४—नि० गा० १२३ : एसणतिगम्मि निरया···॥

५ (क) अ० चू० : एसणे इति गवेषण-गहण-घासेसणा सूइता।
(ख) हा० टी० प० ६८ : एषणाग्रहणेन गवेषणादित्रयपरिग्रहः।

६ जि० चू० पृ० ६७ : एसणागहणेण दसएसणादोसपरिसुद्धं गेण्हंति, ते य इमे—तंजहा :—
सकियमक्खियनिक्खित्तपिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डिय एसणदोसा दस हवंति ॥

७—भा० गा० ३, हा० टी० प० ६४ : अप्फासुयकयकारियअणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि। तसथावरहिंसाए जणा अकुसला उ लिप्पंति।

८—हा० टी० प० ७२ : 'यथाकृतेषु' आत्मार्थमभिनिर्वर्तितेष्वाहारादिषु।

उपमा की भाषा में—जैसे द्रुम स्वभावत: पुष्प और फल उत्पन्न करते हैं वैसे ही नागरिको के गृहो में स्वभावत: आहार आदि निष्पन्न होते रहते हैं[1]। जैसे भ्रमर अदत्त नही लेते वैसे मुनि भी अदत्त नही लेते। जैसे भ्रमर स्वभाव-प्रफुल्ल, प्रकृति-विकसित कुसुम से रस लेते हैं, वैसे ही श्रमण यथाकृत आहार लेते हैं[2]।

तृण के लिए वर्षा नही होती, हरिण के लिए तृण नही बढते, मधुकर के लिए पेड़-पौधे पुष्पित नहीं होते[3]।

बहुत से ऐसे भी उद्यान हैं जहाँ मधुकर नही हैं, वहाँ भी पेड-पौधे पुष्पित होते हैं। पुष्पित होना उनकी प्रकृति है[4]।

गृहस्थ श्रमणो के लिए भोजन नहीं पकाता। बहुत सारे गाँव और नगर ऐसे हैं जहाँ श्रमण नही जाते। भोजन वहाँ भी पकता है। भोजन पकाना गृहस्थ की प्रकृति है[5]। श्रमण ऐसे यथाकृत— सहज-सिद्ध भोजन की गवेषणा करते हैं, इसलिए वे हिंसा से लिप्त नही होते[6]।

श्लोक ५ :

२१. अनिश्रित हैं (अणिस्सिया ख) :

मधुकर किसी एक फूल पर आश्रित नही होता। वह भिन्न-भिन्न फूलो से रस पीता है, कभी किसी पर जाता है और कभी किसी पर। उसकी वृत्ति अनियत होती है। श्रमण भी इसी तरह अनिश्रित हो। वह किसी एक पर निर्भर न हो। वह अप्रतिबद्ध हो[7]।

२२ नाना पिंड में रत हैं (नाणापिण्डरया ग) :

इसका अर्थ है, साधु --

(१) अनेक घरों से थोडा-थोडा ग्रहण करे।

(२) कहा, किससे, किस प्रकार से अथवा कैसा भोजन मिले तो ले, इस तरह के अनेक अभिग्रहपूर्वक अथवा भिक्षाटन की नाना विधियों से भ्रमण करता हुआ ले[8]।

(३) विविध प्रकार का नीरस आहार ले[9]।

जो भिक्षु इस तरह किसी एक मनुष्य या घर पर आश्रित नही होता तथा आहार की गवेषणा मे नाना प्रकार के वृत्तिसंक्षेप से काम लेता है वह हिंसा से सम्पूर्णतः बच जाता है और सच्चे अर्थ मे साधुत्व को सिद्ध करता है।

२३. दान्त हैं (दंता ग) :

साधु के गुणो का उल्लेख करते हुए 'दान्त' शब्द का प्रयोग सूत्रों में अनेक स्थलो पर हुआ है। 'उत्तराध्ययन' में आठ 'सूत्रकृतांग' में नौ और प्रस्तुत सूत्र मे यह शब्द सात बार व्यवहृत हुआ है। साधु दान्त हो, यह भगवान् को अत्यन्त अभीष्ट था। शीलांकाचार्य ने 'दान्त' शब्द का अर्थ किया है —इन्द्रियों को दमन करनेवाला[10]। चूर्णिकार भी यही अर्थ करते हैं। सूत्र के अनुसार 'दान्त' शब्द का अर्थ है—सयम और तप से आत्मा को दमन करनेवाला।[11] जो दूसरों के द्वारा वध और बन्धन से दमित किया जाता है, वह द्रव्य-दान्त होता है, भाव-दान्त नही। भाव दान्त वह साधु है जो आत्मा से आत्मा का दमन करता है।

१—नि० गा० १२७ : जह दुमगणा उ तह नगरजणवया पयणपायणसहावा। जह भमरा तह मुणिणो नवरि अदत्तं न भुंजंति।

२—नि० गा० १२८ : कुसुमे सहावफुल्ले आहारन्ति भमरा जह तहा उ। भत्तं सहावसिद्धं समणसुविहिया गवेसंति॥

३ नि० गा० ९९ : वासइ न तणस्स कए न तणं वड्ढइ कए मयकुलाण। न य रुक्खा सयसाला फुल्लंति कए महुयराण॥

४—नि० गा० १०६ अत्थि बहू वणसंडा भमरा जत्थ न उवेंति न वसंति। तत्थऽवि पुप्फंति दुमा पगई एसा दुमगणाण॥

५ नि० गा० ११३ : अत्थि बहुगामनगरा समणा जत्थ न उवेंति न वसंति। तत्थवि रधंति गिही पगई एसा गिहत्थाणं॥

६—नि० गा० १२९ : उवसंहारो भमरा जह तह समणावि अवहजीवित्ति।

७—जि० चू० पृ० ६८ : अणिस्सिया नाम अपडिबद्धा।

८--सू० २.२.२४।

९—(क) जि० चू० पृ० ६९ : णाणापिण्डरया णाम उक्खित्तचरगादी पिंडस्स अभिग्गहविसेसेण णाणाविधेसु रता, अहवा अंतपंताईसु णाणाविहेसु भोयणेसु रता, ण तेसु अरइं करेंति। भणितं च—
अं च त च आसिय जत्थ व तत्थ व सुहोवगतनिद्दा। जेण व तेण व संतुट्ठ धीर! मुणिओ तुमे अप्पा॥

(ख) नि० गा० १२९; हा० टी० प० ७३ : नाना - अनेकप्रकारोऽभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिंड -आहारपिण्डः, नाना चासौ पिंडश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्तादिर्वा, तस्मिन् रता—अनुद्वेगवन्तः।

१० —सू० १६.१ टी० पृ० ५५५ : दान्त इन्द्रियदमनेन।

११ —उत्त० १ : १६ : वर मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य। माहं परेहि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य॥

यह शब्द लक्ष्य के बिना जो नानापिण्ड-रत जीव हैं उनसे साधु को पृथक् करता है। नानापिण्ड-रत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य से और भाव से। अश्व, गज आदि प्राणी लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत नहीं होते, इसलिये वे भाव से दान्त नहीं बनते। साधु लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत होने के कारण भावतः दान्त होते हैं[1]।

२४. वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं (तेण वुच्चंति साहुणो [घ]) :

इस अध्ययन मे अप्रत्यक्ष रूप से साधु के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण गुणो का उल्लेख है जिनसे साधु साधु कहलाता है। साधु अहिंसा, संयम और तपमय धर्म में रमा हुआ होना चाहिए। वह बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त, शान्ति की साधना करनेवाला और दान्त होना चाहिए। वह अपनी आजीविका के लिए किसी प्रकार का आरम्भ समारम्भ न करे। वह अदत्त न ले। अपने संयमी-जीवन के निर्वाह के लिए वह भिक्षावृत्ति पर निर्भर हो। वह माधुकरी वृत्ति से भिक्षाचर्या करे। यथाकृत मे से प्रासुक ले। वह किसी एक पर आश्रित न हो। यहाँ कहा गया है कि ये ही ऐसे गुण हैं जिनसे साधु साधु कहलाता है।

अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार 'तेण वुच्चंति साहुणो' का भावार्थ है—वे नानापिण्डरत हैं, इसलिए साधु हैं[2]।

जिनदास लिखते हैं—श्रमण अपने हित के लिए त्रस-स्थावर जीवो की यतना रखते हैं इसलिए वे साधु हैं[3]।

एक प्रश्न उठता है कि जो अन्यतीर्थी हैं वे भी त्रस-स्थावर जीवों की यतना करते है—अत. वे भी साधु क्यो नहीं होगे ? उसका उत्तर निर्युक्तिकार इस प्रकार देते है 'जो सद्भावपूर्वक त्रस-स्थावर जीवो के हित के लिए यत्नवान् होता है, वही साधु होता है[4]। अन्य-तीर्थी सद्भावपूर्वक यतनायुक्त नही होते। वे छहकाय की यतना को नही जानते। वे उद्गम, उत्पात आदि दोषो से रहित शुद्ध आहार ग्रहण नही करते। वे मधुकर की तरह अवधजीवी नही होते और न तीन गुप्तियों से युक्त होते हैं[5]। उदाहरणस्वरूप कई श्रमण औद्देशिक आहार में, जिसमें कि जीवों की प्रत्यक्ष घात होती है, कर्मबन्ध नही मानते। कई श्रमणो का जीवन-सूत्र ही है—"भोगों की प्राप्ति होने पर उनका उपभोग करना चाहिए।" ऐसे श्रमण अज्ञानरूपी महासमुद्र मे डूबे हुए होते हैं। अत: उन्हे साधु कैसे कहा जाय[6] ? साधु वे होते हैं—जो मन, वचन, काया और पाँचों इन्द्रियो का दमन करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कषायो को सयमित करते हैं तथा तप से युक्त होते है। ये साधु के सम्पूर्ण लक्षण हैं। इन्ही से कोई साधु कहलाता है।[7] जिसमे ये गुण नही, वह साधु नहीं हो सकता। जो जिनवचन में अनुरक्त हैं, वे ही साधु हैं क्योकि वे निकृति-रहित और चरण-गुण से युक्त है[8]।

उपसंहार मे अगस्त्यसिंह कहते हैं—"अहिंसा, सयम, तप आदि साधनो से युक्त, मधुकरवत् अवध-आहारी साधु के द्वारा साधित धर्म ही उत्कृष्ट मंगल होता है[9]।

१—जि० चू० पृ० ६६ . णाणापिण्डरता दुविधा भवंति, तजहा—दव्वओ भावओ य, दव्वओ आसहत्थिमादि, ते णो दन्ता भावओ, (साहवो पुणो) इदिएसु दन्ता।

२—अ० चू० पृ० ३४ : जेण मधुकारसमा नाणापिंडरता य तेण कारणेण।

३—जि० चू० पृ० ७० : जेण कारणेण तसथावराण जीवाण अप्पणो य हियत्थ च भवइ तहा जयति अतो य ते साहुणो भण्णति।

४—नि० गा० १३० : तसथावरभूयहिय जयति सब्भाविय साहू ॥

५—अ० चू० पृ० ३४ : जति कोति भणेज्ज—तित्यतरिया वि अहिंसाविगुणजुत्ता इति तेसि पि धम्मो भविस्सति तत्थ समत्थमिद-मुत्तर—ते छक्कायजतन ण जाणति, ण वा उग्गमउप्पायणासुद्ध मधुकरवदणुवरोहिं भुंजति, ण वा तिहिं गुत्तीहिं गुत्ता।

६—जि० चू० पृ० ७० : जहा जइ कोई भणेज्जा परिव्वायगरत्तपडादिणो तसथावरभूतहितत्थमप्पहितत्थ च जयंता साहुणो भवि-स्सति, त च णेव भवइ, जेण ते सब्भावओ ण जयति, कहं न जयंति?, तत्थ सक्काणं ज उद्दिस्स सत्तोवघातो भवइ ण तत्थ तेसि कम्मबधो भवइ, परिव्वायगा नाम जइ किर तेसिं सद्दाइणो विसया इदियगोयर हव्वमागच्छति, भणिय तेसि 'इदियविसयपत्ताण उवयोगो कायव्वो' एव ते अण्णाणमहासमुद्दमोगाढा पडुप्पण्णमारिया जीवा ताणि आलबणाणि काऊण तमेव परिकिलेसावह गिहवास अवलबयति।

७—नि० गा० १३५, १३६ : काय वाय च मण च इदियाइं च पच दमयति।
धारेंति बभचेरं सजमयति कसाए य ॥
ज च तवे उज्जुत्ता तेणेसि साहुलक्खण पुण्णं।
तो साहुणो त्ति भण्णति साहवो निगमण चेय ॥

८—जि० चू० पृ० ७० : ण तु सक्कादीण णियडिबहुलाणं, तम्हा जिणवयणरया साहुणो भवंति।

९—अ० चू० पृ० ३४ (क) तम्हा अहिंसा-सयम-तवसाहणोववेतमधुकरवयणवज्जाहारसाधुसाहितो धम्मो मंगलमुक्कट्ठं भवति।
पृ० ३४ (ख) तेहिं समत्तसाधुलक्खणलक्खितेहिं साधूहिं साधितो ससारनित्थरणहेऊ सव्वदुक्खविमोक्खमोक्खगमण-सफलो धम्मो मगलमुक्कट्ठं भवति त्ति सुट्ठु निद्दिट्ठं।

बीयं अज्झयणं
सामण्णपुव्वयं

द्वितीय अध्ययन
श्रामण्यपूर्वक

आमुख

जो संयम में श्रम करे उसे श्रमण कहते हैं। श्रमण के भाव को श्रमणत्व या श्रामण्य कहते हैं।

बीज बिना वृक्ष नहीं होता वृक्ष के पूर्व बीज होता है; दूध बिना दही नहीं होता—दही के पूर्व दूध होता है; समय बिना ग्रावलिका नहीं होती —ग्रावलिका के पूर्व समय होता है, दिवस बिना रात नहीं होती रात के पूर्व दिन होता है। पूर्व दिशा के बिना ग्रन्य दिशाएँ नहीं बनतीं—ग्रन्य दिशाग्रों के पूर्व पूर्व दिशा होती है। प्रश्न है—श्रामण्य के पूर्व क्या होता है? वह कौन सी बात है जिसके बिना श्रामण्य नहीं होता, नहीं टिकता।

इस ग्रध्ययन में जिस बात के बिना श्रामण्य नहीं होता, उसकी चर्चा होने से इसका नाम 'श्रामण्यपूर्वक' रखा गया है।

टीकाकार कहते हैं "पहले ग्रध्ययन में धर्म का वर्णन है। वह धृति बिना नहीं टिक सकता। ग्रत· इस ग्रध्ययन में धृति का प्रतिपादन है। कहा है

जस्स धिई तस्स तवो जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलभा।
जे अधिइमत पुरिसा तवोऽपि खलु दुल्लहो तेसिं॥

"जिसकी धृति होती है, उसके तप होता है। जिसके तप होता है, उसको सुगति सुलभ है। जो ग्रधृतिवान् पुरुष हैं, उनके लिए तप भी निश्चय ही दुर्लभ है।"

इसका ग्रर्थ होता है: धृति, ग्रहिंसा, सयम, तप ग्रौर इनका समुदाय श्रामण्य की जड़ है। श्रामण्य का मूल बीज धृति है। ग्रध्ययन के पहले ही श्लोक मे कहा है—जो काम-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रामण्य का पालन कैसे कर सकेगा? इस तरह काम-राग का निवारण करते रहना श्रामण्य का मूलाधार है, उसकी रक्षा का मूल कारण है।

साधु रथनेमि साध्वी राजीमती से विषय-सेवन की प्रार्थना करते हैं। उस समय साध्वी राजीमती उन्हें संयम में दृढ करने के लिए जो उपदेश देती है ग्रथवा इस कायरता के लिए उनकी जो भर्त्सना करती है, वही बिना घटना-निर्देश के यहाँ ग्रंकित है।

चूर्णि ग्रौर टीकाकार सातवाँ, ग्राठवाँ ग्रौर नवाँ श्लोक ही राजीमती के मुंह से कहलाते हैं। किन्तु लगता ऐसा है कि १ से ६ तक के श्लोक राजीमती द्वारा रथनेमि को कहे गए उपदेशात्मक तथ्यों के सकलन हैं। रथनेमि राजीमती से भोग की प्रार्थना करते हैं। वह उन्हें धिक्कारती है ग्रौर सयम में फिर से स्थिर करने के लिए उन्हे (१) काम ग्रौर श्रामण्य का विरोध (श्लोक १), (२) त्यागी का स्वरूप (श्लोक २-३) ग्रौर (३) राग-विनयन का उपाय (श्लोक ४-५) बतलाती है। फिर संवेग भावना को जागृत करने के लिए उद्बोधक उपदेश देती है (श्लोक ६-६)। इसके बाद राजीमती के इस सारे कथन का जो ग्रसर हुग्रा उसका उल्लेख है (श्लोक १०)। ग्रन्त में संकलनकर्त्ता का उपसंहारात्मक उपदेश है (श्लोक ११)।

चूर्णिकार ग्रगस्त्यसिंह श्लोक ६ ग्रौर ७ की व्याख्या मे रथनेमि ग्रौर राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख निम्न रूप में करते हैं[1]:

१—अ० चू० पृ० ४६ : अरिट्ठणेमिसामिणो भाया रहणेमी भट्टारे पव्वइतं रायमतिं आराहेति 'जति इच्छेज्ज'। सा निव्विण्ण-कामभोगा तस्स विदिताभिप्पाया कल्लं मधु-घयसंजुत्त पेज्जं पिबति आगते कुमारे मयणफलं मुहे पक्खिप्प पातीए छड्डे तुमुवनि-मंतेति—पिबसि पज्जं? तेण पडिवण्णे वतमुवणमति। तेण 'किमिद'? इति भणिते भणति-इदमवि एवंप्रकारमेव, भावतो हं भगवता परिच्चत्त त्ति वंता, अतो तुज्झ भामभिलसंतस्स·······

"(जब अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो गये । तब उनके ज्येष्ठ-भ्राता रथनेमि राजीमती को प्रसन्न करने लगे, जिससे कि वह उन्हे चाहने लगे । भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण—उदासीन हो चुका था । उसे रथनेमि का अभिप्राय ज्ञात हो गया । एक बार उसने मधु-घृत सयुक्त पेय पिया और जब रथनेमि आये तो मदनफल मुख मे ले उसने उल्टी की और रथनेमि से बोली - 'इस पेय को पीओ ।' रथनेमि बोले 'वमन किये हुए को कैसे पीऊँ ?' राजीमती बोली- 'यदि वमन किया हुआ नहीं पीते तो मैं भी अरिष्टनेमि स्वामी द्वारा वमन की हुई हू । मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो ? धिक्कार है तुम्हे जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो । इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है ?' इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा[1] । रथनेमि समझ गए और प्रव्रज्या ली । राजीमती भी उन्हे बोध दे प्रव्रजित हुई ।

"बाद मे किसी समय रथनेमि द्वारिका में भिक्षाटन कर वापस अरिष्टनेमि के पास आ रहे थे[2] ।) रास्ते मे वर्षा से घिर जाने से एक गुफा मे प्रविष्ट हुए । राजीमती अरिष्टनेमि के वदन के लिए गई थी । वन्दन कर वह वापस आ रही थी । रास्ते मे वर्षा शुरू हो गई । भीग कर वह भी उसी गुफा मे प्रविष्ट हुई, जहाँ रथनेमि थे । वहाँ उसने भीगे वस्त्रों को फैला दिया । उसके अग-प्रत्यगों को देख रथनेमि का भाव कलुषित हो गया । राजीमती ने अब उन्हे देखा । उनके अशुभ भाव को जानकर उसने उन्हे उपदेश दिया[3] ।"

इस अध्ययन की सामग्री प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु मे से ली गई है, ऐसी पारम्परिक धारणा है[4] । इस अध्ययन के पाँच श्लोक [७ से ११] 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २२ वे अध्ययन के श्लोक २, ४३, ४४, ४६, ४९ से अक्षरश मिलते है ।

धिरत्थु ते जसोकामी जो त जीवितकारणा ।
वत इच्छसि आवेउ सेय ते मरण भवे ।। ७ ।।

···कयाति रहणेमी बारवतीतो भिक्ख हिंडिऊण सामिसगासमागच्छतो वद्दलाहतो एग गुहमणुपविट्ठो । रातीमती य भगवतमभिवन्दिऊण त लयण गच्छती 'वासमुवगत' ति तामेव गुहामुवगत । त पुव्वपविट्ठमपेक्खमाणी उदओल्लमुपरिवत्थ णिप्पिलेऊ विसारेती विवसणोपरिसरीरा दिट्ठा कुमारेण, विपरिणामितो जातो । सा हू भगवती सभिक्खलसत्ता त दट्ठु तस्स वसकित्तिकित्तणेण सजमे धीतिसमुप्पायणत्थमाह .—

अह च भोगरातिस्स त च सि अधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो सजम णिहुओ चर ।। ८ ।।
जति त काहिसि भाव जा जा दच्छसि णारीतो ।
वाताइद्धो व्व हढो अट्ठितप्पा भविस्ससि ।। ९ ।।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने रथनेमि को अरिष्टनेमि का भाई बतलाया है । किन्तु जिनदास महत्तर ने रथनेमि को अरिष्टनेमि का ज्येष्ठ भ्राता बतलाया है —

—जि० चू० पृ० ८७ . यदा किल अरिट्ठणेमी पव्वइओ तथा रहणेमी तस्स जेट्ठो भाउओ राइमइ उवयरइ ।

१ चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार ७ वां श्लोक कहा । देखिए पाद-टिप्पणी १ ।

२—उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में अर्हत् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या का मार्मिक और विस्तृत वर्णन है । प्रसगवश रथनेमि और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख भी आया है । कोष्ठक के अन्दर का चूर्णि लिखित वर्णन उत्तराध्ययन में नहीं मिलता ।

३—चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार ८ वां और ९ वां श्लोक कहा । देखिए पाद-टिप्पणी १ ।

४—नि० गा० १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ।।

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वयं : श्रामण्यपूर्वक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[1]कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए । पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥	कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं, यः कामान्न निवारयेत् । पदे पदे विषीदन्, सङ्कल्पस्य वशं गतः ॥ १ ॥	वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा[2] जो काम[3] (विषय-राग) का निवारण नही करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर[4] पग-पग पर विषादग्रस्त होता है[5] ?
२—वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य । अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥	वस्त्र गन्ध अलङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च । अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन इत्युच्यन्ते ॥ २ ॥	जो परवश (या अभावग्रस्त) होने के कारण[6] वस्त्र, गंध, अलकार, स्त्री और शयन-आसना का उपभोग नही करता[7] वह त्यागी नही कहलाता[8] ।
३—जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई । साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥	यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति । स्वाधीन त्यजति भोगान्, स एव त्यागीत्युच्यते ॥ ३ ॥	त्यागी वही कहलाता है जो कान्त और प्रिय[10] भोग[11] उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है[12] और स्वाधीनता पूर्वक भोगो का त्याग करता है[13] ।
४—समाए पेहाए परिव्वयंतो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा । न सा महं नोवि अहं पि तीसे इच्चेव[20] ताओ विणएज्ज रागं ॥	समया प्रेक्षया परिव्रजन् (तस्य), स्यान्मनो निःसरति बहिस्तात् । न सा मम नापि अहमपि तस्याः, इत्येव तस्या विनयेद् रागम् ॥ ४ ॥	समदृष्टि पूर्वक[14] विचरते हुए भी[15] यदि कदाचित्[16] मन (संयम से) बाहर निकल जाय[17] तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नही है और न मैं ही उसका हूँ[18] मुमुक्षु उसके प्रति होने वाले विषय-राग को दूर करे[19] ।
५—[21]आयावयाही चय सोउमल्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिसि संपराए ॥	आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम् । छिन्धि दोषं विनयेद् रागं, एवं सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥ ५ ॥	अपने को तपा[22] । सुकुमारता[23] का त्याग कर । काम —विषय-वासना का अतिक्रम कर । इससे दुःख अपने-आप अतिक्रान्त होगा । द्वेष-भाव[24] को छिन्न कर । राग-भाव[25] को दूर कर । ऐसा करने से तू संसार (इहलोक और परलोक) मे सुखी होगा[26] ।

६—पक्खन्दे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वन्तयं भोत्तुं
कुले जाया अगन्धणे ॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलित ज्योतिष,
धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तक भोक्तु,
कुले जाता अगन्धने ॥ ६ ॥

अगधन कुल में उत्पन्न सर्प[२७] ज्वलित, विकराल[२८], धूमकेतु[२६]—अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नही करते[३०] ।

७—[३१]धिरत्थु ते जसोकामी
जो त जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउ
सेयं ते मरणं भवे ॥

धिगस्तु त्वां यशस्कामिन् !,
यस्त्व जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातु,
श्रेयस्ते मरण भवेत् ॥ ७ ॥

हे यश:कामिन् ![३२] धिक्कार है तुझे ! जो तू क्षणभगुर जीवन के लिए[३३] वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है[३४] ।

८—अह च भोयरायस्स
तं चऽसि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो
सजम निहुओ चर ॥

अह च भोजराजस्य,
त्व चाऽसि अन्धकवृष्णे: ।
मा कुले गन्धनौ भूव,
सयम निभृतश्चर ॥ ८ ॥

मैं भोजराज की पुत्री (राजीमती) हूँ[३५] और तू अधकवृष्णि का पुत्र (रथनेमि) है । हम कुल मे गन्धन सर्प की तरह न हो[३६] । तू निभृत हो—स्थिर मन हो सयम का पालन कर ।

९—जइ तं काहिसि भाव
जा जा दच्छसि नारिओ ।
वायाइद्धो व्व हडो
अट्ठियप्पा भविस्ससि ॥

यदि त्व करिष्यसि भाव,
या या द्रक्ष्यसि नारी ।
वाताविद्ध इव हट:,
अस्थितात्मा भविष्यसि ॥ ९ ॥

यदि तू स्त्रियो को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट[३७] (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा[३८] ।

१०—तीसे सो वयणं सोच्चा
सजयाए सुभासिय ।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे सपडिवाइओ ॥

तस्या स वचन श्रुत्वा,
सयताया: सुभाषितम् ।
अकुशेन यथा नागो,
धर्मे सम्प्रतिपादित ॥ १० ॥

सयमिनी (राजीमती) के इन सुभाषित[३६] वचनो को सुनकर रथनेमि धर्म मे वैसे ही स्थिर हो गये, जैसे अंकुश से नाग—हाथी होता है ।

११—एव करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से पुरिसोत्तमो ॥

एव कुर्वन्ति सम्बुद्धा:,
पण्डिता. प्रविचक्षणा ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्य,
यथा स पुरुषोत्तम. ॥ ११ ॥

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण[४०] पुरुष ऐसा ही करते है । वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते है, जैसे कि पुरुषोत्तम[४१] रथनेमि हुए ।

त्ति बेमि

इति ब्रवीमि ।

मैं ऐसा कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन २

श्लोक १ :

१. तुलना :

यह श्लोक 'सयुक्तनिकाय' के निम्न श्लोक के साथ अद्भुत सामञ्जस्य रखता है ।

> **दुक्करं दुत्तितिक्खञ्च अव्यत्तेन हि सामञ्ञ । बहूहि तत्थ सम्बाधा यत्थ बालो विसीदतीति ।**
> **कतिहं चरेय्य सामञ्ञं चित्त चे न निवारये । पदे पदे विसीदेय्य संकप्पान वसानुगो ति ।।**
>
> १ १७

उस श्लोक का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है :

> **कितने दिनों तक श्रमण-भाव को पालेगा, यदि अपने चित्त को वश में नहीं ला सकता ।**
> **पद-पद मे फिसल जायगा, इच्छाओं के अधीन रहने वाला ।।**

सयुक्तनिकाय १।२।७ पृ० ८

२. कैसे श्रामण्य का पालन करेगा ? (कहं नु कुज्जा सामण्णं क) :

'अगस्त्य चूर्णि' मे 'कह' शब्द का प्रकार वाचक माना है और बताया है कि उसका प्रयोग प्रश्न करने मे किया जाता है । वहा 'नु' को 'वितर्क' वाचक माना है[1] । 'कह नु' का अर्थ होता है—किस प्रकार—कैसे ?

जिनदास के अनुसार 'कह नु' (स० कथ नु) का प्रयोग दो तरह से होता है । एक क्षेपार्थ मे और दूसरा प्रश्न पूछने मे[2] । 'कथ नु स राजा, यो न रक्षति' -वह कैसा राजा, जो रक्षा न करे ! **'कथ नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते'**— वह कैसा वैयाकरण जो अपशब्दों का प्रयोग करे ! 'कह नु' का यह प्रयोग क्षेपार्थक है । **कथ नु भगवन् ! जीवाः सुखवेदनीय कर्म बध्नंति,'**— भगवान् ! जीव सुखवेदनीय कर्म का बधन कैसे करते हैं । यहां 'कथ नु' का प्रयोग प्रश्नवाचक है । 'कह नु कुज्जा सामण्ण' में इसका प्रयोग क्षेप—आक्षेप रूप मे हुआ है । आक्षेपपूर्ण शब्दो मे कहा गया है—वह श्रामण्य को कैसे निभाएगा जो काम का निवारण नही करता ! काम-राग का निवारण श्रामण्य-पालन की योग्यता की पहली कसौटी है ।

जो ऐसे अपराध-पदो के सम्मुख खिन्न होता है, वह श्रामण्य का पालन नही कर सकता । शीलागो की रक्षा के लिए आवश्यक है कि सयमी अपराध-पदो के अवसर पर ग्लानि, खेद, मोह आदि की भावना न होने दे ।

हरिभद्र सूरी ने 'नु' को केवल क्षेपार्थक माना है[3] ।

जिनदास ने इस चरण के दो विकल्प पाठ दिये हैं : (१) कइऽह कुज्जा सामण्ण (२) कयाऽह कुज्जा सामण्ण । 'वह कितने दिनो तक श्रामण्य का पालन करेगा ?' 'मैं श्रामण्य का पालन कब करता हूं'—ये दोनों अर्थ क्रमशः उपरोक्त पाठान्तरो के हैं । तीसरा विकल्प 'कह ण कुज्जा सामण्ण' मिलता है । अगस्त्य चूर्णि में भी ऐसे विकल्प पाठ हैं तथा चौथा विकल्प 'कह स कुज्जा सामण्णं' दिया है ।

१—अ० चू० पृ० ३८ किंसद्दोक्खेवे पुच्छाए य वट्टति, खेवो णिवा हसद्दो प्रकारवाचीति नियमेण पुच्छाए वट्टति । णु—सद्दो वितक्के प्रकार वियक्केति, केण णु प्रकारेण सो सामण्णं कुज्जा ।

२—जि० चू० पृ० ७५ · कहणुत्ति—किं—केन प्रकारेण ।······कथं नु शब्द· क्षेपे प्रश्ने च वर्त्तते ।

३—हा० टी० पृ० ८५ : 'कथं' केन प्रकारेण, नु क्षेपे, यथा कथ नु स राजा यो न रक्षति !, कथ नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते !

३. काम (कामे [ख]) :

काम दो प्रकार के है · द्रव्य-काम और भाव-काम ।[१] विषयासक्त मनुष्यो द्वारा काम्य —ईष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श को काम कहते हैं ।[२] जो मोह के उदय के हेतु भूत द्रव्य हैं —जिनके सेवन से शब्दादि विषय उत्पन्न होते हैं, वे द्रव्य-काम हैं[३] ।

भाव-काम दो तरह के है इच्छा-काम और मदन-काम[४] ।

इच्छा अर्थात् एषणा —चित्त की अभिलाषा । अभिलाषा रूप काम को इच्छा-काम कहते है[५] । इच्छा प्रशस्त और अप्रशस्त— दो तरह की होती है[६] । धर्म और मोक्ष की इच्छा प्रशस्त इच्छा है । युद्ध की इच्छा, राज्य की इच्छा अप्रशस्त है[७] ।

वेदोपयोग को मदन काम कहते है[८] । स्त्री-वेदोदय से स्त्री का पुरुष की अभिलाषा करना अथवा पुरुष-वेदोदय से पुरुष का स्त्री की अभिलाषा करना तथा विषय-भोग मे प्रवृत्ति करना मदन-काम है[९] ।

निर्युक्तिकार के अनुसार इस प्रकरण मे काम शब्द मदन-काम का द्योतक है[१०] ।

निर्युक्तिकार का यह कथन —"विषय-सुख मे आसक्त और काम-राग मे प्रतिबद्ध जीव को काम धर्म से गिराते है । पण्डित काम को रोग कहते हैं । जो कामो की प्रार्थना करते हैं वे प्राणी निश्चय ही रोगो की प्रार्थना करते हैं[११]" —मदन-काम से सम्बन्धित है ।

पर वास्तव में कहा जाए तो श्रमणत्व-पालन करने की शर्त के रूप मे अप्रशस्त इच्छा-काम और मदन-काम- दोनो के समान रूप से निवारण करने की आवश्यकता है ।

१—नि० गा० १६१ : नाम ठवणा कामा दव्वकामा य भावकामा य ।

२ - (क) जि० चू० पृ० ७५ : ते इट्ठा सद्दरसरूवगंधफासा कामिज्जमाणा विसयपसत्तेहिं कामा भवति ।

(ख) हा० टी० पृ० ८५ · शब्दरसरूपगन्धस्पर्शाः मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः ।

३ – (क) नि० गा० १६२ . सद्दरसरूवगंधफासा उदयकरा य जे दव्वा ।

(ख) जि० चू० पृ० ७५ . जाणि य मोहोदयकारणाणि वियडमादीणि दव्वाणि तेहिं अब्भवहरिएहिं सद्दादिणो विसया उदिज्जंति एते दव्वकामा ।

(ग) हा० टी० पृ० ८५ : मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि संघाटकविकटमांसादीनि तान्यपि मदनकामाख्यभावकाम- हेतुत्वात् द्रव्यकामा इति ।

४ –नि० गा० १६२ : दुविहा य भावकामा इच्छाकामा मयणकामा ।।

५ --नि० गा० १६२ : हा० टी० पृ० ८५ तत्रैषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा ।

६— नि० गा० १६३ : इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य········ ·· ।

७—जि० चू० पृ० ७६ : तत्थ पसत्था इच्छा जहा धम्मं कामयति मोक्खं कामयति, अपसत्था इच्छा रज्जं वा कामयति जुद्धं वा कामयति एवमादि इच्छाकामा ।

८—नि० गा० १६३ : मयणंमि वेयउवओगो ।

९—(क) जि० चू० पृ० ७६ जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिसं पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थी, एवमादी ।

(ख) नि० गा० १६२ . १६३ हा० टी० प० ८५–८६ : मदयतीति तथा मदनः · चित्रो मोहोदय स एव कामप्रवृत्ति- हेतुत्वात्कामा मदनकामा वेद्यत इति वेद —स्त्रीवेदादिस्तदुपयोग तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये, यथा स्त्रीवेदोदयेन पुरुषं प्रार्थयत इत्यादि ।

१०—नि० गा० १६३ ·· ·· मयणंमि वेयउवओगो ।
तेणहिगारो तस्स उ वयंति धीरा निरुत्तमिणं ।।

११ - नि० गा० १६४-१६५ : विसयसुहेसु पसत्तं अबुहजणं कामरागपडिबद्धं ।
उक्कामयंति जीवं धम्माओ तेण ते कामा ।।
अन्नपि य से नामं कामा रोगत्ति पंडिया बिंति ।।
कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेइ खलु जन्तू ।।

४. संकल्प के वशीभूत होकर (संकप्पस्स वसं गओ [घ]) :

यहाँ संकल्प का अर्थ काम-अध्यवसाय है[१]। काम का मूल संकल्प है। संकल्प से काम और काम से विषाद—यह इनके होने का क्रम है। सूक्त के रूप में ऐसे कहा जा सकता है—"संकल्पाज्जायते कामो, विषादो जायते ततः।"

संकल्प और काम का सम्बन्ध बताने के लिए 'अगस्त्य-चूर्णि' में एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

"काम ! जानामि ते रूपं, सङ्कल्पात् किल जायसे ।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ।।"

—काम ! मैं तुझे जानता हूँ। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा। तू मेरे मन में उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा।

५. पग-पग पर विषादग्रस्त होता हुँ (पए पए विसीयंतो [ग]) :

स्पर्शन आदि इन्द्रिय, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय, क्रोधादि कषाय, क्षुधा आदि परीषह, वेदना (असुखानुभूति) और पशु आदि द्वारा कृत उपसर्ग अपराध पद कहे गये हैं[२]। अपराध-पद अर्थात् ऐसे विकार-स्थल जहाँ हर समय मनुष्य के विचलित होने की सम्भावना रहती है।

क्षुधा, तृषा, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर, वस्त्र की कमी, अलाभ—आहारादि का न मिलना, शय्या का अभाव - ऐसे परीषह (कष्ट) साधु को होते ही रहते है। वध मारे जाने, आक्रोश कठोर वचन कहे जाने आदि के उपसर्ग (यातनाएं) उसके सामने आते ही रहती है। रोग, तृण स्पर्श की वेदना, उग्र विहार और मैल की असह्यता, एकान्त-वास के भय, एकान्त में स्त्रियों द्वारा अनुराग किया जाना, सत्कार-पुरस्कार की भावना, प्रज्ञा और ज्ञान के न होने से हीन भावना से उत्पन्न हुई ग्लानि आदि अनेक स्थल हैं जहाँ मनुष्य विचलित हो जाता है। परीषह, उपसर्ग और वेदना के समय आचार का भंग कर देना, खेद-खिन्न हो जाना, 'इससे तो पुनः गृहवास में चला जाना अच्छा'—ऐसा सोचना, अनुताप करना, इन्द्रियों के विषयों मे फँस जाना, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) कर बैठना इसे विषादग्रस्त होना कहते है। संयम और धर्म के प्रति अरुचि की भावना को उत्पन्न होने देना विषाद है।

पग-पग पर विषाद-ग्रस्त होने की बात को समझाने के लिए एक कहानी मिलती है[३], जिसके पूर्वार्द्ध का सार इस प्रकार है -

एक वृद्ध पुरुष पुत्र सहित प्रव्रजित हुआ[४]। चेला वृद्ध साधु को अतीव इष्ट था। एक बार दुःख प्रकट करते हुए वह कहने लगा. "बिना जूते के चला नहीं जाता।" अनुकम्पावश वृद्ध ने उसे जूतों की छूट दी। तब चेला बोला : "ऊपर का तला ठण्ड से फटता है।" वृद्ध ने मोजे करा दिये। तब कहने लगा—"सिर अत्यन्त जलने लगता है।" वृद्ध ने सिर ढँकने के वस्त्र की आज्ञा दी। तब बोला -"भिक्षा के लिये नहीं घूमा जाता।" वृद्ध ने वहीं उसे भोजन ला कर देना शुरू किया। फिर बोला—"भूमि पर नहीं सोया जाता।" वृद्ध ने बिछौने की आज्ञा दी। फिर बोला -"लोच करना नहीं बनता।" वृद्ध ने क्षुर को काम मे लेने की आज्ञा दी। फिर बोला—"बिना स्नान नहीं रहा जाता।" वृद्ध ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस तरह वृद्ध साधु स्नेहवश बालक साधु की इच्छानुसार करता जाता था। काल बीतने पर बालक साधु बोला—"मैं बिना स्त्री के नहीं रह सकता।" वृद्ध ने यह जानकर कि यह शठ है और अयोग्य है, उसे अपने आश्रय से दूर कर दिया।

इच्छाओं के वश होने वाला व्यक्ति इसी तरह बात-बात में शिथिल हो, कायरता दिखा अपना विनाश कर लेता है।

१—जि० चू० पृ० ७८ : संकप्पोत्ति वा छंदोत्ति वा कामज्झवसायो।

२—नि० गा० १७५ : इंदियविसयकसाया परीसहा वेयणा य उवसग्गा।
एए अवराहपया जत्थ विसीयंती दुम्मेहा ।।

३—(क) अ० चू० पृ० ४१।
(ख) जि० चू० पृ० : ७८।
(ग) हा० टी० प० : ८६।

४—हरिभद्रसूरि के अनुसार वह कोंकण देश का था (हा० टी० पृ० ८६)।

श्लोक २ :

६. जो परवश (या अभावग्रस्त) होने के कारण (अच्छन्दा [ग]) :

'अच्छन्दा' शब्द के बाद मूल चरण मे जो 'जे' शब्द है वह साधु का द्योतक है। 'अच्छन्दा' शब्द साधु की विशेषता बतलाने वाला है। इसी कारण हरिभद्र सूरी ने इसका अर्थ 'अस्ववशाः' किया है अर्थात् जो साधु स्वाधीन न होने से—परवश होने से भोगो को नही भोगता।

'अच्छन्दा' का प्रयोग कर्तृवाचक बहुवचन मे हुआ है। पर उसे कर्मवाचक बहुवचन मे भी माना जा सकता है। उस अवस्था में वह वस्त्र आदि वस्तुओ का विशेषण होगा और अर्थ होगा अस्ववश पदार्थ—जो पदार्थ पास में नही या जिन पर वश नही। अनुवाद में इन दोनो अर्थों को समाविष्ट किया गया है।

इसका भावार्थ समझने के लिये चूर्णि-द्वय[1] और टीका[2] मे एक कथा मिलती है। उसका सार इस प्रकार है—

चन्द्रगुप्त ने नन्द को बाहर निकाल दिया था। नन्द का अमात्य सुबन्धु था। वह चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य के प्रति द्वेष करता था। एक दिन अवसर देखकर सुबन्धु ने चन्द्रगुप्त से कहा -"आप मुझे धन नही देते तो भी आपका हित किसमे है यह बताना मैं अपना कर्तव्य समझता हू—'आपकी माँ को चाणक्य ने मार डाला है'।" धाय से पूछने पर उसने भी राजा से ऐसा ही कहा। जब चाणक्य राजा के पास आया तो राजा ने उसे स्नेह-दृष्टि से नही देखा। चाणक्य नाराजगी की बात समझ गया। उसने यह समझ कर कि मौत आ गई, अपनी सारी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रों मे बाट दी। फिर गधचूर्ण इकट्ठा कर एक पत्र लिखा। पत्र को गध के साथ डिब्बे मे रखा। फिर एक के बाद एक, इस तरह चार मजूषाओ के अन्दर उसे रखा। फिर मजूषा को सुगन्धित कोठे मे रख उसे कीलो से जड दिया। फिर जगल के गोकुल मे जा इंगिनी-मरण अनशन ग्रहण किया। राजा को धाय से यह बात मालूम हुई। वह पछताने लगा--"मैंने बुरा किया।" वह रानियो सहित चाणक्य से क्षमा मांगने के लिए गया और क्षमा मांग उससे वापस आने का निवेदन किया। चाणक्य बोले—"मैं सब कुछ त्याग चुका। अब नही जाता।" मौका देख कर सुबन्धु बोला - "आप आज्ञा दें तो मैं इनकी पूजा करूँ।" राजा ने आज्ञा दी। सुबन्धु ने धूप जला वहा एकत्रित छानो पर अगार फेंक दिया। भयानक अग्नि में चाणक्य जल गया। राजा और सुबन्धु वापस आये। राजा को प्रसन्न कर मौका पा सुबन्धु ने चाणक्य का घर तथा घर की सारी सामग्री माँग ली। फिर घर सम्भाला। कोठा देखा। पेटी देखी। अन्त में डिब्बा देखा। सुगन्धित पत्र देखा। उसे पढने लगा। उसमें लिखा था —जो सुगन्धित चूर्ण सूंघने के बाद स्नान करेगा, अलकार धारण करेगा, ठण्डा जल पीयेगा, महती शय्या पर शयन करेगा, यान पर चढेगा, गन्धर्व-गान सुनेगा और इसी तरह अन्य इष्ट विषयो का भोग करेगा, साधु की तरह नही रहेगा, वह मृत्यु को प्राप्त होगा। और इनसे विरत हो साधु की तरह रहेगा, वह मृत्यु को प्राप्त नही होगा। सुबन्धु ने दूसरे मनुष्य को गन्ध सुघा, भोग पदार्थों का सेवन करा, परीक्षा की। वह मर गया। जीवनार्थी सुबन्धु साधु की तरह रहने लगा।

मृत्यु के भय से अकाम रहने पर भी जैसे वह सुबन्धु साधु नही कहा जा सकता, वैसे ही विवशता के कारण भोगो को न भोगने से कोई त्यागी नही कहा जा सकता।

७. उपभोग नहीं करता (न भुंजन्ति [ग]) :

'भुजन्ति' बहुवचन है। इसलिए इसका अर्थ 'उपभोग नही करते' ऐसा होना चाहिए था, पर श्लोक का अन्तिम चरण एकवचनान्त है, इसलिए एकवचन का अर्थ किया है। चूर्णि और टीका मे जैसे एकवचन के प्रयोग को बहुवचन के स्थान मे माना है, वैसे ही बहुवचन के प्रयोग को एकवचन के स्थान मे माना जा सकता है।

टीकाकार बहुवचन-एकवचन की असंगति देख कर उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—सूत्र की गति (रचना) विचित्र प्रकार की होने से तथा मागधी का सस्कृत मे विपर्यय भी होता है इससे ऐसा है -अत्र सूत्रगतेर्विचित्रत्वात् बहुवचने अपि एकवचननिर्देश , विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवति एव इति कृत्वा।

८. त्यागी नहीं कहलाता (न से चाइ त्ति वुच्चइ [घ])

प्रश्न है—जो पदार्थों का सेवन नही करता वह त्यागी क्यो नहीं ? इसका उत्तर यह है—त्यागी वह होता है जो परित्याग करता

१—अ० चू०, जि० चू० पृ० ८१

२—हा० टी० पृ० ९१

है। जो अपनी वस्तु का परित्याग नहीं करता केवल अपनी अस्ववशता के कारण उसका सेवन नही करता, वह त्यागी कैसे कहा जायेगा ? इस तरह वस्तुओ का सेवन न करने पर भी जो काम के संकल्पों से संक्लिष्ट होता है वह त्यागी नहीं होता।[1]

६. से चाइ[घ] :

'से'—वह पुरुष[2]। यहां बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग हुआ है —यह व्याख्याकारों का अभिमत है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने बहुवचन के स्थान मे एकवचन का आदेश माना है[3]। जिनदास महत्तर ने एकवचन के प्रयोग का हेतु आगम की रचना-शैली का वैचित्र्य, सुखोच्चारण और ग्रन्थलाघव माना है[4]। हरिभद्र सूरि ने वचन-परिवर्तन का कारण रचना-शैली की विचित्रता के अतिरिक्त विपर्यय और माना है[5]। प्राकृत में विभक्ति और वचन का विपर्यय होता है।

स्थानाग में शुद्ध वाणी के दश अनुयोग बतलाए हैं। उनमें 'संक्रामित' नाम का एक अनुयोग है। उसका अर्थ है—विभक्ति और वचन का सक्रमण—एक विभक्ति का दूसरी विभक्ति और एकवचन का दूसरे वचन मे बदल जाना। टीकाकार अभयदेव सूरि ने 'संकामिय' अनुयोग के उदाहरण के लिए इसी श्लोक का उपयोग किया है[6]।

श्लोक ३ :

१०. कांत और प्रिय (कंते पिए[क]) :

अगस्त्यसिंह मुनि के अनुसार 'कान्त' सहज सुन्दर और 'प्रिय' अभिप्रायकृत सुन्दर होता है[7]।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र के अनुसार 'कान्त' का अर्थ है रमणीय और 'प्रिय' का अर्थ है इष्ट[8]।

शिष्य ने पूछा —"भगवन् ! जो कान्त होते है वे ही प्रिय होते हैं, फिर एक साथ दो विशेषण क्यो ?"

आचार्य ने कहा—"शिष्य ! (१) एक वस्तु कान्त होती है पर प्रिय नही होती। (२) एक वस्तु प्रिय होती है पर कान्त नहीं होती। (३) एक वस्तु प्रिय भी होती है और कान्त भी। (४) एक वस्तु न प्रिय होती है और न कान्त।"

शिष्य ने पूछा—"भगवन् ! इसका क्या कारण है ?"

आचार्य ने कहा—"शिष्य ! किसी व्यक्ति को कान्त-वस्तु में कान्त-बुद्धि उत्पन्न होती है और किसी को अकान्त-वस्तु में भी कान्त-बुद्धि उत्पन्न होती है। एक वस्तु किसी एक के लिए कान्त होती है, वही दूसरे के लिए अकान्त होती है[9]। क्रोध, असहिष्णुता, अकृतज्ञता और मिथ्यात्वाभिनिवेश (बोध-विपर्यास)—इन कारणो से व्यक्ति विद्यमान गुणो को नही देख पाता किन्तु अविद्यमान दोष देखने लग जाता है, कान्त में अकान्त की बुद्धि बन जाती है[10]।

जो कान्त होता है, वह प्रिय होता है, ऐसा नियम नही है। इसलिए 'कान्त' और 'प्रिय'—ये दोनो विशेषण सार्थक हैं।

---

१ (क) जि० चू० पृ० ८१ : एते वस्त्रादयः परिभोगा केचिदच्छंदा न भुंजते नासौ परित्याग.।

(ख) जि० चू० पृ० ८२ : अच्छदा अभुंजमाणा य जीवा णो परिच्चत्तभोगिणो भवंति। ....एव अभुंजमाणो कामे सकप्प-संकिलिट्ठत्ताए चागी न भण्णइ।

२—से : अत एत सौ पुंसि मागध्याम् - हैमश० : ८।४।२८७।

३—अ० चू० पृ० ४२ : से इति बहुवयणस्स त्थाणे एगवयणमादिट्ठ।

४—जि० चू० पृ० ८२ : विचित्तो सुत्तनिबंधो भवति, सुहमुहोच्चारणत्थं गंथलाघवत्थं च।

५—हा० टी० पृ० ९१ : किं बहुवचनोद्देशेऽपि एकवचननिर्देशः ? विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवत्येवेति कृत्वा।

६—ठा० १०।९६। वृ० पत्र ४७०।

७—अ० चू० पृ० ४३ : कंत इति सामन्नं,..... ..प्रिय इति अभिप्रायकतं किंचि अकंतमवि कस्सति साभिप्रायतोप्रियम्।

८—(क) जि० चू० पृ० ८२ : कमनीयाः कान्ताः शोभना इत्यर्थः, पिया नाम इट्ठा।

(ख) हा० टी० प० ९१ : 'कान्तान्' कमनीयान् शोभनानित्यर्थः 'प्रियान्' इष्टान्।

९—जि० चू० पृ० ८२ : एत्थ सीसो पुण चोएति ननु जे कंता ते चेव पिय। भवंति ? आचार्यः प्रत्युवाच—कता नामेगे णो पिया (१), पिया नामेगे णो कंता (२), एगे पियावि कंतावि (३), एगे णो पिया णो कंता (४)। किं 'कारणं' ? कस्सवि कतेसु कंतबुद्धी उप्पज्जइ, कस्सइ पुण अकंतेसुवि कंतबुद्धी उप्पज्जइ, अहवा जे चेव अण्णस्स कंता ते चेव अण्णस्स अकंता।

१०—ठा० ४।६२१ : चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा, तंजहा—कोहेणं, पडिनिवेसेणं, अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिनिवेसेणं।

११. भोग (भोए [क]) :

इन्द्रियो के विषय— स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का आसेवन भोग कहलाता है[१]।

भोग काम का उत्तरवर्त्ती है - पहले कामना होती है, फिर भोग होता है। इसलिए काम और भोग दोनो एकार्थक जैसे बने हुए हैं। आगमो मे रूप और शब्द को काम तथा स्पर्श, रस और गन्ध को भोग कहा है। शब्द श्रोत्र के साथ स्पृष्ट-मात्र होता है, रूप चक्षु के साथ स्पृष्ट नहीं होता और स्पर्श, रस तथा गध अपनी ग्राहक इन्द्रियों के साथ गहरा सबध स्थापित करते है[२]। इसलिए श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय की अपेक्षा जीव 'कामी' तथा स्पर्शन, रसन और घ्राण इन्द्रिय की अपेक्षा जीव 'भोगी' कहलाता है[३]। यह सूक्ष्मदृष्टि है। यहा व्यवहारस्पर्शी स्थूलदृष्टि से सभी विषयो के आसेवन को भोग कहा है।

१२. पीठ फेर लेता है (विपिट्ठिकुव्वई [ख]) :

इसका भावार्थ है— भोगो का परित्याग करता है, उन्हे दूर से ही वर्जता है; उनकी ओर पीठ कर लेता है, उनके सम्मुख नही ताकता, उनसे मुह मोड लेता है[४]।

हरिभद्र सूरि ने यहा 'विपिट्ठिकुव्वई' का अर्थ किया है विविध—अनेक प्रकार की शुभ-भावना आदि से भोगो को पीठ पीछे करता है- उनका परित्याग करता है[५]।

'लद्धेवि पिट्ठिकुव्वई' (स० लब्धानपि पृष्ठीकुर्यात्)—'वि' पद का 'पिट्ठिकुव्वई' के साथ योग न माना जाए तो इसकी 'अवि' (स० अपि) के रूप मे व्याख्या की जा सकती है— भोग उपलब्ध होने पर भी। प्रस्तुत अर्थ मे यह सगत भी है।

१३. स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है (साहीणे चयइ भोए [ग]) :

प्रश्न है—जब 'लब्ध' शब्द है ही तब पुन: 'स्वाधीन' शब्द का प्रयोग क्यो किया गया ? क्या दोनो एकार्थक नही है ?

चूर्णिकार के अनुसार 'लब्ध' शब्द का सम्बन्ध पदार्थों से है और स्वाधीन का सम्बन्ध भोक्ता से। स्वाधीन अर्थात् स्वस्थ और भोग-समर्थ। उन्मत्त, रोगी और प्रोषित पराधीन है।[६] वे अपनी परवशता के कारण भोगो का सेवन नही कर पाते। यह उनका त्याग नही है।

हरिभद्र सूरि ने व्याख्या मे कहा है— किसी बन्धन मे बधे होने से नही, वियोगी होने से नही, परवश होने से नही, पर स्वाधीन होते हुए भी जो लब्ध भोगो का त्याग करता है, वह त्यागी है[७]।

जो विविध प्रकार के भोगो से सम्पन्न है, जो उन्हे भोगने मे भी स्वाधीन है वह यदि अनेक प्रकार की शुभ-भावना आदि से उनका परित्याग करता है तो वह त्यागी है।

व्याख्याकारो ने स्वाधीन भोगो को त्यागनेवाले व्यक्तियो के उदाहरण मे भरत चक्रवर्ती आदि का नामोल्लेख किया है। यहा प्रश्न उठता है कि यदि भरत और जम्बू जैसे स्वाधीन भोगो को परित्याग करनेवाले ही त्यागी है, तो क्या निर्धनावस्था मे प्रव्रज्या लेकर अहिंसा आदि से युक्त हो श्रामण्य का सम्यक् रूप से पालन करनेवाले त्यागी नही है ? आचार्य उत्तर देते है—ऐसे प्रव्रजित व्यक्ति भी दीन नही हैं। वे भी तीन रत्नकोटि का परित्याग कर प्रव्रज्या लेते हैं। लोक मे अग्नि, जल और महिला-- ये तीन सार—रत्न हैं। इन्हें छोड कर वे प्रव्रजित होते हैं, अत वे त्यागी हैं। शिष्य पूछता है—ये रत्न कैसे हैं ? आचार्य दृष्टान्त देते हुए कहते है एक लकडहारा ने सुधर्म-स्वामी के समीप प्रव्रज्या ली। जब वह भिक्षा के लिए घूमता तब लोग व्यग मे कहते— 'यह लकडहारा है जो प्रव्रजित हुआ है।'

१— जि० चू० पृ० ८२ : भोगा—सद्दादयो विसया।

२ - न० सू० ३७ : गा० ७८ : पुट्ठ सुणेइ सद्द रूव पुण पासई अपुट्ठ तु। गध रस च फासं च बद्धपुट्ठ वियागरे ॥

३— भग० ७। ७ : सोइंदियचक्खिदियाइ पडुच्च कामी घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइ पडुच्च भोगी।

४—जि० चू० पृ० ८३ : तओ भोगाओ विविहेहिं सपण्णा विपट्ठीओ उ कुव्वइ, परिचयइत्ति वुत्त भवइ, अहवा विप्पट्ठि कुव्वतित्ति दूरओ विवज्जयती, अहवा विप्पट्ठिन्ति पच्छओ कुव्वइ, ण मग्गओ।

५—हा० टी० प० ९२ : विविधम्—अनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः पृष्ठतः करोति, परित्यजति।

६—जि० चू० पृ० ८३ : साहिओ णाम कल्लसरीरो, भोगसमत्थोत्ति वुत्तं भवइ, न उम्मत्तो रोगिओ पवसिओ वा।

७—हा० टी० प० ९२ : स च न बन्धनबद्धः प्रोषितो वा किन्तु 'स्वाधीनः' अपरायत्त, स्वाधीनानेव त्यजति भोगान्'' स एव त्यागीत्युच्यते।

साधु बालक बुद्धि से आचार्य से बोला—'मुझे अन्यत्र ले चलें, मैं ताने नही सह सकता।' आचार्य ने अभयकुमार से कहा—'हम विहार करेंगे।' अभयकुमार बोला—'क्या यह क्षेत्र मासकल्प के योग्य नही कि उसके पहले ही आप विहार करने का विचार करते हैं ?' आचार्य ने सारी बातें कही। अभयकुमार बोला 'आप बिराजें। मैं लोगो को युक्ति से निवारित करूँगा।' आचार्य वही बिराजे। दूसरे दिन अभयकुमार ने तीन रत्नकोटि के ढिग स्थापित किये। नगर मे उद्घोषणा कराई—'अभयकुमार दान देते हैं।' लोग आये। अभयकुमार बोले—'ये तीन रत्नकोटि के ढिग है। जो अग्नि, पानी और स्त्री—इन तीन को छोडेगा उसे मैं ये तीन रत्नकोटि दूंगा।' लोग बोले—'इनके बिना रत्नकोटियो से क्या प्रयोजन ?' अभयकुमार बोले- 'तब क्यो व्यग करते हो कि दीन लकडहारा प्रव्रजित हुआ है ? उसके पास धन भले ही न हो, उसने तीन रत्नकोटि का परित्याग किया है।' लोग बोले 'स्वामिन् ! सत्य है।' आचार्य कहते हैं—इस तरह तीन सार पदार्थ - अग्नि, उदक और महिला को छोड़ कर प्रव्रज्या लेनेवाला धनहीन व्यक्ति भी सयम मे स्थित होने पर त्यागी कहलायेगा[1]।

श्लोक ४ :

१४. समदृष्टि पूर्वक (समाए पेहाए [क]) :

चूर्णि और टीका के अनुसार 'समाए' का अर्थ है अपने और दूसरे को समान देखते हुए, अपने और दूसरे मे अन्तर न करते हुए। 'पेहाए' का अर्थ है प्रेक्षा, चिन्ता, भावना, ध्यान या दृष्टिपूर्वक[2]।

पर यहाँ 'समाए पेहाए' का अर्थ -'रूप-कुरूप में समभाव रखते हुए—राग-द्वेष की भावना न करते हुए'—अधिक संगत लगता है। समदृष्टि पूर्वक अर्थात् प्रशस्त ध्यानपूर्वक।

अगस्त्य चूर्णि मे इसका वैकल्पिक पाठ 'समाय' माना है। उसका अर्थ होगा—"सयम के लिए प्रेक्षापूर्वक विचरते हुए[3]।"

१५ (परिव्वयतो [क]) :

अगस्त्य चूर्णि मे 'परिव्वयतो' के अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है[4]। वैकल्पिक रूप मे इसे मन के साथ जोड़ा है[5]। इसका अनुवाद इन शब्दो मे होगा -साम्य-चिन्तन मे रमता हुआ मन।

जिनदास महत्तर 'परिव्वयतो' को प्रथमा का एकवचन मानते है और अगले चरण से उसका सम्बन्ध जोड़ने के लिए 'तस्स' का अध्याहार करते हैं[6]।

१६ यदि कदाचित् (सिया [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि मे 'सिया' शब्द का अर्थ 'यदि' किया गया है[7]। इसका अर्थ—स्यात्, कदाचित् भी मिलता है[8]। भावार्थ है प्रशस्त-ध्यान-स्थान मे वर्तते हुए भी यदि हठात् मोहनीय कर्म के उदय से[9]।

१७. मन (संयम से) बाहर निकल जाये (मणो निस्सरई बहिद्धा [ख]) :

'बहिद्धा' का अर्थ है बहिस्तात्—बाहर। भावार्थ है जैसे घर मनुष्य के रहने का स्थान होता है वैसे ही श्रमण—साधु के मन के

१—अ० चू० पृ० ४३; जि० चू० पृ० ८४; हा० टी० प० ९३।

२—(क) जि० चू० पृ० ८४ : समा णाम परमप्पाणं च सम पासइ, णो विसम, पेहा णाम चिन्ता भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० ९३ : 'समया' आत्मपरतुल्यया प्रेक्ष्यतेऽनयेति प्रेक्षा—दृष्टिस्तया प्रेक्षया—दृष्ट्या।

३—अ० चू० पृ० ४४ : अहवा 'समाय' समो—सजमो तदत्थं पेहा—प्रेक्षा।

४—अ० चू० पृ० ४४ : वृत्तभंगभयात् अलक्खणो अणुस्सारो।

५ अ० चू० पृ० ४४ : अहवा तवेव मणोऽभिसबज्झति।

६—जि० चू० पृ० ८४ : परिव्वयतो णाम गामणगरादीणि उवदेसेणं विचरतोत्ति वुत्तं भवइ तस्स।

७—अ० चू० पृ० ४४ : सिय सद्दो आसकावादी 'जति' एतम्मि अत्थे वट्टति।

८—हा० टी० प० ९४ : 'स्यात्' कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगतेः।

९—जि० चू० पृ० ८४ : पसत्थेहिं झाणठाणेहिं वट्टंतस्स मोहणीयस्स कम्मस्स उदएणं।

रहने का स्थान संयम होता है। कदाचित् कर्मोदय से भुक्तभोगी होने पर पूर्व-क्रीडा के अनुस्मरण से अथवा अभुक्तभोगी होने पर कौतूहल-वश मन काबू में न रहे---संयमरूपी घर से बाहर निकल जाये[1]।

स्थानाङ्ग-टीका में 'बहिद्धा' का अर्थ "मैथुन" मिलता है[2]। यह अर्थ लेने से अर्थ होगा— मन मैथुन मे प्रवृत्त हो जाये।

'कदाचित्' शब्द के भाव को समझाने तथा ऐसे समय मे क्या कर्तव्य है इसको बताने के लिये चूर्णि और टीकाकार एक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं[3]। उसका भावार्थ इस प्रकार है : "एक राजपुत्र बाहर उपस्थानशाला मे खेल रहा था। एक दासी उसके पास से जल का भरा घडा लेकर निकली। राजपुत्र ने ककड फेक कर उसके घड़े मे छेद कर दिया। दासी रोने लगी। उसे रोती देख राजपुत्र ने फिर गोली चलाई। दासी सोचने लगी : यदि रक्षक ही भक्षक हो जाये तो पुकार कहाँ की जाये ? जल से उत्पन्न अग्नि कैसे बुझायी जाये ? यह सोच कर दासी ने कर्दम की गोली से तत्क्षण ही उस घट-छिद्र को स्थगित कर दिया—ढँक दिया। इसी तरह सयम मे रमण करते हुए भी यदि सयमी का मन योगवश बाहर निकल जाये—भटकने लगे तो वह प्रशस्त परिणाम से उस अशुभ सकल्प रूपी छिद्र को चरित्र-जल के रक्षण के लिए शीघ्र ही स्थगित करे।"

१८. वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ (न सा महं नोवि अहं पि तीसे [ग]) :

यह भेद-चिन्तन का सूत्र है। लगभग सभी अध्यात्म-चिन्तकों ने भेद-चिन्तन को मोह-त्याग का बहुत बडा साधन माना है[4]। इसका प्रारम्भ बाहरी वस्तुओ से होता है और अन्त मे यह 'अन्यच्छरीरमन्योऽहम्', यह मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं इससे भिन्न हूं- यहाँ तक पहुच जाता है। चूर्णिकार ने भेद को समझाने के लिए रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसका सार इस प्रकार है :

एक वणिक्-पुत्र था। उसने स्त्री छोड प्रव्रज्या ग्रहण की। वह इस प्रकार घोष करता---"वह मेरी नही है और न मैं भी उसका हू।" ऐसा रटते-रटते वह सोचने लगा-- "वह मेरी है, मैं भी उसका हूं। वह मुझ मे अनुरक्त है। मैंने उसका त्याग क्यों किया ?" ऐसा विचार कर वह अपने उपकरणो को ले उस ग्राम में पहुँचा जहाँ उसकी पूर्व स्त्री थी। उसने अपने पूर्व पति को पहचान लिया पर वह उसे न पहचान सका। वणिक्-पुत्र ने पूछा—"अमुक की पत्नी मर चुकी या जीवित है ?" उसका विचार था - यदि वह जीवित होगी तो प्रव्रज्या छोड़ दूंगा, नही तो नही। स्त्री ने सोचा—यदि इसने प्रव्रज्या छोड दी तो दोनो ससार मे भ्रमण करेगे। यह सोच वह बोली "वह दूसरे के साथ चली गई"। वह सोचने लगा— "जो पाठ मुझे सिखलाया गया वह ठीक है—'वह मेरी नही है और न मैं भी उसका हू'।" इस तरह उसे पुनः परम सवेग उत्पन्न हुआ। वह बोला—"मैं वापस जाता हूँ।"

चौथे श्लोक मे कहा गया है कि यदि कभी काम-राग जागृत हो जाये, तो इस तरह विचार कर सयमी सयम मे स्थिर हो जाये। संयम मे विषाद-प्राप्त आत्मा को ऐसे ही चिन्तन-मत्र से पुन. सयम में सुप्रतिष्ठित करे।

१९. विषय-राग को दूर करे (विणएज्ज रागं [घ])

'राग' का अर्थ है रजित होना। चरित्र मे भेद डालने वाले प्रसग के उपस्थित होने पर विषय-राग का विनयन करे, उसका दमन करे अर्थात् मन का निग्रह करे।

२०. (इच्चेव [घ]) :

मांसादेर्वा—हैमश० ८।१।२९ अनेन एव शब्दस्य अनुस्वारलोपः—इस सूत्र से 'एवं' शब्द के अनुस्वार का लोप हुआ है।

१—(क) जि० चू० ८४ : बहिद्धा नाम संजमाओ बाहिं गच्छइ, कहं ? पुव्वरयानुसरणेणं वा भुत्तभोइणो अभुत्तभोगिणो वा कोऊहलवत्तियाए।

(ख) हा० टी० प० ९४ : 'बहिर्धा' बहिः भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मनः—अंतः-करणं निःसरति—निर्गच्छति बहिर्धा—सयमगेहाद्बहिरित्यर्थः।

२—ठा० ४-१३६; टी० प० १९० : बहिद्धा—मैथुनम्।

३—अ० चू० पृ० ४४; जि० चू० पृ० ८४; हा० टी० प० ९४।

४-- मोहत्यागाष्टकम् : अयं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित्॥

श्लोक ५ :

२१. श्लोक ५ :

इस श्लोक मे विषयों को जीतने और भाव-समाधि प्राप्त करने के उपायो का संक्षिप्त विवरण है । इसमें निम्न उपाय बताये हैं –

(१) आतापना,

(२) सौकुमार्य का त्याग,

(३) द्वेष का उच्छेद और

(४) राग का विनयन ।

मैथुन की उत्पत्ति चार कारणों से मानी गयी है[१]—(१) मास-शोणित का उपचय—उसकी अधिकता, (२) मोहनीय कर्म का उदय, (३) मति—तद्विषयक बुद्धि और (४) तद्विषयक उपयोग । यहाँ इन सबसे बचने के उपाय बतलाये है।

२२. अपने को तपा (आयावयाही [क]) :

मन का निग्रह उपचित शरीर से सम्भव नही होता[२] । अत: सर्वप्रथम कायबल-निग्रह का उपाय बताया गया है[३]—मांस और शोणित के उपचय को घटाने का मार्ग दिखाया गया है ।

सर्दी-गर्मी मे तितिक्षा रखना, शीत-काल मे आवरणरहित होकर शीत सहना, ग्रीष्म-काल मे सूर्याभिमुख होकर गर्मी सहना—यह सब आतापना तप है । उपलक्षण रूप से अन्य तप करने का भाव भी उसमे समाया हुआ है[४] । इसीलिए 'आयावयाही' का अर्थ है —'अपने को तपा' अर्थात् तप कर ।

२३. सुकुमारता (सोउमल्लं [क]) :

प्राकृत मे सोउमल्ल, सोअमल्ल, सोगमल्ल, सोगुमल्ल —ये चारों रूप मिलते हैं ।

जो सुकुमार होता है उसे काम – विषयेच्छा सताने लगती है तथा वह स्त्रियों का काम्य हो जाता है । अत सौकुमार्य को छोडने की आवश्यकता बतलाई है[५] ।

२४. द्वेष-भाव (दोसं [ग]) :

सयम के प्रति अरुचिभाव —घृणा—अरति को द्वेष कहते हैं । अनिष्ट विषयों के प्रति घृणा को भी द्वेष कहा जाता है । अनिष्ट विषयों मे द्वेष का छेदन करना चाहिए और इष्ट विषयो के प्रति मन का नियमन करना चाहिए । राग और द्वेष –ये दोनो कर्म-बध के हेतु हैं । अत. इन पर विजय पाने के लिए पूर्ण प्रयत्न आवश्यक है[६] ।

२५. राग-भाव (रागं [ग]) :

इष्ट शब्दादि विषयो के प्रति प्रेम-भाव —अनुराग को राग कहते है ।

१—ठा० ४।५८१ : चउहिं ठाणेहिं मेहुणसण्णा समुप्पज्जति, तं० चितमंससोणिययाए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण, मतीए, तदट्ठोवओगेणं ।

२—जि० चू० पृ० ८५ : सो य न सक्कइ उवचियसरीरेण णिग्गहेउं ।

३—जि० चू० पृ० ८५ : तम्हा कायबलनिग्गहे इम सुत्त भण्णइ ।

४—(क) जि० चू० पृ० ८६ : एगग्गहणे तज्जाइयाण गहणति न केवल आयावयाहि,—उणोदरियमवि करेहि ।

(ख) हा० टी० प० ९५ : 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मितिन्यायाद्यथानुरूपमूनोदरतादेरपि विधिः ।

५—(क) जि० चू० पृ० ८६ : सुकुमालभावो सोकमल्ल, सुकुमालस्स य कामेहिं इच्छा भवइ, कमणिज्जो य स्त्रीणां भवति सुकुमालः, तम्हा एवं सुकुमारभाव छड्डेहित्ति ।

(ख) हा० टी० प० ९५ : सौकुमार्यात्कामेच्छा प्रवर्तते योषितां च प्रार्थनीयो भवति ।

६—जि० चू० पृ० ८६ : ते य कामा सद्दादयो विसया तेसु अणिट्ठेसु दोसो छिंदियव्वो, इट्ठेसु वट्टंतो अस्सो इव अप्पा विणियव्वो···। रागो दोसो य कम्मबंधस्स हेउणो भवंति, सव्वपयत्तेण ते वज्जणिज्जत्ति ।

दु:ख का मूल कामना है। राग-द्वेष कामना की उत्पत्ति के आन्तरिक हेतु हैं। पदार्थ-समूह, देश, काल और सौकुमार्य ये उसकी उत्पत्ति के बाहरी हेतु हैं।

काम-विजय ही सुख है। इसी दृष्टि से कहा है-- 'कामना को क्रांत कर, दु:ख अपने आप क्रांत होगा।'

२६. संसार (इहलोक और परलोक) में सुखी होगा (सुही होहिसि संपराए घ)

'संपराय' शब्द के तीन अर्थ हैं --संसार, परलोक, उत्तरकाल भविष्य[1]।

'संसार में सुखी होगा' इसका अर्थ है : संसार दु:ख-बहुल है। पर यदि तू चित्त-समाधि प्राप्त करने के उपर्युक्त उपायों को करता रहेगा तो मुक्ति पाने के पूर्व यहां सुखी रहेगा। भावार्थ है - जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक प्राणी को संसार में जन्म-जन्मान्तर करते रहना पड़ता है। इन जन्म-जन्मान्तरों में तू देव और मनुष्य योनि को प्राप्त करता हुआ उनमें सुखी रहेगा।[2]

चूर्णिकारों के अनुसार 'संपराय' शब्द का दूसरा अर्थ 'संग्राम' होता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने मतान्तर के रूप में इसका उल्लेख किया है। यह अर्थ ग्रहण करने से तात्पर्य होगा— परीषह और उपसर्ग रूपी संग्राम में सुखी होगा—प्रसन्न-मन रह सकेगा। अगर तू इन उपायों को करता रहेगा, राग-द्वेष में मध्यस्थभाव प्राप्त करेगा तो जब कभी विकट संकट उपस्थित होगा तब तू उसमें विजयी हो सुखी रह सकेगा[3]।

मोहोदय से मनुष्य विचलित हो जाता है। उस समय वह आत्मा की ओर ध्यान न दे विषय-सुख की ओर दौड़ने लगता है। ऐसे संकट के समय संयम में पुन: स्थिर होने के जो उपाय हैं उन्हीं का निर्देश इस श्लोक में है। जो इन उपायों को अपनाता है वह आत्म-संग्राम में विजयी हो सुखी होता है।

श्लोक ६ :

२७. अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प (कुले जाया अगन्धणे घ) :

सर्प दो प्रकार के होते हैं गन्धन और अगन्धन। गन्धन जाति के सर्प वे हैं जो डसने के बाद मन्त्र से आकृष्ट किये जाने पर व्रण से मुंह लगाकर विष को वापस पी लेते हैं। अगन्धन जाति के सर्प प्राण गवां देना पसन्द करते हैं पर छोड़े हुए विष को वापस नहीं पीते[4]। अगन्धन सर्प की कथा 'विसवन्त जातक' (क्रमांक ६९) में मिलती है। उसका सार इस प्रकार है :

१—(क) अ० चू० पृ० ४५ : संपराओ संसारो।
(ख) जि० चू० पृ० ६८ : संपरातो —संसारो भण्णइ।
(ग) कठोपनिषद् शांकरभाष्य : १.२.६ : सम्परं ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः।
(घ) हलायुध कोष।

२—(क) अ० चू० पृ० ४५ : संपरायेवि दुक्खबहुले देवमणुस्सेसु सुही भविस्ससि।
(ख) जि० चू० पृ० ८६ : जाव ण परिणेव्वाहिसि ताव दुक्खाउले संसारे सुही देवमणुएसु भविस्ससि।
(ग) हा० टी० प० ९५ : यावदपवर्गं न प्राप्स्यसि तावत्सुखी भविष्यसि।

३—(क) अ० चू० पृ० ४५ : जुद्ध वा संपराओ वावीसपरीसहोवसग्गजुद्धलद्धविजतो परमसुही भविस्ससि।
(ख) जि० चू० पृ० ८६ : जुत्त भण्णइ, जया रागदोसेसु मज्झत्थो भविस्ससि तओ (जिय) परीसहसंपराओ सुही भविस्ससित्ति।
(ग) हा० टी० प० ९५ : 'संपराये' परीसहोपसर्गसंग्राम इत्यन्ये।

४—(क) अ० चू० पृ० ४५ : गंधणा अगंधणा य सप्पा, गंधणा होणा, अगंधणा उत्तमा, ते डंकातो विसं न पिबंति मरता वि।
(ख) जि० चू० पृ० ८७ : तत्थ नागाणं दो जातीयो—गंधणा य अगंधणा य, तत्थ गंधणा नाम जे डसिऊण गया मतेहिं आवड्ढिया तमेव विसं वणमुहट्ठिया पुणो आवियंति ते, अगंधणा नाम मरणं ववसंति ण य वंतयं आवियंति।
(ग) हा० टी० प० ९५।

खाजा खाने के दिनों में, मनुष्य संघ के लिए बहुत-सा खाजा लेकर आये। बहुत-सा (खाजा) बाकी बच गया। स्थविर से लोग कहने लगे,—"भन्ते ! जो भिक्षु गाव मे गये हैं, उनका (हिस्सा) भी ले ले।" उस समय स्थविर का (एक) बालक -शिष्य गांव मे गया था। (लोगो ने) उसका हिस्सा स्थविर को दे दिया। स्थविर ने जब उसे खा लिया, तो वह लड़का आया। स्थविर ने उससे कहा—"आयुष्मान् ! मैंने तेरे लिए रखा हुआ खाद्य खा लिया।" वह बोला -"भन्ते ! मधुर चीज किसे अप्रिय लगती है ?" महास्थविर को खेद हुआ। उन्होने निश्चय किया "अब इसके बाद (कभी) खाजा न खायेंगे।" यह बात भिक्षु सघ मे प्रकट हो गई। इसकी चर्चा हो रही थी। शास्ता ने पूछा -"भिक्षुओ ! क्या बात कर रहे हो ?" भिक्षुओं के कहने पर शास्ता ने कहा -"भिक्षुओ ! एक बार छोडी हुई चीज को सारिपुत्र प्राण छोडने पर भी ग्रहण नही करता।" ऐसा कह कर शास्ता ने पूर्व-जन्म की कथा कही—

पूर्व समय मे वाराणसी में (राजा) ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्त्व एक विष-वैद्य कुल में उत्पन्न हो, वैद्यक से जीविका चलाते थे। एक बार एक देहाती को साँप ने डस लिया। उसके रिश्तेदार देर न कर, जल्दी से वैद्य को बुला लाये। वैद्य ने पूछा --'दवा के जोर से विष को दूर करूँ ? अथवा जिस साँप ने डसा है, उसे बुला कर, उसी के डसे हुए स्थान से विष निकलवाऊँ ?' लोगों ने कहा—'सर्प को बुला कर विष निकलवाओ।' वैद्य ने साँप को बुला कर पूछा- 'इसे तूने डसा है ?' 'हाँ ! मैंने ही' - साँप ने उत्तर दिया। 'अपने डसे हुए स्थान से तू ही विष को निकाल।' साँप ने उत्तर दिया—'मैंने एक बार छोड़े हुए विष को फिर कभी ग्रहण नही किया; सो मै अपने छोडे हुए विष को नही निकालूंगा।' वैद्य ने लकडियाँ मँगवा कर आग बना कर कहा 'यदि ! अपने विष को नही निकालता तो इस आग में प्रवेश कर।' सर्प बोला 'आग मे प्रविष्ट हो जाऊँगा, लेकिन एक बार छोडे हुए अपने विष को फिर नही चाटूंगा।' यह कह कर उसने यह गाथा कही

धिरत्थु तं विस वन्त, यमहं जीवितकारणा ।
वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वरं ॥[1]

'धिक्कार है उस जीवन को, जिस जीवन की रक्षा के लिए एक बार उगल कर मैं फिर निगलूं। ऐसे जीवन से मरना अच्छा है' यह कहकर सर्प अग्नि मे प्रविष्ट होने के लिए तैयार हुआ। वैद्य ने उसे रोक, रोगी को औषधि से निरोग कर दिया। फिर सर्प को सदाचारी बना, 'अब से किसी को दुःख न देना' यह कह कर छोड दिया।

"पूर्व जन्म का सर्प अब का सारिपुत्र है। 'एक बार छोडी हुई चीज को सारिपुत्र किसी प्रकार, प्राण छोडने पर भी, ग्रहण नही करता'- इस सम्बन्ध में यह उसके पूर्व जन्म की कथा है[2]।"

२८. विकराल (दुरासयं [ख]) :

चूर्णिकार ने 'दुरासय' शब्द का अर्थ 'दहन-समर्थ' किया है। इसके अनुसार जिसका सयोग सहन करना दुष्कर हो वह दुरासद है[3]।

टीकाकार ने इसका अर्थ 'दुर्गम' किया है। जिसके समीप जाना कठिन हो उसे दुरासद कहा है[4]। 'विकराल' शब्द दोनों अर्थों की भावना को अभिव्यक्त करता है।

२९. धूमकेतु (धूमकेउं [ख]) :

चूर्णि के अनुसार यह 'जोइं'—ज्योति—अग्नि का ही दूसरा नाम है। धूम ही जिसका केतु—चिन्ह हो उसको धूमकेतु कहते हैं और वह अग्नि ही होती है[5]। टीका के अनुसार यह 'ज्योति' शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है और इसका अर्थ है : जो ज्योति, उल्कादि रूप नहीं पर धूमकेतु, धूमचिन्ह, धूमध्वज वाली है[6] अर्थात् जिससे धुआँ निकल रहा है वह अग्नि।

१—जातक प्र० खं० पृ० ४०४।

२—जातक प्र० खं० पृ० ४०२ से संक्षिप्त।

३—जि० चू० पृ० ८७ : दुरासयो नाम डहणसमत्थत्तणं, दुक्खं तस्स सजोगो सहिज्जइ दुरासओ तेण।

४—हा० टी० प० ९५ : 'दुरासदं' दुःखेनासाद्यतेऽभिभूयत इति दुरासदस्तं, दुरभिभवमित्यर्थः।

५—जि० चू० पृ० ८७ : जोती अग्गी भण्णइ, धूमो तस्सेव परियायो, केऊ उस्सओ चिंध वा, सो धूमो केतू जस्स भवइ धूमकेऊ।

६—हा० टी० प० ९५ : अग्निं 'धूमकेतुं' धूमचिह्नं धूमध्वजं नोल्काविरूपम्।

३०. वापस पीने की इच्छा नहीं करते (नेच्छंति वन्तयं भोत्तुं [ग])

प्राण भले ही चले जांय पर अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प विष को वापस नहीं पीता। इस बात का सहारा ले राजीमती कहती है: साधु को सोचना चाहिए— अविरत होने पर तथा धर्म को नहीं जानने पर भी केवल कुल का अवलम्बन ले तिर्यञ्च अगन्धन सर्प अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है पर वमन पीने जैसा घृणित काम नहीं करता। हम तो मनुष्य है, जिन धर्म को जानते हैं फिर भला क्या हमें जाति-कुल के स्वाभिमान को त्याग, परित्यक्त भोगों का पुन. कायरतापूर्वक आसेवन करना चाहिए[1] ? हम दारुण दुःख के हेतुभूतत्यक्त-भोगो का फिर से सेवन कैसे कर सकते हैं[2] ?

३१. श्लोक ७ से ११ :

इनकी तुलना के लिए देखिए —'उत्तराध्ययन' २२। ४२, ४३, ४४, ४६, ४९।

श्लोक ७ :

३२. हे यशःकामिन् ! (जसोकामी [क]) :

चूर्णि के अनुसार 'जसोकामी' शब्द का अर्थ है- हे क्षत्रिय[3] ! हरिभद्र सूरि ने इस शब्द को रोष मे क्षत्रिय के आमत्रण का सूचक कहा है[4]। डा० याँकोबी ने इसी कारण इसका अर्थ 'famous knight' किया है[5]।

अकार का प्रश्लेष मानने पर 'धिरत्थु तेऽजसोकामी' ऐसा पाठ बनता है[6]। उस हालत मे - हे अयश कामिन् ! ऐसा सम्बोधन बनेगा। 'यश' शब्द का अर्थ संयम भी होता है[7]। अत अर्थ होगा —हे असयम के कामी ! धिक्कार है तुझे।

इस श्लोक के पहले चरण का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है --हे कामी ! तेरे यश को धिक्कार है।

३३. क्षणभंगुर जीवन के लिए (जो तं जीवियकारणा [ख]) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ 'कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु के समान चचल जीवन के लिए'[8] और हरिभद्र सूरि ने 'असयमी जीवन के लिए'--ऐसा किया है[9]।

३४. इससे तो तेरा मरना श्रेय है ! (सेयं ते मरणं भवे [घ]) :

जैसे जीने के लिए वमन की हुई वस्तु का पुनः भोजन करने से मरना अधिक गौरवपूर्ण होता है वैसे ही परित्यक्त भोगो को भोगने की अपेक्षा मरना ही श्रेयस्कर है।

१- जि० चू० पृ० ८७ : साहुणावि चिंतेयव्वं जइ णामाविरएण होऊण धम्म अयाणमाणेण कुलमवलंबंतेण य जीवियं परिच्चत्त ण य वन्तमावीत, किमगपुण मणुस्सेण जिणवयण जाणमाणेण जातिकुलमत्तणो अणुगणितेण ? तहा करणीय जेण सद्देण दोसे ण भवइ अविय-मरणं अज्झवसियव्व, ण य सीलविराहणं कुज्जा।

२— हा० टी० प० ९५ : यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति न च वान्तं भुञ्जते तत्कथमहं जिनवचनाभिज्ञो विपाकदारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये ?

३—जि० चू० पृ० ८८ : जसोकामिणो खत्तिया भण्णति।

४—हा० टी० प० ९६ : हे यशस्कामिन्निति सासूय क्षत्रियामन्त्रणम्।

५ The Uttaradhyayana Sutra P. 118

६—(क) जि० चू० पृ० ८८ : अहवा धिरत्थु ते अयसोकामी, गथलाघवत्थं अकारस्स लोवं काऊणं एवं पढिज्जइ 'धिरत्थु तेऽजसोकामी'।

(ख) हा० टी० प० ९६ : अथवा अकारप्रश्लेषादयशस्कामिन् !

७—(क) हा० टी० प० १८८. 'जस सारक्खमप्पणो (द० ५.२.३६)—यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते।

(ख) भगवती श० ४१ उ० १ : तेणं भंते जीवा ! किं आयजसेणं उववज्जंति ?····· आत्मनः सम्बन्धि यशो यशोहेतुत्वाद् यशः—संयमः आत्मयशस्तेन।

८—जि० चू० पृ० ८८ : जो तुम इमस्स कुसग्गजलबिंदुचंचलस्स जीवियस्स अट्ठाए।

९—हा० टी० प० ९६ : 'जीवितकारणात्' असंयमजीवितहेतोः।

भूखा मनुष्य कष्ट भले ही पाये पर धिक्कारा नहीं जा सकता; पर वमन को खानेवाला जीते-जी धिक्कारा जाता है। जो शील-भंग करने की अपेक्षा मृत्यु को वरण करता है वह एक बार ही मृत्यु का कष्ट अनुभव करता है, पर अपने गौरव और धर्म की रक्षा कर लेता है। जो परित्यक्त भोगों का पुनः आसेवन करता है वह अनेक बार धिक्कारा जा कर बार-बार मृत्यु का अनुभव करता है। इतना ही नही वह अनादि और दीर्घ ससार-अटवी मे नाना योनियो मे जन्म-मरण करता हुआ बार-बार कष्ट पाता है[1]। अतः मर्यादा का उल्लघन करने की अपेक्षा तो मरना श्रेयस्कर होता है[2]।

श्लोक ८ :

३५ मैं भोजराज की पुत्री (राजीमती) हूँ (अहं च भोयरायस्स ·· क) :

राजीमती ने रथनेमि से कहा—मैं भोजराज की संतान हूँ और तुम अन्धक-वृष्णि की सन्तान हो। यहाँ 'भोज' और 'अन्धक-वृष्णि' शब्द कुल के वाचक हैं[3]।

हरिभद्र सूरि ने 'भोय' का सस्कृत रूप 'भोग' किया है। शान्त्याचार्य ने इसका रूप 'भोज' दिया है[4]। महाभारत[5] और कौटिलीय अर्थशास्त्र[6] में 'भोज' शब्द का प्रयोग मिलता है। महाभारत[7] और विष्णुपुराण[8] के अनुसार 'भोज' यादवो का एक विभाग है। कृष्ण जिस सघ-राज्य का नेतृत्व करते थे, उसमे यादव, कुकुर, भोज और अन्धक-वृष्णि सम्मिलित थे[9]। जैनागमो के अनुसार कृष्ण उग्रसेन आदि सोलह हजार राजन्यों का आधिपत्य करते थे[10]। अन्धक-वृष्णियों के सघ-राज्य का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है[11]। वह द्वैध-राज्य था। अन्धक और वृष्णि ये दो राजनैतिक दल यहाँ का शासन चलाते थे। इस प्रकार की शासन-प्रणाली को विरुद्ध-राज्य कहा जाता रहा[12]।

अन्धकों के नेता अक्रूर थे। उनके दल के सदस्यों को 'अक्रूरवर्ग्य' और 'अक्रूरवर्गीण' कहा गया है। वृष्णियो के नेता वासुदेव थे। उनके दल के सदस्यो को 'वासुदेववर्ग्य' और 'वासुदेववर्गीण' कहा गया है[13]। भोजो के नेता उग्रसेन थे।

३६. कुल में गन्धन सर्प···न हों (मा कुले गंधणा होमो ग) :

राजीमती कहती है—हम दोनो ही महाकुल में उत्पन्न हैं। जिस तरह गंधन सर्प छोड़े हुए विष को वापस पी लेते हैं, उस तरह से हम परित्यक्त भोगो को पुन. सेवन करनेवाले न हों।

जिनदास महत्तर ने 'मा कुले गंधणा होमो' के स्थान मे 'मा कुलगंधिणो होमो' ऐसा विकल्प पाठ बतला कर 'कुलगंधिणो' का अर्थ कुल-पूतना किया है अर्थात् कुल मे पूतना की तरह कलक लगानेवाले न हो[14]।

१—जि० चू० पृ० ८७ : अणाईए अणवदग्गे दीहमद्धे ससारकतारे तासु तासु जाईसु बहूणि जम्मणमरणाणि पावंति।

२—हा० टी० प० ९६ : उत्क्रान्तमर्यादस्य 'श्रेयस्ते मरणं भवेत्' शोभनतरं तव मरणं, न पुनरिदमकार्यासेवनमिति।

३—जि० चू० पृ० ८८ : भोगा खत्तियाण जातिविसेसो भण्णइ।

····तुमं च तस्स तारिसस्स अधयवण्हिणो कुले पसूओ समुद्दविजयस्स पुत्तो।

४—हा० टी० प० ९७; उत्त० : २२.४३ वृ०।

५—म० भा० शान्तिपर्व : ८१.१४ : अक्रूरभोजप्रभवाः।

६—कौ० अ० १.६.६ : यथा दाण्डक्यो नाम भोज. कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिगम्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।

७—म० भा० सभापर्व : १४.३२।

८—विष्णुपुराण : ४.१३.७।

९—म० भा० शान्तिपर्व : ८१.२९ : यादवाः कुकुरा भोजाः, सर्वे चान्धकवृष्णय.।

त्वय्यायत्ता महाबाहो, लोका लोकेश्वराश्च ये॥

१०—अंत० १.१ : तत्थ णं बारवईए णयरीए कण्हे णामं वासुदेवे राया परिवसइ।···बलदेव-पामोक्खाणं पचण्हं महावीराणं, पज्जुण्ण-पामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं ···रुप्पिणिपामोक्खाणं सोलसण्हं देवीसाहस्सीणं,···उग्गसेण-पामोक्खाणं सोलसण्हं रायसाहस्सीणं····आहेवच्चं जाव पालेमाणे विहरइ।

११—अष्टाध्यायी (पाणिनि) : ६.२.३४

१२—आ० चू० ३.११

१३—कात्यायनकृत पाणिनि का वार्तिक : ४.२.१०४

१४—जि० चू० पृ० ८९ : अहवा कुलगंधिणो कुलपूयणा मा भवामो।

श्लोक ९ :

३७. हट (हडो ग)

'सूत्रकृताङ्ग' में 'हड' को 'उदक-योनिक', 'उदक-संभव' वनस्पति कहा गया है। वहाँ उसका उल्लेख उदक, अवग, पणग, सेवाल, कलम्बुग के साथ किया गया है[1]। 'प्रज्ञापना' सूत्र में जलरुह वनस्पति के भेदों को बताते हुए उदक आदि के साथ 'हढ' का उल्लेख मिलता है[2]। इसी सूत्र में साधारण-शरीरी बादर-वनस्पतिकाय के प्रकारों को बताते हुए 'हढ' वनस्पति का नाम आया है[3]। आचाराङ्ग निर्युक्ति में अनन्त-जीव वनस्पति के उदाहरण देते हुए सेवाल, कत्थ, भाणिका, अवक, पणक, किण्णव आदि के साथ 'हढ' का नामोल्लेख है[4]। इन समान उल्लेखों से मालूम होता है कि 'हड' वनस्पति 'हढ' नाम से भी जानी जाती थी।

हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ एक प्रकार की अबद्धमूल वनस्पति किया है[5]। जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ द्रह, तालाब आदि में होनेवाली एक प्रकार की छिन्नमूल वनस्पति किया है[6]। इससे पता चलता है कि 'हड' बिना मूल की जलीय वनस्पति है।

'सुश्रुत' में सेवाल के साथ हट, तृण, पद्मपत्र आदि का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि संस्कृत में 'हड' का नाम 'हट' प्रचलित रहा है। वहीं हट से आच्छादित जल को दूषित माना है[7]। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि 'हड' वनस्पति जल को आच्छादित कर रहती है। 'हड' को संस्कृत मे 'हठ' भी कहा गया है[8]।

'हड' वनस्पति का अर्थ कई अनुवादों मे घास[9] अथवा वृक्ष[10] किया गया है। पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि ये दोनों अर्थ अशुद्ध हैं।

'हट' का अर्थ जलकुम्भी किया गया है[11]। इसकी पत्तियाँ बहुत बड़ी, कड़ी और मोटी होती है। ऊपर की सतह मोम जैसी चिकनी होती है। इसलिए पानी मे डूबने की अपेक्षा यह आसानी से तैरती रहती है। जलकुम्भी के आठ पर्यायवाची नाम उपलब्ध हैं[12]।

१—सू० २ ३.५४ : अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा णाणाविह-जोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए विउट्टन्ति।

२—प्रज्ञा० १.४३ : से किं त जलरुहा ?, जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, तंजहा उदए, अवए, पणए, सेवाले, कलंबुया, हढे य।

३—प्रज्ञा० १.४५ : से किं त साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया ? साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया अणेगविहा पन्नत्ता। तंजहा
किमिरासि भद्दमुत्था णंगलई पेलुगा इय। किण्हे पउले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी ॥६॥

४—आचा० नि० गा० १४१ :

सेवालकत्थभाणियअवए पणए य किनए य हढे।
एए अणन्तजीवा भणिया अण्णे अणेगविहा ॥

५—हा० टी० प० ९७ : हडो अबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः।

६—जि० चू० ८९ : हडो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिसु छिण्णमूलो भवति।

७—सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४५.७ : तत्र यत् पङ्कशैवालहटतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं शशिसूर्य्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोप-सृष्टञ्च तद्व्यापन्नमिति विद्यात्।

८—आचा० नि० गा० १४१ की टीका : सेवालकत्थभाणिकाऽवकपनककिण्वहठादयोऽनन्तजीवा गदिता।

९—(क) Das (का० वा० अभ्यङ्कर) नोट्स पृ० १३ : The writer of the Vritti explains it as a kind of grass which leans before every breeze that comes from any direction.

(ख) समी सांजनो उपदेश (गो० जी० पटेल) पृ० १६ : ऊंडां मूल न होवाने कारणे वायुथी आम तेम फंकाता 'हड' नामना घास··· ।

१०—दश० (जी० घेलाभाई) पत्र ६ : हड नामा वृक्ष समुद्रनें कीनारे होय छे। तेनु मूल बराबर होतुं नथी, अने माथे भार घणो होय छे अने समुद्रने किनारे पवननु जोर घणुं होवाथी ते वृक्ष उखडीने समुद्रमा पडे अने त्यां हेराफेरा कर्या करे।

११—सुश्रुत० (सूत्रस्थान) ४५ ७ : पाद-टिप्पणी न० १ मे उद्धृत अंश का अर्थ :—हटः जलकुम्भिका, अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेषः इत्येके।

१२—शा० नि० पृ० १२३० :

कुम्भिका वारिपर्णी च, वारिमूली खमूलिका।
आकाशमूली कुतृण, कुमुदा जलवल्कलम् ॥

३८. अस्थितात्मा हो जायेगा (अट्ठियप्पा भविस्ससि [घ]) :

राजीमती इस श्लोक में जो कहती है उसका सार इस प्रकार है : हड वनस्पति के मूल नहीं होता । वायु के एक हल्के से स्पर्श से ही यह वनस्पति जल मे इधर-उधर बहने लगती है । इसी तरह यदि तू दुष्ट-नारी के प्रति अनुराग करने लगेगा तो सयम में अबद्धमूल होने से तुझे संसार-समुद्र मे प्रमाद-पवन से प्रेरित हो इधर-उधर भव-भ्रमण करते रहना पड़ेगा[1] ।

पृथ्वी अनन्त स्त्री-रत्नो से परिपूर्ण है । जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ दृष्टिगोचर होंगी । उन्हे देख कर यदि तू उनके प्रति ऐसा भाव (अभिलाषा, अभिप्राय) करने लगेगा जैसाकि तू मेरे प्रति कर रहा है तो सयम में अबद्धमूल हो, श्रमण-गुणो से रिक्त हो, केवल द्रव्यलिंगधारी हो जायेगा[2] ।

श्लोक १० :

३९. सुभाषित (सुभासियं [ख]) :

यह वचन (वयणं) का विशेषण है । इसका अर्थ है --अच्छे कहे हुए । राजीमती के वचन संसार-भय से उद्विग्न करनेवाले[3], सवेग—वैराग्य उत्पन्न करनेवाले हैं[4] अतः सुभाषित कहे गये हैं ।

श्लोक ११ :

४०. संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण (संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा [क ख]) :

प्रायः प्रतियों मे 'सबुद्धा' पाठ मिलता है । 'उत्तराध्ययन' सूत्र में भी 'सबुद्धा' पाठ ही है[5] । पर चूर्णिकार ने 'संपण्णा' पाठ स्वीकार कर व्याख्या की है ।

चूर्णिकार के अनुसार 'सप्राज्ञ' का अर्थ है--प्रज्ञा—बुद्धि से सम्पन्न[6] । 'पण्डित' का अर्थ है—परित्यक्त भोगो के प्रत्याचरण मे दोषो को जाननेवाला[7] । 'प्रविचक्षण' का अर्थ है—पाप-भीरु —जो ससार-भय से उद्विग्न हो थोड़ा भी पाप करना नही चाहता[8] ।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख 'सबुद्धा' पाठ वाली प्रतियाँ ही रही । उन्होने निम्न रूप से व्याख्या की है : 'संबुद्ध'—'बुद्ध' बुद्धिमान् को कहते हैं । जो बुद्धिमान् सम्यक्-दर्शन सहित होता है, वह सबुद्ध कहलाता है । विषयो के स्वभाव को जाननेवाला सम्यक्-दृष्टि—'सबुद्ध' है । 'पण्डित'— जो सम्यक्-ज्ञान से सम्पन्न हो । 'प्रविचक्षण' --जो सम्यक्-चारित्र से युक्त हो[9] ।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख चूर्णिकार से प्रायः मिलती हुई व्याख्या भी थी, जिसका उल्लेख उन्होने मतान्तर के रूप मे किया है[10] ।

४१. पुरुषोत्तम (पुरिसोत्तमो [घ]) :

प्रश्न है—प्रव्रजित होने पर भी रथनेमि विषय की अभिलाषा करने लगे फिर उन्हें पुरुषोत्तम क्यो कहा गया है ? इसका उत्तर

१—हा० टी० प० ९७ : सकलदुःखक्षयनिबन्धनेषु संयमगुणेष्व (प्रति) बद्धमूलत्वात् ससारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति ।

२—जि० चू० पृ० ८९ : हढो ''वातेण य आइद्धो इओ इओ य निज्जइ, तहा तुमंपि एवं करेंतो संजमे अबद्धमूलो समणगुणपरिहीणो केवलं दव्वलिंगधारी भविस्ससि :

३—जि० चू० पृ० ९१ : संसारभउव्वेगकरेहिं वयणेहिं ।

४—हा० टी० प० ९७ : 'सुभाषित' संवेगनिबन्धनम् ।

५—उत्त० २२.४९ ।

६—जि० चू० पृ० ९२ : संपण्णा णाम पण्णा—बुद्धी भण्णइ, तीय बुद्धीय उववेता संपण्णा भण्णंति ।

७—जि० चू० पृ० ९२ : पंडिया णाम वसाण भोगाणं पडियाइणे जे दोसा परिजाणंती पंडिया ।

८—जि० चू० पृ० ९२ : पवियक्खणा णामावज्जभीरू भण्णंति, वज्जभीरुणो णाम संसारभउव्विग्गा थोवमवि पावं णेच्छंति ।

९—हा० टी० प० ९९ : 'संबुद्धा' बुद्धिमन्तो बुद्धाः; सम्यग्-दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः संबुद्धा –विदितविषयस्वभावाः, सम्यग्दृष्टयः···पण्डिताः—सम्यग्ज्ञानवन्तः प्रविचक्षणाः—चरणपरिणामवन्तः ।

१०—हा० टी०प० ९९ : अन्ये तु व्याचक्षते—संबुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्तः पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञाः प्रविचक्षणा अवद्यभीरवः ।

इस प्रकार है : मन में अभिलाषा होने पर कापुरुष अभिलाषा के अनुरूप ही चेष्टा करता है पर पुरुषार्थी पुरुष मोहोदय के वश ऐसा संकल्प उपस्थित होने पर भी आत्मा को जीत लेता है—उसे पाप से वापस मोड़ लेता है। गिरती हुई आत्मा को पुनः स्थिर कर रथनेमि ने जो प्रबल पुरुषार्थ दिखाया उसी कारण उन्हें पुरुषोत्तम कहा है। राजीमती के उपदेश को सुन कर धर्म में पुनः स्थिर होने के बाद उनकी अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा गया है : "मनगुप्त, वचनगुप्त, कायगुप्त तथा जितेन्द्रिय हो उन दृढ़व्रती रथनेमि ने निश्चलता से जीवन-पर्यन्त श्रमण-धर्म का पालन किया। उग्र तप का आचरण कर वे केवलज्ञानी हुए और सर्व कर्मों का क्षय कर अनुत्तर सिद्ध-गति को प्राप्त हुए[1]।" इस कारण से भी वे पुरुषोत्तम थे।

१—उत्त० २२.४७,४८ :

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइन्दिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ॥
उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥

तइयं अज्झयणं

खुड्डियायारकहा

तृतीय अध्ययन

क्षुल्लिकाचारकथा

आमुख

समूचे ज्ञान का सार आचार है। धर्म में जिसकी धृति नहीं होती उसके लिए आचार और अनाचार का भेद महत्त्व नहीं रखता। जो धर्म में धृतिमान् है वह आचार को निभाता है और अनाचार से बचता है[1]। निष्कर्ष की भाषा में अहिंसा आचार और हिंसा अनाचार है। शास्त्र की भाषा में जो अनुष्ठान मोक्ष के लिए हो या जो व्यवहार शास्त्र-विहित हो वह आचार है और शेष अनाचार।

आचरणीय वस्तु पांच हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य। इसलिए आचार पांच बनते हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार[2]।

आचार से आत्मा संयत होती है या जिसकी आत्मा संयम से सुस्थित होती है वही आचार का पालन करता है। संयम की स्थिरता और आचार का गहरा सम्बन्ध है। अनाचार आचार का प्रतिपक्ष है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य का शास्त्र-विधि के प्रतिकूल जो अनुष्ठान है वह अनाचार है। मूल संख्या में ये भी पांच हैं। विवक्षा-भेद से आचार और अनाचार— इन दोनों के अनेक भेद हैं।

'अनाचार' का अर्थ है प्रतिषिद्ध-कर्म, परिज्ञातव्य—प्रत्याख्यातव्य-कर्म या अनाचीर्ण-कर्म। आचार धर्म या कर्तव्य है और अनाचार अधर्म या अकर्तव्य।

इस अध्ययन में अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया है, इसलिए इसका नाम 'आचार-कथा' है। इसी सूत्र के छठे अध्ययन (महाचार-कथा) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचार का संक्षिप्त प्रतिपादन है, इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लिकाचार-कथा' है[3]।

सूत्रकार ने संख्या-निर्देश के बिना अनाचारों का उल्लेख किया है। चूर्णिद्वय तथा वृत्ति में भी संख्या का निर्देश नहीं है। दीपिकाकार चौवन की संख्या का उल्लेख करते हैं[4]। इस परम्परा के अनुसार निर्ग्रन्थ के चौवन अनाचारों की तालिका इस प्रकार बनती है :

१—औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाये गये आहारादि का लेना)
२—क्रीतकृत (साधु के निमित्त क्रीत वस्तु का लेना)
३—नित्याग्र (निमन्त्रित होकर नित्य आहार लेना)
४—अभिहृत (दूर से लाये गये आहार आदि ग्रहण करना)
५—रात्रि-भोजन
६—स्नान
७—गन्ध-विलेपन
८—माल्य (माला आदि धारण करना)
९—बीजन (पंखादि से हवा लेना)
१०—सन्निधि (खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का संग्रह कर रखना)
११—गृहि-अमत्र (गृहस्थ के पात्र में भोजन)
१२—राज-पिण्ड (राजा के घर का आहार ग्रहण)

१—(क) अ० चू० पृ० ४९ : धम्मे धितिमतो आयारसुट्ठितस्स फलोवदरिसणोवसंहारे।
(ख) अ० चू० पृ० ४९ : इदाणिं तु विसेसो णियमिज्जति—धिती आयारे करणीय त्ति।
(ग) जि० चू० पृ० ९२ : इयाणि दढधितियस्स आयारो भाणितव्वो, अहवा सा धिती कहिं करेयव्वा ?, आयारे।
(घ) हा० टी० प० १०० : इह तु सा धृतिराचारे कार्या नत्वनाचारे, अयमेवात्मसंयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तञ्च—
"तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतः सदा।
स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनोदितः॥"

२—(क) ठा० ५.१४७ : पंचविधे आयारे पं० तं० णाणायारे दंसणायारे चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे।
(ख) नि० गा० १८१ : दंसणनाणचरित्ते तवआयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो पञ्चविहो होइ नायव्वो॥

३—नि० गा० १७८ : एएसि महंताणं पडिवक्खे खुड्डया होंति॥

४—दी० पृ० ७ : सर्वमेतत् पूर्वोक्त चतुःपञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकादिकं यदनन्तरमुक्तं तत् सर्वमनाचरितं ज्ञातव्यम्।

१३—किमिच्छक (क्या चाहिए ? ऐसा पूछ कर दिया हुआ आहार आदि)
१४—संबाधन (शरीर-मर्दन)
१५—दंत-प्रधावन (दांतों को धोना)
१६—संपृच्छन (गृहस्थों से सावद्य प्रश्न)
१७—देह-प्रलोकन (आईने आदि में शरीर देखना)
१८—अष्टापद (शतरंज खेलना)
१९—नालिका (द्यूत विशेष)
२०—छत्र-धारण
२१—चिकित्सा
२२ उपानह पहनना
२३—अग्नि-समारम्भ
२४—शय्यातर-पिण्ड (वसति दाता का आहार लेना)
२५—आसंदी का व्यवहार
२६—पर्यङ्क (पलंग का व्यवहार)
२७—गृहि-निषद्या (गृही के घर बैठना)
२८—गात्र-उद्वर्तन (शरीर मालिश)
२९—गृहि-वैयावृत्य (गृहस्थ की सेवा)
३०—आजीववृत्तिता (शिल्प आदि से आजीविका)
३१—तप्तानिर्वृतभोजित्व (अनिर्वृत खान-पान)
३२—आतुर-स्मरण अथवा आतुर-शरण (पूर्व भोगों का स्मरण अथवा चिकित्सालय में शरण लेना)
३३—सचित्त मूलक
३४—सचित्त शृंगवेर (अदरक)
३५—सचित्त इक्षु-खण्ड
३६—सचित्त कन्द
३७—सचित्त मूल
३८—सचित्त फल
३९—सचित्त बीज
४०—सचित्त सौवर्चल लवण
४१—सचित्त सैंधव लवण
४२—सचित्त लवण
४३—सचित्त रुमा लवण
४४—सचित्त सामुद्र लवण
४५—सचित्त पांशु क्षार लवण
४६—सचित्त कृष्ण लवण
४७—धूमनेत्र (धूम्रपान)
४८ वमन
४९—वस्तिकर्म
५०—विरेचन
५१—अंजन
५२—दन्तवन
५३—गात्राभ्यङ्ग
५४ विभूषा।

अनाचारों की संख्या बावन अथवा तिरपन होने की परम्पराएँ भी प्रचलित हैं[1]। बावन और तिरपन की सख्या का उल्लेख पहले-पहल किसने किया, यह अभी शोध का विषय है।

तिरपन की परम्परावाले 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को एक मानते हैं। बावन की एक परम्परा मे 'आसन्दी' और 'पर्यङ्क' तथा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक-एक माना गया है। इसकी दूसरी परम्परा 'गात्राभ्यङ्ग' और 'विभूषण' को एक मानने के स्थान मे लवण को 'सैंधव' का विशेषण मान कर दोनों को एक अनाचार मानती है।

इस प्रकार उक्त चार परम्पराएँ हमारे सामने हैं। इनमे सख्या का भेद होने पर भी तत्त्वत कोई भेद नहीं है।

परन्तु आगम के छठे अध्ययन मे प्रथम चार अनाचारों का सकेत 'अकल्प्य' शब्द द्वारा किया गया है[2]। वहीं केवल 'पलियंक' शब्द के द्वारा आसंदी, पर्यङ्क, मंच, आशालकादि को संगृहीत किया गया है[3]। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त अनाचारों में कुछ स्वतन्त्र हैं और कुछ उदाहरणस्वरूप। सौवर्चल, सैंधव आदि नमक के प्रकार स्वतन्त्र अनाचार नहीं किन्तु सचित्त लवण अनाचार के ही उदाहरण हैं।

इसी तरह सचित्त मूलक, शृंगवेर, इक्षु-खण्ड, कन्द, मूल, फल, बीज आदि सचित्त वनस्पति नामक एक अनाचार के ही उदाहरण

१—अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार अनाचारों की संख्या ५२ बनती है, क्योंकि इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को तथा सैंधव और लवण को अलग-अलग न मानकर एक-एक माना है।

जिनदास चूर्णि के अनुसार भी अनाचारों की सख्या ५२ ही है। इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग अलग माना है तथा सैंधव और लवण को एव गात्राभ्यङ्ग और विभूषण को एक-एक माना है।

हरिभद्रसूरि एवं सुमतिसाधु सूरि के अनुसार अनाचारों की सख्या ५१ बनती है। इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैंधव और लवण को अलग-अलग माना है।

आचार्य आत्मारामजी के अनुसार अनाचारों की संख्या ५३ हैं। इन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को अलग-अलग मान सैंधव और लवण को एक माना है।

२—दश० ६.८, ४८-५०।

३—दश० ६.८, ५४-५६।

कहे जा सकते हैं। सूत्र का प्रतिपाद्य है—सजीव नमक न लेना, सजीव फल, बीज और शाक न लेना। जिनका अधिक व्यवहार होता था उनका नामोल्लेख कर दिया गया है।

सामान्यतः सभी सचित्त वस्तुओं का ग्रहण करना अनाचार है। ऐसी दृष्टि से वर्गीकरण करने पर अनाचारों की सख्या कम भी हो सकती है।

'सूत्रकृताङ्ग' में धोयण (वस्त्र आदि धोना), रयण (वस्त्रादि रंगना), पामिच्च (साधु को देने के लिए उधार लिया गया लेना), पूय (आधाकर्मी आहार से मिला हुआ लेना), कयकिरिए (असयम अनुष्ठान की प्रशंसा), पसिणायतणाणि (ज्योतिष के प्रश्नों का उत्तर), हत्थकम्म (हस्तकर्म), विवाय (विवाद), परकिरियं (परस्पर की क्रिया), परवत्थ (गृहस्थ के वस्त्र का व्यवहार) तथा गामकुमारियं किड्डं (ग्राम के लड़कों का खेल) आदि निर्ग्रन्थ के लिए वर्ज्य हैं[1]*। वास्तव मे ये सब अनाचार हैं।*

इससे यह सिद्ध होता है कि अनाचारों की जो तालिका प्रस्तुत आगम मे उपलब्ध है वह अन्तिम नहीं, उदाहरणस्वरूप ही है। ऐसे अन्य अनाचार भी हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं पाया जाता किन्तु जो अन्यत्र उल्लिखित और वर्जित हैं। विवेकपूर्वक सोचने पर ऐसी बातें सहज ही समझ मे आ सकती हैं, जिनका अनाचार नाम से उल्लेख भले ही न हो पर जो स्पष्टत ही अनाचार हैं।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने औद्देशिक से लेकर विभूषा तक की प्रवृत्तियो को अनाचार मानने के कारणों का निर्देश किया है। वे इस प्रकार हैं—

	अनाचार		**कारण**
१.	औद्देशिक	—	जीववध।
२.	क्रीतकृत	—	अधिकरण।
३.	नित्याग्र	—	मुनि के लिए भोजन का समारंभ।
४.	आहृत	—	षट्जीवनिकाय का वध।
५.	रात्रिभक्त	—	जीववध।
६.	स्नान	—	विभूषा और उत्प्लावन।
७.	गंधमाल्य	—	सूक्ष्म जीवो की घात और लोकापवाद।
८.	वीजन	—	संपातिम वायु का वध।
९.	सन्निधि	—	पिपीलिका आदि जीवों का वध।
१०.	गृहस्थ का भाजन	—	अप्कायिक जीवो का वध, कोई हरण कर ले या नष्ट हो जाए तो दूसरा दिलाना होता है।
११.	राजपिंड	—	भीड के कारण विराधना, उत्कृष्ट भोजन के प्राप्त होने से एषणा का घात।
१२.	मर्दन	—	सूत्र और अर्थ की हानि।
१३.	दंतधावन	—	विभूषा।
१४.	सप्रश्न	—	पाप का अनुमोदन।
१५.	सलोकन	—	ब्रह्मचर्य का घात।
१६.	द्यूत	—	ग्रहण का अदत्त, लोकापवाद।

१—सू० १.९.१२ : धावणं रयणं चेव, वमण च विरेयणं।
" " १४ : उद्देसिय कीयगडं, पामिच्च चेव आहडं।
पूंति अणेसणिज्जं च, त विज्जं ! परिजाणिया॥
" " १६ : संपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य।
" " १७ : हत्थकम्मं विवाय च, तं विज्जं ! परिजाणिया॥
" " १८ : परकिरियं अन्नमन्न च, तं विज्जं ! परिजाणिया॥
" " २० : परवत्थं अचेलोऽवि, तं विज्जं ! परिजाणिया॥
" " २९ : गामकुमारियं किड्डं, नाइवेलं हसे मुणी॥

१७.	नालिकाद्यूत	—	ग्रहण का अदत्त, लोकापवाद।
१८.	छत्र	—	लोकापवाद, अहंकार।
१९.	चिकित्सा	—	सूत्र और अर्थ की हानि।
२०.	उपानत	—	गर्व आदि।
२१.	अग्निसमारंभ	—	जीववध।
२२.	शय्यातरपिंड	—	एषणा दोष।
२३.	आसन्दी और पर्यङ्क	—	शुषिर में रहे जीवो की विराधना की सभावना।
२४.	गृहान्तरनिषद्या	—	ब्रह्मचर्य की अगुप्ति, शंका आदि दोष।
२५.	गात्र-उद्‌वर्तन	—	विभूषा।
२६.	गृहिवैयापृत्य	—	अधिकरण।
२७.	आजीववृत्तिता	—	आसक्ति।
२८.	तप्तानिर्वृतभोजित्व	—	जीववध।
२९.	आतुरस्मरण	—	दीक्षा त्याग।
३०.	मूल आदि का ग्रहण	—	वनस्पति का घात।
३१.	सौवर्चल आदि नमक का ग्रहण	—	पृथ्वीकाय का विघात।
३२.	धूपन आदि	—	विभूषा।[1]

उत्सर्ग-विधि से—सामान्य-निरूपण की पद्धति से यहाँ जितने भी अग्राह्य, अभोग्य, अकरणीय कार्य बताये गये हैं वे सारे अनाचार हैं। अपवाद-विधि के अनुसार विशेष परिस्थिति में कुछेक अनाचीर्ण अनाचीर्ण नहीं रह जाते। जो कार्य मूलत सावद्य है या जिनका हिंसा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वे हर परिस्थिति मे अनाचीर्ण हैं, जैसे सचित्त-भोजन, रात्रि-भोजन आदि। जिनका निषेध विशेष विशुद्धि या सयम की उग्र साधना की दृष्टि से हुआ है वे विशेष परिस्थिति मे अनाचीर्ण नहीं रहते, जैसे—गृहान्तर-निषद्या ब्रह्मचर्य की दृष्टि से तथा दूसरों के मन मे शङ्का न पडे इस दृष्टि से अनाचार है। रुग्णावस्था, वृद्धावस्था आदि में ब्रह्मचर्य भङ्ग अथवा दूसरे के शका की सभावना न रहने से स्थविर के लिए यह अनाचार नहीं है[2]। अजन-विभूषा शृङ्गार की दृष्टि से हर समय अनाचार है पर नेत्र-रोग की अवस्था मे यह अनाचार नहीं है[3]। सौन्दर्य के लिए वमन, वस्तिकर्म, विरेचन अनाचार हैं, रुग्णावस्था मे यह अनाचार नहीं है। शोभा या गौरव के लिए छत्र-धारण अनाचार है। आतप आदि के निवारण के लिए भी इसका व्यवहार अनाचार है, पर स्थविर के लिए नहीं[4]।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन नवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु से उद्धृत है[5]।

१—अ० चू० पृ० ६२, ६३ : उद्देसियादि विमूषणत अणायरणकारणाणि - उद्देसिते सत्तवहो, कीतकडे गव्वादि अहिकरण, णीताए तदट्ठमुवक्खडण, आहडे छक्कायवहो, रातिभत्ते सत्तविराहना, सिणाणे विभूसाउप्पीलावणादि, गध-मल्ले, सुहुमघाय-उड्डाहा, बीयणे सपातिम-वायुवहो, सण्णिहीए पिपीलियादिवहो, गिहिमत्ते आउक्कायवहो, हिय-णट्ठं य दवावणं, रायपिण्डे सबाहेण विराहणा उक्कोसलंभे य एसणा-घातो, सवाहणे सुत्त-अत्यपलिमंथो (अ) तब्भावणं च (दंतपधोवणे) दत-विभूसा, सम्पुच्छणे पावाणुमोदण, संलोयणेण बंभपीडा, अट्ठावय-णालीयाए गेण्हणादत्तो उड्डाहो य, छत्ते उड्डाहो गव्वो य, तिगिच्छे सुत्त-अत्यपलिमंथो, उवाहणाहिं गव्वादि, जोतिसमारम्भे कायवहो, सेज्जातर-पिंडे एसणा दोसा, आसदी-पलियकेसु सुसिरदोसा, गिहतरणिसेज्जाए अगुत्ती बभचेरस्स संकादतो य, (गाउवट्टणाए गायविभूसा) गिहिणो वेतावडिए अहिकरण, आजीववित्ती अणिस्संगता, तत्तानिव्वुडभोइयत्ते सत्तवहो, आउरसरणे उप्पव्वावणादि, मूलादिग्गहणे वणस्सतिघातो, सोवच्चलादीणं पुढविकायवहो, धूवणादि विभूसा। एते दोसा इति।

२—दश० ६.५९ : तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पइ। जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो॥

३—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०), पृ० ३४१; निन्हवरास १ ६२ ·

कारण विनांइ साधव्यां, काजल घाले आंख्यां रे मांहि कें।
अणाचारणी त्यांनें कही, दसवीकालक तीजा अधेन रे मांहि कें॥

४—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ३१३ जिनाग्या री चौपई ५.१५ :

छत्र वा कह्यो छें ते तो छत्तरडो रे, ते कबलादिक नों कर राखे ताम रे।
ते राखे छे सीतापादिक टालवा रे, और मूतलब रो नहीं छे काम रे॥

५—नि० गा० १७ : अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ।

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लिकाचार-कथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—संजमे सुट्ठिअप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं । तेसिमेयमणाइण्णं निग्गथाण महेसिणं ॥	सयमे सुस्थितात्मनां विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् । तेषामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ॥१॥	जो सयम मे सुस्थितात्मा हैं,[१] जो विप्र-मुक्त हैं[२], त्राता हैं[३],—उन निर्ग्रन्थ[४] महर्षियों[५] के लिए[६] ये (निम्नलिखित) अनाचीर्ण हैं[७] (अग्राह्य हैं, असेव्य हैं, अकरणीय हैं)—
२—उद्देसियं कीयगडं नियागमभिहडाणि य । राइभत्ते सिणाणे य गंधमल्ले य वीयणे ॥	औद्देशिकं क्रीतकृत नित्याग्रमभिहृतानि च । रात्रिभक्तं स्नान च गन्धमाल्ये च वीजनम् ॥२॥	औद्देशिक[८]—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया। क्रीतकृत[९]—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया ॥ नित्याग्र[१०]—आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला। अभिहृत[११]-निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहार आदि लेना। रात्रि-भक्त[१२]—रात्रि-भोजन करना। स्नान[१३]—नहाना। गध—गंध सूंघना या गन्ध द्रव्य का विलेपन करना। माल्य[१४]—माला पहनना। वीजन[१५]—पखा झलना।
३—सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए । संबाहणा दंतपहोयणा य संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥	सनिधिर्गृहामत्र च राजपिण्डः किमिच्छकः । सम्बाधनं दन्तप्रधावन च संप्रच्छन देहप्रलोकन च ॥३॥	सन्निधि[१६]—खाद्य-वस्तु का संग्रह करना—रात-वासी रखना। गृहि-अमत्र[१७]—गृहस्थ के पात्र मे भोजन करना। राजपिण्ड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना। किमिच्छक[१८]—'कौन क्या चाहता है ?' यों पूछ कर दिया जानेवाला राजकीय-भोजन आदि लेना। संबाधन[१९]—अग-मर्दन करना। दत-प्रधावन[२०]—दांत पखारना। सप्रच्छन[२१]—गृहस्थ को कुशल पूछना (संप्रोञ्छन—शरीर के अवयवों को पोंछना)। देह-प्रलोकन[२२]—दर्पण आदि में शरीर देखना।

४—अट्ठावए य नालीय
छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए
समारंभं च जोइणो ॥

अष्टापदश्च नालिका
छत्रस्य च धारणमनर्थाय ।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः
समारम्भश्च ज्योतिषः ॥४॥

अष्टापद[२३]—शतरंज खेलना । नालिका[२४]—नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना । छत्र[२५]—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना । चैकित्स्य[२६]—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना । उपानत्[२७]—पैरों में जूते पहनना । ज्योतिः समारम्भ[२८] अग्नि जलाना ।

५—सेज्जायरपिंडं च
आसंदीपलियंकए ।
गिहंतरनिसेज्जा य
गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥

शय्यातरपिण्डश्च
आसन्दी-पर्य (ल्य) ङ्कः ।
गृहान्तरनिषद्या च
गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥५॥

शय्यातरपिण्ड[२९]—स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना । आसंदी[३०]—मञ्चिका । पर्यङ्क[३१]—पलंग पर बैठना । गृहान्तर-निषद्या[३२]—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना । गात्र-उद्वर्तन[३३]—उबटन करना ।

६—गिहिणो वेयावडियं
जा य आजीववित्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं
आउरस्सरणाणि य ॥

गृहिणो वैयापृत्यं
या च आजीववृत्तिता ।
तप्तानिर्वृतभोजित्वं
आतुरस्मरणानि च ॥६॥

गृहि-वैयापृत्य[३४]—गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना । आजीववृत्तिता[३५]—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना । तप्तानिर्वृतभोजित्व[३६]—अर्द्ध-पक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना । आतुर-स्मरण[३७]—आतुर-दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना ।

७—मूलए सिंगबेरे य
उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सच्चित्ते
फले बीए य आमए ॥

मूलकं शृङ्गबेरं च
इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ।
कन्दो मूलं च सचित्तं
फलं बीजं चामकम् ॥७॥

अनिर्वृत[३८] मूलक—सजीव मूली, अनिर्वृत शृङ्गबेर—सजीव अदरक, अनिर्वृत इक्षुखण्ड[३९]—सजीव इक्षु-खंड, सचित्त कंद[४०]—सजीव कंद, सचित्त मूल सजीव मूल, आमक फल—अपक्व फल और आमक बीज[४१]—अपक्व बीज—लेना व खाना ।

८—सोवच्चले सिंधवे लोणे
रोमालोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य
कालालोणे य आमए ॥

सौवर्चलं सैन्धवं लवणं
रुमालवणं चामकम् ।
सामुद्रं पांशुक्षारश्च
काललवणं चामकम् ॥८॥

आमक सौवर्चल[४२]—अपक्व सौवर्चल नमक, सैन्धव—अपक्व सैन्धव नमक, रुमा लवण—अपक्व रुमा नमक, सामुद्र—अपक्व समुद्र का नमक, पांशु-क्षार—अपक्व ऊषर-भूमि का नमक और काल लवण—अपक्व कृष्ण-नमक—लेना व खाना ।

९—धूवणेत्ति वमणे य
वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य
गायाभंगविभूसणे ॥

धूम-नेत्रं वमनञ्च
वस्तिकर्म विरेचनम् ।
अञ्जनं दन्तवनं च
गात्राभ्यङ्गविभूषणे ॥९॥

धूम-नेत्र[४३]—धूम्र-पान की नलिका रखना। वमन—रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना, वस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तैल आदि चढ़ाना) और विरेचन[४४] करना। अंजन—आंखो में अंजन आंजना। दंतवण[४५]—दांतो को दतौन से घिसना, गात्र-अभ्यङ्ग[४६]—शरीर में तैल-मर्दन करना। विभूषण[४७]—शरीर को अलंकृत करना।

१०—सव्वमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं
लहुभूयविहारिणं ॥

सर्वमेतदनाचीर्णं
निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।
संयमे च युक्तानां
लघुभूतविहारिणाम् ॥१०॥

जो संयम में लीन[४८] और वायु की तरह मुक्त विहारी[४९] महर्षि निर्ग्रन्थ हैं उनके लिए ये सब अनाचीर्ण हैं।

११—पंचासवपरिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥

परिज्ञातपञ्चास्रवाः
त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः ।
पञ्चनिग्रहणा धीराः
निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥११॥

पांच आश्रवों का निरोध करनेवाले,[५०] तीन गुप्तियों से गुप्त,[५१] छह प्रकार के जीवों के प्रति संयत,[५२] पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले,[५३] धीर[५४] निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी[५५] होते हैं।

१२—आयावयंति गिम्हेसु
हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा
संजया सुसमाहिया ॥

आतापयन्ति ग्रीष्मेषु
हेमन्तेष्वप्रावृताः ।
वर्षासु प्रतिसंलीनाः
संयताः सुसमाहिताः ॥१२॥

सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं[५६]—एक स्थान में रहते हैं।

१३—परीसहरिऊदंता
धुयमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो ॥

दान्तपरिषहरिपवः
धुतमोहा जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहाणार्थं
प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥१३॥

परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले[५७], धुत-मोह[५८] (अज्ञान को प्रकंपित करने वाले), जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के प्रहाण[५९]—नाश के लिए पराक्रम करते हैं[६०]।

१४—दुक्कराइं करेत्ताणं
दुस्सहाइं सहेत्तु य ।
केइत्थ देवलोएसु
केई सिज्झंति नीरया ॥

दुष्कराणि कृत्वा
दुःसहानि सहित्वा च ।
केचिदत्र देवलोकेषु
केचित् सिध्यन्ति नीरजसः ॥१४॥

दुष्कर[११] को करते हुए और दुःसह[१२] को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज[१३]—कर्म-रहित हो सिद्ध होते हैं ।

१५—खवित्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता
ताइणो परिनिव्वुडा ॥
त्ति बेमि ।

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि
संयमेन तपसा च ।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ता
त्रायिणः परिनिर्वृताः ॥१५॥
इति ब्रवीमि ।

स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर[१४], सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर[१५] परिनिर्वृत[१६]—मुक्त होते हैं ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ३

श्लोक १ :

१. सुस्थितात्मा हैं (सुट्ठिअप्पाणं क) :

इसका अर्थ है अच्छी तरह स्थित आत्मावाले। संयम में सुस्थितात्मा अर्थात् जिनकी आत्मा संयम में भली-भांति—आगम की रीति के अनुसार—स्थित—टिकी हुई—रमी हुई है[1]।

अध्ययन २ श्लोक ६ में 'अट्ठिअप्पा' शब्द व्यवहृत है[2]। 'सुट्ठिअप्पा' शब्द ठीक उसका विपर्ययवाची है।

२. विप्रमुक्त हैं (विप्पमुक्काण ख) :

वि—विविध प्रकार से प्र—प्रकर्ष से मुक्त-रहित हैं अर्थात् जो विविध प्रकार से—तीन करण और तीन योग के सर्व भङ्गों से, तथा तीव्र भाव के साथ बाह्याभ्यन्तर ग्रंथ—परिग्रह को छोड चुके हैं, उन्हे विप्रमुक्त कहते हैं[3]। 'विप्रमुक्त' शब्द अन्य आगमो में भी अनेक स्थलो पर व्यवहृत हुआ है[4]। उन स्थलो को देखने से इस शब्द का अर्थ सब सयोगो से मुक्त, सर्व सग से मुक्त होता है।

कई स्थलो पर 'सव्वओ विप्पमुक्के' शब्द भी मिलता है, जिसका अर्थ है—सर्वत: मुक्त।

३. त्राता हैं (ताइणं ख) :

'ताई', 'तायी' शब्द आगमो में अनेक स्थलों पर मिलते हैं[5]। 'तायिण' के संस्कृत रूप 'त्रायिणाम्' और 'तायिनाम्'—दो होते हैं।

१—(क) अ० चू० पृ० ५६ : तम्मि संजमे सोभणं ठितो अप्पा जेसि ते संजमे सुट्ठितप्पाणो।
(ख) जि० चू० पृ० ११०।
(ग) हा० टी० प० ११६ : शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मान:।

२—देखें—अध्ययन २, टिप्पण ४०।

३—(क) अ० चू० पृ० ५६ : विप्पमुक्काण—अभिंतर-बाहिरगंथबंधणविविहप्पगारमुक्काण विप्पमुक्काण।
(ख) जि० चू० पृ० ११०-११।
(ग) हा० टी० प० ११६ : विविधम्—अनेकै: प्रकारै:—प्रकर्षेण—भावसारं मुक्ता:—परित्यक्ता: बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ता:।

४—(क) उत्त० १.१ : सजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे॥
(ख) वही ६.१६ : बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ॥
(ग) वही ११.१ : संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे॥
(घ) वही १५.१६ : असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी, चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खु॥
(ङ) वही १८.५३ : कहिं धीरे अहेऊहिं, अत्ताणं परियावसे।
सव्वसंगविनिम्मुक्के, सिद्धे हवइ नीरए॥

५—(क) दश० ३.१५; ६.३६,६६।
(ख) उत्त० ११.३१; २३.१०; ८.६।
(ग) सू० १.२.२.१७; १.२.२.२४; १.१४.२६; २.६.२०; २.६.२४; २.६.५५।

'त्रायी' का शाब्दिक अर्थ रक्षक है। जो शत्रु से रक्षा करे उसे 'त्रायी' कहते हैं[1]। लौकिक-पक्ष में इस शब्द का यही अर्थ है। आत्मिक-क्षेत्र में इसकी निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती हैं :

(१) आत्मा का त्राण—रक्षा करनेवाला—अपनी आत्मा को दुर्गति से बचानेवाला।

(२) सदुपदेश-दान से दूसरो की आत्मा की रक्षा करनेवाला—उन्हें दुर्गति से बचानेवाला।

(३) स्व और पर दोनों की आत्मा की रक्षा करनेवाला—दोनों को दुर्गति से बचानेवाला[2]।

(४) जो जीवो को आत्मतुल्य मानता हुआ उनके अतिपात से विरत है वह[3]।

(५) सुसाधु[4]।

'तायी' शब्द की निम्नलिखित व्याख्याएँ मिलती है :

(१) सुदृष्ट मार्ग की देशना के द्वारा शिष्यो का सरक्षण करनेवाला[5]।

(२) मोक्ष के प्रति गमनशील[6]।

प्रस्तुत प्रसग मे दोनों चूर्णियो तथा टीका मे इसका अर्थ स्व, पर और उभय तीनो का त्राता किया है[7]। पर यहा 'त्रायी' का उपर्युक्त चौथा अर्थ लेना ही संगत है। जो बाते अनाचीर्ण—परिहार्य कही गयी है, वे हिंसा-बहुल हैं। निर्ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि वह त्रायी होता है—वह मन, वचन, काया तथा कृत, कारित, अनुमति से सर्व प्रकार के जीवों की सर्व हिंसा से विरत होता है। वह छोटे-बडे सब जीवो को अपनी आत्मा के तुल्य मानता हुआ उनकी रक्षा करता है—उनके अतिपात—विनाश से सर्वथा दूर रहता है। निर्ग्रन्थ को उसकी इस विशेषता की स्मृति 'ताइण'—त्रायी शब्द द्वारा कराते हुए कहा है—निम्न हिंसापूर्ण कार्य उनके लिए अनाचीर्ण हैं। अत: इस शब्द का यहाँ 'सर्वभूतसयत' अर्थ करना ही समीचीन है। यह अर्थ आगमिक भी है। 'ताइण' शब्द 'उत्तराध्ययन' अ० २३ के १० वे श्लोक में केशी और गौतम के शिष्य-सघो के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त है। वहाँ टीकाकार इसका अर्थ करते हैं : 'त्रायिणाम्'—षड्जीवरक्षाकारिणाम्। अत: षड्जीवनिकाय के अतिपात से विरत - सर्वत: अहिंसक—यही अर्थ संगत है।

४. निर्ग्रन्थ (निग्गंथाण ^घ) :

जैन मुनि का आगमिक और प्राचीनतम नाम है निर्ग्रन्थ[8]?

१—(क) अ० चू० पृ० ५९ : त्रायन्तीति त्रातार:।

(ख) जि० चू० पृ० १११ : शत्रो: परमात्मानं च त्रायंत इति त्रातार:।

२—(क) सू० १४.१६; टी० प० २४७ : आत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा तस्य स्वपरत्रायिण:।

(ख) उत्त० ८.४ : टी० पृ० २९१ : तायते त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम् एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी त्रायी वेति।

३—(क) दश० ६.३७ : अनिलस्स समारम्भ बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं नेय ताईहि सेवियं॥

(ख) उत्त० ८.९ : पाणे य नाइवाएज्जा से समीए त्ति वुच्चई ताई।

४ - दश० ६.३७ : हा० टी० प० २०१ : 'ताईहि'—'त्रातृभि:' सुसाधुभि:।

५—हा० टी० प० २६२ : तायोऽस्यास्तीति तायी, ताय: सुदृष्टमार्गोक्ति:, सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थ.।

६—सू० २।६.२४ : टी० प० ३९६ : 'तायी अयवयवयमयचयतयणय गतौ' इत्यस्य दण्डकधातोर्णिनिप्रत्यये रूपं, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थ:।

७—(क) अ० चू० पृ० ५९ : ते तिविहा—आयतातिणो परतातिणो उभयतातिणो।

(ख) जि० चू० पृ० १११ : आयपरोभयतातीणं।

(ग) हा० टी० प० ११६ : त्रायन्ते आत्मानं परमुभयं चेति त्रातार:।

८—(क) उत्त० १२.१६ : अवि एय विणस्सउ अन्नपाणं, न य णं दहामु तुमं नियंठा॥

(ख) उत्त० २१.२ : निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए।

(ग) उत्त० १७.१ : जे के इमे पव्वइए नियंठे।

(घ) जि० चू० पृ० १११ : निग्गथग्गहणेण साहूण निद्देसो कओ।

(ङ) हा० टी० प० ११६ : 'निर्ग्रन्थानां' साधूनाम्।

'ग्रंथ' का अर्थ है बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह । जो उससे—ग्रंथ से—सर्वथा मुक्त होता है, उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं[1] ।

आगम में 'निर्ग्रन्थ' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है : "जो राग-द्वेष रहित होने के कारण अकेला है, बुद्ध है, निराश्रव है, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद को जानने वाला है, विद्वान् है, बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार से जिसके स्रोत छिन्न हो गए है, जो पूजा, सत्कार और लाभ का अर्थी नहीं है, केवल धर्मार्थी है, धर्मविद् है, मोक्ष-मार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्य का आचरण करता है, दान्त है, बन्धनमुक्त होने योग्य है और निर्मम है—वह निर्ग्रन्थ कहलाता है[2] ।"

उमास्वाती ने कर्म-ग्रंथि की विजय के लिए यत्न करने वाले को निर्ग्रन्थ कहा है[3] ।

५. महर्षियों (महेसिणं [क]) :

'महेसी' के संस्कृत रूप 'महर्षि' या 'महैषी'—दो हो सकते हैं । महर्षि अर्थात् महान् ऋषि और महैषी अर्थात् महान्—मोक्ष की एषणा करने वाला । अगस्त्यसिंह स्थविर[4] और टीकाकार[5] को दोनो अर्थ अभिमत हैं । जिनदास महत्तर ने केवल दूसरा अर्थ किया है[6] ।

हरिभद्र सूरि लिखते हैं :—

"सुस्थितात्मा, विप्रमुक्त, त्रायी, निर्ग्रन्थ और महर्षि में हेतुहेतुमद्‌भाव है । वे सुस्थितात्मा हैं, इसीलिए विप्रमुक्त हैं । विप्रमुक्त हैं इसीलिए त्रायी हैं, त्रायी हैं इसीलिए निर्ग्रन्थ हैं और निर्ग्रन्थ हैं इसीलिए महर्षि हैं । कई आचार्य इनका सम्बन्ध व्युत्क्रम—पश्चानुपूर्वी से बताते हैं—वे महर्षि हैं इसीलिए निर्ग्रन्थ हैं, निर्ग्रन्थ हैं इसीलिए त्रायी हैं, त्रायी हैं इसीलिए विप्रमुक्त हैं और विप्रमुक्त हैं इसीलिए सुस्थितात्मा हैं[7] ।"

६. उन . के लिए (तेसिं [क]) :

श्लोक २ से ६ में अनेक कार्यों को अनाचीर्ण कहा है । प्रथम श्लोक में बताया है कि ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियो के लिए अनाचीर्ण हैं[8] । प्रश्न हो सकता है—ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ही अनाचीर्ण क्यो कहे गए ? इसका उत्तर निर्ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त महर्षि, संयम में सुस्थित, विप्रमुक्त, त्रायी आदि विशेषणो में है । निर्ग्रन्थ महान् की एषणा में रत होता है । वह महाव्रती होता है—संयम में अच्छी तरह स्थित होता है । वह विप्रमुक्त होता है । वह त्रायी—अहिंसक होता है । बाद के श्लोकों में बताए गये कार्य सावद्य, आरम्भ और हिंसा-बहुल हैं, निर्ग्रन्थ संयमी के जीवन से विपरीत हैं, गृहस्थों द्वारा आचरित हैं । अतीत में निर्ग्रन्थ महर्षियो ने उनका कभी आचरण नही किया । इन सब कारणों से मुक्ति की कामना से उत्कट साधना में प्रवृत्त निर्ग्रन्थों के लिए ये अनाचीर्ण हैं ।

१—अ० चू० पृ० ५६ : निग्गंथाणं ति विप्पमुक्कत्ता निक्खिज्जति ।

२—सू० १.१६.६ : एत्थवि णिग्गथे एगे एगविदू बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजए सुसमिए सुसामाइए आतप्पवायपत्ते विऊ दुहओवि सोयपलिच्छिन्ने णो पूयासक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवण्णे समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथेत्ति वच्चे ।

३—प्रशम० श्लोक १४२ :

> ग्रन्थः कर्माष्टविधं, मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च ।
> तज्जयहेतोरशठं, संयतते यः स निर्ग्रन्थः ॥

४—अ० चू० पृ० ५९ : महेसिणं ति इसी—रिसी, महरिसी—परमरिसिणो संबज्झंति, अहवा महानिति मोक्खो तं एसंति महेसिणो ।

५—हा० टी० प० ११६ : महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः, अथवा महान्तं एषितुं शीलं येषां ते महैषिणः ।

६—जि० चू० पृ० १११ : महान्मोक्षोऽभिधीयते……महांतं एषितुं शीलं येषां … …ते महेसिणो ।

७—हा० टी० प० ११६ : इह च पूर्वपूर्वभाव एव उत्तरोत्तरभावो नियमितो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः, यत एव संयमे सुस्थितात्मानोऽत एव विप्रमुक्ताः, संयमसुस्थितात्मनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्तेः, एवं शेषेष्वपि भावनीयं, अन्ये तु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमित्थं वर्णयन्ति—यत एव महर्षयोऽत एव निर्ग्रन्थाः, एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

८—(क) अ० चू० पृ० ५९ : तेसिं पुव्वभणिताणं बाहिर-अब्भंतरगंथबन्धन-विप्पमुक्काणं आयपरोभयतातिणं एतं जं उवरि एतम्मि अज्झयणे अभिहिहिति तं पच्चक्खं दरिसेति ।

(ख) जि० चू० पृ० १११ : तेसिं पुव्वनिद्दिट्ठाणं बाहिरब्भंतरगंथविमुक्काणं आयपरोभयताईणं एयं णाम जं उवरि एयंमि अज्झयणे अभिहिहित्ति एवं वेसिमणाइण्णं ।

(ग) हा० टी० प० ११६ : तेषामिदं—वक्ष्यमाणलक्षणम् ।

श्रमण अनेक प्रकार के होते हैं । श्रमण निर्ग्रन्थ को कैसे पहचाना जाय—यह एक प्रश्न है जो नवागन्तुक उपस्थित करता है । आचार्य बतलाते हैं—निम्नलिखित बातें ऐसी हैं जो निर्ग्रन्थ द्वारा अनाचरित हैं। जिनके जीवन मे उनका सेवन पाया जाता हो वे श्रमण निर्ग्रन्थ नहीं हैं । जिनके जीवन में वे आचरित नहीं हैं वे श्रमण निर्ग्रन्थ हैं । इन चिह्नों से तुम श्रमण निर्ग्रन्थ को पहचानो । निम्न वर्णित अनाचीर्णों के द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थ का लिङ्ग निर्धारित करते हुए उसकी विशेषताएँ प्रतिपादित कर दी गई हैं ।

७ अनाचीर्ण हैं (अणाइण्णं [ग]) :

'अनाचरित' का शब्दार्थ होता है—आचरण नहीं किया गया, पर भावार्थ है—आचरण नही करने योग्य—अकल्प्य । जो वस्तुएँ, बातें या क्रियाएँ इस अध्ययन में बताई गई है वे अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य और अकरणीय हैं । अतीत में निर्ग्रन्थो द्वारा ये कार्य अनाचरित रहे अत: वर्तमान में भी ये अनाचीर्ण हैं[१] ।

श्लोक २ से ६ तक मे उल्लिखित कार्यों के लिए अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य, अकरणीय आदि भावो मे से जहाँ जो लागू हो उस भाव का अध्याहार समझना चाहिए ।

श्लोक २ :

८. औद्देशिक (उद्देसियं [क]) :

इसकी परिभाषा दो प्रकार से मिलती है :—(१) निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से अथवा (२) परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्तु अथवा मकान आदि औद्देशिक कहलाता है[२] । ऐसी वस्तु या भोजन निर्ग्रन्थ-श्रमण के लिए अनाचीर्ण है—अग्राह्य और असेव्य है । इसी आगम (५.१.४७-५४) मे कहा गया है—"जिम आहार, जल, खाद्य, स्वाद्य के विषय मे साधु इस प्रकार जान ले कि वह दान के लिए, पुण्य के लिए, याचको के लिए तथा श्रमणो—भिक्षुओ के लिए बनाया गया है तो वह भक्त-पान उसके लिए अग्राह्य होता है । अतः साधु दाता से कहे—'इस तरह का आहार मुझे नहीं कल्पता' ।" इसी तरह औद्देशिक ग्रहण का वर्जन अनेक स्थानों पर आया है[३] । औद्देशिक का गम्भीर विवेचन आचार्य भिक्षु ने अपनी साधु-आचार की ढालो मे अनेक स्थलो पर किया है । इस विषय के अनेक सूत्र-सदर्भ वहाँ सगृहीत हैं[४] ।

भगवान् महावीर का अभिमत था—'जो भिक्षु औद्देशिक-आहार की गवेषणा करता है वह उद्दिष्ट-आहार बनाने मे होने वाली त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा की अनुमोदना करता है—**वहं ते समणुजाणन्ति**'[५] । उन्होंने उद्दिष्ट-आहार को हिंसा और सावद्य से युक्त होने के कारण साधु के लिए अग्राह्य बताया[६] ।

१—(क) अ० चू० पृ० ५६ : अणाचिण्ण अकप्प । अणाचिण्णमिति ज अतीतकालनिद्देसं करेति त आयपरोभयतातिणिवरिसणत्थ, ज पुव्वरिसीहिं अणातिण्ण त कहमायरितव्व ?

(ख) जि० चू० पृ० १११ : अणाइण्ण णाम अकप्पणिज्जति वुत्त भवइ, अणाइण्णग्गहणेण जमेतं अतीतकालग्गहणं करेइ तं आयपरोभयतातीण कीरइ, किं कारणं ?, जइ ताव अम्ह पुव्वपुरिसेहिं अणातिण्णं तं कहमम्हे आयरिस्सामोत्ति ?

(ग) हा० टी० प० ११६ : अनाचरितम्—अकल्प्यम् ।

२—(क) जि० चू० पृ० १११ : उद्दिस्स कज्जइ त उद्देसिय, साधुनिमित्तं आरंभोत्ति वुत्त भवति ।

(ख) अ० चू० पृ० ६० : उद्देसित ज उद्दिस्स कज्जति ।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'उद्देसिय' ति उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः तत्र भवमौद्देशिकम् ।

३—(क) दश० ५.१.५५; ६.४८-४९; ८.२३; १०.४ ।

(ख) प्रश्न० (सवर-द्वार) १,५ ।

(ग) सू० १.६.१४ ।

(घ) उत्त० २०.४७ ।

४—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८८८-८९ आचा० चौ० : १९.१—२२ ।

५—दश० ६.४८ ।

६—प्रश्न० (संवर-द्वार) २.५

बौद्ध भिक्षु उद्दिष्ट खाते थे। इस सम्बन्ध मे अनेक घटनाएँ प्राप्त हैं। उनमें से एक यह है :—

बुद्ध वाराणसी से विहार कर साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के महान् भिक्षु-संघ के साथ अंधकविंद की ओर चारिका के लिए चले। उस समय जनपद के लोग बहुत-सा नमक, तेल, तन्दुल और खाने की चीजें गाड़ियों पर रख 'जब हमारी बारी आएगी तब भोजन करायेंगे'—सोच बुद्ध सहित भिक्षु-संघ के पीछे-पीछे चलते थे। बुद्ध अंधकविंद पहुँचे। एक ब्राह्मण को बारी न मिलने से ऐसा हुआ—'पीछे-पीछे चलते हुए दो महीने से अधिक हो गए बारी नहीं मिल रही है। मैं अकेला हूँ, मेरे घर के बहुत से काम की हानि हो रही है। क्यो न मैं भोजन परसने को देखूं? जो परसने मे न हो उसको मैं दूं।' ब्राह्मण ने भोजन मे यवागू और लड्डू को न देखा। तब ब्राह्मण आनन्द के पास गया और बोला :—'तो आनन्द! भोजन में यवागू और लड्डू मैंने नहीं देखा। यदि मैं यवागू और लड्डू को तैयार कराऊँ तो क्या आप गौतम उसे स्वीकार करेंगे?' 'ब्राह्मण! मैं इसे भगवान से पूछूंगा।' आनन्द ने सभी बाते बुद्ध से कही। बुद्ध ने कहा 'तो आनन्द! वह ब्राह्मण तैयार करे।' आनन्द ने कहा—'तो ब्राह्मण तैयार करो।' ब्राह्मण दूसरे दिन बहुत-सा यवागू और लड्डू तैयार करा बुद्ध के पास लाया। बुद्ध और सारे संघ ने उन्हे ग्रहण किया[1]।

इस घटना से स्पष्ट है कि बौद्ध साधु अपने उद्देश्य से बनाया खाते थे और अपने लिए बनवा भी लेते थे।

९. क्रीतकृत (कीयगडं [क]) :

चूर्णि के अनुसार जो दूसरे से खरीदकर दी जाय वह वस्तु 'क्रीतकृत'[2] कहलाती है। टीका के अनुसार जो साधु के लिए क्रय की गई हो—खरीदी गई हो वह क्रीत और जो उससे निर्वर्तित है—कृत है—बनी हुई है—वह क्रीतकृत[3] है। इस शब्द के अर्थ—साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु अथवा साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु से बनाई हुई वस्तु—दोनों होते हैं। क्रीतकृत का वर्जन भी हिंसा-परिहार की दृष्टि से ही है। इस अनाचीर्ण का विस्तृत वर्णन आचार्य भिक्षु कृत साधु-आचार की ढालो मे मिलता है[4]। आगमो मे जहाँ-जहाँ औद्देशिक का वर्जन है वहाँ-वहाँ प्रायः सर्वत्र ही क्रीतकृत का वर्जन जुड़ा हुआ है। बौद्ध भिक्षु क्रीतकृत लेते थे। उसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं।

१० नित्याग्र (नियागं [ख]) :

जहाँ-जहाँ औद्देशिक का वर्जन है वहाँ-वहाँ 'नियाग' का भी वर्जन है।

आगमो मे 'नियाग' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानो पर हुआ है। 'नियागट्ठी' और 'नियाग-पडिवण्ण' ये भिक्षु के विशेषण हैं। 'उत्तराध्ययन', 'आचाराङ्ग' और 'सूत्रकृताङ्ग' मे व्याख्याकारो ने 'नियाग' का अर्थ मोक्ष, संयम या मोक्ष-मार्ग किया है।

अनाचार के प्रकरण मे 'नियाग' तीसरा अनाचार है। छठे अध्याय के ४९ वे श्लोक में भी इसका उल्लेख हुआ है। दोनो चूर्णिकार छठे अध्ययन मे प्रयुक्त 'नियाग' शब्द के अर्थ की जानकारी के लिए तीसरे अध्ययन की ओर संकेत करते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में उन्होंने 'नियाग' का अर्थ इस प्रकार किया है आदर पूर्वक निमन्त्रित होकर किसी एक घर से प्रतिदिन भिक्षा लेना 'नियाग', 'नियतता' या 'निबन्ध' नाम का अनाचार है। सहज भाव से, निमन्त्रण के बिना प्रतिदिन किसी घर की भिक्षा लेना 'नियाग' नही है[5]। टीकाकार ने दोनो स्थलो पर 'नियाग' का जो अर्थ किया है वह चूर्णिकारों के अभिमत से भिन्न नही है[6]।

१—विनयपिटक महावग्ग ६.४.३ पृ० २३४ से संक्षिप्त।

२—(क) अ० चू० : कीतकड जं किणिऊण दिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १११ : अन्यसत्क यत्क्रेतुं दीयते क्रीतकृतम्।

३—हा० टी० प० ११६ : क्रयणं - क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृत—निर्वर्तितं क्रीतकृतम्।

४—भिक्षु-ग्रन्थ (प्र० ख०) पृ० ८८९.९० आचार री चौपाई : २९.२४-३१।

५—(क) अ० चू० पृ० ६० : नियाग—प्रतिणियतं जं निब्बंधकरणं, ण तु ज अहासमावत्तीए दिणे दिणे भिक्खागहण।

(ख) जि० चू० पृ० १११,११२ : नियागं नाम निययत्ति वुत्तं भवति, त तु यदा आयरेण आमंतिओ भवइ जहा 'भगव! तुब्भेहिं मम दिणे दिणे अणुग्गहो कायव्वो' तदा तस्स अब्भुवगच्छंतस्स नियागं भवति, ण तु जत्थ अहाभावेण दिणे दिणे भिक्खा लब्भइ।

६—(क) हा० टी० प० ११६ : 'नियाग' मित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं न तु अनामन्त्रितस्य।

(ख) दश० ६.४८ हा० टी० प० २०३ : 'नियागं' ति—नित्यमामन्त्रित पिण्डम्।

आचार्य भिक्षु ने 'नियाग' का अर्थ नित्यपिंड—प्रतिदिन एक घर का आहार लेना किया है[1]। चूर्णिकार और टीकाकार के समय तक 'नियाग' शब्द का अर्थ यह नहीं हुआ। अवचूरिकार ने टीकाकार का ही अनुसरण किया है[2]। दीपिकाकार इसका अर्थ 'आमन्त्रित-पिंड का ग्रहण' करते हैं, 'नित्य' शब्द का प्रयोग नहीं करते[3]। स्तबकों (टबो) में भी यही अर्थ रहा है। अर्थ की यह परम्परा छूटकर 'एक घर का आहार सदा नहीं लेना' यह परम्परा कब चली, इसका मूल 'नित्य-पिंड' शब्द है। स्थानकवासी संप्रदाय में सम्भवत: 'नित्य-पिंड' का उक्त अर्थ ही प्रचलित था।

निशीथ भाष्यकार ने एक प्रश्न खड़ा किया—जो भोजन प्रतिदिन गृहस्थ अपने लिए बनाता है, उसके लिए यदि निमन्त्रण दिया जाय तो उसमें कौन-सा दोष है[4]? इसका समाधान उन्होंने इन शब्दों में किया—निमन्त्रण में अवश्य देने की बात होती है इसलिए वहाँ स्थापना, आधाकर्म, क्रीत, प्रामित्य आदि दोषों की सम्भावना है। इसलिए स्वाभाविक भोजन भी निमन्त्रणपूर्वक नहीं लेना चाहिए[5]। आचार्य भिक्षु को भी प्रतिदिन एक घर का आहार लेने में कोई मौलिक-दोष प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने कहा—इसका निषेध शिथिलता-निवारण के लिए किया गया है[6]।

'दशवैकालिक' में जो अनाचार गिनाये हैं उनका प्रायश्चित्त निशीथ सूत्र में बतलाया गया है। वहां 'नियाग' के स्थान में 'णितिय अग्गपिंड' ऐसा पाठ है[7]। चूर्णिकार ने 'णितिय' का अर्थ शाश्वत और 'अग्र' का अर्थ प्रधान किया है तथा वैकल्पिक रूप में 'अग्रपिण्ड' का अर्थ प्रथम बार दिये जाने वाला भोजन किया है[8]।

भाष्यकार ने 'णितिय-अग्गपिंड' के कल्पाकल्प के लिए चार विकल्प उपस्थित किये हैं—निमन्त्रण, प्रेरणा, परिमाण और स्वाभाविक। गृहस्थ साधु को निमन्त्रण देता है—भगवन्! आप मेरे घर आएँ और भोजन लें—यह निमन्त्रण है। साधु कहता है—मैं अनुग्रह करूँ तो तू मुझे क्या देगा? गृहस्थ कहता है—जो आपको चाहिए वही दूँगा। साधु कहता है—घर पर चले जाने पर तू देगा या नहीं? गृहस्थ कहता है—दूँगा। यह प्रेरणा या उत्पीडन है। इसके बाद साधु कहता है—तू कितना देगा और कितने समय तक देगा? यह परिमाण है। ये तीनों विकल्प जहाँ किए जायँ वह 'णितिय-पिंड' साधु के लिए अग्राह्य है। और जहाँ ये तीनों विकल्प न हों, गृहस्थ के अपने लिए बना हुआ सहज-भोजन हो और साधु सहज-भाव से भिक्षा के लिए चला जाये, वैसी स्थिति में 'णितिय-अग्गपिंड' अग्राह्य नहीं है।[9]

इसके अगले चार सूत्रों में क्रमश: नित्य-पिंड, नित्य-अपार्ध, नित्य-भाग और नित्य-अपार्ध-भाग का भोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[10]। इनका निषेध भी निमन्त्रण आदि पूर्वक नित्य भिक्षा ग्रहण के प्रसंग में किया गया है।

निशीथ का यह अर्थ 'दशवैकालिक' के अर्थ से भिन्न नहीं है। शब्द-भेद अवश्य है। 'दशवैकालिक' में इस अर्थ का वाचक 'नियाग'

१—(क) भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ७८२ आ० री चौ० १.११:।

नितको बहरे एकण घर को, क्यारां में एक आहार जी। दसवेकालक तीजा में कह्यो, साधु नें अणाचार जी॥

(ख) भिक्षु ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८९०-९१ : २९ ३२—४५।

२—अव० ३.२ अव० : नित्य निमन्त्रितस्य पिण्डम्—नित्य-पिण्डकम्।

३—दी० ३.२ : आमन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणम्।

४—नि० भा० १००३।

५—नि० भा० १००४-६।

६—आधाकर्मी ने मोलरो लीघो, ओतो निश्चय उघाड़ो असुद्ध।

मिण नित्यपिंड तो ढीला पडता जाणने वरज्यो आ तो तीर्थंकरा री बुद्ध॥

७—नि० २.३१ : जे भिक्खू णितियं अग्गपिंडं भुंजइ भुजंतं वा सातिज्जति।

८—नि० २.३१ : का० भाष्य—णितियं—धुवं सासयमित्यर्थः, अग्गं—वरं—प्रधानं, अहवा जं पढमं दिज्जति सो पुण भत्तट्ठो वा भिक्खाए वा होज्जा।

९—नि० भा० १०००-१००२

१०—नि० २.३२-३५ : जे भिक्खू णितियं पिंडं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।

जे भिक्खू णितियं अवड्ढं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।

जे भिक्खू णितियं भागं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।

जे भिक्खू णितियं अवड्ढभागं भुंजति, भुंजंतं वा सातिज्जति।

शब्द है। जबकि निशीथ में इसके लिए 'णितिय-अग्गपिंड' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। निशीथ-भाष्य (१००७) की चूर्णि में 'णितिय-अग्गपिंड' के स्थान मे 'णीयग्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है[१]। यहाँ 'णीयग्ग' शब्द विशेष मननीय है। इसका संस्कृत-रूप होगा 'नित्याग्र'। 'नित्याग्र' का प्राकृत-रूप 'णितिय-अग्ग' और 'णीयग्ग' दोनों हो सकते हैं। सम्भवतः णियाग' शब्द 'णीयग्ग' का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार 'णियग्ग' और 'णितिय-अग्ग' के रूप में 'दशवैकालिक' और 'निशीथ' का शाब्दिक-भेद भी मिट जाता है।

कुछ आचार्य 'नियाग' का संस्कृत-रूप 'नित्याक'[२] या 'नित्य' करते हैं, किन्तु उक्त प्रमाणों के आधार पर इसका संस्कृत-रूप 'नित्याग्र' होना चाहिए। निशीथ चूर्णिकार ने 'नित्याग्र पिंड' के अर्थ में निमन्त्रणादि-पिंड और निकाचना-पिंड का प्रयोग किया है[३]। इनके अनुसार 'नित्याग्र' का अर्थ नियमित-रूप से ग्राह्य-भोजन या निमन्त्रण-पूर्वक ग्राह्य भोजन होता है।

'नियाग' नित्याग्रपिण्ड का सक्षिप्त रूप है। 'पिंड' का अर्थ अग्र मे ही अन्तर्निहित किया गया है। यहाँ 'अग्र' का अर्थ अपरिभुक्त[४], प्रधान अथवा प्रथम हो सकता है[५]।

'णितिय-अग्ग' का 'णियाग' के रूप में परिवर्तन इस क्रम से हुआ होगा—णितिय-अग्ग=णिइय-अग्ग=णीय-अग्ग=णीयग्ग= णियग्ग=णियाग।

इसका दूसरा विकल्प यह है कि 'नियाग' का सस्कृत-रूप 'नियाग' ही माना जाए। 'यज्' का एक अर्थ दान है। जहाँ दान निश्चित हो वह घर 'नियाग' है[६]।

बौद्ध-साहित्य मे 'अग्ग' शब्द का घर के अर्थ मे प्रयोग हुआ है[७]। इस दृष्टि से 'नित्याग्र' का अर्थ 'नित्य-गृह' (नियत घर से भिक्षा लेना) भी किया जा सकता है। 'अग्र' का अर्थ प्रथम मानकर इसका अर्थ किया जाए तो जहाँ नित्य (नियमतः) अग्र-पिण्ड दिया जाए वहाँ भिक्षा लेना अनाचार है - यह भी हो सकता है।

'आचाराङ्ग' में कहा है[८]—जिन कुलो मे नित्य-पिण्ड, नित्य अग्र-पिण्ड, नित्य-भाग, नित्य-अपार्ध-भाग दिया जाए वहाँ मुनि भिक्षा के लिए न जाए। इससे जान पडता है कि उस समय अनेक कुलो मे प्रतिदिन नियत-रूप से भोजन देने का प्रचलन था जो नित्य-पिण्ड कहलाता था और कुछ कुलों मे प्रतिदिन के भोजन का कुछ अश ब्राह्मण या पुरोहित के लिए अलग रखा जाता था, वह अग्र-पिण्ड, अग्रासन, अग्र-कूर और अग्राहार कहलाता था[९]। नित्य-दान वाले कुलो मे प्रतिदिन बहुत याचक नियत-भोजन पाने के लिए आते रहते थे[१०]। उन्हे पूर्ण-पोष, अर्ध-पोष या चतुर्थांश-पोष दिया जाता था[११]। नित्याग्र-पिण्ड और नित्य-पिण्ड से वस्तु के अंतर की सूचना मिलती है। जो श्रेष्ठ आहार निमन्त्रण-पूर्वक नित्य दिया जाता था उसके लिए 'नित्याग्र-पिण्ड' और जो साधारण भोजन नित्य दिया जाता था उसके लिए 'नित्य-पिण्ड' का प्रयोग हुआ होगा।

पाणिनि ने प्रतिदिन नियमित-रूप से दिए जाने वाले भोजन को 'नियुक्त-भोजन' कहा है[१२]। इसके अनुसार जिस व्यक्ति को पहले नियमित रूप से भोजन दिया जाए वह 'आग्रभोजनिक' कहलाता है। इस सूत्र में पाणिनि ने 'अग्र-पिण्ड' की सामाजिक परम्परा के अनुसार व्यक्तियो के नामकरण का निर्देश किया है। साधारण याचक स्वय नियत भोजन लेने चले जाते थे। ब्राह्मण, पुरोहित और श्रमणो को

१—नि० भा० १००७ : ताहे णीयग्गपिंड गेण्हति।

२—उत्तराध्ययन २०.४७ की बृहद्वृत्ति।

३—नि० भा० १००५ चू० : तस्मान्निमन्त्रणादि-पिण्डो वर्ज्यः।
नि० भा० १००६ चू० : कारणे पुण णिकायणा-पिंड गेण्हेज्ज।

४—औ० वृ०।

५—नि० चू० २·३२ : 'अग्गं' वरं प्रधानं।

६—निश्चितो नियतो यागो दानं यत्र तन्नियागम्।

७—कुग्ग—कौर-गृह।

८—आ० चू० १.१९ : इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जइ, णितिए अग्गपिंडे दिज्जइ, णितिए भाए दिज्जइ, णितिए अवड्ढभाए दिज्जइ—तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिउमाणाइं णो भत्ताए वा पाणाए वा पविसेज्ज वा निक्खमेज्ज वा।

९—आ० चू० १.१९ वृ : शाल्योदनादे : प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यते सोऽग्रपिण्डः।

१०—आ० चू० १.१९ : तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिउमाणाइं।

११—आ० चू० १.१९।

१२—पाणिनि अष्टाध्यायी ४.४.४६ : तदस्मै दीयते नियुक्तम्।

आमन्त्रण या निमन्त्रण दिया जाता था। पुरोहितो के लिए निमन्त्रण को अस्वीकार करना दोष माना जाता था। बौद्ध-श्रमण निमन्त्रण पाकर भोजन करने जाते थे। भगवान् महावीर ने निमन्त्रणपूर्वक भिक्षा लेने का निषेध किया। भाष्य, चूर्णि और टीकाकार ने 'नियाग' का अर्थ आमन्त्रण-पूर्वक दिया जानेवाला भोजन किया। उसका आधार 'भगवती' मे मिलता है। वहाँ विशुद्ध भोजन का एक विशेषण 'अनाहूत' है[1]। वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—अनित्य-पिण्ड, अनभ्याहृत और अस्पर्धादत्त[2]। श्रीमद् जयाचार्य का अभिप्राय भी वृत्तिकार से भिन्न नही है[3]। 'प्रश्नव्याकरण' (संवर द्वार १) मे भी इसी अर्थ मे 'अणाहूय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार 'नियाग' और 'आहूत' का अर्थ एक ही है। नियाग का संस्कृत रूप 'निकाच' (निमन्त्रण) भी हो सकता है।

बौद्ध विनयपिटक मे एक प्रसग है जिससे 'नियाग'—नित्य आमन्त्रित का अर्थ स्पष्ट हो जाता है : "शाक्य महानाम के पास प्रचुर दवाइयाँ थी। उसने बुद्ध का अभिवादन कर कहा —'भन्ते ! मैं भिक्षु-संघ को चार महीने के लिए दवाइयाँ ग्रहण करने के लिए निमंत्रित करना चाहता हूँ।' बुद्ध ने निमन्त्रण की आज्ञा दी। पर भिक्षुओं ने उसके निमन्त्रण से दवाइयाँ नही ली। बुद्ध ने कहा 'भिक्षुओ ! अनुमति देता हू चार महीने तक दवाइयाँ ग्रहण करने के निमन्त्रण को स्वीकार करने की।' दवाइयाँ काफी बच गईं। महानाम ने पुन. चार महीने के लिए दवाइयाँ लेने का निमन्त्रण किया। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ पुनः चार महीने के लिए निमन्त्रण को स्वीकार करने की।' दवाइयाँ फिर भी बच गई। महानाम ने जीवन-भर दवाइया लेने का निमन्त्रण स्वीकार करने की विनती की। बुद्ध ने कहा – 'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ जीवन-भर दवाइयाँ ग्रहण करने के निमन्त्रण को स्वीकार करने की[4]।'

इससे स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षु स्थायी निमन्त्रण पर एक ही घर से रोज-रोज दवाइयाँ ला सकते थे। भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं के लिए ऐसा करना अनाचीर्ण बतलाया है।

११. अभिहृत (अभिहडाणि ख) :

आगमो मे जहाँ-जहाँ औद्देशिक, क्रीतकृत आदि का वर्णन है वहाँ अभिहृत का भी वर्णन है।

अभिहृत का शाब्दिक अर्थ है - सम्मुख लाया हुआ। अनाचीर्ण के रूप में इसका अर्थ है—साधु के निमित्त - उसको देने के लिए गृहस्थ द्वारा अपने ग्राम, घर आदि से उसके अभिमुख लाई हुई वस्तु[5]। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निशीथ मे मिलता है। वहाँ बताया है कि कोई गृहस्थ भिक्षु के निमित्त तीन घरो के आगे से आहार लाये तो उसे लेने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[6]। तीन घरो की सीमा भी वही मान्य है जहाँ से दाता की देने की प्रवृत्ति देखी जा सकती हो[7]। पिण्ड-निर्युक्ति मे सौ हाथ या उससे कम हाथ की दूरी से लाया हुआ आहार आचीर्ण माना है[8]। वह भी उस स्थिति मे जबकि उस सीमा मे तीन घरो से अधिक घर न हो।

'अभिहडाणि' शब्द बहुवचन मे है। चूर्णि और टीकाकार के अभिमत से अभिहृत के प्रकारो की सूचना देने के लिए ही बहुवचन

१– भग० ७.१.२७० · अकयमकारियमसकप्पियमणाहूयमकीयकडमणुदिट्ठ।

२ —उक्त सूत्र की टीका पृ०२९३ : न च विद्यते आहूतमाह्वानमामंत्रण नित्यं मद्गृहे पोषमात्रमन्न ग्राह्यमित्येव रूपं कर्म्मकराद्याकारणं वा साध्वर्थं स्थानान्तरादन्नाद्यानयनाय यत्र सोऽनाहूतः अनित्यपिण्डोऽनभ्याहृतो वेत्यर्थः, स्पर्धा वा आहूत तन्निषेधादनाहूतो दायकेनाऽस्पर्धया दीयमानमित्यर्थः।

३ —भग० जो० ढाल ११४ गाथा ४३ : गृही कहै नित्य प्रति मुज घर बहिरीयं रे, ते नित्य पिंड न लेवै मुनिराय रे।
अथवा साहमो आण्यो लेवै नहीं रे, ए अणाहूय नो अर्थ कहाय रे॥

4—Sacred Books of the Buddhists Vol XI. Book of the Discipline Part II pp. 368-373.

५—(क) अ० चू० पृ० ६० · अभिहड जं अभिमुहामाणीतं उवस्सए आणेऊण दिण्णं।
(ख) जि० चू० पृ० ११२।
(ग) हा० टी० प० ११६ : स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम्।

६—नि ३.१५ : जे भिक्खू गाहावइ-कुलं पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठे समाणे परं ति-घरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाण पडिग्गाहेति पडिग्गाहेंतं वा सातिज्जति।

७—पि० नि० ३.४४ : आइन्नमि (३) तिगिहा ते चिय उवओगपुव्वागा।

८—पि० नि० ३.४४ : हत्थसयं खलु देसो आरेणं होई देसदेसोय।

का प्रयोग किया है[1]। पिण्ड-निर्युक्ति और निशीथ-भाष्य में इसके अनेक प्रकार बतलाये हैं[2]।

बौद्ध-भिक्षु अभिहृत लेते थे। इसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं। एक घटना इस प्रकार है :

"एक बार एक ब्राह्मण ने नये तिलो और नये मधु को बुद्ध-सहित भिक्षु-सघ को प्रदान करने के विचार से बुद्ध को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। वह इन चीजों को देना भूल गया। बुद्ध और भिक्षु-सघ वापस चले गए। जाने के थोडी ही देर बाद ब्राह्मण को अपनी भूल याद आई। उसको विचार आया : 'क्यो न मैं नये तिलो और नये मधु को कुण्डो और घडो में भर आराम मे ले चलू।' ऐसा ही कर उसने बुद्ध से कहा - 'भो गौतम ! जिनके लिए मैंने बुद्ध-सहित भिक्षु-सघ को निमंत्रित किया था उन्ही नये तिलो और नये मधु को देना मैं भूल गया। आप गौतम उन नये तिलो और मधु को स्वीकार करे।' बुद्ध ने कहा : 'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ वहाँ से (गृहपति के घर से) लाए हुए भोजन की पूर्ति हो जाने पर भी अतिरिक्त न हो तो उसका भोजन करने की'।"[3]

यह अभिहृत का अच्छा उदाहरण है। भगवान् महावीर ऐसे अभिहृत को हिंसायुक्त मानते थे[4] और इसका लेना साधु के लिए अकल्प्य घोषित किया था।

'अगस्त्य चूर्णि' मे 'णियागाऽभिहडाणि य' 'णियाग अभिहडाणि य' ये पाठान्तर मिलते है। यहाँ समास के कारण प्राकृत में बहुवचन के व्यवहार मे कोई दोष नही है।

औद्देशिक यावत् अभिहृत : औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग और अभिहृत का निषेध अनेक स्थलो पर आया है। इसी आगम मे देखिए—५।१ ५५; ६.४७-५०; ८.२३। उत्तराध्ययन (२०.४८) मे भी इसका वर्जन है। 'सूत्रकृताङ्ग' में अनेक स्थलो पर इनका उल्लेख है। इस विषय मे महावीर के समकालीन बुद्ध का अभिप्राय भी सम्पूर्णत: जान लेना आवश्यक है। हम यहाँ ऐसी घटना का उल्लेख करते हैं जो बडी ही मनोरजक है और जिससे बौद्ध और जैन नियमो के विषय मे एक तुलनात्मक प्रकाश पड़ता है। घटना इस प्रकार है .

"निगठ सिह सेनापति बुद्ध के दर्शन के लिए गया। समझ कर उपासक बना। शास्ता के शासन मे स्वतन्त्र हो तथागत से बोला :

---

१ - (क) जि० चू० पृ०११२ : अभिहडाणित्ति बहुवयणेण अभिहडभेदा दरिसिता भवन्ति।
(ख) हा० टी० प० ११६ · बहुवचन स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थम्।
(ग) अ० चू० · अहवा अभिहडभेदसबंधणत्थ।

२—पि० नि० ३२६-४६; नि०भा०१४८३-८८ :

- अभिहृत
  - आचीर्ण
  - अनाचीर्ण
    - निशीथाभ्याहृत
    - नोनिशीथाभ्याहृत
      - स्वग्राम
        - गृहान्तर
        - नोगृहान्तर
      - परग्राम
        - स्वदेश
          - जलपथ द्वारा
            - नाव द्वारा
            - उडुप द्वारा
          - स्थलपथ द्वारा
            - जङ्घा द्वारा
            - पाद द्वारा
        - विदेश
          - जलपथ द्वारा
            - नाव द्वारा
            - उडुप द्वारा
          - स्थलपथ द्वारा
            - जङ्घा द्वारा
            - पाद द्वारा
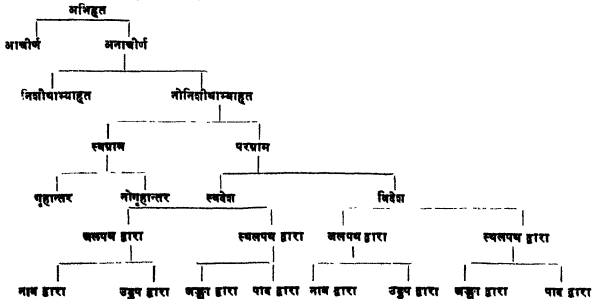
३—विनय पिटक : महावग्ग ६.३.११ पृ० २२८ से संक्षिप्त।

४—दश० ६.४८।

'भन्ते ! भिक्षु-संघ के साथ मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।' तथागत ने मौन से स्वीकार किया। सिंह सेनापति स्वीकृति जान तथागत को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया।

तब सिंह सेनापति ने एक आदमी से कहा—'जा तू तैयार मांस को देख तो।'

तब सिंह सेनापति ने उस रात के बीतने पर अपने घर में उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार करा, तथागत को काल की सूचना दी। तथागत वहाँ जा भिक्षु-संघ के साथ बिछे आसन पर बैठे।

उस समय बहुत से निगंठ वैशाली मे एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर, बाँह उठाकर चिल्लाते थे— 'आज सिंह सेनापति ने मोटे पशु को मारकर, श्रमण गौतम के लिए भोजन पकाया; श्रमण गौतम जान-बूझकर (अपने ही) उद्देश्य से किये, उस मांस को खाता है।'

तब किसी पुरुष ने सिंह सेनापति के कान में यह बात डाली।

सिंह बोला : 'जाने दो आर्यों ! चिरकाल से आयुष्मान् (निगठ) बुद्ध, धर्म, संघ की निन्दा चाहने वाले हैं। यह असत्, तुच्छ, मिथ्या=अ-भूत निंदा करते नही शरमाते। हम तो (अपने) प्राण के लिए भी जान-बूझकर प्राण न मारेंगे।'

सिंह सेनापति ने बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को अपने हाथ से उत्तम खाद्य-भोज्य से सतर्पित कर, परिपूर्ण किया।

तब तथागत ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण मे धार्मिक कथा कह भिक्षुओ को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ ! जान-बूझ कर (अपने) उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाये उसे दुक्कट का दोष हो। भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ (अपने लिए मारे को) देखे, सुने, संदेहयुक्त— इन तीन बातो से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की।'"[1]

इस घटना से निम्नलिखित बातें फलित होती है : (१) सिंह ने किसी प्राणी को नही मारा था (२) उसने बाजार से सीधा मास मँगवाकर उसका भोजन बनाया था, (३) सीधा मास लाकर बौद्ध भिक्षुओं के लिए भोजन बना खिलाना बुद्ध की दृष्टि मे औद्देशिक नही था, (४) पशु को मार कर मांस तैयार करना ही बुद्ध-दृष्टि मे औद्देशिक था और (५) अशुद्ध मास टालने के लिए बुद्ध ने जो तीन नियम दिये वे जैनों की आलोचना के परिणाम थे। उससे पहले ऐसा कोई नियम नही था।

उपर्युक्त घटना इस बात का प्रमाण है कि बुद्ध और बौद्ध-भिक्षु निमन्त्रण स्वीकार कर आमन्त्रित भोजन ग्रहण करते थे। त्रिपिटक मे इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं[2]। संघ-भेद की दृष्टि से देवदत्त ने श्रमण गौतम बुद्ध से जो पाँच बातें माँगी थी उनमे एक यह भी थी कि भिक्षु जिन्दगी-भर पिण्डपातिक (भिक्षा मांग कर खाने वाले) रहे। जो निमन्त्रण खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट ही है कि निमन्त्रण स्वीकार करने का रिवाज बौद्ध-संघ मे शुरू से ही था। बुद्ध स्वयं पहले दिन निमन्त्रण स्वीकार करते और दूसरे दिन सैकड़ों भिक्षुओ के साथ भोजन करते। बौद्ध श्रमणोपासक भोजन के लिए बाजार से वस्तुएं खरीदते, उससे खाद्य वस्तुएँ बनाते। यह सब भिक्षु-संघ को उद्देश्य कर होता था और बुद्ध अथवा बौद्ध-भिक्षुओं की जानकारी के बाहर भी नही हो सकता था। इसे वे खाते थे। इस तरह निमन्त्रण स्वीकार करने से बौद्ध-भिक्षु औद्देशिक, क्रीतकृत नियाग और अभिहृत - चारों प्रकार के आहार का सेवन करते थे, यह भी स्पष्ट ही है। देवदत्त ने दूसरी बात यह रखी थी कि भिक्षु जिन्दगी-भर मछली-मांस न खायें, जो खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे भी स्वीकार न किया और बोले : "अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित इन तीन कोटि से परिशुद्ध मांस की मैंने अनुज्ञा दी है।" इसका अर्थ भी इतना ही था कि उपासक द्वारा पशु नही मारा जाना चाहिए। उपासक ने भिक्षुओ के लिए पशु मारा है— यदि भिक्षु यह देख ले, सुन ले अथवा उसे इसकी शका हो जाय तो वह ग्रहण न करे अन्यथा वह ग्रहण कर सकता है[3]।

बौद्ध-भिक्षुओं को खिलाने के लिए सीधा मास खरीद कर उसे पकाया जा सकता था—यह सिंह सेनापति की घटना से स्वयं ही सिद्ध है। ऐसा करनेवाले के पाप नही माना जाता था किन्तु पुण्य माना जाता था; यह भी निम्नलिखित घटना से प्रकट होगा :

१—विनयपिटक : महावग्ग : ६.४.८ पृ० २४४ से संक्षिप्त।

२—Sacred Books of The Buddhists Vol. XI : Book of the Discipline Part II & III : Indexes pp. 421 & 430. See "Invitation."

३—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ७.२.७ पृ० ४८८।

"एक श्रद्धालु तरुण महामात्य ने दूसरे दिन के लिए बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को निमन्त्रित किया। उसे हुआ कि साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के लिए साढ़े बारह सौ थालियाँ तैयार कराऊँ और एक-एक भिक्षु के लिए एक-एक मांस की थाली प्रदान करूँ। रात बीत जाने पर ऐसा ही कर उसने तथागत को सूचना दी—'भन्ते ! भोजन का काल है, भात तैयार है।' तथागत भिक्षु-संघ सहित बिछे आसन पर जा बैठे। महामात्य चौके में भिक्षुओ को परोसने लगा। भिक्षु बोले : 'आवुस ! थोड़ा दो। आवुस ! थोड़ा दो।' 'भन्ते ! यह श्रद्धालु महामात्य तरुण है— यह सोच थोड़ा-थोड़ा मत लीजिए। मैंने बहुत खाद्य-भोज्य तैयार किया है। साढ़े बारह सौ मांस की थालियां तैयार की है जिससे कि एक-एक भिक्षु को एक-एक मांस की थाली प्रदान करूँ। भन्ते ! खूब इच्छापूर्वक ग्रहण कीजिए।' 'आवुस ! हमने सवेरे ही भोज्य यवागू और मधुगोलक खा लिया है, इसलिए थोड़ा-थोड़ा ले रहे हैं।' महामात्य असन्तुष्ट हो भिक्षुओं के पात्रों को भरता चला गया—'खाओ या ले जाओ। खाओ या ले जाओ।'

"तथागत संतर्पित हो वापस लौटे। महामात्य को पछतावा हुआ कि उसने भिक्षुओ के पात्रों को भर उन्हें यह कहा कि खाओ या ले जाओ। वह तथागत के पास आया और अपने पछतावे की बात बता पूछने लगा—'मैंने पुण्य अधिक कमाया या अपुण्य ?' तथागत बोले : 'आवुस ! जो कि तूने दूसरे दिन के लिए बुद्ध-सहित भिक्षु-सघ को निमन्त्रित किया इससे तूने बहुत पुण्य उपार्जित किया। जो कि तेरे यहाँ एक-एक भिक्षु ने एक-एक दान ग्रहण किया इस बात मे तूने बहुत पुण्य कमाया। स्वर्ग का आराधन किया।' 'लाभ हुआ मुझे, सुलाभ हुआ मुझे, मैंने बहुत पुण्य कमाया, स्वर्ग का आराधन किया'—सोच हर्षित हो तथागत को अभिवादन कर महामात्य प्रदक्षिणा कर चला गया[1]।"

यह घटना इस बात पर सुन्दर प्रकाश डालती है कि औद्देशिक, क्रीतकृत और नियाग आहार बौद्ध-भिक्षुओ के लिए वर्जनीय नही थे।

बुद्ध और महावीर के भिक्षा-नियमो का अन्तर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। महावीर औद्देशिक आदि चारो प्रकार के आहार ग्रहण में ही नही, अन्य वस्तुओ के ग्रहण मे भी स्पष्ट हिंसा मानते जब कि बुद्ध ऐसा कोई दोष नही देखते थे और आहार की तरह ही अन्य ऐसी वस्तुएँ ग्रहण करते थे। बौद्ध-सघ के के लिए विहार आदि बनाये जाते थे और बुद्ध तथा बौद्ध-भिक्षु उनमे रहते थे[2] जबकि महावीर औद्देशिक मकान में नही ठहरते थे।

महावीर के इन नियमो में अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन और गम्भीर विवेक है। जहाँ सूक्ष्म हिंसा भी उन्हें मालूम दी वहाँ उससे बचने का मार्ग उन्होने ढूँढ़ बताया। सूक्ष्म हिंसा से बचाने के लिए ही उन्होने भिक्षुओं से कहा था : "गृहस्थो द्वारा अनेक प्रकार के शस्त्रों से लोक-प्रयोजन के लिए कर्म-समारम्भ किये जाते हैं। गृहस्थ अपने लिए, पुत्रो के लिए, पुत्र-वधूओं के लिए, ज्ञातियों के लिए, धात्रियों के लिए, दासो के लिए, दासियों के लिए, कर्मकरों के लिए, कर्मकरियो के लिए, अतिथियों के लिए, विभिन्न उपहारों या उत्सवो के लिए, शाम के भोजन के लिए, प्रातःराश—कलेवे के लिए, ससार के किसी-न-किसी मानव के भोजन के लिए, सन्निधि-संचय करते हैं। भिक्षा के लिए उठा हुआ आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी अनगार सर्व प्रकार के आमगंध—औद्देशिक आदि आहार को जान उसे ग्रहण न करे, न कराए, न उसके ग्रहण का अनुमोदन करे। निरामगंध होकर विचरण करे[3]।"

१२. रात्रि-भक्त (राइभत्ते [ग]) :

रात्रि-भक्त के चार विकल्प होते हैं -(१) दिन में लाकर दूसरे दिन, दिन में खाना (२) दिन में लाकर रात्रि में खाना (३) रात में लाकर दिन में खाना और (४) रात में लाकर रात में खाना। इन चारों का ही निषेध है[4]।

१—विनयपिटक : महावग्ग ६.७५ पृ० २३५-३६ से संक्षिप्त।

२—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ६.३.१ पृ० ६४१-६२।

३—आ० १।२।१०४-१०८।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : तं रातिभत्तं चतुव्विहं, तं जहा—दिवा घेत्तुं बितियदिवसे दिवा भुंजति १ दिवा घेत्तुं रातिं भुंजति २ रातिं घेत्तुं दिवा भुंजति ३ रातिं घेत्तुं रातिं भुंजति ४।

(ख) जि० चू० पृ० ११२।

(ग) हा० टी० प० ११६ : "रात्रिभक्तं" रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणम्।

रात्रि-भोजन वर्जन को श्रामण्य का अविभाज्य अङ्ग माना है। रात में चारों आहारो में से किसी एक को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता[1]।

१३. स्नान (सिणाणे ग) :

स्नान दो तरह के होते हैं—देश-स्नान और सर्व-स्नान। शौच स्थानो के अतिरिक्त आंखो के भौं तक का भी धोना देश-स्नान है। सारे शरीर का स्नान सर्व-स्नान कहलाता है[2]। दोनो प्रकार के स्नान अनाचीर्ण हैं।

स्नान-वर्जन में भी अहिंसा की दृष्टि ही प्रधान है। इसी सूत्र (६.६१-६३) मे यह दृष्टि बड़े सुन्दर रूप में प्रकट होती है। वहाँ कहा गया है—"रोगी अथवा निरोग जो भी साधु स्नान की इच्छा करता है वह आचार से गिर जाता है और उसका जीवन संयम-हीन हो जाता है। अतः उष्ण अथवा शीत किसी जल से निर्ग्रन्थ स्नान नही करते। यह घोर अस्नान-व्रत यावज्जीवन के लिए है।" जैन-आगमों में स्नान का वर्जन अनेक स्थलों पर आया है[3]।

स्नान के विषय में बुद्ध ने जो नियम दिया वह भी यहाँ जान लेना आवश्यक है। प्रारम्भ में स्नान के विषय में कोई निषेधात्मक नियम बौद्ध-सघ में था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बौद्ध-साधु नदियों तक मे स्नान करते थे, ऐसा उल्लेख है। स्नान-विषयक नियम की रचना का इतिहास इस प्रकार है--उस समय भिक्षु तपोदा मे स्नान किया करते थे। एक बार मगध के राजा सेणिय-बिम्बिसार तपोदा में स्नान करने के लिए गए। बौद्ध साधुओं को स्नान करते देख वे एक ओर प्रतीक्षा करते रहे। साधु रात्रि तक स्नान करते रहे। उनके स्नान कर चुकने पर सेणिय-बिम्बिसार ने स्नान किया। नगर का द्वार बन्द हो चुका था। देर हो जाने से राजा को नगर के बाहर ही रात बितानी पड़ी। सुबह होते ही गन्ध-विलेपन किए वे तथागत के पास पहुँचे और अभिनन्दन कर एक ओर बैठ गए। बुद्ध ने पूछा—'आवुस! इतने सुबह गन्ध-विलेपन किए कैसे आए?' सेणिय-बिम्बिसार ने सारी बात कही। बुद्ध ने धार्मिक-कथा कह सेणिय-बिम्बिसार को प्रसन्न किया। उनके चले जाने के बाद बुद्ध ने भिक्षु-सघ को बुलाकर पूछा—'क्या यह सत्य है कि राजा को देख चुकने के बाद भी तुम लोग स्नान करते रहे?' 'सत्य है भन्ते!' भिक्षुओं ने जवाब दिया। बुद्ध ने नियम दिया: 'जो भिक्षु १५ दिन के अन्तर से पहले स्नान करेगा उसे पाचित्तिय का दोष लगेगा।' इस नियम के बन जाने पर गर्मी के दिनों मे भिक्षु स्नान नही करते थे। गात्र पसीने से भर जाता। इससे सोने के कपडे गन्दे हो जाते थे। यह बात बुद्ध के सामने लाई गई। बुद्ध ने अपवाद किया—'गर्मी के दिनों में १५ दिन से कम अन्तर पर भी स्नान किया जा सकता है।' इसी तरह रोगी के लिए यह छूट दी। मरम्मत मे लगे साधुओं के लिए यह छूट दी। वर्षा और आंधी के समय में यह छूट दी[4]।

महावीर का नियम था—"गर्मी से पीडित होने पर भी साधु स्नान करने की इच्छा न करे[5]।" उनकी अहिंसा उनसे स्नान के विषय में कोई अपवाद नही करा सकी। बुद्ध की मध्यम प्रतिपदा-बुद्धि सुविधा-असुविधा का विचार करती हुई अपवाद गढती गई।

भगवान् के समय में शीतोदक-सेवन से मोक्ष पाना माना जाता था। इसके विरुद्ध उन्होंने कहा—"प्रातः स्नान आदि से मोक्ष नही है[6]। सायंकाल और प्रातःकाल जल का स्पर्श करते हुए जल-स्पर्श से जो मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि जल-स्पर्श से मुक्ति

१—उत्त० १९.३० : चउव्विहे वि आहारे, राईभोयणवज्जणा।

२—(क) अ० चू० पृ० ६० : सिणाणं दुविहं देसतो सव्वतो वा। देससिणाणं लेवाडं मोत्तूणं जं धोव त्ति, सव्वसिणाणं जं ससीसोण्हाति।

(ख) जि० चू० पृ० ११२ : सिणाण दुविहं भवित, तं० देससिणाणं सव्वसिणाणं च, तत्थ देससिणाणं लेवाडयं मोत्तूण सेसं अच्छिपम्हपक्खालणमेत्तमवि देससिणाण भवइ, सव्वसिणाणं जो ससीसतो ण्हाइ।

(ग) हा० टी० प० ११६-१७ : 'स्नानं च'—देशसर्वभेदभिन्नं, देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि सर्व-स्नानं तु प्रतीतम्।

३—उत्त० २.९; १५.८; आ० चू० २.२.२.१, २.१३; सू० १.७.२१-२२; १.९.१३।

४—Sacred Book of The Buddhists Vol. XI. Part II. LVII pp. 400-405.

५—उत्त० २.९ : उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं वि नो पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं॥

६—सू० १.७.१३ : पाओसिणाणादिसु नत्थि मोक्खो।

हो तो जल में रहने वाले अनेक जीव मुक्त हो जाएँ ! जो जल-स्नान में मुक्ति कहते हैं वे अस्थान में कुशल हैं । जल यदि कर्म-मल को हरेगा तो सुख-पुण्य को भी हर लेगा । इसलिए स्नान से मोक्ष कहना मनोरथ मात्र है । मंद पुरुष अन्धे नेताओं का अनुसरण कर केवल प्राणियों की हिंसा करते हैं । पाप-कर्म करने वाले पापी के उस पाप को अगर शीतोदक हर सकता तब तो जल के जीवों की घात करने वाले जल-जन्तु भी मुक्ति प्राप्त कर लेते । जल से सिद्धि बतलाने वाले मृषा बोलते हैं । अज्ञान को दूर कर देख कि त्रस और स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं । तू त्रस और स्थावर जीवों की घात की क्रिया न कर । जो अचित्त जल से भी स्नान करता है वह नाग्न्य से—श्रमणभाव से दूर है[1] ।"

१४. गंध, माल्य (गन्धमल्ले [घ]) :

गन्ध —इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ[2] । माल्य —फूलों की माला[3] । इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है । गन्ध-माल्य साधु के लिए अनाचीर्ण है, यह उल्लेख भी अनेक स्थलों पर मिलता है[4] ।

'प्रश्नव्याकरण' में पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा कैसे होती है यह बताया गया है । वहाँ उल्लेख है कि गन्ध-माल्य के लिए मूढ़, दारुण-मति लोग वनस्पतिकाय के प्राणियों का घात करते हैं[5] । गन्ध बनाने में फूल या वनस्पति विशेष का मर्दन, घर्षण करना पड़ता है । माला में वनस्पतिकाय के जीवों का विनाश प्रत्यक्ष है । गन्ध-माल्य का निषेध वनस्पतिकाय और तदाश्रित अन्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचने की दृष्टि से भी किया गया है । विभूषा-त्याग और अपरिग्रह-महाव्रत की रक्षा की दृष्टि भी इसमें है । साधु को नाना पदार्थों की मनोज्ञ और भद्र सुगन्ध में आसक्त नहीं होना चाहिए —ऐसा कहा है[6] । चूर्णि और टीका में मालाएँ चार प्रकार की बताई गई हैं— ग्रथित, वेष्टित, पूरिम और सघातिम[7] । बौद्ध-आगम विनयपिटक में अनेक प्रकार की मालाओं का उल्लेख है[8] ।

१५. वीजन (वीयणे [घ]) :

तालवृन्तादि द्वारा शरीर अथवा ओदनादि को हवा डालना वीजन है[9] ।

जैन-दर्शन में 'षड्जीवनिकायवाद' एक विशेष वाद है[10] । इसके अनुसार वायु भी जीव है[11] । तालवृन्त, पखा, व्यजन, मयूरपंख आदि पखों से उत्पन्न वायु के द्वारा सजीव वायु का हनन होता है तथा सपातिम जीव मारे जाते हैं[12] । इसीलिए व्यजन का व्यवहार साधु

१—सू० १.७.१२-२२ ।

२—(क) अ० चू० पृ० ६० : गधा कोट्ठपुडादतो ।
　(ख) जि० चू० पृ० ११२ : गंधग्गहणेण कोट्ठपुडाइणो गधा गहिया ।
　(ग) हा० टी० प० ११७ : गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटादिपरिग्रहः ।

३—(क) अ० चू० पृ० ६० : मल्ल गथिम-पूरिम-सघातिम ।
　(ख) जि० चू० पृ० ११२ : मल्लग्गहणेण गथिमवेढिमपूरिमसंघाइम चउव्विहंपि मल्लं गहित ।
　(ग) हा० टी० प० ११७ : माल्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टितादेर्माल्यस्य ।

४—सू० १.९.१३ ।

५—प्रश्न० १.१ : गंध-मल्ल अणुलेवणं " एवमादिएहिं बहूहिं कारणसतेहिं हिंसंति ते तरुगणे, भणिता एवमादी सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति, दढमूढा दारुणमती ।

६—प्रश्न० २.५ ।

७—देखिए ऊपर पाद-टि० ३ ।

८—विनयपिटक : चुल्लवग्ग १.३.१ पृ० ३४९ ।

९—(क) अ० चू० पृ० ६० : वीयणं सरीरस्स भत्तातिणो वा उक्खेवादीहिं ।
　(ख) जि० चू० पृ० ११२ : वीयणं नाम धम्मत्तो अत्ताणं ओदणादि वा तालवेंटादीहिं वीयेति ।
　(ग) हा० टी० प० ११७ : वीजनं तालवृन्तादिना धर्म एव ।

१०—दश० ४; आ० १.१ ।

११—दश० ४ : वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

१२—(क) प्रश्न १.१ : सुप्प वियण तालवंट पेहुण मुह करयल सागपत्त वत्थमादिएहिं अनिलं हिंसति ।
　(ख) अ० चू० पृ० ६० : वीयणे संपातिमवायुवहो ।

के लिए अनाचीर्ण कहा है । इसी आगम में अन्य स्थलों[1] तथा अन्य आगमों मे भी[2] स्थान-स्थान पर इसका निषेध किया गया है। भीषण गर्मी में भी निर्ग्रन्थ साधु पंखा आदि झलकर हवा नहीं ले सकता[3] ।

श्लोक ३ :

१६. सन्निधि (सन्निही क) :

सन्निधि का वर्जन अनेक स्थलो पर मिलता है। सन्निधि—सचय का त्याग श्रामण्य का एक प्रमुख अग माना गया है।[4] कहा है—"सयमी मुनि लेश मात्र भी सग्रह न करे[5] ।" "सग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो लवण, तेल, घी, गुड अथवा अन्य किसी वस्तु के संग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है साधु नही—ऐसा मैं मानता हूं[6] ।"

सन्निधि शब्द बौद्ध-त्रिपिटको में भी मिलता है। बौद्ध-साधु आरम्भ में सन्निधि करते थे। संग्रह न करने के विषय में कोई विशेष नियम नही था। सर्वप्रथम नियम बनाया गया उसका इतिहास इस प्रकार है—उस समय श्रमण बेलथसीस[7], आनन्द के गुरु, जगल मे ठहरे हुए थे। वे भिक्षा के लिए निकले और पक्के चावल लेकर आराम में वापस आए। चावलो को सुखा दिया। जब जरूरत होती पानी से भिगो कर खाते। अनेक दिनो के बाद फिर वे ग्राम मे भिक्षा के लिए निकले। साधुओ ने पूछा—'इतने दिनो के बाद आप भिक्षा के लिए कैसे आए?' उन्होने सारी बाते कही। साधुओ ने पूछा—'क्या आप सन्निधिकारक भोजन करते है?' 'हां, भन्ते।' यह बात बुद्ध के कानों तक पहुँची। बुद्ध ने नियम बनाया—'जो भी सन्निधिकारक भोजन खाएगा उसे पाचित्तिय दोष होगा[8]।' रोगी साधु को छूट थी: 'भिक्षु को घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड (······) आदि रोगी भिक्षुओं के सेवन करने लायक पथ्य (भैषज्य) को ग्रहण कर अधिक-से-अधिक सप्ताह भर रखकर भोग कर लेना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने से उसे निस्सग्गियपाचित्तीय है[9]।'

रोगी साधु के लिए भी भगवान् महावीर का नियम था—"साधु को अनेक प्रकार के रोग-आतक उत्पन्न हो, वात-पित्त-कफ का प्रकोप हो, सन्निपात हो, तनिक भी शान्ति न हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त कर देने वाले रोग उपस्थित हो जाएँ तो भी उसको अपने लिए या अन्य के लिए औषध, भैषज्य, आहार-पानी का सचय करना नही कल्पता[10] ।"

१७. गृहि-अमत्र (गिहिमत्ते क)

अमत्र या मात्र का अर्थ है भाजन, बरतन। गृहि-अमत्र का अर्थ है गृहस्थ का भाजन[11]। सूत्रकृताङ्ग मे कहा है—"दूसरे के (गृहस्थ

१—दश० ४.१० ; ६.३८-४० ; ८.६ ।

२—आ० १.१.७ ; सू० १.६.८,६, १८ ।

३—उत्त० २.६ ।

४ उत्त० १६.३० : सन्निहीसंचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करं ।

५—(क) दश० ८.२४ : सन्निहिं च न कुव्वेज्जा अणुमायंपि संजए ।
(ख) उत्त० ६.१५ : सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए ।

६—दश० ६.१८ ।

७ - ये हजार जटिल साधुओं के स्थविर नेता थे ।

८—Sacred Books of the Buddhists Vol. VI : Book of Discipline Part II. pp. 338-440.

९—विनयपिटक : भिक्षु-पातिमोक्ष ४.२३ ।

१०—प्रश्न० २.५ पृ० २७७-२७८ : जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पकारंमि समुप्पन्ने वाताहिक-पित्त-सिंभ-अतिरित्त कुविय तह सन्निवातजाते व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल-तिउल-कक्खड-पगाढ-दुक्खे असुभ-कडुय फरुसे चंडफल-विवागे महब्भये जीवियंतकरणे सव्वसरीर-परितावणकरे न कप्पति तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसह-भेसज्जं, भत्त-पाणं च तंपि सन्निहिकयं ।

११—(क) अ० चू० पृ० ६० : अत्र गिहिमत्तं गिहिभायणं कंसपत्तादि ।
(ख) जि० चू० पृ० ११२ : गिहिमत्तं गिहिभायणंति ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : 'गृहिमात्रं' गृहस्थभाजनम् ।

के) बरतन में साधु अन्न या जल कभी न भोगे[1]।' इस नियम का मूलाधार अहिंसा की दृष्टि है। दशवैकालिक अ० ६ गा० ५०-५१ में कहा है : "ऐसा करनेवाला आचार से भ्रष्ट होता है। गृहस्थ बरतनों को धोते हैं, जिनमें सचित्त जल का आरम्भ होता है। बरतनों के धोवन के जल को यत्र-तत्र गिराने से जीवों की हिंसा होती है। इसमें असयम है।" साधु के निमित्त गृहस्थ को पहले या बाद में कोई सावद्य क्रिया—हलन-चलन न करनी पड़े—यह भी इसका लक्ष्य है[2]।

निर्ग्रन्थ-साधु ग्लान साधुओं के लिए आहार आदि लाते और उन्हें देते। अन्य दर्शनी आलोचना करते : 'तुम लोग एक दूसरे में मूच्छित हो और गृहस्थ के समान व्यवहार करते हो जो रोगी को इस प्रकार पिण्डपात लाकर देते हो। तुम लोग सरागी हो—एक दूसरे के वश में रहते हो, सत्पथ और सद्भाव से हीन हो। अतः तुम इस ससार का पार नहीं पा सकते।" संयमजीवी और मोक्ष-विशारद भिक्षु को इसका किस प्रकार उत्तर देना चाहिए यह बताते हुए भगवान महावीर ने कहा —"भिक्षुओ ! ऐसा आक्षेप करने वालो को तुम कहना — 'तुम लोग दो पक्षों का सेवन करते हो। तुम लोग गृहस्थ के पात्रों में भोजन करते हो तथा रोगी साधु के लिए गृहस्थ द्वारा लाया हुआ भोजन ग्रहण करते हो। इस तरह बीज और कच्चे जल तथा उस साधु के लिए जो उद्दिष्ट किया है उसका उपभोग करते हो। तुम लोग सद्विवेक से रहित और असमाहित हो, तीव्र अभिताप से अभितप्त हो। व्रण को अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं क्योंकि उससे उसमें विकार उत्पन्न होता है। अपने को अपरिग्रही मान तुम भिक्षा-पात्र नहीं रखते, उससे तुम्हें अशुद्ध आहार का परिभोग करना पड़ रहा है। यह तर्क कि गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेय है और भिक्षु के द्वारा लाया हुआ नहीं, उतना ही दुर्बल है जितना कि बाँस का अग्रभाग। 'साधु को दान देकर उसका उपकार करना चाहिए'—यह जो धर्म-देशना है वह सारम्भो—गृहस्थों को शुद्ध करने वाली है, साधुओं को नहीं—तुम्हारी यह दृष्टि भी उचित नहीं है। भगवान् के द्वारा पहले कभी भी इस दृष्टि से देशना नहीं की गई थी कि एषणा में अनुपयुक्त गृहस्थ ग्लान साधु का वैयावृत्त्य करे, एषणा में उपयुक्त साधु न करे[3]।" इस प्रसंग में जहाँ औद्देशिक और अभिहृत का खण्डन है वहाँ गृहस्थ के पात्र में भोजन करने पर भी आक्षेप है। इस प्रसग से यह भी स्पष्ट है कि अन्य श्रमण गृहि-पात्र में भोजन करते थे।

१८. राजपिण्ड, किमिच्छक (रायपिंडे किमिच्छए य) :

अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने 'किमिच्छक' को 'राजपिण्ड' का विशेषण माना है[4] और हरिभद्र सूरि 'किमिच्छक' को 'राजपिण्ड' का विशेषण भी मानते हैं और विकल्प के रूप में स्वतन्त्र भी[5]।

दोनों चूर्णिकारों के अभिमत से 'किमिच्छक-राजपिण्ड'—यह एक अनाचार है। इसका अर्थ है—राजा याचक को, वह जो चाहे वही दे, उस पिण्ड—आहार का नाम है 'किमिच्छक-राजपिण्ड'।

टीकाकार के अनुसार – कौन क्या चाहता है ? यों पूछकर दिया जाने वाला भोजन आदि 'किमिच्छक' कहलाता है।

'निशीथ' मे राजपिण्ड के ग्रहण और भोग का चातुर्मासिक-प्रायश्चित्त बतलाया है[6]। यहाँ किमिच्छक' शब्द का कोई उल्लेख नहीं है।

इस प्रसंग मे राजा का अर्थ 'मूर्धाभिषिक्त राजा' किया है।

निशीथ-चूर्णि के अनुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य भोग करता है, उसका पिण्ड

१—सू० १.६.२० : परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइ वि।

२—दश० ६.५२।

३—सू० १.३.३.८-१६ का सार।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिंडो। रायपिंडे-किमिच्छए - राया जो जं इच्छति तस्स त देति – एस रायपिंडो किमिच्छतो। 'तेहिं णियत्तणत्थं'—एसणा रक्खणाय एतेसिं अणातिण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० ११२-१३ : मुद्धाभिसित्तरण्णो ··· पिंडः—राजपिंडः, सो य किमिच्छतो अति भवति,—किमिच्छओ नाम राया किर पिंडं देंतो गेण्हंतस्स इच्छियं दलेइ, अतो सो रायपिंडो गेहिपडिसेहणत्थं एसणारक्खणत्थं च न कप्पइ।

५—हा० टी० प० ११७ : राजपिण्डो—नृपाहारः, कः किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः, राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन।

६—नि० ६.१-२ : जे भिक्खू रायपिण्डं गेण्हति गेण्हंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू रायपिण्डं भुंजति भुंजंतं वा सातिज्जति।

नहीं लेना चाहिए । अन्य राजाओं के लिए विकल्प है—दोष की सम्भावना हो तो न लिया जाये और सम्भावना न हो तो ले लिया जाए[1]।

राजघर का सरस भोजन खाते रहने से रस-लोलुपता न बढ़ जाये और 'ऐसा आहार अन्यत्र मिलना कठिन है' यों सोच मुनि अनेषणीय आहार लेने न लग जाये—इन सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर 'राजपिण्ड' लेने का निषेध किया है। यह विधान एषणा-शुद्धि की रक्षा के लिए है[2]। ये दोनों कारण उक्त दोनो सूत्रो की चूणियों में समान हैं। इनके द्वारा 'किमिच्छक' और 'राजपिण्ड' के पृथक् या अपृथक् होने का निर्णय नहीं किया जा सकता।

निशीथ-चूर्णिकार ने आकीर्ण दोष को प्रमुख बतलाया है। राज-प्रासाद मे सेनापति आदि आते-जाते रहते हैं। वहाँ मुनि के पात्र आदि फूटने की तथा चोट लगने की सभावना रहती है इसलिए 'राजपिण्ड' नही लेना चाहिए आदि-आदि[3]।

'निशीथ' के आठवें उद्देशक मे 'राजपिण्ड' से सम्बन्ध रखने वाले छः सूत्र हैं[4] और नवें उद्देशक में बाईस सूत्र हैं[5]। 'दसवैकालिक' में इन सबका निषेध 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' इन दो शब्दो में मिलता है। मुख्यतया 'राजपिण्ड' शब्द राजकीय भोजन का अर्थ देता है और 'किमिच्छक' शब्द 'अनाथपिण्ड', 'कृपणपिंड' और 'वनीपकपिंड' (निशीथ ८.१९) का अर्थ देता है। किन्तु सामान्यत: 'राजपिंड' शब्द में राजा के अपने निजी भोजन और 'राजसत्क' भोजन -राजा के द्वारा दिये जाने वाले सभी प्रकार के भोजन, जिनका उल्लेख निशीथ के उक्त सूत्रों मे हुआ है—का सग्रह होता है। व्याख्या-काल मे 'राजपिंड' का दुहरा प्रयोग हो सकता है—स्वतन्त्र रूप में और 'किमिच्छक' के विशेष्य के रूप में। इसलिए हमने 'राजपिंड' और 'किमिच्छक' को केवल विशेष्य-विशेषण न मानकर दो पृथक् अनाचार माना है और 'किमिच्छक' की व्याख्या के समय दोनो को विशेष्य-विशेषण के रूप मे सयुक्त भी माना है।

१९. संबाधन (संबाहणा ग) :

इसका अर्थ है—मर्दन। सबाधन चार प्रकार के होते हैं :

(१) अस्थि-सुख—हड्डियों को आराम देने वाला।
(२) मांस-सुख—मास को आराम देने वाला।
(३) त्वक्-सुख—चमडी को आराम देने वाला।
(४) रोम-सुख—रोओं को आराम देने वाला[6]।

२०. दंत-प्रधावन (दंतपहोयणा ग) :

देखिए 'दंतवण' शब्द का टिप्पण सख्या ४५।

२१. संप्रच्छन (संपुच्छणा घ) :

'संपुच्छणो' पाठान्तर है। 'संपुच्छणा' का सस्कृत रूप 'सप्रश्न' और संपुछणो' का सस्कृत 'संप्रोञ्छक' होता है। इन अनाचीर्ण के कई अर्थ मिलते हैं :

(१) अपने अग-अवयवो के बारे में दूसरे से पूछना। जो अङ्ग-अवयव स्वयं न दीख पड़ते हो, जैसे आँख, सिर, पीठ आदि उनके बारे में दूसरे से पूछना—ये सुन्दर लगते हैं या नही ? मैं कैसा दिखाई दे रहा हूँ ? आदि, आदि।
(२) गृहस्थो से सावद्य आरम्भ सम्बन्धी प्रश्न करना।

---

१ नि० भा० गा० २४९७ चू० :
२—चू० १.३.३.८-१६।
३—नि० भा० गा० २५०३-२५१०।
४—नि० ८.१४-१९।
५—नि० ९.१,२,६,८,१०,११,१३-१९,२१-२९।
६—(क) अ० चू० पृ० ६० : सबाधणा अट्ठिसुहा मंससुहा तयासुहा (रोमसुहा)।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : संबाहणा नाम चउव्विहा भवति, तजहा—अट्ठिसुहा मंससुहा तयासुहा रोमसुहा।
(ग) हा० टी० प० ११७।

(३) शरीर पर गिरी हुई रज को पोंछना, लूहना।
(४) अमुक ने यह कार्य किया या नहीं, यह दूसरे व्यक्ति (गृहस्थ) के द्वारा पुछवाना।
(५) रोगी (गृहस्थ) से पूछना—तुम कैसे हो, कैसे नहीं हो अर्थात् (गृहस्थ) रोगी से कुशल-प्रश्न करना।

'अगस्त्य चूर्णि' में प्रथम तीनों अर्थ दिये हैं। तीसरा अर्थ 'सपुंछणो' पाठान्तर मानकर किया है[1]। जिनदास महत्तर ने केवल पहला अर्थ किया है[2]। हरिभद्र सूरि ने पहले दो अर्थ किये हैं[3]। 'सूत्रकृताङ्ग चूर्णि' में पाँचो अर्थ मिलते हैं[4]। शीलाङ्क सूरि ने प्रथम तीन अर्थ दिये हैं[5]।

चूर्णिकार और टीकाकार इस शब्द के बारे में संदिग्ध हैं। अत: इसके निर्णय का कोई निश्चित आधार नहीं मिलता कि यह अनाचार 'सपुच्छण' है या 'संपुंछणो'। इसके विकल्प से भी कई अर्थ मिलते हैं। इसलिए सूत्रकार का प्रतिपाद्य क्या है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि छेद सूत्रों मे 'सपुच्छण' के प्रायश्चित्त की कोई चर्चा नही मिलती किंतु शरीर को सवारने और मैल आदि उतारने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है[6]।

'सपुंछण' का सम्बन्ध जल्ल-परीसह से होना चाहिए। पक, रज, मैल आदि को सहना जल्ल-परीषह है[7]।

संबाधन, दत-प्रधावन और देह-प्रलोकन—ये सारे शरीर से सम्बन्धित हैं और संपुच्छ (पुंछ)ण इनके साथ मे है इसलिए यह भी शरीर से सम्बन्धित होना चाहिए। निशीथ के छ: सूत्रो से इस विचार की पुष्टि होती है[8]। वहाँ क्रमश: शरीर के प्रमार्जन, सबाधन, अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन और रंगने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

१—(क) अ० चू० पृ० ६० : सपुच्छणं—जे अगावयवा सय न पेक्छति अच्छि सिर-पिट्ठमादि ते पर पुच्छति—'सोभति वा ण व त्ति'—अहवा गिहीण सावज्जारभा कता पुच्छति।

(ख) अ० चू० पृ० ६० : अहवा एव पाढो "संपुंछणो" कहंचि अंगे रयं पडित पुंछति—लूहेति।

२—जि० चू० पृ० ११३ : सपुच्छणा णाम अप्पणो अंगावयवाणि आपुच्छमाणो पर पुच्छइ।

३—हा० टी० प० ११७ : 'सप्रश्न:'—सावद्यो गृहस्थविषय:, राढार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूप:।

४—सू० १.६.२१ चू० : संपुच्छण णाम किं तत्कृतं न कृतं वा पुच्छावेति अण्णे······ग्लानं पुच्छति—किं ते वट्टति ? ण वट्टइ वा ?

५—सू० १.६.२१ टी० पृ० १८२ : तत्र गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छन आत्मीयशरीरावयवप्रच्छ (पुच्छ)न वा।

६—(क) नि० ३.२२ : जे भिक्खू अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा।

(ख) नि० ३ ६८ : जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेयं वा, जल्लं वा, पंकं वा, मलं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा।

७—उत्त० २.३६-३७ : किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण, साय नो परिदेवए॥
वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्मणुत्तरं।
जाव शरीरभेउ त्ति, जल्लं काएण धारए॥

८—नि० ३.२२-२७ : जे भिक्खू अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो कायं संबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, संबाहेंत वा पलिमद्देंत वा सातिज्जति॥
जे भिक्खू अप्पणो कायं तेल्लेण वा, घएण वा वसाए वा, णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा, अब्भंगेंत वा मक्खेंतं वा सातिज्जति॥
जे भिक्खू अप्पणो कायं लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उवट्टेज्ज वा, उल्लोलेंतं वा उव्वट्टेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो कायं सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो कायं फूमेज्ज वा रएज्ज वा, फूमेंतं वा रएंतं वा सातिज्जति।

२२. देह-प्रलोकन (देहपलोयणा ख) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है—दर्पण में रूप निरखना । हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है 'दर्पण आदि' मे शरीर देखना[१] । शरीर पात्र, दर्पण, तलवार, मणि, जल, तेल, मधु, घी, फाणित- राब, मद्य और चर्बी में देखा जा सकता है । इनमें शरीर देखना अनाचार है और निर्ग्रन्थ के ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है[२] ।

श्लोक ४ :

२३. अष्टापद (अट्ठावए क) :

दशवैकालिक के व्याख्याकारो ने इसके तीन अर्थ किये हैं ।

(१) द्यूत[३] ।

(२) एक प्रकार का द्यूत ।

(३) अर्थ-पद—अर्थ-नीति[४] ।

शीलाङ्क सूरि ने सूत्रकृताङ्ग मे प्रयुक्त 'अट्ठावय' का मुख्य अर्थ—अर्थ-शास्त्र और गौण अर्थ द्यूत-क्रीडाविशेष किया है[५] ।

बहत्तर कलाओं मे 'जूय'—द्यूत दसवी कला है और 'अट्ठावय'—अष्टापद तेरहवी कला है[६] । इसके अनुसार द्यूत और अष्टापद एक नही है ।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि ने 'अष्टापद' का अर्थ द्यूत किया है तथा अगस्त्यसिंह स्थविर और शीलाङ्क सूरि ने उसका अर्थ एक प्रकार का द्यूत किया है । इसे आज की भाषा मे शतरज कहा जा सकता है । द्यूत के साथ द्रव्य की हार-जीत का लगाव होता है अतः वह निर्ग्रन्थ के लिए सम्भव नही है । शतरज का खेल प्रधानतया आमोद-प्रमोद के लिए होता है । यह द्यूत की अपेक्षा अधिक सम्भव है इसलिए इसका निषेध किया है—ऐसा प्रतीत होता है ।

निशीथ चूर्णिकार ने 'अट्ठावय' का अर्थ संक्षेप मे द्यूत या चउरग द्यूत किया है[७] और वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ—अर्थ-पद किया है । किसी ने पूछा—भगवन् ! क्या सुभिक्ष होगा ? श्रमण बोला—मैं निमित्त नही जानता पर इतना जानता हूँ कि इस वर्ष प्रभात-

---

१—जि० चू० पृ० ११३ : पलोयणा नाम अद्दागे रूवनिरिक्खणं ।
हा० टी० प० ११७ : 'देहप्रलोकन च' आदर्शादावनाचरितम् ।

२—नि० १३.३१-३८ : जे भिक्खू मत्तए अप्पाणं देहति, देहंतं वा सातिज्जति ।
,, ,, अद्दाए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, असीए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, मणीए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, उडुपाणे ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, तेल्ले ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, फाणिए ,, ,, ,, ,, ,,
,, ,, वसाए ,, ,, ,, ,, ,,

३—जि० चू० पृ० ११३ : अट्ठावय जूय भण्णइ ।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : अट्ठावयं जूयप्पकारो । राया कहं जयजुत्तं गिहत्थाणं वा अट्ठावयं देति । केरिसो कालो ? त्ति पुच्छितो भणति ण याणामि, आगमेस्स पुण सुणका वि सालिकूरं ण भुंजंति ।

(ख) हा० टी० प० ११७ : 'अष्टापद' द्यूतम्, अर्थपदं वा—गृहस्थमधिकृत्य नीत्यादिविषयम् ।

५—सू० १.९.१७ प० १८१ : 'अट्ठावयं न सिक्खिज्जा'—अर्यते इत्यर्थो—धनधान्यहिरण्यादिकः पद्यते—गम्यते येनार्थस्तत्पदं—शास्त्रं अर्थार्थं पदमर्थपदं चाणक्यादिकमर्थशास्त्रं तच्च 'शिक्षेत्' नाभ्यस्येत् नाप्यपरं प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदिवा—'अष्टापदं' द्यूतक्रीडाविशेषस्तं न शिक्षेत, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति ।

६—समा० १.२० ।

७—नि० १३.१२ चू० २१ : अट्ठावय जूतं । नि० भा० ४२७९ चू० अट्ठावदं चउरंगेहि जूतं ।

काल में कुत्ते भी वध्यन्न खाना नहीं चाहेंगे। यह अर्थ-पद है। इसकी ध्वनि यह है कि सुभिक्ष होगा[1]। अगस्त्यसिंह भी यही अर्थ करते हैं।

दूसरे अर्थ की अपेक्षा पहला अर्थ ही वास्तविक लगता है और चउरंग शब्द का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है। वानदेर लिन्डे ने इस चउरंग (चतुरंग) शब्द को ही शतरंज का मूल माना है। मनमथ राय ने अष्टपद को शतरंज या उसका पूर्वज खेल माना है। वे लिखते हैं—"उन दिनों शतरंज का आविष्कार हुआ था या नहीं, इस विषय में कुछ सदेह है, तथापि प्राचीन पाली और प्राकृत-साहित्य में 'अट्ठपद' और 'दस-पद' शब्दों का बारम्बार उल्लेख हुआ है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने इनको 'एक प्रकार का जूआ' कहकर अपना पिंड छुड़ाया है। सुमंगल विलासीनि से पता चलता है कि पटरी पर आठ या दस छोटे-छोटे चौकोर खाने बने रहते थे, तथा प्रत्येक खाने में एक-एक गोटी होती थी। ऐसी दशा में यह समझना गलत नहीं होगा। कि यह एक प्रकार का शतरंज का खेल रहा होगा। कम से कम हम लोग इसे शतरज का पूर्वज मान सकते हैं। इसका अंग्रेजी नाम 'ड्राफ्ट' है। प्राचीन मिस्र में यह खेल प्रचलित था[2]।"

अन्यतीर्थिक, परिव्राजक व गृहस्थ को अष्टापद सिखाने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[3]।

२४. नालिका (नालीय[क]) :

यह द्यूत का ही एक विशेष प्रकार है। 'चतुर खिलाड़ी अपनी इच्छा के अनुकूल पासे न डाल दे'—इसलिए पासों को नालिका द्वारा डालकर जो जुआ खेला जाये उसे नालिका कहा जाता है[4]। यह अगस्त्य चूर्णि की व्याख्या है। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि के अभिमत इससे भिन्न नहीं हैं[5]।

सूत्रकृताङ्ग में 'अट्ठावय' का उल्लेख श्रु० १ अ० ६ के १७ वें श्लोक में और 'णालिय' का उल्लेख १८ वें श्लोक में हुआ है और उसका पूर्ववर्ती शब्द 'छत्र' है[6]। दशवैकालिक में 'णालिय' शब्द 'अट्ठावय' और 'छत्त' के मध्य में है। सम्भव है 'अट्ठावय' की सन्निधि के कारण व्याख्याकारों ने नालिका का अर्थ द्यूतविशेष किया हो किन्तु 'छत्तस्स' के आगे 'धारणट्ठाए' का प्रयोग है। उसकी ओर ध्यान दिया जाए तो 'नालिका' का सम्बन्ध छत्र के साथ जुड़ता है। जिसका अर्थ होगा कि छत्र को धारण करने के लिये नालिका रखना अनाचार है।

भगवान् महावीर साधना-काल में वज्रभूमि में गए थे। वहाँ उन्हें ऐसे श्रमण मिले जो कुत्तों से बचाव करने के लिए यष्टि और नालिका रखते थे[7]। वृत्तिकार ने यष्टि को देह-प्रमाण और नालिका को देह से चार अंगुल अधिक लंबा कहा है[8]। भगवान् ने दूसरों को डराने का निषेध किया है[9]। इसलिये संभव है स्वतन्त्ररूप से या छत्र-धारण करने के लिये नालिका रखने का निषेध किया हो।

१—नि० भा० गा० ४२८० चू० : अहवा – इमं अट्ठापदं—अम्मे ण वि जाणामो पुट्ठो अट्ठापयं इमं बेंति।
सुणगा वि सालिकूरं, णेच्छन्ति परं पभातम्मि॥
पुच्छितो अपुच्छितो ······एतिय पुण जाणामो परम पभायकाले दधिकूरं सुणगा वि जातिउ णेच्छिहिंति। अर्थपदेन ज्ञायते सुभिक्खं।

२—प्राचीन भारतीय मनोरंजन पृ० ५८।

३—नि० १३.१२ : जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा······अट्ठावयं·······सिक्खावेति, सिक्खावेंतं वा सातिज्जति।

४—अ० चू० पृ० ६१: णालिया जूयविसेसो, जत्थ 'मा इच्छितं पाडेहिति' त्ति णालियाए पासका छिज्जंति।

५—(क) जि० चू० पृ० ११३ : पासाओ छोढूण पाडिज्जति, मा किर सिक्खागुणेण इच्छंतिए कोई पाडेहिति।
(ख) हा० टी० प० ११७ : 'नालिका चे' ति द्यूतविशेषलक्षणा, यत्र मा भूत्कलयाऽन्यथा पाशकपातनमिति नलिकया पात्यन्त इति।

६—सू० १.६.१८ : पाणहाओ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं।

७—आ० ६.३.५,६ : एलिक्खए जणा भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय णालियं, समणा तत्थ एव विहरिंसु॥
एवंपि तत्थ विहरंता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥

८—आ० ६.३.५,६ टीका : ततस्तत्रान्ये श्रमणा: शाक्यादयो यष्टिं—देहप्रमाणां चतुरंगुलाधिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिवारणाय विजह्रुरिति।

९—नि० ११.६५ : जे भिक्खू परं बीभावेति, बीभावेंतं वा सातिज्जति।

नालिका का अर्थ छोटी या बड़ी डंडी भी हो सकता है । जहाँ नालिका का उल्लेख है, वहाँ छत्र-धारण, उपानत् आदि का भी उल्लेख है। चरक में भी पदत्र-धारण, छत्र-धारण, दण्ड-धारण आदि का पास-पास में विधान मिलता है ।

नालिका नाम घड़ी का भी है। प्राचीन काल में समय की जानकारी के लिए नली वाली रेत की घड़ी रखी जाती थी। ज्योतिष्करण्ड में नालिका का प्रमाण बतलाया है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में नालिका के द्वारा दिन और रात को आठ-आठ भागों में विभक्त करने का निरूपण मिलता है[1]।

नालिका का एक अर्थ मुरली भी है। बास के मध्य मे पर्व होते हैं। जिस बास के मध्य मे पर्व नही होते, उसे 'नालिका', लोक-भाषा में मुरली कहा जाता है[2]।

जैन साहित्य में नालिका का अनेक अर्थों मे प्रयोग हुआ है इसलिये ये कल्पनाएँ हो सकती हैं।

जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति (२) मे बहत्तर कलाओ के नाम है। वहाँ द्यूत (जूय) दसवीं, अष्टापद (अट्ठावय) तेरहवी और नालिका खेल (नालिया खेड) छियासठवीं कला है। वृत्तिकार ने द्यूत का अर्थ साधारण जुआ, अष्टापद का अर्थ सारी फलक से खेला जाने वाला जुआ और नालिका खेल का अर्थ इच्छानुकूल पासा डालने के लिए नालिका का प्रयोग किया जाये वैसा द्यूत किया है[3]।

इससे लगता है कि अनाचार के प्रकरण मे नालिका का अर्थ द्यूत विशेष ही है।

२५. छत्र धारण करना (छत्तस्स य धारणट्ठाए [ख]) :

वर्षा तथा आतप निवारण के लिए जिसका प्रयोग किया जाय, उसे 'छत्र' कहते हैं[4]। सूत्रकृताङ्ग मे कहा है — "छत्र को कर्मोत्पादन का कारण समझ विज्ञ उसका त्याग करे[5]।" प्रश्नव्याकरण मे छत्ता रखना साधु के लिए अकल्प्य कहा है[6]। यहाँ छत्र-धारण को अनाचरित कहा है। इससे प्रकट है कि साधु के लिए छत्र का धारण करना निषिद्ध रहा है।

---

१ — अधिकरण १ प्रकरण १६ : नालिकाभिरहरष्टधारात्रिश्च विभजेत् ।

२ — (क) नि० भा० गा० २३६ : सुप्पे य तालवेंटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य ।
अच्छिफुमे पव्वए, णालिया चेव पत्ते य ॥

(ख) नि० भा० गा० २३६ चू० पृ० ८४ : पव्वए त्ति वंसो भण्णति, तस्स मज्झे पव्व भवति, णालिय त्ति अपव्वा भवति, सा पुण लोए 'मुरली' भण्णति ।

३ — दशवैकालिक के व्याख्याकार और जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति के व्याख्याकार नालिका के अर्थ में एकमत नहीं हैं। ये उनके व्याख्या शब्दो से (जो यहाँ उद्धृत हैं) जाना जा सकता है।

(क) जम्बू० वृत्ति पत्र० १३८, १३९ : द्यूत सामान्यतः प्रतीतम् ··अष्टापद सारिफलकद्यूतं तद्विषयककला···नालिकाखेलं द्यूतविशेषं मा भूदिष्टदायविपरीतपाशक निपातनमितिनालिकया यत्र पाशक. पात्यते, द्यूत ग्रहणे सत्यपि अभिनिवेश-निबन्धनत्वेन नालिकाखेलं प्राधान्यज्ञापनार्थं भेदेन ग्रहः।

(ख) हा० टी० प० ११७ : अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यप्यभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेन उपादानम्; अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधति, अस्मिन् पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणम्, अष्टापदद्यूत-विशेषपक्षे चोभयोरिति ।

४ — (क) अ० चू० पृ० ६१ : छत्तं आतवधारणं ।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ . छत्तं नाम वासायवनिवारण ।

५ — सू० १.९.१८ : पाणहाओ य छत्तं च, × × × ।
× × × ×, तं विज्जं परिजाणिया ॥

टी० आतपादिनिवारणाय छत्र·······तदेतत्सर्वं 'विद्वान्'—पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान-परिज्ञया परिहरेदिति ।

६ — प्रश्न० सं० ५ : न छाण-जुग्ग-सयणाइ न छत्तकं····कप्पइ गणत्तावि धरिजेसुं।

आचाराङ्ग में कहा है—श्रमण जिनके साथ रहे उनकी अनुमति लिए बिना उनके छत्र यावत् चर्म-छेदनक को न ले[1]। इससे प्रकट होता है कि साधु छत्र रखते और धारण करते थे।

आगमों के इन विरोधी विधानो की परस्पर सगति क्या है, यह एक प्रश्न है। कोई समाधान दिया जाय उसके पहले निम्न विवेचनों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(१) चूर्णियों में कहा है—'अकारण में छत्र-धारण करना नही कल्पता, कारण में कल्पता है[2]।" कारण क्या समझना चाहिए। इस विषय में चूर्णियों में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यदि वर्षा और आतप को ही कारण माना जाय और इनके निवारण के लिए छत्र-धारण कल्पित हो तो यह अनाचार ही नही टिकता क्योंकि इन परिस्थितियो के अतिरिक्त ऐसी कोई दूसरी परिस्थिति साधारणत: कल्पित नहीं की जा सकती जब छाता लगाया जाता हो। ऐसी परिस्थिति मे चूर्णियो द्वारा प्रयुक्त 'कारण' शब्द किसी विशेष परिस्थिति का द्योतक होना चाहिए, वर्षा या आतप जैसी परिस्थितियों का नही। इस बात की पुष्टि स्वय पाठ से ही हो जाती है। यहाँ पाठ में 'छत्तस्स य' के बाद मे 'धारणट्ठाए' शब्द और है। 'अट्ठाए' का तात्पर्य—अर्थ या प्रयोजन है। भावार्थ हुआ—अर्थ या प्रयोजन से छत्ते का धारण करना अर्थात् धूप या वर्षा से बचने के लिए छत्र का धारण करना अनाचार है[3]।

(२) टीकाकार लिखते हैं—अनर्थ —बिना मतलब अपने या दूसरे पर छत्र का धारण करना अनाचार है—आगाढ़ रोगी आदि के द्वारा छत्र-धारण अनाचार नही है[4]। प्रश्न हो सकता है टीकाकार अनर्थ छत्र धारण करने का अर्थ कहाँ से लाए ? इसका स्पष्टीकरण स्वय टीकाकार ने ही कर दिया है। उनके मत से मूत्र-पाठ अर्थ की दृष्टि से "छत्तस्स य धारणमणट्ठाए' है। किन्तु पद-रचना की दृष्टि से प्राकृत शैली के अनुसार अनुस्वार, अकार और नकार का लोप करने से "छत्तस्स य धारणट्ठाए" ऐसा पद शेष रहा है। साथ ही वे कहते हैं --परम्परा से ऐसा ही पाठ मान कर अर्थ किया जाता रहा है। अत: श्रुति-प्रमाण भी इसके पक्ष मे है[5]। इस तरह टीकाकार ने 'अट्ठाए' के स्थान मे 'अणट्ठाए' शब्द ग्रहण कर अर्थ किया है। उनके अनुसार गाढ़ रोगादि अवस्था मे छत्र धारण किया जा सकता है और वह अनाचार नही है।

(३) आगमो मे इस सम्बन्ध मे अन्यत्र प्रकाश नही मिलता। केवल व्यवहार सूत्र में कहा है : "स्थविरो को छत्र रखना कल्पता है[6]।

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते है :

(१) वर्षा और आतप निवारण के लिए साधु के द्वारा छत्र-धारण करना अनाचार है।

(२) शोभा महिमा के लिए छत्र-धारण करना अनाचार है।

(३) गाढ़ रोगादि की अवस्था मे छत्र धारण-करना अनाचार नही।

(४) स्थविर के लिए भी छत्र-धारण करना अनाचार नही।

ये नियम स्थविर-कल्पी साधु को लक्ष्य कर किए गये है। जिन-कल्पी के लिए हर हालत मे छत्र-धारण करना अनाचार है।

छत्ता धारण करने के विषय मे बौद्ध-भिक्षुओं के नियम इस प्रकार हैं। नीरोग अवस्था मे छत्ता धारण करना भिक्षुणी के लिए

१—आ० चू० ७.३ : जेहिंवि सद्धिं सपव्वइए तेसिंपि जाइं भिक्खू छत्तगं वा, मत्तयं वा, दंडगं वा, लट्ठियं वा, भिसियं वा, नालियं वा, चेलं वा, चिलिमिलिं वा, चम्मयं वा, चम्मकोसयं वा, चम्मछेयणगं वा— तेसिं पुव्वामेव ओग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो गिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा · · ···· · ·· ··· ।

२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तस्स धारणकारणे ण कप्पति।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : छत्त ····· अकारणे धरिउं न कप्पइ, कारणेण पुण कप्पति।

३—मिलाएँ : Dasavealiya sutta (K. V. Abhyankar) 1938 : Notes chap. III p. 11 : "The writer of the vritti translates the word as धारणमर्थाय, and explains it as 'holding the umbrella for a purpose'."

४—हा० टी० प० ११७ : 'छत्रस्य च' लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं वा प्रति अनर्थाय इति, आगाढग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वाऽनाचरितम्।

५—हा० टी० प० ११७ : प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथाश्रुतिप्रामाण्यादिति।

६—व्यव० ८.५ : थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा।

बोधकारक था[1]। भिक्षु पहले छत्ता धारण नहीं करते थे। एक बार संघ को छत्ता मिला। बुद्ध ने छत्ते की अनुमति दी। षड्वर्गीय भिक्षु छत्ता लेकर टहलते थे। उस समय एक बौद्ध उपासक बहुत से याभी आजीवकों के अनुयायियों के साथ बाग में गया था। उन आजीवक-अनुयायियों ने षड्वर्गीय भिक्षुओं को छत्ता धारण किये आते देखा। देखकर वे उस उपासक से बोले : "आवुसो ! यह तुम्हारे भदन्त हैं, छत्ता धारण करके आ रहे हैं, जैसे कि गणक महामात्य।" उपासक बोला : आर्यो ! ये भिक्षु नहीं हैं, ये परिव्राजक हैं।" पर पास में आने पर वे बौद्ध-भिक्षु ही निकले। उपासक हैरान हुआ—'कैसे भदन्त छत्ता धारण कर टहलते हैं !" भिक्षुओं ने उपासक के हैरान होने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने नियम किया—"भिक्षुओ ! छत्ता न धारण करना चाहिए। यह दुक्कट का दोष है।" बाद मे रोगी को छत्ते के धारण की अनुमति दी। बाद में अरोगी को आराम में और आराम के पास छत्ता धारण की अनुमति दी[2]।

२६. चैकित्स्य (तेगिच्छं [ग])

चूर्णिकार और टीकाकार ने चैकित्स्य का अर्थ 'रोगप्रतिकर्म' अथवा 'व्याधिप्रतिक्रिया' किया है[3] अर्थात् रोग का प्रतिकार करना—उपचार करना चैकित्स्य है।

उत्तराध्ययन में कहा है : रोग उत्पन्न होने पर वेदना से पीडित साधु दीनतारहित होकर अपनी बुद्धि को स्थिर करे और उत्पन्न रोग को समभाव से सहन करे। आत्मशोधक मुनि चिकित्सा का अभिनन्दन न करे। चिकित्सा न करना और न कराना—यही निश्चय से उसका श्रामण्य है[4]।"

निर्ग्रन्थों के लिए निष्प्रतिकर्मता—चिकित्सा न करने का विधान रहा है। यह महाराज बलभद्र, महारानी मृगा और राजकुमार मृगापुत्र के संवाद से स्पष्ट है। माता-पिता ने कहा : "पुत्र ! श्रामण्य मे निष्प्रतिकर्मता बहुत बडा दुःख है। तुम उसे कैसे सह सकोगे ?" मृगापुत्र बोला : "अरण्य मे पशु-पक्षियों के रोग उत्पन्न होने पर उनका प्रतिकर्म कौन करता है ? कौन उन्हे औषध देता है ? कौन उनसे सुख पूछता है ? कौन उन्हे भोजन-पानी लाकर देता है ? जब वे सहज-भाव से स्वस्थ होते है, तब भोजन पाने के लिए निकल पड़ते हैं। माता ! पिता ! मैं भी इस मृगचर्या को स्वीकार करना चाहता हूँ[5]।"

१—विनयपिटक : भिक्खुनी-पातिमोक्ख . छत्त-वग्ग ss ४.८४ पृ० ५७।

२—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ५ss३.३ पृ० ४.३८-३९

३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तेगिच्छं रोगपडिकम्मं।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : तिगिच्छा नाम रोगपडिकम्म करेइ।

(ग) हा० टी० प० ११७ : चिकित्साया भावश्चैकित्स्यं—व्याधिप्रतिक्रियारूपमनाचरितम्।

४—उत्त० २.३२-३३ :

नच्चा उप्पइय दुक्ख, वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं, पुट्ठो तत्थहियासए॥
तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा, सचिक्खत्तगवेसए।
एव खु तस्स सामण्ण, जं न कुज्जा न कारवे॥

५—उत्त० १९.७५,७६,७८,७९ :

त बिन्तम्मापियरो, छन्देणं पुत्त ! पव्वया।
नवर पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया॥
सो बित ऽम्मापियरो !, एवमेय जहाफुड।
पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिण ?॥
जया मिगस्स आयंको, महारण्णम्मि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे तिगिच्छई ?॥
को वा से ओसह देइ, को वा से पुच्छई सुहं ?।
को से भत्तं च पाणं च, आहरित्त पणामए॥

भगवान् महावीर ने अपने दीर्घ साधना-काल में कभी चैकित्स्य का सहारा नहीं लिया। आचाराङ्ग में कहा है : "रोग से स्पृष्ट होने पर भी वे चिकित्सा की इच्छा तक नहीं करते थे[1]।"

उत्तराध्ययन के अनुसार जो चिकित्सा का परित्याग करता है वही भिक्षु है[2]।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है—साधु 'आसूणि' को छोड़े[3]। यहाँ 'आसूणि' का अर्थ घृतादि के आहार अथवा रसायन क्रिया द्वारा शरीर को बलवान बनाना किया गया है[4]।

उक्त संदर्भों के आधार पर जान पड़ता है कि निर्ग्रन्थों के लिए निष्प्रतिकर्मता का विधान रहा है। पर साथ ही यह भी सत्य है कि साधु रोगोपचार करते थे। द्रव्य औषध के सेवन द्वारा रोग-शमन करते थे। आगमों में यत्र-तत्र निर्ग्रंथों के औषधोपचार की चर्चा मिलती है।

भगवान् महावीर पर जब गोशालक ने तेजो लेश्या का प्रयोग किया तब भगवान् ने स्वयं औषध मँगाकर उत्पन्न रोग का प्रतिकार किया था[5]। श्रावक के बारहवें व्रत—अतिथि संविभाग व्रत का जो स्वरूप है उसमें साधु को आहार आदि की तरह ही श्रावक औषध-भैषज्य से भी प्रतिलाभित करता रहे ऐसा विधान है[6]।

ऐसी परिस्थिति मे सहज ही प्रश्न होता है—जब चिकित्सा एक अनाचार है तो साधु अपना उपचार कैसे करते रहे ? सिद्धान्त और आचार मे यह असगति कैसे ? हमारे विचार में चिकित्सा अनाचार का प्रारंभिक अर्थ चिकित्सा न करना रहा, किन्तु जिनकल्प मुनि चिकित्सा नही कराते और स्थविरकल्प मुनि विधिपूर्वक चिकित्सा करा सकते हैं इस स्थापना के बाद चिकित्सा अनाचार का अर्थ यह हो गया—अपनी सावद्य चिकित्सा करना या दूसरे से अपनी सावद्य चिकित्सा करवाना। इसका समर्थन आगमो से भी होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे पुष्प, फल, कन्द-मूल तथा सब प्रकार के बीज साधु को औषध, भैषज्य, भोजन आदि के लिए अग्राह्य बतलाये हैं[7]। क्योंकि ये जीवों की योनियां हैं। उनका उच्छेद करना साधु के लिए अकल्पनीय है[8]। ऐसा उल्लेख है कि कोई गृहस्थ मन्त्रबल अथवा कन्द-मूल, छाल या वनस्पति को खोद या पकाकर मुनि की चिकित्सा करना चाहे तो मुनि को उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए और न ऐसी चिकित्सा करानी चाहिए[9]।

१—(क) आ० ६.४.१ : पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा णो से सातिज्जति तेइच्छं।

(ख) आ० ६.४.१ टीका प० २८४ : स च भगवान् स्पृष्टो वा अस्पृष्टो वा कासश्वासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलषति, न द्रव्यौषधाद्युपयोगतः पीडोपशम प्रार्थयतीति।

२—उत्त० १५.८ : आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू।

३—सू० ६.१५ : आसूणिमक्खिरागं च, ············ · ·· ।
··· ········· ··· , तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

४—सू० १.६.१५ की टीका : येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रिया वा अशूनः सन् आ—समन्तात् शूनीभवति—बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते।

५—भग० श० १५ पृ० ३६३-४ : तं गच्छह णं तुमं सीहा! मेंढियगामं णगरं, रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए, तमाहराहि, एएणं अट्ठो। तए णं···समणे भगवं महावीरे अमुच्छिए जाव अणज्झोववन्ने बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं तमाहारं सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवति। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समाणस्स से विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसमं पत्ते, हट्ठे जाए, आरोग्गे, बलियसरीरे।

६—उपा० १.५८ : कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं ···ओसह-भेसज्जेणं च पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

७—प्रश्न० सं० ५ : ण यावि पुप्फफलकंदमूलादियाइं सणसत्तरसाइं सव्वधन्नाइं तिहिवि जोगेहिं परिघेत्तुं ओसह-भेसज्ज भोयणट्ठाए संजयेणं।

८—प्रश्न० सं० ५ : किं कारणं ··जिणवरिंदेहिं एस जोणी जंगमाणं दिट्ठा ण कप्पइ जोणिसमुच्छेदोत्ति, तेण वज्जंति समणसीहा।

९—आ० चू० १३.७८ : (से से परो) (से अण्णमण्णं) सुद्धेणं वा वइ-बलेणं तेइच्छं आउट्टे,
(से से परो) (से अण्णमण्णं) असुद्धेणं वा वइ-बलेणं तेइच्छं आउट्टे,
(से से परो) (से अण्णमण्णं) गिलाणस्स सचित्ताणि कंदाणि वा, मूलाणि वा, तयाणि वा, हरियाणि वा, खणित्तु वा, कड्ढेत्तु वा, कड्ढावेत्तु वा, तेइच्छं आउट्टेज्जा—णो तं साइए, णो तं नियमे।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बौद्ध-भिक्षु चिकित्सा में सावद्य-निरवद्य का भेद नहीं रखते थे। बौद्ध-भिक्षुओं को रीछ, मछली, सोंस, सुअर आदि की चर्बी काल से ले, काल से पका, काल से मिला सेवन करने से दोष नहीं होता था। हल्दी, अदरक, वच तथा अन्य भी जड़ वाली दवाइयाँ ले बौद्ध-भिक्षु जीवन-भर उन्हें रख सकते थे और प्रयोजन होने पर उनका सेवन कर सकते थे। इसी तरह नीम, कुटज, तुलसी, कपास आदि के पत्तों तथा विडंग, पिप्पली आदि फलों को रखने और सेवन करने की छूट थी। अ-मनुष्य वाले रोग में कच्चे मांस और कच्चे खून खाने-पीने की अनुमति थी[1]। निर्ग्रन्थ-श्रमण ऐसी चिकित्सा कभी नहीं कर सकते थे।

चिकित्सा का एक अन्य अर्थ वैद्यकवृत्ति -गृहस्थों की चिकित्सा करना भी है।

उत्तराध्ययन मे कहा है --"जो मंत्र, मूल—जड़ी-बूटी और विविध वैद्यचिन्ता--वैद्यक-उपचार नहीं करता वह भिक्षु है[2]।"

सोलह उत्पादन दोषो मे एक दोष चिकित्सा भी है[3]। उसका अर्थ है—औषधादि बताकर आहार प्राप्त करना। साधु के लिए इस प्रकार आहार की गवेषणा करना वर्जित है[4]। आगम मे स्पष्ट कहा है—भिक्षु चिकित्सा, मन्त्र, मूल, भैषज्य के हेतु से भिक्षा प्राप्त न करे[5]। चिकित्सा शास्त्र को श्रमण के लिए पापश्रुत कहा है[6]।

२७. उपानत् (पाणहा ग) :

पाठान्तर रूप मे 'पाहणा' शब्द मिलता है[7]। इसका पर्यायवाची शब्द 'वाहणा' का प्रयोग भी आगमों मे है[8]। सूत्रकृताङ्ग मे 'पाणहा' शब्द है[9]। 'पाहणा' शब्द प्राकृत 'उवाहणा' का संक्षिप्त रूप है। 'पाहणा' और 'पाणहा' में 'ण' और 'ह' का व्यत्यय है। इसका अर्थ है—पादुका, पाद-रक्षिका अथवा पाद-त्राण[10]। साधु के लिए काष्ठ और चमड़े के जूते धारण करना अनाचार है।

व्यवहार सूत्र मे स्थविर को चर्म-व्यवहार की अनुमति है[11]। स्थविर के लिए जैसे छत्र धारण करना अनाचार नहीं है, वैसे ही चर्म रखना भी अनाचार नहीं है।

अगस्त्य मुनि के अनुसार स्वस्थ के लिए 'उपानह' का निषेध है। जिनदास के मत से शरीर की अस्वस्थ अवस्था में पैरों के या चक्षुओं के दुर्बल होने पर 'उपानह' पहनने मे कोई दोष नहीं। असमर्थ अवस्था में प्रयोजन उपस्थित होने पर पैरों मे जूते धारण किये जा सकते हैं अन्य काल मे नहीं[12]। हरिभद्र सूरि के अनुसार 'आपत् काल' में जूता पहनने का कल्प है[13]।

१—विनयपिटक : महावग्ग : ६ ऽऽ १.२-१० पृ० २१६-१८।

२—उत्त० १५.८ : मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं, ··· ··· ·· ··· ··· · ·।
··· ··· ··· ··· · ·· , तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

३—पि० नि० : धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।

४—नि० १३.६६ : जे भिक्खू तिगिच्छापिंडं भुंजइ भुंजंतं वा सातिज्जति।

५—प्रश्न० सं० १ : न तिगिच्छामंतमूलभेसज्जकज्जहेउं भिक्खं गवेसियव्वं।

६—ठा० ९.२७ : नवविधे पावसुयपसंगे पं० तं० उप्पाते, णिमित्ते, मंते, आइक्खिए, तिगिच्छए। कला आवरणे अण्णाणे मिच्छापावयणेति य ॥

७—(क) दश० सूत्रम् (जिनयशः सूरिजी ग्रन्थरत्नमालायाः प्रथमं (१) सूत्रम्)
(ख) श्रीदशवैकालिक सूत्रम् (मनसुखलाल द्वारा प्रकाशित); आदि

८—(क) नाया० अ० १५ : अणुवाहणस्स ओवाहणाओ दलयइ।
(ख) भग० २.१ : वाहणाउ य पाउयाउ य।

९—सू० १.९.१८ : पाणहाओ य ···। ··· तं विज्जं परिजाणिया ॥

१०—(क) सू० १.९.१८ टी० प० १८१ : उपानहौ—काष्ठपादुके।
(ख) भग० २.१ टी० : पादरक्षिकाम्।
(ग) अ० चू० पृ० ६१ : उवाहणा पाद-त्राणम्।

११—व्यव० ८.५ : थेराणं थेर-भूमि-पत्ताणं कप्पइ ·· चम्मे वा ·· ·।

१२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पद्यते येन गम्यते यदुक्तं नीरोगस्स नीरोगो वा पादो।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : उवाहणाओ लोगसिद्धाओ चेव,···· पायग्गहणेण अकल्लसरीरस्स गहणं कयं भवइ, दुब्बलपाओ चक्खुदुब्बलो वा उवाहणाओ आविधेज्जा ण दोसो भवइत्ति, किंचपादग्गहणेणं एतं दंसेति - परिग्गहिया उवाहणाओ असमत्थेण पओयणे उप्पण्णे पाएसु कायव्वा, ण उण सेसकालं।

१३—हा० टी० प० ११७ : तयोपानहौ पादयोरनाचरिते, पादयोरिति साभिप्रायकं, न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन।

'पाणहा' के बाद 'पाए' शब्द है। प्रश्न उठता है जूते पैरों में ही पहने जाते हैं; हाथ में या गले आदि में नहीं। फिर 'पाणहा पाए'—'पैरों में उपानत्' ऐसा क्यों लिखा ? इसका उत्तर यह है कि गमन निरोग के पैरों से ही हो सकता है। 'पाद' शब्द निरोग शरीर का सूचक है। भाव यह है कि निरोग श्रमण द्वारा 'उपानत्' धारण करना अनाचार है[1]।

बौद्ध-भिक्षुओं के जूता पहनने के नियम के विषय में बौद्ध-आगम 'विनयपिटक' में निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं[2]—

सोण कोटीविंश को अर्हत्व की प्राप्ति हुई उसके बाद बुद्ध बोले— "सोण ! तू सुकुमार है। तेरे लिए एक तल्ले के जूते की अनुमति देता हूं।" सोण बोला —"यदि भगवान् भिक्षु-संघ के लिए अनुमति दे तो मैं भी इस्तेमाल करूंगा, अन्यथा नहीं।" बुद्ध ने भिक्षु-संघ को एक तल्ले वाले जूते की अनुमति दी और एक से अधिक तल्ले वाले जूते के धारण करने में दुक्कट दोष घोषित किया।

बाद में बुद्ध ने पहन कर छोड़े हुए बहुत तल्ले के जूते की भी अनुमति दी। नये बहुत तल्लेवाले जूते पहनना दुक्कट दोष था। आराम में जूते पहनने की मनाही थी। बाद मे विशेष अवस्था में आराम मे जूते पहनने की अनुमति दी। पहले बौद्ध-भिक्षु जूते पहनकर गांव में प्रवेश करते थे। बाद में बुद्ध ने ऐसा न करने का नियम किया। बाद मे रोगियों के लिए छूट दी।

बौद्ध-भिक्षु नीले-पीले आदि रंग तथा नीली-पीली आदि पत्तीवाले जूते पहनते। बुद्ध ने दुक्कट का दोष बता उन्हे रोक दिया। इसी तरह एंड़ी ढंकनेवाले पुट-बद्ध, पलि गुंठिम, रुईदार, तीतर के पंखो जैसे, मेढ़े के सींग से बँधे, बकरे के सींग से बँधे, बिच्छू के डंक की तरह नोकवाले, मोर-पंख सिये, चित्र जूते के धारण मे भी बुद्ध ने दुक्कट दोष ठहराया। उन्होंने सिंह-चर्म, व्याघ्र-चर्म, चीते के चर्म, हरिण के चर्म, उद्‌बिलाव के चर्म, बिल्ली के चर्म, कालक-चर्म, उल्लू के चर्म से परिष्कृत जूतो को पहनने की मनाही की।

खट-खट आवाज करनेवाले काठ के खड़ाऊ धारण करने मे दुक्कट दोष माना जाता था। भिक्षु ताड़ के पौधों को कटवा, ताड़ के पत्तो की पादुका बनवा कर धारण करते थे। पत्तों के काटने मे ताड़ के पौधे सूख जाते। लोग चर्चा करते—शाक्य-पुत्रीय श्रमण एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करते हैं। बुद्ध के पास यह बात पहुँची। बुद्ध बोले—"भिक्षुओ ! (कितने ही) मनुष्य वृक्षों मे जीव का ख्याल रखते हैं। ताल के पत्र की पादुका नही धारण करनी चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।"

भिक्षु बाँस के पौधो को कटवाकर उनकी पादुका बनवा धारण करने लगे। बुद्ध ने उपर्युक्त कारण से रुकावट की। इसी तरह तृण, मूंज, बल्वज, हिंताल, कमल, कम्बल की पादुका के मण्डन मे लगे रहनेवाले भिक्षुओं को इनके धारण की मनाही की। स्वर्णमयी, रौप्यमयी, मणिमयी, वैडूर्यमयी, स्फटिकमयी, काँसमयी, काँचमयी, राँगे की, शीशे की, ताँबे की पादुकाओ और काँची तक पहुँचनेवाली पादुका की भी मनाही हुई।

नित्य रहने की जगह पर तीन प्रकार की पादुकाओ के—चलने की, पेशाब-पाखाने की और आचमन की—इस्तेमाल की अनुमति थी।

२८. ज्योति-समारम्भ (समारंभं च जोइणो [घ])

ज्योति अग्नि को कहते हैं। अग्नि का समारम्भ करना अनाचार है[3]। इसी आगम में आगे कहा है[4]—"साधु अग्नि को सुलगाने की कभी इच्छा नही करता। यह बडा ही पापकारी शस्त्र है। यह लोहे के अस्त्र-शस्त्रों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और सब ओर से दुराश्रय है। यह सब दिशा-अनुदिशा में दहन करता है। यह प्राणियों के लिए बडा आघात है, इसमें जरा भी सदेह नहीं। इसलिए सयमी मुनि प्रकाश व शीत-निवारण आदि के लिए किंचित् मात्र भी अग्नि का आरम्भ न करे और इसे दुर्गति को बढ़ानेवाला दोष जानकर इसका यावज्जीवन के लिए त्याग करे।" उत्तराध्ययन सूत्र मे भी ऐसा ही कहा है[5]। 'अग्नि-समारम्भ' शब्द में अग्नि के अन्तर्गत उसके सब रूप—

१—(क) अ० चू० पृ० ६१ : उवाहणा पादत्राणं पाए। एतं किं भण्णति ? सामण्णे बिसेसं ण (? बिसेसणं) जुत्तं निस्सामण्णं पाव एव उवाहणा भवति ण हत्थादौ, भण्णति—पद्यते येन गम्यते यदुक्तं नीरोगस्स नीरोगो वा पादो।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : सीसो आह—पाहणागहणेण चेव नज्जइ-जातो पाहणाओ ताओ पाएसु भवंति, ण पुण ताओ गलए आविधिज्जंति, ता किमत्थं पायग्गहणंति, आयरिओ भणइ—पायग्गहणेण ···सेसकालं।

२—विनयपिटक : महावग्ग : ५§१.३-११ पृ० २०४ से २०८ तथा महावग्ग : ५§२.८ पृ० २११।

३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : जोती अग्गी तस्स जं समारंभणं।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : जोई अग्गी भण्णइ, तस्स अग्गिणो जं समारम्भणं।

४—दश० ६.३२-३३।

५—उत्त० ३५.१२ : विसप्पे सव्वओ धारे, बहू पाणविणासणे।

नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए॥

अङ्गार, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात, शुद्ध-अग्नि और उल्का आ जाते हैं। 'समारम्भ' शब्द में सींचना, संघट्ट करना, भेदन करना, उज्ज्वलित करना, प्रज्वलित करना, बुझाना आदि सब भाव समाते हैं। अग्नि-समारम्भ करने में—कराना और अनुमोदन करना ये भाव भी सन्निहित हैं[१]। भगवान् महावीर का कहना था—"पकाना, पकवाना, जलाना, जलवाना, उजाला करना या बुझाना आदि कारणों से तेजस्काय की हिंसा होती है। ऐसे सब कारण साधु-जीवन में न रहें[२]।" आचारांग सूत्र मे इस विषय पर बड़ा गंभीर विवेचन है। वहाँ कहा गया है: "जो पुरुष अग्निकाय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा का अपलाप करता है। जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है वह अग्निकाय के जीवों का अपलाप करता है। जो अग्नि के स्वरूप को जानता है वह असंयम के स्वरूप को जानता है और जो असयम के स्वरूप को जानता है वह अग्नि के स्वरूप को जानता है। जो प्रमादी है, वह प्राणियों को दण्ड देनेवाला है। अग्निकाय का आरम्भ, करनेवाले के लिए अहित का कारण है, अबोधि का कारण है। यह ग्रन्थ है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है[३]।"

महात्मा बुद्ध ने अग्नि-ताप का निषेध विशेष परिस्थिति मे किया था। एक बार बौद्ध-भिक्षु थोथे बडे ठूंठ को जलाकर सर्दी के दिनो में अपने को तपा रहे थे। उसके अन्दर रहा हुआ काला नाग अग्नि से झुलस गया। वह बाहर निकल भिक्षुओं के पीछे दौड़ने लगा। भिक्षु इधर-उधर दौड़ने लगे। यह बात बुद्ध तक पहुँची। बुद्ध ने नियम दिया—"जो भिक्षु तापने की इच्छा से अग्नि जलायेगा, अथवा जलवायेगा, उसे पाचित्तिय का दोष होगा।" इस नियम से रोगी भिक्षुओं को कष्ट होने लगा। बुद्ध ने उनके लिए अपवाद कर दिया। उपर्युक्त नियम के कारण भिक्षु आताप-घर और स्नान-घर में दीपक नहीं जलाते थे। बुद्ध ने समुचित कारण से अग्नि जलाने और जलवाने की अनुमति दी। आरामो मे दीपक जलाये जाते थे[४]।

महावीर का नियम था—"शीत-निवारण के लिए पास मे वस्त्र आदि नहीं हैं और न घर ही है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ—भिक्षु ऐसा विचार भी न करे[५]।" "भिक्षु स्पर्शनेन्द्रिय को मनोज्ञ एव सुखकारक स्पर्श से संवृत करे। उसे शीतकाल मे अग्नि-सेवन—शीत ऋतु के अनुकूल सुखदायी स्पर्श मे आसक्त नहीं होना चाहिए[६]।" उन्होंने कहा—"जो पुरुष माता और पिता को छोडकर श्रमण व्रत धारण करके भी अग्निकाय का समारंभ करते हैं और जो अपने लिए भूतों की हिंसा करते हैं, वे कुशीलधर्मी हैं[७]।" "अग्नि को उज्ज्वलित करने वाला प्राणियों की घात करता है और आग बुझाने वाला मुख्यतया अग्निकाय के जीवों की घात करता है। धर्म को सीख मेधावी पण्डित अग्नि का समारम्भ न करे। अग्नि का समारंभ करने वाला पृथ्वी, तृण और काठ में रहनेवाले जीवों का दहन करता है[८]।"

१—दश० ४.२० तथा ८.८।

२—प्रश्न० (आस्रव-द्वार) १.३ पृ० १३ : पयण-पयावण-जलावण-विद्धंसणेहिं अगणिं।

३—आ० १.६५,६६,६८,७६,७८ : जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ।
जे दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से दीहलोगसत्थस्स खेयन्ने।
जे पमत्ते गुणट्ठीए, से हु दंडे पवुच्चति।
तं से अहियाए, तं से अबोहियाए।
एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

४—Sacred Books of the Buddhists vol. XI. Book of the Discipline part II. LVI. p.p. 398-400

५—उत्त० २.७ : न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिन्तए॥

६—प्रश्न० (संवर-द्वार) ५ : सिसिरकाले अंगारपतावणा य आयवनिद्धमउयसीयउसिणलहुया य जे उउसुहफासा अंगसुहनिव्वुइकरा ते अन्नेसु य एवमाइएसु फासेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं न रज्जियव्वं न गिज्झियव्वं न मुज्झियव्वं।

७—सू० १.७.५ : जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे, भूयाइ जे हिंसति आतसाते॥

८—सू० १.७.६-७ : उज्जालओ पाण तिवातएज्जा, निव्वावओ अगणि तिवातएज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा॥
पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति।
संसेयया कट्ठसमस्सिता य, एते दहे अगणि समारभंते॥

भगवान् महावीर के समय में बड़े-बड़े यज्ञ होते थे। उनसे मोक्ष माना जाता था। उनमे महान् अग्नि-समारंभ होता था। महावीर ने उनका तीव्र विरोध किया था। उन्होंने कहा—"कई मूढ़ हुत—अग्नि-होम से मोक्ष कहते हैं[1]। प्रातःकाल और सायकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो हुत—होम से मुक्ति बतलाते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि इस प्रकार सिद्धि हो तो अग्नि का स्पर्श करने वाले कुम्हार, लुहार आदि की सिद्धि सहज हो जाए[2]! अग्नि-होम से सिद्धि माननेवाले बिना परीक्षा किये ही ऐसा कहते है। इस तरह सिद्धि नहीं होती। ज्ञान प्राप्त कर देखो—त्रस, स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं······[3]।"

श्लोक ५ :

२९. शय्यातरपिण्ड (सेज्जायरपिंड [क]) :

'सेज्जायर' शब्द के सस्कृत रूप तीन बनते हैं—शय्याकर, शय्याधर और शय्यातर। शय्या को बनाने वाला, शय्या को धारण करने वाला और श्रमण को शय्या देकर भव-समुद्र को तैरने वाला—ये क्रमशः इन तीनो के अर्थ हैं[4]। यहाँ 'शय्यातर' रूप अभिप्रेत है[5]।

शय्यातर का प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ है—वह गृह-स्वामी जिसके घर मे श्रमण ठहरे हुए हो[6]।

शय्यातर कौन होता है ? कब होता है ? उसकी कितनी वस्तुएँ अग्राह्य होती है ? आदि प्रश्नों की चर्चा भाष्य ग्रंथों में विस्तार-पूर्वक है। निशीथ-भाष्य के अनुसार उपाश्रय का स्वामी अथवा उसके द्वारा सदिष्ट कोई दूसरा व्यक्ति शय्यातर होता है[7]।

शय्यातर कब होता है ? इस विषय में अनेक मत हैं। निशीथ-भाष्यकार ने उन सबका संकलन किया है[8]—

१—सू० १.७.१२ : ····· हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥

२—सू० १.७.१८ : हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसंता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तेसिं, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि ॥

३—सू० १.७.१९ : अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहिं जाण पडिलेह सातं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥

४—नि० भा० गा० २.४५-४६ : सेज्जाकर-दातारा तिण्णि वि जुगवं वक्खाणेति—
अगमकरणादगारं, तस्स हु जोगेण होंति सागारी।
सेज्जा करणा सेज्जाकरो उ दाता तु तद्दाणा ॥

"अगमा" रुक्खा, तेहिं कतं "अगारं" घरं तेण सह जस्स जोगो सो सागरिउ त्ति भण्णति। जम्हा सो सिज्जं करेति तम्हा सो सिज्जाकरो भण्णति। जम्हा सो साहूणं सेज्जं ददाति तेण भण्णति सेज्जादाता। जम्हा सेज्जं पडमाणिं छज्ज-लेप्पमादीहिं धरेति तम्हा सेज्जाधरो अहवा—सेज्जादाणपाहण्णतो अप्पाणं णरकादिसु पडंतं धरेति त्ति तम्हा सेज्जाधरो। सेज्जाए संरक्खणं संगोवणं, जेण तरति काउं तेण सेज्जातरो। अहवा—तत्थ वसहीए साहुणो ठिता ते वि सारक्खिउं तरति, तेण सेज्जा-दाणेण भवसमुद्रं तरति त्ति सिज्जातरो।

५—(क) अ० चू० पृ० ६१ : सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण संसारं तरति सेज्जातरो, तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : शय्या—आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य दाणेण साहूणं संसार तरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो, भिक्खत्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११७ : शय्या—वसतिस्तया तरति संसारं इति शय्यातरः—साधुवसतिदाता, तत्पिण्डः।

६—हा० टी० प० ११७।

७—नि० भा० गा० ११४४ : सेज्जातरो पभू वा, पभुसंदिट्ठो व होति कातव्वो।

८—नि० भा० गा० ११४६-४७ चू० : एत्थ णेगमणय-पक्खासिता आहु।
एक्को भणति—अणुण्णविए उवस्सए सागारिओ भवति।
अण्णो भणति—जता सागारियस्स उग्गहं पविट्ठा।
अण्णो भणति—जता अंगणं पविट्ठा।
अण्णो भणति—जता पाउग्गं तणडगलादि अणुण्णवितं।
अण्णो भणति—जता वसहिं पविट्ठा।

१. आज्ञा लेने पर······
२. मकान के अवग्रह में प्रविष्ट होने पर······
३. आंगन में प्रवेश करने पर······
४. प्रायोग्य तृण, ढेला आदि की आज्ञा लेने पर······
५. वसति (मकान) में प्रवेश करने पर······
६. पात्र विशेष के लेने और कुल-स्थापना करने पर······
७. स्वाध्याय आरंभ करने पर······
८. उपयोग सहित भिक्षा के लिए उठ जाने पर······
९. भोजन प्रारम्भ करने पर······
१०. पात्र आदि वसति में रखने पर······
११. दैवसिक आवश्यक प्रारम्भ करने पर······
१२. रात्री का प्रथम प्रहर बीतने पर······
१३. रात्री का दूसरा प्रहर बीतने पर······
१४. रात्री का तीसरा प्रहर बीतने पर······
१५. रात्री का चौथा प्रहर बीतने पर······
—शय्यातर होता है।

भाष्यकार का अपना मत यह है कि श्रमण रात मे जिस उपाश्रय मे रहे, सोए और चरम आवश्यक कार्य करे उसका स्वामी शय्यातर होता है[1]।

शय्यातर के अशन, पान, खाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य होते है। तिनका, राख, पाट-बाजोट आदि ग्राह्य होते है[2]।

अण्णो भणति—जदा वोद्धियाविभंडयं दाणाति कुलट्ठवणाए व ठवियाए।
अण्णो भणति—जता सज्झायं आढत्ता काउं।
अण्णो भणति—जता उवओगं काउं भिक्खाए गता।
अण्णो भणति जता भुंजिउमारद्धा।
अण्णो भणति—भायणेसु निक्खित्तेसु।
अण्णो भणति- जता देवसियं आवस्सयं कतं।
अण्णो भणति—रातीए पढमे जामे गते।
अण्णो भणति—बितिए।
अण्णो भणति—ततिए।
अण्णो भणति—चउत्थे।

१—नि० भा० ११४८ चू० : जत्थ राउ ट्ठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरिमावस्सयं कयं तो सेज्जातरो भवति।

२—नि० भा० गा० ११५१-५४ चू० : दुविह चउव्विह छव्विह, अट्ठविहो होति बारसविधो वा।
सेज्जातरस्स पिंडो, तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥

दुविहं चउव्विहं छव्विहं च एगगाहाए वक्खाणेति—

आधारोवधि दुविधो, विदु अण्ण पाण ओहुवग्गहिओ।
असणादि चउरो ओहे, उवग्गहे छव्विधो एसो॥

आहारो उवकरणं च एस दुविहो। वे दुया चउरो त्ति, सो इमो—अण्णं पाणं ओहियं उवग्गहियं च। असणादि चउरो ओहिए उवग्गहिए य, एसो छव्विहो।

इमो अट्ठविहो—

असणे पाणे वत्थे, पाते सूयादिगा य चउरट्ठा।
असणादी वत्थादी, सूयादि चउक्कगा तिण्णि॥

शय्यातर का पिण्ड लेने का निषेध उद्गम-शुद्धि आदि कई दृष्टियों से किया गया है[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ एक वैकल्पिक पाठ माना है—"पाठ विसेसो—'सेज्जातर पिंडं च, आसण्णं परिवज्जए'।" इसके अनुसार—"शय्यातर-पिण्ड लेना जैसे अनाचार है, वैसे ही उसके घर से लगे हुए सात घरों का पिण्ड लेना भी अनाचार है। इसलिए श्रमण को शय्यातर का तथा उसके समीपवर्ती सात घरों का पिंड नहीं लेना चाहिए[2]।"

जिनदास महत्तर ने भी इस पाठान्तर व इसकी व्याख्या का उल्लेख किया है[3]। किन्तु टीका में इसका उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृताङ्ग में 'शय्यातर' के स्थान में 'सागारियपिण्ड' का उल्लेख है[4]। टीकाकार ने इसका एक अर्थ—सागारिक पिण्ड—अर्थात् शय्यातर का पिण्ड किया है[5]।

३०. आसंदी (आसंदी ख) :

आसंदी एक प्रकार का बैठने का आसन है[6]। शीलाङ्क सूरि ने आसन्दी का अर्थ वर्द्धी, मूँज, पाट या सन के सूत से गुँथी हुई खटिया किया है[7]। निशीथ-भाष्य-चूर्णि में काष्ठमय आसदक का उल्लेख मिलता है[8]। जायसवालजी ने भी 'हिन्दू राज्य-तन्त्र' में इसकी चर्चा की है—"अविद् या घोषणा के उपरात राजा काठ के सिंहासन (आसदी) पर आरूढ़ होता है, जिसपर साधारणतः शेर की खाल बिछी रहती है[9]। आगे चलकर हाथी-दाँत और सोने के सिंहासन बनने लगे थे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था (देखो महाभारत (कुभ) शान्ति पर्व ३९, २. ४. १३. १४)। यद्यपि वह (खदिर की) लकडी का बनता था, परन्तु जैसा कि ब्राह्मणों के विवरण से जान पडता है, विस्तृत और विशाल हुआ करता था[10]।"

असणे पाणे वत्थे पादे, सुती आदि जेसिं ते सूतीयादिगा सूती पिप्पलगो नखरदनी कण्णसोहणयं। इमो बारसविहो—असणाइया चत्तारि, वत्थाइया चत्तारि, सूतियादिया चत्तारि, एते तिण्णि चउक्का बारस भवंति।

इमो पुणो अपिंडो—तण-डगल-छार-मल्लग, सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी।
　　　　सेज्जातरपिंडेसो, ण होति सेहोव सोवधि उ॥

लेवादी, आविसहातो, कुडमुहादि, एसो सव्वो सेज्जातरपिंडो ण भवति। जति सेज्जायरस्स पुत्तो धूया वा वत्थपायसहिता पव्वएज्जा सो सेज्जातरपिंडो ण भवति।

१ नि० भा० गा० ११५९, ११६८ : तित्थंकरपडिकुट्ठो, आणा-अण्णाय-उग्गमो ण सुज्झे।
　　　　अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा य वोच्छेदो॥
　　　　थल-देउलियट्ठाणं, सति कालं दट्ठु दट्ठु तहिं गमणं।
　　　　णिग्गते वसही भुंजण, अण्णे उब्भामगा ऽऽउट्टा॥

२—अ० चू० पृ० ६१ : एतम्मि पाढे सेज्जातरपिंड इति भणिते किं पुणो भण्णति—"आसण्णं परिवज्जए ?" विसेसो दरिसिज्जति—जाणि वि तदासण्णाणि सेज्जातरतुल्लाणि ताणि सत्त वज्जेतव्वाणि।

३—जि० चू० पृ० ११३-४ : अहवा एतं सुत्तं एवं पढिज्जइ 'सिज्जातरपिंडं च आसन्नं परिवज्जए'। सेज्जातरपिंडं च, एतेण चेव सिद्धे जं पुणो आसन्नग्गहणं करेइ तं जाणिवि तस्स गिहाणि सत्त अणंतरासण्णाणि ताणिवि। सेज्जातरतुल्लाणि वट्टव्वाणि, तेहिंतोवि परओ अन्नाणि सत्तवज्जेयव्वाणि।

४—सू० १.९.१६ : सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया।

५—सू० १.९.१६ टीका प० १८१ : 'सागारिकः' शय्यातरस्तस्य पिण्डम्—आहारं।

६—(क) अ० चू० ३.५ : आसंदी—उपविसणं; अ० चू० ६.५३ : आसंदी—आसणं।
　(ख) सू० १.९.२१ टीका प० १८२ : 'आसन्दी' त्यासनविशेषः।

७—सू० १.४.२. १५ टी० प० ११८ : 'आसंदियं च नवसुत्तं'—आसंदिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकाम्...नवं—प्रत्यग्रं सूत्रं वल्कजं-शितं यस्यां सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद्वध्रं चर्मावनद्धां वा।

८—नि० भा० गा० १७२३ चू० : आसंदगो कट्ठमओ अज्झुसिरो लब्भति।

९—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८।

१०—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८ का पाद-टिप्पण।

कोशकार वेत्रासन को आसदी मानते हैं[1]। अथर्ववेद में आसंदी का सावयव वर्णन मिलता है—

१५.३.१ : स संवत्सरमूर्ध्वो अतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥

वह संवत्सर (या संवत्सर भर से ऊपर) खड़ा रहा। उससे देवो ने पूछा : व्रात्य, तू क्यो खड़ा है ?

१५.३.२ : सोऽब्रवीदासन्दी मे स भरन्त्विति ॥ वह बोला मेरे लिए आसन्दी (बिनी हुई चौकी) लाओ।

१५.३.३ : तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ उस व्रात्य के लिए (वह देव गण) आसन्दी लाए।

१५.३.४ : तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्ता शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥

उसके (आसदी के) ग्रीष्म और वसन्त दो पाये थे, शरद् और वर्षा दो पाये थे।

ऐसा मानना चाहिए कि शिशिर और हेमन्त ऋतु की गणना शरद् मे कर ली गई है।

१५.३.५ : बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥

बृहत् और रथन्तर, अनूच्य और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव तिरश्च्य थे।

(दाहिने-बाये की लकडियो को अनूच्य तथा सिरहाने-पैताने की लकड़ियो को तिरश्च्य कहते हैं।)

१५.३.६ : ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ऋक्, प्राञ्च और यजु तिर्यञ्च हुए।

(ऋग्वेद के मत्र सीधे सूत (ताना) और यजुर्वेद के मत्र तिरछे सूत (बाना) हुए।)

१५.३.७ : वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥

वेद आस्तरण (बिछौना) और ब्रह्म उपबर्हण (सिरहाना, तकिया) हुआ। (ब्रह्म से अथर्वाङ्गिरस मन्त्रो से तात्पर्य है)।

१५.३.८ : सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ साम आसाद और उद्गीथ अपश्रय था।

(आसाद बैठने की जगह और अपश्रय टेकने के हत्थो को कहते हैं। उद्गीथ प्रणव (ॐकार) का नाम है।)

१५.३.९ : तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ उस आसन्दी के ऊपर व्रात्य चढा।

इसके लिए वैदिक पाठावली पृष्ठ १८५ और ३३६ भी देखिए।

३१. पर्यङ्क (पलियंकए [ख]) :

जो सोने के काम मे आए, उसे पर्यङ्क कहते हैं[2]।

इसी सूत्र (६.५४-५६) मे इसके पीछे रही हुई भावना का बड़ा सुन्दर उद्घाटन हुआ है। वहाँ कहा गया है : "आसन, पलंग, खाट और आशालक आदि का प्रतिलेखन होना बड़ा कठिन है। इनमे गभीर छिद्र होते हैं, इनमे प्राणियो की प्रतिलेखना करना कठिन होता है। अत: सर्वज्ञो के वचनो को माननेवाला न इन पर बैठे, न सोए।"

सूत्रकृताङ्ग मे भी आसदी-पर्यङ्क को त्याज्य कहा है[3]।

मच, आशालक, निषद्या, पीठ को भी आसंदी-पर्यङ्क के अन्तर्गत समझना चाहिए[4]।

बौद्ध-विनयपिटक मे आसदी, पलग को उच्चशयन कहा है और दुक्कट का दोष बता उनके धारण का निषेध किया है[5]। पर चमड़े से बधी हुई गृहस्थो की चारपाइयों या चौकियों पर बैठने की भिक्षुओ को अनुमति थी, लेटने की नही[6]।

३२ गृहान्तर-निषद्या (गिहंतरनिसेज्जा [ग]) :

इसका अर्थ है—भिक्षाटन करते समय गृहस्थ के घर मे बैठना।

१—अ० चि ३.३४८ : स्याद् वेत्रासनमासन्दी।

२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पलियंको सयणिज्जं।

(ख) सू० १.६.२१ टीका प० १८२—'पर्यंकः' शयनविशेषः।

३—सू० १.६.२१ : आसंदी पलियंके य, ...।

... ..., तं विज्जं परिजाणिया ॥

४—दश० ६.५४, ५५।

५—विनयपिटक : महावग्ग ५ §§२.४ पृ० २०९।

६—विनयपिटक : महावग्ग ५ §§२.८ पृ० २१०-११।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है—घर में अथवा दो घरों के अंतर में बैठना[1]। शीलाकाचार्य ने भी ऐसा ही अर्थ किया है[2]। बृहत्कल्प-भाष्य में गृहान्तर के दो प्रकार बतलाए हैं—सद्भाव गृह-अन्तर और असद्भाव गृह-अन्तर । दो घरों के मध्य को सद्भाव-गृह-अन्तर और एक ही घर के मध्य को असद्भाव गृह-अन्तर माना है[3]।

प्रस्तुत सूत्र (५.२.८) में कहा है . "गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि कहीं न बैठे"—(गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थई) । 'कही' शब्द का अर्थ जिनदास महत्तर ने घर, देवकुल, सभा, प्रपा आदि-आदि किया है[4]। हरिभद्र सूरि ने भी 'कहीं' का ऐसा ही अर्थ किया है[5]।

दशवैकालिक सूत्र (६.५७,५९) मे कहा है : "गोचराग्र मे प्रविष्ट होने पर जो मुनि घर में बैठता है, वह अनाचार को प्राप्त होता है, अतः उसका वर्जन करना चाहिए ।"

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'गृहान्तर' शब्द का अर्थ उपाश्रय से भिन्न घर किया है[6]। सूत्रकृताङ्ग (१.९.२९) में कहा है : "साधु पर-गृह में न बैठे (परगेहे ण णिसीयए) । यहां गृहान्तर के स्थान मे 'पर-गृह' शब्द प्रयुक्त हुआ है । शीलाङ्क सूरि ने 'पर-गृह' का अर्थ गृहस्थ का घर किया है[7]।

उत्तराध्ययन सूत्र मे जहां श्रमण ठहरा हुआ हो उस स्थान के लिए 'स्व-गृह' और उसके अतिरिक्त घरों के लिए 'पर-गृह' शब्द का प्रयोग किया गया है[8]। दशवैकालिक मे भी 'परागार' शब्द का प्रयोग हुआ है[9]। उक्त सन्दर्भो के आधार पर 'गृहान्तर' का अर्थ 'पर-गृह'—उपाश्रय से भिन्न गृह होता है । यहां 'अन्तर' शब्द बीच के अर्थ में नही है किन्तु 'दूसरे के' अर्थ में प्रयुक्त है—जैसे—रूपान्तर, अवस्थान्तर आदि । अत. "दो घरो के अन्तर मे बैठना" यह अर्थ यहां नही घटता ।

'गृहान्तर-निषद्या' का निषेध 'गोचराग्र-प्रविष्ट' श्रमण के लिए है, या साधारण स्थिति में, इसकी चर्चा अगस्त्यसिंह स्थविर ने नहीं की है और आगम मे गोचराग्र-प्रविष्ट मुनि के लिए यह अनाचार है, यह स्पष्ट है ।

---

१ -(क) जि० चू० पृ० ११४ : गिहं चेव गिहंतरं तंमि गिहे निसेज्जा न कप्पइ, निसेज्जा णाम जंमि निसत्थो अच्छइ, अहवा दोण्हं अंतरे, एत्थ गोचरग्गगतस्स णिसेज्जा ण कप्पइ, चकारग्गहणेण निवेसणवाडगावि सूइया, गोयरग्गगतेण न णिसियव्वंति ।
(ख) हा० टी० प० ११७ : तथा गृहान्तरनिषद्या अनाचरिता, गृहमेव गृहान्तरं गृहयोर्वा अपान्तरालं तत्रोपवेशनम्, च शब्दा-त्पाटकादिपरिग्रहः ।

२— सू० १.६.२१ टीका प० १२८ : णिसिज्जं च गिहंतरे—गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविराधना-भयात्परिहरेत् ।

३—बृहत्० भा० गा० २६३१ : सब्भावमसब्भावं, मज्झम पब्भावतो उ पासेणं ।
णिव्वाहिमनिव्वाहिं, ओकमइंतेसु सब्भावं ॥
मध्यं द्विधा – सद्भावमध्यमसद्भावमध्य च । तत्र सद्भावमध्यं नाम—यत्र गृहपतिगृहस्य पार्श्वेन गम्यते आगम्यते वा छिण्डि-कयेत्यर्थः, "ओकमइंतेसु" त्ति गृहस्थानाम् ओकः—गृहं संयताः संयतानां च गृहस्था मध्येन यत्र 'अतियन्ति' प्रविशन्ति उपलक्षण-त्वाद् निर्गच्छन्ति वा तदेतदुभयमपि सद्भावतः—परमार्थतो मध्यं सद्भावमध्यम् ।

४ - जि० चू० पृ० १९५ : गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि ।

५-- हा० टी० प० १८४ : भिक्षार्थं प्रविष्ट······नोपविशेत् "क्वचित्" गृहदेवकुलादौ ।

६—अ० चू० पृ० ६१ : गिहंतरं पडिस्सयातो बाहिं जं गिहं, गेण्हतीति गिहं, गिहं अंतरं च गिहंतरं, गिहंतरनिसेज्जा जं उवविट्ठो अच्छति, चसद्देण वाडगसाहिनिवेसणादीसु ।

७—सू० १.९.२९ टीका प० १८४ : साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो—गृहस्थस्तस्य गृहं परगहं तत्र 'न निषीदेत्' नोपविशेत् ।

८—उत्त० १७.१८ : सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे ।
···············पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

९—(क) दश० ८.१९ : पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोयणस्स वा ।
(ख) जि० चू० पृ० २७९ : अगारं गिहं भण्णइ, परस्स अगारं परागारं ।
(ग) हा० टी० प० २३१ : 'पविसित्तु' सूत्रं, प्रविश्य 'परागारं' परगृहं ।

इन सब आधारों पर ही यहाँ 'गृहान्तर-निषद्या' का अर्थ—"भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना" केवल इतना ही किया है।

जयाचार्य ने शयन-गृह, रसोई-घर, पानी-घर, स्नान-गृह आदि ऐसे स्थानों को, जहाँ बैठना श्रमण के लिए उचित न हो, गृहान्तर या अन्तर-घर माना है[1]।

निशीथ[2] और उत्तराध्ययन[3] में "गिहि-निसेज्जा' (गृही-निषद्या) शब्द मिलता है। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ पलंग आदि शय्या किया है[4]। इसलिए यह गृहान्तर से भिन्न अनाचार है।

यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि रोगी, वृद्ध, तपस्वी के लिए 'गृहान्तर-निषद्या' अनाचार नहीं है। प्रस्तुत आगम (६.६०) और सूत्रकृताङ्ग[5] के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

'गृहान्तर-निषद्या' को अनाचार क्यों कहा इस विषय में दशवैकालिक (६.५७-५९) में अच्छा प्रकाश डाला है। वहाँ कहा है : "इससे ब्रह्मचर्य को विपत्ति होती है। प्राणियों का अवध-काल में वध होता है। दीन भिक्षार्थियों को बाधा पहुंचती है। गृहस्थों को क्रोध उत्पन्न होता है। कुशील की वृद्धि होती है।" इन सब कारणों से 'गृहान्तर-निषद्या' का वर्जन है।

३३. गात्र-उद्वर्तन (गायस्सुव्वट्टणाणि [ध]) :

शरीर में पीठी (उबटन) आदि का मलना गात्र-उद्वर्तन कहलाता है[6]। इसी आगम में (६.६४-६७) में विभूषा - शरीर-शोभा— को वर्जनीय बताकर उसके अन्तर्गत गात्र-उद्वर्तन का निषेध किया गया है। वहाँ कहा गया है : "संयमी पुरुष स्नान-चूर्ण, कल्क, लोध्र आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीर के उबटन के लिए कदापि सेवन नहीं करते। शरीर-विभूषा सावद्य-बहुल है। इससे गाढ कर्म-बन्धन होता है।" इस अनाचीर्ण का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग में भी हुआ है[7]।

श्लोक ६ :

३४. गृहि-वैयापृत्य (गिहिणो वेयावडियं [क])

'वेयावडिय' शब्द का संस्कृत रूप 'वैयापृत्य' होता है[8]। गृहि-वैयापृत्य को यहाँ अनाचरित कहा है। इसी सूत्र की दूसरी चूलिका के ९ वें श्लोक में स्पष्ट निषेध है—"गिहीणो वेयावडियं न कुज्जा"—मुनि गृहस्थों का वैयापृत्य न करे।

उपर्युक्त दोनों ही स्थलों पर चूर्णिकार और टीकाकार की व्याख्याएँ प्राप्त हैं। उनका सार नीचे दिया जाता है :

१—अगस्त्यसिंह स्थविर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ का उपकार करने में प्रवृत्त होना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहि-व्यापारकरण—गृहस्थ का व्यापार करना अथवा उसका असंयम की अनुमोदना करनेवाला प्रीतिजनक उपकार करना[9]।

१—सन्देहविषौषधी पत्र ३८।

२—नि० १२.१२ : जे भिक्खू गिहिनिसेज्जं वाहेइ वाहेंतं वा सातिज्जति।

३—उत्त० १७.१९ : गिहिनिसेज्जं च वाहेइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥

४—बृहद् वृत्ति : गृहिणां निषद्या पर्यङ्कतूल्यादि शय्या।

५—सू० १.९.२९ : नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।

६—(क) अ० चू० पृ० ६१ : गातं सरीरं तस्स उव्वट्टणं अब्भंगणुव्वलणाईणि।

(ख) जि० चू० पृ० ११४।

(ग) हा० टी० प० ११७ : गात्रस्य—कायस्योद्वर्तनानि।

७—सू० १.९.१५ : आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं ! परिजाणिया॥

८—हा० टी० प० ११७ : गृहस्थस्य 'वैयापृत्यम्'।

९—(क) अ० चू० पृ० ६१ : गिहीणं वेयावडितं जं तेसिं उवकारे वट्टति।

(ख) वही : गिहीणो वेयावडियं नाम तव्वावारकरणं तेसीं प्रीतिजणणं उपकारं असंजमाणुमोयणं न कुज्जा।

२ -- जिनदास महत्तर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों के साथ अन्नपानादि का सविभाग करना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों का आदर करना, उनका प्रीतिजनक असंयम की अनुमोदना करने वाला उपकार करना[1]।

हरिभद्र सूरि ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ को अन्नादि देना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थो के उपकार के लिए उनके कर्म को स्वयं करना[2]।

अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन में 'वैयापृत्य' का प्रयोग उपकार करने की व्यापक प्रवृत्ति में हुआ है—ऐसा लगता है और जिनदास महत्तर तथा हरिभद्र सूरि की व्याख्या से ऐसा लगता है कि इसका यहाँ प्रयोग—अन्नपान के संविभाग के अर्थ में हुआ है।

सूत्रकृताङ्ग (१.९) में इस अनाचार का नामोल्लेख नही मिलता, पर लक्षण रूप से इसका वर्णन वहाँ आया है। वहाँ श्लोक २३ में कहा है – "भिक्षु अपनी संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अन्नपान ग्रहण करता है उसे दूसरो को—गृहस्थो को—देना अनाचार है[3]।

उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में 'वेयावडिय' शब्द दो जगह व्यवहृत है[4]। वहाँ इसका अर्थ अनिष्ट निवारण के लिए अर्थात् परिचर्या के लिए व्यापृत होना है। अध्यापक की बात सुनकर बहुत से कुमार दौड आये और भिक्षा के लिए यज्ञवाडे मे आये हुए ऋषि हरिकेशी को दण्ड, बेंत और चाबुक से मारने लगे। ऋषि हरिकेशी का 'वैयापृत्य' करने के लिए यक्ष कुमारो को रोकने लगा[5]। यक्ष ने कुमारो को बुरी तरह पीटा। पुरोहित ने मुनि से माफी मागी। उसने कहा—"ऋषि महाकृपालु होते हैं। वे कोप नही करते।" ऋषि बोले—"मेरे मन मे न तो पहले द्वेष था न अब है और न आगे होगा, किन्तु यक्ष मेरा 'वैयापृत्य' करता है, उसी ने इन कुमारो को पीटा है[6]।" आगमो में 'वेयावच्च' शब्द भी मिलता है[7]। इसका सम्कृत रूप 'वैयावृत्य' है। इसका अर्थ

१— (क) जि० चू० पृ० ११४ : गिहिवेयावडीयं जं गिहीणं अण्णपाणादीहिं विसूरंताण विसंविभागकरणं, एयं वेयावडियं भण्णइ।

(ख) वही पृ० ३७३ : गिहं-पुत्तदारं तं जस्स अत्थि सो गिही, एगवयणं जातीअत्थमवदिस्सति, तस्स गिहिणो "वेयावडियं न कुज्जा" वेयावडियं नाम तदाऽऽदरकरणं, तेसिं वा पीतिजणणं, उपकारकं असंजमाणुमोदणं ण कुज्जा।

२—(क) हा० टी० प० ११७ : व्यावृत्तभावो—वैयावृत्यं, गृहस्थं प्रति अन्नादिसंपादनम्।

(ख) हा० टी० प० २८१ : 'गृहिणो' गृहस्थस्य 'वैयावृत्यं' गृहिभावोपकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यावृत्तभावं न कुर्यात्, स्वपरोभयाश्रेयः समायोजनदोषात्।

३—सू० १.९.२३ : जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं।
　　　अणुप्पदाणमन्नेसिं, तं विज्जं ! परिजाणिया॥

४—उत्त० १२.२४.३२ :

　　　एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा, पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
　　　इसिस्स वेयावडियट्ठयाए, जक्खा कुमारे विणिवाडयन्ति॥
　　　पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
　　　जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति, तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

५—उत्त० १२.२४ बृ० प० ३६५ : वैयावृत्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृता भवाम इत्येवमर्थम्।

६—उत्त० १२.३२ बृ० प० ३६७ : वैयावृत्यं प्रत्यनीकप्रतिघातरूपम्।

७—(क) उत्त० २९.४३ : वेयावच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ।

(ख) उत्त० ३०.३० : पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
　　　झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥

(ग) ठा० ६.६६।

(घ) सम० २५.७।

(ङ) औप० सू० ३०।

है—साधु को शुद्ध आहारादि से सहारा पहुंचाना[१]। दिगम्बर साहित्य में अतिथि-संविभाग व्रत का नाम वैयावृत्य है। उसका अर्थ दान है[२]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में वैयावृत्य और वैयापृत्य दोनों शब्द मिलते है। वैयावृत्य का अर्थ परिचर्या[३] और वैयापृत्य का अर्थ फुटकर बिक्री है[४]। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गृहस्थ को आहारादि का संविभाग देना तथा गृहस्थों की सेवा करना ये दोनों भाव 'गिहिणो वेयावडिय' अनाचार में समाए हुए हैं।

३५. आजीववृत्तिता (आजीववित्तिया ख)

'आजीव' शब्द का अर्थ है—आजीविका के उपाय या साधन[५]। स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिङ्ग ये पाच आजीव हैं[६]। पिण्ड-निर्युक्ति, निशीथ-भाष्य आदि ग्रन्थों मे 'लिङ्ग' के स्थान पर 'गण का उल्लेख मिलता है[७]। व्यवहार-भाष्य में तप और श्रुत इन दो को भी 'आजीव' कहा है[८]। इनसे जाति आदि से—जीवन-निर्वाह करने की वृत्ति को 'आजीववृत्तिता' कहते हैं[९]। आजीविका के साधन जाति आदि भेदों के आधार से आजीववृत्तिता के निम्न आठ प्रकार होते है—

१—जाति का अर्थ ब्राह्मण आदि जाति अथवा मातृपक्ष होता है। अपनी जाति का आश्रय लेकर अर्थात् अपनी जाति बताकर आहारादि प्राप्त करना जात्याजीववृत्तिता है[१०]।

१—(क) भग० २५.७।

(ख) ठा० ६.६६ टी० प० ३४६ : व्यावृत्तभावो वैयावृत्यं धर्मसाधनार्थं अन्नादिदानमित्यर्थः।

(ग) ठा० ३.४१२ टी० प० १४५ : व्यावृत्तस्य भावः कर्म्म वा वैयावृत्यं भक्तादिभिरुपष्टम्भः।

(घ) औप० टी० पृ० ८१ : 'वेआवच्चे' त्ति – वैयावृत्य भक्तपानादिभिरुपष्टम्भ।

(ङ) उत्त० ३०.३३ बृ० प० ६०८ : व्यावृत्तभावो वैयावृत्यम् उचित आहारादि सम्पादनम्।

२—रत्नकरण्ड श्रावकाचार १११। दानं वैयावृत्यं, धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।

३—कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण २ प्रकरण २३.२० : तद्वैयावृत्यकाराणामर्धदण्ड। व्याख्या – तद्वैयावृत्यकाराणां तस्य वैयावृत्यकाराः विशेषेण आसमन्ताद् वर्तन्त इति। व्यावृत्तः परिचारकः तस्य कर्म वैयावृत्यं परिचर्या तत् कुर्वन्त. परिचारिकाः तेषां अर्धदण्डः।

वैयावृत्यं शब्द का प्रयोग कौ० अ० चतुर्थ अधिकरण प्रकरण ८३.११ में भी मिलता है।

४—वही, अधिकरण ३ प्रकरण ६४.२८ : वैयापृत्यविक्रयस्तु। व्याख्या- व्यापृतो व्याप्रियमाणस्तस्य कर्म वैयापृत्य वैयापृत्यकरा इति वृ शब्द पाठे यथा कर्मकरार्थता तथा व्याख्यातमधस्तात्।

५—(क) सू० १.१३.१२ टी० प० २३६ : आजीवम् आजीविकाम् आत्मवर्तनोपायाम् :

(ख) सू० १.१३.१५ टी० प० २३७ : आ – समन्ताज्जीवन्त्यनेन इति आजीव.।

६—ठा० ५.७१ : पंचविधे आजीविते पं० तं० जातिआजीवे कुलाजीवे कम्माजीवे सिप्पाजीवे लिंगाजीवे।

७—(क) पिं० नि० ४३७ : जाई कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।

(ख) नि० भा० गा० ४४११ : जाती-कुल-गण-कम्मे, सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।

(ग) ठा० ५.७१ टी० प० २८६ : लिङ्गस्थानेऽन्यत्र गणोऽधीयते।

(घ) अ० चू० पृ० ६१ ; जि० चू० पृ० ११४ : 'जाती कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।'

८—व्य० भा० २४३ : जाति कुले गणे वा, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव।

सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ॥

९—हा० टी० प० ११७ : जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनम् आजीवः तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता—जात्याद्याजीवनेनात्मपालनेत्यर्थः, इयं चानाचरिता।

१०—(क) पिं० नि० ४३८ टी० : जातिः—ब्राह्मणादिका .... अथवा मातुः समुत्था जातिः।

(ख) ठा० ५.७१ टी० प० २८९ : जातिं ब्राह्मणादिकाम् आजीवति—उपजीवति तज्जातीयमात्मानं सूचादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति जात्याजीवकः, एवं सर्वत्र।

२—कुल का अर्थ उग्रादिकुल अथवा पितृपक्ष है[1]। कुल का आश्रय लेकर अर्थात् कुल बतलाकर आजीविका करना कुलाजीववृत्तिता है।

३—कर्म का अर्थ कृषि आदि कर्म हैं। आचार्य आदि से शिक्षण पाए बिना किये जानेवाले कार्य कर्म कहे जाते हैं। जो कृषि आदि में कुशल हैं, उन्हें अपनी कर्म-कुशलता की बात कह आहारादि प्राप्त करना कर्माजीववृत्तिता है[2]।

४—बुनना, सिलाई करना आदि शिल्प हैं। शिक्षण द्वारा प्राप्त कौशल शिल्प कहा जाता है। जो शिल्प में कुशल हैं, उन्हें अपने शिल्प-कौशल की बात कह आहारादि प्राप्त करना शिल्पाजीववृत्तिता है[3]।

५—लिङ्ग वेष को कहते हैं। अपने लिङ्ग का सहारा ले आजीविका करना लिङ्गाजीववृत्तिता है[4]।

६—गण का अर्थ मल्लादि गण (गण-राज्य) है। अपनी गणविद्याकुशलता को बतलाकर आजीविका करना गणाजीववृत्तिता है[5]।

७—अपने तप के सहारे अर्थात् अपने तप का वर्णन कर, आजीविका प्राप्त करना तप-आजीववृत्तिता है[6]।

८—श्रुत का अर्थ है शास्त्रज्ञान। श्रुत के सहारे अर्थात् अपने श्रुत ज्ञान का बखान कर आजीविका प्राप्त करना श्रुताजीववृत्तिता है[7]।

जाति आदि का कथन दो तरह से हो सकता है : (१) स्पष्ट शब्दों मे अथवा (२) प्रकारान्तर से सूचित कर। दोनो ही प्रकार से जात्यादि का कथन कर आजीविका प्राप्त करना आजीववृत्तिता है[8]।

साधु के लिए आजीववृत्तिता अनाचार है। मैं अमुक जाति, कुल, गण का रहा हूँ। अथवा अमुक कर्म या शिल्प करता था अथवा मैं बड़ा तपस्वी अथवा बहुश्रुत हूँ—यह स्पष्ट शब्दो में कहकर या अन्य तरह से जताकर यदि भिक्षु आहार आदि प्राप्त करता है तो आजीववृत्तिता अनाचार का सेवन करता है।

सूत्रकृताङ्ग मे कहा है—"जो भिक्षु निष्किंचन और सुरूक्षवृत्ति होने पर भी मान-प्रिय और स्तुति की कामना करनेवाला है उसका संन्यास आजीव है। ऐसा भिक्षु मूल-तत्त्व को न समझता हुआ भव-भ्रमण करता है[9]।"

१—(क) पि० नि० ४३८ टी० : कुलम्—उग्रादिः अथवा ·····पितृसमुत्थं कुलम्।
 (ख) व्य० भा० २५३ टी० : एवं सप्तविधम् आजीवं य उपजीवति—जीवनार्थमाश्रयति, तद्यथा—जातिं कुलं चात्मीय लोकेभ्यः कथयति।

२—पि० नि० ४३८ टी० : कर्म—कृष्यादिः······अन्ये त्वाहुः—अनाचार्योपविष्टं कर्म।

३—(क) पि० नि० ४३८ टी० : शिल्पं—तूर्णादि—तूर्णनसीवनप्रभृति। आचार्योपविष्टं तु शिल्पमिति।
 (ख) व्य० भा० २५३ टी० : कर्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्मशिल्पकौशलं कथयति।
 (ग) नि० भा० गा० ४४१२ चू० : कम्मसिप्पाणं इमो विसेसो—विणा आयरिओवदेसेण जं कज्जति तणहारगादि तं कम्मं, इतरं पुण जं आयरिओवदेसेण कज्जति तं सिप्पं।

४—ठा० ५.७१ टी० प० २८६ : लिङ्गं—साधुलिङ्ग तदाजीवति, ज्ञानादिशून्यस्तेन जीविकां कल्पयतीत्यर्थः।

५—(क) पि० नि० ४३८ टी० : गणः—मल्लादिवृन्दम्।
 (ख) व्य० भा० २५३ टी० : मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कथयति।

६—व्य० भा० २५३ टी० : तपस: उपजीवना तपः कृत्वा क्षपकोऽहमिति जनेभ्य. कथयति।

७—व्य० भा० २५३ टी० : श्रुतोपजीवना बहुश्रुतोऽहमिति।

८—(क) पि० नि० ४३७ : सूयाए असूयाए व अप्पाण कहेहि एक्केक्के।
 (ख) इसी सूत्र की टीका—सा चाऽऽजीवना एकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा—सूचया आत्मानं कथयति, असूचया च, तत्र 'सूचा' वचनं भङ्गिविशेषेण कथनम्, 'असूचा' स्फुटवचनेन।
 (ग) ठा० ५.७० टी० प० २८६ : सूचया—व्याजेनासूचया—साक्षात्।

९—सू० १.१३.१२ : निक्किंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिलोयगामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेति॥

उत्तराध्ययन में कहा गया है—जो शिल्प-जीवी नहीं होता, वह भिक्षु[1]। इसी तरह कृषि आदि कर्म करने का भी वर्जन है। जब गृहस्थावस्था के कर्म, शिल्प आदि का उल्लेख कर या परिचय दे भिक्षा प्राप्त करना अनाचार है, तब कृषि आदि कर्म व सूचि आदि शिल्पों द्वारा आजीविका न करना साधु का सहज धर्म हो जाता है।

व्यवहार भाष्य में जो आजीव से उपजीवन करता है उसे कुशील कहा है[2]। आजीववृत्तिता उत्पादन दोषों में से एक है[3]। निशीथ सूत्र में आजीवपिण्ड—आजीववृत्तिता से प्राप्त आहार—खानेवाले श्रमण के लिए प्रायश्चित्त का विधान है[4]। भाष्य में कहा है—जो ऐसे आहार का सेवन करता है वह आज्ञा-भग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना का भागी होता है[5]।

जाति आदि के आश्रय से न जीनेवाला साधु 'मुधाजीवी' कहा गया है[6]। जो 'मुधाजीवी' होता है वह सद्-गति को प्राप्त करता है[7]। जो श्रमण 'मुधाजीवी' नही होता वह जिह्वा-लोलुप बन श्रामण्य को नष्ट कर डालता है। इसलिए आजीववृत्तिता अनाचार है।

साधु सदा याचित ग्रहण करता है कभी भी अयाचित नहीं[8]। अतः उसे गृहस्थ के यहाँ गवेषणा के लिए जाना होता है। संभव है गृहस्थ के घर मे देने के योग्य अनेक वस्तुओ के होने पर भी वह साधु को न दे अथवा अल्प दे अथवा हल्की वस्तु दे। यह अलाभ परीषह है। जो भिक्षु गृहस्थावस्था के कुल आदि का उल्लेख कर या परिचय दे उनके सहारे भिक्षा प्राप्त करता है, वह एक तरह की दीनवृत्ति का परिचय देता है। इसलिए भी आजीववृत्तिता अनाचार है।

३६. तप्तानिर्वृतभोजित्व (तत्तानिव्वुडभोइत्तं ग) :

तप्त और अनिर्वृत इन दो शब्दो का समास मिश्र (सचित्त-अचित्त) वस्तु का अर्थ जताने के लिए हुआ है। जितनी दृश्य वस्तुएँ हैं वे पहले सचित्त होती हैं। उनमे से जब जीव च्युत हो जाते हैं, केवल शरीर रह जाते है, तब वे वस्तुएँ अचित्त बन जाती हैं। जीवो का च्यवन काल-मर्यादा के अनुसार स्वय होता है और विरोधी-पदार्थ के सयोग से काल-मर्यादा से पहले भी हो सकता है। जीवो की मृत्यु के कारण-भूत विरोधी पदार्थ शस्त्र कहलाते हैं। अग्नि मिट्टी, जल, वनस्पति और त्रस जीवो का शस्त्र है। जल और वनस्पति सचित्त होते हैं। अग्नि से उबालने पर ये अचित्त हो जाते हैं। किन्तु ये पूर्ण-मात्रा मे उबाले हुए न हो उस स्थिति मे मिश्र बन जाते हैं— कुछ जीव मरते हैं कुछ नही मरते इसलिए वे सचित्त-अचित्त बन जाते हैं। इस प्रकार के पदार्थ को तप्तानिर्वृत कहा जाता है[9]।

प्रस्तुत सूत्र ५.२.२२ में तप्तानिर्वृत जल लेने का निषेध मिलता है तथा ८.६ मे 'तत्तफासुय' जल लेने की आज्ञा दी है। इससे स्पष्ट होता है कि केवल गर्म होने मात्र से जल अचित्त नही होता। किन्तु वह पूर्णमात्रा मे गर्म होने से अचित्त होता है। मात्रा की पूर्णता के बारे मे चूर्णिकार और टीकाकार का आशय यह है कि त्रिदण्डोद्वृत्त—तीन बार उबलने पर ही जल अचित्त होता है, अन्यथा नही[10]।

---

१ - उत्त० १५.१६ : असिप्पजीवी ·· ·····स भिक्खू।

२ - व्यवहार भाष्य २५३।

३ — श्रमण सू० पृ० ४३२ : धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए॥

४ - नि० १३.६७ : जे भिक्खू आजीवियपिंडं भुंजति भुंजंतं वा सातिज्जति।

५ नि० भा० गा० ४४१० : जे भिक्खाऽऽजीवपिंडं, गिण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे॥

६ हा० टी० प० १८१ : 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये।

७ - दश० ५.१.१०० : मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं।

८ - उत्त० २.२८ : सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं।

९ - अ० चू० पृ० ६१ : जाव णातीवअगणिपरिणतं तं तत्तअपरिणिव्वुडं।

१० - (क) अ० चू० पृ० ६१ : अहवा तत्तमवि तिन्नि वारे अणुव्वत्तं अणिव्वुडं।

(ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा तत्तमवि जाहे तिण्णि वाराणि न उव्वत्तं भवइ ताहे तं अनिव्वुडं, सचित्तंति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११७ : 'तप्तानिर्वृतभोजित्वम्'—तप्तं च तदनिर्वृतं च—अत्रिदण्डोद्वृत्तं चेति विग्रहः, उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं—मिश्रसचित्तोदकभोजित्वम् इत्यर्थः।

दश० ५२.२२ में 'वियडं वा तत्तनिव्वुडं' और ८.६ में 'उसिणोदगं तत्तफासुयं'—इन दोनों स्थलों में क्रमशः तप्तानिर्वृत जल का निषेध और तप्तप्रासुक जल का विधान है। किन्तु प्रस्तुत स्थल में तप्तानिर्वृत के साथ भोजित्व शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए इसका सम्बन्ध भक्त और पान दोनों से है। इसलिए एक बार भुने हुए शमी—धान्य को लेने का निषेध किया गया है[1]। गर्म होने के बाद ठंडा हुआ पानी कुछ समय में फिर सचित्त हो जाता है उसे भी 'तप्तानिर्वृत' कहा गया है।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार ग्रीष्म-काल मे एक दिन-रात के बाद गर्म पानी फिर सचित्त हो जाता है। तथा हेमन्त और वर्षा-ऋतु में पूर्वाह्न में गर्म किया हुआ जल अपराह्न में सचित्त हो जाता है। जिनदास महत्तर का भी यही अभिमत रहा है[2]। टीकाकार ने इसके बारे में कोई चर्चा नही की है। ओघनिर्युक्ति आदि ग्रंथों मे अचित्त वस्तु के फिर से सचित्त होने का वर्णन मिलता है। जल की योनि अचित्त भी होती है[3]।

सूत्रकृताङ्ग (२.३.५६) के अनुसार जल के जीव दो प्रकार के होते हैं—वात-योनिक और उदक-योनिक। उदक-योनिक जल के जीव उदक में ही पैदा होते हैं। वे सचित्त उदक में ही पैदा हों, अचित्त में नही हो ऐसे विभाग का आधार नही मिलता क्योंकि वह अचित्त-योनिक भी है। इसलिए यह सूक्ष्म दृष्टि से विमर्शनीय है। प्राणी-विज्ञान की दृष्टि से यह बहुत ही महत्व का है।

भगवान् महावीर ने कहा है[4]—"साधु के सामने ऐसे अवसर, ऐसे तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं—'अन्य दर्शनियो द्वारा मोक्ष का सम्बन्ध खाने-पीने के साथ नहीं जोडा गया है और न सचित्त-अचित्त के साथ। पूर्व मे तप तपने वाले तपोधन कच्चे जल का सेवन कर ही मोक्ष प्राप्त हुए। वैसे ही नमि आहार न कर सिद्ध हुए और रामगुप्त ने आहार कर सिद्धि प्राप्त की। बाहुक कच्चा जल पीकर सिद्ध हुए और तारागण ऋषि ने परिणत जल पीकर सिद्धि प्राप्त की। आसिल ऋषि, देविल ऋषि तथा द्वैपायन और पराशर जैसे जगत् विख्यात और सर्व सम्मत महापुरुष कच्चे जल, बीज और हरी वनस्पति का भोजन कर सिद्ध हो चुके हैं'।" उन्होने पुनः कहा है "यह सुनकर मन्द बुद्धि साधु उसी प्रकार विषादादि को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार कि बोझ आदि से लदा हुआ गधा, अथवा अग्नि आदि उपद्रवो के अवसर पर लकडी के सहारे चलने वाला लूला पुरुष।" महावीर के उपदेश का सार है कि अन्य दर्शनियों के द्वारा सिद्धान्तों की ऐसी आलोचना होने पर घबराना नही चाहिए। उत्तराध्ययन मे कहा है "अनाचार से घृणा करने वाला लज्जावान् संयमी प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त जल का सेवन न करे किन्तु प्रासुक पानी की गवेषणा करे। निर्जन मार्ग से जाता हुआ मुनि तीव्र प्यास से व्याकुल हो जाय तथा मुह सूखने लगे तो भी दीनतारहित होकर कष्ट सहन करे[5]।"

१—दश० ५.२.२० ।

२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : अहवा तत्त पाणित पुणो सीतलीभूतं आउक्कायपरिणामं जाति त अपरिणय अणिव्वुडं, गिम्हे अहो-रत्तेण सच्चित्ती भवति, हेमन्त-वासासु पुव्वण्हे कत अवरण्हे ।

(ख) जि० चू० पृ० ११४ : तत्तं पाणीयं त पुणो सीतलीभूतमनिव्वुड भण्णइ, तं च न गिम्हे, रत्ति पज्जुसियं सचित्तीभवइ, हेमन्तवासासु पुव्वण्हे कयं अवरण्हे सचित्ती भवति, एव सचित्तं जो भुंजइ सो तत्तानिव्वुडभोई भवइ ।

३—ठा० ३.१०१ : तिविहा जोणी पण्णत्ता त जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया । एवं एगिंदियाण विगलिंदियाण समुच्छिमपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाण समुच्छिममणुस्साण य ।

४—सूत्र० १.३.४.१-५ : आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा ।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयइ ॥
अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ ।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी ॥
आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥
एए पुव्वं महापुरिसा, आहिया इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इइ मेयमणुस्सुअ ॥
तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा ।
पिट्ठओ परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी य संभमे ॥

५—उत्त० २.४,५ : तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए ।
सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥
छिन्नावाएसु पन्थेसु, आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्कमुहेऽदीणे, तं तितिक्खे परीसहं ॥

३७. आतुर-स्मरण (आउरस्सरणाणि घ) :

सूत्रकृताङ्ग में केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग मिलता है[1]। पर वहाँ चर्चित विषय की समानता से[2] यह स्पष्ट है कि 'सरण' शब्द से 'आउरस्सरण' ही अभिप्रेत है। उत्तराध्ययन मे 'आउरे सरण' पाठ मिलता है[3]।

'सरण' शब्द के सस्कृत रूप 'स्मरण' और 'शरण'—ये दो बनते है[4]। स्मरण का अर्थ है—याद करना और शरण के अर्थ हैं—(१) त्राण और (२) घर -आश्रय—स्थान[5]।

इन दो रूपो के आधार से पाँच अर्थ निकलते हैं .

(१) केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग होने से सूत्रकृताङ्ग की चूर्णि मे इसका अर्थ पूर्व-भुक्त काम-क्रीडा का स्मरण किया है[6]। शीलाङ्कसूरि को भी यह अर्थ अभिप्रेत है[7]।

(२) दशवैकालिक के चूर्णिकार अगस्त्यसिंह ने 'आउर' शब्द जुडा होने से इसका अर्थ क्षुधा आदि से पीड़ित होने पर पूर्व-भुक्त वस्तुओं का स्मरण करना किया है[8]। जिनदास और हरिभद्र सूरि को भी यही अर्थ अभिप्रेत है[9]।

(३) उत्तराध्ययन के वृत्तिकार नेमिचन्द्र सूरि ने इसका अर्थ —रोगातुर होने पर माता-पिता आदि का स्मरण करना किया है[10]।

(४) दशवैकालिक की चूर्णियों मे 'शरण' का भयातुर को शरण देना ऐसा अर्थ है। हरिभद्र सूरि ने दोषातुरो को आश्रय देना अर्थ किया है[11]।

(५) रुग्ण होने पर आतुरालय या आरोग्यशाला मे भर्ती होना यह अर्थ भी प्राप्त है[12]।

इस प्रकार 'आउस्सरण' के पाँच अर्थ हो जाते हैं। तीन 'स्मरण' रूप के आधार पर और दो 'शरण' रूप के आधार पर।

'आतुर' शब्द का अर्थ है—'पीडित'। काम, क्षुधा, भय आदि से मनुष्य आतुर होता है और आतुर दशा में वह उक्त प्रकार की सावद्य चेष्टाएँ करता है। किन्तु निर्ग्रन्थ के लिए ऐसा करना अनाचार है।

प्रश्न उठता है— शत्रुओं से अभिभूत को शरण देना अनाचार क्यो है ? इसके उत्तर मे चूर्णिकार कहते हैं—"जो साधु स्थान—आश्रय देता है, उसे अधिकरण दोष होता है। यह एक बात है। दूसरी बात यह है कि उसके शत्रु को प्रद्वेष होता है[13]।" इसी तरह आरोग्यशाला में प्रवेश करना साधु को न कल्पने से अनाचार है[14]।

१—सूत्र० १.९.२१ : आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
 संपुच्छणं सरणं वा, तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

२—सूत्र० १.९.१२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, २० ।

३—उत्त० १५.८ : मन्त मूल विविहं वेज्जचिन्तं, वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
 आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

४—हा० टी० प० ११७-१८ : आतुरस्मरणानि ··· आतुरशरणानि वा ।

५—अ० चि० ४ : ५७ ।

६—सू० चू० पृ० २२३ . सरणं पुव्वरतपुव्वकीलियाणं ।

७—सू० १.९.२१ टीका प० १८२ : पूर्वक्रीडितस्मरणम् ।

८—अ० चू० पृ० ६१ : छुहादीहिं परीसहेहिं आउरेणं सितोदकादिपुव्वभुत्तसरणं ।

९ (क) जि० चू० पृ० ११४ : आउरीभूतस्स पुव्वभुत्ताणुसरणं ।
 (ख) हा० टी० प० ११७ : क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि ।

१०—उत्त० १५.८ ने० टी० प० २१७ : सुब्व्यत्ययाद् 'आतुरस्य' रोगपीडितस्य स्मरणं 'हा तात ! हा मातः !' इत्यादिरूपम् ।

११—(क) अ० चू० पृ० ६१ : सत्तूहिं वा अभिभूतस्स सरणं भवति वारेति तोवासं वा देति ।
 (ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा सत्तूहिं अभिभूतस्स सरणं देइ, सरणं णाम उवस्सए ठाणंति वुत्तं भवइ·······।
 (ग) हा० टी० प० ११८ . आतुरशरणानि वा—दोषातुराश्रयदानानि ।

१२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : अहवा सरणं आरोग्गसाला तत्थ पवेसो गिलाणस्स ।
 (ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा आउरस्सरणाणि त्ति आरोग्गसालाओ भण्णंति ।

१३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तत्थ अधिकरण दोसा, पदोसं वा ते सत्तू आएज्जा ।
 (ख) जि० चू० पृ० ११४ : तत्थ उवस्सए ठाणं देंतस्स अहिकरणदोसो भवति सो वा तस्स सत्तू पओसमावज्जेज्जा ।

१४—जि० चू० पृ० ११४ : तत्थ न कप्पइ गिलाणस्स पविसिउं एतमवि तेसिं अणाइण्णं ।

श्लोक ७ :

३८. अनिर्वृ त, सचित्त, आमक (अणिव्वुडे ख, सच्चित्ते ग, आमए घ)

इन तीनों का एक ही अर्थ है। जिस वस्तु पर शस्त्रादि का व्यवहार तो हुआ है पर जो प्रासुक—जीव-रहित—नहीं हो पायी हो उसे अनिर्वृ त कहते हैं। 'निर्वृ त' का अर्थ है शान्त। अनिर्वृ त--अर्थात् जिससे प्राण अलग नही हुए हैं। जिस पर शस्त्र का प्रयोग नही हुआ, अतः जो वस्तु मूलतः ही सजीव है उसे सचित्त कहते हैं। आमक का अर्थ है—कच्चा। जो फलादि कच्चे हैं, वे भी सचित्त होते हैं[1]। इस तरह 'अनिर्वृ त' और 'आमक' ये दोनो शब्द सचित्त के पर्यायवाची हैं। ये तीनो शब्द सजीवता के द्योतक हैं।

३९. इक्षु-खण्ड (उच्छुखंडे ख) :

यहाँ सचित्त इक्षु-खण्ड के ग्रहण को अनाचार कहा है। ५.१.७३ मे इक्षु-खण्ड लेने का जो निषेध है, उसका कारण इससे भिन्न है। उसमें फेंकने का अश अधिक होने से वहाँ उसे अग्राह्य कहा है।

चूर्णिकार द्वय और टीका के अनुसार जिसमे दो पोर विद्यमान हों, वह इक्षु-खण्ड सचित्त ही रहता है[2]।

४०. कंद और मूल (कंदे मूले ग) :

कद-मूल तथा मूल-कद ये दो भिन्न प्रयोग हैं। जहाँ मूल और कद ऐमा प्रयोग होता है वहाँ वे वृक्ष आदि की क्रमिक अवस्था के बोधक होते हैं। वृक्ष का सबसे निचला भाग मूल और उसके ऊपर का भाग कद कहलाता है। जहाँ कद और मूल ऐमा प्रयोग होता है वहाँ कद का अर्थ शकरकद आदि कन्दिल जड़ और मूल का अर्थ सामान्य जड होता है[3]।

४१. बीज (बीए घ) :

बीज का अर्थ गेहूँ, तिल आदि धान्य विशेष है[4]।

श्लोक ८ :

४२. सौवर्चल (सोवच्चले क)

इस श्लोक में सौवर्चल, सैन्धव, रोमा लवण, सामुद्र, पांशुक्षार और काला लवण—ये छः प्रकार के लवण बतलाए गए हैं।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार सौवर्चल नमक उत्तरापथ के एक पर्वत की खान से निकलता था[5]। जिनदास महत्तर इसकी खानों को सेंधा नामक की खानो के बीच-बीच मे बतलाते है[6]। चरक के अनुसार यह कृत्रिम लवण है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० ६२ : अणिव्वुडं······तं पुण जीवअविप्पजढ, निव्वुडो संतो मतो ··आमगं अपरिणतं···आमग सच्चित्तं।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : निव्वुडं पुण जीवविप्पजढं भण्णइ, जहा निव्वातो जीवो, पसंतो सीतुतं भवइ······आमगं भवति असत्थपरिणय।
(ग) हा० टी० प० ११८ : अनिर्वृ तम्—अपरिणतम्;············आमकं आमगं सचित्तं।

२—(क) अ० चू० पृ० ६२ : उच्छुखंडं दोसु पोरेसु धरमाणेसु अणिव्वुड।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : उच्छुखडमवि दोसु पोरेसु वट्टमाणेसु अनिव्वुडं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११८ 'इक्षुखण्डं' चापरिणतं द्विपर्वान्तं यद्वर्तते।

३ (क) अ० चू० पृ० ६२ : कदा वज्जकादतो।
(ख) हा० टी० प० ११८ : 'कन्दो'—वज्रकन्दादिः मूल च' सट्टामूलादि।

४—(क) अ० चू० पृ० ६२ : बीता धण्णविसेसो।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : बीजा गोधूमतिलादिणो।

५—अ० चू० पृ० ६२ : सोवच्चलं उत्तरावहे पव्वतस्स लवणखाणीसु सभवति।

६—जि० चू० पृ० ११५ : सोवच्चलं नाम सेंधवलोणपव्वयस्स अंतरंतरेसु लोणखाणीओ भवति।

७—चरक० (सू०) २७.२९६ पृ० २५० पाद-टि० १ : सौवर्चलं प्रसारणीकल्कसंगतलवणसंयोगात्। अग्निदाहेन निर्वृ तम्। इति डल्हणः। आयुर्वेद के आचार्य सौवर्चल और विड़ लवण को कृत्रिम मानते हैं - देखो रसतरंगिणी।

सैन्धव नमक सिन्धु देश (सिंध-प्रदेश) के पर्वत की खान से पैदा होता है[1]। आचार्य हेमचन्द्र ने सैन्धव को नदी-भव माना है[2]। सैन्धव के बाद लोण शब्द आया है। चूर्णिकार उसे सैन्धव का विशेष्य मानते हैं और हरिभद्र सूरि उसे सांभर के लवण का वाचक मानते हैं[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार जो रूमा में हो वह रोमा लवण है[4]। रोमक या रूमा-भव को कुछ कोषकार सामान्य नमक का वाचक मानते हैं और कुछ सांभर नमक का[5]। किन्तु रूमा का अर्थ है लवण की खान[6]। जिनदास महत्तर रूमा देश में होनेवाला नमक रूमा लवण इतना ही लिख उसे छोड़ देते हैं[7]। किन्तु वह कहाँ था, उसकी चर्चा नहीं करते।

सामुद्र—सांभर के लवण को सामुद्र कहते हैं। समुद्र के जल को क्यारियों में छोड़कर जमाया जानेवाला नमक सामुद्र है[8]।

पांशुक्षार[9]—खारी-मिट्टी (नोनी-मिट्टी) से निकाला हुआ नमक[10]।

काला नमक—चूर्णिकार के अनुसार कृष्ण नमक सैन्धव-पर्वत के बीच-बीच की खानों में होता है[11]। कोषकारों ने कृष्ण नमक को सौवर्चल का ही एक प्रकार माना है, उसके लिए तिलक शब्द है[12]।

चरक में काले नमक और सौंचल (सौवर्चल) को गुण में समान माना गया है। काले नमक में गन्ध नहीं होती। सौवर्चल से इसमें यही भेद है[13]। चक्र ने काले नमक का दक्षिण-समुद्र के समीप होना बतलाया है[14]।

श्लोक ६ :

४३. धूम-नेत्र (धूव-णेत्ति क) :

शिर-रोग से बचने के लिए धूम्र-पान करना अथवा धूम्र-पान की शलाका रखना अथवा शरीर व वस्त्र को धूप देना—यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है[15], जो क्रमशः धूम, धूम-नेत्र और धूपन शब्द के आधार पर हुई है।

धूम-नेत्र का निषेध उत्तराध्ययन में भी मिलता है[16]। यद्यपि टीकाकारों ने धूम और नेत्र को पृथक् मानकर व्याख्या की है पर वह

१—(क) अ० चू० पृ० ६२ : सेन्धव सेन्धवलोणपव्वते संभवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : सेंधव नाम सिंधवलोणपव्वए तत्थ सिंधवलोणं भवइ।

२—अ० चि० ४.७ : सेंधव तु नदी भवम्।

३—हा० टी० प० ११८ : 'लवण च' सांभरिलवण।

४—अ० चू० पृ० ६२ : रूमालोण रूमाए भवति।

५—अ० चि० ४.८ की रत्नप्रभा व्याख्या।

६—अ० चि० ४.७ : रुमा लवणखानिः स्यात्।

७—जि० चू० पृ० ११५ : रुमालोणं रुमाविसए भवइ।

८ (क) अ० चू० पृ० ६२ सांभरीलोणं सामुद्दं, सामुद्दपाणीयं रिणे केदारविकतमावट्टं तं लवणं भवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : समुद्दलोणं समुद्दपाणीयं तं खड्डीए निव्वंतूण रिणजूवीए आरिक्कमाणं लोणं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११८ : सामुद्रं—समुद्रलवणमेव।

९—चरक० सू० २७.३०६ टीका : पांशुज पूर्वसमुद्रजम्।

१० -(क) अ० चू० पृ० ६२ : पसुखारो ऊसो कट्टिज्जंतो अट्ठुप्प भवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : पसुखारो ऊसो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'पांशुक्षारश्च' ऊषरलवण।

११—(क) अ० चू० पृ० ६२ : तस्सेव सेन्धवपव्वतस्स अंतरंतरेसु (कालालोण) खाणीसु संभवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ । तस्सेव सेन्धवपव्वयस्स अतरंतरेसु काला लोण खाणीओ भवंति।

१२—अ० चि० ४.९ : सौवर्चलेऽक्षं रुचक दुर्गन्धं शूलनाशनम्, कृष्णे तु तत्र तिलकं.........।

१३—चरक० सू० २७.२९८ : न काललवणे गन्धः सौवर्चलगुणाश्च ते।

१४—चरक० सू० २७.२९६ पाद-टि० १ : चक्रस्तु काललवणटीकायां काललवणं सौवर्चलमेवागन्धं दक्षिणसमुद्रसमीपे भवतीत्याह।

१५—अ० चू० पृ० ६२ : धूम पिवति 'मा सिररोगातिणो भविस्सति' आरोग्गपडिकम्मं, अहवा "धूमणे" त्ति धूमपाणसलागा, धूवेति वा अप्पाणं वत्थाणि वा।

१६—उत्त० १५.८ : ....वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

संभाव्य नहीं है। नेत्र को पृथक् मानने के कारण उन्हें उसका अर्थ अञ्जन करना पड़ा[1], जो कि बलात् लाया हुआ-सा लगता है।

जिनदास महत्तर के अनुसार रोग की आशंका व शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक-आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था[2]।

निशीथ में अन्यतीर्थिक और गृहस्थ के द्वारा घर पर लगे धूम को उतरवाने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है।[3] भाष्यकार के अनुसार दद्रु आदि की औषध के रूप में धूम का प्रयोग होता था[4]। इसकी पुष्टि चरक से भी होती है[5]।

यह उल्लेख गृह-धूम के लिए है किन्तु अनाचार के प्रकरण में जो धूम-नेत्र (धूम्र-पान की नली) का उल्लेख है, उसका सम्बन्ध चरकोक्त वैरेचनिक, स्नैहिक और प्रायोगिक धूम से है। प्रतिदिन धूम-पानार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को प्रायोगिकी-वर्ति, स्नेहनार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को स्नैहिकी-वर्ति और दोष-विरेचन के लिए उपयुक्त होनेवाली वर्ति को वैरेचनिकी-वर्ति कहा जाता है। प्रायोगिकी-वर्ति के पान की विधि इस प्रकार बतलाई गई है -- घी आदि स्नेह से चुपड़ कर वर्ति का एक पार्श्व धूम-नेत्र पर लगाएँ और दूसरे पार्श्व पर आग लगाएँ। इस हितकर प्रायोगिकी-वर्ति द्वारा धूम-पान करें[6]।

उत्तराध्ययन के व्याख्याकारों ने धूम को मेनसिल आदि से सम्बन्धित माना है[7]। चरक में मेनसिल आदि के धूम को शिरोविरेचन करने वाला माना गया है[8]।

धूम-नेत्र कैसा होना चाहिए, किसका होना चाहिए और कितना बड़ा होना चाहिए तथा धूम-पान क्यों और कब करना चाहिए, इनका पूरा विवरण प्रस्तुत प्रकरण में है। सुश्रुत के चिकित्सा-स्थान के चालीसवें अध्याय मे धूम का विशद वर्णन है। वहाँ धूम के पाँच प्रकार बतलाए हैं।

चरकोक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त 'कासघ्न' और 'वामनीय' ये दो और हैं।

सूत्रकृताङ्ग में धूपन और धूम-पान दोनों का निषेध है[9]। शीलाङ्क सूरि ने इसकी व्याख्या मे लिखा है कि मुनि शरीर और वस्त्र को धूप न दे और खाँसी आदि को मिटाने के लिए योग-वर्ति-निष्पादित धूम न पीए[10]।

सूत्रकार ने धूप के अर्थ मे 'धूवण' का प्रयोग किया है और सर्वनाम के द्वारा धूम के अर्थ मे उसीको ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि तात्कालिक साहित्य में धूप और धूम दोनों के लिए 'धूवण' शब्द का प्रयोग प्रचलित था। हरिभद्र सूरि ने भी इसका उल्लेख किया है।

प्रस्तुत श्लोक मे केवल 'धूवन' शब्द का ही प्रयोग होता तो इसके धूप और धूम ये दोनो अर्थ हो जाते, किन्तु यहाँ 'धूव-णेत्ति'

१—उत्त० १५.८ नेमि० वृ० प० २१७ . 'नेत्त' त्ति नेत्रशब्देन नेत्रसंस्कारकमिह समीराञ्जनादि गृह्यते।

२—जि० चू० पृ० ११५ : धूवणेत्ति नाम आरोग्गपडिकम्मं करेइ धूमंपि, इमाए सोगाइणो न भविस्सति।

३—नि० १.५७ : जे भिक्खू गिहधूमं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसाडावेइ, परिसाडावेंतं वा सातिज्जति।

४—नि० भा० गा० ७९८ : घरधूमोसहकज्जे, दद्दु किडिभेदकच्छु अगतादी।
घरधूमम्मि णिबंधो, तज्जातिअ सूयणट्ठाए ॥

५—चरक० सू० ३.४-६ पृ० २९ : कुष्ठ, दद्रु, भगन्दर, अर्श, पामा आदि रोगों के नाश के लिए छह योग बतलाए हैं। उनमें छठे योग में और वस्तुओं के साथ गृह-धूम भी है—

मनःशिलाले गृहधूम एला, कासीसमुस्तार्जुनरोध्रसर्जाः ॥ ४ ॥
कुष्ठानि कृच्छ्राणि नवं किलासं, सुरेन्द्रलुप्तं किटिभं सदद्रु।
भगन्दरार्शांस्यपचीं सपामां, हन्युः प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम् ॥ ६ ॥

६—चरक० सू० ५.२१ : कृत्वा विमर्दां तां वर्ति धूमनेत्रार्पितां नरः।
स्नेहाक्तामग्निसंप्लुष्टां पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम् ॥

७—उत्त० १५.८ नेमि० वृ० प० २१७ : धूमं—मनःशिलादिसम्बन्धि।

८—चरक० सूत्र० ५.२३ : श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमः शीर्षविरेचनम् ॥

९—(क) सू० २.१.१५ : णो धूवणे, णो तं परिआविएज्जा।
(ख) वही २.४.६७ : णो धूवणित्तं पिआइत्ते।

१०—सू० २.१.१५ टी० प० २९९ : तथा नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात् नापि कासाद्यपनयनार्थं तं धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति।

शब्द का प्रयोग है इसलिए इसका सम्बन्ध धूम-पान से ही होना चाहिए। वमन, विरेचन और वस्ति-कर्म के साथ 'धूम-नेत्र' का निकट सम्बन्ध है[1]। इसलिए प्रकरण की दृष्टि से भी 'धूपन' की अपेक्षा 'धूम-नेत्र' अधिक उपयुक्त है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'धूवणेत्ति' पाठ को मूल माना है[2] और 'धूमणेत्ति' को पाठान्तर। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ 'धूवणेत्ति' मान कर उसका संस्कृत रूप धूपन किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने इसका अर्थ धूम-पान भी किया है[3]। अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर चूर्णिकारों के अनुसार मुख्य अर्थ धूम-पान है और धूप-खेना गौण अर्थ है। टीकाकार के अभिमत में धूप-खेना मुख्य अर्थ है और धूम-पान गौण। इस स्थिति में मूल पाठ का निश्चय करना कठिन होता है, किन्तु इसके साथ जुड़े हुए 'इत्ति' शब्द की अर्थ-हीनता और उत्तराध्ययन में प्रयुक्त 'धूमणेत्त'[4] के आधार पर ऐसा लगता है कि मूल पाठ 'धूमणेत्त' या 'धूवणेत्त' रहा है। बाद में प्रतिलिपि होते-होते यह 'धूवणेत्ति' के रूप में बदल गया—ऐसा सम्भव है। प्राकृत के लिङ्ग अतन्त्र होते हैं, इसलिए सम्भव है यह धूवणेत्ति' या 'धूमणेत्ति' भी रहा हो।

बौद्ध-भिक्षु धूम-पान करने लगे तब महात्मा बुद्ध ने उन्हें धूम-नेत्र की अनुमति दी।[5] फिर भिक्षु सुवर्ण, रौप्य आदि के धूम-नेत्र रखने लगे[6]। इससे लगता है कि भिक्षुओं और सन्यासियों में धूम-पान करने के लिए धूम-नेत्र रखने की प्रथा थी, किंतु भगवान् महावीर ने अपने निर्ग्रंथों को इसे रखने की अनुमति नहीं दी।

४४ वमन, वस्तिकर्म, विरेचन (वमणे य [क] ···वत्थीकम्म विरेयणे [ख]) :

वमन का अर्थ है उल्टी करना, मदनफल आदि के प्रयोग से आहार को बाहर निकालना। इसे ऊर्ध्व-विरेक कहा है[7] :

अपान-मार्ग के द्वारा स्नेह आदि के प्रक्षेप को वस्तिकर्म कहा जाता है। आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार के वस्तिकर्मों का उल्लेख मिलता है[8]। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार चर्म की नली को 'वस्ति' कहते हैं। उसके द्वारा स्नेह का चढाना वस्तिकर्म है[9]। जिनदास और हरिभद्र ने भी यही अर्थ किया है[10]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार वस्तिकर्म कटि-वात, अर्श आदि को मिटाने के लिए किया जाता था[11]।

विरेचन का अर्थ है—जुलाब के द्वारा मल को दूर करना। इसे अधोविरेक कहा है[12]। इन्हें यहाँ अतिचार कहा है। इनका निषेध सूत्रकृताङ्ग में भी आया है[13]।

१—चरक० सू० ५.१७-३७।

२ - अ० चू० पृ ६२ : धूवणेत्ति सिलोगो।

३ हा० टी० प० ११८ : धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्, प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते।

४ —उत्त० १५.८।

५ - विनयपिटक : महावग्ग ६.२.७ : अनुजानामि भिक्खवे धूमनेत्तं ति।

६ -विनयपिटक : महावग्ग ६.२.७ : भिक्खू उच्चावचानि धूमनेत्तानि धारेन्ति—सोवण्णमयं रूपियमयं।

७—(क) अ० चू० : वमणं छड्डणं।
(ख) हा० टी० प० ११८ : वमनम् मदनफलादिना।
(ग) सूत्र० १.९.१२ टी० प० १८० : वमनम् —ऊर्ध्वविरेकः।

८ —चरक० सिद्धि० १

९—अ० चू० पृ० ६२ : वत्थी—णिरोहादिदाणत्थं चम्ममयो णालियाउत्तो कीरति तेणं कम्मं —अपाणाणं सिणेहादिदाणं वत्थिकम्मं।

१०—(क) जि० चू० पृ० ११५ : वत्थीकम्मं नाम वत्थी दइओ भण्णइ, तेण दइएण घयाईणि अधिट्ठाणे दिज्जंति।
(ख) हा० टी० प० ११८ : वस्तिकर्म्म पुटकेन अधिष्ठाने स्नेहदानं।

११—नि० भा० गा० ४३३० चूर्णि पृ० ३९२ : कडिवायअरिसविणासणत्थं च अपाणद्दारेण वत्थिणा तेल्लादिप्पदाणं वत्थिकम्मं।

१२—(क) अ० चू० पृ० ६२ : विरेयणं कसायादीहिं सोधणं।
(ख) हा० टी० प० ११८ : विरेचनं दन्त्यादिना।
(ग) सू० १.९.१२ टी० प० १८० : विरेचनं—निरुहात्मकमधोविरेको।

१३—सू० १.९.१२ : धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं।
वमणंजण पलीमंथं, तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

निशीथ-भाष्यकार के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए नहीं किन्तु मेरा वर्ण सुन्दर हो जाय, स्वर मधुर हो जाय, बल बढ़े अथवा मैं दीर्घ-आयु बनूं, मैं कृश होऊँ या स्थूल होऊँ —इन निमित्तों से वमन, विरेचन आदि करने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[१]।

चूर्णिकारों ने वमन, विरेचन और वस्तिकर्म को आरोग्य-प्रतिकर्म कहा है। जिनदास ने रोग न हो, इस निमित्त से इनका सेवन अकल्प्य कहा है[२]। इसी आधार पर हमने इन तीनो शब्दों के अनुवाद के साथ 'रोग की सम्भावना से बचने के लिए, रूप, बल आदि को बनाए रखने के लिए' जोड़ा है।

निशीथ में वमन, विरेचन के प्रायश्चित्त-सूत्र के अनन्तर अरोग-प्रतिकर्म का प्रायश्चित्त सूत्र है[३]।

रोग की सम्भावना से बचने की आकाक्षा और वर्ण, बल आदि की आकांक्षा भिन्न-भिन्न हैं।

वमन, वस्तिकर्म, विरेचन के निषेध के ये दोनो प्रयोजन रहे हैं, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

४५. दंतवण (दंतवणे ग) :

श्लोक ३ में 'दन्तपहोयणा' अनाचार का उल्लेख है और यहाँ 'दन्तवणे' का। दोनो में समानता होने से यहाँ संयुक्त विवेचन किया जा रहा है।

'दन्तपहोयणा' का सस्कृत रूप 'दन्तप्रधावन' होता है। इसके निम्न अर्थ मिलते हैं :

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इस शब्द का अर्थ काष्ठ, पानी आदि से दाँतों को पखारना किया है[४]।

(२) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दांतो का अंगुली आदि से प्रक्षालन करना किया है[५]। अंगुली आदि में दन्तकाष्ठ शामिल नही है। उसका उल्लेख उन्होंने 'दन्तवण' के अर्थ में किया है।

उक्त दोनों अर्थों मे यह पार्थक्य ध्यान देने जैसा है। 'दन्तवण' के निम्न अर्थ किये गये हैं :

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ दांतों की विभूषा करना किया है[६]।

(२) जिनदास ने इसे 'लोकप्रसिद्ध' कहकर इसके अर्थ पर कोई प्रकाश नही डाला। सम्भवत: उनका आशय दतवन से है।

(३) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दंतकाष्ठ किया है[७]।

जिससे दांतो का मल घिस कर उतारा जाता है उसे दंतकाष्ठ कहते हैं[८]।

'दंतवण' शब्द देशी प्रतीत होता है। वनस्पति, वृक्ष आदि के अर्थ में 'वन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है काष्ठ या लकड़ी के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता हो। यदि इसे संस्कृत-सम माना जाय तो दत-पवन से दन्त-अवण=दतवण हो सकता है।

जिस काष्ठ-खण्ड से दांत पवित्र किये जाते हैं उसे दन्त (पा)वन कहा गया है[९]।

दतवन अनाचार का अर्थ दातुन करना होता है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने दोनों अनाचारो का अर्थ बिलकुल भिन्न किया है पर 'दंतवण' शब्द पर से 'दांतों की विभूषा' करना—यह

१—नि० भा० गा० ४३३१ : वण्ण-सर-रूव-मेहा, वंगवलीपलित-नासणट्ठा वा ।
दीहाउ तट्ठता वा, थूल-किसट्ठा व तं कुज्जा ॥

२—(क) अ० चू० पृ० ६२ : एतानि आरोग्गपडिकम्माणि रूववलत्थमणातिण्णं ।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : एयाणि आरोग्गपरिकम्मणिमित्तं वा ण कप्पइ ।

३—नि० १३.३९,४०,४२ : जे भिक्खू वमणं करेति, करेंतं वा सातिज्जति ।
जे भिक्खू विरेयणं करेति, करेंतं वा सातिज्जति ।
जे भिक्खू अरोगे य परिकम्मं करेति, करेंतं वा सातिज्जति ।

४—(क) अ० चू० पृ० ६० : दंतपहोवणं दंताण कट्ठोदकादीहिं पक्खालणं ।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : दंतपहोयणं णाम दंताण कट्ठोदगादीहिं पक्खालणं ।

५—हा० टी० प० ११७ : 'दन्तप्रधावनं' चांगुल्यादिना क्षालनम् ।

६—अ० चू० पृ० ६२ : दंतमणं दसणाणं (विभूसा) ।

७—हा० टी० प० ११८ : दन्तकाष्ठं च प्रतीतम् ।

८—उपा० १.५ टी० पृ० ७ : दन्तमलापकर्षणकाष्ठम् ।

९—प्रश्न० ४.२१० टी० प० ५१ : दन्ताः पूयन्ते—पवित्राः क्रियन्ते येन काष्ठखण्डेन तद्दन्तपावनम् ।

अर्थ नहीं निकलता। हरिभद्र सूरि ने अंगुली और काष्ठ का भेद कर दोनों अनाचारों के अर्थों के पार्थक्य को रखा है, वह ठीक प्रतीत होता है।

सूत्रकृताङ्ग में 'दंतपक्खालणं' शब्द मिलता है[1]। जिससे दांतो का प्रक्षालन किया जाता है—दांत मल-रहित किये जाते हैं, उस काष्ठ को दंत-प्रक्षालन कहते हैं[2]। कदम्ब काष्ठादि से दातों को साफ करना भी दत-प्रक्षालन है[3]।

शाब्दिक दृष्टि से विचार किया जाय तो दंतप्रधावन के अर्थ, दंत-प्रक्षालन की तरह, दतौन और दांतों को धोना दोनों हो सकते हैं जब कि दंतवन का अर्थ दतौन ही होता है। दोनो अनाचारो के अर्थ-पार्थक्य की दृष्टि से यहां 'दंतप्रधावन' का अर्थ दातो को धोना और 'दंतवन' का अर्थ दातुन करना किया है।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है : 'णो दतपक्खालणेण दत पक्खालेज्जा'। शीलाङ्कसूरि ने इसका अथ किया है -मुनि कदम्ब आदि के प्रक्षालन—दतौन से दातो का प्रक्षालन न करे—उन्हे न धोए। यहां 'प्रक्षालन' शब्द के दोनो अर्थों का एक साथ प्रयोग है[4]। यह दोनो अनाचारो के अर्थ को समाविष्ट करता है।

अनाचारों की प्रायश्चित्त विधि निशीथ सूत्र में मिलती है। वहां दातो से सम्बन्ध रखने वाले तीन सूत्र हैं[5] -

(१) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दातो को एक दिन या प्रतिदिन घिसता है, वह दोष का भागी होता है।

(२) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतो का एक दिन या प्रतिदिन प्रक्षालन करता है, या प्रधावन करता है, वह दोष का भागी होता है।

(३) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतो के फूक मारता है या रगता है, वह दोष का भागी होता है।

इससे प्रकट है कि किसी एक दिन या प्रतिदिन दतमजन करना, दातो को धोना, दतवन करना, फूंक मारना और रगना ये सब साधु के लिए निषिद्ध कार्य हैं। इन कार्यों को करनेवाला साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

प्रो० अभ्यकर ने 'दनमण्ण' पाठ मान उसका अर्थ दातो को रगना किया है। यदि ऐसा पाठ हो तो उसकी आर्थिक तुलना निशीथ के दन्त-राग से हो सकती है।

आचार्य वट्टकेर ने प्रक्षालन, घर्षण आदि सारी क्रियाओ का 'दंतमण' शब्द से सग्रह किया है -अगुली, नख, अवलेखिनी (दतौन) काली (तृण विशेष), पैनी, ककणी, वृक्ष की छाल (वल्कल) आदि मे दात के मैल को शुद्ध नहीं करना, यह इन्द्रिय-सयम की रक्षा करने वाला 'अदतमन' मूल गुणव्रत है[6]।

बौद्ध-भिक्षु पहले दतवन नही करते थे। दतवन करने से —(१) आंखो को लाभ होता है, (२) मुख मे दुर्गन्ध नही होती, (३) रस वाहिनी नालियां शुद्ध होती हैं, (४) कफ और पित्त भोजन से नहीं लिपटते, (५) भोजन मे रुचि होती है—ये पांच गुण बता बुद्ध ने भिक्षुओ को दतवन की अनुमति दी। भिक्षु लम्बी दतवन करते थे और उसीसे श्रामणेरो को पीटते थे। 'दुक्कट' का दोष बता बुद्ध ने उत्कृष्ट मे आठ अगुल तक के दतवन की और जघन्य मे चार अगुल के दतवन की अनुमति दी[7]।

वैदिक धर्म-शास्त्रो मे ब्रह्मचारी के लिए दन्तधावन वर्जित है[8]। यतियो के लिए दन्तधावन का वैसा ही विधान रहा है जैसा कि गृहस्थों के लिए[9]। वहां दन्तधावन को स्नान के पहले रक्खा है और उसे स्नान और सन्ध्या का अङ्ग न मान केवल मुख शुद्धि का स्वतन्त्र

---

१ सू० १ ९.१३ : गधमल्लसिणाण च, दतपक्खालण तहा।
परिग्गहित्थिकम्म च, त विज्ज ! परिजाणिया ॥

२— सू० १.४.२.११ टी० प० ११८ : दन्ता प्रक्षाल्यन्ते—अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं दन्तकाष्ठम्।

३— सू० १.९ १३ टी० प० १८० : 'दन्तप्रक्षालनं' कदम्बकाष्ठादिना।

४—सू० २.१.१५ टी० प० २९९ : नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बादि काष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्।

५—नि० १५.१३०-३१ : जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते आघसेज्ज वा पघंसेज्ज वा, · सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा, ·· सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते फूमेज्ज वा रएज्ज वा,··· सातिज्जति।

६—मूलाचार मूलगुणाधिकार ३३ · अगुलिणहावलेहिणीकालीहिं, पासाण-छल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं, संजमगुत्ती अदंतमणं ॥

७—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ५.५.२ पृ० ४४४।

८—वशिष्ठ ७.१५ : खट्वाशयनदन्तधावनप्रक्षालनाञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी।

९—History of Dharmasastra vol. II part II. p. 964 : Ascetics have to perform saucha, brushing the teeth, bath, just as house holders have to do.

हेतु माना है[1]। दंतधावन की विधि इस प्रकार बताई गई है—अमुक वृक्ष की छाल सहित टहनी को ले। उसका आठ अंगुल लम्बा टुकड़ा करे। दांतों से उसका अग्रभाग कूँचे और कूँचा हो जाने पर दन्तकाष्ठ के उस अग्रभाग से दांतों को मलकर उन्हें साफ करे[2]। इस तरह दन्तधावन का अर्थ दन्तकाष्ठ से दांतों को साफ करना होता है और उसका वही अर्थ है जो अगस्त्यसिंह ने दन्तप्रधावना का किया है।

वैदिक शास्त्रों में दन्तधावन और दन्तप्रक्षालन के अर्थों में अन्तर मालूम देता है। केवल जल से मुख शुद्धि करना प्रक्षालन है और दन्तकाष्ठ से दांत साफ करना दन्तधावन है। नदी में या घर पर दन्तप्रक्षालन करने पर मन्त्र का उच्चारण नहीं करना पड़ता पर दन्तधावन करते पर मन्त्रोच्चारण करना पड़ता है[3] -"हे वनस्पति ! मुझे लम्बी आयु, बल, यश, वर्चस्, सन्तान, पशु, धन, ब्रह्म (वेद), प्रज्ञा और मेधा प्रदान कर[4]।"

प्रतिपदा, पर्व-तिथियाँ (पूर्णिमा, अष्टमी, चतुर्दशी), छठ और नवमी के दिनों में दन्तधावन वर्जित कहा है[5]। श्राद्ध दिन, यज्ञ दिन, नियम दिन, उपवास या व्रत के दिनों में भी इसकी मनाही है[6]। इसीसे स्पष्ट है कि दन्तप्रधावन का हिन्दू शास्त्रों में भी धार्मिक क्रिया के रूप में विधान नहीं है। शुद्धि की क्रिया के रूप में ही उसका स्थान है।

४६. गात्र-अभ्यङ्ग (गायाभंग [घ]) :

इसका अर्थ है – शरीर के तेलादि की मालिश करना[7]। निशीथ से पता चलता है कि उस समय गात्राभ्यङ्ग तैल, घृत, वसा — चर्बी और नवनीत से किया जाता था[8]।

४७. विभूषण (विभूसणे [घ]) :

सुन्दर परिधान, अलङ्कार और शरीर की साज-सज्जा, नख और केश काटना, बाल सवारना आदि विभूषा है[9]।

चरक में इसे 'सप्रसादन' कहा है। केश, श्मश्रु (दाढ़ी, मूंछ) तथा नखों को काटने से पुष्टि, वृष्यता और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरुष पवित्र एवं सुन्दर रूप वाला हो जाता है[10]। 'सप्रसाधनम्' पाठ स्वीकार करने पर केश आदि को कटवाने से तथा कंघी देने से उपर्युक्त लाभ होते हैं।

---

१ -आह्निकप्रकाश पृ० १२१ : अत्र सध्यायां स्नाने च दन्तधावनस्य नाङ्गत्वम्' इति वृद्धशातातपवचनेन स्वतंत्रस्यैव शुद्धि-हेतुतयाभिधानात्।

२ —गोभिलस्मृति १.१३८ . नारद्याद्युक्तवार्क्षं यवष्टाङ्गुलमपाटितम्।
सत्वच दंतकाष्ठ स्यात्तदग्रेण प्रधावयेत् ॥

३—(क) गोभिलस्मृति १.१३७ : दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गृहे चेत्तदमन्त्रवत्।
(ख) वही १.१३६ : परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥

४ - (क) गोभिलस्मृति १.१३७।
(ख) वही १.१३६।
(ग) वही १.१४० : आयुर्बलं यशो वर्च. प्रजां पशून् वसूनि च।
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्व नो देहि वनस्पते! ॥

५—(क) लघुहारीत १ पृ० १८३।
(ख) नृसिंह पुराण ५८.५०-५२ :
प्रतिपत्पर्वषष्ठीसु नवम्यां चैव सत्तमाः।
दन्तानां काष्ठसंयोगाद्दहत्या सप्तम कुलम् ॥
अभावे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धदिनेषु च।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धि समाचरेत् ॥

६ - स्मृति अर्थसार पृ० २५।

७—(क) अ० चू० पृ० ६२ : गायब्भंगो सरीरब्भंगणमद्दणाईणि।
(ख) हा० टी० प० ११८ : गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना।

८—नि० ३.२४ : जे भिक्खू अप्पणोकाए तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा, मक्खेज्ज वा, अब्भंगेंतं वा मक्खेंतं वा सातिज्जति।

६—अ० चू० पृ० ६२ : विभूसणं अलंकरणं।

१०—चरक० सू० ५.६६ : पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं, शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम् ॥

निशीथ (तृतीय अ०) में अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन आदि के लिए मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और भाष्य तथा परम्परा के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए ये विहित भी हैं। सम्भवत: इसमें सभी श्वेताम्बर एक मत हैं। विभूषा के निमित्त अभ्यङ्ग आदि करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[1]।

इस प्रायश्चित्त-भेद और पारपरिक-अपवाद से जान पड़ता है कि सामान्यत: अभ्यङ्ग आदि निषिद्ध हैं; रोग-प्रतिकार के लिए निषिद्ध नहीं भी हैं और विभूषा के लिए सर्वथा निषिद्ध हैं। इसलिए विभूषा को स्वतन्त्र अनाचार माना गया है।

विभूषा ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। भगवान् ने कहा है—'ब्रह्मचारी को विभूषानुपाती नहीं होना चाहिए। विभूषा करने वाला स्त्री-जन के द्वारा प्रार्थनीय होता है। स्त्रियों की प्रार्थना पाकर वह ब्रह्मचर्य मे सदिग्ध हो जाता है और आखिर में फिसल जाता है[2]। विभूषा-वर्जन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नवीं बाड़ है और महाचार-कथा का अठारहवां वर्ज्य स्थान है (६.६४-६६)। आत्म-गवेषी पुरुष के लिए विभूषा को तालपुट विष कहा है (८.५६)।

भगवान् ने कहा है: 'नग्न, मुडित और दीर्घ रोम, नख वाले ब्रह्मचारी श्रमण के लिए विभूषा का कोई प्रयोजन ही नहीं है[3]।"

विभूषण जो अनाचार है उसमे संप्रसादन, सुन्दर परिधान और अलङ्कार—इन सबका समावेश हो जाता है।

श्लोक १० :

४८. संयम में लीन (संजमम्मि य जुत्ताणं ग) :

'युक्त' शब्द के सबद्ध, उद्युक्त, सहित, समन्वित आदि अनेक अर्थ होते हैं[4]। गीता (६ ८) के शांकर-भाष्य में इसका अर्थ समाहित किया है[5]। हमने इसका अनुवाद 'लीन' किया है। तात्पर्यार्थ में संयम में लीन और समाहित एक ही हैं।

जिनदास महत्तर ने 'संजमम्मि य जुत्ताण' के स्थान में 'सजमं अणुपालता' ऐसा पाठ स्वीकार किया है। 'सजमं अणुपालेंति'—ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है—संयम का अनुपालन करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं[6]।

४९. वायु की तरह मुक्त विहारी (लहुभूयविहारिणं घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'लघु' का अर्थ वायु और 'भूत' का अर्थ सदृश किया है। जो वायु की तरह प्रतिबन्ध रहित विचरण करता हो वह 'लघुभूतविहारी' कहलाता है[7]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि भी ऐसा ही अर्थ करते हैं[8]।

आचाराङ्ग मे 'लहुभूयगामी' शब्द मिलता है[9]। वृत्तिकार ने 'लहुभूय' का अर्थ 'मोक्ष' या 'संयम' किया है[10]। उसके अनुसार 'लघुभूतविहारी' का अर्थ मोक्ष के लिए विहार करने वाला या सयम में विचरण करने वाला हो सकता है।

१—नि० १५.१०८ : जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो कायं तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, णवणीएण वा, अब्भंगेज्ज वा, मक्खेज्ज वा, मक्खेंतं वा अब्भंगेंतं वा सातिज्जति।

२—उत्त० १६.११ : नो विभूसाणुवाई हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया।

३—दश० ६.६५।

४—हा० टी० प० ११८।

५—गीता ६.८ शां० भा० पृ० १७७ 'युक्त इत्युच्यते योगी'—युक्त: समाहित:।

६—जि० चू० पृ० ११५ : संजमो पुव्वभणियो, अणुपालयंति णाम तं संजमं रक्खयंति।

७—अ० चू० पृ० ६३ : लहुभूतविहारिणं। लहु जं ण गुरु, स पुण वायु:, लहुभूतो लहुसरिसो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो।

८—(क) जि० चू० पृ० ११५ : भूता णाम तुल्ला, लहुभूतो लहु वाऊ तेण तुल्लो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो।

(ख) हा० टी० प० ११८ : लघुभूतो—वायु:, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिण:।

९—आ० ३.४९ : छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी।

१०—आ० ३.४९ : वृत्ति पृ० १४८ : 'लघुभूतो' मोक्ष:, संयमो वा तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी।

श्लोक ११ :

५०. पंचाश्रव का निरोध करनेवाले (पंचासवपरिन्नाया [क]) :

जिनसे आत्मा में कर्मों का प्रवेश होता है उन्हें आश्रव कहते हैं। हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह—ये पांच आश्रव हैं - इनसे आत्मा में कर्मों का स्राव होता है[1]।

आगम में कहा है : "प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो विरत होता है वह अनाश्रव होता है। साथ ही जो पांच समिति और तीन गुप्तियो से गुप्त है, कषायरहित है, जितेन्द्रिय है, गौरवशून्य है, निःशल्य है, वह अनाश्रव है[2]।"

आगमों मे (१) मिथ्यात्व—मिथ्या दृष्टि, (२) अविरत—अत्याग, (३) प्रमाद—धर्म के प्रति अरुचि—अनुत्साह, (४) कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ और (५) योग—हिंसा, झूठ आदि प्रवृतियाँ—इनको भी आश्रव कहा है। हिंसा आदि पाँच योग आश्रव के भेद हैं।

परिज्ञा दो हैं—ज्ञान-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। जो पचाश्रव के विषय में दोनों परिज्ञाओं से युक्त है—वह पंचाश्रव-परिज्ञाता कहलाता है[3]। किसी एक वस्तु को जानना ज्ञान-परिज्ञा है। पाप कर्मों को जानकर उन्हें नहीं करना प्रत्याख्यान-परिज्ञा है। निश्चयवक्तव्यता से जो पाप को जानकर पाप नहीं करता वही पाप-कर्म और आत्मा का परिज्ञाता है और जानते हुए भी जो पाप का आचरण करता है, वह पाप का परिज्ञाता नही है; क्योंकि वह बालक की तरह अज्ञानी है। बालक अहित को नहीं जानता हुआ अहित में प्रवृत्त होता हुआ एकांत अज्ञानी होता है पर वह तो पाप को जानता हुआ उससे निवृत्त नहीं होता और उसमें अभिरमण करता है, फिर वह अज्ञानी कैसे नहीं कहा जायेगा[4] ? पचाश्रवपरिज्ञाता—अर्थात् जो पाँच आश्रवो को अच्छी तरह जानकर उन्हें छोड़ चुका है—उनका निरोध कर चुका है।

५१. तीन गुप्तियों से गुप्त (तिगुत्ता [ख]) :

मन, वचन और काया—इन तीनों का अच्छी तरह निग्रह करना क्रमशः मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति है। जिसकी आत्मा इन तीन गुप्तियों से रक्षित है, वह त्रिगुप्त कहलाता है[5]।

१—(क) अ० चू० पृ० ६३ : पंच आसवा पाणातिवातादीणि पंच आसवदाराणि।
(ख) जि० चू० पृ० ११५-६ : 'पंच' त्ति संखा, आसवगहणेण हिंसाईणि पंच कम्मस्सासवदाराणि गहियाणि।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'पञ्चाश्रवा' हिंसादयः।

२—उत्त० ३०.२-३ : पाणवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो॥

३—(क) अ० चू० पृ० ६३ : परिण्णा दुविहा—जाणणापरिण्णा पच्चक्खाणपरिण्णा य, जे जाणणापरिण्णाए जाणिऊण पच्चक्खाण-परिण्णाए ठिता ते पंचासवपरिण्णाता।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : ताणि दुविहपरिण्णाए परिण्णाताणि, जाणणापरिण्णाए पच्चक्खाणपरिण्णाए य ते पंचासव-परिण्णाया भवंति।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'परिज्ञाता' द्विविधया परिज्ञया—ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि—समन्तात् ज्ञाता यैस्ते पंचाश्रवपरिज्ञाताः।

४—जि० चू० पृ० ११६ : तत्थ जाणणापरिण्णा णाम जो जं किंचि अत्थं जाणइ सा तस्स जाणणापरिण्णा भवति, जहा पडं जाणं-तस्स पडपरिण्णा भवति, घडं जाणंतस्स घडपरिण्णा भवति, एसा जाणणापरिण्णा, पच्चक्खाणपरिण्णा नाम पावं कम्मं जाणि-ऊण तस्स पावस्स जं अकरणं सा पच्चक्खाणपरिण्णा भवति, किंच—तेण नेच्छइएण पावं कम्मं अप्पा य परिण्णाओ भवइ जो पावं नाऊण न करेइ, जो पुण जाणितावि पावं आयरइ तेण निच्छयवत्तव्वयाए पावं न परिण्णायं भवइ, कहं ? सो बालो इव अया-णओ दट्ठव्वो, जहा बालो अहियं अयाणमाणो अहिए पवत्तमाणो एगंतेणेव अयाणओ भवइ तहा सोवि पावं जाणिऊण ताओ पावाओ न नियत्तइ तंमि पावे अभिरमइ।

५—(क) अ० चू० पृ० ६३ : मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : तिविहेण मणवयणकायजोगे सम्मं निग्गहपरमा।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'त्रिगुप्ता' मनोवाक्कायगुप्तिभिः गुप्ताः।

५२. छहः प्रकार के जीवों के प्रति संयत (छसु संजया [ग]) :

पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस प्राणी—ये छह प्रकार के जीव हैं। इनके प्रति मन, वचन और काया से संयत—उपरत[१]।

५३. पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले (पंचनिग्गहणा [ग])

श्रोत्र-इन्द्रिय (कान), चक्षु-इन्द्रिय (आँख), घ्राण-इन्द्रिय (नाक), रसना-इन्द्रिय (जिह्वा) और स्पर्शन-इन्द्रिय (त्वचा)—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँच इन्द्रियों का दमन करने वाले—पचनिग्रही कहलाते हैं[२]।

५४. धीर (धीरा [ग]) :

धीर और शूर एकार्थक हैं[३]। जो बुद्धिमान् हैं, स्थिर हैं, वे धीर कहलाते हैं[४]। स्थविर अगस्त्यसिंह ने 'वीरा' पाठ माना है, जिसका अर्थ शूर, विक्रान्त होता है[५]।

५५. ऋजुदर्शी (उज्जुदंसिणो [घ]) :

'उज्जु' का अर्थ संयम और सम है। जो केवल सयम को देखते हैं—सयम का ध्यान रखते है तथा जो स्व और पर में समभाव रखते हैं, उन्हे 'उज्जुदसिणो' कहते हैं[६]। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके राग-द्वेष रहित, अविग्रहगतिदर्शी और मोक्षमार्गदर्शी अर्थ भी किये हैं[७]।

मोक्ष का सीधा रास्ता सयम है। जो सयम में ऐसा विश्वास रखते हैं उन्हे ऋजुदर्शी कहते हैं[८]।

श्लोक १२ :

५६. ग्रीष्म में प्रतिसंलीन रहते हैं (आयावयंति··· पडिसंलीणा [क-ग]) :

श्रमण की ऋतु-चर्या मे तपस्या का प्राधान्य होता है। जिस ऋतु मे जो परिस्थिति सयम में बाधा उत्पन्न करे उसे उसके प्रतिकूल आचरण द्वारा जीता जाए। श्रमण की ऋतुचर्या के विधान का आधार यही है। ऋतु के मुख्य विभाग तीन हैं : ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा। ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेने का विधान है। श्रमण को ग्रीष्म ऋतु मे स्थान, मौन और वीरासन आदि अनेक प्रकार के तप करने चाहिए। यह उनके लिए है जो आतापना न ले सके और जो आतापना ले सकते हो उन्हे सूर्य के सामने मुह कर, एक पैर पर दूसरा

१—(क) अ० चू० पृ० ६३ : छसु पुढविकायादिसु त्रिकरणएकभावेण जता संजता।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : छसु पुढविक्कायाइसु सोहणेणं पगारेणं जता संजता।

(ग) हा० टी० प० ११६ : षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यता.।

२—(क) अ० चू० पृ० ६३ : पच सोतादीणि इंदियाणि णिगिण्हंति।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : पंचण्हं इंदियाणं निग्गहणता।

(ग) हा० टी० प० ११६ : निगृह्णन्तीति निग्रहणाः कर्तरि ल्युट् पंचानां निग्रहणाः पञ्चनिग्रहणाः, पञ्चानामितीन्द्रियाणाम्।

३—जि० चू० पृ० ११६ : धीरा णाम धीरत्ति वा सूरेत्ति वा एगट्ठा।

४—हा० टी० प० ११६ : 'धीरा' बुद्धिमन्त. स्थिरा वा।

५—अ० चू० पृ० ६३ : वीरा सूरा विक्कान्ताः।

६—जि० चू० पृ० ११६ : उज्जु—संजमो भण्णइ तमेव एगं पासंतीति तेण उज्जुदंसिणो, अहवा उज्जुत्ति समं भण्णइ समभप्पाणं परं च पासंतित्ति उज्जुदंसिणो।

७—अ० चू० पृ० ६३ : उज्जु—सजमो समया वा, उज्जू—रागद्दोसपक्खविरहिता अविग्गहगती वा, उज्जू—मोक्खमग्गो तं पस्संतीति उज्जुदंसिणो, एवं च ते भगवंतो मक्खविरहिता उज्जुदंसिणो।

८—हा० टी० प० ११६ : 'ऋजुदर्शिन' इति ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात्संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः—संयम-प्रतिबद्धाः।

पैर टिका कर—एक पादासन कर, खड़े-खड़े आतापना लेनी चाहिए[1]। जिनदास महत्तर ने ऊर्ध्वबाहु होकर उकड़ू आसन मे आतापना लेने को मुख्यता दी है। जो वैसा न कर सकें वे अन्य तप करें[2]।

हेमन्त ऋतु में अप्रावृत होकर प्रतिमा-स्थित होना चाहिए। यदि अप्रावृत न हो सके तो प्रावरण सीमित करना चाहिए[3]।

वर्षा ऋतु में पवन रहित स्थान में रहना चाहिए, ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए[4]। स्नेह—सूक्ष्म जल के स्पर्श से बचने के लिए शिशिर में निवात-शयन का प्रसग आ सकता है। भगवान् महावीर शिशिर मे छाया में बैठकर और ग्रीष्म मे उकड़ू आसन से बैठ, सूर्याभिमुख हो आतापना लेते थे[5]।

श्लोक १३ :

५७. परीषह (परीसह [क]) :

मोक्ष-मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हे सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिए वे परीषह हैं[6]। वे क्षुधा, तृषा आदि बाईस हैं[7]।

५८. धुत-मोह (धुयमोहा [ख]) :

अगस्त्यसिंह ने 'धुतमोह' का अर्थ विकीर्णमोह, जिनदास ने जितमोह और टीकाकार ने विक्षिप्तमोह किया है। मोह का अर्थ अज्ञान किया गया है[8]। 'धुत' शब्द के कम्पित, त्यक्त, उच्छलित आदि अनेक अर्थ होते है।

जैन और बौद्ध साहित्य मे 'धुत' शब्द बहुत व्यवहृत है। आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कध) के छठे अध्ययन का नाम भी 'धुय' है। निर्युक्तिकार के अनुसार जो कर्मों को धुनता है, प्रकम्पित करता है, उसे भाव-धुत कहते हैं[9]। इसी अध्ययन में 'धुतवाद' शब्द मिलता है[10]। 'धुतवाद' का अर्थ है—कर्म को नाश करने वाला वाद।

बौद्ध-साहित्य में 'धुत' 'धुताग' 'धुतागवादी' 'धुतगुण' 'धुतवाद' 'धुतवादी' आदि विभिन्न प्रकार से यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्लेशो के अपगम से भिक्षु विशुद्ध होता है। वह 'धुत' कहलाता है। ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत जो तापस होते थे, उन्हें वैखानस कहते थे। बौद्ध-भिक्षुओ मे भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैखानसो के नियमो का पालन करते थे। इन नियमो को 'धुतांग' कहते हैं। 'धुताग' १३ होते हैं . वृक्षमूल-निकेतन, अरण्यनिवास, श्मशानवास, अभ्यवकासवास, पांशु-कूल-धारण आदि।

१—(क) अ० चू० पृ० ६३ : गिम्हासु थाणमोणवीरासणादि अणेगविधं तवं करेंति, विसेसेणं तु सूराभिमुहा एगपादट्ठिता उद्धभूता आतावेंति।

(ख) हा० टी० प० ११९ : आतापयन्ति—ऊर्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति।

२—जि० चू० पृ० ११६ : गिम्हेसु उड्ढबाहुउक्कुडुगासणाईहिं आयावेंति, जेवि न आयावेंति ते अण्णं तवविसेसं कुव्वन्ति।

३ (क) अ० चू० पृ० ६३ : हेमते अग्गिणिवातसरणविरहिता तहा तवोवीरियसंपण्णा अवंगुता पडिमं ठायंति।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : हेमंते पुण अवगुला पडिमं ठायंति, जेवि सिसिरे णावगुंडिता पडिमं ठायंति तेवि विधीए पाउणंति।

(ग) हा० टी० प० ११९ : 'हेमन्तेषु' शीतकालेषु 'अप्रावृता' इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति।

४—(क) अ० चू० पृ० ६३ : सदा इंदिय-नोइंदियपडिसंलीणा विसेसेण सिणेहसंघट्टपरिहरणत्थं णिवातलतणगता वासासु पडिसंलीणा ण गामाणुगाम दूतिज्जंति।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : वासासु पडिसल्लीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थः, तवविसेसेसु उज्जमंती, नो गामनगराइसु विहरंति।

(ग) हा० टी० प० ११९ : वर्षाकालेषु 'संलीना' इत्येकाश्रयस्था भवन्ति।

५—(क) आ० ९.४.३ : सिसिरमि एगया भगवं, छायाए झाइ आसीय।

(ख) आ० ९.४.४ : आयावई य गिम्हाण, अच्छइ उक्कुडुए अभितावे॥

६—तत्त्वा० ९.८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

७—उत्तराध्ययन – दूसरा अध्ययन।

८—(क) अ० चू० पृ० ६४ : धुतमोहा विकिण्णमोहा। मोहो मोहणीयमण्णाणं वा।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ : 'धुयमोहा' नाम जितमोहत्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११९ : 'धुतमोहा' विक्षिप्तमोहा इत्यर्थः, मोहः—अज्ञानम्।

९—आचा० नि० गा० २५१ : जो विहुणइ कम्माइं भावधुयं तं वियाणाहि॥

१०—आ० ६.२४ : आयाण भो ! सुस्सूस भो ! धूयवायं पवेयइस्सामि।

५९. सर्व दुःखों के (सव्वदुक्ख ग) :

चूर्णियों और टीका में इसके अर्थ सर्व शारीरिक और मानसिक दुःख किया गया है[1]। उत्तराध्ययन के अनुसार जन्म, जरा, रोग और मरण दुःख हैं। यह संसार ही दुःख है जहाँ प्राणी क्लिष्ट होते हैं[2]। उत्तराध्ययन में एक जगह प्रश्न किया है : "शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान कौन-सा है ?" इसका उत्तर दिया है। "लोकाग्र पर एक ऐसा ध्रुव स्थान है जहाँ जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं हैं। यही सिद्धि-स्थान या निर्वाण क्षेत्र, शिव और अनाबाध है[3]।"

उत्तराध्ययन में अन्यत्र कहा है—"कर्म ही जन्म और मरण के मूल हैं। जन्म और मरण ये ही दुःख हैं[4]।"

जितेन्द्रिय महर्षि जन्म-मरण के दुःखों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् उनके आधार-भूत कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं। कर्मों के क्षय से सारे दुःख अपने-आप क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

६०. (पक्कमंति महेसिणो घ) :

अगस्त्य चूर्णि में इसके स्थान पर 'ते वदति सिव गति' यह पाठ है और अध्ययन की समाप्ति इसीसे होती है। उसके अनुसार कुछ आचार्य अग्रिम दो श्लोकों को वृत्तिगत मानते हैं और कुछ आचार्य उन्हें मूल-सूत्रगत मानते हैं। जो उन्हें मूल मानते हैं उनके अनुसार तेरहवें श्लोक का चतुर्थ चरण 'पक्कमति महेसिणो'[5] है।

'ते वदंति सिवं गतिं' का अर्थ है—वे शिवगति को प्राप्त होते हैं।

६१. दुष्कर (दुक्कराइं क) :

टीका के अनुसार औद्देशिकादि के त्याग आदि दुष्कर हैं[6]। श्रामण्य में क्या-क्या दुष्कर हैं इसका गम्भीर निरूपण उत्तराध्ययन में है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : सारीर-माणसाणि अणेगागाराणि सव्वदुक्खाणि।

(ख) जि० चू० पृ० ११७ : सव्वदुक्खप्पहीणट्ठानाम सव्वेसिं सारीरमाणसाण दुक्खाणं पहाणाय, खमणनिमित्तति वुत्त भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११९ : 'सर्वदुःखप्रक्षयार्थं' शारीरमानसाशेषदुःखप्रक्षयनिमित्तम्।

२—उत्त० १९.१५ : जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥

३—उत्त० २३.८०-८४ :
सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणाण पाणिणं।
खेमं सिवमणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी ? मुणी॥
अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा॥
ठाणे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी॥
निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरन्ति महेसिणो॥
तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी॥

४—उत्त० ३२.७ : कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति।

५—अ० चू० पृ० ६४ : 'ते वदंति सिवं गतिं'..... केसिंचि "सिवं गतिं वदंती" ति एतेण कलोवदरिसणोवसंहारेण परिसमत्तमिणमज्झतणं, इति बेमि त्ति सद्दो जं पुव्वभणितं, तेसिं वृत्तिगतमिदमुभिकरणं सिलोकदुयं। केसिंचि सुत्तम्, जेसिं सुत्तं, ते पढंति सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो।

६—हा० टी० प० ११९ : दुष्कराणिकृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि।

७—उत्त० १९.२४-४२।

श्लोक १४ :

६२. दुःसह (दुस्सहाइं ख) :

आतापना, आक्रोश, तर्जना, ताडना आदि दुःसह हैं[1]। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है : "जहां अनेक दुस्सह परीषह प्राप्त होते हैं, वहाँ बहुत सारे कायर लोग खिन्न हो जाते हैं। किन्तु भिक्षु उन्हें प्राप्त होकर व्यथित न बने—जैसे संग्राम-शीर्ष (मोर्चे) पर नागराज व्यथित नहीं होता।··· ··मुनि शान्त भाव से उन्हे सहन करे, पूर्वकृत रजो (कर्मों) को क्षीण करे[2]।"

६३. नीरज (नीरया घ) :

सांसारिक प्राणी की आत्मा में कर्म-पुद्गलो की रज कुपी मे काजल की तरह भरी हुई होती है। उसे सम्पूर्ण बाहर निकाल—कर्म-रहित हो अर्थात् अष्टविध कर्मों का ऐकान्तिक—आत्यन्तिक क्षय कर[3]। 'केइ सिज्झन्ति नीरया' की तुलना उत्तराध्ययन के (१८.५३ के चौथे चरण) 'सिद्धे हवइ नीरए' के साथ होती है।

श्लोक १५ :

६४. संयम और तप द्वारा···कर्मों का क्षय कर (खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य क-ख) :

जो इसी भव मे मोक्ष नही पाते वे देवलोक मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ से पुनः मनुष्य-भव में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य भव मे वे सयम और तप द्वारा कर्मों का क्षय करते हैं।

कर्मक्षय के दो तरीके हैं—एक नये कर्मों का प्रवेश न होने देना, दूसरा संचित कर्मों का क्षय करना। सयम संवर है। वह नये कर्मों के प्रवेश को—आश्रव को रोक देता है। तप पुराने कर्मों को झाड देता है। वह निर्जरा है।

"जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है उसी प्रकार सयमी पुरुष के पापकर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोडो भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं[4]।"

इस तरह सयम और तप आत्म-शुद्धि के दो मार्ग हैं। संयम और तप के साधनो से धर्माराधना करने का उल्लेख अन्यत्र भी है[5]। भावार्थ है—मनुष्य-भव प्राप्त कर संयम और तप के द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ मनुष्य पूर्व कर्मों का क्रमशः क्षय करता हुआ उत्तरोत्तर सिद्धि-मार्ग को प्राप्त करता है[6]।

६५. सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर (सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ग) :

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर[7]—उसकी साधना करते हुए।

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : 'आतावयंति गिम्हासु' एवमादीणि दुस्सहादीणि [सहेत्तु य]।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ : आतापनाअकंडूयनाक्रोशतर्जनाताडनाधिसहनादीनि, दूसहाइं सहिउं।
(ग) हा० टी० प० ११६ : दुःसहानि सहित्वाऽऽतापनादीनि।

२—उत्त० २१.१७-१८ : परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू, संगामसीसे इव नागराया॥
···· ···· ··· ···· ··· ··· ।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं॥

३—(क) जि० चू० पृ० ११७ : नीरया नाम अट्ठकम्मपगडीविमुक्का भण्णंति।
(ख) हा० टी० प० ११६ : 'नीरजस्का' इति अष्टविधकर्मविप्रमुक्ताः, न तु एकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ताः।

४—उत्त० ३०.५-६ : जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे। उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे। भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ॥

५—उत्त० १६.७७; २५.४५; २८.३६।

६—जि० चू० पृ० ११७ : सिद्धिमग्गमणुपत्ता नाम जहा ते तवनियमेहिं कम्मखवणट्ठमब्भुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता भण्णंति।

७—(क) अ० चू० पृ० ६४ : सिद्धिमग्गं दरिसण-णाण-चरित्तमयं अणुप्पत्ता।
(ख) हा० टी० प० ११६ : 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः।

केशी ने गौतम से पूछा : "लोक में कुमार्ग बहुत हैं, जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम ! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नहीं भटकते ?"... गौतम ने कहा—'मुझे मार्ग और उन्मार्ग—दोनों का ज्ञान है। .....जो कुप्रवचन के व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योंकि यह सबसे उत्तम मार्ग है[1]। मैं इसी पर चलता हूं।"

उत्तराध्ययन में 'मोक्खमग्गगई'—मोक्षमार्गगति नामक २८ वाँ अध्याय है। वहाँ जिनाख्यात मोक्षमार्ग—सिद्धिमार्ग को चार कारणों से संयुक्त और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला कहा है[2]। वहाँ कहा है : "ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया।...ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति मे जाते हैं।" अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नही होता, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नही होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नही होता।" जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है[3]।"

६६. परिनिर्वृत (परिनिव्वुडा [घ]) :

'परिनिर्वृत' का अर्थ है—जन्म, जरा, मरण, रोग आदि से सर्वथा मुक्त[4]; भवधारण करने मे सहायभूत घाति-कर्मों का सर्व प्रकार से क्षय कर जन्मादि से रहित होना[5]। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ की टीका 'परिनिर्वान्ति' की है और 'परिनिव्वुड' को पाठान्तर माना है। 'परिनिर्वान्ति' का अर्थ सब प्रकार से सिद्धि को प्राप्त होते हैं—किया है[6]।

श्लोक १४ व १५ मे मुक्ति के क्रम की एक निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख है। दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए श्रमण वर्तमान जन्म में ही यदि सब कर्मों का क्षय कर देता है तब तो वह उसी भव मे सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यदि सब कर्मों का क्षय नही कर पाता तो देवलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ से च्यवकर वह पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है। सुकुल को प्राप्त करता है। धर्म के साधन उसे सुलभ होते हैं। जिन-प्ररूपित धर्म को पुनः पाता है। इस तरह संयम और तप से कर्मों का क्षय करता हुआ वह सम्पूर्ण सिद्धि-मार्ग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—को प्राप्त हो अवशेष कर्मों का क्षय कर जरा-मरण-रोग आदि सर्व प्रकार

१—उत्त० २३.६०-६३ : कुप्पहा बहवो लोए, जेहिं नासन्ति जतवो।
अद्धाणे कह वट्टन्ते, त न नस्ससि गोयमा! ॥
कुप्पवयणपासण्डी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्ग तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥

२—उत्त० २८.१ : मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं ॥

३—उत्त० २८.२,३,३०,३५ : नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ॥
एयंमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥
नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

४—जि० चू० पृ० ११७ : परिनिव्वुडा नाम जाइजरामरणरोगादीहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कत्ति वुत्तं भवइ।

५—अ० चू० पृ० ६४ : परिणिव्वुता समंता णिव्वुता सव्वप्पकारं घाति-भवधारणकम्मपरिक्खते।

६—हा० टी० प० ११६ : 'परिनिर्वान्ति' सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु पठन्ति 'परिनिव्वुड' त्ति, तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमेव पाठो ज्यायान्।

की उपाधियों से रहित हो मुक्त होता है। जघन्यतः एक भव में और उत्कृष्टतः सात-आठ भव ग्रहण कर मुक्त होता है[1]। इस क्रम का उल्लेख आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है[2]।

इस अध्ययन के श्लोक १३ और १५ की तुलना उत्तराध्ययन के निम्नलिखित श्लोकों से होती है :

> खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
> सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो[3] ।।
> खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
> जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं[4] ।।

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : कदाति अणंतरे उक्कोसेण सत्त-ऽट्ठभवग्गहणेसु सुकुलपच्चायाता बोधिमुवलभित्ता।

(ख) जि० चू० पृ० ११७ : केइ पुण तेण भवग्गहणेण सिज्झंति, ··तत्थ जे तेणेव भवग्गहणेण न सिज्झंति ते वेमाणिएसु उववज्जंति, ततोवि य चइऊणं धम्मचरणकाले पुव्वकयसावसेसेणं सुकुलेसु पच्चायंति, तओ पुणोवि जिणपण्णत्तं धम्मं पडिवज्जिऊण जहण्णेण एगेण भवग्गहणेणं उक्कोसेणं सत्तहिं भवग्गहणेहिं ··जाणि तेसिं तत्थ सावसेसाणि कम्माणि ताणि संजमतवेहिं खविऊणं ·· जहा ते तवनियमेहिं कम्मक्खवणट्ठमुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता · जाइजरामरण-रोगादीहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कत्ति।

(ग) हा० टी० प० ११९।

२—उत्त० ३.१४-२०।

३—वही, २८.३६।

४—वही, २५.४३।

चउत्थं अज्झयणं

छज्जीवणिया

चतुर्थ अध्ययन

षड्जीवनिका

आमुख

श्रामण्य का आधार है आचार। आचार का अर्थ है अहिंसा। अहिंसा अर्थात् सभी जीवों के प्रति संयम—

अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्व जीवेसु संजमो ॥ (दश० ६.८)

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा?

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो, कह सो नाहिइ संजमं ॥ (दश० ४.१२)

संयम का स्वरूप जानने के लिए जीव-अजीव का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए आचार-निरूपण के पश्चात् जीव-निकाय का निरूपण क्रम-प्राप्त है।

इस अध्ययन में अजीव का साक्षात् वर्णन नहीं है। इस अध्ययन के नाम - "छज्जीवणिय"— में जीव-निकाय के निरूपण की ही प्रधानता है, किन्तु अजीव को न जानने वाला संयम को नहीं जानता (दश० ४.१२) और निर्युक्तिकार के अनुसार इसका पहला अधिकार है जीवाजीवाभिगम (दश० नि० ४.२१६) इसलिए अजीव का प्रतिपादन अपेक्षित है। अहिंसा या संयम के प्रकरण में अजीव के जिस प्रकार को जानना आवश्यक है वह है पुद्गल।

पुद्गल-जगत् सूक्ष्म भी है और स्थूल भी। हमारा अधिक सम्बन्ध स्थूल पुद्गल-जगत् से है। हमारा दृश्य और उपभोग्य संसार स्थूल पुद्गल-जगत् है। वह या तो जीवच्छरीर है या जीव-मुक्त शरीर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस (चर)- ये जीवों के शरीर हैं। जीवच्युत होने पर ये जीव-मुक्त शरीर बन जाते हैं।

"अन्नत्थ सत्थपरिणएणं" इस वाक्य के द्वारा इन दोनों दशाओं का दिशा-निर्देश किया गया है। शस्त्र-परिणति या मारक वस्तु के संयोग से पूर्व ये पृथ्वी, पानी आदि पदार्थ सजीव होते हैं और उनके संयोग से जीवच्युत हो जाते हैं - निर्जीव बन जाते हैं। तात्पर्य की भाषा में पृथ्वी, पानी आदि की शस्त्र-परिणति की पूर्ववर्ती दशा सजीव है और उत्तरवर्ती दशा अजीव। इस प्रकार उक्त वाक्य इन दोनों दशाओं का निर्देश करता है। इसलिए जीव और अजीव दोनों का अभिगम स्वतः फलित हो जाता है।

पहले ज्ञान होता है फिर अहिंसा—"पढमं नाणं तओ दया" (दश० ४.१०)। ज्ञान के विकास के साथ-साथ अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा साधन है। साध्य के पहले चरण से उसका प्रारम्भ होता है और उसका पूरा विकास होता है साध्य-सिद्धि के अन्तिम चरण में। जीव और अजीव का अभिगम अहिंसा का आधार है और उसका फल है मुक्ति। इन दोनों के बीच में होता है उनका साधना-क्रम। इस विषय-वस्तु के आधार पर निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन को पाँच (अजीवाभिगम को पृथक् माना जाए तो छह) अधिकारों—प्रकरणों में विभक्त किया है—

जीवाजीवाहिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाइ अहिगारा ॥ (दश० नि० ४.२१६)

नवें सूत्र तक जीव और अजीव का अभिगम है। दसवें से सत्रहवें सूत्र तक चारित्र-धर्म के स्वीकार की पद्धति का निरूपण है। अठारहवें से तेइसवें सूत्र तक यतना का वर्णन है। पहले से ग्यारहवें श्लोक तक बन्ध और अबन्ध की प्रक्रिया का उपदेश है। बारहवें श्लोक से पच्चीसवें श्लोक तक धर्म-फल की चर्चा है। मुक्ति का अधिकारी साधक ही होता है असाधक नहीं, इसलिए वह मुक्ति-मार्ग की आराधना करे, विराधना से बचे,—इस उपसंहारात्मक वाणी के साथ-साथ अध्ययन

समाप्त हो जाता है। जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्म-प्रज्ञप्ति, चरित्र-धर्म, चरण और धर्म—ये छहों 'षड्जीवनिका' के पर्यायवाची शब्द हैं :—

जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे अ एगट्ठा॥ (दश० नि० ४.२३३)

मुक्ति का आरोह-क्रम जानने की दृष्टि से यह अध्ययन बहुत उपयोगी है। निर्युक्तिकार के मतानुसार यह आत्म-प्रवाद (सातवें) पूर्व से उद्धृत किया गया है—

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती॥ (दश० नि० १.१६)

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेण भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता । सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।	श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता । श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययन धर्मप्रज्ञप्तिः ॥१॥	१—आयुष्मान्[1] ! मैंने सुना है उन भगवान् ने[2] इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री[3] श्रमण भगवान् महावीर द्वारा[4] प्रवेदित[5] सु आख्यात[6] और सु-प्रज्ञप्त[7] है । इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन[8] का पठन[9] मेरे लिए[10] श्रेय है ।
२—कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता । सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।	कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता । श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥२॥	२—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है ?
३—इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेण पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता । सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया ।	इयं खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता । श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः तद्यथा—पृथिवीकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पतिकायिकाः त्रसकायिकाः ॥३॥	३—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन—जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है यह है जैसे- पृथ्वीकायिक, अप्-कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक[11] ।
४—पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ।	पृथिवी चित्तवती आख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र-परिणतायाः ॥४॥	४—शस्त्र[12]-परिणति से पूर्व[13] पृथ्वी चित्तवती[14] (सजीव) कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली[15] है ।

५—आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ।

आपश्चित्तवत्य: आख्याता अनेक-जीवाः पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र-परिणताभ्यः ॥५॥

५—शस्त्र-परिणति से पूर्व अप् चित्त-वान (सजीव) कहा गया है । वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है ।

६—तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ।

तेजश्चित्तवत् आख्यातं अनेक-जीवम् पृथक्सत्त्वम् अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् ॥६॥

६—शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्त-वान् (सजीव) कहा गया है । वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है ।

७—वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं ।

वायुश्चित्तवान् आख्यात अनेक-जीव: पृथक्सत्त्व. अन्यत्र शस्त्र-परिणतात ॥७॥

७ शस्त्र-परिणति से पूर्व वायु चित्त-वान् (सजीव) कहा गया है । वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है ।

८—वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरुहा सम्मुच्छिमा तणलया ।

वनस्पतिश्चित्तवान् आख्यात: अनेकजीव. पृथक्सत्त्व: अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् तद्यथा—अग्रबीजा. मूल-बीजा. पर्वबीजाः स्कन्धबीजा बीज-रुहा सम्मूर्छिमा तृणलताः ।

८—शस्त्र परिणति से पूर्व वनस्पति चित्तवती (सजीव) कही गई है । वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है। उसके प्रकार ये हैं—अग्र-बीज[16], मूल-बीज, पर्व-बीज, स्कन्ध-बीज, बीज-रुह, सम्मूर्छिम[17], तृण[18] और लता[19] ।

वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंत-मक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

वनस्पतिकायिकाः सबीजा. चित्तवन्त आख्याताः अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्यः ॥८॥

शस्त्र-परिणति से पूर्व बीजपर्यन्त[20] (मूल से लेकर बीज तक) वनस्पति-कायिक चित्त-वान् कहे गये है । वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाले हैं ।

९—से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा त जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया ।

अथ ये पुनरिमे अनेके बहव. त्रसा: प्राणिन: तद्यथा—अण्डजाः पोतजाः जरायुजाः रसजा. संस्वेदजाः सम्मूर्च्छिमाः उद्भिदः औपपातिका. ।

९—और ये जो अनेक बहुत त्रस प्राणी हैं,[21] जैसे—अण्डज,[22] पोतज,[23] जरायुज,[24] रसज,[25] संस्वेदज,[26] सम्मूर्च्छनज,[27] उद्भिज,[28] औपपातिक[29] वे छठे जीव-निकाय में आते हैं ।

जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया—

येषां केषाञ्चित् प्राणिनाम् अभिक्रान्तम् प्रतिक्रान्तम् संकुचितम् प्रसारितम् रुतम् भ्रान्तम् त्रस्तम् पलायितम्, आगतिगति-विज्ञातार:

जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, सकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएं हैं और जो आगति एवं गति के विज्ञाता हैं वे त्रस हैं ।

जे य कीडपयंगा,
जा य कुंथुपिवीलिया,

सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया—

एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चई ।

ये च कीटपतङ्गाः,
याश्च कुंथुपिपीलिकाः,

सर्वे द्वीन्द्रियाः सर्वे त्रीन्द्रियाः सर्वे चतुरिन्द्रियाः सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सर्वे तिर्यग्योनिकाः सर्वे नैरयिकाः सर्वे मनुजाः सर्वे देवाः सर्वे प्राणाः परम-धार्मिकाः –

एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते ॥९॥

जो कीट, पतंग, कुंथु, पिपीलिका सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पाँच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यक्-योनिक, सब नैरयिक, सब मनुष्य, सब देव और सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं[30]—

यह छट्ठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है ।

१०—इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा नेवन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

इत्येषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं समारम्भयेत् दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१०॥

१०—इन[31] छह जीव-निकायों के प्रति स्वयं दण्ड-समारम्भ[32] नहीं करना चाहिए, दूसरों से दण्ड-समारम्भ नहीं कराना चाहिए और दण्ड-समारम्भ करनेवालों का अनुमोदन नहीं करना चाहिए । यावज्जीवन के लिए[33] तीन करण तीन योग से[34]—मन से, वचन से, काया से[35]—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते[36] ! मैं अतीत में किए[37] दण्ड-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ,[38] उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ[39] और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ[40] ।

११—पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि—अथ सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणानतिपातयामि नैवान्यैः प्राणानतिपातयामि प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥११॥

११—भंते ! पहले[41] महाव्रत[42] में प्राणातिपात से विरमण होता है[43] ।

भन्ते ! मैं सर्व[44] प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ । सूक्ष्म या स्थूल,[45] त्रस या स्थावर[46] जो भी प्राणी हैं उनके प्राणों का अतिपात[47] मैं स्वयं नहीं करूँगा,[48] दूसरों से नहीं कराऊँगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा[49] ।

भन्ते ! मैं अतीत में किए प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भन्ते ! मैं पहले महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ । इसमें सर्व प्राणातिपात की विरति होती है ।

१२—अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि—से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ।

१३—अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

अथापरे द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! मृषावादं प्रत्याख्यामि—अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा नैव स्वयं मृषा वदामि नैवान्यैर्मृषा वादयामि मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् मृषावादाद्विरमणम् ॥१२॥

अथापरे तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा—नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

१२—भन्ते ! इसके पश्चात् दूसरे महाव्रत में मृषावाद[40] की विरति होती है ।

भन्ते ! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ । क्रोध से या लोभ से,[41] भय से या हँसी से, मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूँगा, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊँगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भन्ते ! मैं अतीत के मृषावाद से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भन्ते ! मैं दूसरे महाव्रत मे उपस्थित हुआ हूँ । इसमे सर्व मृषावाद की विरति होती है ।

१३—भंते ! इसके पश्चात् तीसरे महाव्रत मे अदत्तादान[42] की विरति होती है ।

भंते ! मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ । गाँव मे, नगर मे या अरण्य मे[43] कहीं भी अल्प या बहुत,[44] सूक्ष्म या स्थूल,[45] सचित्त या अचित्त[46] किसी भी अदत्त-वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से अदत्त-वस्तु का ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

तस्य भवन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

भंते ! मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हू, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।

तृतीये भवन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणम् ॥१३॥

भंते ! मैं तीसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ । इसमें सर्व अदत्तादान की विरति होती है ।

१४—अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं ।

अथापरे चतुर्थे भवन्त ! महाव्रते मैथुनाद्विरमणम् ।

१४—भंते ! इसके पश्चात् चौथे महाव्रत में मैथुन की विरति होती है ।

सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि—से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

सर्वं भवन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामि अथ दिव्यं वा मानुषं वा तिर्यग्यौनिकं वा नैव स्वयं मैथुनं सेवे नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि मैथुनं सेवमानानप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ । देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन[४७] का मैं स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरों से मैथुन सेवन नहीं कराऊँगा और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

तस्य भवन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

भंते ! मैं अतीत के मैथुन-सेवन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ।

चतुर्थे भवन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् मैथुनाद्विरमणम् ॥१४॥

भंते ! मैं चौथे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ । इसमें सर्व मैथुन की विरति होती है ।

१५—अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं ।

अथापरे पञ्चमे भवन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम् ।

१५—भंते ! इसके पश्चात् पाचवें महाव्रत में परिग्रह[४८] की विरति होती है ।

सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गहं परिगेण्हंते वि

सर्वं भवन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा—नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं

भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ । गाँव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी, अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊँगा और

अन्नं न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

१६—अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं ।

सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि—से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ।

१७—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ।

१८—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा

परिगृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् परिग्रहाद्विरमणम् ॥१५॥

अथापरे षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् ।

सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि—अथ अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा—नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥१६॥

इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजन-विरमणषष्ठानि आत्महितार्थं उपसम्पद्य विहरामि ॥१७॥

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं वा ससरक्षं वा कायं ससरक्षं वा वस्त्रं हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा कलिञ्चेन वा अंगुल्या वा शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा—नालिखेत् न

परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते ! मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भंते ! मैं पाँचवें महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ । इसमें सर्व परिग्रह की विरति होती है ।

१६—भंते ! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि-भोजन[९] की विरति होती है ।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ । अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य[१०]—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊँगा, दूसरों को नहीं खिलाऊँगा और खानेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते ! मैं अतीत के रात्रि-भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भंते ! मैं छठे व्रत में उपस्थित हुआ हूँ । इसमें सर्व रात्रि-भोजन की विरति होती है ।

१७—मैं इन पाँच महाव्रतों और रात्रि-भोजन-विरति रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए[११] अंगीकार कर विहार करता हूँ[१२] ।

१८—संयत विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा[१३] भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में,[१४] एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—पृथ्वी,[१५] भित्ति, (नदी पर्वत आदि की दरार),[१६] शिला,[१७] ढेले,[१८] सचित्त-रज से संसृष्ट[१९] काय अथवा सचित्त रज से संसृष्ट वस्त्र या हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच,[२०] अंगुली, शलाका अथवा शलाका-समूह[२१] से न आलेखन[२२] करे, न विलेखन[२३] करे, न घट्टन[२४]

अंगुलियाए वा सलागाए वा सलागहत्थेण वा, न आलिहेज्जा न विलिहेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा अन्नं न आलिहावेज्जा न विलिहावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात् अन्येन नालेखयेत् न विलेखयेत् न घट्टयेत् न भेदयेत् अन्यमालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्त वा भिन्दन्त वा न समनुजानीयात् यावज्जीव त्रिविध त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि ।

करे और न भेदन[७५] करे, दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए, आलेखन, विलेखन, घट्टन या भेदन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से मन से, वचन मे, काया से -न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि ॥१८॥

भते ! मैं अतीत के पृथ्वी-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

१६—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न आवीलेज्जा न पवीलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न आवीलावेज्जा न पवीलावेज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा--अथ उदक वा 'ओस' वा हिम वा महिकां वा करकं वा 'हरतनुक' वा शुद्धोदक वा उदकार्द्रं वा काय उदकार्द्रं वा वस्त्र सस्निग्ध वा काय सस्निग्ध वा वस्त्रं—नाऽऽमृशेत् न सस्पृशेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत् अन्येन नाऽऽमर्शयेत् न संस्पर्शयेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत् अन्यमामृशन्त वा सस्पृशन्तं वा आपीडयन्त वा प्रपीडयन्त वा आस्फोटयन्त वा प्रस्फोटयन्त वा आतापयन्त वा प्रतापयन्त वा न समनुजानीयात् यावज्जीव त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

१६—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, एकान्त मे या परिषद् मे, सोते या जागते—उदक,[७६] ओस,[७७] हिम,[७८] धूअर,[७९] ओले,[८०] भूमि को भेद कर निकले हुए जल बिन्दु,[८१] शुद्ध उदक (आन्तरिक्ष जल)[८२], जल से भीगे[८३] शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध[८४] शरीर अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श करे, न सस्पर्श[८५] करे, न आपीडन करे, न प्रपीडन करे,[८६] न आस्फोटन करे, न प्रस्फोटन करे,[८७] न आतापन करे, और न प्रतापन[८८] करे, दूसरो से न आमर्श कराए, न सस्पर्श कराए, न आपीडन कराए, न प्रपीड़न कराए, न आस्फोटन कराए, न प्रस्फोटन कराए, न आतापन कराए, न प्रतापन कराए । आमर्श, संस्पर्श, आपीड़न, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से मन से, वचन से, काया से - न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१९॥

भंते ! मैं अतीत के जल-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

२०—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा, न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न उज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न उज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ अग्निं वा अङ्गारं वा मुर्मुरं वा अर्चिर्वा ज्वालां वा अलातं वा शुद्धाग्निं वा उल्कां वा नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत् नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत् अन्येन नोत्सेचयेत् न घट्टयेत् नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत् अन्यमुत्सिञ्चन्तं वा घट्टयन्तं वा उज्ज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

२० - संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—अग्नि,[८९] अंगारे,[९०] मुर्मुर,[९१] अर्चि,[९२] ज्वाला,[९३] अलात (अधजली लकड़ी)[९४], शुद्ध (काष्ठ रहित) अग्नि,[९५] अथवा उल्का[९६] का न उत्सेचन[९७] करे, न घट्टन[९८] करे, न उज्ज्वालन[९९] करे और न निर्वाण[१००] करे (न बुझाए), न दूसरों से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए और न निर्वाण कराए; उत्सेचन, घट्टन, उज्ज्वालन या निर्वाण करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥२०॥

भन्ते ! मैं अतीत के अग्नि-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

२१—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से सिएण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमावेज्जा

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ सितेन वा विधुवनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा 'पेहुणेन' वा 'पेहुण'हस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा आत्मनो वा कायं बाह्यं वाऽपि पुद्गलं—न फूत्कुर्यात् न व्यजेत् अन्येन न फूत्कारयेत् न व्याजयेत्

२१— संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—चामर,[१०१] पंखे,[१०२] वीजन,[१०३] पत्र,[१०४] शाखा, शाखा के टुकड़े, मोर-पंख,[१०५] मोर-पिच्छी,[१०६] वस्त्र, वस्त्र के पल्ले,[१०७], हाथ या मुंह से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों[१०८] को फूंक न दे, हवा न करे; दूसरों से फूंक न दिलाए, हवा न कराए; फूंक देने

न वीयावेज्जा अन्नं फुमंतं वा वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा व्यजन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥२१॥

वाले या हवा करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते ! मैं अतीत के वायु-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

२२— से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से बीएसु वा बीयपइट्ठिएसु वा रूढेसु वा रूढपइट्ठिएसु वा जाएसु वा जायपइट्ठिएसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठिएसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठिएसु वा सच्चित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसीएज्जा न तुयट्टेज्जा अन्नं न गच्छावेज्जा न चिट्ठावेज्जा न निसियावेज्जा न तुयट्टावेज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयंतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ बीजेषु वा बीजप्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा—न गच्छेत् न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्तेत अन्यं न गमयेत् न स्थापयेत् न निषादयेत् न त्वग्वर्तयेत् अन्यं गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा त्वग्वर्तमानं वा—न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि ।

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥२२॥

२२—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—बीजों पर, बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, स्फुटित बीजों पर,[१०९] स्फुटित बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर,[११०] पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर स्थित वस्तुओं पर, हरित पर, हरित पर रखी हुई वस्तुओं पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर,[१११] छिन्न वनस्पति के अंगों पर रखी हुई वस्तुओं पर, सचित्त कोल—अण्डों एवं काष्ठ-कीट—से युक्त काष्ठ आदि पर[११२] न चले, न खड़ा रहे, न बैठे, न सोये;[११३] दूसरों को न चलाए, न खड़ा करे, न बैठाए, न सुलाए; चलने, खड़ा रहने, बैठने या सोने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते ! मैं अतीत के वनस्पति-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

२३—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से कीडं वा पयंगं वा कुंथुं वा पिवीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ कीटं वा पतङ्गं वा कुंथुं वा पिपीलिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरौ वा उदरे वा शीर्षे वा वस्त्रे वा प्रतिग्रहे वा रजोहरणे वा गुच्छके वा 'उन्दुके' वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते ततः संयतमेव प्रतिलिख्य-प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत् नैनं संघातमापादयेत् ॥२३॥

२३—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते या जागते—कीट, पतंग, कुंथु या पिपीलिका हाथ, पैर, बाहु, ऊरु, उदर, सिर,[114] वस्त्र, पात्र, रजोहरण,[115] गोच्छग,[116] उन्दक—स्थंडिल, दण्डक[117], पीठ, फलक[118], शय्या या संस्तारक[119] पर तथा उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर[120] चढ़ जाए तो सावधानी पूर्वक[121] धीमे-धीमे प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर, उन्हें वहाँ से हटा एकान्त में[122] रख दे किन्तु उनका संघात[123] न करे—आपस में एक दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचे वैसे न रखे ।

१—अजयं चरमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं चरंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥१॥

१—अयतनापूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर[124] जीवों की हिंसा करता है[125]। उससे पाप-कर्म का बंध होता है[126]। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[127]।

२—अजयं चिट्ठमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं तिष्ठंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥२॥

२—अयतनापूर्वक खड़ा होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

३—अजयं आसमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतमासीनस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ३ ॥

३—अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

४—अजयं सयमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं शयानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ४ ॥

४—अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

५—अजयं भुंजमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं भुञ्जानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ५ ॥

५—अयतनापूर्वक भोजन करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ।

६—अजयं भासमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं फलं ॥

अयतं भाषमाणस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ६ ॥

६—अयतनापूर्वक बोलने वाला[128] त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है । उससे पाप-कर्म का बंध होता है । वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[129] ।

७—कहं चरे कहं चिट्ठे
कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्
कथमासीत कथं शयीत ।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ७ ॥

७—कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो[130] ।

८—[131]जयं चरे जयं चिट्ठे
जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

यतं चरेत् यतं तिष्ठेत्
यतमासीत यतं शयीत ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

८—यतनापूर्वक चलने,[132] यतनापूर्वक खड़ा होने,[133] यतनापूर्वक बैठने,[134] यतनापूर्वक सोने,[135] यतनापूर्वक खाने[136] और यतनापूर्वक बोलने[137] वाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता ।

९—सव्वभूयप्पभूयस्स
सम्मं भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स
पावं कम्मं न बंधई ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य
सम्यग् भूतानि पश्यतः ।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य
पापं कर्म न बध्यते ॥ ९ ॥

९—जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है उसके पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता[138] ।

१०—[139]पढमं नाणं तओ दया
एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही
किं वा नाहिइ छेय-पावगं ॥

प्रथमं ज्ञानं ततो दया
एवं तिष्ठति सर्वसंयत।
अज्ञानी किं करिष्यति
किं वा ज्ञास्यति छेक-पापकम् ॥ १० ॥

१०- पहले ज्ञान फिर दया[140]—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं[141]। अज्ञानी क्या करेगा?[142] वह क्या जानेगा- क्या श्रेय है और क्या पाप?[143]

११—सोच्चा जाणइ कल्लाणं
सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा
जं छेयं तं समायरे ॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणं
श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा
यच्छेकं तत्समाचरेत् ॥ ११ ॥

११ जीव सुन कर[144] कल्याण को[145] जानता है और सुनकर ही पाप को[146] जानता है। कल्याण और पाप[147] सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमें जो श्रेय है उसीका आचरण करे।

१२—जो जीवे वि न याणाइ
अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो
कहं सो नाहिइ संजमं ॥

यो जीवानपि न जानाति
अजीवानपि न जानाति।
जीवाऽजीवानजानन्
कथं स ज्ञास्यति संयमम् ॥ १२ ॥

१२ जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा?

१३—जो जीवे वि वियाणाइ
अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो
सो हु नाहिइ संजमं ॥

यो जीवानपि विजानाति
अजीवानपि विजानाति।
जीवाऽजीवान् विजानन्
स हि ज्ञास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

१३—जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है वही, जीव और अजीव दोनों को जानने वाला ही, संयम को जान सकेगा[148]।

१४—जया जीवे अजीवे य
दो वि एए वियाणई।
तया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई ॥

यदा जीवानजीवांश्च
द्वावप्येतौ विजानाति।
तदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति ॥ १४ ॥

१४—जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है[149]।

१५—जया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई ॥

यदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति।
तदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति ॥ १५ ॥

१५—जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है[150]।

१६—जया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई।
तया निव्विदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ॥

यदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति।
तदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥ १६ ॥

१६—जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब जो भी देवों और मनुष्यों के भोग हैं उनसे विरक्त हो जाता है[151]।

१७—जया निव्विदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ॥

यदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ।
तदा त्यजति संयोग
साभ्यन्तर-बाह्यम् ॥ १७ ॥

१७—जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को त्याग देता है[१५२] ।

१८—जया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ॥

यदा त्यजति संयोगं
साभ्यन्तर-बाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ॥ १८ ॥

१८—जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को त्याग देता है तब वह मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है[१५३] ।

१९—जया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं
धम्म फासे अणुत्तरं ॥

यदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टं
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

१९—जब मनुष्य मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[१५४] ।

२०—जया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ॥

यदा संवरमुत्कृष्ट
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।
तदा धुनाति कर्मरज
अबोधि-कलुष-कृतम् ॥ २० ॥

२०—जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है[१५५] ।

२१—जया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ॥

यदा धुनाति कर्मरजः
अबोधि-कलुष-कृतम् ।
तदा सर्वत्रग ज्ञान
दर्शन चाभिगच्छति ॥ २१ ॥

२१—जब मनुष्य अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है[१५६] ।

२२—जया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ।
तया लोगमलोग च
जिणो जाणइ केवली ॥

यदा सर्वत्रग ज्ञानं
दर्शनं चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोक च
जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

२२—जब मनुष्य सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है[१५७] ।

२३—जया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ॥

यदा लोकमलोकं च
जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

२३—जब मनुष्य जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है[१५८] ।

२४—जया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ।
तया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

यदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

२४—जब मनुष्य योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है[१५९] ।

२५—जया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो
सिद्धो हवइ सासओ ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।
तदा लोकमस्तकस्थः
सिद्धो भवति शाश्वत ॥ २५ ॥

२५—जब मनुष्य कर्मों का क्षय कर रजमुक्त बन सिद्धि को प्राप्त होता है तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है[१६०]।

२६—सुहसायगस्स समणस्स
सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोइस्स
दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

सुखस्वादकस्य श्रमणस्य
साताकुलकस्य निकामशायिन. ।
उत्क्षालनाप्रधाविन
दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥ २६ ॥

२६—जो श्रमण सुख का रसिक[१६१], सात के लिए आकुल[१६२], अकाल में सोने वाला[१६३] और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला[१६४] होता है उसके लिए सुगति दुर्लभ है ।

२७—तवोगुणपहाणस्स
उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स
सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

तपोगुणप्रधानस्य
ऋजुमते. क्षान्तिसयमरतस्य ।
परीषहान् जयतः
सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥ २७ ॥

२७—जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति,[१६५] क्षान्ति तथा सयम में रत और परीषहों को[१६६] जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ है ।

[[१६७] पच्छा वि ते पयाया
खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य
खन्ती य बम्भचेरं च ॥]

[पश्चादपि ते प्रयाता
क्षिप्रं गच्छन्ति अमरभवनानि ।
येषां प्रियं तपः सयमश्च
क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥]

[जिन्हें तप, सयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते हैं--भले ही वे पिछली अवस्था में प्रव्रजित हुए हों ।]

२८—इच्चेयं छज्जीवणियं
सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुलहं लभित्तु सामण्णं
कम्मुणा न विराहेज्जासि ॥
त्ति बेमि ॥

इत्येतां षड्जीवनिकां
सम्यग्-दृष्टिः सदा यत ।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं
कर्मणा न विराधयेत् ॥ २८ ॥
इति ब्रवीमि ।

२८—दुर्लभ श्रमण-भाव को प्राप्त कर सम्यक्-दृष्टि[१६८] और सतत सावधान श्रमण इस षड्जीवनिका की कर्मणा[१६९]-- मन, वचन और काया से—विराधना[१७०] न करे ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ४

सूत्र : १

१. आयुष्मन् ! (आउसं !) :

इस शब्द के द्वारा शिष्य को आमन्त्रित किया गया है । जिसके आयु हो उसे आयुष्मान् कहते हैं । उसको आमन्त्रित करने का शब्द है 'आयुष्मन्' ![1] 'आउस' शब्द द्वारा शिष्य को सम्बोधित करने की पद्धति जैन आगमो में अनेक स्थलों पर देखी जाती है । तथागत बुद्ध भी 'आउसो' शब्द द्वारा ही शिष्यो को सम्बोधित करते थे[2] । प्रश्न हो सकता है—शिष्य को आमन्त्रित करने के लिए यह शब्द ही क्यों चुना गया । इसका उत्तर है –योग्य शिष्य के सब गुणों में प्रधान गुण दीर्घ-आयु ही है । जिसके दीर्घायु होती है वही पहले ज्ञान को प्राप्त कर बाद में दूसरो को दे सकता है । इस तरह शासन-परम्परा अनवच्छिन्न बनती है । 'आयुष्मन्' शब्द देश-कुल-शीलादि समस्त गुणों का साकेतिक शब्द है । आयुष्मन् अर्थात् उत्तम देश, कुल, शीलादि समस्त गुण से सयुक्त दीर्घायुवाला[3] ।

हरिभद्र सूरि लिखते हैं[4] —"प्रधानगुणनिष्पन्न आमन्त्रण वचन का आशय यह है कि गुणी शिष्य को आगम-रहस्य देना चाहिए, अगुणी को नहीं । कहा है 'जिस प्रकार कच्चे घड़े में भरा हुआ जल उस घडे का ही विनाश कर देता है वैसे ही गुण रहित को दिया हुआ सिद्धान्त-रहस्य उस अल्पाधार का ही विनाश कर देता है ।"

'आउस' शब्द की एक व्याख्या उपर्युक्त है । विकल्प व्याख्याओ का इस प्रकार उल्लेख मिलता है :

१ 'आउसं' के बाद के 'तेण' शब्द को साथ लेकर 'आउसंतेण' को 'भगवया' शब्द का विशेषण मानने से दूसरा अर्थ होता है—मैंने सुना चिरजीवी भगवान् ने ऐसा कहा है अथवा भगवान् ने साक्षात् ऐसा कहा है[5] ।

२—'आवसतेण' पाठान्तर मानने से तीसरा अर्थ होता है – गुरुकुल में रहते हुए मैंने सुना भगवान् ने ऐसा कहा है[6] ।

३ – 'आमुसतेण' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है -- सिर से चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने सुना भगवान् ने ऐसा कहा है[7] ।

---

१ – जि० चू० पृ० १३० : आयुस् प्रातिपदिकं प्रथमासु:, आयु अस्यास्ति मतुप्प्रत्ययः, आयुष्मान् ! , आयुष्मन्नित्यनेन शिष्यस्यामन्त्रणं ।

२ — विनयपिटक १ऽऽ३.१४ पृ० १२५ ।

३— जि० चू० पृ० १३०-१ : अनेन ·····गुणाश्च देशकुलशीलादिका अन्वाख्याता भवंति, दीर्घायुष्कत्वं च सर्वेषां गुणानां प्रतिविशिष्टतम, कह ?, जम्हा दिग्घायू सीसो तं नाणं अन्नेसिंपि भवियाण दाहिति, ततो य अव्वोच्छित्ती सासणस्स कया भविस्सइत्ति, तम्हा आउसंतग्गहणं कयंति ।

४—हा० टी० प० १३७ : प्रधानगुणनिष्पन्नेनामन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्य देयं नागुणवत इत्याह, तदनुकम्पाप्रवृत्तेरिति, उक्तं च—

"आमे घडे निहत्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ ।
इय सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ ।"

५—(क) जि० चू० पृ० १३१ : सुयं मयाऽऽयुषि समेतेन तीर्थंकरेण जीवमानेन कथितं, एष द्वितीयः विकल्पः ।

(ख) हा० टी० प० १३७ : 'आउसंतेणं' ति भगवत एव विशेषणम्, आयुष्मता भगवता—चिरजीविनेत्यर्थः मङ्गलवचनं चैतद्, अथवा जीवता साक्षादेव ।

६- (क) जि० चू० पृ० १३१ : श्रुतं मया गुरुकुलसमीपावस्थितेन तृतीयो विकल्पः ।

(ख) हा० टी० प० १३७ : अथवा 'आवसंतेणं' ति गुरुमूलमावसता ।

७—(क) जि० चू० पृ० १३१ : सुयं मया एयमज्झयणं आउसंतेणं भगवतः पादौ आमृषता ।

(ख) हा० टी० प० १३७ : अथवा 'आमुसंतेणं' आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन ।

२. उन भगवान् ने (तेणं भगवया) :

'भग' शब्द का प्रयोग ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न—इन छह अर्थों में होता है। कहा है :

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः ।
> धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥

जिसके ऐश्वर्य आदि होते हैं उसे भगवान कहते हैं[1]।

'आयुष्मन् ! मैंने सुना उन भगवान ने इस प्रकार कहा' (सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं)—इस वाक्य के 'उन भगवान्' शब्दों को टीकाकार हरिभद्र सूरि ने महावीर का द्योतक माना है[2]। चूर्णिकार जिनदास का भी ऐसा ही आशय है[3]। परन्तु यह ठीक नहीं लगता। ऐसा करने से बाद के संलग्न वाक्य 'इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया' की पूर्व वाक्य के साथ संगति नहीं बैठती। अतः पहले वाक्य के भगवान् शब्द को सूत्रकार के द्वारा अपने प्रज्ञापक आचार्य के लिए प्रयुक्त माना जाय तो व्याख्या का क्रम अधिक संगत हो सकता है। उत्तराध्ययन के सोलहवें और इस सूत्र के नवें अध्ययन में इसका आधार भी मिलता है। वहाँ अन्य प्रसंगों में क्रमशः निम्न पाठ मिलते हैं :

१—सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता (उत्त० १६.१)

२—सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता (दश० ९.४.१)

हरिभद्र सूरि दशवैकालिक सूत्र के इस स्थल की टीका में 'थेरेहिं' शब्द का अर्थ स्थविर गणधर करते हैं[4]। स्थविर की प्रज्ञप्ति को तीर्थंकर के मुँह से सुनने का प्रसंग ही नहीं आता। ऐसी हालत में उक्त दोनों स्थलों में प्रयुक्त प्रथम 'भगवान्' शब्द का अर्थ महावीर अथवा तीर्थंकर नहीं हो सकता। यहाँ भगवान् शब्द का प्रयोग सूत्रकार के प्रज्ञापक आचार्य के लिए हुआ है। उक्त दोनों स्थलों पर सूत्रकार ने अपने प्रज्ञापक आचार्य के लिए 'भगवान्' शब्द का एक वचनात्मक और तत्त्व-निरूपक स्थविरों के लिए उसका बहुवचनात्मक प्रयोग किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि भगवान् शब्द का दो बार होने वाला प्रयोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए है। इसी तरह प्रस्तुत प्रकरण में भी 'उन भगवान्' शब्दों का सम्बन्ध प्रज्ञापक आचार्य से बैठता है। वे भगवान् महावीर के द्योतक नहीं ठहरते।

३ काश्यप-गोत्री (कासवेणं)

'काश्यप' शब्द श्रमण भगवान् महावीर के विशेषण रूप से अनेक स्थलों पर व्यवहृत मिलता है। अनेक स्थानों पर भगवान महावीर को केवल 'काश्यप' शब्द से संकेतित किया है[5]। भगवान् महावीर काश्यप क्यों कहलाए—इस विषय में दो कारण मिलते हैं :

१—जि० चू० पृ० १३१ : भगशब्देन ऐश्वर्यरूपयशः श्रीधर्मप्रयत्ना अभिधीयंते, ते यस्यास्ति स भगवान्, भगो जसादी भण्णइ, सो जस्स अत्थि सो भगवं भण्णइ।

२—हा० टी० प० १३६ : 'तेनें' ति भुवनभर्तुः परामर्शः ''तेन भगवता वर्धमानस्वामिनेत्यर्थः।

३ (क) जि० चू० पृ० १३१ : तेन भगवता—तिलोगबंधुणा।

(ख) वही पृ० १३२ : 'सुयं मे आउसंतेणं' एवं णज्जति समणेणं भगवया महावीरेणं एयमज्झयणं पन्नत्तमिति किं पुण गहणं कय-मिति ?, आयरिओ भणइ—× × तत्थ नामठवणादव्वाणं पडिसेहनिमित्त भावसमणभावभगवंतमहावीरग्गहणनिमित्तं पुणोग्गहणं कयं।

४—हा० टी० प० २४५ : 'स्थविरैः' गणधरैः।

५—(क) सू० १.६.७; १.१५.२१; १.३.२.१४; १.५.१.२; १.११.५,३२।

(ख) भग० १५.८७, ८९।

(ग) उत्त० २.१, ४६; २९.१।

(घ) कल्प० १०८, १०९।

१— भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप था। इसलिए वे काश्यप कहलाते थे[1]।

२—काश्य का अर्थ इक्षु-रस होता है। उसका पान करने वाले को काश्यप कहते हैं। भगवान् ऋषभ ने इक्षु-रस का पान किया था अतः वे काश्यप कहलाये। उनके गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति इसी कारण काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर २४ वें तीर्थङ्कर थे। अतः वे निश्चय ही प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के धर्म-वंश या विद्या-वंश में उत्पन्न कहे जा सकते हैं। इसलिए उन्हें काश्यप कहा है[2]।

धनञ्जय नाममाला में भगवान् ऋषभ का एक नाम काश्यप बतलाया है[3]। भाष्यकार ने काश्य का अर्थ क्षत्रिय-तेज किया है और उसकी रक्षा करने वाले को काश्यप कहा है[4]। भगवान् ऋषभ के बाद जो तीर्थङ्कर हुए वे भी सामान्य रूप से काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे अतः उनका नाम अन्त्य-काश्यप मिलता है[5]।

४. श्रमण···महावीर द्वारा (समणेणं···महावीरेणं) :

आचाराङ्ग के चौबीसवें अध्ययन में चौबीसवें तीर्थङ्कर के तीन नाम बतलाए हैं। उनमें दूसरा नाम 'समण' और तीसरा नाम 'महावीर' है। सहज समभाव आदि गुण-समुदाय से सम्पन्न होने के कारण वे 'समण' कहलाए। भयंकर भय-भैरव तथा अचेलकता आदि कठोर परीषहों को सहन करने के कारण देवों ने उनका नाम महावीर रखा[6]।

'समण' शब्द की व्याख्या के लिए देखिए अ० १ टि० १४।

यश और गुणों में महान् वीर होने से भगवान् का नाम महावीर पड़ा[7]। जो शूर—विक्रान्त होता है उसे वीर कहते हैं। कषायादि महान् आन्तरिक शत्रुओं को जीतने से भगवान् महाविक्रान्त—महावीर कहलाए[8]। कहा है—

विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः॥

अर्थात् जो कर्मों को विदीर्ण करता है, तपपूर्वक रहता है, जो इस प्रकार तप और वीर्य से युक्त होता है, वह वीर होता है। इन गुणों में महान् वीर वे महावीर[9]।

५. प्रवेदित (पवेइया) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—अच्छी तरह विज्ञात—अच्छी तरह जाना हुआ[10]। हरिभद्र सूरि के अनुसार केवलज्ञान

१—(क) जि० चू० पृ० १३२ : काश्यपं गोत्त कुल यस्य सोऽयं काशपगोत्तो।
(ख) हा० टी० प० १३७ : 'काश्यपेने' ति काश्यपसगोत्रेण।

२—(क) अ० चू० पृ० ७३ : कास—उच्छू, तस्स विकारो—काश्य.-रसः, सो जस्स पाण सो कासवो उसभसामी, तस्स जो गोत्त-जाता ते कासवा, तेण वद्धमाणसामी कासवो,
(ख) जि० चू० पृ० १३२ : काशो नाम इक्खु भण्णइ, जम्हा त इक्खु पिबति तेन काश्यपा अभिधीयते।

३—धन० नाम० ११४ पृ० ५७ : वर्षीयान् वृषभो ज्यायान् पुरुराद्यः प्रजापतिः।
ऐक्ष्वाकुः (कः) काश्यपो ब्रह्मा गौतमो नाभिजोऽग्रजः॥

४—धन० नाम० पृ० ५७ : काश्यं क्षत्रियतेजः पातीति काश्यपः। तथा च महापुराणे—"काश्यमित्युच्यते तेजःकाश्यपस्तस्य पालनात्"।

५—धन० नाम० ११५ पृ० ५८ : सन्मतिर्महतीर्वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥

६—आ० चू०१५.१६ : सहसंमुइए समणे, भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परीसहं सहइत्तिकट्टु देवेहिं से नामं कय समणे भगवं महावीरे।

७—जि० चू० पृ० १३२ : महंतो यसोगुणेहिं वीरोत्ति महावीरो।

८—हा० टी० प० १३७ : 'महावीरेण'—'शूरवीरविक्रान्ता' विति कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः।

९—हा० टी० प० १३७ ;महांश्चासौ वीरश्च महावीरः।

१०—अ० चू० पृ० ७३ : 'विण्णाते' साधु वेदिता पवेदिता—साधुविण्णाता।

के आलोक द्वारा स्वयं अच्छी तरह वेदित—जाना हुआ प्रवेवित है[1]। जिनदास ने इस शब्द का अर्थ किया है - विविध रूप से—अनेक प्रकार से कथित[2]।

६—सु-आख्यात (सुयक्खाया) :

इसका अर्थ है – भली भाँति कहा[3]। यह बात प्रसिद्ध है कि भगवान् महावीर ने देव, मनुष्य और असुरों की सम्मिलित परिषद् में जो प्रथम प्रवचन दिया वह षड्जीवनिका अध्ययन है[4]।

७—सु-प्रज्ञप्त (सुपन्नत्ता) :

'सु-प्रज्ञप्त का अर्थ है - जिस प्रकार प्ररूपित किया गया है उसी प्रकार आचीर्ण किया गया है। जो उपदिष्ट तो है पर आचीर्ण नहीं है वह सुप्रज्ञप्त नहीं कहलाता[5]।

प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त का संयुक्त अर्थ है— भगवान् ने षड्जीवनिका को जाना, उसका उपदेश किया और जैसे उपदेश किया वैसे स्वयं उसका आचरण किया।

८—धर्म-प्रज्ञप्ति (धम्मपन्नत्ती) :

'छज्जीवणिया' अध्ययन का ही दूसरा नाम 'धर्म-प्रज्ञप्ति' है[6]। जिसमें धर्म जाना जाए उसे धर्म-प्रज्ञप्ति कहते है[7]।

९—पठन (अहिज्जिउ) :

इसका अर्थ है—अध्ययन करना[8]। पाठ करना, सुनना, विचारना ये सब भाव 'अहिज्जिउ' शब्द मे निहित है[9]।

१०—मेरे लिए (मे) :

'मे' शब्द का अर्थ है—अपनी आत्मा के लिए—स्वय के लिए[10]। कई व्याख्याकार 'मे' को सामान्यत: 'आत्मा' के स्थान मे

१—हा० टी० प० १३७ : स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण वेदिता—विज्ञातेत्यर्थ ।

२- जि० चू० पृ० १३२ : प्रवेदिता नाम विविहमनेकप्रकार कथितेत्युक्त भवति ।

३-- (क) जि० चू० पृ० १३२ : सोभणेण पगारेण अक्खाता सुट्ठु वा अक्खाया ।

(ख) हा० टी० प० १३७ : सदेवमनुष्यासुराणां पर्षदि सुष्ठु आख्याता, स्वाख्याता ।

४—श्री महावीर कथा पृ० २१६ ।

५—(क) जि० चू० पृ० १३२ : जहेव परूविया तहेव आइण्णावि, इतरहा जइ उवईसिऊण न तहा आयरतो तो नो सुपण्णत्ता होंतित्ति ।

(ग) हा० टी० प० १३७ : सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथैव आख्याता तथैव सुष्ठु--सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थ , अनेकार्थत्वाद्धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः ।

६—हा० टी० पृ० १३८ : अन्ये तु व्याचक्षते—अध्ययन धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति ।

७—(क) अ० चू० पृ० ७३ : धम्मो पण्णविज्जए जाए सा धम्मपण्णत्ती, अज्झयणविसेसो ।

(ख) जि० चू० पृ० १३२ : धम्मो पण्णविज्जमाणो विज्जति जत्थ सा धम्मपन्नत्ती ।

(ग) हा० टी० प० १३८ : 'धर्मप्रज्ञप्ते.' प्रज्ञपन प्रज्ञप्तिः धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः ।

८--जि० चू० पृ० १३२ : अहिज्जिउं नाम अज्झाइउं ।

९—हा० टी० प० १३८ : 'अध्येतु' मिति पठितुं श्रोतुं भावयितुम् ।

१०—(क) जि० चू० पृ० १३२ : 'मे' त्ति अत्तणो निद्देसे ।

(ख) हा० टी० प० १३७ : ममेत्यात्मनिर्देशः ।

प्रयुक्त मानते हैं—ऐसा उल्लेख हरिभद्र सूरि ने किया है[1]। यह अर्थ ग्रहण करने से अनुवाद होगा—'इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन आत्मा के लिए श्रेय है।'

सूत्र ३ :

११ पृथ्वी-कायिक ... त्रस-कायिक (पुढविकाइया ... तसकाइया) :

जिन छह प्रकार के जीव-निकाय का उल्लेख है, उनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है :

(१) काठिन्य आदि लक्षण से जानी जानेवाली पृथ्वी ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को पृथ्वीकाय कहते हैं। पृथ्वीकाय जीव ही पृथ्वीकायिक कहलाते हैं।[2] मिट्टी, बालू, लवण, सोना, चाँदी, अभ्र आदि पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार हैं। इनकी विस्तृत तालिका उत्तराध्ययन में मिलती है[3]।

(२) प्रवाहशील द्रव्य—जल ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को अप्काय कहते हैं। अप्काय जीव ही अप्कायिक कहलाते हैं[4]। शुद्धोदक, ओस, हरतनु, महिका, हिम—ये सब अप्कायिक जीवों के प्रकार हैं[5]।

(३) उष्णलक्षण तेज ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को तेजस्काय कहते हैं। तेजस्काय जीव ही तेजस्कायिक कहलाते हैं[6]। अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्काग्नि, विद्युत् आदि तेजस्कायिक जीवों के प्रकार हैं[7]।

(४) चलनधर्मा वायु ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वायुकाय कहते हैं। वायुकाय जीव ही वायुकायिक कहलाते हैं[8]। उत्कलिकावायु, मण्डलिकावायु, घनवायु, गुंजावायु, संवर्तकवायु आदि वायुकायिक जीव हैं[9]।

(५) लतादि रूप वनस्पति ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वनस्पतिकाय कहते है। वनस्पतिकाय जीव ही वनस्पतिकायिक कहलाते है[10]। वृक्ष, गुच्छ, लता, फल, तृण, आलू, मूली आदि वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार हैं[11]।

(६) त्रसनशील को त्रस कहते है। त्रस ही जिनका काय—शरीर है उन जीवों को त्रसकाय कहते है। त्रसकाय जीव ही त्रसकायिक कहलाते है[12]। कृमि, शंख, कुंथु, पिपीलिका, मक्खी, मच्छर आदि तथा मनुष्य, पशु-पक्षी, तिर्यञ्च, देव और नैरयिक जीव त्रसजीव है[13]।

स्वार्थ में इकण् प्रत्यय होने पर पृथ्वीकाय आदि से पृथ्वीकायिक आदि शब्द बनते है[14]।

१—हा० टी० प० १३७ : छान्दसत्वात्सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये।

२—हा० टी० प० १३८ : पृथिवी—काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता सैव कायः—शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः।

३—उत्त० ३६.७२-७७।

४—हा० टी० प० १३८ : आपो—द्रवाः प्रतीता एव ता एव कायः—शरीरं येषां तेऽप्कायाः अप्काया एव अप्कायिकाः।

५—उत्त० ३६.८५।

६—हा० टी० प० १३८ : तेज—उष्णलक्षणं प्रतीतं तदेव कायः—शरीरं येषां ते तेजःकायाः तेजःकाया एव तेजःकायिकाः।

७—उत्त० ३६.११०-१।

८—हा० टी० प० १३८ : वायु—चलनधर्मा प्रतीत एव स एव कायः—शरीरं येषां ते वायुकायाः वायुकाया एव वायुकायिकाः।

९—उत्त० ३६.११८-९।

१०—हा० टी० प० १३८ : वनस्पति—लतादिरूपः प्रतीतः, स एव कायः—शरीरं येषां ते वनस्पतिकायाः, वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिकाः।

११—उत्त०—३६.९४-९।

१२—हा० टी० प० १३८ : एव त्रसनशीलास्त्रसाः—प्रतीता एव, त्रसाः कायाः—शरीराणि येषां ते त्रसकायाः, त्रसकाया एव त्रसकायिकाः।

१३—उत्त० ३६.१२८-१२९, १३६-१३९, १४६-१४८, १५५।

१४—हा० टी० प० १३८ : स्वार्थिकष्ठक्।

सूत्र : ४

१२. शस्त्र (सत्थ) :

घातक पदार्थ को शस्त्र कहा जाता है । वे तीन प्रकार के होते हैं—स्वकाय-शस्त्र, परकाय-शस्त्र और उभयकाय-शस्त्र । एक प्रकार की मिट्टी से दूसरी प्रकार की मिट्टी के जीवों की घात होती है । वहाँ मिट्टी उन जीवों के लिए स्वकाय-शस्त्र है । वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के भेद से एक काय दूसरे काय का शस्त्र हो जाता है । पानी, अग्नि आदि से मिट्टी के जीवों की घात होती है । वे उनके लिए परकाय-शस्त्र है । स्वकाय और परकाय दोनों संयुक्त-रूप से घातक होते हैं तब उन्हे उभयकाय-शस्त्र कहा जाता है । जिस प्रकार काली मिट्टी जल में मिलने पर जल और धोली मिट्टी—दोनों का शस्त्र होती है[1] ।

१३. शस्त्र-परिणति से पूर्व (अन्नत्थ सत्थपरिणएणं) :

पूर्व शब्द 'अन्नत्थ' का भावानुवाद है । यहाँ 'अन्नत्थ'—अन्यत्र—शब्द का प्रयोग 'वर्जन कर —छोडकर' अर्थ में है । 'अन्नत्थ सत्थपरिणएण' का शाब्दिक अनुवाद होगा - शस्त्र-परिणत पृथ्वी को छोड कर—उसके सिवा अन्य पृथ्वी 'सजीव' होती है[2] ।

'अन्यत्र' शब्द के योग मे पञ्चमी विभक्ति होती है । जैसे अन्यत्र भीष्माद् गाङ्गेयाद् अन्यत्र च हनूमतः ।

१४. चित्तवती (चित्तमंतं) :

चित्त का अर्थ है जीव अथवा चेतना । पृथ्वी, जल आदि सजीव होते हैं, उनमें चेतना होती है इसलिए उन्हे चित्तवत् कहा गया है[3]।

'चित्तमंतं' के स्थान में वैकल्पिक पाठ 'चित्तमत्त' है[4] । इसका संस्कृत रूप चित्तमात्र होता है । मात्र शब्द के स्तोक और परिमाण ये दो अर्थ माने हैं । प्रस्तुत विषय मे 'मात्र' शब्द स्तोकवाची है[5] । पृथ्वीकाय आदि पाँच जीवनिकायो मे चैतन्य स्तोक—

१—(क) दश० नि० २३१, हा० टी० प० १३९ : किञ्चित्स्वकायशस्त्र, यथा कृष्णा मृद् नीलादिमृदः शस्त्रम्, एव गन्धरसस्पर्शभेदेऽपि शस्त्रयोजना कार्या, तथा 'किञ्चित्परकाये' ति परकायशस्त्र, यथा पृथ्वी अप्तेजःप्रभृतीनाम् अप्तेजः प्रभृतयो वा पृथिव्याः, 'तदुभय किञ्चि' दिति किञ्चित्तदुभयशस्त्रं भवति, यथा कृष्णा मृद् उदकस्य स्पर्शरसगन्धादिभिः पाण्डुमृदश्च, यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति तदाऽसौ कृष्णमृद् उदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्र भवति ।

(ख) जि० चू० पृ० १३७ : किंची ताव दव्वसत्थं सकायसत्थं किंचि परकायसत्थं किंचि उभयकायसत्थति, तत्थ सकायसत्थ जहा किण्हमट्टिया नीलमट्टियाए सत्थ, एवं पचवण्णावि परोप्परं सत्थ भवति, जहा य वण्णा तहा गधरसफासावि भाणियव्वा, परकायसत्थं नाम पुढविकायो आउक्कायस्स सत्थं पुढविकायो तेउक्कायस्स पुढविकाओ वाउकायस्स पुढविकाओ वणस्सइकायस्स पुढविकाओ तसकायस्स, एव सव्वे परोप्पर सत्थं भवंति, उभयसत्थ णाम जाहे किण्हमट्टियाए कलुसियमुदग भवइ ताव परिणया ।

२—(क) अ० चू० पृ० ७४ : अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टति ।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ, किं परिवज्जइयइ ? सत्थपरिणयं पुढविं मोत्तूण जा अण्णा पुढवी सा चित्तमंता इति तं परिवज्जयति ।

(ग) हा० टी० प० १३८-९ : अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः'—शस्त्रपरिणतां पृथिवीं विहाय—परित्यज्यान्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः ।

३—(क) जि० चू० पृ० १३५ : चित्तं जीवो भण्णइ, त चित्तं जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमंता, चेयणाभावो भण्णइ, सो चेयणाभावो जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमता ।

(ख) हा० टी० प० १३८ : 'चित्तवती' ति चित्तं—जीवलक्षण तदस्या अस्तीति चित्तवती—सजीवेत्यर्थः ।

४—(क) जि० चू० पृ० १३५ : अहवा एव पढिज्जइ 'पुढवि चित्तमत्तं अक्खाया' ।

(ख) हा० टी० प० १३८ : पाठान्तर वा 'पुढवी चित्तमत्तमक्खाया' ।

५—(क) अ० चू० पृ० ७४ : इह मत्तासद्दो थोवे ।

(ख) जि० चू० पृ० १३५ : चित्त चेयणाभावो चेव भण्णइ, मत्तासद्दो दोसु अत्थेसु वट्टइ, त०—थोवे वा, परिमाणे वा थोवओ जहा सरिसवतीभागमत्तमणेण दत्तं, परिमाणे परमोही अलोगे लोगप्पमाणमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ इह पुण मत्तासद्दो थोवे वट्टइ ।

(ग) हा० टी० प० १३८ : अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति ।

अल्प-विकसित है। उसमें उच्छ्वास, निमेष आदि जीव के व्यक्त चिह्न नहीं हैं[१]।

'मत्त' का अर्थ मूर्च्छित भी किया है। जिस प्रकार चित्त के विघातक कारणों से अभिभूत मनुष्य का चित्त मूर्च्छित हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरण के प्रबलतम उदय से (टीकाकार के अनुसार प्रबल मोह के उदय से) पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों का चैतन्य सदा मूर्च्छित रहता है। इनके चैतन्य का विकास न्यूनतम होता है[२]।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी-पचेन्द्रिय-तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम मनुष्य, गर्भज-तिर्यञ्च, गर्भज-मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवन-वासी देव, ज्योतिष्क-देव और वैमानिक-देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव) इन सबके चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता है। एकेन्द्रियों में चैतन्य इन सबसे जघन्य होता है[३]।

१५. अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली (अणेगजीवा पुढोसत्ता)

जीव या आत्मा एक नहीं है किन्तु सख्या-दृष्टि से अनन्त है। वनस्पति के सिवाय शेष पाँच जीव-निकायों में से प्रत्येक मे असख्य-असख्य जीव हैं और वनस्पतिकाय में अनन्त जीव हैं। यहां असख्य और अनन्त दोनों के लिए 'अनेक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार वेदों में 'पृथिवी देवता आपो देवता' द्वारा पृथिवी आदि को एक-एक माना है उस प्रकार जैन दर्शन नही मानता। वहाँ पृथ्वी आदि प्रत्येक को अनेक जीव माना है[४]। यहाँ तक कि मिट्टी के कण, जल की बूद और अग्नि की चिनगारी मे असख्य जीव होते हैं। इनका एक शरीर दृश्य नहीं बनता। इनके शरीरो का पिण्ड ही हमे दीख सकता है[५]।

अनेक जीवो को मानने पर भी कई सब में एक ही भूतात्मा मानते हैं। उनका कहना है—जैसे चन्द्रमा एक होने पर भी जल में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है इसी तरह एक ही भूतात्मा जीवो में भिन्न-भिन्न दिखाई देती है[६]। जैन-दर्शन मे प्रत्येक जीव-निकायो के

१—(क) जि० चू० पृ० १३६ : चित्तमात्रमेव तेषां पृथिवीकायिनां जीवितलक्षणं, न पुनरुच्छ्वासादीनि विद्यन्ते।

(ख) हा० टी० प० १३८ : ततश्च चित्तमात्रा—स्तोकचित्तेत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० पृ० ७४ : अहवा चित्तं मत्तमेतेसि ते चित्तमत्ता, जहा पुरिसस्स मज्जपाणविसोवयोग-सप्पावराह-हिप्पूरभक्खण-मुच्छादीहिं चेतोविघातकारणेहिं जुगपदभिभूतस्स चित्त मत्त एव पुढविक्कातियाण।

(ख) जि० चू० पृ०१३६ : जारिसा पुरिसस्स मज्जपीतविसोवभुतस्स अहिभक्खियमुच्छादीहिं अभिभूतस्स चित्तमत्ता तओ पुढविक्काइयाण कम्मोदएणं पावयरी, तत्थ सव्व जहण्णयं चित्त एगिंदियाणं।

(ग) हा० टी० प० १३८ : तथा च प्रबलमोहोदयात् सर्वजघन्य चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ७४ : सव्व जहण्ण चित्त एगिंदियाणं, ततो विसुद्धतर बेइन्दियाणं, ततो तेइन्दियाणं, ततो चोइन्दियाणं, ततो असन्नीपंचिदितिरिक्खजोणिताण, समूच्छिममणूसाण य, ततो गब्भवक्कंतियतिरियाण, ततो गब्भवक्कतियमणूसाण, ततो वाणमतराण, ततो भवणवासिणं ततो जोतिसियाण ततो सोधम्मताण जाव सव्वुक्कस अणुत्तरोववातियाणं देवाण।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : तत्थ सव्वजहण्णयं चित्तं एगिंदियाण, तओ विसुद्धयरं बेइदियाण, तओ विसुद्धतराग तेइंदियाण, तओ विसुद्धयरागं चउरिंदियाण, तओ असण्णीणं पंचेंदियाणं संमुच्छिममणुयाण य, तओ सुद्धतरागं पंचिंदितिरियाण, तओ गब्भवक्कतियमणुयाणं, तओ वाणमंतराण, तओ भवणवासीणं ततो जोइसियाण, ततो सोधम्माण जाव सव्वुक्कोसं अणुत्तरोववाइयाण देवाणंति।

४—(क) जि० चू० पृ० १३६ : अणेगे जीवा नाम न जहा वेदिएहिं एगो जीवो पुढवित्ति, उक्त—"पृथिवी देवता आपो देवता" इत्येवमादि, इह पुण जिणसासणे अणेगे जीवा पुढवी भवति।

(ख) हा० टी० प० १३८ : इयं च 'अनेकजीवा' अनेके जीवा यस्यां साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां 'पृथिवी देवते' त्येवमादिवचनप्रामाण्यादिति।

५—(क) अ० चू० पृ० ७४ : ताणि पुण असंखेज्जाणि समुदिताणि चक्खुविसयमागच्छंति।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : असंखेज्जाणं पुण पुढविजीवाण सरीराणि संहिताणि चक्खुविसयमागच्छंतित्ति।

६—हा० टी० प० १३८ : अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूतात्मापेक्षयेष्यत एव, यथाहुरेके —"एक एव ही भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" अत आह—'पृथक्सत्त्वा' पृथग्भूताः सत्त्वा —आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा।

जीवों में स्वरूप की सत्ता है। वे किसी एक ही महान् आत्मा के अवयव नहीं हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है इसीलिए वे पृथक्सत्त्व हैं। जिनमें पृथक्भूत सत्त्व—आत्मा हो उन्हें पृथक्सत्त्व कहते हैं। इनकी अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि अंगुल के असंख्येय भाग मात्र में अनेक जीव समा जाते हैं। यदि इन्हें सिलादि पर बाटा जाय तो कुछ पिसते हैं कुछ नहीं पिसते। इससे इनका पृथक् सत्त्व सिद्ध होता है।[1]

मुक्तिवाद और मितात्मवाद - ये दोनों आपस मे टकराते हैं। आत्मा परिमित होगी तो या तो मुक्त आत्माओं को फिर से जन्म लेना होगा या ससार जीव-शून्य हो जाएगा। ये दोनों प्रमाण सगत नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे काव्य की भाषा में यों गाया है —

> "मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भवो वा,
> भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
> षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्य-
> माख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः[2] ॥"

सूत्र ८ :

१६. अग्र-बीज (अग्गबीया)

वनस्पति के भिन्न-भिन्न भेद उत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर किये गए हैं। उनके उत्पादक भाग को बीज कहा जाता है। वे विभिन्न होते हैं। 'कोरटक' आदि के बीज उनके अग्र भाग होते है इसीलिए वे अग्रबीज कहलाते है[3]। उत्पल-कद आदि के मूल ही उनके बीज है इसलिए वे मूलबीज कहलाते है[4]। इक्षु आदि के पर्व ही बीज हैं इसलिए वे 'पर्वबीज' कहलाते है[5]। थूहर, अश्वत्थ, कपित्थ (कैथ) आदि के स्कध ही बीज है इसलिए वे 'स्कधबीज' कहलाते है[6]। शालि, गेहू आदि मूल बीजरूप मे ही है। वे 'बीजरुह' कहलाते हैं[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १३६ : पुढो सत्ता नाम पुढविक्कमोदएण सिलेसेण वट्टिया वट्टी पिहप्पिहं चऽवत्थियत्ति वुत्त भवइ।
(ख) हा० टी० प० १३८ : अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिकयाऽनेकजीवसमाश्रितेति भावः।

२—अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लो० २६।

३—(क) अ० चू० पृ० ७५ : कोरेंटगादीणि अग्गाणि रुप्पंति ते अग्गबीता।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : अग्गबीया नाम अग्ग बीयाणि जेसिं ते अग्गबीया जहा कोरेंटगादी, तेसिं अग्गाणि रुप्पंति।
(ग) हा० टी० प० १३६ : अग्र बीज येषां ते अग्रबीजाः—कोरण्टकादयः।

४—(क) अ० चू० पृ० ७५ : कंदलिकदादि मूलबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : मूलबीया नाम उप्पलकंदादी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः—उत्पलकन्दादयः।

५—(क) अ० चू० पृ० ७५ : इक्खुमादि पोरबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : पोरबीया नाम उक्खुमादी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः—इक्ष्वादयः।

६—(क) अ० चू० पृ० ७५ : णिहूमादी खंधबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : खंधबीया नाम अस्सोत्थकविट्ठसल्लादिमादी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : स्कंधो बीजं येषां ते स्कधबीजाः—शल्लक्यादयः।

७—(क) अ० चू० पृ० ७५ : सालिमादी बीयरुहा।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : बीयरुहा नाम सालीवीहीमादी।
(ग) हा० टी० प० १३६ : बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहाः—शाल्यादयः।

१७. सम्मूर्च्छिम (सम्मुच्छिमा) :

पद्मिनी, तृण आदि जो प्रसिद्ध बीज के बिना केवल पृथ्वी, पानी आदि कारणों को प्राप्त कर उत्पन्न होते हैं वे 'सम्मूर्च्छिम' कहलाते हैं। सम्मूर्च्छिम उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसी बात नहीं है। वे दग्ध भूमि मे भी उत्पन्न हो जाते हैं[1]।

१८. तृण (तण) :

घास मात्र को तृण कहा जाता है। दूब, काश, नागरमोथा, कुश अथवा दर्भ, उशीर आदि प्रसिद्ध घास हैं। 'तृण' शब्द के द्वारा सभी प्रकार के तृणों का ग्रहण किया गया है[2]।

१९. लता (लया) :

पृथ्वी पर या किसी बड़े वृक्ष पर लिपटकर ऊपर फैलने वाले पौधे को लता कहा जाता है। 'लता' शब्द के द्वारा सभी लताओ का ग्रहण किया गया है[3]।

२०. बीजपर्यन्त (सबीया) :

वनस्पति के दस प्रकार होते है मूल, कन्द, स्कध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। मूल की अतिम परिणति बीज में होती है इसलिए 'स-बीज' शब्द वनस्पति के इन दसों प्रकारो का सग्राहक है[4]।

इसी सूत्र (८.२) मे 'सबीयग' शब्द के द्वारा वनस्पति के इन्ही दस भेदो को ग्रहण किया गया है[5]।

शीलाङ्कसूरि ने 'सबीयग' शब्द के द्वारा केवल 'अनाज' का ग्रहण किया है[6]।

सूत्र ९ :

२१. अनेक बहु त्रस प्राणी (अणेगे बहवे तसा पाणा) :

त्रस जीवो की द्वीन्द्रिय आदि अनेक जातियां होती हैं और प्रत्येक जाति मे बहुत प्रकार के जीव होते है इसलिए उनके पीछे 'अनेक' और 'बहु'—ये दो विशेषण प्रयुक्त किए है[7]। इनमे उच्छ्वासादि विद्यमान होते है अतः ये प्राणी कहलाते है[8]।

१—(क) अ० चू० पृ० ७५ : पउमिणिमादी उदगपुढविसिणेहसमुच्छणा समुच्छिमा।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : समुच्छिमा नाम जे विणा बीयेण पुढविवरिसादीणि कारणाणि पप्प उट्ठेंति।
(ग) हा० टी० प० १४० : सम्मूर्च्छन्तीति सम्मूर्च्छिमाः—प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधास्तृणादयः, न चैते न सभवन्ति, दग्धभूमावपि सभवात्।
२—जि० चू० पृ० १३८ : तत्थ तणग्गहणेण तणभेया गहिया।
३—जि० चू० पृ० १३८ : लताग्गहणेण लताभेदा गहिया।
४—(क) जि० चू० पृ० १३८ : सबियग्गहणेण एतस्स चेव वणस्सइकाइयस्स बीयपज्जवसाणा दस भेदा गहिया भवति—त जहा

मूले कंदे खंधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥

(ख) अ० चू० पृ० ७५ : सबीया इति बीयावसाणा दस वनस्सतिभेदा सगहतो दरिसिता।
५—जि० चू० पृ० २७४ : सबीयगहणेण मूलकन्दादिबीयपज्जवसाणस्स पुव्वभणितस्स दसपगारस्स वणप्फतिणो गहणं।
६—सू० १.९.८ टी० प० १७९ : 'पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा' सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजाः, बीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि।
७—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'अणेगा' अनेग भेदा बेइन्दियादतो। 'बहवे' इति बहुभेदा जाति-कुलकोडि-जोणी-पमुहसतसहस्सेहिं पुणरवि संखेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १३९ : अणेगे नाम एक्कंमि चेव जातिभेदे असंखेज्जा जीवा इति।
(ग) हा० टी० प० १४१ : अनेके—द्वीन्द्रियादिभेदेन बहवः एकैकस्यां जातौ।
८—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'पाणा' इति जीवाः प्राणंति वा निःश्वसति वा।
(ख) हा० टी० प० १४१ : प्राणाः—उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिनः।

त्रस दो प्रकार के होते हैं—लब्धि-त्रस और गति-त्रस। जिन जीवों में साभिप्राय गति करने की शक्ति होती है वे लब्धि-त्रस होते हैं और जिनमें अभिप्रायपूर्वक गति नहीं होती, केवल गति मात्र होती है, वे गति-त्रस कहलाते हैं। अग्नि और वायु को सूत्रों में त्रस कहा है पर वे गति-त्रस हैं। जिन्हें उदार त्रस प्राणी कहा है वे लब्धि-त्रस हैं[1]। प्रस्तुत सूत्र में त्रस के जो लक्षण बतलाए हैं वे लब्धि-त्रस के हैं।

२२. अण्डज (अंडया) :

अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि अण्डज कहलाते हैं[2]।

२३. पोतज (पोयया) :

'पोत' का अर्थ शिशु है। जो शिशुरूप मे उत्पन्न होते है, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नही होता, वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, चर्म-जलौका आदि पोतज प्राणी हैं[3]।

२४. जरायुज (जराउया) :

जन्म के समय मे जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते है। भैंस, गाय आदि इसी रूप में उत्पन्न होते हैं। जरायु का अर्थ गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली है जो शिशु को आवृत किए रहती है[4]।

२५. रसज (रसया) :

छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शरीरी जीव रसज कहलाते हैं[5]।

२६. संस्वेदज (संसेइमा) :

पसीने से उत्पन्न होने वाले खटमल, यूका – जूं आदि जीव सस्वेदज कहलाते हैं[6]।

२७. सम्मूर्च्छनज (सम्मुच्छिमा) :

बाहरी वातावरण के सयोग से उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी, मक्खी आदि जीव सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं[7]। सम्मूर्च्छिम मातु-पितृहीन प्रजनन है। यह सर्दी, गर्मी आदि बाहरी कारणो का संयोग पाकर उत्पन्न होता है। सम्मूर्च्छन का शाब्दिक अर्थ है— घना होने,

---

१—ठा० ३ ३२६ : तिविहा तसा प० त० —तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा।

२—(क) अ० चू० पृ० ७७ : अण्डजाता 'अण्डजा' मयूरादय:।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : अंडसंभवा अडजा जहा हसमयूरायिणो।

(ग) हा० टी० प० १४१ : पक्षिगृहकोकिलादय:।

३—(क) अ० चू० पृ० ७७ : पोतमिव सूयते 'पोतजा' वग्गुलीमादय:।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : पोतया नाम वग्गुलीमाइणो।

(ग) हा० टी० प० १४१ . पोता एव जायन्त इति पोतजा: ·· ······ते च हस्तीवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतय:।

४—(क) अ० चू० पृ० ७७ : जराउवेढिता जायंती 'जराउजा' गवादय.।

(ख) जि० चू० पृ० १३६-४० : जराउया नाम जे जरवेढिया जायति जहा गोमहिसादि।

(ग) हा० टी० प० १४१ . जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजा—गोमहिष्यजाविकमनुष्यादय:।

५—(क) अ० चू० पृ० ७७ : रसा ते भवति रसजा, तक्कादो सुहुमसरीरा।

(ख) जि० चू० पृ० १४० : रसया नाम तक्कंबिलमाइसु भवंति।

(ग) हा० टी० प० १४१ : रसाज्जाता रसजा:—तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति।

६—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'संस्वेदजा' यूगादत:।

(ख) जि० चू० पृ० १४० : संसेयणा नाम जूयादी।

(ग) हा० टी० प० १४१ : संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजा—मत्कुणयूकाशतपदिकादय:।

७—(क) अ० चू० पृ० ७७ : सम्मुच्छिमा करीसादिसु मच्छिकादतो भवंति।

(ख) जि० चू० पृ० १४० : संमुच्छिमा नाम करीसादिसमुच्छिया।

(ग) हा० टी० प० १४१ : संमूर्च्छनाज्जाता संमूर्च्छनजा:—शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूकादय:।

बढ़ने या फैलने की क्रिया। जो जीव गर्भ के बिना उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और फैलते हैं वे 'सम्मूर्च्छनज' या सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। वनस्पति जीवों के सभी प्रकार 'सम्मूर्च्छिम' होते हैं। फिर भी उत्पादक अवयवों के विवक्षा-भेद से केवल उन्हीं को सम्मूर्च्छिम कहा गया है जिनका बीज प्रसिद्ध न हो और जो पृथ्वी, पानी और स्नेह के उचित योग से उत्पन्न होते हों।

इसी प्रकार रसज, संस्वेदज और उद्भिज ये सभी प्राणी 'सम्मूर्च्छिम' हैं। फिर भी उत्पत्ति की विशेष सामग्री को ध्यान में रख कर इन्हें 'सम्मूर्च्छिम' से पृथक् माना गया है। चार इन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम ही होते हैं और पञ्चेन्द्रिय जीव भी सम्मूर्च्छिम होते हैं। इसकी योनि पृथक्-पृथक् होती है जैसे पानी की योनि पवन है, घास की योनि पृथ्वी और पानी है। इसमें कई जीव स्वतंत्र भाव से उत्पन्न होते हैं और कई अपनी जाति के पूर्वोत्पन्न जीवों के संसर्ग से। ये संसर्ग से उत्पन्न होने वाले जीव गर्भज समझे जाते हैं। किन्तु वास्तव में गर्भज नहीं होते। उनमें गर्भज जीव का लक्षण —मानसिक ज्ञान नहीं मिलता। सम्मूर्च्छिम और गर्भज जीवों में भेद करने वाला मन है। जिनके मन होता है वे गर्भज और जिनके मन नहीं होता वे सम्मूर्च्छिम होते हैं।

२८. उद्भिज (उब्भिया) :

पृथ्वी को भेदकर उत्पन्न होने वाले पतंग, खञ्जरीट (शरद् ऋतु से शीतकाल तक दिखाई देने वाला एक प्रसिद्ध पक्षी) आदि उद्भिज्ज या उद्भिज कहलाते हैं[1]।

छान्दोग्य उपनिषद् में पक्षी आदि भूतों के तीन बीज माने हैं —अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज[2]। शाङ्कर भाष्य में 'जीवज' का अर्थ जरायुज किया है[3]। स्वेदज और संशोकज का यथासम्भव अण्डज और उद्भिज्ज में अन्तर्भाव किया है[4]। उद्भिज्ज —जो पृथ्वी को ऊपर की ओर भेदन करता है उसे उद्भिद् यानी स्थावर कहते है, उससे उत्पन्न हुए का नाम उद्भिज्ज है, अथवा धाना (बीज) उद्भिद् है उससे उत्पन्न हुआ उद्भिज्ज स्थावर बीज अर्थात् स्थावरों का बीज है[5]।

ऊष्मा से उत्पन्न होने वाले बीजों को संशोकज माना गया है। जैन-दृष्टि से इसका सम्मूर्च्छिम में अन्तर्भाव हो सकता है।

२९. औपपातिक (उववाइया) :

उपपात का अर्थ है—अचानक घटित होने वाली घटना। देवता और नारकीय जीव एक मुहूर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते हैं इसीलिए इन्हें औपपातिक अकस्मात् उत्पन्न होने वाला कहा जाता है[6]। इनके मन होता है इसलिए ये सम्मूर्च्छिम नहीं हैं। इनके माता-पिता नहीं होते इसलिए ये गर्भज भी नहीं हैं। इनकी औत्पत्तिक-योग्यता पूर्वोक्त सभी से भिन्न है इसलिए इनकी जन्म-पद्धति को स्वतन्त्र नाम दिया गया है।

ऊपर में वर्णित पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यंत जीव स्थावर कहलाते हैं।

त्रस जीवों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। जन्म के प्रकार की दृष्टि से जो वर्गीकरण होता है वही अण्डज आदि रूप हैं।

३०. सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं (सव्वे पाणा परमाहम्मिया) :

'परम' का अर्थ प्रधान है। जो प्रधान है वह सुख है। 'अपरम' का अर्थ है न्यून। जो न्यून है वह दुःख है। 'धर्म' का अर्थ है

१—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'उब्भिता' भूमिं भिंदिऊण निद्धावंति सलभादयो।
　(ख) जि० चू० पृ० १४० : उब्भिया नाम भूमिं भेत्तूण पंखालया सत्ता उप्पज्जति।
　(ग) हा० टी० प० १४१ : उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदाः, अथवा उद्भेदनमुद्भित् उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जाः— पतङ्ग-खञ्जरीटपारिप्लवादयः।

२—छान्दो० ६.३.१ : तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति।

३—वही, शाङ्कर भाष्य — जीवाज्जातं जीवजं जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्वादि।

४—वही, स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरेव यथासंभवमन्तर्भावः।

५—वही, उद्भिज्जमुद्भिनत्तीत्युद्भित्स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जं धाना वोद्भित्ततो जायत इत्युद्भिज्जं स्थावरबीजं स्थावराणां बीजमित्यर्थः"।

६—(क) अ० चू० पृ० ७७ : 'उववातिया' णारग-देवा।
　(ख) जि० चू० पृ० १४० : उववाइया नाम नारयदेवा।
　(ग) हा० टी० प० १४१ : उपपाताज्जाता उपपातजाः अथवा उपपाते भवा औपपातिका—देवा नारकाश्च।

स्वभाव। परम जिनका धर्म है अर्थात् सुख जिनका स्वभाव है वे परम-धार्मिक कहलाते हैं[1]। दोनों चूर्णियों में 'पर-धम्मिता' ऐसा पाठान्तर है। एक जीव से दूसरा जीव 'पर' होता है। जो एक का धर्म है वही पर का है—दूसरे का है। सुख की जो अभिलाषा एक जीव में है वही पर में है—शेष सब जीवों में है। इस दृष्टि से जीवो को 'पर-धार्मिक' कहा जाता है[2]।

चूर्णिकार 'सव्वे' शब्द के द्वारा केवल त्रस जीवो का ग्रहण करते हैं। किन्तु टीकाकार उसे त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों का संग्राहक मानते हैं[3]।

सुख की अभिलाषा प्राणी का सामान्य लक्षण है। त्रस और स्थावर सभी जीव सुखाकांक्षी होते हैं। इसलिए 'परमाहम्मिया' केवल त्रस जीवों का ही विशेषण क्यो ? यह प्रश्न होता है। टीकाकार इसे त्रस और स्थावर दोनो का विशेषण मान उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। किन्तु वहाँ एक दूसरा प्रश्न और खडा हो जाता है। वह यह है—प्रस्तुत सूत्र मे त्रस जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें त्रस जीवो के लक्षण और प्रकार बतलाए गए हैं। इसलिए यहाँ स्थावर का सग्रहण प्रासंगिक नही लगता। इन दोनो बाधाओ को पार करने का एक तीसरा मार्ग है। उसके अनुसार 'पाणा परमाहम्मिया' का अर्थ वह नही होता, जो चूर्णिकार और टीकाकार ने किया है। यहाँ 'पाणा' शब्द का अर्थ मातग[4] और 'परमाहम्मिया' का अर्थ परमाधार्मिक देव होना चाहिए[5]। जिस प्रकार तिर्यग्-योनिक, नैरयिक, मनुष्य और देव ये त्रस जीवो के प्रकार बतलाये हैं, उसी प्रकार परमाधार्मिक भी उन्ही का एक प्रकार है। परमाधार्मिको का शेष सब जीवो से पृथक् उल्लेख आवश्यक[6] और उत्तराध्ययन[7] आगम में मिलता है। बहुत सभव है यहा भी उनका और सब जीवो से पृथक् उल्लेख किया गया हो। 'पाणा परमाहम्मिया' का उक्त अर्थ करने पर इसका अनुवाद और पूर्वापर सगति इस प्रकार होगी—सब मनुष्य और सब मातंग स्थानीय परमाधार्मिक हैं—वे त्रस हैं।

सूत्र १० :

३१. इन (इच्चेसिं) :

'इति' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों मे होता है। प्रस्तुत व्याख्याओ मे प्राप्त अर्थ ये है

हेतु—वर्षा हो रही है इसलिए दौड रहा है।

इस प्रकार—ब्रह्मवादी इस प्रकार कहते हैं।

आमत्रण—धम्मएति' हे धार्मिक, 'उवएसएति'—हे उपदेशक !

परिसमाप्ति—इति खलु समणे भगव महावीरे।

प्रकार।

उप-प्रदर्शन—पूर्व वृत्तान्त या पुरावृत्त को बताने के लिए—इच्चेये पंचविहे ववहारे ये पाँच प्रकार के व्यवहार हैं।

---

१ (क) अ० चू० पृ० ७७ : सव्वेपाणा 'परमाहम्मिया'। परम पहाण, तं च सुह। अपरम ऊण त पुण दुक्खं। धम्मो सभावो। परमो धम्मो जेसिं ते परमधम्मिता। यदुक्तम्—सुखस्वभावाः।

(ख) जि० चू० पृ १४१ : परमाहम्मिया नाम अपरमं दुक्खं परमं सुहं भण्णइ, सव्वे पाणा परमाधम्मिया-सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० १४२ : परमधर्माण इति—अत्र परमं—सुखं तद्धर्माणः सुखधर्माणः - सुखाभिलाषिण इत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० पृ० ७७ : पाठविसेसो परधम्मिता—परा जाति जाति पडुच्च सेसा—जो त परेसिं धम्मो सो तेसिं, जहा एगस्स अभिलासप्रीतिप्पभितीणि संभवंति तहा सेसाण वि अतो परधम्मिता।

(ख) जि० चू० पृ० १४१ : अहवा एयं सुत्त एवं पढिज्जइ 'सव्वे पाणा परधम्मिता' इक्किक्कस्स जीवस्स सेसा जीवसेवा परा, ते य सव्वे सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्तं भवति, जो तेसिं एक्कस्स धम्मो सो सेसाणंपित्तिकाऊण सव्वे पाणा परमाहम्मिया।

३—(क) जि० चू० पृ० १४१ : सव्वे तसा भवंति।

(ख) हा० टी० प० १४२ : 'सर्वे प्राणिनः परमधर्माण' इति सर्वे एते प्राणिनो—द्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयश्च।

४—पाइ० ना० १०५ : मायंगा तह अणंगमायाणा।

५—सम० १५ टीका प० २९ : तत्र परमाश्च तेऽधार्मिकाश्च संक्लिष्टपरिणामत्वात्परमाधार्मिकाः—असुरविशेषाः।

६—आव० ४.९ : चउद्दसहिं भूय-गामेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं।

७—उत्त० ३१.१२ : किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले॥

अगस्त्यसिंह के अनुसार प्रस्तुत प्रकरण में 'इति' शब्द का प्रयोग 'प्रकार' अथवा 'हेतु' के अर्थ में हुआ है। जिनदास महत्तर के अनुसार उसका प्रयोग उप-प्रदर्शन के अर्थ में और हरिभद्र सूरि के अनुसार हेतु के अर्थ में हुआ है[1]।

'इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं' अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति मानी है[2]। टीकाकार को 'इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं' यह पाठ अभिमत है और उनके अनुसार यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है[3]।

३२. दंड-समारम्भ (दंडं समारंभेज्जा) :

अगस्त्य चूर्णि में 'दंड' का अर्थ शरीर आदि का निग्रह—दमन करना किया है[4]। जिनदास चूर्णि[5] और टीका[6] में इसका अर्थ संघट्टन, परितापन आदि किया है। कौटिल्य ने इसके तीन अर्थ किए हैं : वध प्राणहरण, परिक्लेश बन्धन, ताड़ना आदि से क्लेश उत्पन्न करना और अर्थ-हरण—धनापहरण[7]।

'दण्ड' शब्द का अर्थ यहाँ बहुत ही व्यापक है। मन, वचन और काया की कोई भी प्रवृत्ति जो दुःख-जनक या परिताप-जनक हो वह दण्ड शब्द के अन्तर्गत है। समारम्भ का अर्थ है करना।

३३. यावज्जीवन के लिए (जावज्जीवाए)

'यावज्जीवन' अर्थात् जीवन-भर के लिए। जब तक शरीर में प्राण रहे उस समय तक के लिए[8]। हरिभद्र सूरि के अनुसार 'इच्चेसिं ... न समणुजाणेज्जा' तक के शब्द आचार्य के हैं[9]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'इच्चेसिं .....तिविहं तिविहेण' तक के शब्द आचार्य के हैं[10]।

१—(क) अ० चू० पृ० ७८ : इतिसद्दो अणेगत्थो अत्थि, हेतौ—वरिसतीति धावति, एवमत्थो— इति 'ब्रह्मवादिनो' वदति, आश्चर्ये—इत्याह भगवां नास्तिक., परिसमाप्तौ—अ अ इति, प्रकारे—इति बहुविह-मुक्ता। इह इतिसद्दो प्रकारे—पुढविक्कातियादिसु किण्हमट्टितादिप्रकारेसु, अहवा हेतौ—जम्हा परधम्मिया सुहसाया दुःक्खपडिकूला। 'इच्चेतेसु', एतेसु अणतराणुक्कंतं पच्चक्खमुपदंसिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२ : इतिसद्दो अणेगेसु अत्थेसु वट्टइ, त—आमतणे परिसमत्तीए उवप्पदरिसणे य, आमंतणे जहा धम्म-एति वा उवएसएति वा एवमादी, परिसमत्तीए जहा 'इति खलु समणे भगवं ! महावीरे' एवमादी, उवप्पदरिसणे जहा 'इच्चेए पंचविहे ववहारे' एत्थ पुण इच्चेतेहिं एसो सद्दो उवप्पदरिसणे दट्ठव्वो, किं उवप्पदरिसयति ?, जे एते जीवाभि-गमस्स छ भेया भणिया।

(ग) हा० टी० प० १४३ : 'इच्चेसिं' इत्यादि, सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना।

२—अ० चू० पृ० ७८ : हिंसद्दो सप्तम्यर्थंतेव।

३—(क) अ० चू० पृ० ७८ : 'एतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं'।

(ख) हा० टी० प० १४३ : 'एतेषां षण्णां जीवनिकायाना' मिति, सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

४—अ० चू० पृ० ७८ : दंडोसरीरादिनिग्गहो।

५—जि० चू० पृ० १४२ : दंडो संघट्टणपरितावणादि।

६—हा० टी० प० १४३ : 'दण्डं' संघट्टनपरितापनादिलक्षणम्।

७—कौटिलीय अर्थ० २.१०.२८ : वधःपरिक्लेशोऽर्थहरणं दण्ड इति(व्याख्या) —वधो व्यापादन, परिक्लेशो बन्धनताडनादिभिर्दुःखो-त्पादनम्, अर्थ-हरणं धनापहारः, इदं त्रयं दण्डः।

८—(क) अ० चू० पृ० ७८ : असमारंभकालावधारणमिदम्—'जावज्जीवाए' जाव पाणा धारेंति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२ : सीसो भणइ—केच्चिरं कालं ?, आयरिओ भणइ—जावजीवाए, ण उ जहा लोइयाणं विन्नवओ होऊण पच्छा पडिसेवइ, किन्तु अम्हाण जावजीवाए वट्टति।

(ग) हा० टी० प० १४३ : जीवनं जीवा यावज्जीवा यावज्जीवम्—आप्राणोपरमात्।

९—हा० टी० प० १४३ : 'न समनुजानीयात्' नानुमोदयेदिति विधायकं भगवद्वचनम्।

१०—जि० चू० पृ० १४२-४३ : आयरिओ भणइ—जावजीवाए ····· ···तिविहं तिविहेणं'ति सयं मणसा न चिंतयइ·······हत्थुक्खेवं न करेइ।

३४. तीन करण तीन योग से (तिविहं तिविहेणं) :

क्रिया के तीन प्रकार हैं— करना, कराना और अनुमोदन करना। इन्हें योग कहा जाता है। क्रिया के साधन भी तीन होते हैं—मन, वाणी और शरीर। इन्हें करण कहा जाता है। स्थानांग में इन्हें योग, प्रयोग और करण कहा है।[1]

हरिभद्र सूरि ने 'त्रिविधं' से कृत, कारित और अनुमति का तथा 'त्रिविधेन' से मन, वाणी और शरीर इन तीन करणों का ग्रहण किया है[2]। यहाँ अगस्त्यसिंह मुनि की परम्परा दूसरी है। वे 'तिविहं' से मन, वाणी और शरीर का तथा 'तिविहेण' से कृत, कारित और अनुमति का ग्रहण करते हैं[3]। इसके अनुसार कृत, कारित और अनुमोदन को करण तथा मन, वाणी और शरीर को योग कहा जाता है। आगम की भाषा में योग का अर्थ है—मन, वाणी और शरीर का कर्म। साधारण दृष्टि से यह क्रिया है किन्तु जितना भी किया जाता है, कराया जाता है और अनुमोदन किया जाता है उसका साधन मन, वाणी और शरीर ही है। इस दृष्टि से इन्हें करण भी कहा जा सकता है। जहाँ क्रिया और क्रिया के हेतु की अभेद-विवक्षा हो वहाँ ये क्रिया या योग कहलाते हैं और जहाँ उनकी भेद-विवक्षा हो वहाँ ये करण कहलाते है। इसलिए इन्हें कहीं योग और कहीं करण कहा गया है[4]।

३५. मन से, वचन से, काया से (मणेणं वायए काएणं) :

मन, वचन और काया—कृत, कारित और अनुमोदन—इनके योग से हिंसा के नौ विकल्प बनते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जो दूसरे को मारने के लिए सोचे कि मैं इसे कैसे मारूँ ? वह मन के द्वारा हिंसा करता है। वह इसे मार डाले—ऐसा सोचना मन के द्वारा हिंसा कराना है। कोई किसी को मार रहा हो—उससे सन्तुष्ट होना—राजी होना मन के द्वारा हिंसा का अनुमोदन है।

वैसा बोलना जिससे कोई दूसरा मर जाए—वचन से हिंसा करना है। किसी को मारने का आदेश देना वचन से हिंसा कराना है। अच्छा मारा—यह कहना वचन से हिंसा का अनुमोदन है।

स्वयं किसी को मारे—यह कायिक हिंसा है। हाथ आदि से किसी को मरवाने का संकेत करना काया से हिंसा कराना है। कोई किसी को मारे—उसकी शारीरिक संकेतों से प्रशंसा करना—काय से हिंसा का अनुमोदन है[5]।

'मणेणं ..न समणुजाणामि' इन शब्दों में शिष्य कहता है—मैं मन, वचन, काया से षट्-जीवनिकाय के जीवों के प्रति दंड-समारंभ नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा[4] और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा[6]।

१—ठा० ३.१३-१५ : तिविहे जोगे—मणजोगे, वतिजोगे, कायजोगे।
तिविहे पओगे—मणपओगे, वतिपओगे, कायपओगे।
तिविहे करणे मणकरणे, वतिकरणे, कायकरणे।

२—हा० टी० प० १४३ : 'त्रिविध त्रिविधेने'ति तिस्रो विधा—विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधः, दण्ड इति गम्यते, त त्रिविधेन करणेन, एतदुपन्यस्यति—मनसा वाचा कायेन।

३—अ० चू० पृ० ७८ : तिविहं ति मणो-वयण-कातो। तिविहेण ति करण-कारावणा-अणुमोयणाणि।

४ भगवती जोड़ श० १५ दु० १११-११२ : अथवा तिविहेणं तिको, त्रिविध त्रिभेदे शुद्ध।
करण करावण अनुमति, द्वितीय अर्थ अनिरुद्ध ॥
त्रिकरण शुद्धे ण कह्यो, मन, वच, काया जोय।
ए तीनूंइं जोग तसूं, शुद्ध करी अवलोय ॥

५—(क) अ० चू० पृ० ७८ : मणेण दंड करेति—सयं मारण चिन्तयति कहमहं मारेज्जामि, मणेण कारयति—जवि एसो मारेज्जा, मणसा अणुमोदति—मारेंतस्स तुस्सति, वायाए पाणातिवातं करेति त भणति जेण अद्धितीए मरति, वायाए कारेति—मारण संदिसति, वायाए अणुमोदति—सुट्ठु हतो; कातेण मारेति—सयमाहणति काएण कारयति—पाणिप्पहाराविणा, काएणाणुमोदति मारेंत छोडिकाविना पससति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२-१४३ सय मणसा न चिंतयइ जहा वहयामित्ति, वायाएवि न एवं भणइ—जहा एस वहेज्जउ, कायण सय न परिहणति, अन्नस्सवि णेत्तादीहिं णो तारिसं भावं दरिसयइ जहा परो तस्स माणसियं णाऊण सत्तोवघायं करेइ, वायाएवि संदेसं न देइ जहा तं घाएहित्ति, काएणवि णो हत्थादिणा सण्णेई जहा एयं मारयाहि, घाततंपि अण्णं दट्ठूणं मणसा तुट्ठिं न करेइ, वायाएवि पुच्छिओ संतो अणुमइं न देइ, काएणावि परेण पुच्छिओ सतो हत्थुक्खेव न करेइ।

६ हा० टी० प० १४३ : मनसा वाचा कायेन, एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव, अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः।

३६. भंते (भंते) :

यह गुरु का सम्बोधन है। टीकाकार ने इसके संस्कृत रूप तीन दिए हैं—भदन्त, भवान्त और भयान्त[1]। व्रत-ग्रहण गुरु के साक्ष्य से होता है। इसलिए शिष्य गुरु को सम्बोधित कर अपनी भावना का निवेदन करता है[2]।

इस सम्बोधन की उत्पत्ति के विषय में चूर्णिकार कहते हैं : गणधरों ने भगवान से अर्थ सुन कर व्रत ग्रहण किये। उस समय उन्होंने 'भंते' शब्द का व्यवहार किया। तभी से इसका प्रयोग गुरु को आमन्त्रण करने के लिए होता आ रहा है[3]।

३७. अतीत में किये (तस्स) :

गत काल में दण्ड-समारम्भ किये हैं उनसे। सम्बन्ध या अवयव मे षष्ठी का प्रयोग है[4]।

३८. निवृत्त होता हूं (पडिक्कमामि) :

अकरणीय कार्य के परिहार की जैन-प्रक्रिया इस प्रकार है—अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और अनागत का प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण का अर्थ है अतीतकालीन पाप-कर्म से निवृत्त होना[5]।

३९. निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं (निंदामि गरिहामि) :

निन्दा का अर्थ आत्मालोचन है। वह अपने-आप किया जाता है। दूसरो के समक्ष जो निन्दा की जाती है। उसे गर्हा कहा जाता है। हरिभद्र सूरि ने निन्दा तथा गर्हा मे यही भेद बताया है[6]। पहले जो अज्ञान भाव से किया हो उसके सम्बन्ध मे पश्चात्ताप से हृदय मे दाह का अनुभव करना जैसे मैंने बुरा किया, बुरा कराया, बुरा अनुमोदन किया—वह निन्दा है। गर्हा का अर्थ है—भूत, वर्तमान और आगामी काल मे न करने के लिए उद्यत होना[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १४३ : 'भते !'त्ति भयव भावान्त एवमादी भगवतो आमतण।
　(ख) हा० टी० प० १४४ : भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम्, भदन्त भवान्त भयान्त इति साधारणा श्रुतिः।
　(ग) अ० चू० पृ० ७८ : भते ! इति भगवतो आमंतण।

२—हा० टी० प० १४४ : एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ७८ : गणहरा भगवतो सकासे अत्थं सोऊण वतपडिवत्तीए एवमाहु—तस्स भंते०। जहा ते वि इमम्मि काले ते वि वताइं पडिवज्जमाणा एव भणंति—तस्स भते !
　(ख) जि० चू० पृ० १४३ : गणहरा भगवओ सगासे अत्थ सोऊण वताणि पडिवज्जमाणा एवमाहु।

४—हा० टी० प० १४४ : तस्येत्यधिकृतो दण्डः सम्बध्यते, सम्बन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी।

५—(क) अ० चू० पृ० ७८ : पडिक्कमामि, प्रतीपं क्रमामि—णियत्तामि।
　(ख) जि० चू० पृ० १४३ : पडिक्कमामि नाम ताओ दंडाओ नियत्तामित्ति वुत्तं भवइ।
　(ग) हा० टी० प० १४४ : योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य संबंधिनमतीतमवयवं प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति। ······प्रतिक्रामामीति भूताद्दण्डान्निवर्तेऽह-मित्युक्तं भवति, तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति।

६—हा० टी० प० १४४ : 'निन्दामि गर्हामी' ति, अत्रात्मसाक्षिकी निन्दा परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सोच्यते।

७—(क) अ० चू० पृ० ७८ : ज पुव्वमण्णाणेण कतं तस्स णिदामि "णिदि कुत्सायाम् इति कुत्सामि। गरहामि' 'गर्हं परिभाषणे' इति पगासीकरेमि।
　(ख) जि० चू० पृ० १४३ : जं पुण पुव्विं अन्नाणभावेण कयं तं णिदामिमा।
　हा ! दुट्ठु कयं हा ! दुट्ठु कारियं अणुमयंपि हा दुट्ठु।
　अंतो-अंतो डज्झइ, हियय पच्छाणुतावेण।, 'गरिहामि' नाम तिविहं तीताणागतवट्टमाणेसु कालेसु अकरणयाए अब्भुट्ठेमि।

४०. आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं (अप्पाणं वोसिरामि) :

आत्मा हेय या उपादेय कुछ भी नहीं है। उसकी प्रवृत्तियां हेय या उपादेय बनती हैं। साधना की दृष्टि से हिंसा आदि असत्-प्रवृत्तियां, जिनसे आत्मा का बन्धन होता है, हेय हैं और अहिंसा आदि सत्-प्रवृत्तियां एवं संवर उपादेय हैं।

साधक कहता है—मैं अतीत काल में असत्-प्रवृत्तियो में प्रवृत्त आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं अर्थात् आत्मा की असत्-प्रवृत्ति का त्याग करता हूं[1]।

प्रश्न किया जा सकता है कि अतीत के दण्ड का ही यहां प्रतिक्रमण यावत् व्युत्सर्ग किया है अत: वर्तमान दण्ड का संवर और अनागत दण्ड का प्रत्याख्यान यहां नहीं होता। टीकाकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—ऐसी बात नहीं है। 'न करोमि' आदि से वर्तमान के सवर और भविष्यत् के प्रत्याख्यान की सिद्धि होती है[2]।

'तस्स भंते·· वोसिरामि' दण्ड समारंभ न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद शिष्य जो भावना प्रकट करता है वह उपर्युक्त शब्दो में व्यक्त है।

सूत्र ४-६ में षट्-जीवनिकायो का वर्णन है। प्रस्तुत अनुच्छेद मे इन षट्-जीवनिकायो के प्रति दण्ड-समारंभ के प्रत्याख्यान का उल्लेख है। यह क्रम आकस्मिक नहीं पर सम्पूर्णत: वैज्ञानिक और अनुभवपूर्ण है। जिसको जीवो का ज्ञान नही होता, उनके अस्तित्व मे श्रद्धा-विश्वास नहीं होता, वह व्यक्ति जीवन-व्यवहार में उनके प्रति सयमी, अहिंसक अथवा चारित्रवान नही हो सकता। कहा है—"जो जिन-प्ररूपित पृथ्वीकायादि जीवों के अस्तित्व मे श्रद्धा नही करता वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नही होता। जिसे जीवों मे श्रद्धा होती है वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है।"

व्रत ग्रहण के पूर्व जीवों के ज्ञान और उनमे विश्वास की कितनी आवश्यकता है, इसको बताने के लिए निम्नलिखित दृष्टान्त मिलते हैं :

१—जैसे मलिन वस्त्र पर रंग नही चढता और स्वच्छ वस्त्र पर सुन्दर रग चढता है, उसी तरह जिसे जीवो का ज्ञान नही होता, जिसे उनके अस्तित्व मे शका होती है वह अहिंसा आदि महाव्रतों के योग्य नही होता। जिसे जीवो का ज्ञान और उनमे श्रद्धा होती है वह उपस्थापन के योग्य होता है और उसी के व्रत सुन्दर और स्थिर होते हैं।

२—जिस प्रकार प्रासाद-निर्माण के पूर्व भूमि को परिष्कृत कर देने से भवन स्थिर और सुन्दर होता है और अपरिष्कृत भूमि पर असुन्दर और अस्थिर होता है, उसी तरह मिथ्यात्व की परिशुद्धि किये बिना व्रत ग्रहण करने पर व्रत टिक नही पाते।

३—जिस तरह रोगी को औषधि देने के पूर्व उसे वमन-विरेचन कराने से औषधि लागू पडती है, उसी तरह जीवो के अस्तित्व मे श्रद्धा रखते हुए जो व्रत ग्रहण करता है उसके महाव्रत स्थिर होते हैं।

सारांश यह है—जो जीवों के विषय में कहा गया है, उसे जानकर, उसकी परीक्षा कर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदित रूप से जो षट्-जीवनिकाय के प्रति दण्ड-समारम्भ का परिहार करता है वही चारित्र के योग्य होता है।

कहा है—'अशोधित शिष्य को व्रतारोहण नही कराना चाहिए, शोधित को कराना चाहिए। अशोधित को व्रतारूढ़ कराने से

१—(क) अ० चू० पृ० ७८ : अप्पाणं सव्वसत्ताणं दरिसिज्जए, वोसिरामि विविहेहिं प्रकारेहिं सव्वावत्थं परिच्चयामि। दंड-समारंभपरिहरणं चरित्तधम्मप्पमुहमिद।

(ख) हा० टी० प० १४४ : 'आत्मानम्' अतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं 'व्युत्सृजामी'ति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्द: उच्छब्दो भृशार्थ: सृजामीति—त्यजामि, ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामीति।

२—हा० टी० प० १४४ : आह—यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति, नै तदेव, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति।

गुरु को दोष लगता है। शोधित को व्रतारूढ़ कराने से अगर वह पालन नहीं करता तो उसका दोष शिष्य को लगता है, गुरु को नहीं लगता[1]।"

सूत्र ११ :

इसके पूर्व अनुच्छेद में शिष्य द्वारा सार्वत्रिक रूप मे दण्ड-समारम्भ का प्रत्याख्यान किया गया है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—ये प्राणियो के प्रति सूक्ष्म दण्ड हैं। इन वृत्तियों से दूसरे जीवों को परिताप होता है। प्रस्तुत तथा बाद के चार सूत्रों में प्राणातिपात आदि सूक्ष्म दण्डों के त्याग की शिष्य द्वारा स्वतत्र प्रतिज्ञाएँ की गई हैं[2]।

४१. पहले (पढमे) :

सापेक्ष दृष्टि के अनुसार कोई वस्तु अपने-आप में अमुक प्रकार की नहीं कही जा सकती। किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से ही वह उस प्रकार की कही जा सकती है। उदाहरणस्वरूप कोई वस्तु स्वय में हल्की या भारी नही कही जा सकती। वह अन्य भारी वस्तु की अपेक्षा से ही हल्की और अन्य हल्की वस्तु की अपेक्षा से ही भारी कही जा सकती है। यहाँ जो 'पढमे'—पहले शब्द का प्रयोग है वह

१—(क) जि० चू० पृ० १४३-४४ : जो ऐसो दंडनिक्खेवो एवं महव्वयारुहणं तं किं सव्वेसिं अविसेसियाणं महव्वयारुहणं कीरति उदाहो परिक्खिऊणं ?, आयरिओ भणइ—जो इमाणि कारणाणि सद्दहइ, 'जीवे पुढविक्काए न सद्दहइ जे जिणेहिं पण्णत्ते। अणभिगयपुण्णपावो ण सो उवट्ठावणे जोगो ॥ १ ॥ एवं आउक्काइए जीवे एवं जाव तसकाइए जीवे, एयारिसस्स पुण समारुभिज्जति, त०—'पुढविकाइए जीवे सद्दहइ जे जिणेहिं पण्णत्ते। अभिगतपुण्णपावो सो उवट्ठावणाजोगो' ॥ १ ॥ एवं आउक्काइए जीवे एवं जाव तसकाइए जीवे, अभिगतपुण्णपावो सो उवट्ठावणाजोगो, छज्जीवनिकाए पढियाए ताहे परिक्खिज्जइ, किं ?—परिहरइण परिहरइत्ति, जइ परिहरइ तो उवट्ठाविज्जइ, इतरो न उवट्ठाविज्जति, कहं ?, जह मइलो पडो रंगिओ न सुंदरो भवइ सो, इयरो रंगिज्जमाणो सुंदरो भवइ, एवं जइ असद्दहियाए छज्जीवणियाए उवट्ठाविज्जइ तो महव्वयाणि न धरेइ, सद्दहियाए छज्जीवणियाए उवट्ठाविज्जमाणे थिरया भवंति सुंदरो य भवइ, जहा वा पासाओ कज्जमाणो जइ कयवरं सोहित्ता कज्जइ तो सुंदरो य थिरो य भवइ, असोहिए पुण अथिरो भवइ, एवं कयवरथाणीए मिच्छत्ते असोहिए उवट्ठाविज्जइ तो महव्वयाणि न थिराणि भवंति, जहा आउरस्स ओसहं वियरिज्जई तं जइ वमणविरेयणाणि काऊण दिज्जइ तो लग्गइ, एवं जइ सद्दहितावि उवट्ठाविज्जति ता धरेइ महव्वए असद्दहितासु अथिराणि भवति, जम्हा एते दोसा तम्हा पढियाए कहियाए सद्दहियाए परिक्खिते परिहरिए, अभिगते णाम जति अपच्चावणिज्जाणं णण्णतरो ण भवति ताहे विसुद्धो उवट्ठाविज्जति, तस्स य महव्वयाणि अभंणियाणि न भज्जंति तओ ताणि भण्णंति।

(ख) हा० टी० प० १४५ : अनेन व्रतार्थपरिज्ञानादिगुणयुक्त उपस्थापनार्ह इत्येतदाह, उक्तं च—

पढिए य कहिय अहिगय परिहरउवठावणाइ जोगोत्ति।
छक्कं तीहिं विसुद्धं परिहर नवएण भेदेण ॥ १ ॥
पडपासाउरमाई दिट्ठंता होंति वयसमारुहणे।
जह मलिणाइसु दोसा सुद्धाइसु णेवमिहइंपि ॥ २ ॥

इत्यादि, एतेसिं लेसुद्देसेण सीसहियट्ठयाए अत्थो भण्णइ-पढिमाए सत्थपरिण्णाए दसकालिए छज्जीवणिकाए वा, कहियाए अत्थओ, अभिगयाए संमं परिक्खिऊण—परिहरइ छज्जीवणियाए मणवयणकाएहिं कयकारावियाणुमइभेदेण, तओ ठाविज्जइ, ण अन्नहा। इमे य इत्थ पडाई दिट्ठंता—मइलो पडो ण रंगिज्जइ सोहिओ रंगिज्जइ, असोहिए मूलपाए पासाओ ण किज्जइ सोहिए किज्जइ, वमणाईहिं असोहिए आउरे ओसहं न दिज्जइ सोहिए दिज्जइ, असंठविए रयणे पडिबन्धो न किज्जइ संठविए किज्जइ, एवं पढियकहियाईहिं असोहिए सीसे ण वयारोवणं किज्जइ,···असोहिए य करणे गुरुणो दोसा, सोहियापालणे सिस्सस्स दोसो त्ति कयं पसंगेण।

२—हा० टी० प० १४४ : अयं चात्मप्रतिपत्त्यर्हो दण्डनिक्षेपः सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स तु विशेषतः। पञ्चमहाव्रतरूपतयाऽङ्गीकर्तव्य इति महाव्रतान्याह।

भी बाद के अन्य मृषावाद आदि की अपेक्षा से है[1]। सूत्रक्रम के प्रमाण से पहला महाव्रत सर्व प्राणातिपातविरमण व्रत है।

४२. महाव्रत (महव्वए) :

'व्रत' का अर्थ है विरति[2]। वह असत् प्रवृत्ति की होती है। उसके पांच प्रकार हैं—प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन-विरति और परिग्रह-विरति। अकरण, निवृत्ति उपरम और विरति—ये पर्यायवाची शब्द हैं[3]। 'व्रत' शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति – दोनों अर्थों में होता है। 'वृषलान्नं व्रतयति' का अर्थ है वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। 'पयो व्रतयति' —का अर्थ है कोई व्यक्ति केवल दूध पीता है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं खाता। इसी प्रकार असत्-प्रवृत्ति का परिहार और सत्प्रवृत्ति का आसेवन – इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग किया गया है। जो प्रवृत्ति निवृत्ति-पूर्वक होती है वही सत् होती है। इस प्रधानता की दृष्टि से व्रत का अर्थ उसमे अन्तर्हित होता है[4]।

व्रत शब्द साधारण है। यह विरति-मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इसके अणु और महान्—ये दो भेद विरति की अपूर्णता तथा पूर्णता के आधार पर किए गए हैं। मन, वचन और शरीर से न करना, न कराना और न अनुमोदन करना—ये नौ विकल्प हैं। जहाँ ये समग्र होते हैं वहाँ विरति पूर्ण होती है। इनमे से कुछ एक विकल्पो द्वारा जो विरति की जाती है वह अपूर्ण होती है। अपूर्ण विरति अणुव्रत तथा पूर्ण विरति महाव्रत कहलाती है[5]। साधु त्रिविध पापों का त्याग करते हैं अतः उनके व्रत महाव्रत होते हैं। श्रावक के त्रिविध-द्विविध रूप से प्रत्याख्यान होने से देशविरति होती है, अतः उनके व्रत अणु होते हैं[6]। यहाँ प्राणातिपात-विरति आदि को महाव्रत और रात्रि-भोजन-विरति को व्रत कहा गया है। यह व्रत शब्द अणुव्रत और महाव्रत दोनो से भिन्न है। ये दोनों मूल-गुण हैं परन्तु रात्रि-भोजन मूल-गुण नहीं है। व्रत शब्द का यह प्रयोग सामान्य विरति के अर्थ मे है। मूल-गुण—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच हैं। महाव्रत इन्हीं की संज्ञा है।

४३. प्राणातिपात से विरमण होता है (पाणाइवायाओ वेरमणं) :

इन्द्रिय, आयु आदि प्राण कहलाते हैं। प्राणातिपात का अर्थ है --प्राणी के प्राणो का अतिपात करना—जीव से प्राणो का वियोग

१—(क) जि० चू० पृ० १४४ : पढमति नाम सेसाणि मुसावावादीणि पडुच्च एत पढम भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १४४ : सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमणं प्रथमम्।
(ग) अ० चू० पृ० ८० : पढमे इति आवेक्खिगं, सेसाणि पडुच्च आदिल्लं, पढमे एसा सत्तमी, तम्मि उट्ठावणाधारविवक्खिगा।

२—तत्त्वा० ७.१ : हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।

३—तत्त्वा० ७.१ भा० : अकरणं निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्।

४—तत्त्वा० ७.१ भा० सि० टी० : व्रतशब्दः शिष्टसमाचारात् निवृत्तौ प्रवृत्तौ च प्रयुज्यते लोके। निवृत्ते चेद् हिंसातो विरतिः—निवृत्तिर्व्रत, यथा—वृषलान्नं व्रतयति—परिहरति। वृषलान्नान्निवर्तत इति, ज्ञात्वा प्राणिनः प्राणातिपातादेर्निवर्तते। केवलमहिंसाविलक्षण तु क्रियाकलापं नानुतिष्ठतीति तदनुष्ठानप्रवृत्त्यर्थश्च व्रतशब्दः। पयोव्रतयतीति यथा, पयोऽभ्यवहार एव प्रवर्तते नान्यत्रेति, एव हिंसादिभ्यो निवृत्तः शास्त्रविहितक्रियानुष्ठान एव प्रवर्तते, अतो निवृत्तिप्रवृत्तिक्रियासाध्यं कर्मक्षपणमिति प्रतिपादयति। ·· प्राधान्यात् तु निवृत्तिरेव साक्षात् प्राणातिपातादिभ्योदर्शिता, तत्पूर्विका च प्रवृत्तिर्गम्यमाना। अन्यथा तु निवृत्तिर्निष्फलैव स्यादिति।

५—तत्त्वा० ७.२ भा० : एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रत, सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति।

६—(क) जि० चू० पृ० १४४ : महव्वयं नाम महंतं वत, महव्वयं कथं ? सावगवयाणि खुड्डुगाणि, ताणि पडुच्च साहूण वयाणि महंताणि भवंति।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : जम्हा य भगवंतो साधवो तिविहं तिविहेण पच्चक्खायंति तम्हा तेसिं महव्वयाणि भवंति, सावयाणं पुण तिविहं दुविहं पच्चक्खायमाणाणं देसविरईए खुड्डुलगाणि वयाणि भवंति।
(ग) हा० टी० प० १४४ : महच्च तद्व्रतं च महाव्रतं, महत्त्वं चास्य श्रावकसंबंध्यणुव्रतापेक्षयेति।
(घ) अ० चू० पृ० ८० : सकले महति वते महव्वते।

करना। केवल जीवों को मारना ही अभिपात नहीं है, उनको किसी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है[1]। पहले महाव्रत का स्वरूप है—प्राणातिपात-विरमण।

विरमण का अर्थ है—ज्ञान और श्रद्धापूर्वक प्राणातिपात न करना—सम्यक्ज्ञान और श्रद्धापूर्वक उससे सर्वथा निवृत्त होना[2]।

४४. सर्व (सव्वं) :

मुनि कहता है—श्रावक व्रत ग्रहण करते समय प्राणातिपात की कुछ छूट रख लेता है उस तरह परिस्थूर नहीं पर सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सर्व अर्थात् निरवशेष अर्द्ध या त्रिभाग नहीं[3]। जैसे ब्राह्मण को नहीं मारूँगा—यह प्राणातिपात का देश त्याग है। 'मैं किसी प्राणी को मन-वचन-काया और कृत-कारित-अनुमोदन रूप से नहीं मारूँगा'—यह सर्वप्राणातिपात का त्याग है।

प्रत्याख्यान मे 'प्रति' शब्द निषेध अर्थ में, 'आ' अभिमुख अर्थ में और 'ख्या' धातु कहने के अर्थ मे है। उसका अर्थ है—प्रतीप-अभिमुख कथन करना। 'प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हू' अर्थात् प्राणातिपात के प्रतीप—अभिमुख कथन करता हूँ—प्राणातिपात न करने की प्रतिज्ञा करता हू। अथवा मैं संवृतात्मा वर्तमान मे समता रखते हुए अनागत पाप के प्रतिषेध के लिये आदरपूर्वक—भावपूर्वक अभिधान करता हूं। साम्प्रतकाल में संवृतात्मा अनागत काल मे पाप न करने के लिये प्रत्याख्यान करता है—व्रतारोपण करता है[4]।

४५. सूक्ष्म या स्थूल (सुहुमं वा बायरं वा) :

जिस जीव की शरीर-अवगाहना अति अल्प होती है, उसे सूक्ष्म कहा है, और जिस जीव की शरीर-अवगाहना बड़ी होती है उसे बादर कहा है। सूक्ष्म नाम कर्मोदय के कारण जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि ऐसे जीव की अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि उसकी काया द्वारा हिंसा संभव नहीं। जो स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म या स्थूल अवगाहना वाले जीव है, उन्हें ही यहाँ सूक्ष्म या बादर कहा है[5]।

४६. त्रस या स्थावर (तसं वा थावरं वा) :

जो सूक्ष्म और बादर जीव कहे गये हैं उनमे से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं- त्रस और स्थावर। त्रस जीवो की परिभाषा पहले

१—(क) अ० चू० पृ० ८० : पाणातिवाता [तो] अतिवातो हिंसणं ततो, एसा पंचमी अपादाणे भयहेतुलक्खणा वा, भीतार्थानां भयहेतुरिति।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : पाणाइवाओ नाम इंदिया आउप्पाणादिणो छव्विहो पाणा य जेसिं अत्थि ते पाणिणो भण्णंति, तेसिं पाणाणमइवाओ, तेहिं पाणेहिं सह विसंजोगकरणन्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० १४४ : प्राणा—इन्द्रियादयः तेषामतिपातः प्राणातिपातः—जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव।

२—(क) अ० चू० पृ० ८० : वेरमणं नियत्तणं।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : पाणाइवायवेरमणं नाम नाउं सद्दहिऊण पाणातिवायस्स अकरणं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १४४ : विरमणं नाम सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ८० : सव्वं ण विसेसेण, यथा लोके—न ब्राह्मणो हन्तव्यः।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सव्वं नाम तमेरिसं पाणाइवायं सव्वं—निरवसेसं पच्चक्खामि नो अद्धं तिभागं वा पच्चक्खामि।

(ग) हा० टी० प० १४४। सर्वमिति—निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव।

४—(क) अ० चू० पृ० ८० : पाणातिवातमिति च पच्चक्खाणं, ततो नियत्तणं।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : संपइकालं संवरियप्पणो अणागते अकरणनिमित्तं पच्चक्खाणं।

(ग) हा० टी० प० १४४-४५ : प्रत्याख्यामीति प्रतिशब्दः प्रतिषेधे आङाभिमुख्ये ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा—प्रत्याचक्षे - संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधानं करोमीत्यर्थः।

५—(क) अ० चू० पृ० ८१ : सुहुमं अतीव अप्पसरीरं तं वा, बातं रातीति 'बातरो' महासरीरो तं वा।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सुहुमं नाम जं सरीरावगाहणाए सुट्ठु अप्पमिति, बादरं नाम थूलं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १४५ : अत्र सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनासंभवात्······बादरो पि स्थूरः।

आ चुकी है। जो त्रास का अनुभव करते हैं, उन्हें त्रस कहते हैं। जो एक ही स्थान पर अवस्थित रहते हैं, उन्हें स्थावर कहते हैं।[1] कुंथु आदि सूक्ष्म त्रस हैं और गाय आदि बादर त्रस हैं। साधारण वनस्पति आदि सूक्ष्म स्थावर हैं और पृथ्वी आदि बादर स्थावर है।[2]

'सुहमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा' इसके पूर्व 'से' शब्द है। 'से' शब्द का प्रयोग निर्देश में होता है। यहाँ यह शब्द पूर्वोक्त 'प्राणातिपात' की ओर निर्देश करता है। वह प्राणातिपात सूक्ष्म शरीर अथवा बादर शरीर के प्रति होता है।[3] अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह आत्मा का निर्देश करता है।[4] हरिभद्र सूरि के अनुसार यह शब्द मागधी भाषा का है। इसका शब्दार्थ है—अथ। इसका प्रयोग किसी बात के कहने के आरम्भ में किया जाता है।[5]

४७. (अइवाएज्जा) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार 'अइवाएज्जा' शब्द 'अतिपातयामि' के अर्थ मे प्रयुक्त है। प्राकृत शैली में आर्ष-प्रयोगों में ऐसा होता है। इस प्रकार सभी महाव्रत और व्रत में जो पाठ है उसे टीकाकार ने प्रथम पुरुष मान प्राकृत शैली के अनुसार उसका उत्तम पुरुष में परिवर्तन किया है[6]। अगस्त्य चूर्णि में सर्वत्र उत्तम पुरुष के प्रयोग हैं, जैसे—"नेव सयं पाणे अइवाएमि'। उत्तम पुरुष का भी 'अइवाएज्जा' रूप बनता है[7]। इसलिए पुरुष परिवर्तन की आवश्यकता भी नही है। उक्त स्थलो मे प्रथम पुरुष की क्रिया मानी जाय तो उसकी सगति यो होगी 'पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं' मे लेकर 'नेव सयं' के पहले का कथन शिष्य की ओर से है और 'नेव सयं' से आचार्य उपदेश देते हैं और 'न करेमि' से शिष्य आचार्य के उपदेशानुमार प्रतिज्ञा ग्रहण करता है। उपदेश की भाषा का प्रकार सूत्रकृताङ्ग (२.१.१५) में भी यही है।

आचारचूला (१५।४३) मे महाव्रत प्रत्याख्यान की भाषा इस प्रकार है—"पढम भंते! महव्वयं- पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं—से सुहुमं वा बायरं वा, तसं वा थावरं वा-- णेवसयं पाणाइवायं कारेज्जा णेवण्णेहिं पाणाइवायं कारवेज्जा, णेवण्णं पाणाइवायं करंतं समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

स्वीकृत पाठ का अगस्त्य चूर्णि में पाठान्तर के रूप में उल्लेख हुआ है। पाँच महाव्रत और छट्ठे व्रत मे अगस्त्य चूर्णि के अनुसार जो पाठ-भेद है उनका अनुवाद इस प्रकार है :—

"भंते! मैं प्राणातिपात-विरति रूप पहले महाव्रत को ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ···। भंते! मैं पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरत हुआ हूँ।"

यही क्रम सभी महाव्रतों और व्रत का है।

४८-४९—मैं स्वयं नहीं करूँगा · अनुमोदन भी नहीं करूँगा (नेव सयं पाणे अइवाएज्जा　न समणुजाणेज्जा) :

इस तरह त्रिविध-त्रिविध—तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करने वाले के ४९ भङ्गो (विकल्पो) से त्याग होते हैं। इन

१—(क) अ० चू० पृ० ८१ : 'तसं वा' 'त्रसी उद्वेजने' त्रस्यतीति त्रसः तं वा, 'थावरो' जो थाणातो ण विचलति तं वा। वा सद्दो विकप्पे, सव्वे पगारा ण हंतव्वा। वेदिका पुण "क्षुद्रजन्तुषु णत्थि पाणातिवातो" त्ति एतस्स विसेसणत्थं सहुमातिवयणं। जीवस्स असंखेज्जपदेसतो सव्वे सुहुम-बायरविसेसा सरीरदव्वगता इति सुहुम-बायरसंसद्दणेण एगग्गहणे समाणजातीयसूतणमिति।

(ख) जि० चू० पृ० १४६-४७ : तत्थ जे ते सुहुमा बादरा य ते दुविहा तं० तसा य थावरा वा, तत्थ तसंतीति तसा, जे एगंमि ठाणे अवट्ठिया चिट्ठंति ते थावरा भण्णंति।

२—हा० टी० प० १४५ : सूक्ष्मत्रसः कुन्थ्वादिः स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरस्त्रसो गवादि स्थावरः पृथिव्यादिः।

३—जि० चू० पृ० १४६ : 'से' त्ति निद्देसे वट्टइ, किं निद्दिसति ?, जो सो पाणातिवाओ तं निद्दिसेइ, से य पाणाइवाए सुहुमसरीरेसु वा बादरसरीरेसु वा होज्जा।

४—अ० चू० पृ० ८१ · से इति वयणाधारेण अप्पणो निद्देसं करेति, सो अहमेव अब्भुवगम्म कत पच्चक्खाणो।

५—हा० टी० प० १४५ : 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्ध अथ शब्दार्थः, स चोपन्यासे।

६—हा० टी० प० १४५ · 'णेव सयं पाणे अइवाएज्जा' त्ति प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात्, 'तिङां तिङो भवन्ती' ति न्यायात् नैव स्वयं प्राणिनः अतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि।

७—हैमश० ३.१७७ वृ० : यथा तृतीयत्रये। अइवाएज्जा। अइवायावेज्जा। न समणुजाणामि। न समणुजाणेज्जा वा।

भङ्गों का विस्तार इस प्रकार है[१] :

१—करण १ योग १, प्रतीक-अङ्क ११, भङ्ग ९ :

१	करूं	नहीं	मन से	१
२	करूं	नहीं	वचन से	२
३	करूं	नहीं	काया से	३
४	कराऊं	नहीं	मन से	४
५	कराऊं	नहीं	वचन से	५
६	कराऊं	नही	काया से	६
७	अनुमोदूं	नही	मन से	७
८	अनुमोदूं	नहीं	वचन से	८
९	अनुमोदूं	नही	काया से	९

२—करण १ योग २, प्रतीक अङ्क १२, भङ्ग ९ :

१	करूं	नही	मन से	वचन से	१०
२	करूं	नहीं	मन से	काया से	११
३	करूं	नही	वचन से	काया से	१२
४	कराऊं	नही	मन से	वचन से	१३
५	कराऊं	नही	मन से	काया से	१४
६	कराऊं	नही	वचन से	काया से	१५
७	अनुमोदूं	नही	मन से	वचन से	१६
८	अनुमोदूं	नही	मन से	काया से	१७
९	अनुमोदूं	नही	वचन से	काया से	१८

३—करण १ योग ३, प्रतीक-अङ्क १३, भङ्ग ३ :

१	करूं	नही	मन से	वचन से	काया से	१९
२	कराऊं	नहीं	मन से	वचन से	काया से	२०
३	अनुमोदूं	नही	मन से	वचन से	काया से	२१

४—करण २ योग १, प्रतीक-अङ्क २१, भङ्ग ९ :

१	करूं	नही	कराऊं	नही	मन से	२२
२	करूं	नहीं	कराऊं	नही	वचन से	२३
३	करूं	नहीं	कराऊं	नहीं	काया से	२४
४	करूं	नहीं	अनुमोदूं	नही	मन से	२५
५	करूं	नही	अनुमोदूं	नही	वचन से	२६
६	करूं	नहीं	अनुमोदूं	नही	काया से	२७
७	कराऊं	नहीं	अनुमोदूं	नहीं	मन से	२८
८	कराऊं	नहीं	अनुमोदूं	नहीं	वचन से	२९
९	कराऊं	नहीं	अनुमोदूं	नहीं	काया से	३०

५—करण २ योग २, प्रतीक-अङ्क २२, भङ्ग ९ :

१	करूं	नहीं	कराऊं	नही	मन से	वचन से	३१
२	करूं	नहीं	कराऊं	नहीं	वचन से	काया से	३२

१—हा० टी० प० १५० : "तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्केक्का य होंति जोएसु।
तिदुएक्कं तिदुएक्कं तिदुएक्कं चेव करणाइं॥"

३	करूं नही	कराऊँ नही	मन से	काया से	३३
४	करूं नही	अनुमोदूं नही	मन से	काया से	३४
५	करूं नही	अनुमोदूं नही	वचन से	काया से	३५
६	करूं नही	अनुमोदूं नही	मन से	काया से	३६
७	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	मन से	वचन से	३७
८	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	वचन से	काया से	३८
९	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	मन से	काया से	३९

६—करण २ योग ३, प्रतीक-अङ्क २३, भङ्ग ३ :

१	करूं नही	कराऊँ नही	मन से	वचन से	काया से	४०
२	करूं नही	अनुमोदूं नही	मन मे	वचन से	काया से	४१
३	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	मन से	वचन से	काया से	४२

७—करण ३ योग १, प्रतीक-अङ्क ३१, भङ्ग ३ :

१	करूं नही	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	मन से	४३
२	करूं नही	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	वचन से	४४
३	करूं नही	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	काया से	४५

८ - करण ३ योग २, प्रतीक-अङ्क ३२, भङ्ग ३ :

१	करूं नही	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	मन से	वचन से	४६
२	करूं नही	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	मन से	काया से	४७
३	करूं नही	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	वचन से	काया से	४८

९—करण ३ योग ३, प्रतीक-अङ्क ३३, भङ्ग १ :

१	करूं नही	कराऊँ नही	अनुमोदूं नही	मन से	वचन से	काया से	४९

इन ४९ भङ्गो को अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीन से गुणन करने पर १४७ भङ्ग होते हैं। इसमे अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य के लिए प्रत्याख्यान होता है[1]। कहा है--"प्रत्याख्यान सम्बन्धी १४७ भङ्ग होते हैं। जो इन भङ्गों से प्रत्याख्यान करता है वह कुशल है और अन्य सब अकुशल हैं[2]।"

१—(क) हा० टी० प० १५१ : "लद्धफलमाणमेयं भंगा उ हवंति अउणपन्नासं।
तीयाणागयसपतिगुणिय कालेण होइ इमं ॥ १ ॥
सीयाल भंगसयं, कह ? कालतिएण होंति गुणणा उ।
तीतस्स पडिक्कमणं पच्चुप्पन्नस्स संवरणं ॥ २ ॥
पच्चक्खाणं च तहा होइ य एसस्स एस गुणणा उ।
कालतिएणं भणियं जिणगणधरवायएहिं च ॥ ३ ॥"

(ख) अ० चू० पृ० ८१ : एते सव्वे वि संकलिज्जंति —तिविहं अमुयंतेहिं सत्त लद्धा, दुविहं तिविहेण तिण्णि, एते संकलिता जाता दस। दुविहं दुविहेण णव लद्धा, ते दससु पक्खित्ता जाता एकूणवीसं। दुविहं एक्कविहेण णव लद्धा, ते एगूणवीसाए पक्खित्ता जाता अट्ठावीसं। एक्कविहं तिविहेण तिण्णि अट्ठावीसाए पक्खित्ता जाता एक्कतीसा। एक्कविहं दुविहेण णव लद्धा एक्कतीसाए पक्खित्ता जाता चत्तालीसं। एक्कविहं एक्कविहेण णव चत्तालीसाए पक्खित्ता जाता एगूणपण्णा। एते पडुप्पण्णं संवरेति, एगूणपण्णा अतीतं णिदंति, एतेच्चेव तहा अणागतं पच्चक्खाति, तिण्णि एगूणपण्णातो सत्तायत्तालं भंगसतं।

एत्थ पढमभंगो साधूण जुज्जति तेण अधिकारो, सेसा सावगाण संभवतो उच्चारितसरिच्छ त्ति परूवणं। पाणातिवात-पच्चक्खाणं सविकल्पं भणितं।

२— दश० नि० गा० २९६ : सीयाल भंगसयं पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं।
सो पच्चक्खाणकुसलो सेसा सव्वे अकुसला उ ॥

प्रश्न हो सकता है अन्य व्रतों की अपेक्षा प्राणातिपात-विरमण व्रत को पहले क्यों रखा गया ? इसका उत्तर चूर्णिकारद्वय इस प्रकार देते हैं—"अहिंसा मूलव्रत है। अहिंसा परम धर्म है। शेष महाव्रत उत्तरगुण हैं; उसको पुष्ट करने वाले हैं, उसी के अनुपालन के लिए प्रज्ञपित हैं[1]।"

सूत्र १२ :

५०. मृषावाद का (मुसावायाओ) :

मृषावाद चार प्रकार का होता है[2] :

१ –सद्भाव प्रतिषेध : जो है उसके विषय में कहना कि यह नही है। जैसे जीव आदि हैं, उनके विषय में कहना कि जीव नहीं हैं, पुण्य नहीं है, पाप नही है, बन्ध नहीं है, मोक्ष नहीं है, आदि।

२—असद्भाव उद्भावन : जो नही है उसके विषय में कहना कि यह है। जैसे आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा बतलाना अथवा उसे श्यामाक तन्दुल के तुल्य कहना।

३ —अर्थान्तर : एक वस्तु को अन्य बताना। जैसे गाय को घोडा कहना आदि।

४ --गर्हा : जैसे काने को काना कहना।

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार मिथ्या भाषण के पहले तीन भेद हैं।

५१. क्रोध से या लोभ से...... (कोहा वा लोहा वा·····) :

यहाँ मृषावाद के चार कारण बतलाये हैं। वास्तव में मनुष्य क्रोध आदि की भावनाओं से ही झूठ बोलता है। यहाँ जो चार कारण बतलाये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं। क्रोध के कथन द्वारा मान को भी सूचित कर दिया गया है। लोभ का कथन कर माया के ग्रहण की सूचना दी है। भय और हास्य के ग्रहण से राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि का ग्रहण होता है[3]। इस तरह मृषावाद अनेक कारणों से बोला जाता है। यही बात अन्य पापो के सम्बन्ध मे लागू होती है।

---

१ - (क) अ० चू० पृ० ८२ : महव्वतावो पाणातिवाताओ वेरमण पहाणो मूलगुण इति, जेण 'अहिंसा परमो धम्मो' सेसाणि महव्वताणि एतस्सेव अत्थविसेसगाणीति तदणंतर। क्रमपडिनिग्गमणत्थं पवुच्चारणमुक्तार्थस्य 'पढमे भंते ! महव्वते पाणातिवातातो वेरमणं'।

(ख) जि० चू० पृ० १४७ : सीसो आह—किं कारणं सेसाणि वयाणि मोत्तूण पाणाइवायवेरमणं पढमं भणियंति ?, आयरिओ भणइ—एयं मूलवयं 'अहिंसा परमो धम्मो' त्ति सेसाणि पुण महव्वयाणि उत्तरगुणा, एतस्स चेव अणुपालणत्थं पकवियाणि।

२ -- (क) अ० चू० पृ० ८२ : मुसावातो तिविहो, त० सब्भावपडिसेहो १ अभूतुब्भावणं २ अत्थंतरं ३। सब्भावपडिसेहो जहा 'नत्थि जीवे' एवमादि १। अभूतुब्भावणं 'अत्थि, सव्वगतो पुण' २। अत्यतरं गाविं महिंसि भणति एवमादि ३।

(ख) जि० चू० पृ० १४८ : तत्थ मुसावाओ चउव्विहो, त०—सब्भावपडिसेहो असब्भूपुब्भावण अत्यतरं गरहा, तत्थ सब्भावपडिसेहो णाम जहा णत्थि जीवो नत्थि पुण्णं नत्थि पाव नत्थि बंधो णत्थि मोक्खो एवमादी, असब्भूपुब्भावण णाम जहा अत्थि जीवो (सव्ववावी) सामागतंदुलमेत्तो वा एवमादी, पयत्थंतरं णाम जो गाविं भणइ एसो आसोत्ति, गरहा णाम 'तहेव काण काणित्ति' एवमादी।

३—(क) अ० चू० पृ० ८२ : मुसावातवेरमणे कारणाणि इमाणि—से कोहा वा लोभा वा भता वा हासा वा, "दोसा विभागे समाणासता" इति कोहे माणो अंतग्गतो, एवं लोभे माता, भतहस्सेसु पेज्जकलहादतो सविसेसा।

(ख) जि० चू० पृ० १४८ : सो य मुसावाओ एतेहिं कारणेहिं भासिज्जइ— से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा' कोहगहणेण माणस्सवि गहणं कयं, लोभगहणेण माया गहिया, भयहासगहणेण पेज्जदोसकलहअब्भक्खाणाइणो गहिया, कोहाइग्गहणेण मावओ गहण कय, एगग्गहणेण गहणं तज्जातीयाणमितिकाउ सेसावि दव्वखेत्तकाला गहिया।

(ग) हा० टी० प० १४६ : 'क्रोधाद्वा लोभाद्वे' त्यनेनाद्यन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रहः, 'भयाद्वा हास्याद्वा' इत्यनेन तु प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानादिपरिग्रहः।

सूत्र १३ :

५२. अदत्तादान का (अदिन्नादाणाओ) :

बिना दिया हुआ लेने की बुद्धि से दूसरे के द्वारा परिगृहीत अथवा अपरिगृहीत तृण, काष्ठ आदि द्रव्य-मात्र का ग्रहण करना अदत्तादान है[1]।

५३. गाँव में · अरण्य में (गामे वा नगरे वा रण्णे वा) :

ये शब्द क्षेत्र के द्योतक हैं। इन शब्दों के प्रयोग का भावार्थ है —किसी भी जगह, किसी भी क्षेत्र मे। जो बुद्धि आदि गुणो को ग्रस्त करे, उसे ग्राम कहते हैं[2]। जहाँ कर न हो उसे नकर—नगर कहते हैं[3]। कानन आदि को अरण्य कहते हैं[4]।

५४. अल्प या बहुत (अप्पं वा बहुं वा) :

अल्प के दो भेद होते हैं[5]-- (१) मूल्य में अल्प --जैसे जिसका मूल्य एक कौडी हो। (२) परिणाम में अल्प—जैसे एक एरण्ड-काष्ठ। इसी तरह 'बहुत' के भी दो भेद होते हैं—(१) मूल्य मे बहुत --जैसे वैडूर्य (२) परिमाण में बहुत —जैसे तीन-चार वैडूर्य।

५५. सूक्ष्म या स्थूल (अणुं वा थूलं वा) :

सूक्ष्म --जैसे—मूलक की पत्ती अथवा काष्ठ की चिरपट आदि। स्थूल—जैसे—सुवर्ण का टुकड़ा अथवा उपकरण आदि[6]।

५६. सचित्त या अचित्त (चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा)

चेतन अथवा अचेतन। पदार्थ तीन तरह के होते है : चेतन, अचेतन और मिश्र। चेतन—जैसे मनुष्यादि। अचेतन—जैसे कार्षापण आदि। मिश्र—जैसे अलङ्कारो से विभूषित मनुष्यादि[7]।

सूत्र १४ :

५७. देव······ ····तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन (मेहुणं·· दिव्वं वा··· तिरिक्खजोणियं वा) :

ये शब्द द्रव्य के द्योतक हैं। मैथुन दो तरह का होता है--(१) रूप में (२) रूपसहित द्रव्य मे। रूप मे अर्थात् निर्जीव वस्तुओं के

१—(क) अ० चू० पृ० ८३ : परेहिं परिग्गहितस्स वा अपरिग्गहितस्स वा, अणणुण्णातस्स गहणमदिण्णादाण।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सीसो भणइ—तं अदिण्णादाण केरिसं भवइ ?, आयरिओ भणइ —ज अदिण्णादाणबुद्धीए परेहिं परिगहियस्स वा अपरिग्गहियस्स वा तणकट्ठाइदव्वजातस्स गहणं करेइ तमदिण्णादाण भवइ।

२—हा० टी० प० १४७ : ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः।

३—हा० टी० प० १४७ : नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम्।

४—हा० टी० प० १४७ : अरण्णं—काननादि।

५—(क) अ० चू० पृ० ८३ : अप्प परिमाणतो मुल्लतो वा; परिमाणतो जहा एगा सुवण्णा गुंजा, मुल्लतो कवड्डितामुल्ल वत्थुं। बहुं परिमाणतो मुल्लतो वा, परिमाणतो सहस्सपमाण मुल्लतो एक्कं वेरुलितं।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : अप्पं परिमाणओ य मुल्लओय, तत्थ परिमाणओ जहा एगं एरंडकट्ठं एवमादि, मुल्लओ जस्स एगो कवड्डुओ पुणी वा अप्पमुल्लं, बहुं नाम परिमाणओ मुल्लओ य, परिमाणओ जहा तिण्णि वत्तारिवि वइरा वेरुलिया, मुल्लओ एगमवि वेरुलिय महामोल्लं।

(ग) हा० टी० प० १४७ : अल्प—मूल्यतं एरण्डकाष्ठादि बहु--वज्रादि।

६—(क) अ० चू० पृ० ८३ : अणुं तण-सुगादि, थूलं कोयवगादी।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : अणु मूलगपत्तादी अहवा कट्ठं कलिंचं वा एवमादि, थूलं सुवण्णखोडी वेरुलिया वा उवगरणं।

(ग) हा० टी० प० १४७ : अणु--प्रमाणतो वज्रादि स्थूलम्—एरण्डकाष्ठादि।

७—(क) अ० चू० पृ० ८३ : चित्तमंत गवादि। अचित्तमंतं करिसावणादी।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ · सव्वंपेयं सचित्तं वा होज्जा अचित्तं वा होज्जा मिस्सय वा, तत्थ सचित्तं मणुयादि अचित्तं काहावणादि मीसगं ते चेव मणुयाइ अलंकियविभूसिया।

(ग) हा० टी० प० १४७ : चेतनाचेतनमित्यर्थः।

साथ -जैसे प्रतिमा या मृत शरीर के साथ । रूप सहित मैथुन तीन प्रकार का होता है—दिव्य, मानुषिक और तिर्यञ्च सम्बन्धी। देवी अप्सरा सम्बन्धी मैथुन को दिव्य कहते हैं । नारी से सम्बन्धित मैथुन को मानुषिक और पशु-पक्षी आदि के साथ के मैथुन को तिर्यञ्च विषयक मैथुन कहते हैं[1] । इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार है—रूप अर्थात् आभरण रहित, रूपसहित अर्थात् आभरण सहित[2] ।

सूत्र १५ :

५८. परिग्रह की (परिग्गहाओ) :

चेतन-अचेतन पदार्थों में मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते हैं[3] ।

सूत्र १६ :

५९. रात्रि-भोजन की (राईभोयणाओ) :

रात में भोजन करना इसी सूत्र के तृतीय अध्ययन में अनाचीर्ण कहा गया है । प्रस्तुत अध्ययन मे रात्रि-भोजन-विरमण को साधु का छट्ठा व्रत कहा है । सर्व प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच विरमणो का स्वरूप बताते हुए उन्हे महाव्रत कहा है, जबकि सर्व रात्रि-भोजन-विरमण को केवल 'व्रत' कहा है । उत्तराध्ययन २३, १२, २३ में केशी-गौतम के सवाद मे श्रमण भगवान् महावीर के मार्ग को 'पाँच शिक्षा वाला' और पार्श्व के मार्ग को 'चार याम-वाला' कहा है । आचार चूला (१५) मे तथा प्रश्नव्याकरण सूत्र मे सवरो के रूप में केवल पाँच महाव्रत और उनकी भावनाओ का ही उल्लेख है । वहाँ रात्रि-भोजन-विरमण का अलग उल्लेख नही है । जहाँ-जहाँ प्रव्रज्या-ग्रहण के प्रसग हैं, वहाँ-वहाँ प्राय. सर्वत्र पाँच महाव्रत ग्रहण करने का ही उल्लेख मिलता है । इससे प्रतीत होता है कि सर्व हिंसा आदि के त्याग की तरह रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को याम, शिक्षा या महाव्रत के रूप में मानने की परपरा नही थी ।

दूसरी ओर इसी सूत्र के छट्ठे अध्ययन में श्रमण के लिए जिन अठारह गुणो की अखण्ड साधना करने का विधान किया है, उनमें सर्व प्रथम छ: व्रतो (वयछक्कं) का उल्लेख है और सर्व प्राणातिपात यावत् रात्रि-भोजन-विरमण पर समान रूप से बल दिया है । उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १९) मे साधु के अनेक कठोर गुणों—आचार का--उल्लेख करते हुए प्राणातिपात-विरति आदि पाँच सर्व विरतियों के साथ ही रात्रि-भोजन त्याग (सर्व प्रकार के आहार का रात्रि मे वर्जन) का भी उल्लेख आया है और उसे महाव्रतों की तरह ही दुष्कर कहा है । रात्रि-भोजन का अपवाद भी कही नहीं मिलता । वैसी हालत में प्रथम पाँच विरमणों को महाव्रत कहने और रात्रि-भोजन विरमण को व्रत कहने में आचरण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं, यह स्पष्ट है । रात्रि-भोजन-विरमण सर्व हिंसा-त्याग आदि महाव्रतों की रक्षा के लिए ही है इसलिए साधु के प्रथम पाँच व्रतो को प्रधान गुणों के रूप में लेकर उन्हें महाव्रत और सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को उत्तर (सहकारी) गुणरूप मान उसे मूलगुणो से पृथक् समझाने के लिए केवल 'व्रत' की सज्ञा दी है । हालांकि उसका पालन एक साधु के लिए उतना ही अनिवार्य माना है जितना कि अन्य महाव्रतो का । मैथुन-सेवन करने वाले की तरह ही रात्रि-भोजन करने वाला भी अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत के विषय में इसी सूत्र (६.२३-२५) में बड़ी ही सुन्दर गाथाएँ मिलती हैं ।

रात्रि-भोजन-विरमण व्रत में सन्निहित अहिंसा-दृष्टि स्वय स्पष्ट है ।

रात को आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति (देख-देख कर चलने) का पालन नही हो सकता तथा रात में आहार का संग्रह करना अपरिग्रह की मर्यादा का बाधक है । इन सभी कारणों से रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है । आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति अहिंसा महाव्रत की भावनाएं हैं[4] ।

१—(क) अ० चू० पृ० ८४ : दव्वतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु, रूवं—पडिमामयसरीरादि, रूवसहगतं सजीवं ।
(ख) जि० चू० पृ० १५० : दव्वओ मेहुणं रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु, तत्थ रूवेत्ति निज्जीवे भवइ, पडिमाए वा मय-सरीरे वा, रूवसहगयं तिविहं भवंति, तं० —दिव्वं माणुसं तिरिक्खजोणियंति ।
(ग) हा० टी० प० १४८ : देवीनामिद दैवम्, अप्सरोऽमरसंबन्धीतिभावः, एतच्च रूपेषु वा रूपसहगतेषु वा द्रव्येषु भवति, तत्र रूपाणि —निर्जीवानि प्रतिमारूपाण्युच्यन्ते, रूपसहगतानि तु सजीवानि ।

२—(क) अ० चू० पृ० ८४ : अहवा रूवं आभरणविरहितं, रूवसहगतं आभरणसहितं ।
(ख) जि० चू० पृ १५० : अहवा रूवं भूसणवज्जियं, सहगयं भूसणेण सह ।
(ग) हा० टी० प० १४८ : भूषणविकलानि वा रूपाणि भूषणसहितानि तु रूपसहगतानि ।

३— जि० चू० पृ० १५१ : सो य परिग्गहो चेयणाचेयणेसु दव्वेसु मुच्छानिमित्तो भवइ ।

४—(क) आ० चू० १५.४४ ।
(ख) प्रश्न० सं० १ ।

दशवैकालिक (६.१७) में सन्निधि को परिग्रह माना है और उत्तराध्ययन (१९.३०) में रात्रि-भोजन और सन्निधि-संचय के वर्जन को दुष्कर कहा है। वहाँ इनके परिग्रह रूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

पाँच महाव्रत मूलगुण और रात्रि-भोजन-विरमण उत्तरगुण है। फिर भी यह मूल गुणों की रक्षा का हेतु है; इसलिए इसका मूल गुणों के साथ प्रतिपादन किया गया है—ऐसा अगस्त्यसिंह स्थविर मानते हैं[१]।

जिनदास महत्तर के अनुसार प्रथम और चरम तीर्थङ्कर के मुनि ऋजुजड और वक्रजड होते हैं, इसलिए वे महाव्रतों की तरह मानते हुए इसका (रात्रि-भोजन-विरमण का) पालन करें—इस दृष्टि से इसे महाव्रतों के साथ बताया गया है। मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के मुनियों के लिए उत्तरगुण कहा गया है क्योंकि वे ऋजुप्रज्ञ होते हैं इसलिए इसे सरलता से छोड़ देते हैं[२]। टीकाकार ने इसे ऋजुजड और वक्रजड मुनि की अपेक्षा से मूलगुण और ऋजुप्रज्ञ की अपेक्षा से उत्तरगुण माना है[३]।

६०. अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा) :

१—अशन—क्षुधा मिटाने के लिए जिस वस्तु का भोजन किया जाता है, उसे अशन कहते हैं। जैसे कूर - ओदनादि।

२—पान—जो पीया जाय उसे पान कहते हैं। जैसे मृद्वीका — द्राक्षा का जल आदि।

३—खाद्य—जो खाया जाय उसे खादिम या खाद्य कहते हैं। जैसे मोदक, खर्जूरादि।

४—स्वाद्य—जिसका स्वाद लिया जाय उसे स्वादिम अथवा स्वाद्य कहते हैं। जैसे ताम्बूल, सोंठ आदि[४]।

प्राणातिपात आदि पाँच पाप और रात्रि-भोजन के द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव की दृष्टि से चार विभाग होते हैं। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार एक परम्परा इस विभाग-चतुष्टयी को मूल-पाठ मे स्वीकृत करती है और दूसरी परम्परा उसे 'वृत्ति' का अंग मानती है[५]। जो इस विभाग-चतुष्टयी के प्ररूपक वाक्य-खंड को सूत्रगत स्वीकार करते हैं उनके अनुसार सूत्र-पाठ इस प्रकार होगा 'तस वा थावर वा। जहा सेत पाणिपाते चतुर्विहे, तं०—दव्वतो, खेत्ततो, कालतो, भावतो नेव सय पाणे · · ।' यह क्रम सभी महाव्रतों और छट्ठे व्रत का है।

प्राणातिपात द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इन चार दृष्टिकोण से व्यवच्छिन्न होता है[६] :

१—द्रव्य-दृष्टि से उसका विषय छह जीवनिकाय है। हिंसा सूक्ष्म-बादर छह प्रकार के जीवों की होती है।

१—अ० चू० पृ० ८६ : किं रातीभोयणं मूलगुणः उत्तरगुणः ? उत्तरगुण एवाय। तहावि सव्वमूलगुणरक्खाहेतुत्ति मूलगुणसम्भूत पढिज्जति।

२—जि० चू० पृ० १५३ : पुरिमजिणकाले पुरिसा उज्जुजडा पच्छिमजिणकाले पुरिसा वंकजडा, अतो निमित्तं महव्वयाण उवरिं ठवियं, जेण तं महव्वयमिव मन्नंता ण पिल्लेहिंति, मज्झिमगाणं पुण एयं उत्तरगुणेसु कहियं, किं कारणं ?, जेण ते उज्जुपण्णत्तणेण सुहं चेव परिहरंति।

३—हा० टी० प० १५० : एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोः ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं, मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति।

४—(क) अ० चू० पृ० ८६ : ओदणादि असणं, मुद्दितापाणगाती पाणं, मोदगादी खादिमं, पिप्पलिमादि सादिमं।

(ख) जि०चू० पृ० १५२ : असिज्जइ खुहितेहिं जं तमसणं जहा कूरो एवमादीति, पिज्जंतीति पाणं, जहा मुद्दियापाणगं एवमाइ, खज्जतीति खादिमं, जहा मोदओ एवमादि, सादिज्जति सादिमं, जहा सुंठिगुलादी।

(ग) हा०टी० प० १४९ : अश्यत इत्यशनम्—ओदनादि, पीयत इति पानं—मृद्वीकापानादि। खाद्यत इति खाद्यं—खर्जूरादि। स्वाद्यत इति स्वाद्यं—ताम्बूलादि।

५—अ० चू० पृ० ८६ : के ति सुत्त मिमं पढंति, के ति वृत्तिगतं विसेसंति।

६—जि०चू०पृ० १४७ : इयाणिं एस एव पाणाइवाओ चउव्विहो सवित्थरो भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, दव्वओ छसु जीवनिकाएसु सुहुमबायरेसु भवति, खेत्तओ सव्वलोगे, किं कारणं ?, जेण सव्वलोए तस्स पाणाइवायस्स उप्पत्ती अत्थि, कालओ दिया वा राओ वा ते चेव सुहुमबायरा जीवा ववरोविज्जंति, भावओ रागेण वा दोसेण वा, तत्थ रागेण मंसादीणं अट्ठाए, अहवा रागेण कोइ कंचि अणुसरति, दोसेण चितियं मारेइ।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय समूचा लोक है। लोक में ही हिंसा सम्भव है।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय सर्वकाल है। रात व दिन सब समय हिंसा हो सकती है।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है। जैसे मांस के लिए राग से हिंसा होती है। शत्रु का हनन द्वेषवश होता है।

मृषावाद के चार विभाग इस प्रकार हैं[1] :

१—द्रव्य-दृष्टि से मृषावाद का विषय सब द्रव्य हैं, क्योंकि मृषावचन चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यों के विषय में बोला जा सकता है।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय लोक तथा अलोक दोनों हैं, क्योंकि मृषावाद के विषय ये दोनों बन सकते हैं।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात हैं।

४—भाव दृष्टि से उसके हेतु क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि हैं।

अदत्तादान के चार विभाग इस प्रकार हैं[2] :

१—द्रव्य-दृष्टि से अदत्तादान का विषय पदार्थ है।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय अरण्य, ग्राम आदि हैं।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात हैं।

४- भाव-दृष्टि से अल्पमूल्य और बहुमूल्य।

मैथुन के चार विभाग इस प्रकार हैं[3] :

१—द्रव्य-दृष्टि से मैथुन का विषय चेतन और अचेतन पदार्थ हैं।

२ क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय तीनों लोक हैं।

३— काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात हैं।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है।

परिग्रह के चार विभाग इस प्रकार हैं[4] :

१—द्रव्य-दृष्टि से परिग्रह का विषय सर्व द्रव्य हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय पूर्ण लोक है।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात हैं।

४—भाव-दृष्टि से अल्पमूल्य और बहुमूल्य।

रात्रि-भोजन के चार विभाग इस प्रकार होते हैं[5] :

१—द्रव्य-दृष्टि से रात्रि-भोजन का विषय अशन आदि वस्तु-समूह हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय मनुष्य लोक है।

१—जि० चू० पृ० १४८ : इयाणि एस चउव्विहो मुसावाओ सवित्थरो भण्णइ, तं० - दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ सव्वदव्वेसु मुसावाओ भवइ, खेत्तओ लोगे वा अलोगे वा, जो भणेज्जा अणतपएसिओ लोगो एवमादी, अलोगे अत्थि जीवा पोग्गला एवमादी, कालओ दिया वा राओ वा मुसावायं भणेज्जा, भावओ कोहेण अब्भक्खाणं देज्जा एवमादी।

२—जि० चू० पृ० १४९ : चउव्विहंपि अदिण्णादाणं वित्थरओ भण्णति, तं० दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ ताव अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा गेण्हेज्जा, खेत्तओ जमेतं दव्वओ भणियं एवं गामे वा नगरे वा गेण्हेज्जा अरण्णे वा, कालओ दिया वा राओ वा गेण्हेज्जा, भावओ अप्पग्घे वा।

३—जि० चू० पृ० १५० : चउव्विहंपि मेहुणं वित्थरओ भण्णइ, तं० —दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ य, तत्थ दव्वओ मेहुणं रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु,⋯खेत्तओ उड्ढमहोतिरिएसु,⋯⋯ कालओ मेहुणं दिया वा राओ वा, भावओ रागेण वा दोसेण वा हुज्जा।

४—जि० चू० पृ० १५१ : चउव्विहोवि परिग्गहो वित्थरओ भण्णइ—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ सव्वदव्वेहिं,⋯ खेत्तओ सव्वलोगे,⋯⋯कालओ दिया वा राओ वा, भावओ अप्पग्घं वा महग्घं वा ममाएज्जा।

५—जि० चू० पृ० १५२ : चउव्विहंपि राईभोयणं वित्थरओ भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ असणं वा,⋯⋯खेत्तओ समयखेत्ते⋯⋯कालओ राइं भुंजेज्जा, भावओ चउभंगो।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय रात्रि है ।
४—भाव-दृष्टि से चतुर्भङ्ग ।

सूत्र १७ :

६१. आत्महित के लिए (अत्तहियट्ठयाए) :

आत्महित का अर्थ मोक्ष है । मुनि मोक्ष के लिए या उत्कृष्ट मङ्गलमय धर्म के लिए महाव्रत और व्रत को स्वीकार करता है । अन्य हेतु से व्रत ग्रहण करने पर व्रत का अभाव होता है । आत्महित से बढ़कर कोई सुख नहीं है, इसलिए भगवान ने इहलौकिक सुख-समृद्धि के लिए आचार को प्रतिपन्न करने की अनुज्ञा नहीं दी । पौद्गलिक सुख अनैकान्तिक हैं । उनके पीछे दुःख का प्रबल संयोग होता है । पौद्गलिक सुख के जगत् में ऐश्वर्य का तरतमभाव होता है ईश्वर, ईश्वरतर और ईश्वरतम । इसी प्रकार हीन, मध्यम और उत्कृष्ट अवस्थाएँ होती हैं । मोक्ष जगत् में ये दोष नहीं होते । इसलिए समदर्शी श्रमण के लिए आत्महित—मोक्ष ही उपास्य होता है और वह उसी की सिद्धि के लिए महाव्रतों का कठोर मार्ग अङ्गीकार करता है[1] ।

६२. अंगीकार कर विहार करता हूँ (उवसंपज्जित्ताणं विहरामि) :

उपसपद्य का अर्थ है—उप—समीप, से सपद्य—अंगीकार कर अर्थात् गुरु के समीप ग्रहण कर सुसाधु की विधि के अनुसार विचरण करता हूँ । हरिभद्र सूरि कहते हैं ऐसा न करने पर लिए हुए व्रत अभाव को प्राप्त होते हैं । भावार्थ है आरोपित व्रतों का अच्छी तरह अनुपालन करते हुए अप्रतिबंध विहार से ग्राम, नगर, पत्तन आदि मे विहार करूँगा ।

चूर्णिकारो ने इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार दिया है -"गणधर भगवान् से पाच महाव्रतों के अर्थ को सुनकर ऐसा कहते है—'इन्हें ग्रहण कर विहार करेंगे[2] ।"

सूत्र १८ :

६३. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा (संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे) :

सतरह प्रकार के सयम मे अच्छी तरह अवस्थित साधक को सयत कहते है[3] ।

---

१ (क) अ० चू० पृ० ८६ अत्तहियट्ठताए अप्पणोहित जो धम्मो मगलमिति भणितो तदट्ठं ।

(ख) जि० चू० पृ० १५३ . अत्तहियं नाम मोक्खो भण्णइ, सेसाणि देवादीणि ठाणाणि बहुदुक्खाणि अप्पसुहाणि य, कह ?, जम्हा तत्थवि इस्सरो इस्सरतरो इस्सरतमो एवमादी हीणमज्झिमउत्तिमविसेसा उवलब्भति, अणेगंतियाणि य सोक्खाणि, मोक्खे य एते दोसा नत्थि, तम्हा तस्स अट्ठयाए एयाणि पच महव्वयाणि राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठाए उवसपज्जित्ताणं विहरामि ।

(ग) हा० टी० प० १५० : आत्महितो—मोक्षस्तदर्थम्, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह, तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात् ।

२ (क) अ० चू० पृ० ८६ : "उवसंपज्जित्ताणं विहरामि" "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति 'उपसपद्य विहरामि' महव्वताणि पडिवज्जतस्स वयणं, गणहराणं वा सूत्रीकरेंताण ।

(ख) हा० टी० प० १५० . 'उपसंपद्य' सामीप्येनाङ्गीकृत्य व्रतानि 'विहरामि' सुसाधुविहारेण, तदभावे चाङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात् ।

(ग) जि० चू० पृ० १५३ : उवसंपज्जित्ताणं विहरामि नाम ताणि आरुहिऊण अणुपालयतो अब्भुज्जएण विहारेण अणिस्सियं गामनगरपट्टणाईणि विहरिस्सामि । अहवा गणहरा भगवतो सगासे पंचमहव्वयाण अत्थं सोऊण एयं भणति—'उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सामि' ।

३—(क) अ० चू० पृ० ८७ : संजतो एक्कीभावेण सत्तरसविहे संजमे ठितो ।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : संजओ नाम सोभणेण पगारेण सत्तरसविहे संजमे अवट्ठिओ संजतो भवति ।

(ग) हा० टी० प० १५२ : सामस्त्येन यतः संयतः—सप्तदशप्रकारसंयमोपेतः ।

अगस्त्यसिंह के अनुसार पापों से निवृत्त भिक्षु विरत कहलाता है[१]। जिनदास और हरिभद्र सूरि के अभिमत से बारह प्रकार के तप में अनेक प्रकार से रत भिक्षु विरत कहलाता है[२]।

'पापकर्मा' शब्द का सम्बन्ध 'प्रतिहत' और 'प्रत्याख्यात' इनमें से प्रत्येक के साथ है[३]।

जिनदास और हरिभद्र के अनुसार जिसने ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में से प्रत्येक को हत किया हो वह प्रतिहत-पापकर्मा है[४]। जिनदास और हरिभद्र के अनुसार जो आस्रवद्वार (पाप-कर्म आने के मार्ग) को निरुद्ध कर चुका वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है[५]।

जिनदास महत्तर ने आगे जाकर इन शब्दों को एकार्थक भी कहा है[६]।

अनगार या साधु के विशेषण रूप से इन चार शब्दों का प्रयोग अन्य आगमों मे भी प्राप्त है। सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा अनगार के विषय मे विविध प्रश्नोत्तर आगमो मे मिलते हैं। अतः इन शब्दों के मर्म को समझ लेना आवश्यक है।

पाँच महाव्रत और छट्ठे रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को अंगीकार कर लेने के बाद व्यक्ति भिक्षु कहलाता है। यह बताया जा चुका है कि महाव्रत ग्रहण करने की प्रक्रिया में तीन बाते रहती हैं—(१) अतीत के पापों का प्रतिक्रमण (२) भविष्य के पापो का प्रत्याख्यान और (३) वर्तमान मे मन-वचन-काया से पाप न करने, न कराने और न अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा। भिक्षु-भिक्षुणी के सम्बन्ध मे प्रयुक्त इन चारों शब्दो मे महाव्रत ग्रहण करने के बाद व्यक्ति किस स्थिति में पहुँचता है उसका सरल, सादा चित्र है। प्रतिहत-पापकर्मा वह इस लिए है कि अतीत के पापो से प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा द्वारा निवृत्त हो वह अपनी आत्मा के पापों का व्युत्सर्ग कर चुका है। वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा इसलिए है कि उसने भविष्य के लिए सर्व पापों का सर्वथा परित्याग किया है। वह सयत-विरत इसलिए है कि वह वर्तमान काल मे किसी प्रकार का पाप किसी प्रकार से नही करता -उनसे वह निवृत्त है। सयत और विरत शब्द एकार्थक हैं। इस एकार्थकता को निष्प्रयोजन समझ सभवतः विरत का अर्थ तपस्या मे रत किया हो। जो ऐसा भिक्षु या भिक्षुणी है उसका व्रतारोपण के बाद छह जीव-निकाय के प्रति कैसा बर्ताव रहना चाहिए उसी का वर्णन यहाँ से आरम्भ होता है।

६४. दिन में या रात में (दिया वा राओ वा···) :

अध्यात्मरत श्रमण के लिए दिन और रात का कोई अन्तर नही होता अर्थात् वह अकरणीय कर्म को जैसे दिन मे नही करता वैसे रात मे भी नही करता, जैसे परिषद् मे नही करता वैसे अकेले मे भी नही करता, जैसे जागते हुए नही करता वैसे शयन-काल मे भी नही करता।

जो व्यक्ति दिन मे, परिषद् मे या जागृत दशा मे दूसरो के सकोचवश पाप से बचते हैं वे बहिर्दृष्टि हैं—आध्यात्मिक नही हैं।

जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण मे अपने आत्म-पतन के भय से, किसी बाहरी सकोच या भय से नही, पाप से बचते हैं—परम आत्मा के सान्निध्य मे रहते है वे आध्यात्मिक है।

'दिन मे या रात मे, एकान्त मे या परिषद् मे, सोते हुए या जागते हुए'—ये शब्द हर परिस्थिति, स्थान और समय के सूचक है[७]। साधु कही भी, कभी भी आगे बतलाये जाने वाले कार्य न करे।

'साधु अकेला विचरण नही करता'—इस नियम को दृष्टि मे रखकर ही जिनदास और हरिभद्र सूरि ने 'कारणवश अकेला' ऐसा

१—अ० चू० पृ० ८७ : पावेहिन्तो विरतो पडिनियत्तो।

२—(क) जि० चू० पृ० १५४ : विरओ णामऽणेगपगारेण बारसविहे तवे रओ।

(ख) हा० टी० प० १५२ : अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः।

३—(क) अ० चू० पृ० ८७ : पावकम्म सद्दो पत्तेयं परिसमप्पति।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : पावकम्मसद्दो पत्तेयं पत्तेय दोसुवि वट्टइ, तं० - पडिहयपावकम्मे पच्चक्खायपावकम्मे य।

४—(क) जि० चू० पृ० १५४ : तत्थ पडिहयपावकम्मो नाम नाणावरणादीणि अट्ठ कम्माणि पत्तेयं पत्तेयं जेण हयाणि सो पडिहय-पावकम्मो।

(ख) हा० टी० प० १५२ : प्रतिहत—स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन।

५—(क) जि० चू० पृ० १५४ : पच्चक्खायपावकम्मो नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति।

(ख) हा० टी० प० १५२ : प्रत्याख्यात—हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पापं कर्म—ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविधः।

६—जि० चू० पृ० १५४ : अहवा सव्वाणि एताणि एगट्ठियाणि।

७—(क) अ० चू० पृ० ८७ : सव्वकालितो णियमो त्ति कालविसेसणं—दिता वा रातो वा सव्वदा।

(ख) वही, पृ० ८७ : चेट्ठा अवत्थंतरविसेसणत्थमिदं—सुत्ते वा अद्धामणितनिद्दामोक्खत्थसुत्ते जागरमाणे वा सेसं काल।

अर्थ किया है[1]। यहां 'एगओ' शब्द का वास्तविक अर्थ अकेले में—एकांत में है। कई साधु एक साथ हो और वहां कोई गृहस्थ आदि उपस्थित न हो तो उन साधुओं के लिए वह भी एकांत कहा जा सकता है।

६५. पृथ्वी (पुढविं) :

पाषाण, ढेला आदि के सिवा अन्य पृथ्वी[2]।

६६. भित्ति (भित्तिं) :

जिनदास ने इसका अर्थ नदी किया है[3]। हरिभद्र ने इसका अर्थ नदीतटी किया है[4]। अगस्त्यसिंह के अनुसार इसका अर्थ नदी-पर्वतादि की दरार, रेखा या राजि है[5]। यही अर्थ उचित लगता है।

६७. शिला (सिलं) :

विशाल पाषाण या विच्छिन्न विशाल पाषाण को शिला कहते हैं[6]।

६८. ढेले (लेलुं) :

मिट्टी का लघु पिण्ड अथवा पाषाण का छोटा टुकड़ा[7]।

६९. सचित्त रज से संसृष्ट (ससरक्खं) :

अरण्य के वे रजकण जो गमनागमन से आक्रान्त नहीं होते सजीव माने गए हैं[8]। उनसे संश्लिष्ट वस्तु को 'सरजस्क' कहा जाता है। (आवश्यक ४.१ की चूर्णि मे 'समरक्ख' की व्याख्या—'सहसरक्खेणं ससरक्खे' की है।)

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'सरजस्क' है[9]। अर्थ की दृष्टि से 'सरजस्क' शब्द सगत है किन्तु प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया करने की दृष्टि से वह सगत नही है। व्याकरण की दृष्टि से 'सरजस्क' का प्राकृत रूप 'सरयक्ख' या 'सरक्ख' होता है। किन्तु यह शब्द 'समरक्ख' है इसलिए इसका संस्कृत रूप 'ससरक्ष' होना चाहिए। अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसकी जो व्याख्या की है (५.८) वह 'ससरक्ष' के अनुकूल है। राख के समान अत्यन्त सूक्ष्म रजकणो को 'सरक्ख' और 'सरक्ख' से संश्लिष्ट वस्तु को 'ससरक्ख' कहा जाता है[10]। ओघनिर्युक्ति की वृत्ति मे 'सरक्ख' का अर्थ राख किया गया है[11]।

१—(क) जि० चू० पृ० १५४ : कारणिएण वा एगेण।
(ख) हा० टी० प० १५२ : कारणिक एकः।
२—(क) अ० चू० पृ० ८७ : पुढवी सक्करादीविकप्पा।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : पुढविग्गहणेणं पासाणलेट्टुमाईहिं रहियाए पुढवीए गहणं।
(ग) हा० टी० प० १५२ :
३—जि० चू० पृ० १५४ : भित्ती नाम नदी भण्णइ।
४—हा० टी० प० १५२ : भित्तिः—नदीतटी।
५—अ० चू० पृ० ८७ : भित्ती—णदी-पव्वतादि तडी तती वा जं अवद्दलितं।
६—(क) अ० चू० पृ० ८७ : सिला सवित्थारो पाहाणविसेसो।
(ख) जि० चू० १५४ : सिला नाम विच्छिण्णो जो पाहाणो स सिला।
(ग) हा० टी० प० १५२ : विशाल: पाषाण:।
७—(क) अ० चू० पृ० ८७ : लेलू मट्टियापिंडो।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : लेलु लेट्टुओ।
८—ओ० नि० २४-२५।
९—हा० टी० प० १५२ : सह रजसा—आरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्कः।
१०—अ० चू० पृ० १०१ : 'सरक्खो'—सुसण्हो छारसरिसो पुढविरतो। सहसरक्खेण ससरक्खो।
११—ओघ नि० ३५६ वृत्ति : सरक्खो—भस्म।

जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में 'सरक्ख' का अर्थ 'पांशु' किया है और उस अरण्यपांशु सहित वस्तु को 'ससरक्ख' माना है[1]। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में अगस्त्यसिंह स्थविर के शब्द भी लगभग ऐसे ही हैं[2] ।

७०. खपाच (किलिंचेण) :

बांस की खपची, क्षुद्र काष्ठ-खण्ड[3] ।

७१. शलाका-समूह (सलागहत्थेण) :

काष्ठ, तांबे या लोहे के गढ़े हुए या अनगढ़ टुकड़े को शलाका कहा जाता है[4] । हस्त भूयस्त्ववाची शब्द है[5] । शलाकाहस्त अर्थात् शलाका-समूह[6] ।

७२. आलेखन (आलिहेज्जा) :

यह 'आलिह्' (आ+लिख्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है - कुरेदना, खोदना, विन्यास करना, चित्रित करना, रेखा करना। प्राकृत में 'आलिह्' धातु स्पर्श करने के अर्थ में भी है। किन्तु यहाँ स्पर्श करने की अपेक्षा कुरेदने का अर्थ अधिक संगत लगता है ।

जिनदास ने इसका अर्थ ---'ईसि लिहण' किया है । हरिभद्र 'आलिखेत्' संस्कृत छाया देकर ही छोड देते हैं ।

७३. विलेखन (विलिहेज्जा) :

(वि+लिख्) आलेखन और विलेखन में 'धातु' एक ही है केवल उपसर्ग का भेद है । आलेखन का अर्थ थोड़ा या एक बार कुरेदना और विलेखन का अर्थ अनेक बार कुरेदना या खोदना है[7] ।

७४. घट्टन (घट्टेज्जा) :

यह 'घट्ट' (घट्ट्) धातु का विधि-रूप है । इसका अर्थ है हिलाना, चलाना[8] ।

७५. भेदन (भिंदेज्जा) :

यह भिंद (भिद्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है—भेदन करना, तोड़ना, विदारण करना, दो-तीन आदि भाग करना[9]।

---

१ -जि० चू० पृ० १५४ : सरक्खो नाम पंसू भण्णइ, तेण आरण्णपंसुणा अणुगतं ससरक्खं भण्णइ ।

२--अ० चू० पृ० ८७ : सरक्खो पंसू, तेण अरण्णपंसुणासहगतं ससरक्खं ।

३—(क) नि० चू० ४ १०७ : किलिचो—वंशकप्परी ।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : कलिचं—कारसोहिसादीणं खंडं ।
(ग) हा० टी० प० १५२ : कलिञ्चेन वा—क्षुद्रकाष्ठरूपेण ।
(घ) अ० चू० पृ० ८७ : कलिचं तं चेव सण्हं ।

४—(क) अ० चू : सलागा कट्ठमेव घडितगं । अघडितगं कट्ठं ।
(ख) नि० चू० ४.१०७ : अण्णतरकट्ठघडिया सलागा ।
(ग) जि० चू० पृ० १५४ : सलागा घडियाओ तंबाईणं ।

५—अ० चिं० : ३.२३२ ।

६—(क) जि० चू० पृ० १५४ : सलागाहत्थओ बहुयरिआयो अहवा सलागातो घडिल्लियाओ तासिं सलागाणं संघाओ सलागाहत्थो ।
(ख) हा० टी० पृ० १५२ : शलाकया वा—अयःशलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा—शलाकासंघातरूपेण ।

७—(क) अ० चू० पृ० ८७ : ईसिं लिहणमालिहणं विविहं लिहणं विलिहणं ।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : आलिहणं नाम ईसिं, विलिहणं विविहेहिं पगारेहिं लिहणं ।
(ग) हा० टी० प० १५२ : ईषत्सकृद्वाऽऽलेखनं, नितरामनेकशो वा विलेखनम् ।

८—(क) अ० चू० पृ० ८७ : घट्टण संचालण ।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : घट्टणं घट्टणं ।
(ग) हा० टी० प० १५२ : घट्टन चालनम् ।

९—(क) अ० चू पृ० ८७ : भिंदणं भेदकरणम् ।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : भिंदणं दुहा वा तिहा वा करणंति ।
(ग) हा० टी० प० १५२ । भेदो विदारणम् ।

न आलेखन करे.....न भेदन करे (न आलिहेज्जा . न भिंदेज्जा) : दसवें सूत्र में छह प्रकार के जीवों के प्रति त्रिविध-त्रिविध से दण्ड-समारम्भ न करने का त्याग किया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह - ये जीवों के प्रति दण्ड-स्वरूप होने से मुमुक्षु ने प्राणातिपात-विरमण आदि महाव्रत ग्रहण किये। सूत्र १८ से २३ में छह प्रकार के जीवों के कुछ नामों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति हिंसक क्रियाओं से बचने का मार्मिक उपदेश है और साथ ही भिक्षु द्वारा प्रत्येक की हिंसा से बचने के लिए प्रतिज्ञा-ग्रहण है।

पृथ्वी, भित्ति, शिला, ढेले, सचित्त रज—ये पृथ्वीकाय जीवों के साधारण-से-साधारण उदाहरण हैं। हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच आदि उपकरण भी साधारण-से साधारण हैं। आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन -हिंसा की ये क्रियाएँ भी बड़ी साधारण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु साधारण-से-साधारण पृथ्वीकायिक जीवों का भी साधारण-से-साधारण साधनों द्वारा तथा साधारण क्रियाओं द्वारा भी हनन नहीं कर सकता, फिर क्रूर साधनों द्वारा तथा स्थूल क्रियाओं द्वारा हिंसा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ भिक्षु को यह विवेक दिया गया है कि वह हर समय, हर स्थान में, हर अवस्था में किसी भी पृथ्वीकायिक जीव की किसी भी उपकरण से किसी प्रकार हिंसा न करे और सब तरह की हिंसक क्रियाओं से बचे।

यही बात अन्य स्थावर और त्रस जीवों के विषय में सूत्र १९ से २३ में कही गयी है और उन सूत्रों को पढ़ते समय इसे ध्यान में रखना चाहिए।

सूत्र १९ :

७६. उदक (उदगं) :

जल दो प्रकार का होता है --भौम और आन्तरिक्ष। जल को शुद्धोदक कहा जाता है[1]। उसके चार प्रकार हैं—
(१) धारा-जल, (२) करक-जल, (३) हिम-जल और (४) तुषार-जल। इनके अतिरिक्त ओस भी आन्तरिक्ष जल है। भूम्याश्रित या भूमि के स्रोतों में बहने वाला जल भौम कहलाता है। इस भौम-जल के लिए 'उदक'[2] शब्द का प्रयोग किया गया है। उदक अर्थात् नदी, तालाबादि का जल, शिरा से निकलने वाला जल।

७७. ओस (ओसं) :

रात में, पूर्वाह्न या अपराह्न में जो सूक्ष्म जल पड़ता है उसे ओस कहते हैं। शरद् ऋतु की रात्रि में मेघोत्पन्न स्नेह विशेष को ओस कहते हैं[3]।

७८. हिम (हिमं) :

बरफ या पाला को हिम कहते हैं। अत्यन्त शीत ऋतु में जो जल जम जाता है उसे हिम कहते हैं[4]।

७९. धूंअर (महियं) :

शिशिर में जो अंधकार कारक तुषार गिरता है उसे महिका, कुहरा या धूमिका कहते हैं[5]।

१—अ० चू० पृ० ८८ : अन्तरिक्खपाणित सुद्धोदग।

२—(क) अ० चू० पृ० ८८ . नदि-तलागादिसलिलं पाणियमुदगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उदगग्गहणेण भोमस्स आउक्कायस्स गहण कयं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : उदकं -शिरापानीयम्।

३—(क) अ० चू० पृ० ८८ · सरयादौ णिसि मेघसंभवो सिणेहविसेसो तोस्सा।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उस्सा नाम निसि पडइ, पुव्वण्हे अवरण्हे वा, सा य उस्सा तेहो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ । अवश्यायः—स्नेहः।

४—(क) अ० चू० पृ० ८८ : अतिसीतावत्थंभितमुदगमेव हिम।
(ख) हा० टी० प० १५३ : हिमं -स्त्यानोदकम्।

५—(क) अ० चू० पृ० ८८ : पातो सिसिरे दिसामंधकारकारिणी महिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : जो सिसिरे तारो पडइ सो महिया भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : महिका —धूमिका।

८०. ओले (करगं) :

आकाश से गिरने वाले उदक के कठिन ढेले[1]।

८१. भूमि को भेदकर निकले हुए जल-बिन्दु (हरतणुगं) :

जिनदास ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जो भूमि को भेदकर ऊपर उठता है उसे हरतनु कहते हैं। यह सीली भूमि पर स्थित पात्र के नीचे देखा जाता है[2]। हरिभद्र ने लिखा है भूमि को उद्भेदन कर जो जल-बिन्दु तृणाग्र आदि पर होते हैं वे हरतनु हैं[3]। व्याख्याओं के अनुसार ये बिन्दु औद्भिद जल के होते हैं[4]।

८२. शुद्ध-उदक (सुद्धोदगं) :

आन्तरिक्ष-जल को शुद्धोदक कहते हैं[5]।

८३ जल से भींगे (उदओल्लं) :

जल के ऊपर जो भेद दिये गये हैं उनके बिंदुओं से आर्द्र—गीला[6]।

८४ जल से स्निग्ध (ससिणिद्धं) :

जो स्निग्धता से युक्त हो उसे सस्निग्ध कहते हैं। उसका अर्थ है जल-बिंदु रहित आर्द्रता। उन गीली वस्तुओं को जिनसे जल बिंदु नहीं गिरते, 'सस्निग्ध' कहते हैं[7]।

८५ आमर्श संस्पर्श (आमुसेज्जा · संफुसेज्जा) :

आमुस (आ+मृश्) थोड़ा या एक बार स्पर्श करना आमर्श है, संफुस (सम्+स्पृश्) अधिक या बार-बार स्पर्श करना संस्पर्श है[8]।

८६ आपीड़न · प्रपीड़न (आवीलेज्जा · पवीलेज्जा) :

आवील (आ+पीड्) थोड़ा या एक बार निचोड़ना, दबाना। पवील [प्र+पीड्] प्रपीडन अधिक या बार-बार निचोड़ना, दबाना[9]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८८ : वरिसोदगं कढिणीभूतं करगो।
 (ख) हा० टी० प० १५३ : करकः - कठिनोदकरूप।

२—जि० चू० पृ० १५५ : हरतणुओ भूमिं भेत्तूण उट्ठेइ, सो य उवुगाइसु तिताए भूमीए ठविएसु हेट्ठा दीसति।

३—हा० टी० प० १५३ : हरतनुः—भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति।

४ अ० चू० पृ० ८८ · किंचि सणिद्धं भूमिं भेत्तूण कहिंचि समस्सयति सफुसितो सिणेहविसेसो हरतणुतो।

५ (क) अ० चू० पृ ८८ . अंतरिक्खपाणितं सुद्धोदग।
 (ख) जि० चू० पृ० १५५ : अतलिक्खपाणिय सुद्धोदग भण्णइ।
 (ग) हा० टी० प० १५३ : शुद्धोदकम् - अन्तरिक्षोदकम्।

६ —(क) अ० चू० पृ० ८८ : तोल्लं उदओल्ल वा कात सरीर।
 (ख) जि० चू० पृ० १५५ : जं० एतेसिं उदगभेएहिं बिंदुसहियं भवइ त उदउल्लं भण्णइ।
 (ग) हा० टी० प० १५३ : उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषारादि अनन्तरोदितोदकभेदसंमिश्रता।

७ —(क) अ० चू० पृ० ८८ : ससणिद्ध [म] बिन्दुगं ओल्ल ईसिं।
 (ख) जि० चू० पृ० १५५ : ससिणिद्ध ज न गलति तितयं तं ससणिद्धं भण्णइ।
 (ग) हा० टी० प० १५३ : अत्र स्नेहन स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः, सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्धः, सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसंमिश्रता।

८—(क) अ० चू० पृ० ८८ : ईसिं मुसणमामुसणं समेच्चमुसण सम्मुसणं।
 (ख) जि० चू० पृ० १५५ : आमुसण नाम ईषत्स्पर्शनं आमुसनं अहवा एगवारं फरिसणं आमुसणं, पुणो पुणो संफुसणं।
 (ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्शनम् अतोऽन्यत्संस्पर्शनम्।

९—(क) अ० चू० पृ० ८८ : ईसिं पीलणमापीलणं, अधिकं पीलन निप्पीलणं।
 (ख) जि० चू० पृ० १५५ : ईसिं निपीलणं आपीलणं अच्चत्थं पीलणं पवीलणं।
 (ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत्प्रपीडनम्।

८७. आस्फोटन··प्रस्फोटन (अक्खोडेज्जा · पक्खोडेज्जा) :

अक्खोड (आ+स्फोटय्)—थोड़ा या एक बार झटकना। पक्खोड (प्र+स्फोटय्)—बहुत या अनेक बार झटकना[1]।

८८. आतापन ··प्रतापन (आयावेज्जा ··पयावेज्जा) :

आयाव (आ+तापय्)—थोड़ा या एक बार सुखाना, तपाना। पयाव (प्र+तापय्)—बहुत या अनेक बार सुखाना, तपाना[2]।

सूत्र २० :

८९. अग्नि (अगणिं) :

अग्नि से लगा कर उल्का तक तेजस्-काय के प्रकार बतलाये गए हैं। अग्नि की व्याख्या इस प्रकार है : लोह-पिंड में प्रविष्ट स्पर्शग्राह्य तेजस् को अग्नि कहते हैं[3]।

९०. अंगारे (इंगालं) :

ज्वालारहित कोयले को अंगार कहते हैं। लकड़ी का जलता हुआ धूम-रहित खण्ड[4]।

९१. मुर्मुर (मुम्मुरं) :

कंडे या करसी की आग, तुषाग्नि—चोकर या भूसी की आग, क्षारादिगत अग्नि को मुर्मुर कहते है। भस्म के विरल अग्नि-कण मुर्मुर हैं[5]।

९२. अर्चि (अच्चिं) :

मूल अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला, आकाशानुगत परिच्छिन्न अग्निशिखा, दीपशिखा के अग्रभाग को अर्चि कहते है[6]।

९३. ज्वाला (जालं) :

प्रदीप्ताग्नि से प्रतिबद्ध अग्निशिखा को ज्वाला कहते हैं[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८८ : एक्कं खोडनं अक्खोडणं, भिस खोडनं पक्खोडणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : एगं वारं जं अक्खोडेइ, त बहुवार पक्खोडणं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा स्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्।

२—(क) अ० चू० पृ० ८८ : ईसिं तावणमातावणं, प्रगतं तावणं पतावणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : ईसिसि तावणं आतावण, अतीव तावणं पतावणं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा तापनमातापनं विपरीतं प्रतापनम्।

३—(क) जि० चू० पृ० १५५-५६ : अगणी नाम जो अयपिंडाणुगयो फरिसगेज्झो सो आयपिंडो भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १५४ : अयस्पिण्डानुगतोऽग्निः।

४—(क) अ० चू० पृ० ८९ : इंगालं वा खदिरादीण जिद्दड्ढाण धूमविरहितो इंगालो।
(ख) जि० चू० प० १५६ : इगालो नाम जालारहिओ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : ज्वालारहितोऽङ्गारः।

५—(क) अ० चू० पृ० ८९ : करिसगादीण किंचि सिट्ठो अग्गी मुम्मुरो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : मुम्मुरो नाम जो छाराणुगओ अग्गी सो मुम्मुरो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : विरलाग्निकणं भस्म मुर्मुरः।

६—(क) अ० चू० पृ० ८९ : दीवसिहासिहरादि अच्ची।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : अच्ची नाम आगासाणुगआ परिच्छिण्णा अग्गिसिहा।
(ग) हा० टी० प० १५४ : मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला अर्चिः।

७—(क) अ० चू० पृ० ८९ : उद्दित्तोपरि अविच्छिण्णा जाला।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : ज्वाला पलित्ता चेव।
(ग) हा० टी० प० १५४ : प्रतिबद्धा ज्वाला।

९४. अलात (अलायं):
अधजली लकड़ी[1]

९५. शुद्ध अग्नि (सुद्धागणिं) :
ईंधनरहित अग्नि[2]।

९६. उल्का (उक्कं) :
गगनाग्नि – विद्युत् आदि[3]।

९७. उत्सेचन (उंजेज्जा) :
उज (सिच्)—सींचना, प्रदीप्त करना[4]।

९८. घट्टन (घट्टेज्जा) :
सजातीय या अन्य द्रव्यों द्वारा चालन या घर्षण[5]।

९९. उज्ज्वालन (उज्जालेज्जा) :
पखे आदि से अग्नि को ज्वलित करना—उसकी वृद्धि करना[6]।

१००. निर्वाण करे (निव्वावेज्जा) :
निर्वाण का अर्थ है—बुझाना[7]।

सूत्र २१ :

१०१. चामर (सिएण) :
सित का अर्थ चँवर किया गया है[8]। किन्तु संस्कृत साहित्य में 'सित' का चँवर अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। 'सित' चामर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है—सित-चामर – श्वेत-चामर।

१—(क) अ० चू० पृ० ८९ : अलातं उमुतं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : अलायं नाम उम्मुआहिय पंज (पज्ज) लियं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : अलातमुल्मुकम्।

२ (क) अ० चू० पृ० ८९ : एते विसेसे मोत्तूण सुद्धागणि।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : इंधणरहिओ सुद्धागणी।
(ग) हा० टी० प० १५४ : निरिन्धनः शुद्धोऽग्निः।

३—(क) अ० चू० पृ० ८९ : उक्का विज्जुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उक्काविज्जुगादि।
(ग) हा० टी प० १५४ : उल्का—गगनाग्निः।

४— (क) अ० चू० पृ० ८९ : अवसंतुयणं उंजणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उंजण नाम अवसंतुअणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उञ्जनमुत्सेचनम्।

५— (क) अ० चू० पृ० ८९ परोप्परमुमुताणं अण्णेण वा आहणणं घट्टण।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ . घट्टणं परोप्परं उम्मुगाणि घट्टयति, वा अण्णेण तारिसेण दव्वजाएण घट्टयति।
(ग) हा० टी० प० १५४ : घट्टनं—सजातीयादिना चालनम्।

६—(क) अ० चू० ८९ : वीयणगादीहि जालाकरणमुज्जालण।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उज्जलण नाम वीयणमाईहिं जालाकरणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उज्ज्वालनं – व्यजनादिभिर्वृद्ध्यापादनम्।

७—(क) अ० चू० पृ० ८९ : विज्झवणं निव्वावणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : निव्वावणं नाम विज्झावणं।
(ग) हा० टी० प० १५४ : निर्वापणं– विध्यापनम्।

८—(क) अ० चू० पृ० : ८९ : चामरं सितं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : सीतं चामरं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : सितं चामरम्।

आयार चूला (१।९६) में वही प्रकरण है जो कि इस सूत्र मे है। वहाँ पर 'सिएण वा' के स्थान पर 'सूवेण वा' का प्रयोग हुआ है—सूवेण वा विहुणेण वा ······ ····।

निशीथ भाष्य (गा० २३६) मे भी 'सुप्प का प्रयोग मिलता है :—

सुप्पे य तालवेंटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य।
अच्छिफुमे पव्वए, णालिया चेव पत्ते य॥

यह परिवर्तन विचारणीय है।

१०२. पंखे (विहुयणेण) :

व्यजन, पखा[१]।

१०३. बीजन (तालियंटेण) :

जिसके बीच मे पकडने के लिए छेद हो और जो दो पुट वाला हो उसे तालवृन्त कहा जाता है। कई-कई इसका अर्थ ताडपत्र का पंखा भी करते है[२]।

१०४. पत्र, शाखा, शाखा के टुकड़े (पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा) :

'पत्तेण वा' 'साहाए वा' के मध्य मे 'पत्तभगेण वा' पाठ भी मिलता है। टीका-काल तक 'पत्तभगेण वा' यह पाठ नही रहा। इसकी व्याख्या टीका की उत्तरवर्ती व्याख्याओ मे मिलती है। आचाराङ्ग (२ १ ७.२६२) मे 'पत्तेण वा' के बाद 'साहाए वा' रहा है किन्तु उनके मध्य मे 'पत्तभगेण वा' नही है और यह आवश्यक भी नही लगता।

पत्र – पद्मिनी पत्र आदि[३]।

शाखा—वृक्ष की डाल।

शाखा के टुकड़े—डाल का एक अश[४]।

१०५. मोर-पंख (पिहुणेण) :

इसका अर्थ मोर-पिच्छ अथवा वैसा ही अन्य पिच्छ होता है[५]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८९: वीयणं विहुवणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : विहुवणं वीयनं णाम।
(ग) हा० टी० प० १५४ : विधुवनं-- व्यजनम्।

२—(क) अ० चू० पृ० ८९ : तालवेंटमुक्खेवजाती।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : तालियटो नाम लोगपसिद्धो।
(ग) हा० टी० प० १५४ तालवृन्तं -- तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रम् द्विपुटम।

३ -- (क) अ० चू० पृ० ८९ : पउमिणिपण्णमादी पत्तं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पत्तं नाम पोमिणिपत्तादी।
(ग) हा० टी० प० १५४ पत्रं—पद्मिनीपत्रादि।

४—(क) अ० चू० पृ० ८९ : रुक्खडालं साहा, तदेगदेसो साहा भंगतो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : साहा रुक्खस्स डालं, साहाभंगओ तस्सेव एगदेसो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : शाखा—वृक्षडालं शाखाभङ्गं—तदेकदेशः।

५—(क) अ० चू० पृ० ८९ : पेहुणं मोरंगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ पेहुणं मोरपिच्छगं वा अण्णं किंचि वा तारिसं पिच्छं।
(ग) हा० टी० प० १५४ पेहुणं मयूरादिपिच्छम्।

१०६. मोर-पिच्छी (पिहुणहत्थेण) :

मोर-पिच्छों अथवा अन्य पिच्छो का समूह—एक साथ बंधा हुआ गुच्छ[1]।

१०७. वस्त्र के पल्ले (चेलकण्णेण) :

वस्त्र का एक देश—भाग[2]।

१०८. अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों को (अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं) :

अपने गात्र को तथा उष्ण ओदन आदि पदार्थों को[3]।

सूत्र : २२

१०९. स्फुटित बीजों पर (रूढेसु) :

बीज जब भूमि को फोड कर बाहर निकलता है तब उसे रूढ कहा जाता है[4]। यह बीज और अकुर के बीच की अवस्था है। अकुर नही निकला हो ऐसे स्फुटित बीजो पर।

११०. पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर (जाएसु) :

अगस्त्य चूर्णि मे बद्ध-मूल वनस्पति को जात कहा है[5]। यह भ्रूणाग्र के प्रकट होने की अवस्था है। जिनदास चूर्णि और टीका में इस दशा को स्तम्ब कहा गया है[6]।

जो वनस्पति अकुरित हो गई हो, जिसकी पत्तियाँ भूमि पर फैल गई हो या जो घास कुछ बढ चली हो—उसे स्तम्बीभूत कहा जाता है।

१११. छिन्न वनस्पति के अङ्कुरों पर (छिन्नेसु) :

वायु द्वारा भग्न अथवा परशु आदि द्वारा वृक्ष से अलग किए हुए आर्द्र अपरिणत डालादि अङ्गों पर[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८६ : तेसिं कलावो पेहुणहत्थतो

(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पिहुणाहत्थओ मोरिंगकुच्चओ, गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि।

(ग) हा० टी० प० १५४ : पेहुणहस्तः तत्समूहः।

२ -(क) अ० चू० पृ० ८६: तदेकदेशो चेलकण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० १५६ : चेलकण्णो तस्सेव एगदेसो।

(ग) हा० टी० प० १५४ : चेलकर्णः --तदेकदेशः।

३—(क) अ० चू० पृ० ८६ : अप्पणो सरीर सरीरवज्जो बाहिरो पोग्गलो।

(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पोग्गल-- उसिणोदग।

(ग) हा० टी० प० १५४ : आत्मनो वा काय —स्वदेहमित्यर्थः, बाह्यं वा पुद्गलम् उष्णोदनादि।

४--(क) अ० चू० पृ० ९० : उब्भिज्जंतं रूढं।

(ख) जि० चू० पृ० १५७ : रूढं णाम बीयाणि चेव फुडियाणि, ण ताव अंकुरो निप्फज्जइ।

(ग) हा० टी० प० १५५ : रूढानि --स्फुटितबीजानि।

५— अ० चू० पृ० ९० : आबद्धमूलं जातं।

६—(क) जि० चू० पृ० १५७ : जायं नाम एताणि चेव थंबीभूयाणि।

(ख) हा० टी० प० १५५ : जातानि -- स्तम्बीभूतानि।

७—(क) अ० चू० पृ० ९० : छिण्णं पिंहीकतं तं अपरिणतं।

(ख) जि० चू० पृ० १५७ : छिण्णग्गहणेणं वाउणा भग्गस्स अण्णेण वा परसुमाइणा छिण्णस्स अद्दभावे वट्टमाणस्स अपरिणयस्स गहणं कयमिति।

(ग) हा० टी० प० १५५ : छिन्नानि—परश्वादिभिर्वृक्षात् पृथक्स्थापितान्यार्द्राणि अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते।

११२. अण्डों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर (सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु) :

सूत्र के इस वाक्यांश का 'प्रतिनिश्रित' शब्द सचित्त और कोल—दोनों से सम्बन्धित है। सचित्त का अर्थ अण्डा और कोल का अर्थ घुण—काष्ठ-कीट होता है। प्रतिनिश्रित अर्थात् जिसमे अण्डे और काष्ठ-कीट हो वैसे काष्ठ आदि पर[1]।

११३. सोये (तुयट्टेज्जा[2]) :

(त्वग्+वृत्)—सोना, करवट लेना[3]।

सूत्र २३ :

११४. सिर (सीसंसि) :

अगस्त्य चूर्णि में 'बाहुसि वा' के पश्चात् 'उदसीससि वा' है। अवचूरी और दीपिकाकार ने 'उदरमिवा' के पश्चात् 'सीसंसिवा' माना है किन्तु टीका में वह व्याख्यात नही है। 'वत्थसि वा' के पश्चात् 'पडिग्गहसि वा' 'कबलसि वा' 'पायपुछणसि वा' ये पाठ और हैं, उनकी टीकाकार और अवचूरीकार ने व्याख्या नही की है। दीपिकाकार ने उनकी व्याख्या की है। अगस्त्य चूर्णि मे 'वत्थसि वा' नही है, 'कबलसि वा' है। 'पायपुछण' (पादपुञ्छन) रयहरण (रजोहरण) का पुनरुक्त है—'पादपुञ्छनशब्देन रजोहरणमेव गृह्यते' (ओघनिर्युक्ति गाथा ७०६ वृत्ति)। पादप्रोञ्छनम् -रजोहरणम् (स्थानाङ्ग ५ ७४ टी० पृ० २६०)। इसलिए यह अनावश्यक प्रतीत होता है। अगस्त्य चूर्णि मे 'पडिग्गह' और 'पाय' दोनों पात्रवाचक है।

११५. रजोहरण (रयहरणंसि) :

स्थानाङ्ग (५.१६१) और बृहत्कल्प (२.२६) मे ऊन, ऊँट के बाल, सन, वच्चक नाम की एक प्रकार की घास और मूंज का रजोहरण करने का विधान है। ओघनिर्युक्ति (७०६) में ऊन, ऊँट के बाल और कम्बल के रजोहरण का विधान मिलता है। ऊन आदि के धागों को तथा ऊट आदि के बालों को बट कर उनकी कोमल फलियाँ बनाई जाती हैं और वैसी दो सौ फलियों का एक रजोहरण होता है। रखी हुई वस्तु को लेना, किसी वस्तु को नीचे रखना, कायोत्सर्ग करना या खडा होना, बैठना, सोना और शरीर को सिकोडना ये सारे कार्य प्रमार्जन पूर्वक (स्थान और शरीर को किसी साधन से झाडकर या साफकर) करणीय होते है। प्रमार्जन का साधन रजोहरण है। वह मुनि का चिह्न भी है'—

> आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयणतुयट्टसंकोए।
> पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं॥ ओघनिर्युक्ति ७१०

इस गाथा मे रात को चलते समय प्रमार्जन पूर्वक (भूमि को बुहारते हुए) चलने का कोई सकेत नही है। किन्तु रात को या अँधेरे मे दिन को भी उससे भूमि को साफ कर चला जाता है। यह भी उसका एक उपयोग है। इसे पादप्रोञ्छन[4] धर्मध्वज और ओघा भी कहा जाता है।

१—(क) अ० चू० पृ० ६० : सचित्त-कोलपडिणिस्सितेसु वा, पडिणिस्सित सद्दो दोसु वि, सचित्तेसु पडिणिस्सिताणि अडग-उद्देहिगादिसु, कोला घुणा ते जाणि अस्सिता ते कोलपडिणिस्सिता।

(ख) जि० चू० पृ० १५७ : सचित्तकोलपडिणिस्सियसद्दो दोसु वट्टइ, सचित्तसद्दे य कोलसद्दे य, सचित्तपडिणिस्सियाणि दारुयाणि सचित्तकोलपडिनिस्सिताणि, तत्थ सचित्तगहणेण अडगउद्देहिगादीहिं अणुगताणि जाणि दारुगादीणि निस्सिताणि, कोलपडिनिस्सियाणि नाम कोलो घुणो भण्णति, सो कोलो जेसु दारुगेसु अणुगओ ताणि कोलपडिनिस्सियाणि।

(ग) हा० टी० प० १५५ : सचित्तानि—अण्डकादीनि, कोल:—घुण:।

२—(क) अ० चू० पृ० ६० : गमणं चंकमणं, चिट्ठणं ठाणं, णिसीदण उपविसणं, तुयट्टणं निवज्जणं।

(ख) जि० चू० पृ० १५७ : गमणं आगमण वा चंकमणं भण्णइ, चिट्ठणं नाम तेसिं उवरिं ठियस्स अच्छणं, निसीयण उवट्ठियस्स ज आवेसणं।

(ग) हा० टी० प० १५५ : गमनम्—अन्यतोऽन्यत्र स्थानम् – एकत्रैव निषीदनम्—उपवेशनम्।

३—जि० चू० पृ० १५७ : तुयट्टणं निवज्जणं।

४—हा० टी० प० १६६ : 'पायपुंछन' रजोहरणम्।

११६. गोच्छग (गोच्छगंसि) :

इसका अर्थ है—एक वस्त्र जो पटल (पात्र को ढाकने के वस्त्र) को साफ करने के काम आता है।[१]

११७. दंडक (दंडगंसि) :

ओघनिर्युक्ति (७३०) में औपग्रहिक (विशेष परिस्थिति में रखे जाने वाले) उपधियों की गणना है। वहाँ दण्ड का उल्लेख है। इसकी कोटि के तीन उपधि और बतलाए गये हैं - यष्टि, वियष्टि और विदण्ड। यष्टि शरीर-प्रमाण, वियष्टि शरीर से चार अगुल कम, दण्ड कधे तक और विदण्ड कुक्षि (कोख) तक लम्बा होता है। यवनिका (पर्दा) बाधने के लिए यष्टि और उपाश्रय के द्वार को हिलाने के लिए वियष्टि रखी जाती थी। दण्ड ऋतुबद्ध (चातुर्मासातिरिक्त) काल मे भिक्षाटन के समय पास मे रखा जाता था और वर्षाकाल मे भिक्षाटन के समय विदण्ड रखा जाता था। भिक्षाटन करते समय बरसात आ जाने पर उसे भीगने से बचाने के लिए उत्तरीय के भीतर रखा जा सके इसलिए वह छोटा होता था। वृत्ति मे नालिका का भी उल्लेख है। उसकी लम्बाई शरीर से चार अगुल अधिक बतलाई गई है। उसका उपयोग नदी को पार करते समय उसका जल मापने के लिए होता था[२]।

व्यवहार सूत्र के अनुसार दण्ड रखने का अधिकारी केवल स्थविर ही है[३]।

११८. पीठ, फलक (पीढगंसि वा फलगंसि वा) :

पीठ—काठ आदि का बना हुआ बैठने का बाजोट। फलक—लेटने का पट्ट अथवा पीढा[४]।

११९. शय्या या संस्तारक (सेज्जंसि वा संथारगंसि वा) :

शरीर-प्रमाण बिछौने को शय्या और ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ चार अगुल चौडे बिछौने को सस्तारक कहा जाता है[५]।

१२० उसी प्रकार के अन्य उपकरण पर (अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए) :

साधु के पास उपयोग के लिए रही हुई अन्य कल्पिक वस्तुओं पर[६]। 'तहप्पगारे उवगरणजाए'—इतना पाठ चूर्णियों में नही है।

१२१. सावधानी पूर्वक (संजयामेव) :

कीट, पतग आदि को पीडा न हो इस प्रकार। यतनापूर्वक, सयमपूर्वक[७]।

१२२. एकान्त में (एगंतं) :

ऐसे स्थान में जहाँ कीट, पतङ्गादि का उपघात न हो[८]।

१२३. सघात (संघायं) :

उपकरण आदि पर चढे हुए कीट, पतग आदि का परस्पर ऐसा गात्रस्पर्श करना, जो उन प्राणियों के लिए पीड़ा रूप हो, संघात

१—ओ० नि० ६९५ : होइ पमज्जणहेउ तु, गोच्छओ भाणवत्थाण।

२—ओ० नि० ७३० वृत्ति : अन्या नालिका भवति आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरंगुलैरतिरिक्ता, तत्थ नालियाए जलथाओ गिज्झइ।

३—व्य० ८.५ पृ० २६ : थेराण थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दण्डए वा ....

४—अ० चू० पृ० ९१ : पीढग कट्ठमत छाणमतं वा। फलगं जत्थ सुप्पति चंपगपट्टादि पेढणं वा।

५—(क) अ० चू० पृ० ९१ : सेज्जा सव्वंगिका। संथारगो यड्ढाइज्जहत्थायततो सचतुरंगुलं हत्थं विच्छिण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : सेज्जा सव्वंगिया, संथारो अड्ढाइज्जा हत्था आयतो हत्थं सचउरंगुलं विच्छिण्णो।

६—(क) अ० चू० पृ० ९१ : अण्णतरवयणेण तोवग्गहियमणेगागारं भणितं।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अण्णतरग्गहणेण बहुविहस्स तहप्पगारस्स संजतपाओग्गस्स उवगरणस्स गहणं कयंति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते।

७—(क) अ० चू० पृ० ९१ : संजतामेव जयणाए जहा ण परिताविज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : संजयामेवत्ति जहा तस्स पीडा ण भवति तहा घेत्तूणं।

(ग) हा० टी० प० १५६ : संयत एव सन् प्रयत्नेन वा।

८—(क) अ० चू० पृ० ९१ : एकंते जत्थ तस्स उवघातो ण भवति तहा अवणेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : एगंते नाम जत्थ तस्स उवघाओ न भवइ तत्थ।

(ग) हा० टी० पृ० १५६ : तस्यानुपघातके स्थाने।

कहलाता है। यह नियम है कि एक के ग्रहण से जाति का ग्रहण होता है। अतः अवशेष परितापना, क्लामना आदि को भी संघात के साथ ग्रहण कर लेना चाहिए। संघात के बाद का आदि शब्द लुप्त समझना चाहिए[1]।

श्लोक १ :

१२४. त्रस और स्थावर (पाणभूयाइं ख) :

"प्राणा द्वि त्रि चतु प्रोक्ता, भूतास्तु तरव स्मृता" इस बहु प्रचलित श्लोक के अनुसार दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव प्राण तथा तरु (या एक इन्द्रिय वाले जीव) भूत कहलाते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्राण और भूत को एकार्थक भी माना है तथा वैकल्पिक रूप मे प्राण को त्रस और भूत को स्थावर अथवा जिनका श्वास-उच्छ्वास व्यक्त हो उन्हे प्राण और शेष जीवो को भूत माना है[2]।

१२५. हिंसा करता है (हिंसई ख) :

'अयतनापूर्वक चलने, खडा होने आदि से साधु प्राण-भूतो की हिंसा करता है'— इस वाक्य के दो अर्थ हैं—(१) वह वास्तव मे ही जीवो का उपमर्दन करता हुआ उनकी हिंसा करता है और (२) कदाचित् कोई जीव न भी मारा जाय तो भी वह छह प्रकार के जीवो की हिंसा के पाप का भागी होता है। प्रमत्त होने से जीव-हिंसा हो या न हो वह साधु भावत. हिंसक है[3]।

१२६. उससे पापकर्म का बंध होता है (बंधइ पावयं कम्मं ग) :

अयतनापूर्वक चलने वाले को हिंसक कहा गया है भले ही उसके चलने से जीव मरे या न मरे। प्रमाद के सद्भाव से उसके परिणाम अकुशल और अशुभ होते हैं। इससे उसके क्लिष्ट ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंध होता रहता है।

कर्म दो तरह के होते है - (१) पुण्य और (२) पाप। शुभ योगो से पुण्य कर्मों का बंध होता है और अशुभ से पाप कर्मों का। कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ हैं। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न है। अशुभ योगो से साधु आठो ही पाप-कर्म-प्रकृतियो का बंध करता है।

आत्मा के असख्य प्रदेश होते है। अशुभ क्रियाओ से राग-द्वेष के द्वारा खिच कर पुद्गल-निर्मित कर्म इन प्रदेशो मे प्रवेश पा वहाँ रहे हुए पूर्व कर्मों से सबद्ध हो जाते हैं—एक-एक आत्मप्रदेश को आठो ही कर्म आवेष्टित-परिवेष्टित कर लेते हैं। यही कर्मों का बंध कहलाता है। पाप-कर्म का बंध अर्थात् अत्यन्त स्निग्ध कर्मों का उपचय—सग्रह। इसका फल बुरा होता है[4]।

१२७. कटु फल वाला होता है (होइ कडुयं फलं घ) :

प्रमादी के मोहादि हेतुओं से पाप कर्मों का बंध होता है। पाप कर्मों का विपाक बडा दारुण होता है। प्रमत्त को कुदेव, कुमनुष्य आदि गतियो की ही प्राप्ति होती है। वह दुर्लभ-बोधि होता है[5]।

१—(क) अ० चू० पृ० ६१ : परिताव परोप्पर गत्तपीडणं सघातो। एत्थ आदिसद्दलोपो, संगट्टण-परितावणोद्दवणाणि सूतिज्जंति।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : सघातं नाम परोप्परतो गत्ताणं संपिडण, एगग्गहणेण गहणं तज्जाईयाणंतिकाऊणं सेसावि परितावणकिलावणाविभेदा गहिया।
(ग) हा० टी० प० १५६ : संघातं परस्परगात्रसस्पर्शपीडारूपम्।

२—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पाणाणि चेव भूताणि पाणभूताणि, अहवा पाणा तसा, भूता थावरा, फुडऊसासनीसासा पाणा सेसा भूता।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : पाणाणि चेव भूयाणि, अहवा पाणगहणेण तसाणं गहणं, सत्ताण विविहेहिं पगारेहिं।
(ग) हा० टी० प० १५६ : प्राणिनो —द्वीन्द्रियादयः भूतानि एकेन्द्रियास्तानि।

३—(क) अ० चू० पृ० ६१ : हिंसतो मारेमाणस्स।
(ख) हा० टी० प० १५६ : हिनस्ति —प्रमादानाभोगाभ्या व्यापादयतीति भाव, तानि च हिंसन्।

४—(क) अ० चू० पृ० ६१ : पावगं कम्म, बज्झति एक्केक्को जीवपदेसो अट्ठहिं कम्मपगडीहि आवेढिज्जति, पावगं कम्मं अस्सायवेयणिज्जाति। अजयणातो हिंसा ततो पावोवचतो।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : बंधइ नाम एक्केक्कं जीवप्पदेसं अट्ठहिं कम्मपगडीहिं आवेढियपरिवेढियं करेति, पावगं नाम असुभकम्मोवचयो घणचिक्कणो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : अकुशलपरिणामादावत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि।

५—(क) अ० चू० पृ० ६१ : तस्स फलं तं से होति कडुयं फलं कडुगविवागं कुगति—अबोधिलाभनिव्वत्तगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : कडुय फलं नाम कुदेवत्तकुमाणुसत्तनिव्वत्तकं पमत्तस्स भवइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : तत्—पाप कर्म से—तस्यायतचारिणो भवति, कटुकफलमित्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः अशुभफलं भवति, मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः।

श्लोक १-६ :

१२८. अयतनापूर्वक चलनेवाला···अयतनापूर्वक बोलनेवाला (श्लोक १-६) ,

सूत्र १८ से २३ में प्राणातिपात-विरमण महाव्रत के पालन के लिए पृथ्वीकायादि जीवो के हनन की क्रियाओं का उल्लेख करते हुए उनसे बचने का उपदेश है। शिष्य उपदेश को सुन उन क्रियाओं को मन, वचन, काया से करने, कराने और अनुमोदन करने का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान करता है।

जीव-हिंसा की विविध क्रियाओ के त्याग-प्रत्याख्यान के साथ-साथ जीवन-व्यवहार मे यतना (सावधानी) की भी पूरी आवश्यकता है। अयतनापूर्वक चलने वाला, खड़ा होने वाला, बैठने वाला, भोजन करने वाला, सोने वाला, बोलने वाला हिंसा का भागी होता है और उसको कैसा फल मिलता है, इसी का उल्लेख श्लोक १ से ६ तक मे है।

साधु के लिए चलने के नियम इस प्रकार हैं—वह धीरे-धीरे युग-प्रमाण भूमि को देखते हुए चले; बीज, घास, जल, पृथ्वी, त्रस आदि जीवों का परिवर्जन करते हुए चले; सरजस्क पैरो से अंगार, छाई, गोबर आदि पर न चले; वर्षा, कुहासा गिरने के समय न चले; जोर से हवा बह रही हो अथवा कीट-पतग आदि सम्पातिम प्राणी उडते हो उस समय न चले; वह न ऊपर देखता चले, न नीचे देखता चले, न बातें करता चले और न हँसते हुए चले। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर, ईंट पर पैर रख कर कर्दम या जल के पार न हो।

चलने सम्बन्धी इन तथा ऐसे ही अन्य ईर्या समिति के नियमों व शास्त्रीय आज्ञाओं का उल्लघन तद्विषयक अयतना है[1]।

खडे होने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि पर खडा न हो; जहां खडा हो वहां से खिडकियां आदि की ओर न झांके; खड़े-खडे हाथ-पैरो को असमाहित भाव से न हिलाये-डुलाए; पूर्ण सयम से खडा रहे; हरित, उदक, उत्तिङ्ग तथा पनक पर खडा न हो।

खडे होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य नियमो का उल्लघन तद्विषयक अयतना है।

बैठने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि या आसन पर न बैठे; बिना प्रमार्जन किए न बैठे; गलीचे, दरी आदि पर न बैठे; गृहस्थ के घर न बैठे। हाथ, पैर, शरीर और इन्द्रियो को नियन्त्रित कर बैठे। उपयोगपूर्वक बैठे।

बैठने के इन तथा ऐसे ही नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। बैठे-बैठे हाथ-पैरादि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, सकोचना आदि अयतना है[2]।

सोने के नियम इस प्रकार हैं—बिना प्रमार्जित भूमि, शय्या आदि पर न सोये, अकारण दिन मे न सोये; सारी रात न सोये; प्रकाम निद्रा सेवी न हो।

सोने के विषय में इन नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[3]।

भोजन के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त, अर्द्धपक्व न ले; सचित्त पर रखी हुई वस्तु न ले, स्वाद के लिए न खाये; प्रकामभोजी न हो; थोडा खाये; संग्रह न करे; औद्देशिक, क्रीत आदि न ले; सविभाग कर खाये; सतोष के साथ खाये; जूठा न छोड़े; मित मात्रा मे ग्रहण करे; गृहस्थ के बरतन में भोजन न करे आदि।

१—(क) अ० चू० पृ० ६१ : चरमाणस्स गच्छमाणस्स, रियासमितिविरहितो सत्तोपघातमातोवघातं वा करेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अजयं नाम अणुवएसेणं, चरमाणो नाम गच्छमाणो।

(ग) हा० टी० प० १५६ : अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति, क्रियाविशेषणमेतत्····अयतमेव चरन्, ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य।

२—(क) अ० चू० पृ० ६२ : आसमाणो उवेट्ठो सरीरकुरुकुतावि।

(ख) जि० चू० पृ० १५६ : आसमाणो नाम उवट्ठिओ, सो तत्थ सरीराकुंचणावीणि करेइ, हत्थपाए विक्खुभइ, तओ सो उवरोधे वट्टइ।

(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतमासीनो—निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन।

३—(क) अ० चू० पृ० ६२ : आउंटण-पसारणादिसु एडिलेहणप्पमज्जणमकरितस्स पकाम-णिकामं रत्तिं दिवा य सुयन्तस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १५६ : अजयंति आउंटेमाणो य ण पडिलेहइ ण पमज्जइ, सव्वराइं सुवइ, दिवसओवि सुयइ, पगामं निगामं वा सुवई।

(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतं स्वपन्—असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना (वा)।

भोजन विषयक इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। जो बिना प्रयोजन आहार का सेवन करता है, प्रणीत आहार करता है तथा काक-शृगाल आदि की तरह खाता है वह अयतनाशील है[1]।

बोलने के नियम इस प्रकार हैं—चुगली न खाये; मृषाभाषा न बोले; जिससे दूसरा कुपित हो वैसी भाषा न बोले; ज्योतिष, मंत्र, यंत्र आदि न बताए; कर्कश, कठोर भाषा न बोले; सावद्य अथवा सावद्यानुमोदिनी भाषा न बोले; जो बात नहीं जानता हो उसके विषय में निश्चित भाषा न बोले।

बोलने के विषय में इन तथा ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। गृहस्थ-भाषा का बोलना, वैर उत्पन्न करने वाली भाषा का बोलना आदि भाषा सम्बन्धी अयतना है[2]।

जो साधु चलने, खड़ा होने, बैठने, आदि की विधि के विषय में जो उपदेश और आज्ञा सूत्रों में हैं उनके अनुसार नहीं चलता और उन आज्ञाओं का उल्लंघन या लोप करता है वह अयतनापूर्वक चलने, खड़ा होने, बैठने, सोने, भोजन करने और बोलने वाला कहा जाता है[3]।

एक के ग्रहण से जाति का ग्रहण कर लेना चाहिए—यह नियम यहाँ भी लागू है। यहाँ केवल चलने, खड़ा होने आदि का ही उल्लेख है, पर साधु जीवन के लिए आवश्यक भिक्षा-चर्या, आहार-गवेषणा, उपकरण रखना, उठाना, मल-मूत्र-विसर्जन करना आदि अन्य क्रियाओं के विषय में भी जो नियम सूत्रों में लिखित हैं उनका उल्लंघन करने वाला अयतनाशील कहा जायेगा।

१२९. श्लोक (१-६) :

अगस्त्य चूर्णि में 'चरमाणस्स' और 'हिंसओ' षष्ठी के एकवचन तथा 'बज्झइ'—अकर्मक क्रिया के प्रयोग हैं। इसलिए इन छः श्लोकों का अनुवाद इस प्रकार होगा—

१—अयतनापूर्वक चलने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

२—अयतनापूर्वक खड़ा होने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

३—अयतनापूर्वक बैठने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

४—अयतनापूर्वक सोने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

५—अयतनापूर्वक भोजन करने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

६—अयतनापूर्वक बोलने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

श्लोक ७ :

१३०. श्लोक ७ :

जब शिष्य ने सुना कि अयतना से चलने, खड़े होने आदि से जीवों की हिंसा होती है, पाप-बंध होता है और कटु फल मिलता है, तब उसके मन में जिज्ञासा हुई—अनगार कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे बोले ? जिससे कि पाप-कर्म का बंधन न हो।

१—(क) अ० चू० पृ० ९२ : अजतं……सुरसुरादि काक-सियालभुत्तं एवमादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : अजयं कायसियालखइयाईहिं भुंजइ तं च खद्धं एवमादि।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतं भुञ्जानो-- निष्प्रयोजन प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना वा।

२—(क) अ० चू० पृ० ९२ : तं पुण सावज्जं वा ढड्ढरमादीहिं वा।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : अजयं गारत्थियभासाहिं भासइ ढड्ढरेण वेरत्तियासु एवमादिसु।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतं भाषमाणो— गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना वा।

३—(क) अ० चू० पृ० ९२ : अजयं अपयत्तेणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अजयं नाम अणुवएसेणं।
(ग) हा० टी० प० १५६ : अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति।

यही जिज्ञासा इस श्लोक में गुरु के सामने प्रकट हुई। इस श्लोक की तुलना गीता के उस श्लोक से होती है जिसमें समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय में पूछा गया है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम्॥

अ० २ : ५४

श्लोक ८ :

१३१. श्लोक ८ :

अनगार कैसे चले ? कैसे बैठे ? आदि प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक मे है।

श्रमण भगवान् महावीर जब भी कोई उनके समीप प्रव्रज्या लेकर अनगार होता तो उसे स्वय बताते — इस तरह चलना, इस तरह खड़ा रहना, इस तरह बैठना, इस तरह सोना, इस तरह भोजन करना, इस तरह बोलना आदि[1]। इन बातों को सीख लेने से जैसे अनगार जीवन की सारी कला को सीख लेता है ऐसा उन्हे लगता। अपनी उत्तरात्मक वाणी मे भगवान् कहते हैं—यतना से चल, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठ, यतना से सो, यतना से भोजन कर, यतना से बोल। इससे अनगार पाप कर्मों का बध नही करता और उसे कटु फल नही भोगने पडते।

श्लोक ७ और ८ के स्थान मे 'मूलाचार' मे निम्न श्लोक मिलते हैं :

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कध भुंजेज्ज भासिज्ज कध पाव ण बज्झदि॥ १०१२
जदं चरे जद चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई॥ १०१३
यत तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णव ण बज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि॥ १०१४

समयसाराधिकार १०

१३२. यतनापूर्वक चलने (जयं चरे [क]) :

यतनापूर्वक चलने का अर्थ है—ईर्यासमिति से युक्त हो त्रसादि प्राणियो को टालते हुए चलना। पैर ऊँचा उठाकर उपयोगपूर्वक चलना। युग-प्रमाण भूमि को देखते हुए शास्त्रीय विधि से चलना[2]।

१३३. यतनापूर्वक खड़े होने (जयं चिट्ठे [क]) :

यतनापूर्वक खड़े होने का अर्थ है—कूर्म की तरह गुप्तेन्द्रिय रह, हाथ, पैर आदि का विक्षेप न करते हुए खड़े होना[3]।

१३४. यतनापूर्वक बैठने (जयमासे [ख]) :

यतनापूर्वक बैठने का अर्थ है—हाथ, पैर आदि को बार-बार सकुचित न करना या न फैलाना[4]।

१—नाया० सू० ३१ पृ० ७६ : एव देवाणुप्पिया! गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं, एवं णिसीयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं एवं भुंजियव्वं, भासियव्व।

२—(क) अ० चू० पृ० ९२ : जयं चरे इरियासमितो दट्ठूण तसे पाणे "उद्धट्टु पादं रीएज्जा०" एवमादि।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : जयं नाम उवउत्तो जुगंतरदिट्ठी दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टुपाए रीएज्जा।

(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं चरेत्—सूत्रोपदेशेनेर्यासमितः।

३—(क) अ० चू० पृ० ९२ : जयमेव कुम्मो इव गुत्तिंदितो चिट्ठेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : एवं जयणं कुव्वंतो कुम्मो इव गुत्तिंदिओ चिट्ठेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७५ : यतं तिष्ठेत्—समाहितो हस्तपाद्यविक्षेपेण।

४—(क) अ० चू० पृ० ९२ : एवं आसेज्जा पहरमसं।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : एवं आसज्जावि।

(ग) हा० टी० प० १५७ : यतमासीत—उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन।

१३५. यतनापूर्वक सोने (जयं सए [ग]) :

यतनापूर्वक सोने का अर्थ है—पार्श्व आदि फेरते समय या अङ्गों को फैलाते समय निद्रा छोडकर शय्या का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करना। रात्रि में प्रकामशायी - प्रगाढ निद्रावाला न होना, समाहित होना[1]।

१३६. यतनापूर्वक खाने (जयं भुंजंतो [ग]) :

यतनापूर्वक खाने का अर्थ है— शास्त्र-विहित प्रयोजन के लिए निर्दोष, अप्रणीत (रसरहित) पान-भोजन को अगृद्ध भाव से खाना[2]।

१३७. यतनापूर्वक बोलने (जयं भासंतो [ग]) :

यतनापूर्वक बोलने का अर्थ है—इसी सूत्र के 'वाक्य-शुद्धि' नामक सातवें अध्याय में वर्णित भाषा सम्बन्धी नियमों का पालन करना। मुनि के योग्य मृदु, समयोचित भाषा का प्रयोग करना[3]।

श्लोक ९ :

१३८. जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है...उसके...बंधन नहीं होता (श्लोक ९) :

जब शिष्य के सामने यह उत्तर आया कि यतना से चलने, खडा होने आदि से पाप-कर्म का बंध नहीं होता तो उसके मन में एक जिज्ञासा हुई—यह लोक छह काय के जीवों से समाकुल है। यतनापूर्वक चलने, खडा होने, बैठने, सोने, भोजन करने और बोलने पर भी जीव-वध संभव है फिर यतनापूर्वक चलने वाले अनगार को पाप-कर्म क्यों नहीं होगा ? शिष्य की इस शंका को अपने ज्ञान से समझ कर गुरु जो उत्तर देते हैं वह इस श्लोक में समाहित है।

इसकी तुलना गीता के (५।७) निम्न श्लोक से होती है :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

इस नौवें श्लोक का भावार्थ यह है :

जिसके मन में यह बात अच्छी तरह जम चुकी है कि जैसा मैं हूँ वैसे ही सब जीव है, जैसे मुझे दुःख अनिष्ट है वैसे ही सब जीवों को अनिष्ट है, जैसे पैर में कांटा चुभने से मुझे वेदना होती है वैसे ही सब जीवों को होती है, उसने जीवों के प्रति सम्यक्-दृष्टि की उपलब्धि कर ली। वह 'सर्वभूतात्मभूत' कहलाता है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ९२ : सुवणा जयणाए सुवेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एवं निद्दामोक्खं करेमाणो आउंटणपसारणाणि पडिलेहिय पमज्जिय करेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं स्वपेत् समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यापरिहारेण।

२—(क) अ० चू० पृ० ९२ : दोसवज्जितं भुंजेज्ज।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एवं दोसवज्जियं भुंजेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं भुञ्जानः—सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षिताविना।

३—(क) अ० चू० पृ० ९२ : जहा 'वक्कसुद्धीए' भणिहिति तहा भासेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १५७ : एवं यतं भाषमाणः— साधुभाषया मृदुकालप्राप्तम्।

४—(क) अ० चू० पृ० ९३ : सव्वभूता सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेसु अप्पभूतस्स जहा अप्पाणं तहा सव्वजीवे पासति, 'जह मम दुक्खं अणिट्ठं एवं सव्वसत्ताणं' ति जाणिऊण ण हिंसति, एवं सम्मं दिट्ठाणि भूताणि भवति तस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : सव्वभूता—सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेसु अप्पभूतो, कहं ? जहा मम दुक्खं अणिट्ठं इह एवं सव्वजीवाणंतिकाउं पीडा णो उप्पायइ, एवं जो सव्वभूएसु अप्पभूतो तेण जीवा सम्मं उवलद्धा भवंति, भणियं च—
"कट्ठेण कंटएण व पादे विद्धस्स वेदणा तस्स।
जा होइ अणेव्वाणी णायव्वा सव्वजीवाणं॥"
(ग) हा० टी० प० १५७ : सर्वभूतेष्वात्मभूतः सर्वभूतात्मभूतो, य आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थः, तस्यैवं सम्यग्—वीतराग़ोक्तेन विधिना भूतानि—पृथिव्यादीनि पश्यतः सतः।

जो ऐसी सहज सम्यक्-दृष्टि के साथ-साथ हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह आदि आस्रवों को प्रत्याख्यान द्वारा रोक देता है अर्थात् जो महाव्रतों को ग्रहण कर नए पाप-संचार को नहीं होने देता वह 'पिहितास्रव' कहलाता है[1]।

जिसने श्रोत्र आदि पाँचो इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष को जीत लिया है, जो क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करता है अथवा उदय मे आ चुकने पर उन्हे विफल करता है, इसी तरह जो अकुशल मन, वचन और काया का निरोध करता है और कुशल मन आदि का उदीरण करता है वह 'दान्त' कहलाता है[2]।

इस श्लोक मे कहा गया है कि जो श्रमण 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से सम्पन्न होता है, संवृत होता है, दमितेन्द्रिय होता है उसके पाप कर्मों का बन्धन नहीं होता।

जिसकी आत्मा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से ओत-प्रोत है तथा जो उपयुक्त सम्यक्-दृष्टि आदि गुणों से युक्त है वह प्राणातिपात करता ही नहीं। उसके हृदय में सहज अहिंसा-वृत्ति होती है अतः वह कभी किसी प्राणी को पीडा उत्पन्न नही करता। इसलिए वह पाप से अलिप्त रहता है।

कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो भी वह पाप से लिप्त नही होता। क्योंकि सर्व प्राणातिपात से मुक्त रहने के लिए वह सर्व प्राणातिपात-विरमण महाव्रत ग्रहण करता है। उसकी रक्षा के लिए अन्य महाव्रत ग्रहण करता है, इन्द्रियों का निग्रह करता है, कषायों को जीतता है तथा मन, वचन और काया का सयम करता है। अहिंसा के सम्पूर्ण पालन के लिए आवश्यक सम्पूर्ण नियमो का जो इस तरह पालन करता है, उससे कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो वह उसका कामी नही कहा जा सकता। अतः वह हिंसा के पाप से लिप्त नही होता।

जलमज्झे जहा नावा, सव्वओ निपरिस्सवा ।
गच्छंति चिट्ठमाणा वा, न जलं परिगिण्हइ ॥
एवं जीवाउले लोगे, साहू संवरियासवो ।
गच्छंतो चिट्ठमाणो वा, पावं नो परिगेण्हइ ॥

जिस प्रकार छेद-रहित नौका मे, भले ही वह जलराशि मे चल रही हो या ठहरी हुई हो, जल प्रवेश नही पाता उसी प्रकार आस्रव-रहित संवृतात्मा श्रमण में, भले ही वह जीवो से परिपूर्ण लोक मे चल रहा हो या ठहरा हुआ हो, पाप प्रवेश नही पाता। जिस प्रकार छेद-रहित नौका जल पर रहते हुए भी डूबती नही और यतना से चलाने पर पार पहुँचती है, वैसे ही इस जीवाकुल लोक में यतनापूर्वक गमनादि करता हुआ संवृतात्मा भिक्षु कर्म-बधन नही करता और ससार-समुद्र को पार करता है[3]।

गीता के उपर्युक्त श्लोक का इसके साथ अद्भुत शब्द-साम्य होने पर भी दोनों की भावना में महान् अन्तर है। गीता का श्लोक अनासक्ति की भावना देकर इसके आधार से महान् सग्राम करते हुए व्यक्ति को भी उसके पाप से अलिप्त कह देता है जबकि

१—(क) अ० चू० पृ० ६३ : पिहितासवस्स—ठइताणि पाणवहादीणि आसवदाराणि जस्स तस्स पिहितासवस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : पिहियाणि पाणिवधादीणि आसवदाराणि जस्स सो पिहियासवदुवारो तस्स पिहियासवदुवारस्स।
(ग) हा० टी० प० १५७ : 'पिहिताश्रवस्य' स्थगितप्राणातिपाताद्याश्रवस्य।

२—(क) अ० चू० पृ० ६३ : दंतस्स—दंतो इंदिएहिं णोइंदिएहि य। इंदियदमो सोइंदियपयारणिरोधो वा सद्दातिरागदोसणिग्गहो वा, एवं सेसेसु वि। णोइंदियदमो कोहोदयणिरोहो वा उदयप्पत्तस्स विफलीकरणं वा, एवं जाव लोभो। तहा अकुसलमणणिरोहो वा कुसलमणउदीरणं वा, एवं वाया काओ य। तस्स इंदिय-णोइंदियदंतस्स पावं कम्मं ण बज्झति, पुव्वबद्धं च तवसा खीयति।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : दंतो दुविहो—इंदिएहिं नोइंदिएहि य, तत्थ इंदियदंतो सोइंदियपयारनिरोहो सोइंदियविसयपत्तेसु य सद्देसु रागदोसविणिग्गहो, एवं जाव फासिंदिय विसयपत्तेसु य फासेसु रागदोसविणिग्गहो, नोइंदियदंतो नाम कोहोदयनिरोहो उदयपत्तस्स य कोहस्स विफलीकरणं एवं जाव लोभोत्ति, एवं अकुसलमणनिरोहो कुसलमणउदीरणं च, एवं वयीवि काएवि भाणियव्वं एवंविहस्स इंदियनोइंदियदंतस्स पावं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च बारसविहेण तवेण सो झिज्जइ।

३—जि० चू० पृ० १५६ : जहा जलमज्झे गच्छमाणा अपरिस्सवा नावा जलकंतार वीईवयइ, न य विणास पावइ, एवं साहूवि जीवाउले लोगे गमणादीणि कुव्वमाणो संवरियासवदुवारत्तणेण संसारजलकंतार वीयीवयइ, संवरियासवदुवारस्स न कुओवि भयमत्थि।

प्रस्तुत श्लोक हिंसा न करते हुए सम्पूर्ण विरत महात्यागी को उसके निमित्त से हुई अशक्यकोटि की जीव-हिंसा के पाप से ही मुक्त घोषित करता है। जो जीव-हिंसा मे रत है, वह भले ही आवश्यकतावश या परवशता से उसमे लगा हो, हिंसा के पाप से मुक्त नही रह सकता। अनासक्ति केवल इतना ही अन्तर ला सकती है कि उसके पाप-कर्मों का बध अधिक गाढ़ नही होता।

श्लोक १० :

१३९. श्लोक १० :

इसकी तुलना गीता के (४।३८)—'नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते' के साथ होती है। पिछले श्लोक में 'दान्त' के पाप कर्म का बंधन नही होता ऐसा कहा गया है। इससे चारित्र की प्रधानता सामने आती है। इस श्लोक मे यह कहा गया है कि चारित्र ज्ञान-पूर्वक होना चाहिए। इस तरह यहाँ ज्ञान की प्रधानता है। जैन धर्म ज्ञान और क्रिया—दोनो के युगपद्भाव से मोक्ष मानता है। इस अध्ययन मे दोनो की सहचारिता पर बल है।

१४०. पहले ज्ञान, फिर दया (पढमं नाणं तओ दया [क]) :

पहले जीवो का ज्ञान होना चाहिए। दया उसके बाद आती है[1]। जीवो का ज्ञान जितना स्वल्प या परिमित होता है, मनुष्य में दया (अहिंसा) की भावना भी उतनी ही सकुचित होती है। अत. पहले जीवो का व्यापक ज्ञान होना चाहिए जिससे कि सब प्रकार के जीवो के प्रति दया-भाव का उद्भव और विकास हो सके और वह सर्वग्राही व्यापक जीवन-सिद्धान्त बन सके। इस अध्ययन मे पहले षड् जीवनिकाय को बताकर बाद मे अहिंसा की चर्चा की है, वह इसी दृष्टि से है। जीवो के व्यापक ज्ञान के बिना व्यापक अहिंसा-धर्म उत्पन्न नही हो सकता।

ज्ञान से जीव-स्वरूप, सरक्षणोपाय और फल का बोध होता है। अतः उसका स्थान प्रथम है। दया सयम है[2]।

१४१. इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं (एवं चिट्ठइ सव्वसंजए [ख]) :

जो सयति हैं—सत्रह प्रकार के सयम को धारण किए हुए है, उनको सब जीवो का ज्ञान भी होता है। जिनका जीव-ज्ञान अपरिशेष नही उनका सयम भी सम्पूर्ण नही हो सकता और बिना सम्पूर्ण सयम के अहिंसा सम्पूर्ण नही होती क्योकि सर्वभूतो के प्रति सयम ही अहिंसा है। यही कारण है कि जीवाजीव के भेद को जानने वाले निर्ग्रन्थ श्रमणो की दया जहाँ सम्पूर्ण है वहाँ जीवाजीव का विशेष भेद-ज्ञान न रखने वाले वादो की दया वैसी विशाल व सर्वग्राही नही। वहाँ दया कही तो मनुष्यो तक रुक गयी है और कहीं थोड़ी आगे जाकर पशु-पक्षियो तक या कीट-पतगो तक। इसका कारण पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवो के ज्ञान का ही अभाव है।

सयति ज्ञानपूर्वक क्रिया करने की प्रतिपत्ति मे स्थित होते है, ज्ञानपूर्वक क्रिया (दया) का पालन करते हैं[3]।

१४२. अज्ञानी क्या करेगा ? (अन्नाणी किं काही [ग]) :

जिसे मालूम ही नहीं कि यह जीव है अथवा अजीव, वह अहिंसा की बात सोचेगा ही कैसे ? उसे भान ही कैसे होगा

१—(क) अ० चू० पृ० ९३ : पढमं जीवाऽजीवाहिगमो, ततो जीवेसु दता।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : पढम ताव जीवाभिगमो भणितो, तओ पच्छा जीवेसु दया।

२—हा० टी० प० १५७ : प्रथमम्—आदौ ज्ञानं—जीवस्वरूपसंरक्षणोपायफलविषय 'ततः' तथाविधज्ञानसमनन्तरं 'दया' संयम-स्तवेकान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्तेः।

३—(क) अ० चू० पृ० ९३: 'एवं चिट्ठति' एवं सद्दो प्रकाराभिधाती, एतेण जीवादिविण्णाणप्पगारेण चिट्ठति अवट्ठाणं करेति।··· सव्वसजते सव्वसद्दो अपरिसेसवादी, सव्वसंजता णाणपुव्वं चरित्तधम्मं पडिवालेंति।

(ख) जि० चू० पृ० १६०-६१ : एव सद्दोऽवधारणे किमवधारयति ? साधूणं चेव संपुण्णा दया जीवाजीवविसेसं जाणमाणाणं, ण उ सक्कादीण जीवाजीवविसेसं अजाणमाणाण सपुण्णा दया भवइत्ति, चिट्ठइ नाम अच्छइ. सव्वसद्दो अपरिसेसवादी··· सव्वसजताण अपरिसेमाणं जीवाजीवादिसु णातेसु सत्तरसविधो संजमो भवइ।

(ग) हा० टी० प० १५७ : 'एवम्' अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण 'तिष्ठति' आस्ते 'सर्वसंयतः' सर्वः प्रव्रजितः।

कि उसे अमुक कार्य नहीं करना है क्योंकि उससे अमुक जीव की घात होती है। अतः जीवों का ज्ञान प्राप्त करना अहिंसावादी की पहली शर्त है। *बिना इस शर्त को पूरा किये कोई सम्पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता।*

जिसके साध्य, उपाय और फल का ज्ञान नहीं, वह क्या करेगा? वह तो अन्धे के तुल्य है। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के निमित्त का अभाव होता है[1]।

१४३. वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप (कि वा नाहिइ छेय पावगं [घ]) :

श्रेय हित को कहते हैं, पाप अहित को। संयम श्रेय है—हितकर है। असंयम—पाप है—अहितकर है। जो अज्ञानी है, जिसे जीवाजीव का ज्ञान नहीं, उसे किसके प्रति सयम करना है, यह भी कैसे ज्ञात होगा? इस प्रकार सयम के स्थान को नहीं जानता हुआ वह श्रेय और पाप को भी नहीं समझेगा।

जिस प्रकार महानगर में दाह लगने पर नयनविहीन अन्धा नहीं जानता कि उसे किस दिशा-भाग से भाग निकलना है, उसी तरह जीवों के विशेष ज्ञान के अभाव में अज्ञानी नहीं जानता कि उसे असंयमरूपी दावानल से कैसे बच निकलना है[2]?

जो यह नहीं जानता कि *यह हितकर है—कालोचित है तथा यह उससे विपरीत है*, उसका कुछ करना नहीं करने के बराबर है। जैसे कि आग लगने पर अन्धे का दौड़ना और घुन का अक्षर लिखना[3]।

श्लोक ११ :

१४४. सुनकर (सोच्चा [क]) :

आगम रचना-काल से लेकर वीर निर्वाण के दसवें शतक से पहले तक जैनागम प्रायः कण्ठस्थ थे। उनका अध्ययन आचार्य के मुख से सुनकर होता था[4]। इसीलिए श्रवण या श्रुति को ज्ञान-प्राप्ति का पहला अग माना गया है। उत्तराध्ययन (३.१) मे चार परमाङ्गों को दुर्लभ कहा है। उनमे दूसरा परमाङ्ग श्रुति है[5]। श्रद्धा और आचरण का स्थान उसके बाद का है। यही क्रम उत्तराध्ययन

१—(क) अ० चू० पृ० ९३ : अण्णाणी जीवो जीवविण्णाणविरहितो सो किं काहिति? किं सद्दो खेववातो, किं विण्णाणं विणा करिस्सति?

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : जो पुण अण्णाणी सो किं काहिई?

(ग) हा० टी० प० १५७ : यः पुनः 'अज्ञानी' साध्योपायफलपरिज्ञानविकलः स किं करिष्यति? सर्वत्रान्धतुल्यत्वात्प्रवृत्ति-निवृत्तिनिमित्ताभावात्।

२—(क) अ० चू० पृ० ९३ : किं वा णाहिति, वा सद्दो समुच्चये, 'णाहिति' जाणिहिति 'छेयं' जं सुगतिगमणलक्खतो चिट्ठति, पावकं तव्विवरीतं। निदरिसणं जहा अंधो महानगरदाहे पलित्तमेव विसमं वा पविसति, एवं छेय पावगमजाणतो संसारमेवाणुपडति।

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : तत्थ छेयं नाम हितं, पावं अहियं, ते य संजमो असजमो य, विट्ठंतो अंधलओ, महानगरदाहे नयणविउत्तो ण याणाति केण दिसाभाएण मए गतव्वति, तहा सोवि अन्नाणी नाणस्स विसेसं अयाणमाणो कहं असंजम-दवाउ णिग्गच्छिहि ति?

३—हा० टी० प० १५७ : 'छेकं' निपुणं हितं कालोचितं 'पापकं वा' अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्र-निमित्ताभावात्, अन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत्।

४—अ० चू० पृ० ९३ : गणहरा तित्थगरातो, सेसो गुरुपरंपरेण सुणेऊणं।

५—उत्त० ३.१ : चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥

के तीसरे[1] और दसवें[2] अध्ययन में प्रतिपादित हुआ है। श्रमण की पर्युपासना के दस फल बतलाए हैं। उनमें पहला फल श्रवण है। इसके बाद ही ज्ञान, विज्ञान आदि का क्रम है[3]।

स्वाध्याय के पाँच प्रकारो में भी श्रुति का स्थान है। स्वाध्याय का पहला प्रकार वाचना है। आजकल हम बहुत कुछ आँखों से देखकर जानते हैं। इसके अर्थ मे वाचन और पठन शब्द का प्रयोग भी होता है। यही कारण है कि हमारा मानस वाचन का वही अर्थ ग्रहण करता है जो आँखो से देखकर जानने का है। पर वाचन व पठन का मूल बोलने में है। इनकी उत्पत्ति 'वचंक् भाषणे' और 'पठ् व्यक्तायां वाचि' धातु से है। इसलिए वाचन और पठन से श्रवण का गहरा सम्बन्ध है। अध्ययन के क्षेत्र में आज जैसे आँखों का प्रमुत्व है वैसे ही आगम-काल में कानो का प्रभुत्व रहा है।

'सुनकर'—इस शब्द की जिनदास ने इस प्रकार व्याख्या की है -सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ—इन तीनो को सुनकर अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सुनकर अथवा जीव-अजीव आदि पदार्थों को सुनकर[4]। हरिभद्र ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—मोक्ष के साधन, तत्त्वों के स्वरूप और कर्म-विपाक के विषय में सुनकर[5]।

१४५. कल्याण को (कल्लाणं [क]) :

जिनदास के अनुसार 'कल्ल' शब्द का अर्थ है 'नीरोगता', जो मोक्ष है। जो नीरोगता प्राप्त कराए वह है कल्याण अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र[6]। हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है—कल्य अर्थात् मोक्ष—उसे जो प्राप्त कराए वह कल्याण अर्थात् दया—सयम[7]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—आरोग्य। जो आरोग्य को प्राप्त कराए वह है कल्याण, अर्थात् ससार से मोक्ष। ससार-मुक्ति का हेतु धर्म है, इसलिए उसे कल्याण कहा गया है[8]।

१—उत्त० ३.८-१० :

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं॥
आहच्च सवणं लद्धु, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई॥
सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए॥

२—उत्त० १०.१८-२० :

अहीणपचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए॥
लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए॥
धम्मं पि हु सद्दहन्तया, दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए॥

३—ठा० ३.४१८ : सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य सजमे।
अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥

४—जि० चू० पृ० १६१ : सोच्चा नाम सुत्तत्थतदुभयाणि सोऊण णाणदंसणचरित्ताणि वा सोऊण जीवाजीवादी पयत्था वा सोऊण।

५—हा० टी० प० १५८ : 'श्रुत्वा' आकर्ण्य संसाधनस्वरूपविपाकम्।

६—जि० चू० पृ० १६१ : कल्लं नाम नीरोगया, सा य मोक्खो, तमणेइ जं तं कल्लाणं, ताणि य णाणाईणि।

७—हा० टी० प० १५८ : कल्यो—मोक्षस्तमणति—प्रापयतीति कल्याण—दयाख्यं संयमस्वरूपम्।

८—अ० चू० पृ० ९३ : कल्लाणं कल्लं—आरोग्गं तं आणेइ कल्लाणं संसारातो विमोक्खणं, सो य धम्मो।

१४६. पाप को (पावगं [ख]) :

जिसके करने से पाप-कर्मों का बन्ध हो उसे पापक—पाप कहते हैं। वह असंयम है[1]।

१४७. कल्याण और पाप (उभयं [ग]) :

'उभय' शब्द का अर्थ हरिभद्र ने—'श्रावकोपयोगी संयमासंयम का स्वरूप' किया है[2]। जिनदास के समय में भी ऐसा मत रहा है[3]। जिनदास ने स्वयं 'कल्याण और पाप' इसी अर्थ को ग्रहण किया है। अगस्त्यसिंह ने 'उभय' का अर्थ किया है—कल्याण और पाप—दोनों को[4]।

श्लोक १२-१३ :

१४८. श्लोक १२-१३ :

जो साधु को नहीं जानता वह असाधु को भी नहीं जानता। जो साधु और असाधु—दोनों को नहीं जानता वह किसकी संगत करनी चाहिए यह कैसे जानेगा ?

जो साधु को जानता है वह असाधु को भी जानता है। जो साधु और असाधु—दोनों को जानता है वह यह भी जानता है कि किसकी सगत करनी चाहिए।

उसी तरह जो सुनकर जीव को नहीं जानता, वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी नही जान पाता। जो दोनों का ज्ञान नही रखता *वह संयम को भी नहीं जान सकता।*

जो सुनकर जीव को जानता है वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी जान लेता है। जो जीव और अजीव—दोनो को जानता है वह सयम को भी जानता है।

संयम दो तरह का होता है—जीव-सयम और अजीव-सयम। किसी जीव को नही मारना—यह जीव-सयम है। मद्य, मांस, स्वर्ण आदि जो संयम के घातक हैं, उनका परिहार करना अजीव-सयम है। जो जीव और अजीव को जानता है वही उनके प्रति संयत हो सकता है[5]। जो जीव-अजीव को नहीं जानता वह सयम को भी नही जानता, वह उनके प्रति सयम भी नही कर सकता। कहा है—

१—(क) अ० चू० पृ० ९३ : पावकं अकल्लाणं।
　(ख) जि० चू० पृ० १६१ : जेण य कएण कम्मं बज्झइ तं पावं सो य असंजमो।
　(ग) हा० टी० प० १५८ : पापकम्—असंयमस्वरूपम्।

२ हा० टी० प० १५८ : 'उभयमपि' संयमासंयमस्वरूपं श्रावकोपयोगि।

३—जि० चू० पृ० १६१ : केइ पुण आयरिया कल्लाणपावयं च देसविरयस्स पावय इच्छंति।

४—अ० चू० पृ० ९३ : उभयं एतदेव कल्लाणं पावगं।

५—(क) अ० चू० पृ० ९४ : 'जो' इति उद्देसवयणं। जीवंतीति 'जीवा' आउप्पाणा धरेंति, ते सरीर-संठाण-संघयण-हिति—पज्जत्तिविसेसादीहिं जो ण जाणाति, 'अज्जीवे वि' रूवरसादिप्पभवपरिणामेहिं 'ण' जाणति। 'सो' एवं जीवा अजीवविसेसे 'अजाणंतो कहं' केण प्रकारेण णाहिति सत्तरसविहं संजमं···णाहिति जाणिहिति सव्वपज्जाएहिं। कहं ? छेवं कूडगं च जाणंतो कूडगपरिहरणेण छेवस्स उपादाणं करेति, जीवगतमुपरोहकतमसंजमं परिहरंतो अज्जीवाण वि मज्ज-मंसादीण परिहरणेण संजमाणुपालणं करेति। जीवे णाऊण वहं परिहरमाणो ण बड्ढयति वेरं, वेरविकारविरहितो पावति निव्वहणं थामं।

　(ख) जि० चू० पृ० १६१-६२ : एत्थ निदरिसणं जो साहुं जाणइ सो तप्पडिपक्खमसाधुमवि जाणइ, एवं जस्स जीवाजीव-परिण्णा अत्थि सो जीवाजीवसंजमं वियाणइ, तत्थ जीवा न हंतव्वा एसो जीवसंजमो भण्णइ, अजीवावि मंसमज्जहिरण्णा-दियव्वा संजमोवघाइया ण घेत्तव्वा एसो अजीवसंजमो, तेण जीवा य अजीवा य परिण्णाया जो तेसु संजमइ।

　(ग) हा० टी० प० १५८ : यो 'जीवानपि' पृथिवीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति 'अजीवानपि' संयमोपघातिनो मद्यहिरण्या-दीन्न जानाति, जीवाजीवानजानन्कथमसौ ज्ञास्यति 'संयमं' ? तद्विषयं, तद्विषयाज्ञानादिति भावः। ततश्च यो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति।

जीवा जस्स परिन्नाया, वेरं तस्स न विज्जइ।
न हु जीवे अयाणंतो, वहं वेरं च जाणइ ॥

अर्थात् जिसने जीवो को अच्छी तरह जान लिया है उसके वैर नही होता। जो जीवो को नही जानता वह वध और वैर को नहीं जानता—नहीं त्याग पाता।

श्लोक १४ :

१४६. श्लोक १४ :

चौदह से पचीस तक के श्लोकों में सुनने से लेकर सिद्धि-प्राप्ति तक का क्रम बड़े सुन्दर ढङ्ग से दिया गया है।

जीव चार गतियो के होते हैं—मनुष्य, नरक, तिर्यञ्च और देव। इन गतियो के बाहर मोक्ष मे सिद्ध जीव हैं। जो सुनकर जीवाजीव को जान लेता है वह उनकी इन गतियो को और उनके अन्तर्भेदो को भी सहज रूप से जान लेता है[1]।

श्लोक १५ :

१५०. श्लोक १५ :

गतियों के ज्ञान के साथ ही प्रश्न उठता है—सब जीव एक ही गति के क्यो नहीं होते ? वे भिन्न-भिन्न गतियो मे क्यो हैं ? मुक्त जीव अतिरिक्त क्यो हैं ? 'कारण के बिना कार्य नही होता', अत: गतिभेद के कारण पुण्य, पाप, बध और मोक्ष को भी जान लेता है। कर्म दो तरह के होते हैं—पुण्य-रूप और पाप-रूप। जब पुण्य-कर्मों का उदय होता है तो अच्छी गति प्राप्त होती है और जब पाप-कर्मों का उदय होता है तो नीच गति प्राप्त होती है। जीव समान होने पर भी पुण्य-पाप कर्मों की विशेषता से नरक, देवादि गतियो की विशेषता होती है। क्योंकि पुण्य-पाप ही बहुविध गतियों के निबन्ध के कारण हैं। जीव कर्म का जो परस्पर बंधन है वह चार गतिरूप ससार मे भ्रमण का कारण है। यह भव-भ्रमण दु:खरूप है। जीव और कर्म का जो ऐकान्तिक वियोग है, वह मोक्ष—शाश्वत सुख का हेतु है। जो जीवो की नरक आदि नाना गतियों और मुक्त जीवो की स्थिति को जान लेता है वह उनके हेतुओ और बन्धन तथा मोक्ष के अन्तर और उनके हेतुओ को भी जान लेता है[2]।

श्लोक १६ :

१५१. श्लोक १६ :

जो भोगे जाते हैं उन शब्दादि विषयों को भोग कहते हैं। सांसारिक भोग किंपाक फल की तरह भोग-काल में मधुर होते हैं परन्तु बाद मे उनका परिणाम सुन्दर नही होता। जब मनुष्य पुण्य, पाप, बध और मोक्ष के स्वरूप को जान लेता है तब वह इन काम-भोगो के

१—(क) अ० चू० पृ० ६४ : जदा जम्मिकाले, जीवा अजीवा भणिता ते जदा दो वि अणेगभेदभिण्णा अवि दो रासी एते इति, विसेसेण जाणति विजाणति, · गतिं णरगादितं अणेगभेदं जाणति, अहवा गतिः— प्राप्तिः तं बहुविहं।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : गतिं बहुविहं नाम एक्केक्का अणेगभेया जाणति, अहवा नारगादिसु गतिसु अणेगाणि तिरयगरादि उवएसेण जाणइ।

(ग) हा० टी० प० १५६ : 'यदा' यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति—विविधं जानाति 'तदा' तस्मिन् काले 'गतिं' नरकगत्यादिरूपां 'बहुविधां' स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां सर्वजीवानां जानाति, यथाऽवस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात्।

२—(क) अ० चू० पृ० ६४ : तेसिमेव जीवाणं आउ-बल-विभव-सुखातिसूतितं पुण्णं च पावं च अट्ठविहकम्मणिगलबंधण—मोक्खमवि।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : बहुविधग्गहणेण नज्जइ जहा समाणे जीवत्ते विणा पुण्णपावविणा कम्मविसेसेण नारगदेवादि-विसेसा भवंति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : पुण्यं च पापं च—बहुविधगतिनिबन्धनं [च] तथा 'बन्धं' जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं 'मोक्षं च' तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति।

वास्तविक स्वरूप को भी जान लेता है और इस तरह मोहाभाव को प्राप्त हो सम्यक् विचार से इन सुखों के समूह को दुःख स्वरूप समझ उनसे विरक्त हो जाता है।

मूल में 'निव्विंदए' शब्द है। इसकी उत्पत्ति दो धातुओं से हो सकती है—निर्विद (निर्+विन्द्)=निश्चयपूर्वक जानना, भलीभाँति विचार करना। निर्+विद्=घृणा करना, विरक्त होना, असारता का अनुभव करना।

सूत्र में दिव्य और मानुषिक—दो तरह के भोगों का ही नाम है। चूर्णिकार द्वय कहते हैं—दिव्य में दैविक और नैरयिक भोगों का समावेश होता है। 'चकार' से तिर्यञ्चयोनिक भोगो का बोध होता है। 'मानुषिक'—मनुष्यो के भोग का द्योतक है। हरिभद्र कहते हैं—वास्तव में भोग दो ही तरह के हैं—दिव्य और मानुषिक। शेष भोग वस्तुतः भोग नही होते[1]।

श्लोक १७ :

१५२. श्लोक १७ :

संयोग दो तरह के होते हैं : बाह्य और आभ्यंतर। संयोग का अर्थ है—ग्रन्थि अथवा सम्बन्ध। स्वर्ण आदि का सयोग बाह्य सयोग है। क्रोध, मान, माया और लोभ का सयोग आभ्यन्तर सयोग है। पहला द्रव्य-सयोग है दूसरा भाव-संयोग। जब मनुष्य दिव्य और मानुषिक भोगों से निवृत्त होता है तब वह बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों व भावो की मूर्च्छा, ग्रंथि और संयोगो को भी छोड़ता है[2]।

श्लोक १८ :

१५३. श्लोक १८ :

जो केश-लुञ्चन करता है और जो इन्द्रियो के विषय का अपनयन करता है, उन्हें जीत लेता है, उसे मुण्ड कहा जाता है[3]। मुण्ड होने का पहला प्रकार शारीरिक है और दूसरा मानसिक। स्थानाङ्ग (१०.९६) में दस प्रकार के मुण्ड बतलाए हैं :—

१—क्रोध-मुण्ड—क्रोध का अपनयन करने वाला।
२—मान-मुण्ड—मान का अपनयन करने वाला।
३—माया-मुण्ड—माया का अपनयन करने वाला।
४—लोभ-मुण्ड—लोभ का अपनयन करने वाला।
५—शिर-मुण्ड—शिर के केशों का लुञ्चन करने वाला।
६—श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्ड—कर्णेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
७—चक्षु इन्द्रिय-मुण्ड—चक्षु इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

१—(क) अ० चू० पृ० ९४, ९५ : भुञ्जंतीति भोगा ते णिविंदति णिच्छितं विदति—विजाणाति, जहा एते बहुकिलेसेहिं उप्पाविया वि किंपागफलोवमा। जे दिव्वा दिवि भवा दिव्वा, मणूसेसु भवा माणुसा। ओरालियसारिस्सेण माणुसाभिधाणेण तिरिया वि भणिया भवंति। अहवा जो दिव्व-माणुसे परिजाणाति तस्स तिरिएसु किं गहणं ? जे य माणुसा इति चकारेण वा भणितमिदं।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : भुंजंतीति भोगा, णिच्छियं विदतीति णिव्विदति विविहमणेगप्पगारं वा विदइ णिव्विदइ, जहा एते किंपागफलसमाणा दुरंता भोगत्ति, ते य णिव्विदमाणो दिव्वा वा णिव्विदइ माणुस्सवा, सीसो आह—किं तेरिच्छा भोगा ण णिव्विदइ ?, आयरिओ आह—दिव्वगहणेण देवनेरइया गहिया, माणुस्सगहणेण माणुसा, चकारेण तिरिक्खजोणिया गहिया।

(ग) हा० टी० प० १५९ . निर्विन्ते—मोहाभावात् सम्यग्विचारयत्यसारदुःखरूपतया 'भोगान्' शब्दादीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति।

२—(क) अ० चू० पृ० ९५ : परिच्चयति 'सब्भितरबाहिरं' अब्भितरो कोहादि बाहिरो सुवण्णादि।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : बाहिरं अब्भंतरं च गंथं, तत्थ बाहिरं सुवण्णादी अब्भंतरं कोहमाणमायालोभाइं।

(ग) हा० टी० प० १५९ : 'संयोगं' संबन्धं द्रव्यतो भावतः 'साभ्यन्तरबाह्यं' क्रोधादिहिरण्यादिसंबन्धमित्यर्थः।

३—अ० चू० पृ० ९५ : 'मुंडे' इन्द्रिय-विसय-केसावणयणेण मुंडो।

८—घ्राण इन्द्रिय-मुण्ड—घ्राण इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
९—रसन इन्द्रिय-मुण्ड—रसन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
१०—स्पर्शन इन्द्रिय-मुण्ड—स्पर्शन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

जब मनुष्य भोगो से निवृत्त हो जाता है तथा बाह्याभ्यन्तर संयोगो का त्याग कर देता है तब उसके गृहवास में रहने की इच्छा भी नहीं रहती। वह द्रव्य और भाव-मुंड हो, घर छोड़, अनगारिता अर्थात् अनगार-वृत्ति को धारण करता है—प्रव्रजित हो जाता है[1]। जिसके अगार—घर नही होता उसे अनगार कहा जाता है। अनगारिता अर्थात् गृह-रहित अवस्था—श्रमणत्व—साधुत्व।

श्लोक १९ :

१५४. श्लोक १९ :

'संवर' का अर्थ है—प्राणातिपात आदि आस्रवो का निरोध। यह दो तरह का है : देश सवर और सर्व संवर। देश सवर का अर्थ है—आस्रवो का एक देश त्याग—आंशिक त्याग। सर्व सवर का अर्थ है—आस्रवो का सर्व त्याग—सम्पूर्ण त्याग। देश सवर से सर्व संवर उत्कृष्ट होता है। जब सर्व भोग, बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि और घर को छोडकर मनुष्य द्रव्य और भाव रूप अनगारिता को ग्रहण करता है तब उसके उत्कृष्ट संवर होता है क्योकि महाव्रतो को ग्रहण कर वह पापास्रवो को सम्पूर्णतः संवृत कर चुका होता है।

जिसके सर्व सवर होता है उसके सम्पूर्ण चारित्र धर्म होता है। सम्पूर्ण चारित्र धर्म मे बढकर कोई दूसरा धर्म नही है। अतः सकल चारित्र का स्वामी अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है—उसका अच्छी तरह आसेवन करता है।

अनगार के जो उत्कृष्ट सवर कहा है वह देश विरति के सवर की अपेक्षा से कहा है और उसके जो अनुत्तर धर्म कहा है वह पर-मतों की अपेक्षा से कहा है[2]।

श्लोक २० :

१५५. श्लोक २० :

जब अनगार उत्कृष्ट सवर और अनुत्तर धर्म का पालन करता है तब उसके फलस्वरूप अबोधि—अज्ञान या मिथ्यात्व रूपी कलुष से सञ्चित कर्म-रज को धुन डालता है—विध्वंस कर डालता है[3]।

१—(क) अ० चू० पृ० ९५ : मुंडो भवित्ताणंपंचावि अणगारियं प्रव्रजति प्रपद्यते अगारं—घरं तं जस्स नत्थि सो अणगारो, तस्स भावो अणगारिता तं पवज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : अणगारियं नाम अगारं—गिहं भण्णइ तं जेसिं नत्थि ते अणगारा, ते य साहुणो, ण उद्देसियादीणि भुंजमाणा अन्नतित्थिया अणगारा भवंति।

(ग) हा० टी० प० १५९ : मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च 'प्रव्रजति' प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं, द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः।

२—(क) अ० चू० पृ० ९५ : संवरं सवरो—पाणातिवातादीण आसवाण निवारण, स एव सवरो उक्कट्ठो धम्मो तं फासे ति। सो य अणुत्तरो, ण ततो अण्णो उत्तरतरो। अथवा संवरेण उक्करिसियं धम्ममणुत्तरं 'फासे' त्ति उक्किट्ठाणंतरं विसेसो उक्किट्ठो, जं णं देसविरती अणुत्तरो कुतित्थियधम्मेहिंतो पहाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १६२-६३ : संवरो नाम पाणवहादीण आसवाणं निरोहो भण्णइ, देससंवराओ सव्वसंवरो उक्किट्ठो, तेण सव्वसंवरेण संपुण्णं चरित्तधम्मं फासेइ, अणुत्तरं नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि, सीसो आह,—णणु जो उक्किट्ठो सो चेव अणुत्तरो ? आयरिओ भणइ—उक्किट्ठगहणं देसविरइपडिसेहणत्थं कयं, अणुत्तरगहणं एसेव एक्को जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो ण परवादिमताणित्ति।

(ग) हा० टी० प० १५९ : 'संवरमुक्किट्ठं' ति प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसंवरं धर्मं—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपं, चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तरं—सम्यगासेवत इत्यर्थः।

३—(क) अ० चू० पृ० ९५ : तदा धुणति कम्मरयं—धुणति विद्धंसयति कम्ममेव रतो कम्मरतो।
'अबोहिकलुसं कडं—अबोहि—अण्णाणं, अबोहिकलुसेण कडं अबोहिणा वा कलुसं कतं।

(ख) हा० टी० प० १५९ : धुनोति—अनेकार्थत्वात्पातयति 'कर्मरजः' कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रजः,…'अबोधिकलुषकृतम्' अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः।

श्लोक २१ :

१५६. श्लोक २१ :

आत्मावरण कर्म-रज ही है। जब अनगार इसको धुन डालता है तब उसकी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट हो जाती है। उसके अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन प्रकट हो जाते हैं, जो सर्वत्रग होते हैं।

सर्वत्रग का अर्थ है—सब स्थानो में जानेवाले—सर्व व्यापी। यहाँ यह ज्ञान और दर्शन का विशेषण है। इसलिए इसका अर्थ है केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन। नैयायिको के मतानुसार आत्मा सर्व व्यापी है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान सर्व व्यापी है। यह सर्व-व्यापकता क्षेत्र की दृष्टि से नही किन्तु विषय की दृष्टि से है। केवल-ज्ञान के द्वारा सब विषय जाने जा सकते हैं इसलिए यह सर्वत्रग कहलाता है[1]।

श्लोक २२ :

१५७. श्लोक २२ :

जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल—ये छह द्रव्य होते हैं उसे 'लोक' कहते हैं। लोक के बाहर जहाँ केवल आकाश है अन्य द्रव्य नही, वह 'अलोक' कहलाता है। जो सर्वत्रग ज्ञान-दर्शन को प्राप्त कर जिन—केवली होता है वह समूचे लोकालोक को देखने-जानने लगता है[2]।

श्लोक २३ :

१५८. श्लोक २३ :

आत्मा स्वभाव से अप्रकम्प होती है। उसमें जो गति, स्पन्दन या कम्पन है वह आत्मा और शरीर के सयोग से उत्पन्न है। इसे योग कहा जाता है। योग अर्थात् मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति। इसका निरोध तद्भव-मोक्षगामी जीव के अन्तकाल में होता है। पहले मन का, फिर वचन का और उसके पश्चात् शरीर का योग निरुद्ध होता है और आत्मा सर्वथा अप्रकम्प बन जाती है। इस अवस्था का नाम है शैलेशी। शैलेश का अर्थ है मेरु। यह अवस्था मेरु की तरह अडोल होती है इसलिए इसका नाम शैलेशी है[3]।

जो लोकालोक को जानने—देखनेवाला जिन—केवली होता है वह अन्तकाल के समय योग का निरोध कर निष्कंप शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। निश्चल अवस्था को प्राप्त होने से अब उसके पुण्य कर्मों का भी बन्ध नही होता।

श्लोक २४ :

१५९. श्लोक २४ :

जिन—केवली के नाम, वेदनीय, गोत्र और आयुष्य ये चार कर्म ही अवशेष होते हैं। ये केवल भवधारण के लिए होते हैं। जब वह सब सम्पूर्ण अयोगी हो शैलेशी अवस्था को धारण करता है तब उसके ये कर्म भी सम्पूर्णतः क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और वह नीरज—कर्म रूपी रज से सम्पूर्ण रहित हो सिद्धि को प्राप्त करता है। सिद्धि लोकान्त क्षेत्र को कहते है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ९५ : सव्वत्थ गच्छती सव्वत्तगं केवलनाणं केवलदंसणं च।
　(ख) जि० चू० पृ० १६३ :
　(ग) हा० टी० प० १५९ : 'सर्वत्रगं ज्ञानम्'—अशेषज्ञेयविषयं 'दर्शनं च' अशेषदृश्यविषयम्।

२—हा० टी० प० १५९ : 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकम् 'अलोकं च' अनन्तं जिनो जानाति केवली, लोकालोकौ च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थः।

३—(क) अ० चू० पृ० ९६ : 'तदा जोगे निरु'भित्ता' भवधारणिज्जकम्मविसारणत्थं सीलस्स ईसति—वसयति सेलेसिं।
　(ख) जि० चू० पृ० १६३ : तदा जोगे निरु'भिऊण सेलेसिं पडिवज्जइ, भवधारणिज्जकम्मक्खयट्ठाए।
　(ग) हा० टी० प० १५९ : उचितसमयेन योगान्निरुद्ध्य मनोयोगादीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते, भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय।

४—(क) अ० चू० पृ० ९६ : ततो सेलेसिप्पभावेण 'तदा कम्म' भवधारणिज्जं कम्मं सेसं खवित्ताण सिद्धि गच्छति नीरतो निक्कम्ममलो।
　(ख) जि० चू० पृ० १६३ : भवधारणिज्जाणि कम्माणि खवेउं सिद्धि गच्छइ, कहं? जेण सो नीरओ, नीरओनाम अवगतरओ नीरओ।
　(ग) हा० टी० प० १५९ : कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि 'सिद्धि गच्छति', लोकान्तक्षेत्ररूपां 'नीरजाः' सकलकर्मरजोविनिर्मुक्तः।

श्लोक २५ :

१६०. श्लोक २५ :

मुक्त होने के पश्चात् आत्मा लोक के मस्तक पर—ऊर्ध्व लोक के छोर पर—जाकर प्रतिष्ठित होती है इसलिए उसे लोकमस्तकस्थ कहा गया है। भगवान् से पूछा गया—मुक्त जीव कहाँ प्रतिहत होते हैं ? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं ? कहाँ शरीर को छोड़ते हैं ? कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ? उत्तर मिला—वे अलोक में प्रतिहत हैं, लोकाग्र में प्रतिष्ठित हैं, यहाँ मनुष्य-लोक में शरीर छोड़ते हैं, और वहाँ—लोकाग्र में जाकर सिद्ध होते हैं—

> कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
> कहिं बोन्दिं चइत्ताणं ? कत्थ गन्तूण सिज्झई ?
> अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
> इहं बोन्दिं चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झई ॥
>
> उत्तराध्ययन ३६.५५,५६

लोक के मस्तक पर पहुँचने के बाद वह सिद्ध आत्मा पुनः जन्म धारण नहीं करती और न लोक में कभी आती है। अतः शाश्वत सिद्ध रूप में वहीं रहती है[1]।

श्लोक २६ :

१६१. सुख का रसिक (सुहसायगस्स [क]) :

सुख-स्वादक के अर्थ इस प्रकार किये गये हैं :

(१) अगस्त्य सिंह के अनुसार जो सुख को चखता है वह सुखस्वादक है[2]।

(२) जिनदास के अनुसार जो सुख की प्रार्थना—कामना करता है वह सुखस्वादक कहलाता है[3]।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो प्राप्त सुख को भोगने में आसक्त होता है उसे सुखस्वादक—सुख का रसिक कहा जाता है[4]।

१६२. सात के लिए आकुल (सायाउलगस्स [ख]) :

साताकुल के अर्थ इस प्रकार मिलते हैं :

(१) अगस्त्यसिंह के अनुसार सुख के लिए आकुल को साताकुल कहते हैं[5]।

(२) जिनदास के अनुसार 'मैं कब सुखी होऊँगा'—ऐसी भावना रखनेवाले को साताकुल कहते हैं[6]।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो भावी सुख के लिए व्याक्षिप्त हो उसे साताकुल कहते हैं[7]।

अगस्त्य चूर्णि में 'सुहासायगस्स' के स्थान में 'सुहसीलगस्स' पाठ उपलब्ध है। सुखशीलक, सुख-स्वादक और साताकुल में आचार्यों ने निम्नलिखित अन्तर बतलाया है .

१—(क) अ० चू० पृ० ९६ : लोगमत्थगे लोगसिरसि ठितो सिद्धो कतत्थो [सासतो] सव्वकाल तहा भवति।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ : सिद्धो भवति सासयोत्ति, जाव य ण परिणेव्वाति ताव अकुच्छियं देवलोगफलं सुकुलुप्पत्तिं च पावतित्ति।
(ग) हा० टी० प० १५९ : त्रैलोक्योपरिवर्त्ती सिद्धो भवति 'शाश्वतः' कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्म इति भावः।

२—अ० चू० पृ० ९६ : 'सुहसातगस्स' तवा सुख स्वादयति चक्खति।

३—जि० चू० पृ० १६३ : सुहं सायतीति सुहसायगो, सायति णाम पत्थयतित्ति, जो समणो होऊण सुहं कामयति सो सुहसायतो भण्णइ।

४—हा० टी० प० १६० : सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः।

५—अ० चू० पृ० ९६ : साताकुलगस्स—तेणेव सुहेण आउलस्स, आउलो—अणेक्कग्गो।

६—जि० चू० पृ० १६३ : सायाउलो णाम तेण सातेण आकुलीकओ, कहं सुहीहोज्जामित्ति ? सायाउलो।

७—हा० टी० प० १६० : 'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

(१) अगस्त्य मुनि के अनुसार जो कभी-कभी सुख का अनुशीलन करता है उसे सुखशीलक कहा जाता है और जिसे सुख का सतत ध्यान रहता है उसे साताकुल कहा जाता है[1]।

(२) जिनदास के अनुसार अप्राप्त सुख की जो प्रार्थना—कामना है वह सुख-स्वादकता है। प्राप्त-सात मे जो प्रतिबंध होता है वह साताकुलता है[2]।

(३) हरिभद्र के अनुसार सुखास्वादकता का सम्बन्ध प्राप्त सुख के साथ है और साताकुल का सम्बन्ध अप्राप्त—भावी सुख के साथ[3]।

आचार्यों में इन शब्दों के अर्थ के विषय में जो मतभेद है, वह स्पष्ट है।

अगस्त्य मुनि के अनुसार सुख और सात एकार्थक हैं। जिनदास के अनुसार सुख का अर्थ है—अप्राप्त भोग और सात का अर्थ है—प्राप्त भोग। हरिभद्र का अर्थ ठीक इसके विपरीत है : प्राप्त सुख सुख है और अप्राप्त सुख सात।

१६३. अकाल में सोने वाला (निगामसाइस्स [ख]) :

जिनदास ने निकामशायी को 'प्रकामशायी' का पर्यायवाची माना है[4]। हरिभद्र के अनुसार सूत्र में जो सोने की वेला बताई गई है उसे उल्लघन कर सोनेवाला निकामशायी है[5]। भावार्थ है—अतिशय सोनेवाला—अत्यन्त निद्राशील। अगस्त्यसिंह के अनुसार कोमल बिस्तर बिछाकर सोने की इच्छा रखने वाला निकामशायी है[6]।

१६४. हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला (उच्छोलणापहोइस्स [ग]) :

थोड़े जल से हाथ, पैर आदि को धोने वाला 'उत्सोलनाप्रधावी' नही होता। जो प्रभूत जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ, पैर आदि को धोता है वह 'उत्सोलनाप्रधावी' कहलाता है। जिनदास ने विकल्प से—प्रभूत जल से भाजनादि का धोना—अर्थ भी किया है[7]।

श्लोक २७ :

१६५. ऋजुमतो (उज्जुमइ [ख]) :

जिसकी मति ऋजु—सरल हो उसे ऋजुमती कहते हैं अथवा जिसकी बुद्धि मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्त हो वह ऋजुमती कहलाता है[8]।

१—अ० चू० पृ० ६६ : जवा सुहसीलगस्स तवा साताकुलएण विसेसो – एगो सुहं कयाति अणुसीलेति, साताकुलो पुण सवा तवभिज्झाणो।

२—जि० चू० पृ० १६३ : सीसो आह—सुहसायगसायाउलाण को पतिविसेसो ? आयरिओ आह—सुहसायगहणेण अप्पत्तस्स सुहस्स जा पत्थणा सा गहिया, सायाउलग्गहणेण पत्ते य साते जो पडिबंधो तस्स गहण कयं।

३—हा० टी० प० १६० : सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः ……'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

४—जि० चू० पृ० १६४ : निगामं नाम पगामं भण्णइ, निगामं सुयतीति निगामसायी।

५—हा० टी० प० १६० : 'निकामशायिनः' सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य।

६—अ० चू० पृ० ६६ : निकामसाइस्स सुपच्छण्णे मउए सुइतुं सीलमस्स निकामसाती।

७—(क) अ० चू० पृ० ६६ : उच्छोलणापहोती पभूतेण अजयणाए धोवति।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : उच्छोलणापहावी णाम जो पभूओदगेण हत्थपायावी अभिक्खणं पक्खालयइ, थोवेण कुक्कुचियसं कुव्वमाणो (ण) उच्छोलणापहोवी लब्भइ, अहवा भायणाणि पभूतेण पाणिएण पक्खालयमाणो उच्छोलणापहोवी।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'उत्सोलनाप्रधाविनः' उत्सोलनया—उदकायतनया प्रकर्षेण धावति—पादादिशुद्धिं करोति यः स तथा तस्य।

८—(क) अ० चू० पृ० ६७ : उज्जुया मती उज्जुमती—अमाती।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ · अज्जवा मती जस्स सो उज्जुमती।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'ऋजुमतेः' मार्गप्रवृत्तबुद्धेः।

१६६. परीषहों को (परीसहे [ग]) :

क्षुधा, प्यास आदि बाईस प्रकार के कष्टो को[1]। इसकी व्याख्या के लिए देखिए अ० ३ : टिप्पणी नं० ५७ पृ० १०३।

१६७.

कई आदर्शों में २७ वे श्लोक के पश्चात् यह श्लोक है। दोनो चूर्णियो और टीका में इसकी व्याख्या नहीं है। इसलिए यह बाद में प्रक्षिप्त हुआ जान पड़ता है।

श्लोक २८ :

१६८. सम्यग्-दृष्टि (सम्मदिट्ठी [ख]) :

जिसे जीव आदि तत्त्वो में श्रद्धा है वह[2]।

१६९ कर्मणा (कम्मुणा [घ]) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका अर्थ है—मन, वचन और काया की क्रिया। ऐसा काम जिससे षट्-जीवनिकाय जीवो की किसी प्रकार की हिंसा हो[3]।

१७०. विराधना (विराहेज्जासि [घ]) :

विराधना का अर्थ है—दुःख पहुँचाने से लेकर प्राण-हरण तक की क्रिया[4]। अप्रमत्त साधु के द्वारा भी जीवों की कथञ्चित् द्रव्य विराधना हो जाती है, पर यह अविराधना ही है।

१—(क) अ० चू० पृ० ९७ : परीसहे बावीस जिणंतस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : परीसहा—दिगिंछादि बावीसं ते अहियासतस्स।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'परीषहान्' क्षुत्पिपासादीन्।

२—हा० टी० प० १६० : 'सम्यग्दृष्टिः' जीवस्तत्त्वश्रद्धावान्।

३—(क) अ० चू० पृ० ९७ : कम्मुणा छज्जीवणियजीवोवरोहकारकेण।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : कम्मुणा णाम जहोवएसो भण्णइ त छज्जीवणिय जहोवदिट्ठं तेण णो विराहेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'कर्मणा'—मनोवाक्कायक्रियया।

४—(क) अ० चू० पृ० ९७ : ण विराहेज्जासि मज्झिमपुरिसेण ववदेसो एवं सोम्म ! ण विराणीया छक्काओ।

(ख) हा० टी० प० १६० : 'न विराधयेत्' न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति तथाऽप्याबविराधनैवेत्यर्थः।

पंचमं अज्झयणं

पिंडेसणा

(पढमोद्देसो)

पंचम अध्ययन

पिण्डैषणा

(प्रथम उद्देशक)

आमुख

नाम चार प्रकार के होते हैं—गौण, सामयिक, उभयज और अनुभयज[1]। गुण, क्रिया और सम्बन्ध के योग से जो नाम बनता है वह गौण कहलाता है। सामयिक नाम वह होता है जो अन्वर्थ न हो, केवल समय या सिद्धान्त में ही उसका प्रयोग हुआ हो। जैन-समय मे भात को प्राभृतिका कहा जाता है, यह सामयिक नाम है। 'रजोहरण' शब्द अन्वर्थ भी है और सामयिक भी। रज को हरने वाला 'रजोहरण' यह अन्वर्थ है। सामयिक-संज्ञा के अनुसार वह कर्म-रूपी रजों को हरने का साधन है इसलिए वह उभयज है।

पिण्ड शब्द 'पिडि संघाते' धातु से बना है। सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के एकत्रित होने को पिण्ड कहा जाता है। यह अन्वर्थ है इसलिए गौण है। सामयिक परिभाषा के अनुसार तरल वस्तु को भी पिण्ड कहा जाता है। आचाराङ्ग के सातवें उद्देशक में पानी की एषणा के लिए भी 'पिण्डैषणा' का प्रयोग किया है। पानी के लिए प्रयुक्त होने वाला 'पिण्ड' शब्द अन्वर्थ नहीं है इसलिए यह सामयिक है। जैन-समय की परिभाषा में यह अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन सभी के लिए प्रयुक्त होता है[2]।

एषणा शब्द गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का संक्षिप्त रूप है।

इस अध्ययन मे पिण्ड की गवेषणा—शुद्धाशुद्ध होने, ग्रहण (लेने) और परिभोग (खाने) की एषणा का वर्णन है इसलिए इसका नाम है 'पिण्डैषणा'।

आयारचूला के पहले अध्ययन का इसके साथ बहुत बड़ा साम्य है। वह इसका विस्तार है या यह उसका संक्षेप यह निश्चय करना सहज नहीं है। ये दोनों अध्ययन 'पूर्व' से उद्धृत किए गए है।

भिक्षा तीन प्रकार की बतलाई गई है—दीन-वृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्व-संपत्करी[3]।

अनाथ और अपङ्ग व्यक्ति मांग कर खाते हैं, वह दीन-वृत्ति भिक्षा है। श्रम करने में समर्थ व्यक्ति मांग कर खाते हैं, वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। सयमी माधुकरी वृत्ति द्वारा सहज सिद्ध आहार लेते हैं, वह सर्व-संपत्करी भिक्षा है।

दीन-वृत्ति का हेतु असमर्थता, पौरुषघ्नी का हेतु निष्कर्मण्यता और सर्व-संपत्करी का हेतु अहिंसा है।

भगवान् ने कहा मुनि की भिक्षा नवकोटि-परिशुद्ध होनी चाहिए—वह भोजन के लिए जीव-वध न करे, न करवाए और न करने वाले का अनुमोदन करे; न मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे; तथा न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे[4]।

इस अध्ययन में सर्व-संपत्करी-भिक्षा के विधि-निषेधों का वर्णन है।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन 'कर्म प्रवाद' नामक आठवें 'पूर्व' से उद्धृत किया गया है[5]।

१—पि० नि० गा० ६ : गोण्णं समयकयं वा, जं वावि हवेज्ज तदुभएण कयं ।
तं बिंति नामपिंडं, ठवणापिंडं अओ वोच्छं ॥

२—पि० नि० गा० ६ ।

३—अ० प्र० ५.१ : सर्वसम्पत्करी चैका, पौरुषघ्नी तथापरा ।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ।

४—ठा० ९.३० : समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे पं० तं—ण हणइ, ण हणावइ, हणंतं णाणुजाणइ, ण पयइ, ण पयावेति, पयंतं णाणुजाणति, ण किणति, ण किणावेति, किणंतं णाणुजाणति ।

५—दस० नि० १.१६ : कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ।

निर्दोष भिक्षा

भिक्षु को जो कुछ मिलता है वह भिक्षा द्वारा मिलता है इसलिए कहा गया है—"सव्वं से जाइयं होई णत्थि किंचि अजाइयं" (उत्त० २.२८) भिक्षु को सब कुछ मांगा हुआ मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता। मांगना परीषह—कष्ट है (देखिए उत्त० २ का भाग)

दूसरों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं होता—"पाणी नो सुप्पसारए" (उत्त०२.२९)। किन्तु अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भिक्षु को वैसा करना होता है। भिक्षा जितनी कठोर चर्या है उससे भी कहीं कठोर चर्या है उसके दोषों को टालना। उसके बयालीस दोष हैं। उनमें उद्गम और उत्पादन के सोलह-सोलह और एषणा के दस—सब मिलकर बयालीस होते हैं और पांच दोष परिभोगैषणा के हैं—

> "गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य।
> आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
> उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
> परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥" (उत्त० २४. ११, १२)

(क) गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष 'उद्गम' के दोष कहलाते हैं। ये आहार की उत्पत्ति के दोष हैं। ये इस प्रकार हैं —

१	आहाकम्म	—	आधाकर्म
२	उद्देसिय	—	औद्देशिक
३	पूइकम्म	—	पूतिकर्म
४.	मीसजाय	—	मिश्रजात
५.	ठवणा	—	स्थापना
६.	पाहुडिया	—	प्राभृतिका
७.	पाओयर	—	प्रादुष्करण
८.	कीय	—	क्रीत
९.	पामिच्च	—	प्रामित्य
१०.	परियट्टि	—	परिवर्त
११.	अभिहड	—	अभिहृत
१२	उब्भिन्न	—	उद्भिन्न
१३.	मालोहड	—	मालापहृत
१४.	अच्छिज्ज	—	आच्छेद्य
१५.	अणिसिट्ठ	—	अनिसृष्ट
१६.	अज्झोयरय	—	अध्यवतरक

(ख) साधु के द्वारा लगने वाले दोष उत्पादन के दोष कहलाते हैं। ये आहार की याचना के दोष हैं—

१.	धाई	—	धात्री
२.	दूई	—	दूती
३.	निमित्त	—	निमित्त
४.	आजीव	—	आजीव
५.	वणीमग	—	वनीपक
६.	तिगिच्छा	—	चिकित्सा
७.	कोह	—	क्रोध
८.	माण	—	मान
९.	माया	—	माया
१०.	लोह	—	लोभ
११.	पुव्वि-पच्छा-संथव	—	पूर्व-पश्चात्-संस्तव

१२.	विज्जा	—	विद्या
१३.	मंत	—	मन्त्र
१४.	चुण्ण	—	चूर्ण
१५	जोग	—	योग
१६.	मूलकम्म	—	मूलकर्म

(ग) साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा लगने वाले दोष 'एषणा' के दोष कहलाते हैं। ये आहार विधिपूर्वक न लेने-देने और शुद्धाशुद्ध की छानबीन न करने से पैदा होते हैं। वे ये हैं—

१.	संकिय	—	शङ्कित
२.	मक्खिय	—	म्रक्षित
३.	निक्खित्त	—	निक्षिप्त
४	पिहिय	—	पिहित
५.	साहरिय	—	संहृत
६.	दायग	—	दायक
७.	उम्मिस्स	—	उन्मिश्र
८.	अपरिणय	—	अपरिणत
९.	लित्त	—	लिप्त
१०.	छड्डिय	—	छर्दित

भोजन सम्बन्धी दोष पांच हैं। ये भोजन की सराहना व निन्दा आदि करने से उत्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अङ्गार, (२) धूम, (३) संयोजन, (४) प्रमाणातिरेक और (५) कारणातिक्रांत।

ये सैंतालिस दोष आगम साहित्य में एकत्र कहीं भी वर्णित नहीं हैं किन्तु प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं। श्री जयाचार्य ने उनका अपुनरुक्त संकलन किया है।

आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतर, पूति-कर्म, क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत ये स्थानाङ्ग (९.६२) में बतलाए गए हैं। धात्री-पिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्त-पिण्ड, आजीव-पिण्ड, वनीपकपिण्ड, चिकित्सा-पिण्ड, कोप-पिण्ड, मान-पिण्ड, माया-पिण्ड, लोभ-पिण्ड, विद्या-पिण्ड, मन्त्र-पिण्ड, चूर्ण-पिण्ड, योग-पिण्ड और पूर्व-पश्चात्-संस्तव—ये निशीथ (उद्दे० १२) में बतलाए गए हैं। परिवर्त का उल्लेख आयारचूला (१ २१) में मिलता है। अङ्गार, धूम, संयोजना, प्राभृतिका—ये भगवती (७ १) में मिलते हैं। मूलकर्म प्रश्नव्याकरण (संवर १.१५) में है। उद्भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित—ये दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन मे मिलते हैं। कारणातिक्रान्त उत्तराध्ययन (२६.३२) और प्रमाणातिरेक भगवती (७.१) में मिलते हैं। हमने टिप्पणियों में यथास्थान इनका निर्देश किया है।

पंचमं अज्झयणं : पञ्चम अध्ययन

पिंडेसणा : पिण्डैषणा

पढमो उद्देसो : प्रथम उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[1]संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण भत्तपाणं गवेसए ॥	सप्राप्ते भिक्षाकाले, असम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितः । अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ॥१॥	१—भिक्षा का काल प्राप्त होने पर[2] मुनि असम्भ्रांत[3] और अमूर्च्छित[4] रहता हुआ इस—आगे कहे जाने वाले, क्रम-योग से भक्त-पान की[5] गवेषणा करे ।
२—[6]से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी । चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥	स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः । चरेन्मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥२॥	२—गाँव या नगर मे गोचराग्र के लिए निकला हुआ[7] वह[8] मुनि[9] धीमे-धीमे,[10] अनुद्विग्न[11] और अव्याक्षिप्त चित्त से[12] चले ।
३—[13]पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीयहरियाइं पाणे य दगमट्टियं ॥	पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् । वर्जयन् बीजहरितानि प्राणांश्च दक-मृत्तिकाम् ॥३॥	३—आगे[14] युग-प्रमाण भूमि को[15] देखता हुआ और बीज, हरियाली,[16] प्राणी,[17] जल तथा सजीव-मिट्टी को[18] टालता हुआ चले ।
४—[19]ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए । संकमेण न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे[25] ॥	अवपात विषम स्थाणु, 'विज्जल' परिवर्जयेत् । संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमे ॥४॥	४—दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे[20], ऊबड़ खाबड़[21] भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल[22] और पंकिल मार्ग को[23] टाले तथा संक्रम (जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण-रचित पुल) के ऊपर से[24] न जाये ।
५—[26]पवडते व से तत्थ पक्खलंते व संजए । हिंसेज्ज पाणभूयाइं तसे अदुव थावरे ॥	प्रपतन् वा स तत्र, प्रस्खलन् वा सयत । हिंस्यात् प्राणभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥५॥	५-६—वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह संयमी प्राणी-भूतों —त्रस अथवा स्थावर जीवो की हिंसा करता है, इसलिए सुसमाहित संयमी दूसरे मार्ग के होते हुए[27] उस मार्ग से न जाये । यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतनापूर्वक जाये[28] ।
६—तम्हा तेण न गच्छेज्जा संजए सुसमाहिए । सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे[29] ॥	तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः । सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥६॥	

७—[३१]इंगालं छारियं रासिं
तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं
संजओ तं न अक्कमे ॥

अङ्गारं क्षारिकं राशिं,
तुषराशिं च गोमयम् ।
ससरक्षाभ्यां पादाभ्याम्,
संयतस्तं नाक्रामेत् ॥७॥

७—संयमी मुनि सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से[३१] कोयले[३२], राख, भूसे और गोबर के ढेर के[३३] ऊपर होकर न जाये ।

८—[३४]न चरेज्ज वासे वासंते
महियाए व पडंतीए ।
महावाए व वायंते
तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥

न चरेद्वर्षे वर्षति
महिकायां वा पतन्त्याम् ।
महावाते वा वाति,
तिर्यक्संपातेषु वा ॥८॥

८—वर्षा बरस रही हो,[३५] कुहरा गिर रहा हो,[३६] महावात चल रहा हो[३७] और मार्ग में तिर्यक् सपातिम जीव छा रहे हो[३८] तो भिक्षा के लिए न जाये ।

९—[३९]न चरेज्ज वेससामंते
बंभचेरवसाणुए ।
बंभयारिस्स दंतस्स
होज्जा तत्थ विसोत्तिया ॥

न चरेद् वेशसामन्ते,
ब्रह्मचर्यवशानुगः ।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य,
भवेत्तत्र विस्रोतसिका ॥९॥

९—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि[४०] वेश्या-बाडे के समीप[४१] न जाये । वहाँ दमितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका[४२] हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है ।

१०—अणायणे चरंतस्स
संसग्गीए अभिक्खणं ।
होज्ज वयाणं पीला
सामण्णम्मि य संसओ ॥

अनायतने चरतः,
संसर्गेणाऽभीक्ष्णम् ।
भवेद् व्रतानां पीडा,
श्रामण्ये च संशयः ॥१०॥

१०—अस्थान में[४३] बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के कारण[४४] व्रतो की पीडा (विनाश)[४५] और श्रामण्य मे सन्देह हो सकता है[४६] ।

११—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंतं
मुणी एगंतमस्सिए ॥

तस्मादेतद् विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
वर्जयेद्वेशसामन्तं,
मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥११॥

११—इसलिए इसे दुर्गति बढाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्ष-मार्ग)[४७] का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-बाड़े के समीप न जाये ।

१२—[४८]साणं सूइयं गाविं
दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं
दूरओ परिवज्जए ॥

श्वानं सूतिकां गां,
दृप्तं गां हयं गजम् ।
'संडिब्भं' कलहं युद्धं,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥१२॥

१२—श्वान, ब्याई हुई गाय,[४९] उन्मत्त बैल, अश्व और हाथी, बच्चों के क्रीड़ा-स्थल,[५०] कलह[५१] और युद्ध (के स्थान) को[५२] दूर से टाल कर जाये[५३] ।

१३—[५४]अणुन्नए नावणए
अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाणि जहाभागं
दमइत्ता मुणी चरे ॥

अनुन्नतो नावनतः,
अप्रहृष्टोऽनाकुलः ।
इन्द्रियाणि यथाभागं,
दमयित्वा मुनिश्चरेत् ॥१३॥

१३—मुनि न ऊंचा मुंह कर[५५], न झुक कर[५६], न हृष्ट होकर[५७], न आकुल होकर[५८], (किन्तु) इन्द्रियों को अपने-अपने विषय के अनुसार[५९] दमन कर चले[६०] ।

१४—[61]दवदवस्स न गच्छेज्जा
भासमाणो य गोयरे ।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा
कुलं उच्चावयं सया ॥

द्रवं द्रवं न गच्छेत्,
भाषमाणश्च गोचरे ।
हसन् नाभिगच्छेत्,
कुलमुच्चावचं सदा ॥१४॥

१४—उच्च-नीच कुल में[62] गोचरी गया हुआ मुनि दौड़ता हुआ न चले,[63] बोलता और हँसता हुआ न चले ।

१५—[64]आलोयं थिग्गलं दारं
संधिं दगभवणाणि य ।
चरंतो न विणिज्झाए
संकट्ठाणं विवज्जए ॥

आलोकं 'थिग्गलं' द्वारं,
सन्धिं दकभवनानि च ।
चरन् न विनिध्यायेत्,
शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥१५॥

१५—मुनि चलते समय आलोक,[65] थिग्गल,[66] द्वार, संधि[67] तथा पानी-घर को[68] न देखे । शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से[69] बचता रहे ।

१६—[70]रन्नो गिहवईणं च
रहस्सारक्खियाण[72] य ।
संकिलेसकरं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥

राज्ञो गृहपतीनां च,
रहस्यारक्षिकाणाञ्च ।
संक्लेशकरं स्थानं,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥१६॥

१६—राजा, गृहपति,[71] अन्तःपुर और आरक्षिकों के उस स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन करे, जहां जाने से उन्हें संक्लेश उत्पन्न हो ।[73]

१७—[74]पडिकुट्ठकुलं न पविसे
मामगं परिवज्जए ।
अचियत्तकुलं न पविसे
चियत्तं पविसे कुलं ॥

प्रतिक्रुष्ट-कुलं न प्रविशेत्,
मामकं परिवर्जयेत् ।
'अचियत्त'-कुलं न प्रविशेत्,
'चियत्त' प्रविशेत् कुलम् ॥१७॥

१७—मुनि निंदित कुल में[75] प्रवेश न करे । मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का[76] परिवर्जन करे । अप्रीतिकर कुल में[77] प्रवेश न करे । प्रीतिकर[78] कुल में प्रवेश करे ।

१८—[79]साणीपावारपिहियं
अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं नो पणोल्लेज्जा
ओग्गहं से अजाइया ॥

शाणी-प्रावार-पिहितं,
आत्मना नापवृणुयात् ।
कपाटं न प्रणोदयेत्,
अवग्रहं तस्य अयाचित्वा ॥१८॥

१८—मुनि गृहपति की आज्ञा लिए बिना[80] सन[81] और मृग-रोम के बने वस्त्र से[82] ढँका द्वार स्वयं न खोले,[83] किवाड़ न खोले[84] ।

१९—[85]गोयरग्गपविट्ठो उ
वच्चमुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुयं नच्चा
अणुन्नविय वोसिरे ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु,
वर्चोमूत्रं न धारयेत् ।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा,
अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥१९॥

१९—गोचराग्र के लिए उद्यत मुनि मल-मूत्र की बाधा को न रखे[86] । (गोचरी करते समय मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो) प्रासुक-स्थान[87] देख, उसके स्वामी की अनुमति लेकर वहां मल-मूत्र का उत्सर्ग करे ।

२०—[88]नीयदुवारं तमसं
कोट्ठगं परिवज्जए ।
अचक्खुविसओ जत्थ
पाणा दुप्पडिलेहगा ॥

नीचद्वारं तमो(मयं),
कोष्ठकं परिवर्जयेत् ।
अचक्षुर्विषयो यत्र,
प्राणाः दुष्प्रतिलेख्यकाः ॥२०॥

२०—जहां चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न-द्वार वाले[89] तमपूर्ण कोष्ठक का परिवर्जन करे ।

२१—[९०]जत्थ पुप्फाइ बीयाइं
विप्पइण्णाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं
दट्ठूणं परिवज्जए॥

यत्र पुष्पाणि बीजानि,
विप्रकीर्णानि कोष्ठके।
अधुनोपलिप्तमार्द्रं,
दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥२१॥

२१—जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक द्वार पर पुष्प, बीजादि बिखरे हों वहाँ मुनि न जाये। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला[९१] देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे।

२२—[९३]एलगं दारगं साणं
वच्छगं वावि कोट्ठए।
उल्लंघिया न पविसे
विऊहित्ताण व संजए॥

एडकं दारकं श्वानं,
वत्सकं वाऽपि कोष्ठके।
उल्लंघ्य न प्रविशेत्,
व्यूह्य वा संयतः ॥२२॥

२२—मुनि भेड,[९३] बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लांघकर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे[९४]।

२३—[९५]असंसत्तं पलोएज्जा
नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए
नियट्टेज्ज अयंपिरो॥

असंसक्तं प्रलोकेत,
नातिदूरमवलोकेत।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्,
निवर्तेताऽजल्पिता ॥२३॥

२३—मुनि अनासक्त दृष्टि से देखे[९६]। अति दूर न देखे[९७]। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे[९८]। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाये[९९]।

२४—[१००]अइभूमिं न गच्छेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता
मियं भूमिं परक्कमे॥

अतिभूमिं न गच्छेत्,
गोचराग्रगतो मुनिः।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा,
मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥२४॥

२४—गोचराग्र के लिए घर में प्रविष्ट मुनि अति-भूमि (अननुज्ञात) में न जाये[१०१] कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर[१०२] मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे[१०३]।

२५—[१०४]तत्थेव पडिलेहेज्जा
भूमिभागं वियक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स
संलोगं परिवज्जए॥

तत्रैव प्रतिलिखेत्,
भूमि-भागं विचक्षणः।
स्नानस्य च वर्चसः,
संलोकं परिवर्जयेत् ॥२५॥

२५—विचक्षण मुनि[१०५] मित-भूमि में ही[१०६] उचित भू-भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान[१०७] दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का[१०८] परिवर्जन करे।

२६—[१०९]दगमट्टियआयाणं
बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा
सव्विंदियसमाहिए॥

दकमृत्तिकाऽऽदानं,
बीजानि हरितानि च।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत्,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥२६॥

२६—सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि[११०] उदक और मिट्टी[१११] लाने के मार्ग[११२] तथा बीज और हरियाली[११३] को वर्जकर खड़ा रहे।

२७—[११४]तत्थ से चिट्ठमाणस्स
आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं[११५]॥

तत्र तस्य तिष्ठतः,
आहरेत् पान-भोजनम्।
अकल्पिकं न इच्छेत्,
प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥२७॥

२७—वहाँ खड़े हुए उस मुनि के लिए कोई पान-भोजन लाए तो वह अकल्पिक न ले। कल्पिक ग्रहण करे।

२८—[116]आहरंती सिया तत्थ
परिसाडेज्ज भोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

आहरन्ती स्यात् तत्र,
परिशाटयेद् भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥२८॥

२८—यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुई[117] स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

२९—सम्मद्दमाणी पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा
तारिसं परिवज्जए ॥

सम्मर्दयन्ती प्राणान्,
बीजानि हरितानि च ।
असंयमकरीं ज्ञात्वा,
तादृशं परिवर्जयेत् ॥२९॥

२९—प्राणी, बीज और[118] हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असंयमकरी होती है—यह जान[119] मुनि उसके पास से भक्त-पान[120] न ले ।

३०—साहट्टु निक्खिवित्ताणं
सच्चित्तं घट्टियाण य ।
तहेव समणट्ठाए
उदगं संपणोल्लिया ॥

संहृत्य निक्षिप्य,
सचित्तं घट्टयित्वा च ।
तथैव श्रमणार्थं,
उदकं संप्रणुद्य ॥३०॥

३१—आगाहइत्ता चलइत्ता
आहरे पाणभोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ।

अवगाह्य चालयित्वा
आहरेत्पान-भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥३१॥

३०-३१—एक बर्तन में से दूसरे बर्तन मे निकाल कर[121], सचित्त वस्तु पर रखकर, सचित्त को हिलाकर, इसी तरह पात्रस्थ सचित्त जल को हिलाकर, जल में अवगाहन कर, आगन मे ढुले हुए जल को चालित कर श्रमण के लिये आहार-पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता[122] ।

३२—पुरेकम्मेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

पुरःकर्मणा हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥३२॥

३२—पुराकर्म-कृत[123] हाथ, कड़छी और बर्तन से[124] भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

३३—[125]एवं उदओल्ले ससिणिद्धे
ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।
हरियाले हिंगुलए
मणोसिला अंजणे लोणे ॥

एवं उदकार्द्रः सस्निग्धः,
ससरक्षो मृत्तिका ऊषः ।
हरितालं हिंगुलकं,
मनःशिला अञ्जनं लवणम् ॥३३॥

३४—गेरुय वण्णिय सेडिय
सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुसकए य ।
उक्कट्ठमसंसट्ठे
संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥

गैरिकं वर्णिका सेटिका,
सौराष्ट्रिका पिष्ट कुक्कुसकृतश्च ।
उत्कृष्टमसंसृष्टः,
संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः ॥३४॥

३३-३४—इसी प्रकार जल से आर्द्र, सस्निग्ध,[126] सचित्त रज-कण,[127] मृत्तिका,[128] क्षार,[129] हरिताल, हिंगुल, मैनशिल, अञ्जन, नमक, गैरिक,[130] वर्णिका,[131] श्वेतिका,[132] सौराष्ट्रिका,[133] तत्काल पीसे हुए आटे[134] या कच्चे चावलों के आटे, अनाज के भूसे या छिलके[135] और फल के सूक्ष्म खण्ड[136] से सने हुए (हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिये[137] ।

३५—असंसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
पच्छाकम्मं जहिं भवे ।

असंसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत्,
पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥३५॥

३५—जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसङ्ग हो[138] वहाँ असंसृष्ट[139] (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले ।

३६—संसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥

संसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्,
यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३६॥

३६—संसृष्ट[139] (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहाँ एषणीय हो, मुनि ले ले ।

३७—[140]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
छंदं से पडिलेहए ॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
एकस्तत्र निमन्त्रयेत् ।
दीयमानं न इच्छेत्,
छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥३७॥

३७—दो स्वामी या भोक्ता हो[141] और एक निमन्त्रित करे तो मुनि वह दिया जाने वाला आहार न ले । दूसरे के अभिप्राय को देखे[142]—उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले ।

३८—[143]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
दोवि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे ॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
द्वावपि तत्र निमन्त्रयेयाताम् ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्,
यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३८॥

३८—दो स्वामी या भोक्ता हों और दोनों ही निमन्त्रित करें तो मुनि उस दीयमान आहार को, यदि वह एषणीय हो तो, ले ले ।

३९—गुव्विणीए उवन्नत्थं
विविहं पाणभोयणं ।
भुज्जमाणं विवज्जेज्जा
भुत्तसेसं पडिच्छए ॥

गुर्विण्या उपन्यस्तं,
विविधं पान-भोजनम् ।
भुज्यमानं विवर्जयेत्,
भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥३९॥

३९—गर्भवती स्त्री के लिए बना हुआ विविध प्रकार का भक्त-पान वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे,[144] खाने के बाद बचा हो वह ले ले ।

४०—सिया य समणट्ठाए
गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिया वा निसीएज्जा
निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥

स्याच्च श्रमणार्थं,
गुर्विणी कालमासिनी ।
उत्थिता वा निषीदेत्,
निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥४०॥

४१—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[146] ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४१॥

४०-४१—काल-मासवती[145] गर्भिणी खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य होता है । इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४२—थणगं पिज्जेमाणी
दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं
आहरे पाणभोयणं ॥

स्तनकं पाययन्ती,
दारकं वा कुमारिकाम् ।
तं (तां) निक्षिप्य रुदन्त,
आहरेत् पान-भोजनम् ॥४२॥

४३—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्तपान तु,
सयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४३॥

४२-४३—बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़[147] भक्त-पान लाए, वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४४—जं भवे भत्तपाणं तु
कप्पाकप्पम्मि संकियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

यद्भवेद् भक्त-पानं तु,
कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४४॥

४४—जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शका-युक्त हो,[148] उसे देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे -इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४५—दगवारएण पिहियं
नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण
सिलेसेण व केणइ ॥

'दगवारएण' पिहितं,
'नीसाए' पीठकेन वा ।
'लोढेण' वाऽपि लेपेन,
श्लेषेण वा केनचित् ॥४५॥

४६—तं च उब्भिदिया देज्जा
समणट्ठाए व दावए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[149] ॥

तच्चोद्भिद्य दद्यात्,
श्रमणार्थं वा दायकः ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

४५-४६ जल-कुभ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढ़ा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यो से पिहित (ढँके, लिपे और मूंदे हुए) पात्र का श्रमण के लिए मुह खोल कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

४७—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
दाणट्ठा पगडं इमं ॥

अशन पानक वाऽपि,
खाद्य स्वाद्य तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥४७॥

४८—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४८॥

४७-४८—यह अशन, पानक,[150] खाद्य और स्वाद्य दानार्थ तैयार किया हुआ[151] है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४९—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
पुण्णट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
पुण्यार्थं प्रकृतमिदम्॥४९॥

५०—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥५०॥

४९-५०—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ तैयार किया हुआ[१५२] है, मुनि यह जान जाये या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिये अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५१—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
वणिमट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
वनीपकार्थं प्रकृतमिदम्॥५१॥

५२—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं।

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥५२॥

५१-५२—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ[१५३] है, मुनि यह जान जाये या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५३—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा।
समणट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
श्रमणार्थं प्रकृतमिदम्॥५३॥

५४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥५४॥

५३-५४—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य श्रमणों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाये या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५५—उद्देसियं कीयगडं
पूईकम्मं च आहडं।
अज्झोयर पामिच्चं
मीसजायं च वज्जए॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं,
पूतिकर्म आहृतम्।
अध्यवतर प्रामित्यं,
मिश्रजातं च वर्जयेत्॥५५॥

५५—औद्देशिक, क्रीतकृत, पूतिकर्म,[१५४] आहृत, अध्यवतर[१५५] प्रामित्य[१५६] और मिश्रजात[१५७] आहार मुनि न ले।

५६—उग्गमं से पुच्छेज्जा
कस्सट्ठा केण वा कडं ।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं
पडिगाहेज्ज संजए ॥

उद्गमं तस्य पृच्छेत्,
कस्यार्थं केन वा कृतम् ।
श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं,
प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥५६॥

५६—संयमी आहार का उद्गम पूछे—किस लिए किया है ? किसने किया है ?—इस प्रकार पूछे । दाता से प्रश्न का उत्तर सुनकर निःशंकित और शुद्ध आहार ले ।

५७ असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं
बीएसु हरिएसु वा ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं,
बीजैर्हरितैर्वा ॥५७॥

५८—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥५८॥

५७-५८—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य, पुष्प, बीज और हरियाली से[१५८] उन्मिश्र हो[१५९] तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

५९—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं
उत्तिंगपणगेसु वा ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
उदके भवेन्निक्षिप्तं,
'उत्तिङ्ग'-'पनकेषु' वा ॥५९॥

६०—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥६०॥

५९-६०—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य, पानी, उत्तिंग[११०] और पनक[१११] पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो[११२] तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

६१—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं
तं च संघट्टिया दए ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
तेजसि भवेन्निक्षिप्तं,
तच्च सङ्घट्य दद्यात् ॥६१॥

६२—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥६२॥

६१-६२—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो और उसका (अग्नि का) स्पर्श कर[११३] दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

६३—[164]एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥

एवमुत्ष्वष्क्य अवष्वष्क्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य,
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥६४॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) ईंधन डालकर,[165] (चूल्हे से) ईंधन निकाल कर,[166] (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (सुलगा कर),[167] प्रज्वलित कर[168] (प्रदीप्त कर), बुझाकर,[169] अग्नि पर रखे हुए पात्र मे से आहार निकाल कर,[170] पानी का छींटा देकर,[171] पात्र को टेढा कर,[172] उतार कर,[173] दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं ॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि,
'इट्टालं' वाऽपि एकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थं,
तच्च भवेच्चलाचलम् ॥६५॥

६६—[175]न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए ॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेत्,
दृष्टस्तत्रासंयमः ।
गंभीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥६६॥

६५-६६ यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े[174] संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हो तो सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए। भगवान् ने वहाँ असंयम देखा है।

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए ॥

निश्रेणिं फलकं पीठं,
उत्सृत्य आरोहेत् ।
मञ्चं कीलं च प्रासादं,
श्रमणार्थं वा दायकः ॥६७॥

६८—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा ॥

आरोहन्ती प्रपतेत्,
हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्,
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगा' ॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया ॥

एतादृशान्महादोषान्,
ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां,
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक और पीढे को ऊँचा कर, मचान,[176] स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)। निसैनी आदि द्वारा चढती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ-पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दब-कर पृथ्वी के तथा पृथ्वी-आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महा-दोषों को जानकर संयमी महर्षि मालापहृत[177] भिक्षा नहीं लेते।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं ।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए ॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आमं छिन्नं वा 'सन्निरम्' :
तुम्बकं शृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥७०॥

७०—मुनि अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक न ले ।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइं आवणे ।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे ।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥७१॥

७२—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

विक्रीयमाणं प्रसृत,
रजसा परिस्पृष्टम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] बेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपडी,[१८२] गीला-गुड़ (राब), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हो, परन्तु न बिकी हो,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार की वस्तुएं मैं नहीं ले सकता ।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥

बह्वस्थिक पुद्गलं,
अनिमिषं बहुकण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम् ॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

अल्प स्याद् भोजन-जात,
बहु-उज्झित-धर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत कांटों वाले अनिमिष,[१८५] आस्थिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गन्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार के फल आदि मैं नही ले सकता ।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए ॥

तथैवोच्चावच पान,
अथवा वार-धावनम् ।
संस्वेदजं (संसेकजं) तन्दुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत् ॥७५॥

७६ जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे ॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा ।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच और बुरा पानी[१९०] या गुड़ के घड़े का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले । अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशंकित हो जाए तो उसे जीव-

७७—अजीवं परिणयं नच्चा
पडिगाहेज्ज संजए ।
अह संकियं भवेज्जा
आसाइत्ताण रोयए ॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा,
प्रतिगृह्णीयात् संयतः ।
अथ शंकितं भवेत्,
आस्वाद्य रोचयेत् ॥७७॥

रहित और परिणत जानकर सयमी मुनि ले ले। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नहीं—ऐसा सन्देह हो तो उसे चखकर लेने का निश्चय करे ।

७८—थोवमासायणट्ठाए
हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ।

स्तोकमास्वादनार्थं,
हस्तके देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूति,
नालं तृष्णां विनेतुम् ॥७८॥

७८—दाता से कहे—'चखने के लिए थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में दो । बहुत खट्टा,[१६५] दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ जल लेकर मैं क्या करूँगा ?,

७९—तं च अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ।
देंतिय पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तच्चात्यम्लं पूति,
नालं तृष्णां विनेतुम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७९॥

७९ यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का जल मैं नहीं ले सकता ।

८०—तं च होज्ज अकामेण
विमणेण पडिच्छियं ।
तं अप्पणा न पिबे
नो वि अन्नस्स दावए ॥

तच्च भवेदकामेन,
विमनसा प्रतीप्सितम् ।
तद् आत्मना न पिबेत्,
नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ॥८०॥

८०-८१ यदि वह पानी अनिच्छा या असावधानी से लिया गया हो तो उसे न स्वयं पीए और न दूसरे साधुओं को दे । परन्तु एकान्त में जा, अचित्त भूमि को[१६६] देख, यतना-पूर्वक[१६७] उसे परिस्थापित करे[१६८] । परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे[१६९]।

८१—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

एकान्तमवक्रम्य,
अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यत परिस्था(ष्ठा)पयेत्,
परिस्था(ष्ठा)प्य प्रतिक्रामेत् ॥८१॥

८२—[२००]सिया य गोयरग्गगओ
इच्छेज्जा परिभोत्तुयं ।
कोट्ठगं भित्तिमूलं वा
पडिलेहित्ताण फासुयं ॥

स्याच्च गोचराग्रगतः,
इच्छेत् परिभोक्तुम् ।
कोष्ठक भित्तिमूल वा,
प्रतिलेख्य प्रासुकम् ॥८२॥

८२-८३—गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल[२०१] को देख कर, उसके स्वामी की अनुज्ञा लेकर[२०२] छाये हुए एवं संवृत स्थल में[२०३] बैठे, हस्तक से[२०४] शरीर का प्रमार्जन कर मेधावी संयति वहाँ भोजन करे ।

८३—अणुन्नवेत्तु मेहावी
पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता
तत्थ भुंजेज्ज संजए ॥

अनुज्ञाप्य मेधावी,
प्रतिच्छन्ने संवृते ।
हस्तकं संप्रमृज्य,
तत्र भुञ्जीत संयतः ॥८३॥

८४—तत्थ से भुंजमाणस्स
अट्ठियं कंटओ सिया ।
तण-कट्ठ-सक्करं वा वि
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तत्र तस्य भुञ्जानस्य,
अस्थिकं कण्टकः स्यात् ।
तृण-काष्ठ-शर्करा वाऽपि,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥८४॥

८५—तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे
आसएण न छड्डए ।
हत्थेण तं गहेऊणं
एगंतमवक्कमे ॥

तद् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्,
आस्यकेन न छर्दयेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा,
एकान्तमवक्रामेत् ॥८५॥

८६—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

एकान्तमवक्रम्य,
अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिस्था(ष्ठा)पयेत्,
परिस्था(ष्ठा)प्य प्रतिक्रामेत् ॥८६॥

८४-८६—वहाँ भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, काँटा,[२०५] तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड़ या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो उसे उठाकर न फेंके, मुँह से न थूके, किन्तु हाथ में लेकर एकान्त चला जाए। एकान्त में जा अचित्त भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे।

८७—[२०६]सिया य भिक्खू इच्छेज्जा
सेज्जमागम्म भोत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म
उंडुयं पडिलेहिया ॥

स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्,
शय्यामागम्य भोक्तुम् ।
सपिण्डपातमागम्य,
'उंडुयं' प्रतिलेख्य ॥८७॥

८८—विणएण पविसित्ता
सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय
आगओ य पडिक्कमे ॥

विनयेन प्रविश्य,
सकाशे गुरोर्मुनिः ।
ऐर्यापथिकीमादाय,
आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥८८॥

८७-८८—कदाचित्[२०७] भिक्षु शय्या (उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा सहित वहाँ आकर स्थान की प्रतिलेखना करे। उसके पश्चात् विनयपूर्वक[२०८] उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो, 'ईर्यापथिकी' सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे।

८९—आभोएत्ताण नीसेसं
अइयारं जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव
भत्तपाणे व संजए ॥

आभोग्य निश्शेषम्,
अतिचारं यथाक्रमम् ।
गमनागमने चैव,
भक्त-पाने च संयतः ॥८९॥

९०—उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो
अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे
जं जहा गहियं भवे ॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः,
अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद् गुरुसकाशे,
यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥९०॥

८९-९०—आने-जाने में और भक्त-पान लेने में लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम याद कर ऋजु-प्रज्ञ, अनुद्विग्न संयति व्याक्षेप-रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहे।

९१—न सम्ममालोइयं होज्जा
पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स
वोसट्ठो चिंतए इमं॥

न सम्यगालोचितं भवेत्
पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम्।
पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य,
व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥९१॥

९१—सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहले-पीछे की हो (आलोचना का क्रम-भंग हुआ हो) उसका फिर प्रतिक्रमण करे, शरीर को स्थिर बना यह चिन्तन करे—

९२—अहो[209] जिणेहिं असावज्जा
वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स
साहुदेहस्स धारणा॥

अहो ! जिनैः असावद्या,
वृत्तिः साधुभ्यो देशिता।
मोक्षसाधनहेतोः,
साधुदेहस्य धारणाय ॥९२॥

९२—कितना आश्चर्य है—भगवान् ने साधुओं के मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी-शरीर की धारणा के लिए निरवद्य-वृत्ति का उपदेश किया है।

९३—नमोक्कारेण पारेत्ता
करेत्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं
वीसमेज्ज खणं मुणी॥

नमस्कारेण पारयित्वा,
कृत्वा जिनसंस्तवम्।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य,
विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥९३॥

९३—इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार मन्त्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (तीर्थङ्कर-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) करे, फिर क्षण-भर विश्राम ले[210]।

९४—वीसमंतो इमं चिंते
हियमट्ठं लाभमट्ठिओ[211]।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा
साहू होज्जामि तारिओ॥

विश्राम्यन् इमं चिन्तयेत्,
हितमर्थं लाभार्थिकः,
यदि मेऽनुग्रह कुर्युः,
साधवो भवामि तारितः ॥९४॥

९४—विश्राम करता हुआ लाभार्थी (मोक्षार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे—यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करे तो मैं निहाल हो जाऊँ— मानूं कि उन्होने मुझे भवसागर से तार दिया।

९५—साहवो तो चियत्तेणं
निमंतेज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा
तेहिं सद्धिं तु भुंजए॥

साधूंस्ततः 'चियत्तेण',
निमन्त्रयेद् यथाक्रमम्।
यदि तत्र केचित् इच्छेयुः,
तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥९५॥

९५—वह प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम निमन्त्रण दे। उन निमन्त्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे।

९६—अह कोइ न इच्छेज्जा
तओ भुंजेज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू
जयं अपरिसाडयं[213]॥

अथ कोपि नेच्छेत्,
ततः भुञ्जीत एककः।
आलोके भाजने साधुः,
यतमपरिशाटयन् ॥९६॥

९६—यदि कोई साधु न चाहे तो अकेला ही खुले पात्र में[212] यतना पूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ भोजन करे।

९७—तित्तगं व कडुयं व कसायं
अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एय लद्धमन्नट्ठ-पउत्तं
महुघयं व भुंजेज्ज संजए॥

तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं,
अम्लं वा मधुरं लवणं वा।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं,
मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥९७॥

९७—गृहस्थ के लिए बना हुआ[214]— तीता (तिक्त)[215] या कडुवा,[216] कसैला[217] या खट्टा[218], मीठा[219] या नमकीन[220] जो भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमी मुनि मधुघृत की भाँति खाए।

९८—अरसं विरसं वा वि
सूइयं वा असूइयं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं
मन्थु-कुम्मास-भोयणं ॥

अरस विरसं वाऽपि,
सूपितं (च्यं) वा असूपितम् (च्यम्) ।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं,
मन्थु-कुल्माष-भोजनम् ॥ ९८ ॥

९९—उप्पण्णं नाइहीलेज्जा
अप्पं पि बहु फासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी
भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥

उत्पन्नं नातिहीलयेत्,
अल्पमपि बहु प्रासुकम् ।
मुधालब्ध मुधाजीवी,
भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥ ९९ ॥

१००—दुल्लहा उ मुहादाई
मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी
दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥
॥ त्ति बेमि ॥

दुर्लभास्तु मुधादायिनः,
मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः ।
मुधादायिनो मुधाजीविनः,
द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥१००॥
इति ब्रवीमि ।

९८-९९—मुधाजीवी[222] मुनि अरस[223] या विरस,[224] व्यंजन सहित या व्यंजन रहित,[225] आर्द्र[226] या शुष्क,[227] मन्थु[228] और कुल्माष[229] का जो भोजन विधिपूर्वक प्राप्त हो उसकी निन्दा न करे । निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है[230] । इसलिए उस मुधालब्ध[231] और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले[232] ।

१००—मुधादायी[233] दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है । मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं ।
ऐसा मैं कहता हूँ ।

पिण्डैषणायां प्रथमः उद्देशः समाप्तः ।

टिप्पण : अध्ययन ५ (प्रथम उद्देशक)

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

प्रथम श्लोक में भिक्षु को यथासमय भिक्षा करने की आज्ञा दी गई है । भिक्षा-काल के उपस्थित होने के समय भिक्षु की वृत्ति कैसी रहे, इसका भी मार्मिक उल्लेख इस श्लोक में है । उसकी वृत्ति 'संभ्रम' और 'मूर्च्छा' से रहित होनी चाहिए । इन शब्दों की भावना का स्पष्टीकरण यथास्थान टिप्पणियो मे आया है ।

२. भिक्षा का काल प्राप्त होने पर (संपत्ते भिक्खकालम्मि[क]) :

जितना महत्त्व कार्य का होता है, उतना ही महत्त्व उसकी विधि का होता है । बिना विधि से किया हुआ कार्य फल-दायक नहीं होता । काल का प्रश्न भी कार्य-विधि से जुड़ा हुआ है । जो कोई भी कार्य किया जाये वह क्यो किया जाये ? कब किया जाये ? कैसे किया जाये ? ये शिष्य के प्रश्न रहते हैं । आचार्य इनका समाधान देते हैं—अमुक कार्य इसलिए किया जाये, इस समय में किया जाये और इस प्रकार किया जाये । यह उद्देश्य, काल और विधि का ज्ञान कार्य को पूर्ण बनाता है ।

इस श्लोक मे भिक्षा-काल का नामोल्लेख मात्र है[1] । काल-प्राप्त और अकाल भिक्षा का विधि-निषेध इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक के चौथे, पाँचवे और छट्ठे श्लोक में मिलता है । वहाँ भिक्षा-काल मे भिक्षा करने का विधान और असमय में भिक्षा के लिए जाने से उत्पन्न होने वाले दोषा का वर्णन किया गया है । प्रश्न यह है कि भिक्षा का काल कौन-सा है ? सामाचारी अध्ययन में बतलाया गया है कि मुनि पहले प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे मे ध्यान करे, तीसरे मे भिक्षा के लिए जाय और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे[2] ।

उत्सर्ग-विधि से भिक्षा का काल तीसरा प्रहर ही माना जाता रहा है ।[3] "एगभत्तं च भोयणं[4]" के अनुसार भी भिक्षा का काल यही प्रमाणित होता है; किन्तु यह काल-विभाग सामयिक प्रतीत होता है । बौद्ध-ग्रन्थों में भी भिक्षु को एकभक्त-भोजी कहा है तथा उनमे भी यथाकाल भिक्षा प्राप्त करने का विधान है[5] ।

प्राचीन काल में भोजन का समय प्रायः मध्याह्नोत्तर था । सम्भवतः इसीलिए इस व्यवस्था का निर्माण हुआ हो अथवा यह व्यवस्था विशेष अभिग्रह (प्रतिज्ञा) रखनेवाले मुनियों के लिए हुई हो । कैसे ही हो, पर एक बार भोजन करने वालों के लिए यह उपयुक्त समय है । इस औचित्य से इसे भिक्षा का सार्वत्रिक उपयुक्त समय नही माना जा सकता । सामान्यतः भिक्षा का काल वही है, जिस प्रदेश में जो समय लोगो के भोजन करने का हो । इसके अनुसार रसोई बनने से पहले या उसके उठने के बाद भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का अकाल है और रसोई बनने के समय भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का काल है ।

१—(क) अ० चू० : भिक्खाणं समूहो 'भिक्षादिभ्योऽण्' [पाणि० ४.२.३८] इति भैक्षम्, भेक्खस्स कालो तम्मि संपत्ते ।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : भिक्खाए कालो भिक्खाकालो तंमि भिक्खकाले संपत्ते ।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'संप्राप्ते' शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते 'भिक्षाकाले' भिक्षासमये, अनेनासंप्राप्ते अतीते चैतदप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति ।

२—उत्त० २६.१२ : पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं ॥

३—उत्त० १०.२१ बृ० वृ० : उत्सर्गतो हि तृतीयपौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातम् ।

४—दशा० ६.२२ ।

५—(क) वि० पि० : महावग्ग पालि ५.१२ ।

(ख) The Book of the Gradual Sayings Vol. IV. VIII. V. 41 page 171.

३. असंभ्रांत (असंभंतो [ख]) :

भिक्षा-काल में बहुत से भिक्षाचर भिक्षा के लिए जाते हैं। मन में ऐसा भाव हो सकता है कि उनके भिक्षा लेने के बाद मुझे क्या मिलेगा ? मन की ऐसी दशा से गवेषणा के लिए जाने मे शीघ्रता करना सभ्रान्त वृत्ति है।

ऐसी सभ्रान्त दशा मे भिक्षु त्वरा—शीघ्रता करने लगता है। त्वरा से प्रतिलेखन में प्रमाद होता है। ईर्या समिति का शोधन नहीं होता। उचित उपयोग नही रह पाता। ऐसे अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। अतः आवश्यक है कि भिक्षा-काल के समय भिक्षु असंभ्रान्त रहे अर्थात् अनाकुल भाव से यथा उपयोग भिक्षा की गवेषणा के लिए जाए[१]।

४. अमूच्छित (अमुच्छिओ [ख]) :

भिक्षा के समय सयम-यात्रा के लिए भिक्षा की गवेषणा करना विहित अनुष्ठान है। आहार की गवेषणा में प्रवृत्त होते समय भिक्षु की वृत्ति मूर्च्छारहित होनी चाहिए। मूर्च्छा का अर्थ है—मोह, लालसा या आसक्ति। जो आहार मे गृद्धि या आसक्ति रखता है, वह मूच्छित होता है। जिसे भोजन मे मूर्च्छा होती है वही सभ्रान्त बनता है। यथा-लब्ध भिक्षा में सतुष्ट रहने वाला संभ्रान्त नही बनता। गवेषणा मे प्रवृत्त होने के समय भिक्षु की चित्त-वृत्ति मूर्च्छारहित हो। वह अच्छे भोजन की लालसा या भावना से गवेषणा में प्रवृत्त न हो। जो ऐसी भावना से गवेषणा करता है उसकी भिक्षा-चर्या निर्दोष नही होती।

भिक्षा के लिए जाते समय विविध प्रकार के शब्द सुनने को मिलते हैं और रूप देखने को मिलते हैं। उनकी कामना से भिक्षु आहार की गवेषणा मे प्रवृत्त न हो। वह अमूर्च्छित रहते हुए अर्थात् आहार तथा शब्दादि मे मूर्च्छा नही रखते हुए केवल आहार-प्राप्ति के अभिप्राय से गवेषणा करे, यह उपदेश है[२]।

अमूर्च्छाभाव को समझने के लिए एक दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है : एक युवा वणिक्-स्त्री अलकृत, विभूषित हो, सुन्दर वस्त्र धारण कर गोवत्स को आहार देती है। वह (गोवत्स) उसके हाथ से उस आहार को ग्रहण करता हुआ भी उस स्त्री के रग, रूप, आभरणादि के शब्द, गंध और स्पर्श में मूर्च्छित नही होता है। ठीक इसी प्रकार साधु विषयादि शब्दों में अमूर्च्छित रहता हुआ आहारादि की गवेषणा मे प्रवृत्त हो[३]।

५. भक्त-पान (भत्तपाणं [घ]) :

जो खाया जाता है वह 'भक्त' और जो पीया जाता है वह 'पान' कहलाता है[४]। 'भक्त' शब्द का प्रयोग छट्ठे अध्ययन के २२ वें श्लोक मे भी हुआ है। वहाँ इसका अर्थ 'बार' है[५]। यहाँ इसका अर्थ तण्डुल आदि आहार है[६]। पूर्व-काल मे बिहार

१—(क) अ० चू० पृ० ९९ : असंभंतो 'मा वेला फिट्टिहिति, बिलुप्पिहिति वा भिक्खयरेहिं भेक्खं' एतेण अत्थेण असंभंतो।

(ख) जि०चू०पृ०१६६ : असभंतो नाम सब्वे भिक्खायरा पविट्ठा तेहिं उञ्छिए भिक्ख न लभिस्सामित्तिकाउं मा तूरेज्जा, तूरमाणो य पडिलेहणापमाद करेज्जा, रिय वा न सोधेज्जा, उवयोगस्स ण ठाएज्जा, एवमावी दोसा भवन्ति, तम्हा असंभमेण पडिलेहण काऊण उवयोगस्स ठायित्ता अतुरिए भिक्खाए गतव्व।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'असंभ्रान्तः' अनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० पृ० ९९ : अमुच्छितो अमूढो भत्तगेहीए सद्दातिसु य।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' ···न मूर्च्छितः अमूर्च्छितः, अमूच्छितो नाम समुयाणे मुच्छं अकुव्वमाणो सेसेसु य सद्दाइविसएसु।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'अमूर्च्छितः' पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमितिकृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति।

३—(क) जि० चू० पृ० १६७-६८ : दिट्ठंतो वच्छओ वाणिणिणीए अलंकियविभूसियाए चारुवेसाएवि गोभत्ताणी आहारं दलयंतीति तमि गोभत्ताविम्मि उवउत्तो ण ताए इत्थियाए रूवेण वा तेसु वा आभरणसद्देसु ण वा गंधफासेसु मुच्छिओ, एवं साधुणावि विसएसु असज्जमाणेण ······ भिक्खाहिंडियव्वत्ति।

४—अ० चू० पृ० ९९ : भत्त-पाणं भजंति छुहिया तमिति भत्तं, पीयत इति पाणं, भत्तपाणमिति समासो।

५—एगभत्त च भोयणं।

६—हा० टी० प० १६३ : 'भक्तपान' यतियोग्यमोदनारनालादि।

आदि जनपदों में चावल का भोजन प्रधान रहा है। इसलिए 'भक्त' शब्द का प्रधान अर्थ चावल आदि खाद्य बन गया। कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'भक्त' का अर्थ तण्डुल आदि किया है[1]।

श्लोक २ :

६. श्लोक २ :

आहार की गवेषणा के लिए जो पहली क्रिया करनी होती है वह है चलना। गवेषणा के लिए स्थान से बाहर निकल कर साधु किस प्रकार गमन करे और कैसे स्थानों का वर्जन करता हुआ चले, उसका वर्णन इस श्लोक से १५ वें श्लोक तक मे आया है।

७. गोचराग्र के लिए निकला हुआ (गोयरग्गगओ ^ख^) :

भिक्षा-चर्या बारह प्रकार के तपों में से तीसरा तप है[2]। 'गोचराग्र' उसका एक प्रकार है[3]। उसके अनेक भेद होते हैं[4]। 'गोचर' शब्द का अर्थ है गाय की तरह चरना—भिक्षाटन करना। गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किए बिना एक ओर से दूसरी ओर चरती चली जाती है। वैसे ही उत्तम, मध्यम और अधम कुल का भेद न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार मे राग द्वेष न करते हुए जो सामुदानिक भिक्षाटन किया जाता है वह गोचर कहलाता है[5]।

चूर्णिकारद्वय लिखते हैं : गोचर का अर्थ है भ्रमण। जिस प्रकार गाय शब्दादि विषयों में गृद्ध नहीं होती हुई आहार ग्रहण करती है उसी प्रकार साधु भी विषयो में आसक्त न होते हुए सामुदानिक रूप से उद्गम, उत्पाद और एषणा के दोषो से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं। यही साधु का गोचराग्र है[6]।

गाय के चरने में शुद्धाशुद्ध का विवेक नही होता। मुनि सदोष आहार को वर्ज निर्दोष आहार लेते हैं, इसलिए उनकी भिक्षा-चर्या साधारण गोचर्या से आगेब ढ़ी हुई - विशेषता वाली होती है। इस विशेषता की ओर सकेत करने के लिए ही गोचर के बाद 'अग्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा गोचर तो चरकादि अन्य परिव्राजक भी करते हैं किन्तु आधाकर्मादि आहार ग्रहण न करने से ही उसमे विशेषता आती है। श्रमण निर्ग्रन्थ की चर्या ऐसी होती है अत. यहाँ अग्र —प्रधान शब्द का प्रयोग है[7]।

१—कौटि० अर्थ० अ० १० प्रक० १४८-१४९ : भक्तोपकरणं—(व्याख्या) भक्त तण्डुलादि उपकरणं वस्त्रादि च।

२—उत्त० ३०.८ : अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥

३—उत्त० ३०.२५ : अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

४—उत्त० ३०.१९ : पेडा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टाययगन्तुंपच्चागया छट्ठा॥

५ हा० टी० प० १८ : गोचरः सामयिकत्वाद् गोरिव चरण गोचरोऽन्यथा गोचारः ·· गोश्चरस्येवमविशेषेण साधुनाऽप्यटितव्यं, न विभ्रमभङ्गीकुरयोत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्विति, वणिग्वत्सकदृष्टान्तेन वेति।

६—(क) अ० चू० पृ० ९९ : गोरिव चरणं गोयरो, तहा सद्दादिसु अमुच्छितो जहा सो वच्छगो।

(ख) जि० चू० पृ० १६७-६८ : गोयरो नाम भमणं ·· जहा गावीओ सद्दादिसु विसएसु असज्जमाणीओ आहारमाहारेंति, दिट्ठंतो वच्छओ ·· एवं साधुणावि विसएसु असज्जमाणेण समुदाणे उग्गमउप्पायणासुद्धं मिवेसियबुद्धिणा अरत्तदुट्ठेण भिक्खा हिंडियव्वत्ति।

(ग) हा० टी० प० १६३ : गोरिव चरण गोचरः—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्।

७—(क) अ० चू० पृ० ९९ : गोयर अग्गं गोतरस्स वा अग्गं गतो, अग्ग पहाण। कहं पहाणं ? एसणादिगुणजुतं, ण उ चरगादीण अपरिक्खिते सधाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : गोयरो चेव अग्गं अग्गं तंमि गओ गोयरग्गगओ, अग्ग नाम पहाणं भण्णइ, सो य गोयरो साहूणमेव पहाणो भवति, न उ चरगाईणं आहाकम्मुद्देसियाइभुंजणाओत्ति।

(घ) हा० टी० प० १६३ : अग्रः—प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन।

८. वह (से [क]) :

हरिभद्र कहते हैं 'से' अर्थात् जो असंभ्रात और अमूर्छित है वह मुनि[1] । जिनदास लिखते हैं 'से' शब्द संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु का संकेतक है[2] । यह अर्थ अधिक संगत है क्योंकि ऐसे मुनि की भिक्षा-चर्या की विधि का ही इस अध्ययन में वर्णन है । अगस्त्यसिंह के अनुसार 'से' शब्द वचनोपन्यास है[3] ।

९. मुनि (मुणी [ख]) :

मुनि और ज्ञानी एकार्थक शब्द है । जिनदास के अनुसार मुनि चार प्रकार के होते हैं— नाम-मुनि, स्थापना-मुनि, द्रव्य-मुनि और भाव-मुनि । उदाहरण के लिए जो रत्न आदि की परीक्षा कर सकता है वह द्रव्य-मुनि है । भाव-मुनि वह है जो ससार के स्वभाव— असली स्वरूप को जानता हो । इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक दोनो भाव-मुनि होते हैं । इस प्रकरण मे भाव-साधु का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि उसी की गोचर्या का यहाँ वर्णन है[4] ।

१०. धीमे-धीमे (मंदं [ग]) :

असभ्रात शब्द मानसिक अवस्था का द्योतक है और 'मन्द' शब्द चलने की क्रिया (चरे) का विशेषण । साधु जैसे चित्त से असभ्रांत हो - क्रिया करने मे त्वरा न करे वैसे ही गति मे मन्द हो - धीमे-धीमे चले[5] । जिनदास लिखते हैं —मन्द चार तरह के होते हैं —नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-मन्द । उनमे द्रव्य-मन्द उसे कहते है जो शरीर से प्रतनु होता हैं । भाव-मन्द उसे कहते हैं जो अल्पबुद्धि हो । यहाँ तो गति-मन्द का अधिकार है[6] ।

११. अनुद्विग्न (अणुव्विग्गो [घ]) :

अनुद्विग्न का अर्थ है—परीषह से न डरने वाला, प्रशान्त । तात्पर्य यह है- भिक्षा न मिलने या मनोनुकूल भिक्षा न मिलने के विचार से व्याकुल न होता हुआ तथा तिरस्कार आदि परीषहो की आशंका से क्षुब्ध न होता हुआ गमन करे[7] ।

१२. अव्याक्षिप्त चित्त से (अव्वक्खित्तेण चेयसा [घ]) :

जिनदास के अनुसार इसका अर्थ है—आर्तध्यान से रहित अंत:करण से, पैर उठाने में उपयोग युक्त होकर[8] । हरिभद्र के अनुसार अव्याक्षिप्त चित्त का अर्थ है- वत्स और वणिक् पत्नी के दृष्टान्त के न्याय से शब्दादि मे अंत:करण को नियोजित न करते हुए, एषणा समिति से युक्त होकर[9] ।

१—हा० टी० प० १६३ : 'से' इत्यसंभ्रातोऽमूर्च्छितः ।

२—जि० चू० पृ० १६७ : 'से' त्ति निद्देसे, किं निद्दिसति ?, जो सो संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो भिक्खू तस्स निद्देसोत्ति ।

३—अ० चू० पृ० ९९ : से इति वयणोवण्णासे ।

४ – (क) अ० चू० पृ० ९९ : मुणी विण्णाणसंपण्णो, दव्वे हिरण्णादिमुणतो, भावमुणी विदितसंसारसब्भावो साधू ।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : मुणीणाम णाणित्ति वा मुणित्ति वा एगट्ठा, सो य मुणी चउव्विहो भणिओ,···· दव्वमुणी जहा रयणपरिक्खगा एवमादि, भावमुणी जहा संसारसहावजाणगा साहुणो सावगा वा, एत्थ साहूहिं अधिगारो ।

(ग) हा० टी० प० १६३ : मुनिः—भावसाधु ।

५ - (क) अ० चू० पृ० ९९ : मंद असिग्घं । असंभंत-मंदविसेसो—असभंतो चेयसा, मदो क्रियया ।

(ख) हा० टी० प० १६३ : 'मंदं' शनैः शनैर्न द्रुतमित्यर्थः ।

६ - जि० चू० पृ० १६८ : मंदो चउव्विहो ···दव्वमंदो जो तणुयसरीरो एवमाइ भावमंदो जस्स बुद्धी अप्पा एवमादी ······इह पुण गतिमंदेण अहिगारो ।

७ - (क) अ० चू० पृ० ९९ : अणुव्विग्गो अभीतो गोयरगताण परीसहोवसग्गाण ।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : उव्विग्गो नाम भीतो, न उव्विग्गो अणुव्विग्गो, परीसहाण अभीउत्ति वुत्तं भवति ।

(ग) हा० टी० प० १६३ : 'अनुद्विग्नः' प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत् ।

८—जि० चू० पृ० १६८ : अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम णो अट्टज्झाणोवगओ उक्खेवादिजुवउत्तो ।

९—हा० टी० प० १६३ : 'अव्याक्षिप्तेन चेतसा' वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन 'चेतसा' अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तेन ।

भावार्थ यह है कि चलते समय मुनि चित्त में आर्तध्यान न रखे। उसकी चित्तवृत्ति शब्दादि विषयों में आसक्त न हो तथा पैर आदि उठाते समय वह पूरा उपयोग रखता हुआ चले।

गृहस्थों के यहाँ साधु को प्रिय शब्द, रूप, रस और गन्ध का संयोग मिलता है। ऐसे संयोग की कामना अथवा आसक्ति से साधु गमन न करे। वह केवल आहार गवेषणा की भावना से गमन करे।

इस सम्बन्ध में टीकाकार ने वत्स और वणिक् वधू के दृष्टान्त की ओर संकेत किया है। जिनदास ने गोचराग्र शब्द की व्याख्या में इस दृष्टान्त का उपयोग किया है। हमने इसका उपयोग प्रथम श्लोक में आये हुए 'अमुच्छिओ' शब्द की व्याख्या में किया है। पूरा दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है :

"एक वणिक् के घर एक छोटा बछड़ा था। वह सब को बहुत प्रिय था। घर के सारे लोग उसकी बहुत सार-सम्हाल करते थे। एक दिन वणिक् के घर जीमनवार हुआ। सारे लोग उसमे लग गये। बछड़े को न घास डाली गई और न पानी पिलाया गया। दुपहरी हो गई। वह भूख और प्यास के मारे रंभाने लगा। कुल-वधू ने उसको सुना। वह घास और पानी लेकर गई। घास और पानी को देख बछड़े की दृष्टि उन पर टिक गई। उसने कुल-वधू के बनाव और शृङ्गार की ओर ताका तक नहीं। उसके मन में विचार तक नहीं आया कि वह उसके रूप-रंग और शृङ्गार को देखे।"

दृष्टान्त का सार यह है कि बछड़े की तरह मुनि भिक्षाटन की भावना से अटन करे। रूप आदि को देखने की भावना से चपल-चित्त हो गमन न करे।

श्लोक ३ :

१३. श्लोक ३ :

द्वितीय श्लोक में भिक्षा के लिए जाते समय अव्याक्षिप्त चित्त से और मंद गति से चलने की विधि कही है। इस श्लोक में भिक्षु किस प्रकार और कहाँ दृष्टि रख कर चले इसका विधान है।

१४. आगे (पुरओ [क]) :

पुरतः—अग्रतः—आगे के मार्ग को। चौथे चरण में 'य'—'च' शब्द आया है। जिनदास का कहना है कि 'च' का अर्थ है - कुत्ते आदि से रक्षा की दृष्टि से दोनो पार्श्व और पीछे भी उपयोग रखना चाहिए[1]।

१५. युग-प्रमाण भूमि को (जुगमायाए [क] महिं [क]) :

ईर्या-समिति की यतना के चार प्रकार हैं[2]। यहाँ द्रव्य और क्षेत्र की यतना का उल्लेख किया गया है। जीव-जन्तुओ को देखकर चलना यह द्रव्य-यतना है। युग-मात्र भूमि को देखकर चलना यह क्षेत्र-यतना है[3]।

जिनदास महत्तर ने युग का अर्थ 'शरीर' किया है[4]। शान्त्याचार्य ने युग-मात्र का अर्थ चार हाथ प्रमाण किया है[5]। युग शब्द का लौकिक अर्थ है—गाड़ी का जुआ। वह लगभग साढ़े तीन हाथ का होता है। मनुष्य का शरीर भी अपने हाथ से इसी प्रमाण का होता है; इसलिए 'युग' का सामयिक अर्थ शरीर किया है।

यहाँ युग शब्द का प्रयोग दो अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए है। सूत्रकार इसके द्वारा ईर्या-समिति के क्षेत्र-मान और उसके संस्थान इन दोनों की जानकारी देना चाहते हैं।

युग शब्द गाड़ी से सम्बन्धित है। गाड़ी का आगे का भाग सकड़ा और पीछे का भाग चौड़ा होता है। ईर्या-समिति से चलने वाले मुनि की दृष्टि का संस्थान भी यही बनता है[6]।

१—जि० चू० पृ० १६८ : पुरओ नाम अग्गओ.........चकारेण य सुणमादीण रक्खणट्ठा पासओवि पिट्ठओवि उवओगो कायव्वो

२—उत्त० २४.६ : दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
　　　जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥

३—उत्त० २४.७ : दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।

४—जि० चू० पृ० १६८ : जुगं सरीरं भण्णइ।

५—उत्त० २४.७ बृ० वृ० : युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात् क्षेत्रं।

६—(क) अ० चू० पृ० ९९ : जुगमिति बलिवद्दसंठाणजं सरीरं वा तावन्मत्तं पुरतो, अंतो संकुयाए बाहिं वित्थडाए दिट्ठीए,
　(ख) जि० चू० पृ० १६८ : तावमेत्तं पुरओ अंतो संकुडाए बाहिं वित्थडाए सगडुद्धिसंठियाए दिट्ठीए।

यदि चलते समय दृष्टि को बहुत दूर डाला जाए तो सूक्ष्म शरीर वाले जीव देखे नहीं जा सकते और उसे अत्यन्त निकट रखा जाए तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों को टाला नहीं जा सकता, इसलिए शरीर-प्रमाण क्षेत्र देखकर चलने की व्यवस्था की गई है[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'जुगमादाय' ऐसा पाठ-भेद माना है। उसका अर्थ है- युग को ग्रहण कर अर्थात् युग जितने क्षेत्र को लक्षित कर- भूमि को देखता हुआ चले[2]।

'सव्वतो जुगमादाय' इस पाठ-भेद का निर्देश भी दोनों चूर्णिकार करते हैं। इसका अर्थ है थोड़ी दूर चलकर दोनों पार्श्वों में और पीछे अर्थात् चारों ओर युग-मात्र भूमि को देखना चाहिए[3]।

१६. बीज, हरियाली (बीयहरियाइं[ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि के अनुसार बीज शब्द से वनस्पति के दश प्रकारों का ग्रहण होता है[4]। वे ये हैं—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। 'हरित' शब्द के द्वारा बीजरुह वनस्पति का निर्देश किया है[5]। जिनदास महत्तर की चूर्णि के अनुसार 'हरित' शब्द वनस्पति का सूचक है[6]।

१७. प्राणी (पाणे[ग]) :

प्राण शब्द द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का संग्राहक है[7]।

१८ जल तथा सजीव-मिट्टी (दगमट्टियं[घ]) :

'दगमट्टिय' शब्द आगमों में अनेक जगह प्रयुक्त है। अखण्ड-रूप मे यह भीगी हुई सजीव मिट्टी के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है। आयारचूला (१।२,४२) में यह शब्द आया है। वृत्तिकार शीलाङ्काचार्य ने यहाँ इसका अर्थ उदक-प्रधान मिट्टी किया है[8]।

चूर्णिकार और टीकाकार इस श्लोक तथा इसी अध्ययन के पहले उद्देशक के २६ वें श्लोक में आए हुए 'दग' और 'मट्टिया' इन दोनों शब्दों को अलग-अलग ग्रहण कर व्याख्या करते हैं[9]। टीकाकार हरिभद्र ने अपनी आवश्यक वृत्ति में इनकी व्याख्या अखंड और

१—(क) अ० चू० पृ० ९९ : 'सुहुमसरीरे दूरतो ण पेच्छति' त्ति न परतो, 'आसण्णो न तरति सहसा वट्टावेतुं' ति ण आरतो।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ . दूरनिपायदिट्ठी पुण विप्पगिट्ठं सुहुमसरीरं वा सत्तं न पासइ, अतिसन्निविट्ठदिट्ठिवि सहसा दट्ठू ण ण सक्केइ पायं पडिसाहरिउं ।

२—अ० चू० पृ० ९९ : अहवा "पुरतो जुगमादाय" इति चक्खुसा तावतियं परिगिज्झ पेहमाण इति।

३—(क) अ० चू० पृ० ९९ : पाढंतरं वा "सव्वतो जुगमादाय।"
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : अन्ने पढंति— 'सव्वतो जुगमायाए' नातिदूर गंतूणं पासओ पिट्ठओ य निरिक्खियव्वं।

४—(क) अ० चू० पृ० ९९ : बीयवयणेण वा दस भेदा भणिता।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : बीयगहणेण बीयपज्जवसाणस्स दसभेदभिण्णस्स वणप्फइकायस्स गहणं कय।

५—अ० चू० पृ० ९९ : हरितग्गहणेण जे बीयरुहा ते भणिता।

६—जि० चू० पृ० १६८ : हरियगहणेण सव्ववणप्फई गहिया।

७—(क) अ० चू० पृ० ९९ : 'पाणा' बेइंदियादितसा।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : पाणग्गहणेणं बेइंदियाईणं तसाणं गहणं।
(ग) हा० टी० प० १६४ : 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन्।

८—आ० चू० १।२।४२ वृ० : उदकप्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति।

९—(क) अ० चू० पृ० ९९ : ओसादि भेदं पाणितं दगं, मट्टिया-अवगणिवेसातिपुढविक्कातो ।
(ख) जि० चू० पृ० १९९ : दगग्गहणेण आउक्काओ सभेदो गहिओ, मट्टियागहणेणं ज्वो पुढविक्काओ अडवीओ आणिओ सन्निवेसे वा गामे वा तस्स गहणं।
(ग) हा० टी० प० १६४ : 'उदकम्' अप्कायं 'मृत्तिकां च' पृथिवीकायं।

शब्द—दोनों प्रकार से की है[1]। निशीथ चूर्णिकार ने भी इसके दो विकल्प किये हैं[2]।

हरिभद्र कहते हैं कि 'च' शब्द से तेजस्काय और वायुकाय का भी ग्रहण करना चाहिए[3]। जिनदास के अनुसार दगमट्टिका के ग्रहण से अग्नि और वायु का ग्रहण स्वयं हो जाता है[4]। अगस्त्यसिंह का अभिमत है कि गमन में अग्नि की संभावना कम है और दाह के भय से उसका वर्जन हर कोई करता ही है। वायु आकाशव्यापी है, अतः उसका सर्वथा परिहार नहीं हो सकता। प्रकारान्तर से सर्वजीवों का वर्जन करना चाहिए—यह स्वतः प्राप्त है[5]।

१९. श्लोक ४-६ :

चौथे श्लोक मे किस मार्ग से साधु न जाये, इसका उल्लेख है। वर्जित-मार्ग से जाने पर जो हानि होती है, उसका वर्णन पाँचवें श्लोक में है। छट्ठे श्लोक में पाँचवें श्लोक में बताये हुए दोषों को देखकर विषम-मार्ग से जाने का पुनः निषेध किया है। यह औत्सर्गिक-मार्ग है। कभी चलना पड़े तो सावधानी के साथ चलना चाहिए—यह अपवादिक-मार्ग छट्ठे श्लोक के द्वितीय चरण में दिया हुआ है।

श्लोक ४ :

२०. गड्ढे (ओवायं [क]) :

जिनदास और हरिभद्र ने 'अवपात' का अर्थ 'खड्डा' या 'गड्ढा' किया है[6]। अगस्त्यसिंह ने नीचे गिरने को 'अवपात कहा है'[7]।

२१. ऊबड़-खाबड़ भू-भाग (विसमं [क]) :

अगस्त्यसिंह ने खड्डा, कूप, झिरिड (जीर्ण कूप) आदि ऊँचे-नीचे स्थान को 'विषम' कहा है[8]। जिनदास और हरिभद्र ने निम्नोन्नत स्थान को 'विषम' कहा है[9]।

२२. कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल (खाणुं [क]) :

ऊपर उठे हुए काष्ठ विशेष को स्थाणु कहते हैं[10]।

२३. पंकिल मार्ग को (विज्जलं [ख]) :

पानी सूख जाने पर जो कर्दम रहता है उसे 'विजल' कहते हैं। कर्दमयुक्त मार्ग को 'विजल' कहा जाता है[11]।

---

१ – आ० हा० वृ० पृ० ५७३ : दगमृत्तिका चिक्खलम् अथवा दकग्रहणादप्कायः मृत्तिका ग्रहणात् पृथ्वीकायः।

२—नि० चू० (७.७४) दगं पाणीयं, कोमारा-मट्टिया, अथवा उल्लिया मट्टिया।

३—हा० टी० प० १६४ : च शब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः।

४—जि० चू० पृ० १६६ : एगग्गहणे गहणं तज्जाईयाणमितिकाउं अगणिवाउणोवि गहिया।

५—अ० चू० पृ० १०० : गमणे अगणिस्स मंदो संभवो, डाहभएण य परिहरिज्जति, वायुराकासव्यापीति ण सव्वहा परिहरणमिति ण साक्षादभिधानमिति। प्रकारवयणेण वा सव्वजीवणिकायाभिहाणं, तावमपि वज्जितो।

६—(क) जि० चू० पृ० १६६ : ओवायं नाम खड्डा, जत्थ हेट्ठाभिमुहेहिं अवयरिज्जइ।

(ख) हा० टी० प० १६४ : 'अवपात' गर्तादिरूपम्।

७—अ० चू० पृ० १०० : अहोपतणमोवातो।

८—अ० चू० पृ० १०० : खड्डा-कूव-झिरिडाती णिण्णुण्णयं विसमं।

९—(क) जि० चू० पृ० १६६ : विसमं नाम निण्णुण्णयं।

(ख) हा० टी० प० १६४ : 'विषमं' निम्नोन्नतम्।

१०—(क) अ० चू० पृ० १०० : णातिउच्चो उद्धट्ठियदारुविसेसो खाणू।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : खाणू नाम कट्ठं उद्धाहुत्तं।

(ग) हा० टी० प० १६४ : 'स्थाणुम्' ऊर्ध्वकाष्ठम्।

११—(क) अ० चू० पृ० १०० : विगयमात्रं जतो जलं तं विज्जलं (विज्जलो)।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : विगयं जलं जत्थ तं विज्जलं।

(ग) हा० टी० प० १६४ : विगतजलं कर्दमम्।

२४. संक्रम…के ऊपर से (संकमेण [ग]) :

जल या गड्ढे को जिसके सहारे संक्रमण—पार किया जाता है—उसे 'संक्रम' कहा जाता है। संक्रम पाषाण या काष्ठ का बना होता है[1]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में जल-सङ्क्रमण के अनेक उपाय बताए गए हैं, उनमें एक स्तम्भ-संक्रम भी है[2]। व्याख्याकार ने स्तम्भ-संक्रम का अर्थ खम्भों के आधार पर निर्मित काष्ठ फलक आदि का पुल किया है[3]।

यहाँ संक्रम का अर्थ है जल, गड्ढे आदि को पार करने के लिए काष्ठ आदि से बांधा हुआ मार्ग। सक्रम का अर्थ विकट-मार्ग भी होता है[4]।

२५. (विज्जमाणे परक्कमे [घ]) :

हरिभद्र सूरि ने 'विज्जमाणे परक्कमे' इन शब्दो को 'ओवाय' आदि समस्त मार्गों के लिए अपवादस्वरूप माना है, जब कि जिनदास ने इसका संबंध केवल 'संक्रम' के साथ ही रखा है[5]। श्लोक ६ को देखते हुए इस अपवाद का सम्बन्ध सभी मार्गों के साथ है[6]। अतः अर्थ भी इस बात को ध्यान मे रखकर किया गया है।

श्लोक ५ :

२६. श्लोक ५ :

पाँचवें श्लोक में विषम-मार्ग में चलने से उत्पन्न होने वाले दोष बतलाए गए हैं। दोष दो प्रकार के होते हैं शारीरिक और चारित्रिक। पहले प्रकार के दोष शरीर की और दूसरे प्रकार के दोष चारित्र की हानि करते हैं। गिरने और लड़खड़ाने से हाथ, पैर आदि टूट जाते हैं यह आत्म-विराधना है—शारीरिक हानि है। त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा होती है यह संयम-विराधना है—चारित्रिक हानि है[7]। अगस्त्यसिंह के अनुसार शारीरिक दोष का विधान सूत्र मे नहीं है परन्तु यह दोष वृत्ति मे प्रतिभासित होता है[8]।

श्लोक ६ :

२७. दूसरे मार्ग के होते हुए (सइ अन्नेण मग्गेण [ग]) :

अन्य मार्ग हो तो विषम मार्ग से न जाया जाए[9]। दूसरा मार्ग न होने पर साधु विषम मार्ग से भी जा सकता है, इस अपवाद की सूचना इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है।

१--(क) अ० चू० पृ० १०० : पाणिय-विसमत्थाणाति सकमणं कत्तिमसंकमो।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : संकमिज्जंति जेण संकमो, सो पाणियस्स वा गड्डाए वा भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १६४ : 'संकमेण' जलगर्तापरिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन।

२—कौटि० अर्थ० १०.२ : हस्तिस्तम्भसंक्रमसेतुबन्धनौकाष्ठवेणुसंघातैः, अलाबुचर्मकरण्डदृतिप्लवगण्डिकावेणिकाभिश्च उदकानि तारयेत्।

३—वही [व्याख्या] : स्तम्भसंक्रमैः—स्तम्भानामुपरि दारुफलकाविघटनया कल्पितैः संक्रमैः।

४—अ० चि० ६.१५३ : संक्रामसंक्रमौ दुर्गसञ्चरे।

५—(क) हा० टी० प० १६४ : अपवादमाह—विद्यमाने पराक्रमे—अन्यमार्गं इत्यर्थः।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : तेण संकमेण विज्जमाणे परक्कमे णो गच्छेज्जा।

६—जि० चू० पृ० १६६ : जम्हा एते दोसा तम्हा विज्जमाणे गमणपहे ण सपच्चवाएण पहेण संजएण सुसमाहिएण गंतव्वं।

७—(क) जि० चू० पृ० १६६ : इयाणिं आतविराहणा संजमविराहणा य दोवि भण्णंति। ते तत्थ पवडंते वा पक्खलंते वा हत्थाइ-लूसणं पावेज्जा, तसथावरे वा जीवे हिंसेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६४ : अधुना तु आत्मसंयमविराधनापरिहारमाह ⋯ ⋯ आत्मसंयमविराधनासंभवात्।

८—अ० चू० पृ० १०० : तस्स पवडंतस्स पक्खुलंतस्स जं हत्थ-पादादिलूसणं आयकरणाति तं सव्वजणप्रतीतमिति ण सुत्ते, वृत्तीए विभासिज्जति।

९—(क) अ० चू० पृ० १०० : सतीति विज्जमाणे।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : 'सति' त्ति जदि अण्णो मग्गो अत्थि तो तेण ण गच्छेज्जा।

'अन्नेण मग्गेण' हरिभद्र सूरि के अनुसार यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया का प्रयोग है[1]।

२८. यतनापूर्वक जाये (जयमेव परक्कमे [घ]) :

'जयं' (यतम्) शब्द क्रिया-विशेषण है। परक्कमे (पराक्रमेत्) क्रिया है। यतनापूर्वक अर्थात् आत्मा और संयम की विराधना का परिहार करते हुए चले। गर्ताकीर्ण आदि मार्गों से जाने का निषेध है, पर यदि अन्य मार्ग न हो तो गर्ताकीर्ण आदि मार्ग से इस प्रकार जाये कि आत्म-विराधना और संयम-विराधना न हो[2]।

२९. अगस्त्य चूर्णि में छठे श्लोक के पश्चात् निम्न श्लोक आता है :

> चलं कट्ठं सिलं वा वि, इट्टालं वा वि संकमो।
> न तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो॥

इसका अर्थ है हिलते हुए काष्ठ, शिला, ईंट एवं संक्रम पर से साधु न जाए क्योंकि ज्ञानियो ने वहाँ असंयम देखा है।

चूर्णिकार के अनुसार दूसरी परम्परा के आदर्शों मे यह श्लोक यहाँ नही है, आगे है[3]; किन्तु उपलब्ध आदर्शों में यह श्लोक नही मिलता। जिनदास और हरिभद्र की व्याख्या के अनुसार ६४ वे श्लोक के पश्चात् इसी आशय के दो श्लोक उपलब्ध होते हैं —

> होज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया।
> ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥६५॥
> ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
> गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विदिए समाहिए॥६६॥

श्लोक ७ :

३०. श्लोक ७ :

चलते समय साधु किस प्रकार पृथ्वीकाय के जीवो की यतना करे—इसका वर्णन इस श्लोक में है।

३१. सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से (ससरक्खेहिं पाएहिं [ग]) :

जिनदास और हरिभद्र ने इसका अर्थ किया है—सचित्त पृथ्वीकाय के रज-कण से गुण्डित पैरों से[4]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने राख-कण जैसे सूक्ष्म रज-कणों को 'ससरक्ख' माना है तथा 'पाय' शब्द को जाति में एकवचन माना है[5]।

'ससरक्खेहिं' शब्द की विशेष व्याख्या के लिए देखिए ४.१८ का टिप्पण न० ६६।

---

१ — हा० टी० प० १६४ : 'सति-अन्येन' इति—अन्यस्मिन् समावौ 'मार्गेण' इति मार्गे, छान्दसत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया।

२—(क) अ० चू० पृ० १०० : असति जयमेव ओवातातिणा परक्कमे।

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : जयमेव परक्कमे णाम जति अण्णो मग्गो नत्थि ता तेणवि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसंजमविराहणा ण भवइ।

(ग) हा० टी० प० १६४ : असति त्वन्यस्मिन्मार्गे तेनैवावपातादिना ·········यतमात्मसंयमविराधनापरिहारेण यायादिति। यतमिति क्रियाविशेषणम्।

३—अ० चू० पृ० १०० : अयं केसिंचि सिलोगो उवरिं भण्णिहिति।

४—(क) जि० चू० पृ० १६१ : ससरक्खेहिं—सचित्तरयगुण्डिएहिं पाएहिं।

(ख) हा० टी० प० १६४ : सचित्तपृथिवीरजोगुण्डिताभ्यां पादाभ्याम्।

५—अ० चू० पृ० १०१ : 'ससरक्खेण' सरक्खो—सुसण्हो छारसरिसो पुढविरतो, सह सरक्खेण ससरक्खो तेण पाएण, एगवयणं जातीए वयत्थो।

३२. कोयले (इंगालं⋯रासिं क) :

अङ्गार-राशि—अङ्गार के ढेर। अङ्गार—पूरी तरह न जली हुई लकड़ी का बुझा हुआ अवशेष[१]। इसका अर्थ दहकता हुआ कोयला भी होता है।

३३. ढेर के (रासिं ख) :

मूल मे 'राशि' शब्द 'छारिय', 'तुस'—इन के साथ ही है, पर उसे 'इगाल' और 'गोमय' के साथ भी जोड़ लेना चाहिए[२]।

श्लोक ८ :

३४. श्लोक ८ :

इस श्लोक में जल, वायु और तिर्यग् जीवों की विराधना से बचने की दृष्टि से चलने की विधि बतलाई है।

३५. वर्षा बरस रही हो (वासे वासंते क) :

भिक्षा का काल होने पर यदि वर्षा हो रही हो तो भिक्षु बाहर न निकले। भिक्षा के लिए निकलने के बाद यदि वर्षा होने लगे तो वह ढँके स्थान में खड़ा हो जाये, आगे न जाये[३]।

३६. कुहरा गिर रहा हो (महियाए पडंतिए ख) :

कुहरा प्राय: शिशिर ऋतु मे—गर्भ-मास मे पड़ा करता है। ऐसे समय मे भिक्षु भिक्षा-चर्या के लिए गमन न करे[४]।

३७. महावात चल रहा हो (महावाये व वायंते ग) :

महावात से रजे उडती हैं। शरीर के साथ उनका आघात होता है, इससे सचित्त रजो की विराधना होती है। अचित्त रजे आँखो में गिरती हैं। इन दोषो को देख भिक्षु ऐसे समय में गमन न करे[५]।

३८. मार्ग में तिर्यक् संपातिम जीव छा रहे हों (तिरिच्छसंपाइमेसु वा घ) :

जो जीव तिरछे उडते हैं उन्हे तिर्यक् सम्पातिम जीव कहते हैं। वे भ्रमर, कीट, पतग आदि जन्तु हैं[६]।

१—(क) अ० चू० पृ० १०१ : 'इंगालो' सविराईण वड्ढणेव्वाण तं इंगालं।
(ख) हा० टी० प० १६४ : आङ्गारमिति अङ्गाराणामयमाङ्गारस्तमाङ्गारं राशिम्।

२—(क) अ० चू० पृ० १०१ रासि सद्दो पुण इंगालछारियाए वट्टति। 'तुसरासिं' च 'गोमयं' ⋯ एत्थवि रासि त्ति उभये वत्तते।
(ख) हा० टी० प० १६४ : राशिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते।

३-(क) अ० चू० पृ० १०१ : ण इति पडिसेहसद्दो, चरणं गोचरस्स तं पडिसेहेति, 'वासं' मेघो, तम्मि पाणियं मुयन्ते।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : नकारो पडिसेहे वट्टइ, चरेज्ज नाम भिक्खुस्स अट्ठा गच्छेज्जत्ति, वासं पसिद्धमेव, तंमि वासे वरिसमाणेण उ चरियव्वं, उस्सिण्णेण य पवुट्ठे अहाछन्नाणि सगडगिहाईणि पविसित्ता ताव अच्छइ जावट्ठिओ ताहे हिंडइ।
(ग) हा० टी० प० १६४ : न चरेद्वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।

४—(क) जि० चू० पृ० १७० : महिया पायसो सिसिरे गब्भमासे भवइ, ताएवि पडन्तीए नो चरेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६४ : महिकायां वा पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति।

५-(क) अ० चू० पृ० १०१ : वाउक्काय जयणा पुण 'महावाते' अतिसमुद्धुतो मारुतो महावातो, तेण समुद्धुतो रतो वाउक्कातो य विराहिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : महावातो रयं समुद्धुणइ, तत्थ सचित्तरयस्स विराहणा, अचित्तोवि अच्छीणि भरेज्जा एवमाई दोसलिकाऊण ण चरेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६४ : महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात्।

६—(क) अ० चू० पृ० १०१ : तिरिच्छसंपातिमा पतंगादतो तसा, तेसु पभूतेसु संपयतेसु ण चरेज्जा इति वट्टति।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : तिरिच्छं संपयंतीति तिरिच्छसंपाइमा, ते य पयंगादी।
(ग) हा० टी० प० १६४ : तिर्यक्संपतन्तीति तिर्यक्सम्पाताः—पतङ्गादयः।

श्लोक ९ :

३९. श्लोक ९-११ :

भिक्षा के लिए निकले हुए साधु को कैसे मुहल्ले से नहीं जाना चाहिए इसका वर्णन ९ वें श्लोक के प्रथम दो चरण में हुआ है। वहाँ वेश्या-गृह के समीप जाने का निषेध है। इस श्लोक के अन्तिम दो चरणों तथा १० वें श्लोक में वेश्या-गृह के समीप जाने से जो हानि होती है, उसका उल्लेख है। ११ वें श्लोक में दोष-दर्शन के बाद पुनः निषेध किया गया है।

४०. ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि (बंभचेरवसाणुए क) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका अर्थ—'ब्रह्मचर्य का वशवर्ती' होता है और यह मुनि का विशेषण है[1]। जिनदास महत्तर ने 'बंभचेरवसाणुए' ऐसा पाठ मानते हुए भी तथा टीकाकार ने 'बंभचेरवसाणए' पाठ स्वीकृत कर उसे 'वेससामंते' का विशेषण माना है और इसका अर्थ ब्रह्मचर्य को वश में लाने (उसे अधीन करने) वाला किया है[2]। किन्तु इसे 'वेससामंते' का विशेषण मानने से 'चरेज्ज' क्रिया का कोई कर्ता शेष नही रहता, इसलिए तथा अर्थ-सगति की दृष्टि से यह साधु का ही विशेषण होना चाहिए। अगस्त्य-चूर्णि में 'बंभचारि-वसाणुए' ऐसा पाठान्तर है। इसका अर्थ है—ब्रह्मचारी—आचार्य के अधीन रहने वाला मुनि[3]।

४१. वेश्या बाड़े के समीप (वेससामंते क) :

जहाँ विषयार्थी लोग प्रविष्ट होते हैं अथवा जो जन-मन में प्रविष्ट होता है वह 'वेश' कहलाता है[4]। इस 'वेश' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—नीच स्त्रियों का समवाय[5]। अमरकीर्ति ने 'वेश' का अर्थ वेश्या का बाड़ा किया है[6]।

अभिधान चिन्तामणि में इसके तीन पर्यायवाची नाम हैं— वेश्याश्रय, पुरं, वेश।[7]

जिनदास महत्तर ने 'वेस' का अर्थ वेश्या किया है[8]। टीकाकार भी इसी का अनुसरण करते हैं[9] किन्तु शाब्दिक दृष्टि से पहला अर्थ ही सगत है। 'सामन्त' का अर्थ समीप है[10]। समीप के अर्थ में 'सामन्त' शब्द का प्रयोग आगमो मे बहुत स्थलों मे हुआ है[11]। जिनदास कहते हैं—साधु के लिये वेश्या-गृह के समीप जाना भी निषिद्ध है। वह उसके घर में तो जा ही कैसे सकता है[12]।

४२. विस्रोतसिका (विसोत्तिया क) :

विस्रोतसिका का अर्थ है—सारणिनिरोध, जलागम के मार्ग का निरोध या किसी वस्तु के आने का स्रोत रुकने पर उसका दूसरी ओर मुड़ जाना[13]। चूर्णिकार विस्रोतसिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं : जैसे—कूडे-करकट के द्वारा जल आने का मार्ग रुक

१—अ० चू० पृ० १०१ : 'बभचेरवसाणुए' बंभचेरं मेहुणवज्जणव्रतं तस्स वसमणुगच्छति जं बंभचेरवसाणगो साधू।

२—(क) जि० चू० पृ० १७० : जम्हा तंमि वेससामन्ते हिंडमाणस्स बंभचेरव्वयं वसमाणिज्जतित्ति तम्हा तं वेससामंतं बभचेर-वसाणुग भण्णइ, तमि बमचेरवसाणुए।

(ख) हा० टी० प० १६५ : ब्रह्मचर्यवशानयने (नये)ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिरूपं वशमानयति आत्मायत्तं करोति दर्शनाक्षेपा-दिनेति ब्रह्मचर्यवशानयनं तस्मिन्।

३—अ० चू० पृ० १०१ : बंभचारिणो गुरुणो तेसिं वसमणुगच्छतीति बंभचेर (?चारि) वसाणुए।

४—अ० चू० पृ० १०१ : 'वेससामन्ते' पविसंति तं विसयत्थिणो त्ति वेसा, पविसति वा जणमणेसु वेसो।

५—अ० चू० पृ० १०१ : स पुण णीयइत्थिसमवातो।

६—अ० मा० श्लो० ३६ का भाष्य पृ० १७ : वेशे वेश्यावाटे भवा वेश्या।

७—अ० चि० ४.६९ : वेश्याऽऽश्रयः पुरं वेशः।

८—जि० चू० पृ० १७० : वेसाओ दुक्खचरियाओ, अण्णाओवि जाओ दुक्खचरियाकम्मेसु वट्टंति ताओवि वेसाओ चेव।

९—हा० टी० प० १६५ : 'न चरेद्वेश्यासामन्ते' न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे।

१०—अ० चू० पृ० १०१ : सामंते समीवे वि, किमुत तम्मि चेव।

११—भग० १.१ पृ० ३१ : अदूरसामन्ते।

१२—जि० चू० पृ० १७० : सामन्तं नाम तासिं गिहसमीवं, तमवि वज्जणीयं, किमंग पुण तासिं गिहाणि ?

१३—अ० चू० पृ० १०१ : विस्रोतसा प्रवृत्तिः—विस्रोतसिका विसोत्तिका। सा चउव्विहा—णामठ्ठवणातो गतातो। दव्वविसोत्तिया कट्ठतणादीहिं सारणिणिरोहो अण्णतोगमणमुदयस्स। भावविसोत्तिता वेसित्थिसविलासवियेक्खित-हसित-विब्भमेहिं रागा-वहुमणोसमाहितारणीअस्स णाण-दंसण-चरित्तसस्सविणासो भवति।

जाने पर उसका बहाव दूसरी ओर हो जाता है, खेती सूख जाती है, वैसे ही वेश्याओं के हाव-भाव देखनेवालों के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का स्रोत रुक जाता है और संयम की खेती सूख जाती है[१]।

श्लोक १० :

४३. अस्थान में (अणायणे [क]) :

सावद्य, अशोधि-स्थान और कुशील-संसर्ग—ये अनायतन के पर्यायवाची नाम हैं[२]। इसका प्राकृत रूप दो प्रकार से प्रयुक्त होता है—अणाययण और अणायण। अणाययण के यकार का लोप और अकार की संधि करने से अणायण बनता है।

४४. बार-बार जाने वाले के "संसर्ग होने के कारण (संसग्गीए अभिक्खणं [ख]) :

इसका सम्बन्ध 'चरतस्स' से है। 'अभीक्ष्ण' का अर्थ है बार-बार। अस्थान में बार-बार जाने से संसर्ग (सम्बन्ध) हो जाता है। संसर्ग का प्रारम्भ दर्शन से और उसकी परिसमाप्ति प्रणय में होती है। पूरा क्रम यह है—दर्शन से प्रीति, प्रीति से रति, फिर विश्वास और प्रणय[३]।

४५. व्रतों की पीड़ा (विनाश) (वयाणं पीला [ग]) :

'पीड़ा' का अर्थ विनाश अथवा विराधना होता है[४]। वेश्या-संसर्ग से ब्रह्मचर्य-व्रत का विनाश हो सकता है किन्तु सभी व्रतों का नाश कैसे संभव है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—ब्रह्मचर्य में विचलित होने वाला श्रामण्य को त्याग देता है, इसलिए उसके सारे व्रत टूट जाते हैं। कोई श्रमण श्रामण्य को न भी त्यागे, किन्तु मन भोग में लगे रहने के कारण उसका ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है। वह चित्त की चंचलता के कारण एषणा या ईर्या की शुद्धि नहीं कर पाता, उससे अहिंसा-व्रत की पीड़ा होती है। वह इधर-उधर रमणियों की तरफ देखता है, दूसरे पूछते हैं तब झूठ बोलकर दृष्टि-दोष को छिपाना चाहता है, इस प्रकार सत्य-व्रत की पीड़ा होती है। तीर्थङ्करों ने श्रमण के लिए स्त्री-संग का निषेध किया है। स्त्री-संग करने वाला उनकी आज्ञा का भंग करता है, इस प्रकार अचौर्य-व्रत की पीड़ा होती है। स्त्रियों में ममत्व करने के कारण उसके अपरिग्रह-व्रत की पीड़ा होती है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होने से सब व्रत पीड़ित हो जाते हैं[५]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७१ : दव्वविसोत्तिया जहा सारणिपाणियं कयवराइणा आगमसोते निरुद्धे अण्णतो गच्छइ, तओ तं सस्सं सुक्खइ, सा दव्वविसोत्तिया, तासिं वेसाणं भावविप्पेक्खियं णट्टहसियादी पासंतस्स णाणदंसणचरित्ताण आगमो निरुभति, तओ संजमसस्स सुक्खइ, एसा भावविसोत्तिया।

(ख) हा० टी० प० १६५ : विस्रोतसिका' तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमसस्यशोषफला चित्तविक्रिया।

२—ओ० नि० ७६४ :

सावज्जमणायतणं असोहिठाण कुसीलसंसग्गी।
एगट्ठा होंति पदा एते विवरीय आययणा॥

३—(क) अ० चू० पृ० १०१ : तम्मि 'चरन्तस्स' गच्छन्तस्स 'संसग्गी' संपक्को "संसग्गीए अभिक्खणं" पुणो पुणो। किंच

संदसणेण पिती पीतीओ रती रतीतो वीसंभो।
वीसंभातो पणतो पचविहं वड्ढई पेम्मं॥

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : वेससामंतं अभिक्खणं अभिक्खण एंतजंतस्स ताहिं समं संसग्गी जायति, भणियं च—

सदंसणाओ पीई पीतीओ रती रती य वीसभो।
वीसंभाओ पणओ पंचविहं वड्ढई पेम्म॥

४—(क) अ० चू० पृ० १०२ : वताणं बंभव्वतपहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो वा।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : पीडानाम विणासो।

(ग) हा० टी० प० १६५ : 'व्रतानां' प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना।

५—(क) अ० चू० पृ० १०२ : वताणं बंभव्वतपहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो वा समणभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो 'विसयविचालितचित्तो समणभावं छड्डेमि मा वा ?' इति संदेहो, परस्स 'एवं विहट्ठाणविचारी किं पव्वतितो चिट्ठो वेसच्छण्णो ?' त्ति संसयो। सति संदेहे चागविचित्तीकतस्स सव्वमहव्वतपीला, अछड्डप्पव्वतति ततो वयचित्तसी, अणुप्पव्वयंतस्स पीडा वयाण, तासु गयचित्तो रियं ण सोहेति त्ति पाणातिवातो। पुच्छितो' किं ओएसि ?' त्ति अवलवति मुसावातो, अदत्तादाणमणणुण्णातो तित्थकरेहिं, मेहुणे विगयभावो, मुच्छाए परिग्गहो वि।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवंति, अहवि न उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावाओ मेहुणं पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसणं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ— किं जोएसि ? ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाउत्ति काउं अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्तं करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।

वहाँ हरिभद्र सूरि 'तथा च वृद्ध व्याख्या' कहकर इसी आशय को स्पष्ट करने वाली कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं[1]। ये दोनों चूर्णिकारों की पंक्तियों से भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनके सामने चूर्णियों के अतिरिक्त कोई दूसरी भी वृद्ध-व्याख्या रही है।

४६. श्रामण्य में सन्देह हो सकता है (सामण्णम्मि य संसओ [ग]) :

इस प्रसङ्ग में श्रामण्य का मुख्यार्थ ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय-विषयो को उत्तेजित करने वाले साधन श्रमण को उसकी साधना में संदिग्ध बना देते हैं[2]। विषय में आसक्त बना हुआ श्रमण ब्रह्मचर्य के फल में सन्देह करने लग जाता है। इसका पूर्ण क्रम उत्तराध्ययन में बतलाया गया है। ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का पालन न करने वाले ब्रह्मचारी के शका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है। चारित्र का नाश होता है, उन्माद बढ़ता है, दीर्घकालिक रोग एवं आतंक उत्पन्न होते हैं और वह केवली-प्रज्ञप्त-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है[3]।

श्लोक ११ :

४७. एकान्त (मोक्ष-मार्ग) का (एगंतं [घ]) :

सभी व्याख्याकारों ने 'एकान्त' का अर्थ मोक्ष-मार्ग किया है[4]। ब्रह्मचारी को विविक्त-शय्यासेवी होना चाहिए, इस दृष्टि से यहाँ 'एकान्त' का अर्थ विविक्त-चर्या भी हो सकता है।

श्लोक १२ :

४८. श्लोक १२ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के लिये जाता हुआ मुनि रास्ते में किस प्रकार के समागमों का या प्रसगो का परिहार करता हुआ चले, यह बताया गया है। वह कुत्ते, नई ब्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व, हाथी तथा क्रीडाशील बालको आदि के समागम से दूर रहे। यह उपदेश आत्म-विराधना और सयम-विराधना दोनो की दृष्टि से है।

४९. ब्याई हुई गाय (सूइयं गावि [क]) :

प्राय: करके देखा गया है कि नव प्रसूता गाय आहननशील—मारनेवाली होती है[5]।

५०. बच्चों के क्रीड़ा-स्थल (संडिब्भं [ग]) :

जहाँ बालक विविध क्रीड़ाओं में रत हो (जैसे धनुष् आदि से खेल रहे हों), उस स्थान को 'सडिब्भ' कहा जाता है[6]।

१—हा० टी० प० १६५ : तथा च वृद्धव्याख्या - वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेण एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयण, अणणुण्णायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण संसयो उण्णिक्खमणेण त्ति।

२—(क) अ० चू० पृ० १०२ : समणभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो 'विसयविचालितचित्तो समणभाव छड्डेमि मा वा ?' इति संदेहो, परस्स एवंविहत्थाणविचारी किं पव्वतितो चिडो वेसच्छण्णो ? त्ति संसयो।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : सामण्णं नाम समणभावो, तंमि समणभावे संसयो भवइ, किं ताव सामण्णं धरेमि ?उदाहु उप्पव्वयामित्ति ? एवं संसयो भवइ।

(ग) हा० टी० प० १६५ : 'श्रामण्ये च' श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः।

३—उत्त० १६.१ : बम्भचेरे सका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा।

४—(क) अ० चू० पृ० १०२ : एगंतो निरपवातो मोक्खगामी मग्गो णाणादि।

(ख) हा० टी० प० १६५ : 'एकान्तं' मोक्षम्।

५—(क) जि० चू० पृ० १७१ : सूविया गावी पायसो आहणणसीला भवइ।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'सूतां गाम्' अभिनवप्रसूतामित्यर्थः।

६—(क) अ० चू० पृ० १०२ : डिम्भाणि चेडरूवाणि णाणाविहेहिं खेलणएहिं खेलंताणं तेसिं समागमो संडिब्भं।

(ख) जि० चू० पृ० १७१-७२ : संडिब्भं नाम बालरूवाणि रमंति धणुहिं।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'संडिम्भं' बालक्रीडास्थानम्।

५१. कलह (कलहं [घ]) :

इसका अर्थ है – वाचिक झगड़ा[1]।

५२. युद्ध (के स्थान) को (जुद्धं [ग]) :

युद्ध—आयुध आदि से होने वाली हनाहनी —मार-पीट[2]। कलह और युद्ध में यह अन्तर है कि वचन की लड़ाई को कलह और शस्त्रों की लड़ाई को युद्ध कहा जाता है।

५३. दूर से टाल कर जाये (दूरओ परिवज्जए [घ]) :

मुनि ऊपर बताए गए प्रसङ्ग या स्थान का दूर से परित्याग करे, क्योंकि उपर्युक्त स्थानों पर जाने से आत्म-विराधना और संयम-विराधना होती है[3]। समीप जाने पर कुत्ते के काट खाने की, गाय, बैल, घोड़े एवं हाथी के सींग, पैर आदि से चोट लग जाने की संभावना रहती है। यह आत्म-विराधना है।

क्रीडा करते हुए बच्चे धनुष् से वाण चलाकर मुनि को आहत कर सकते हैं। वंदन आदि के समय पात्रों को पैरों से फोड़ सकते है; उन्हें छीन सकते हैं। हरिभद्र सूरि के अनुसार यह संयम-विराधना है।

मुनि कलह आदि को सहन न कर सकने से बीच में बोल सकता है। इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं[4]।

श्लोक १३ :

५४. श्लोक १३ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के समय मुनि की मुद्रा कैसी रहे यह बताया गया है[5]।

५५. न ऊंचा मुंह कर (अणुन्नए [क]) :

उन्नत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-उन्नत और भाव-उन्नत। जो मुह ऊँचा कर चलता है आकाशदर्शी होता है उसे 'द्रव्य-उन्नत' कहते हैं। जो दूसरों की हंसी करता हुआ चलता है, जाति आदि आठ मदों से मत्त (अभिमानी) होता है वह 'भाव-उन्नत' कहलाता है[6]। मुनि को भिक्षाचर्या के समय द्रव्य और भाव—दोनों दृष्टियों से अनुन्नत होना चाहिए।

१—(क) अ० चू० पृ० १०२ : कलहो वाया-समधिक्खेवादि।
　(ख) जि० चू० पृ० १७२ : कलहो नाम वाइओ।
　(ग) हा० टी० प० १६६ : 'कलहं' वाक्प्रतिबद्धम्।

२—(क) अ० चू० पृ० १०२ : जुद्धं आयुहादीहि हणाहणी।
　(ख) जि० चू० पृ० १७२ : जुद्धं नाम ज आउहकट्ठादीहिं।
　(ग) हा० टी० प० १६६ : 'युद्ध' खड्गादिभिः।

३—हा० टी० प० १६६ : 'दूरतो' दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्।

४—(क) अ० चू० पृ० १०२ : अपरिवज्जणे दोसो—साणो खाएज्जा, गावी मारेज्जा, घोण हूल-गता वि, चेडरूवाणि परिवारेतुं वंदताणि भाण विराहेज्जा आहणेज्ज वा हट्टालाविणा, कलहे अणहियासो किंचि हणेज्ज भणेज्ज वा अजुत्तं, जुद्धं उम्मत्त-कंडाविणा हम्मेज्ज।
　(ख) जि० चू० पृ० १७२ : सुणओ खाएज्जा, गावी मारिज्जा, गोणो मारेज्जा, एवं हय-गयाणवि-मारणाविदोसा भवति, बाल-रूवाणि पुण पाएसु पडियाणि भाणं भिंदिज्जा, कड्ढाकड्ढिपि करेज्जा, धणुविप्पमुक्केण वा कंडेण आहणेज्जा ··तारिसं अणहियासंतो भणिज्जा, एवमादि दोसा।
　(ग) हा० टी० प० १६६ : श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनागमनपतनभञ्जनप्रलुण्ठनादिना संयम-विराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति।

५—अ० चू० पृ० १०२ : इदं तु सरीर-विलपणदोसपरिहरणत्थमुपदिस्सति।

६—जि० चू० पृ० १७२ : ·········दव्वुण्णओ भावुण्णओ······दव्वुण्णओ जो उण्णतेण मुहेण गच्छइ, भावुण्णओ हिट्ठो विहसियं करेंतो गच्छइ, जातिआदिएहिं वा अट्ठहिं मदेहिं मत्तो।

जो आकाशदर्शी होकर चलता है—ऊँचा मुँहकर चलता है वह ईर्या समिति का पालन नहीं कर सकता। लोग भी कहने लग जाते हैं—"देखो ! यह श्रमण उन्मत्त की भाँति चल रहा है, अवश्य ही यह विकार से भरा हुआ है।" जो भावना से उन्नत होता है वह दूसरों को तुच्छ मानता है। दूसरों को तुच्छ मानने वाला लोक-मान्य नहीं होता[1]।

५६. न झुककर (नावणए [क]) :

अवनत के भी दो भेद होते हैं : द्रव्य-अवनत और भाव-अवनत। द्रव्य-अवनत उसे कहते हैं जो झुककर चलता है। भाव-अवनत उसे कहते हैं जो दीन व दुर्मना होता है और ऐसा सोचता है—"लोग असयतियो की ही पूजा करते हैं। हमें कौन देगा ? या हमें अच्छा नहीं देगा आदि।" जो द्रव्य से अवनत होता है वह मखौल का विषय बनता है। लोग उसे बगुलाभगत कहने लग जाते हैं। जैसे—बड़ा उपयोग-युक्त है कि इस तरह नीचे झुक कर चलता है। भाव से अवनत वह होता है जो क्षुद्र भावना से भरा होता है[2]। श्रमणों को दोनों प्रकार से अवनत नही होना चाहिए।

५७. न हृष्ट होकर (अप्पहिट्ठे [ख]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अल्प-हृष्ट' या 'अहृष्ट' बनता है। अल्प शब्द का प्रयोग अल्प और अभाव—इन दो अर्थों में होता है। यहाँ यह अभाव के रूप में प्रयुक्त हुआ है[3]।

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अप्रहृष्ट' होता है[4]। 'प्रहर्ष' विकार का सूचक है इसलिए इसका निषेध है।

५८. न आकुल होकर (अणाउले [ख]) :

चलते समय मन नाना प्रकार के संकल्पों से भरा हो या श्रुत—सूत्र और अर्थ का चिन्तन चलता हो, वह मन की आकुलता है। विषय-भोग सम्बन्धी बाते करना, पूछना या पढ़े हुए ज्ञान की स्मृति करना वाणी की आकुलता है। अगों की चपलता शरीर की आकुलता है। मुनि इन सारी आकुलताओ को वर्जकर चले[5]। टीकाकार ने अनाकुल का अर्थ क्रोधादि रहित किया है[6]।

१—जि० चू० पृ० १७२ : दव्वुन्नतो इरियं न सोहेइ, लोगोवि भण्णइ—उम्मत्तओविव समणओ वजइ सविगारोत्ति, भावेवि अत्थि से माणो, तुट्ठत्तेणं अत्थि, सम्बन्धो अत्थित्ति, अहवा मदावलित्तो न सम्मं लोगं पासति, सो एवं अणुवसंतत्तणेण न लोग-सम्मतो भवति।

२—(क) अ० चू० पृ० १०२, १०३ : अवणतो चतुव्विहो—दव्वोणतो जो अवणयसरीरो गच्छति। भावोणतो 'कीस ण लभामि? विरूवं वा लभामि ? अस्संजता पूतिज्जंति' इति दीणदूमणो। ·····दव्वावणतो 'अहो ! जीवरक्खणुज्जुत्तो, सव्वपासंडाण वा णीयमप्पाणं जाणति' त्ति जणो वएज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १७२ : ......दव्वोणओ जो ओणयसरीरो खुज्जो वा, भावोणयो जो दीणदुम्मणो, कीस मिहत्था भिक्खं न देंति ?, जवा सुन्दरं देंति ? असंजते वा पूयति, ·· दव्वोणतेणवि उड्डुवंति जहा अहो जीवरक्खणुवउत्तो सुव्वतो एस (तेण) गो, अहवा सव्वपासंडाणं नीययरं अप्पाणं जाणमाणो चक्कमति एवमादि, एवं करेज्जा, भावोणते एवं चेवेति, जहा किमेतस्स पव्वइतेण ? कोहोऽणेण न णिज्जिओत्ति एवमादी।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'नावनतो' द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यानवनतोऽनीचकायः भावानवनतः अलब्ध्यादिनाऽदीनः······ द्रव्यावनतः बक इति संभाव्यते भावावनत. क्षुद्रसत्त्व इति।

३—जि० चू० पृ० १७२,७३ : अप्पसद्दो अभावे वट्टइ, थोवे य, इह पुण अप्पसद्दो अभावे दट्ठव्वो।

४—(क) अ० चू० पृ० १०३ : ण पहिट्ठो अपहिट्ठो।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'अप्रहृष्टः' अहसन्।

५—जि० चू० पृ० १७३ : अणाउलो नाम मणवयणकायजोगेहिं अणाउलो। माणसे अट्टदुहट्टाणि सुत्तत्थतदुभयाणि वा अचिंततो एसणं उवउत्तो गच्छेज्जा, वायाए वा जाणिवि ताणि अट्टमट्टाणि ताणि अभासमाणेण पुच्छणपरियट्टणादीणि य अकुव्वमाणेण हिंडियव्वं, काएणावि हत्थणट्टादीणि अकुव्वमाणो संकुचियहत्थपाओ हिंडेज्जा।

६—हा० टी० प० १६६ : 'अनाकुलः' क्रोधादिरहितः।

५९. इन्द्रियों को अपने-अपने विषय के अनुसार (इंदियाणि जहाभागं ^ग^) :

जिनदास चूर्णि में 'जहाभागं' के स्थान पर 'जहाभाव' ऐसा पाठ है। पाठ-भेद होते हुए भी अर्थ में कोई भेद नहीं है। 'यथाभाव' का अर्थ है—इन्द्रिय का अपना-अपना विषय। सुनना कान का विषय है, देखना चक्षु का विषय है, गन्ध लेना घ्राण का विषय है, स्वाद जिह्वा का विषय है, स्पर्श स्पर्शन का विषय है[1]।

६०. दमन कर (दमइत्ता ^घ^) :

कानों में पड़ा हुआ शब्द, आंखों के सामने आया हुआ रूप तथा इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों के विषय का ग्रहण रोका जा सके यह सम्भव नहीं किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष न किया जाय यह शक्य है। इसी को इन्द्रिय-दमन कहा जाता है[2]।

श्लोक १४ :

६१. श्लोक १४ :

इस श्लोक में मुनि आहार की गवेषणा के समय मार्ग में किस प्रकार चले जिससे लोकदृष्टि मे बुरा न लगे और प्रवचन की भी लघुता न हो उसकी विधि बताई गई है।

६२. उच्च-नीच कुल में (कुलं उच्चावयं ^घ^) :

कुल का अर्थ सम्बन्धियों का समवाय या घर है[3]। प्रासाद, हवेली आदि विशाल भवन द्रव्य से उच्च-कुल कहलाते है। जाति, धन, विद्या आदि से समृद्ध व्यक्तियो के भवन भाव से उच्च-कुल कहलाते हैं। तृणकुटी, झोपडी आदि द्रव्य से अवच-कुल कहलाते हैं और जाति, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियों के घर भाव से अवच-कुल कहलाते हैं[4]।

६३. दौड़ता हुआ न चले (दवदवस्स न गच्छेज्जा ^क^) :

'दवदव' का अर्थ है दौड़ता हुआ। इस पद में द्वितीया के स्थान मे षष्ठी है[5]। सम्भ्रान्त-गति का निषेध सयम-विराधना की दृष्टि से किया गया है और दौड़ते हुए चलने का निषेध प्रवचन-लाघव और सयम-विराधना दोनों दृष्टियो से किया गया है। संभ्रम (५.१.१) चित्त-चेष्टा है और द्रव-द्रव कायिक चेष्टा। इसलिए द्रुतगति का निषेध सम्भ्रान्त-गति का पुनरुक्त नही है[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७३ : जहाभावो नाम तेसिंदियाणं पत्तेयं जो जस्स विसयो सो जहभावो भण्णइ, जहा सोयस्स सोयव्वं चक्खुस्स दट्ठव्वं घाणस्स अग्घातियव्वं जिब्भाए सादेयव्वं फरिसस्स फरिसणं।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'यथाभागं' यथाविषयम्।

(ग) अ० चू० पृ० १०३ : इंदियाणि सोतादीणि ताणि जहाभागं जहाविसत, सोतस्स भागो सोतव्वं।

२—जि० चू० पृ० १७३ : ण य सक्का सद्दं असुणितेहिं हिंडिउं, किंतु जे तत्थ रागदोसा ते वज्जेयव्वा, भणियं च —"न सक्का सद्दमस्सोउं, सोतगोयरमागयं। रागद्दोसा उ जे तत्थ, ते बुहो परिवज्जए ॥१॥" एवं जाव फासोत्ति।

३—अ० चू० पृ० १०३ : कुलं संबंधिसमवातो, तदालयो वा।

४—हा० टी० प० १६६ : उच्चं —द्रव्यभावभेदाद्द्विधा—द्रव्योच्चं धवलगृहवासि भावोच्चं जात्यादियुक्तम्, एवमवचमपि द्रव्यतः कुटीरकवासि भावतो जात्यादिहीनमिति।

५—(क) जि० चू० पृ० १७३ : दवदवस्स नाम दुयं दुयं।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'द्रुतं-द्रुतं' त्वरितमित्यर्थः।

(ग) हैम० ८.३.१३४ : क्वचिद् द्वितीयादेः—इति सूत्रेण द्वितीया स्थाने षष्ठी।

६—(क) जि० चू० पृ० १७३ : सीसो आह—ननु असंभंतो अमुच्छिओ एतेण एसो अत्थो गओ, किमत्थं पुणो गहणं?, आयरिओ भणइ—पुव्वभणियं, जं भण्णति तत्थ कारणं अत्थि, जं तं हेट्ठा भणियं तं अविसेसियं पंथे वा गिहंतरे वा, तत्थ संजमविराहणा पाहण्णेण भणिया, इह पुण गिहाओ गिहंतरं गच्छमाणस्स भण्णइ, तत्थ भावतो संजमविराहणा भणिया, इह पुण पवयणलाघव सकणाइदोसा भवंतित्ति न पुणरुत्तं।

(ख) हा० टी० प० १६६ : दोषा उभयविराधनालोकोपघातादय इति।

श्लोक १५ :

६४. श्लोक १५ :

मुनि चलते-चलते उच्चावच कुलो की बसती मे आ पहुँचता है। वहाँ पहुँचने के बाद वह अपने प्रति किसी प्रकार की शका को उत्पन्न न होने दे, इस दृष्टि से इस श्लोक में यह उपदेश है कि वह झरोखे आदि को ताकता हुआ न चले।

६५. आलोक (आलोयं [क]) :

घर के उस स्थान को आलोक कहा जाता है जहाँ से बाहरी प्रदेश को देखा जा सके। गवाक्ष, झरोखा, खिड़की आदि आलोक कहलाते हैं[1]।

६६. थिग्गल (थिग्गलं [क]) :

घर का वह द्वार जो किसी कारणवश फिर से चिना हुआ हो[2]।

६७. संधि (संधिं [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार दो घरो के अतर (बीच की गली) को सधि कहा जाता है[3]। जिनदास चूर्णि और टीकाकार ने इसका अर्थ सेंध किया है। सेंध अर्थात् दीवार की ढकी हुई सुराख[4]।

६८. पानी-घर को (दगभवणाणि [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ जल-मचिका, पानीय कर्मान्त (कारखाना) अथवा स्नान-मण्डप आदि किया है।

जिनदास ने इसका अर्थ जल-घर अथवा स्नान-घर किया है।

हरिभद्र ने इसका अर्थ केवल जल-गृह किया है[5]।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पथ के आस-पास सर्व साधारण की सुविधा के लिए राजकीय जल-मंचिका, स्नान-मण्डप आदि रहते थे। जल-मंचिकाओं से औरतें जल भर कर ले जाया करती थी और स्नान-मण्डपों में साधारण स्त्री-पुरुष स्नान किया करते थे। साधु को ऐसे स्थानो को ध्यानपूर्वक देखने का निषेध किया गया है।

गृहस्थों के घरों के अन्दर रहे हुए परेण्डा, जल-गृह अथवा स्नान-घर से यहाँ अभिप्राय नही है क्योकि मार्ग में चलता हुआ साधु क्या नहीं देखे इसी का वर्णन है।

६९. शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से (संकट्ठाणं [ख]) :

टीकाकार ने शका-स्थान को आलोकादि का द्योतक माना है[6]। शंका-स्थान अर्थात् उक्त आलोक, थिग्गल—द्वार, सन्धि, उदक-भवन। इस शब्द में ऐसे अन्य स्थानो का भी समावेश समझना चाहिए।

१—(क) अ० चू० पृ० १०३ : आलोगो—गवक्खगो।
　(ख) जि० चू० पृ० १७४ : आलोगं नाम चोपलपाबी।
　(ग) हा० टी० प० १६६ : 'अवलोकं' निर्यूहकादिरूपम्।

२—(क) जि० चू० पृ० १७४ : थिग्गलं नाम जं घरस्स दारं पुव्वमासी त पडिपूरियं।
　(ख) हा० टी० प० १६६ : 'थिग्गलं' चितं द्वारादि।

३—अ० चू० पृ० १०३ : संधी जमलघराणं अंतरं।

४—(क) जि० चू० पृ० १७४ : संधी खत्तं पडिढक्कियं।
　(ख) हा० टी० प० १६६ : संधिः—चितं क्षेत्रम्।

५—(क) अ० चू० पृ० १०३ : पाणिय-कम्मंतं, पाणिय-मंचिका, ण्हाण-मण्डपादि दगभवणाणि।
　(ख) जि० चू० पृ० १७४ : दगभवणाणि—पाणियघराणि ण्हाणगिहाणि वा।
　(ग) हा० टी० प० १६६ : 'उदकभवनानि' पानीयगृहाणि।

६—हा० टी० प० १६६ : शङ्कास्थानमेतदवलोकादि।

प्रश्न हो सकता है—इन स्थानों को देखने का वर्जन क्यों किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि आलोकादि को ध्यानपूर्वक देखने वाले पर लोगों को चोर और पारदारिक होने का सन्देह हो सकता है[1] । आलोकादि का देखना साधु के प्रति शंका या सन्देह उत्पन्न कर सकता है अतः वे शंका-स्थान हैं ।

इनके अतिरिक्त स्त्री-जनाकीर्ण स्थान, स्त्री-कथा आदि विषय, जो उत्तराध्ययन में बतलाए गए हैं[2], वे भी सब शंका-स्थान हैं । स्त्री-सम्पर्क आदि से ब्रह्मचर्य में शंका पैदा हो सकती है । वह ऐसा सोच सकता है कि अब्रह्मचर्य में जो दोष बतलाए गए हैं वे सचमुच हैं या नहीं ? कहीं मैं ठगा तो नहीं जा रहा हूं ? आदि-आदि । अथवा स्त्री-सम्पर्क में रहते हुए ब्रह्मचारी को देख दूसरों को उसके ब्रह्मचर्य के बारे में संदेह हो सकता है । इसलिए इन्हें शंका का स्थान (कारण) कहा गया है । उत्तराध्ययन के अनुसार शंका-स्थान का संबन्ध ब्रह्मचारी की स्त्री-संपर्क आदि नौ गुप्तियों से है[3] और हरिभद्र के अनुसार शंका-स्थान का संबंध आलोक आदि से है[4] ।

श्लोक १६ :

७०. श्लोक १६ :

श्लोक १५ में शंका-स्थानों के वर्जन का उपदेश है । प्रस्तुत श्लोक में संक्लेशकारी स्थानों के समीप जाने का निषेध है ।

७१. गृहपति (गिहवईणं [क]) :

गृहपति—इभ्य, श्रेष्ठी आदि[5] । प्राचीनकाल में गृहपति का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता था जो गृह का सर्वाधिकार-सम्पन्न स्वामी होता[6] । उस युग में समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई गृह थी । साधारणतया गृहपति पिता होता था । वह विरक्त होकर गृह-कार्य से मुक्त होना चाहता अथवा मर जाता, तब उसका उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को मिलता । उसका अभिषेक-कार्य समारोह के साथ सम्पन्न होता । मौर्य-शुंग काल में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग समृद्ध वैश्यों के लिए होने लगा था ।

७२. अन्तःपुर और आरक्षिकों के (रहस्सारक्खियाण [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'रहस्स-आरक्खियाण' को एक शब्द माना है और इसका अर्थ राजा के अन्तःपुर के अमात्य आदि किया है ।[7]

जिनदास और हरिभद्र ने इन दोनों को पृथक् मानकर अर्थ किया है । उन्होंने 'रहस्स' का अर्थ राजा, गृहपति और आरक्षिकों का मंत्रणा-गृह तथा 'आरक्खिय' का अर्थ दण्डनायक किया है[8] ।

१—अ० चू० पृ० १०३ : सकट्ठाणं विवज्जए, ताणि निज्झायमाणो 'किण्णु चोरो ? पारदारितो ?' त्ति संकेज्जेज्जा, 'थाणं' पदं तमेवंविहं संकापदं ।

२—उत्त० १६.११-१४ ।

३—वही १६.१४ : संकाट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ।

४—हा० टी० प० १६६ ।

५—(क) अ० चू० पृ० १०४ : गिहवइणो इब्भादतो ।
(ख) हा० टी० प० १६६ : 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनाम् ।

६—उवा १.१३ : से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावई सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढी पमाणं आहारे आलंबणं चक्खू, मेढीभूए पमाणभूए आहारभूए आलंबणभूए चक्खुभूए सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था ।

७—अ० चू० पृ० १०४ : रहस्सारक्खिता—रायंतेपुरवरा अमात्यादयो ।

८—(क) जि० चू० पृ० १७४ : रण्णो रहस्सट्ठाणाणि गिहवईणं रहस्सट्ठाणाणि आरक्खियाणं रहस्सट्ठाणाणि, संकणादिदोसा भवंति, चकारेण अण्णेवि पुरोहियादि गहिया, रहस्सट्ठाणाणि नाम गुज्झोवरगा, जत्थ वा राहस्सियं मंतेंति ।
(ख) हा० टी० प० १६६ : राज्ञः—चक्रवर्त्यादेः 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनां रहःस्थानमिति योगः, 'आरक्षकाणां च' दण्डनायकादीनां 'रहःस्थानं' गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि ।

७३. संक्लेश उत्पन्न हो (संकिलेसकरं ^ग) :

रहस्य-स्थानों में साधु क्यों न जाये इसका उत्तर इसी श्लोक में है । ये स्थान सक्लेशकर हैं अतः वर्जनीय हैं ।

गुह्य स्थान में जाने से साधु के प्रति स्त्रियों के अपहरण अथवा मंत्र-भेद करने का सन्देह होता है । सन्देहवश साधु का निग्रह किया जा सकता है अथवा उसे अन्य क्लेश पहुँचाये जा सकते हैं । व्यर्थ ही ऐसे सक्लेशों से साधु पीड़ित न हो, इस दृष्टि से ऐसे स्थानों का निषेध है[1] ।

संक्लेश का अर्थ है—असमाधि । असमाधि दस प्रकार की है[2] ।

श्लोक १७ :

७४. श्लोक १७ :

इस श्लोक में भिक्षाचर्या के लिए गये हुए मुनि को किन-किन कुलो में प्रवेश नहीं करना चाहिए, इसका उल्लेख है[3] ।

७५. निंदित कुल में (पडिकुट्ठकुलं ^क) :

'प्रतिकुष्ट' शब्द निन्दित, जुगुप्सित और गर्हित का पर्यायवाची है । व्याख्याकारों के अनुसार प्रतिकुष्ट दो तरह के होते हैं—अल्पकालिक और यावत्कालिक । मृतक और सूतक के घर अल्पकालिक—थोडे समय के लिए प्रतिकुष्ट हैं । डोम, मातङ्ग आदि के घर यावत्कालिक—सर्वदा प्रतिकुष्ट हैं[4] ।

आचाराङ्ग में कहा है—मुनि अजुगुप्सित और अगर्हित कुलों में भिक्षा के लिए जाये[5] ।

निशीथ में जुगुप्सनीय-कुल से भिक्षा लेने वाले मुनि के लिए प्रायश्चित का विधान किया है[6] ।

मुनियो के लिए भिक्षा लेने के सम्बन्ध में प्रतिकुष्ट कुल कौन से हैं—इसका आगम में स्पष्ट उल्लेख नही है । आगमों में जुगुप्सित जातियो का नाम-निर्देश नही है । वहाँ केवल अजुगुप्सित कुलो का नामोल्लेख है ।

प्रतिकुष्ट कुल का निषेध कब और क्यो हुआ—इसकी स्पष्ट जानकारी सुलभ नही है, किन्तु इस पर लौकिक व वैदिक व्यवस्था का प्रभाव है, यह अनुमान करना कठिन नहीं है । टीकाकार प्रतिकुष्ट के निषेध का कारण शासन-लघुता बताते हैं । उनके अनुसार जुगुप्सित घरों से भिक्षा लेने पर जैन-शासन की लघुता होती है इसलिए वहाँ से भिक्षा नही लेनी चाहिए[7] ।

१—(क) अ० चू० पृ० १०४ : तत्थ इत्थोतो वा राति वा पतिरिक्कमच्छंति मंतति वा तत्थ जदि अच्छति तो तेसिं संकिलेसो भवति किं एत्थ समणयो अच्छति ? कत्तो ति वा ? मन्त्रभेदादि संकेज्जा ।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : भवणगएत्थ इत्थियाइए हियणट्ठे संकणादिदोसा भवंति ।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'संक्लेशकरम्' असद्विकल्पप्रवृत्त्या मंत्रभेदे वा कर्षणादिनेति ।

२—ठा० १०।१४ : दसविधा असमाधी पण्णत्ता, त जहा—पाणातिवाते मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे इरियाऽसमिती भासाऽसमिती एसणाऽसमिती आयाणभंड-मत्त-णिक्खेवणाऽसमिती उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाणग-जल्ल-पारिट्ठावणियाऽसमिती ।

३—अ० चू० पृ० १०४ : इह तु भिक्खाए वाणमुवदिस्सति 'जतो भगियव्वा' ?

४ (क) अ० चू० पृ० १०४ : पडिकुट्ठं निन्दितं, त दुविहं—इत्तरियं आवकहियं च, इत्तरियं मयगसूतगादि, आवकहित चंडालादी ।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : पडिकुट्ठं दुविधं—इत्तिरियं आवकहियं च, इत्तिरियं मयगसूतगादी, आवकहिय अभोज्जा डोंब-मायंगादी ।

(ग) हा० टी० प० १६६ : प्रतिकुष्टकुलं द्विविधम्—इत्वरं यावत्कथिकं च, इत्वरं सूतकयुक्तम्, यावत्कथिकम् अभोज्यम् ।

५—आ० चू० १।२३ : से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, तं जहा, उग्गकुलाणि वा, भोगकुलाणि वा, राइण्णकुलाणि वा, खत्तियकुलाणि वा, इक्खागकुलाणि वा, हरिवंसकुलाणि वा, एसियकुलाणि वा, वेसियकुलाणि वा, गंडागकुलाणि वा, कोट्टागकुलाणि वा, गामरक्खकुलाणि वा, पोक्कसालियकुलाणि वा, अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगंछिएसु अगरहिएसु असणं पाणं खाइमं साइमं वा फासुयं एसणिज्जं जाव मण्णमाणे लाभे संते पडिग्गाहेज्जा ।

६—नि० १६.२७ : जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा……।

७—हा० टी० प० १६६ : एतन्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसंगात् ।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु इसे गणधर की मर्यादा बताते हैं[१]। शिष्य बीच में ही पूछ बैठता है—प्रतिकुष्ट कुल में जाने से किसी जीव का वध नहीं होता, फिर उसका निषेध क्यों? इसके उत्तर में वे कहते हैं—जो मुनि जुगुप्सित कुल से भिक्षा लेता है उसे बोधि दुर्लभ होती है[२]।

आचाराङ्ग में केवल भिक्षा के लिए जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[३]।

निशीथ मे बस्ती आदि के लिए जुगुप्सित कुल का निषेध मिलता है[४]।

ओघनिर्युक्ति में दीक्षा देने के बारे में जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[५]।

इस अध्ययन से लगता है कि जैन-शासन जब तक लोकसंग्रह को कम महत्त्व देता था, तब तक उसमें लोक-विरोधी भावना क तत्त्व अधिक थे। जैन-शासन में हरिकेशबल जैसे श्वपाक और आर्द्रकुमार जैसे दीक्षा पाने के अधिकारी थे, किन्तु समय-परिवर्तन के साथ-साथ ज्यो-ज्यो जैनाचार्य लोक-संग्रह मे लगे, त्यो-त्यो लोक-भावना को महत्त्व मिलता गया।

जाति और कुल शाश्वत नही होते। जैसे ये बदलते हैं वैसे उनकी स्थितियाँ भी बदलती हैं। किसी देश-काल में जो घृणित, तिरस्कृत या निन्दित माना जाता है वह दूसरे देश-काल मे वैसा नही माना जाता। ओघनिर्युक्ति में इस सम्बन्ध में एक रोचक सवाद है। शिष्य ने पूछा: "भगवन्! जो यहा जुगुप्सित है वह दूसरी जगह जुगुप्सित नहीं है फिर किसे जुगुप्सित माना जाये? किसे अजुगुप्सित? और उसका परिहार कैसे किया जाये?" इसके उत्तर मे निर्युक्तिकार कहते हैं: "जिस देश में जो जाति-कुल जुगुप्सित माना जाए उसे छोड़ देना चाहिए[६]।" तात्पर्य यह है कि एक कुल किसी देश में जुगुप्सित माना जाता हो, उसे वर्जना चाहिए और वही कुल दूसरे देश मे जुगुप्सित न माना जाता हो, वहाँ उसे वर्जना आवश्यक नही। अन्त में विषय का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं, "वह कार्य नही करना चाहिए जिससे जैन-शासन का अयश हो, धर्म-प्रचार मे बाधा आये, धर्म को कोई ग्रहण न करे। श्रावक या नव-दीक्षित मुनि की धर्म से आस्था हट जाए, अविश्वास पैदा हो और लोगो में जुगुप्सा घृणा फैले।"[७]

इन कारणो से स्पष्ट है कि इस विषय में लोकमत को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। जैन-दर्शन जातिवाद को तात्त्विक नही मानता इसलिए उसके अनुसार कोई भी कुल जुगुप्सित नही माना जा सकता। यह व्यवस्था वैदिक वर्णाश्रम की विधि पर आधारित है।

१—ओ० नि० गा ४४० :

ठवणा मिलक्खुनेहडं अचियत्तघरं तहेव पडिकुट्ठं॥
एय गणधरमेरं अइक्कमतो विराहेज्जा॥

२ ओ० नि० गा० ४४१ : आह—प्रतिकुष्टकुलेषु प्रविशतो न कश्चित् षड्जीववधो भवति किमर्थं परिहार इति ?, उच्यते—

छक्कायदयावंतोऽवि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं।
आहारे नीहारे दुगु छिए पिंडगहणे य॥

३ आ० चू० १।२३

४—नि० १६ २६ : जे भिक्खु दुगु छियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा सातिज्जति।

५—ओ० नि० गा० ४४३ :

अट्ठारस पुरिसेसु वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणाए एए दुगुंछिया जिणवरमयंमि॥

६—ओ० नि० गा० ४४२ ननु च ये इह जुगुप्सितास्ते चैवान्यत्राजुगुप्सितास्ततः कथं परिहरणं कर्त्तव्यम् ?, उच्यते—

जे जहि दुगुंछिया खलु पव्वावणवसहिभत्तपाणेसु।
जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेयव्वा पयत्तेण॥

७—ओ० नि० गा० ४४४ :

दोसेण जस्स अयसो आयासो पवयणे य अग्गहणं।
विप्परिणामो अपच्चओ य कुच्छा य उप्पज्जे॥

सर्वथा येन केनचित् 'दोषेण' निमित्तेन यस्य सम्बन्धिना 'अयशः' अश्लाघा 'आयासः' पीडा प्रवचने भवति, अग्रहणं वा विपरिणामो वा श्रावकस्य शैक्षकस्य वा तन्न कर्त्तव्यम्, तथाऽप्रत्ययो वा शासने येन भवति यदुतैतेऽन्यथा वदन्ति अन्यथा कुर्वन्ति एवंविधोऽप्रत्ययो येन भवति तन्न कर्त्तव्यम्।

प्राचीन काल में प्रतिकुष्ट कुलों की पहचान इन बातों से होती थी—जिनका घर टूटी-फूटी बस्ती में होता, नगर के द्वार के पास (बाहर या भीतर) होता और जिनके घर में कई विशेष प्रकार के वृक्ष होते वे कुल प्रतिकुष्ट समझे जाते थे ।[1]

७६. मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का (मामगं[ख]) :

जो गृहपति कहे—'मेरे यहाँ कोई न आये', उसके घर का । 'भिक्षु बुद्धि द्वारा मेरे घर के रहस्य को जान जायगा' आदि भावना से अथवा यह साधु अमुक धर्म का है ऐसे द्वेष या ईर्ष्या-भाव से ऐसा निषेध संभव है ।

निषिद्ध घर में जाने से भण्डनादि के प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं अतः वहाँ जाने का निषेध है[2] ।

७७. अप्रीतिकर कुल में (अचियत्तकुलं[ग]) :

किसी कारणवश गृहपति साधु को आने का निषेध न कर सके, किन्तु उसके जाने से गृहपति को अप्रेम उत्पन्न हो और उसके (गृहपति के) इंगित आकार से यह बात जान ली जाए तो वहाँ साधु न जाए । इसका दूसरा अर्थ यह भी है—जिस घर में भिक्षा न मिले, कोरा आने-जाने का परिश्रम हो, वहाँ न जाए । यह निषेध, मुनि द्वारा किसी को संक्लेश उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[3] ।

७८. प्रीतिकर (चियत्तं[घ]) :

जिस घर में भिक्षा के लिए साधु का आना-जाना प्रिय हो अथवा जो घर त्याग-शील (दान-शील) हो उसे प्रीतिकर कहा जाता है[4] ।

श्लोक १८ :

७९. श्लोक १८ :

इस श्लोक में यह बताया गया है कि गोचरी के लिये निकला हुआ मुनि जब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने को उन्मुख हो तब वह क्या न करे ।

१—ओ० नि० गा० ४३९ :

> पडिकुट्ठकुलाणं पुण पंचविहा बूभिआ अभिन्नाणं ।
> भग्गघरगोपुराई रुक्खा नाणाविहा चेव ॥

२—(क) अ० चू० पृ० १०४ : 'मामकं परिवज्जए' 'मा मम घरं पविसन्तु' त्ति मामकः सो पुणपंतयाए इस्सालुयत्ताए वा ।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : मामय नाम जत्थ गिहपती भणति—मा मम कोई घरमयिउ, पन्नत्तणेण मा कोई ममं छिद्दं लहिहेति, इस्सालुगदोसेण वा ।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'मामकं' यत्राऽऽह गृहपतिः—मा मम कश्चित् गृहमागच्छेत्, एतद् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसंगात् ।

३—(क) अ० चू० पृ० १०४ : अचियत्तं अप्पित, अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अचियत्तो, तस्स ज कुलं तं न पविसे, अहवा ण चागो जत्थ पवत्तइ तं चागपरिहीणं केवलं परिस्समकारी तं ण पविसे ।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : अचियत्तकुलं नाम न सक्केति वारेउं, अचियत्ता पुण पविसंता, त च इंगिएण णज्जति, जहा एयस्स साहुणो पविसंता अचियत्ता, अहवा अचियत्तकुलं जत्थ बहुणावि कालेण भिक्खा न लब्भइ, एतारिसेसु कुलेसु पविसंताणं पलिमंथो दोहा य भिक्खायरिया भवति ।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'अचियत्तकुलम्' अप्रीतिकुलं यत्र प्रविशद्भिः साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति, कुतश्चिन्नि-मित्तान्तरात्. एतदपि न प्रविशेत्, तत्संक्लेशनिमित्तत्वप्रसंगात् ।

४—(क) अ० चू० पृ० १०४ : चियत्तं इट्ठणिक्खमणपवेसं चागसंपण्णं वा ।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : चियत्तं नाम जत्थ चियत्तो णिक्खमणपवेसो चागसीलं वा ।

८०. गृहपति की आज्ञा लिए बिना (ओग्गहं से अजाइया[ख]) :

यह पाठ दो स्थानो पर—यहां और ६.१३ मे है। पहले पाठ की टीका 'अवग्रहमयाचित्वा'[1] और दूसरे पाठ की टीका—'अवग्रहे यस्य तमयाचित्वा'[2] है। 'ओग्गहंसि' को सप्तमी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहे' बनेगा और यदि 'ओग्गहंसि' ऐसा मानकर 'ओग्गह' को द्वितीया का एकवचन तथा 'से' को षष्ठी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहं तस्य' होगा।

८१. सन (साणी[क]) :

'शाणी' का अर्थ है—सन की छाल या अलसी का बना वस्त्र[3]।

८२. मृग-रोम के बने वस्त्र से (पावार[ख]) :

कौटिल्य ने मृग के रोएँ से बनने वाले वस्त्र को प्रावरक कहा है[4]। अगस्त्यचूर्णि में इसे सरोम वस्त्र माना है[5]। चरक में स्वेदन के प्रकरण मे प्रावार का उल्लेख हुआ है[6]। स्वेदन के लिए रोगी को चादर, कृष्ण मृग का चर्म, रेशमी चादर अथवा कम्बल आदि ओढ़ाने की विधि है। हरिभद्र ने इसे कम्बल का सूचक माना है[7]।

८३. स्वयं न खोले (अप्पणा नावपंगुरे[ख]) :

शाणी और प्रावार से आच्छादित द्वार को अपने हाथो से उद्घाटित न करे, न खोले।

चूर्णिकार कहते हैं—"गृहस्थ शाणी, प्रावार आदि से द्वार को ढांक विश्वस्त होकर घर मे बैठते, खाते, पीते और आराम करते हैं। उनकी अनुमति लिए बिना प्रावरण को हटा कोई अन्दर जाता है वह उन्हें अप्रिय लगता है और अविश्वास का कारण बनता है। वे सोचने लगते हैं—यह बेचारा कितना दयनीय और लोक-व्यवहार से अपरिचित है जो सामान्य उपचार को नहीं जानता। यो ही अनुमति लिए बिना प्रावरण को हटा अन्दर चला आता है[8]।"

ऐसे दोषो को ध्यान मे रखते हुए मुनि चिक आदि को हटा अन्दर न जाए[9]।

१—हा० टी० प० : १६७।

२—हा० टी० प० : १६७।

३—(क) अ० चू० पृ० १०४ : सणो वक्क, पडो साणी।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : साणी नाम सणवक्केहिं विज्जइ अलसिमयी वा।

(ग) हा० टी० प० १६६-६७ : शाणी—अतसीवल्कजा पटी।

४—कौटि० अर्थ० : २.११.२९।

५—अ० चू० पृ० १०४ : कप्पासितो पडो सरोमो पावारतो।

६—चरक० (सूत्र स्था०) १४.४६ : कौरवाजिनकौषेयप्रावाराद्यैः सुसंवृतः।

७—हा० टी० प० १६७ : प्रावारः—प्रतीतः कम्बल्याद्युपलक्षणमेतत्।

८—(क) अ० चू० पृ० १०४ : तं सत्त ण अवगुरेज्ज। किं कारणं ? तत्थ खाण-पाण-सइरालाव-मोहणारम्भेहिं अप्पत्तियं अवियत्तं भवति, तत एव मामकं लोगोवयारविरहितमिति पडिकुट्ठमवि। अत्थ अण्णा भणंति—एते वइल्ला इव अग्गलाहिं दंभियव्वा।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : तं काउ ताणि गिहत्थाणि वीसत्थाणि अच्छंति, खायंति पियंति वा मोहंति वा, तं णो अवपंगुरेज्जा, किं कारणं ?, तेसिं अप्पत्तियं भवइ, जहा एते एत्तियमवि उवयारं न याणंति जहा पावगुणियव्वं, लोगसंववहारबाहिरा वरागा, एवमादि दोसा भवंति।

९—हा० टी० प० १६७ : अलौकिकत्वेन तदन्तर्वर्तपुंक्रियाविकारिणां प्रद्वेषप्रसंगात्।

८४. किवाड़ न खोले (कवाडं नो पणोल्लेज्जा[ग]) :

आचाराङ्ग मे बताया है-- घर का द्वार यदि काँटेदार झाड़ी की डाल से ढका हुआ हो तो गृह-स्वामी की अनुमति लिए बिना, प्रतिलेखन किए बिना, जीव-जन्तु देखे बिना, प्रमार्जन किए बिना, उसे खोलकर भीतर न जाए। भीतर से बाहर न आए। पहले गृहपति की आज्ञा लेकर, काँटे की डाल को देखकर (साफ कर) खोले, फिर भीतर जाए-आए[1]। इसमें किवाड़ का उल्लेख नहीं है।

शाणी, प्रावार और कंटक-बोदिका (काटों की डाली) से ढके द्वार को आज्ञा लेकर खोलने के बारे मे कोई मतभेद नही जान पड़ता। किवाड के बारे में दो परम्पराएँ हैं—एक के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर किवाड़ खोले जा सकते हैं। दूसरी के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर प्रावरण आदि हटाए जा सकते है, किन्तु किवाड नही खोले जा सकते। पहली परम्परा के अनुसार 'ओग्गहंसि अजाइया' यह शाणी, प्रावार और किवाड़ —इन तीनो से सम्बन्ध रखता है। दूसरी परम्परा के अनुसार उसका सम्बन्ध केवल 'शाणी' और 'प्रावार' से है, 'किवाड' से नही।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्रावरण को हटाने में केवल व्यावहारिक असभ्यता का दोष माना है और किवाड़ खोलने मे व्यावहारिक असभ्यता और जीव-वध—ये दोनो दोष माने हैं[2]।

हरिभद्र ने इसमे पूर्वोक्त दोष बतलाए हैं[3] तथा जिनदास ने वे ही दोष विशेष रूप से बतलाए हैं जो बिना आज्ञा शाणी और प्रावार को हटाने से होते हैं[4]।

श्लोक १९ :

८५. श्लोक १९ :

गोचरी के लिए जाने पर अगर मार्ग में मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो मुनि क्या करे, इसकी विधि इस श्लोक में बताई गई है।

८६. मल-मूत्र की बाधा को न रखे (वच्चमुत्तं न धारए[ख]) :

साधारण नियम यह है कि गोचरी जाते समय मुनि मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त होकर जाए। प्रमादवश ऐसा न करने के कारण अथवा अकस्मात् पुनः बाधा हो जाए तो मुनि उस बाधा को न रोके।

मूत्र के निरोध से चक्षु में रोग उत्पन्न हो जाता है—नेत्र-शक्ति क्षीण हो जाती है। मल की बाधा रोकने से तेज का नाश होता है, कभी-कभी जीवन खतरे मे पड़ जाता है। वस्त्र आदि के बिगड जाने से अशोभनीय बात घटित हो जाती है।

मल-मूत्र की बाधा उपस्थित होने पर साधु अपने पात्रादि दूसरे श्रमणो को देकर प्रासुक-स्थान की खोज करे और वहाँ मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त हो जाए।

जिनदास और वृद्ध-सम्प्रदाय की व्याख्या में विसर्जन की विस्तृत विधि को ओघनिर्युक्ति से जान लेने का निर्देश किया गया है[5]। वहाँ इसका वर्णन ६२१-२२-२३-२४—इन चार श्लोको मे हुआ है।

१—आ० चू० १।५४ : से भिक्खू वा भिक्खूणि वा गाहावइकुलस्स दुवारबाहं कंटकबोंदियाए पडिपिहियं पेहाए, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अपमज्जिय नो अवंगुणिज्ज वा, पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय-पडिलेहिय पमज्जिय-पमज्जिय तओ संजयामेव अवंगुणिज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा।

२- अ० चू० पृ० १०४ : तहा कवाड णो पणोलेज्जा, कवाडं दारप्पिहाणं तं ण पणोलेज्जा तत्थ त एव दोसा यन्ते य सत्तवहो।

३—हा० टी० प० १६७ : 'कपाटं' द्वारस्थगन 'न प्रेरयेत्' नोद्घाटयेत्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्।

४—जि० चू० पृ० १७५ : कवाडं साहुणा णो पणोल्लेयव्वं, तत्थ पुव्वभणिया दोसा सविसेसयरा भवंति, एवं उग्गहं अजाइया पविसंतस्स एते दोसा भवंति।

५—(क) जि० चू० पृ० १७५ : पुव्विं चेव साधुणा उवओगो कायव्वो, सण्णा वा काइया वा होज्जा णवत्ति वियाणिऊण पविसियव्वं, अह वावडयाए उवयोगो न कओ कएवि वा ओतिण्णस्स जावा होज्जा ताहे भिक्खायरियाए पविट्ठेण वच्चमुत्तं न धारेयव्वं, किं कारणं ? मुत्तनिरोधे चक्खुवाघाओ भवति, वच्चनिरोहे य तेयं जीवियमवि रुंधेज्जा, तम्हा वच्चम्मुत्तनिरोधो न कायव्वोत्ति, ताहे संघाडयस्स भायणाणि (दाऊण) पडिस्सयं आगच्छिहत्ता पाणयं गहाय सण्णाभूमिं गंतूण फासुयमवगासे उग्गहमणुण्णावेऊण वोसिरियव्वंति। वित्थारो जहा ओहणिज्जुत्तीए।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इस श्लोक की व्याख्या मे एक बहुत ही उपयोगी गाथा उद्धृत की है—"मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति का नाश होता है। मल का वेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व-वायु रोकने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है[1]।

८७. प्रासुक-स्थान (फासुयं [ग]) :

इसका प्रयोग ५.१.१९,८२ और ९९ में भी हुआ है। प्रस्तुत श्लोक मे टीकाकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है, किन्तु ८२वें श्लोक में प्रयुक्त 'फासुय' का अर्थ बीज आदि रहित[2] और ९९वें श्लोक की व्याख्या मे इसका अर्थ निर्जीव किया है[3]। बौद्ध साहित्य मे भी इसका इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है[4]। जैन-साहित्य मे प्रासुक स्थान, पान-भोजन आदि-आदि प्रयोग प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं।

'निर्जीव'—यह प्रासुक का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निर्दोष या विशुद्ध होता है।

श्लोक २० :

८८. श्लोक २० :

साधु कैसे घर मे गोचरी के लिए जाये इसका वर्णन इस श्लोक में है।

८९. निम्न-द्वार वाले (नीयदुवारं [क]) :

जिसका निर्गम—प्रवेश-मार्ग नीचा—निम्न हो। वह घर या कोठा कुछ भी हो सकता है[5]।

निम्न द्वार वाले तथा अन्धकारपूर्ण कोठे का परिवर्जन क्यो किया जाए? इसका आगम गत कारण अहिंसा की दृष्टि है। न देख पाने से प्राणियो की हिंसा संभव है। वहाँ ईर्या-समिति की शुद्धि नही रह पाती। दायकदोष होता है[6]।

श्लोक २१ :

९०. श्लोक २१ :

मुनि कैसे घर मे प्रवेश न करे इसका वर्णन इस श्लोक मे है।

(ख) हा० टी० प० १६७ : अस्य विषयो वृद्धसंप्रदायादवसेयः, स चायम्—पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवयोगं काऊण गोअरे पविसिअव्वं, कहिंचि ण कओ कए वा पुणो होज्जा ताहे वच्चमुत्तं ण धारेअव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवाघाओ भवति, वच्चनिरोहे जीविओवघाओ, असोहणा अ आयविराहणा, जओ भणिअं—'सव्वत्थ संजमं'मित्यादि, अओ संघाडयस्स सयभायणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणयं गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा। वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तीए।

१—अ० चू० पृ० १०५ : मुत्तनिरोहे चक्खुं वच्चनिरोहे य जीवियं चयति। उड्ढनिरोहे कोढं सुक्कनिरोहे भवे अपुमं ॥ [ओ.नि.१५७]

२—हा० टी० पृ० १७८ : 'प्रासुकं' बीजादिरहितम्।

३—हा० टी० प० १८१ : 'प्रासुकं' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः।

४—(क) महावग्गो ६.१.१ पृ० ३२८ : भिक्खू फासु विहरेय्युं।

(ख) महावग्गो : फासुकं वस्सं वसेयाम।

५—(क) अ० चू० पृ० १०५ : णीयं दुवारं जस्स सो णीयदुवारो, तं पुण फलिहयं वा कोट्ठतो वा जओ भिक्खा नीणिज्जति। पलिहतदुवारे ओणतकस्स पडिमाए हिंडमाणस्स खद्धवेउव्वियादि उड्डाहो।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : णीयदुवारं दुविहं—वाडडियाए पिहियस्स वा।

(ग) हा० टी० प० १६७ : 'नीचद्वारं'—नीचनिर्गमप्रवेशम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १०५ : दायगस्स उक्खेवगमणादी ण सुज्झति।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : जओ भिक्खा निक्कालिज्जइ त तमस, तत्थ अचक्खुविसए पाणा दुक्खं पच्चुवेक्खिज्जंतित्ति काउं नीयदुवारे तमसे कोट्ठओ वज्जेयव्वो।

(ग) हा० टी० प० १६७ : ईर्याशुद्धिर्न भवतीत्यर्थः।

९१. तत्काल का लीपा और गीला (अहुणोवलित्तं उल्लं ^ग^) :

तत्काल के लीपे और गीले आँगन में जाने से सम्पातिम सत्त्वों की विराधना होती है। जलकाय के जीवों को परिताप होता है। इसलिए उसका निषेध किया गया है। तुरन्त के लीपे और गीले कोष्ठक मे प्रवेश करने से आत्म-विराधना और सयम-विराधना—ये दोनों होती हैं[1]।

श्लोक २२ :

९२. श्लोक २२ :

पूर्व की गाथा में आहार के लिए गये मुनि के लिए सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने का विधान है। इस गाथा मे बादरकाय के जीवो की हिंसा से बचने का उपदेश है[2]।

९३. भेड़ (एलगं ^क^) :

चूर्णिकार 'एलग' का अर्थ 'बकरा' करते है[3]। टीकाकार[4], दीपिकाकार और अवचूरीकार इसका अर्थ 'मेष' करते हैं। हो सकता है—एलग का सामयिक (आगमिक) अर्थ बकरा रहा हो अथवा सभव है चूर्णिकारों के सामने 'छेलओ' पाठ रहा हो। 'छेलओ' का अर्थ छाग है[5]।

९४. प्रवेश न करे (न पविसे ^ग^) :

भेड आदि को हटाकर कोष्ठक मे प्रवेश करने से आत्मा और सयम दोनो की विराधना तथा प्रवचन की लघुता होती है[6]।

मेष आदि को हटाने पर वह सींग से मुनि को मार सकता है। कुत्ता काट सकता है। पाड़ा मार सकता है। बछडा भयभीत होकर बन्धन को तोड सकता है और बर्तन आदि फोड सकता है। बालक को हटाने मे उसे पीडा उत्पन्न हो सकती है। उसके परिवार वालो में उस साधु के प्रति अप्रीति होने की सभावना रहती है। बालक को स्नान करा, कौतुक (मगलकारी चिन्ह) आदि से युक्त किया गया हो उस स्थिति में बालक को हटाने से उस बालक के प्रदोष—अमङ्गल होने का लाछन लगाया जा सकता है। इस प्रकार एलक आदि को लाघने या हटाने से शरीर और सयम दोनों की विराधना होने की सभावना रहती है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १०५ : उवलित्तमेत्ते आउक्कातो अपरिणतो निस्सरणं वा वायगस्स होज्जा अतो तं (परि) वज्जए।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : सपातिमसत्तविराहणत्थं परितावियाओ वा आउक्काओत्तिकाउं वज्जेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६७ : संयमात्मविराधनापत्तेरिति।

२—अ० चू० पृ० १०४ : सुहुमकायजयणाणंतरं बादरकायजयणोवदेस इति फुडमभिधीयते।

३—(क) अ० चू० पृ० १०५ : एलओ बक्करओ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : एलओ छागो।

४—हा० टी० प० १६७ : 'एडकं' मेषम्।

५—दे० ना० ३.३२ : छागम्मि छेलओ।

६—हा० टी० प० १६७ : आत्मसंयमविराधनादोषाल्लाघवाच्चेति सूत्रार्थः।

७—(क) अ० चू० पृ० १०५ : एत्थ पच्चवाता—एलतो सिंगेण फेट्टाए वा आहणेज्जा। दारतो खलिएण दुक्खवेज्जा, सयणो वा से अपत्तिय-उप्फोसण-कोउयादीणि पडिलग्गे वा गेण्हणातिपसगं करेज्जा। सुणतो खाएज्जा। वच्छतो वितत्थो बंधच्छेय-भायणातिभेदं करेज्जा। वियूहणे वि एते चेव सविसेसा।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : पेल्लिओ सिंगेहिं आहणेज्जा, पडुं वा बहेज्जा, दारए अप्पत्तिय सयणो करेज्जा, उप्फासण्हाणको-उगाणि वा, पदोसेण वा पंताविज्जा, पडिभग्गो वा होज्जा ताहे भणेज्जा—समणएण ओलंडिओ एवमादी दोसा, सुणए खाएज्जा, वच्छओ आहणेज्जा वित्तसेज्ज वा, वितत्थो आयसजमविराहणं करेज्जा, विऊहणे ते चेव दोसा, अण्णे य संघट्टणाइ, चेडरूवस्स हत्थादी दुक्खावेज्जा एवमाइ दोसा भवंति।

श्लोक २३ :

६५. श्लोक २३ :

इस श्लोक में बताया गया है कि जब मुनि आहार के लिए घर में प्रवेश करे तो वहाँ पर उसे किस प्रकार दृष्टि-संयम रखना चाहिए।

६६. अनासक्त दृष्टि से देखे (असंसत्तं पलोएज्जा [क]) :

स्त्री की दृष्टि में दृष्टि गडाकर न देखे अथवा स्त्री के अंग-प्रत्यंगो को निर्निमेष दृष्टि से न देखे[1]।

आसक्त दृष्टि से देखने से ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है—क्षतिग्रस्त होता है। लोक आक्षेप करते हैं –'यह श्रमण विकार-ग्रस्त है।' रोगोत्पत्ति और लोकोपघात—इन दोनो दोषो को देख मुनि आसक्त दृष्टि से न देखे[2]।

मुनि जहाँ खड़ा रहकर भिक्षा ले और दाता जहाँ से आकर भिक्षा दे—वे दोनो स्थान असंसक्त होने चाहिए—त्रस आदि जीवो से समुपचित नही होने चाहिए। इस भावना को इन शब्दों मे प्रस्तुत किया गया है कि मुनि असंसक्त स्थान का अवलोकन करे। यह अगस्त्य-चूर्णि की व्याख्या है। 'अनासक्त दृष्टि से देखे' यह उसका वैकल्पिक अर्थ है[3]।

६७. अति दूर न देखे (नाइदूरावलोयए [ख]) :

मुनि वही तक दृष्टि डाले जहाँ भिक्षा देने के लिए वस्तुएँ उठाई-रखी जाए[4]। वह उससे आगे दृष्टि न डाले। घर के दूर कोणादि पर दृष्टि डालने से मुनि के सम्बन्ध मे चोर, पारदारिक आदि होने की आशंका हो सकती है[5]। इसलिए अति दूर-दर्शन का निषेध किया गया है।

अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार अति दूरस्थित साधु चीटी आदि जन्तुओ को देख नही सकता। अधिक दूर से दिया जाने वाला आहार अभिहृत हो जाता है, इसलिए मुनि को भिक्षा देने के स्थान से अति दूर स्थान का अवलोकन नही करना चाहिए—खड़ा नही रहना चाहिए। अति दूर न देखे —यह उसका वैकल्पिक रूप है[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७६ : असंसत्तं पलोएज्जा नाम इत्थियाए विट्ठि न बंधेज्जा, अहवा अगपच्चंगाणि अणिमिस्साए विट्ठीए न जोएज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'असंसक्तं प्रलोकयेत्' न योषिद् दृष्टेर्दृष्टिं मेलयेदित्यर्थः।

२—(क) जि०चू०पृ० १७६ : किं कारणं ?, जेण तत्थ बंभव्वयपीला भवइ, जोएंतं वा दट्ठूण अविरयगा उड्डाहं करेज्जा – पेच्छह समणय सवियार।

(ख) हा० टी० प० १६८ : रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषप्रसङ्गात्।

३ अ० चू० पृ० १०६ : संसत्तं तसपाणातीहिं समुपचितं न संसत्तं असंसत्तं, तं पलोएज्ज, जत्थ ठितो भिक्खं गेण्हति दायगस्स वा आगमणातिसु................... 'अहवा असंसत्त पलोएज्जा बंभव्वयरक्खणत्थं इत्थीए विट्ठीए विट्ठिं अंगपच्चंगेसु वा ण ससत्त अणुबंधेज्जा, ईसादोसपसगा एवं संभवंति।

४—(क) जि० चू० पृ० १७६ : तावमेव पलोएइ जाव उक्खेवनिक्खेव पासई।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'नातिदूरं प्रलोकयेत्'—दायकस्यागमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्।

५—(क) जि० चू० पृ० १७६ : तओ परं घरकोणादी पलोयंतं दट्ठूण संका भवति, किमेस चोरो पारदारिओ वा होज्जा ? एव-मादि दोसा भवंति।

(ख) हा० टी० प० १६८ : परतश्चौरादिशङ्कादोषः।

६—अ० चू० पृ० १०६ : त च णातिदूरावलोयए अति दूरत्थो पिपीलिकादीणि ण पेक्खति, अतो तिघरंतरा परेण घरंतरं भवति पाणजातियरक्खणं ण तीरति ति ....(अहवा) णातिदूरगताए दायसन्निद्धादीहत्थमत्तावलोयणमसंसत्ताए विट्ठीए करणीय।

९८. उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे (उप्फुल्लं न विणिज्झाए [ग]) :

विकसित नेत्रों से न देखे —औत्सुक्यपूर्ण नेत्रों से न देखे ।

स्त्री, रत्न, घर के सामान आदि को इस प्रकार उत्सुकतापूर्वक देखने से गृहस्थ के मन में मुनि के प्रति लघुता का भाव उत्पन्न हो सकता है । वे यह सोच सकते हैं कि मुनि वासना में फँसा हुआ है । लाघव दोष को दूर करने के लिए यह निषेध है[१] ।

९९. बिना कुछ कहे वापस चला जाये (नियट्टेज्ज अयंपिरो [घ]) :

घर मे प्रवेश करने पर यदि गृहस्थ प्रतिषेध करे तो मुनि घर से बाहर चला आये । इस प्रकार भिक्षा न मिलने पर वह बिना कुछ कहे निंदात्मक दीन वचन अथवा कर्कश वचन का प्रयोग न करते हुए मौन भाव से वहाँ से चला आये —यह जिनदास और हरिभद्र सूरि का अर्थ है । अगस्त्यसिंह स्थविर ने —भिक्षा मिलने पर या न मिलने पर —इतना विशेष अर्थ किया है[२] ।

'शीलाद्यर्थस्येरः'[३] इस सूत्र से 'इर' प्रत्यय हुआ है । संस्कृत मे इसके स्थान पर 'शीलाद्यर्थे तृन्' होता है । हरिभद्र सूरि ने इसका संस्कृत रूप 'अजल्पन्' किया है ।

श्लोक २४ :

१००. श्लोक २४ :

आहार के लिए गृह मे प्रवेश करने के बाद साधु कहाँ तक जाये इसका नियम इस श्लोक मे है ।

१०१. अतिभूमि (अननुज्ञात) में न जाये (अइभूमिं न गच्छेज्जा [क]) :

गृहपति के द्वारा अननुज्ञात या वर्जित भूमि को 'अतिभूमि' कहते है । जहाँ तक दूसरे भिक्षाचर जाते हैं वहाँ तक की भूमि अतिभूमि नही होती । मुनि इस सीमा का अतिक्रमण कर आगे न जाये[४] ।

१०२. कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर (कुलस्स भूमिं जाणित्ता [ग]) :

जहाँ तक जाने मे गृहस्थ को अप्रीति न हो, जहाँ तक अन्य भिक्षाचर जाते हो उस भूमि को कुल-भूमि कहते है[५] । इसका निर्णय ऐश्वर्य, देशाचार, भद्रक-प्रान्तक आदि गृहस्थो की अपेक्षा से करना चाहिए ।

१- (क) अ० चू० पृ० १०६ : उप्फुल्लं ण विणिज्झाए, उप्फुल्ल उद्धुराए दिट्ठीए, 'फुल्ल विकसणे' इति हासविगसंततारिगं ण विणिज्झाए ण विविधं पेक्खेज्जा, दिट्ठीए विनियट्टणमिदं ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : उप्फुलं नाम विगसिएहिं नयणेहिं इत्थीसरीरं रयणादी वा ण निज्झाइयव्वं ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'उत्फुल्ल' विकसितलोचनं 'न विणिज्झाए' त्ति न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अवृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः ।

२—(क) अ० चू० पृ० १०६ : लाताए वि 'णियट्टेज्ज अयपुरो' दिण्णे परियंदणेण अदिण्णे रोसवयणेहिं ···· एवमादीहिं अजंपणसीलो 'अयंपुरो' एवविधो णियट्टेज्जा ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : जदा य पडिसेहिओ भवति तदा अयंपिरेण णियत्तियव्वं, अजमंजमाणेणति वुत्तं भवति ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : तथा निवर्त्तेत गृहादलब्धेऽपि सति अजल्पन् —दीनवचनमनुच्चारयन्निति ।

३—हैम० ८.२.१४५ ।

४—(क) अ० चू० पृ० १०६ : भिक्खयरभूमिअतिक्कमणमतिभूमी तं ण गच्छेज्जा ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : अणणुण्णाता भूमी···· ·······साहू न पविसेज्जा ।

(ग) हा० टी० प० १६८ अतिभूमिं न गच्छेद् —अननुज्ञातां गृहस्थैः, यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः ।

५- (क) अ० चू० पृ० १०६ : किं पुण भूमिपरिमाणं ? इति भण्णति तं विभव-देसा-आयार-भद्दग-पंतगादीहिं 'कुलस्स भूमिं णाऊण' पुव्वपरिक्कमणेणं अण्णे वा भिक्खयरा जावतियं भूमिमुपसरंति एवं विण्णातं ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : केवइयाए पुण पविसियव्वं ?,············जत्थ तेसिं गिहत्थाणं अप्पत्तियं न भवइ, जत्थ अण्णेवि भिक्खायरा ठायंति ।

लाख का गोला अग्नि पर चढाने से पिघल जाता है और उससे अति दूर रहने पर वह रूप नहीं पा सकता। इसी प्रकार गृहस्थ के घर से दूर रहने पर मुनि को भिक्षा प्राप्त नही हो सकती, एषणा की भी शुद्धि नही हो पाती और अत्यन्त निकट चले जाने पर अप्रीति या सन्देह उत्पन्न हो सकता है। अतः वह कुल की भूमि (भिक्षा लेने की भूमि) को पहले जान ले[1]।

१०३. मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे (मियं भूमि परक्कमे [घ]) :

गृहस्थ के द्वारा अनुज्ञात—अवर्जित भूमि को मित-भूमि कहते है[2]।
यह नियम अप्रीति और अविश्वास उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[3]।

श्लोक २५ :

१०४. श्लोक २५ :

मित-भूमि मे जाकर साधु कहाँ और कैसे खडा रहे इसकी विधि प्रस्तुत श्लोक मे है।

१०५. विचक्षण मुनि (वियक्खणो [ख]) :

विचक्षण का अर्थ—गीतार्थ या शास्त्र-विधि का जानकार है। अगीतार्थ के लिए भिक्षाटन का निषेध है। भिक्षा उसे लानी चाहिए जो शास्त्रीय विधि-निषेधो और लोक-व्यवहारो को जाने, सयम मे दोष न आने दे और शासन का लाघव न होने दे[4]।

१०६. मित-भूमि में ही (तत्थेव [क]) :

मित-भूमि मे भी साधु जहाँ-तहाँ खडा न होकर इस बात का उपयोग लगाये कि वहाँ कहाँ खडा हो और कहाँ न खडा हो। वह उचित स्थान को देखे[5]। साधु मित-भूमि मे कहाँ खडा न हो इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक के उत्तरार्द्ध मे आया है।

१०७ शौच का स्थान (वच्चस्स [ग]) :

जहाँ मल और मूत्र का उत्सर्ग किया जाए वे दोनो स्थान 'वर्चस्' कहलाते हैं[6]।

१—(क) अ० चू० पृ० ८ : गोले त्ति गहणेसणाए अतिभूमीगमणणिरोहत्थं भण्णति—जतुगोलमणया कातव्वा, जतुगोलतो अग्गि-णारोवितो विधिरति, दूरत्थो असंततो रूवं ण निव्वत्तेति, साहू वि दूरत्थो अवीसमाणो भिक्खं न लभति एसणं वा न सोहेति, आसण्णे अप्पत्तियं भवति तेणातिसंका वा, तम्हा कुलस्स भूमिं जाणेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६ :

जह जउगोलो अगणिस्स, णाइदूरे ण आवि आसन्ने।
सक्कइ काऊण तहा, संजमगोलो गिहत्थाणं॥
दूरे अणेसणाऽदंसणाइ, इयरंम्मि तेणसंकाइ।
तम्हा मियभूमीए, चिट्ठिज्जा गोयरग्गओ॥

२—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'मितं भूमि परक्कमे' बुद्धीए सपेहित सव्वदोससुद्ध तावतियं पविसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'मितां भूमि' तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्।

(ग) जि० चू० पृ० १७७ : मियं नाम अणुन्नायं, परक्कमे नाम पविसेज्जा।

३—हा० टी० प० १६८ : यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायत इति सूत्रार्थः।

४—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'वियक्खणो' पराभिप्पायजाणतो, कहिं चियत्तं ण वा ? विसेसेण पवयणोवघातरक्खणत्थ।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'विचक्षणो' विद्वान्, अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह।

५—(क) अ० चू० पृ० १०६ : तत्थेति ताए मिताए भूमीए एवसद्दो अवधारणे। किमवधारयति ? पुव्वुद्दिट्ठं कुलाणुरूव।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : तत्तियाए मियाए भूमीए उवयोगो कायव्वो पंडिएण, कत्थ ठातियव्व कत्थ न वत्ति, तत्थ ठातियव्व जत्थ इमाइं न दीसति।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'तत्रैव' तस्यामेव मितायां भूमौ।

६—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'वच्चं' अमेज्झं तं जत्थ। पंवप (?पसु-पं) डगाविसमीवथाणाविसु त एव दोसा इति।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : वच्च नाम जत्थ वोसिरति कातिकाइसन्नाओ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'वर्चसो' विष्टायाः।

१०८. दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का (संलोगं [घ]) :

'सलोक' शब्द का सम्बन्ध स्नान और वर्चस् दोनो से है । 'सलोक'— सदर्शन अर्थात् जहाँ खड़ा होने से मुनि को स्नान करती हुई या मल-विसर्जन करती हुई स्त्री दिखाई दे अथवा वही साधु को देख सके[१] ।

स्नान-गृह और शौच-गृह की ओर दृष्टि डालने से शासन की लघुता होती है अविश्वास होता है और नग्न शरीर के अवलोकन से काम-वासना उभरती है[२] । यहाँ आत्म-दोष और पर-दोष ये दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते है । स्त्रियाँ सोचती हैं हम मातृवर्ग जहाँ स्नान करती हैं उस ओर यह काम-विह्वल होकर ही देख रहा है । यह पर-सम्बन्धी दोष है । अनावृत स्त्रियों को देखकर मुनि के चरित्र का भग होता है । यह आत्म-सम्बन्धी दोष है । ये ही दोष वर्चस्-दर्शन के हैं[३] । मुनि इन दोषो को ध्यान मे रख इस नियम का पालन करे ।

श्लोक २६ :

१०९. श्लोक २६ :

भिक्षा के लिए मित-भूमि मे प्रविष्ट साधु कहाँ खड़ा न हो, इसका कुछ और उल्लेख इस श्लोक मे है ।

११०. सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि (सव्विंदियसमाहिए [घ]) :

जो पाँचो इन्द्रियो के विषयो से आक्षिप्त आकृष्ट न हो, उसे सर्वेन्द्रिय-समाहित कहा जाता है[४] अथवा जिसकी सब इन्द्रियाँ समाहित हो अन्तर्मुखी हो, बाह्य विषयो से विरत होकर आत्मलीन बन गई हो, उसे समाहित-सर्वेन्द्रिय कहा जाता है । जो मुनि सर्वेन्द्रिय-समाधि से सपन्न होता है, वही अहिंसा का सूक्ष्म विवेक कर सकता है ।

१११. मिट्टी (मट्टिय [क]) :

अटवी से लाई गई सचित्त—सजीव मिट्टी[५] ।

११२. लाने के मार्ग (आयाणं [क]) :

आदान अर्थात् ग्रहण । जिस मार्ग से उदक, मिट्टी आदि ग्रहण की जाती- लाई जाती हो वह मार्ग[६] ।

हरिभद्र ने 'आदान' को उदक और मिट्टी के साथ ही सम्बन्धित रखा है जबकि जिनदास ने हरियाली आदि के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ा है[७] ।

१—(क) अ० चू० पृ० १०६ : 'सलोगो' जत्थ एताणि आलोइज्जंति तं परिवज्जए ।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : आसिणाणस्ससंलोयं परिवज्जए, सिणाणसंलोगं वच्चसलोगं च ······सलोगं जत्थ ठिएण हि दीसंति, ते वा तं पासंति ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : स्नानभूमिकायिकाविभूमिसदर्शनम् ।

२—हा० टी० प० १६८ : प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागाविभावात् ।

३—जि० चू० पृ० १७७ : तत्थ आयपरसमुत्था दोसा भवति, जहा जत्थ अम्हे ण्हाओ जत्थ य मातिवग्गो अम्हं ण्हायइ तमेसो परिभवमाणो कामेमाणो वा एत्थ ठाइ, एवमाई परसमुत्था दोसा भवंति, आयसमुत्था तस्सेव ण्हायतिओ अवाउडियाओ अविरतियाओ दट्ठूण चरित्तभेदादी दोसा भवंति, वच्चं नाम जत्थ वोसिरंति कातिकाइसन्नाओ, तस्सवि संलोगं वज्जेयव्वो, आयपरसमुत्था दोसा पवयणविराहणा य भवति ।

४—(क) अ० चू० पृ० १०७ : सव्विंदियसमाहितो सव्वेहिं इंदिएहिं एएसिं परिहरणे सम्म आहितो समाहितो ।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : सव्विंदियसमाहितो नाम नो सद्दरूवाईहिं अक्खित्तो ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'सर्वेन्द्रियसमाहितः' शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति ।

५—(क) अ० चू० पृ० १०७ : 'मट्टिया' सच्चित्त पुढविक्कायो सो जत्थ अधुणा आणीयो ।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : मट्टिया अडवीओ सचित्ता आणीया ।

६—अ० चू० पृ० १०७ : जत्थ जेण वा भग्गेण उदगमट्टियाओ गेण्हंति तं दगमट्टियाणं ।

७—(क) जि० चू० पृ० १७७ : आयाणं नाम गहणं, जेण मग्गेण मतूण दगमट्टियहरियादीणि घेप्पंति तं दगमट्टियआयाणं भण्णइ ।

(ख) हा० टी० प० १६८ : आदीयतेऽनेनेत्यादानो —मार्गः, उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थः ।

११३. हरियाली (हरियाणि ख) :

यहाँ हरित शब्द से समस्त प्रकार के वृक्ष, गुच्छादि, घासादि वनस्पति-विशेष का ग्रहण समझना चाहिए[1]।

श्लोक २७ :

११४. श्लोक २७ :

अब तक के श्लोकों में आहारार्थी मुनि स्व-स्थान से निकलकर गृहस्थ के घर में प्रवेश करे, वहाँ कैसे स्थित हो, इस विधि का उल्लेख है। अब वह क्या ग्रहण करे और क्या ग्रहण नहीं करे, इसका विवेचन आता है।

जो कालादि गुणों से शुद्ध है, जो अनिष्ट कुलों का वर्जन करता है, जो प्रीतिकारी कुलों में प्रवेश करता है, जो उपदिष्ट स्थानों में स्थित होता है और जो आत्मदोषों का वर्जन करता है उस मुनि को अब दायक-शुद्धि की बात बताई जा रही है[2]।

११५. (अकप्पियं ग...कप्पियं घ) :

शास्त्र-विहित, अनुमत या अनिषिद्ध को 'कल्पिक' या 'कल्प्य'[3] और शास्त्र-निषिद्ध को 'अकल्पिक' या 'अकल्प्य'[4] कहा जाता है।

'कल्प' का अर्थ है— नीति, आचार, मर्यादा, विधि या सामाचारी और 'कल्प्य' का अर्थ है नीति आदि से युक्त ग्राह्य, करणीय और योग्य। इस अर्थ में 'कल्पिक' शब्द का भी प्रयोग होता है। उमास्वाति के शब्दों में जो कार्य ज्ञान, शील और तप का उपग्रह और दोषों का निग्रह करता है वही निश्चय-दृष्टि से 'कल्प्य' है और शेष 'अकल्प्य'[5]। उनके अनुसार कोई भी कार्य एकान्तत: 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' नहीं होता। जिस 'कल्प्य' कार्य से सम्यक्त्व, ज्ञान आदि का नाश और प्रवचन की निंदा होती हो तो वह 'अकल्प्य' भी 'कल्प्य' बन जाता है। निष्कर्ष की भाषा में देश, काल, पुरुष, अवस्था, उपयोग और परिणाम-विशुद्धि की समीक्षा करके ही 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' का निर्णय किया जा सकता है, इन्हें छोड़कर नहीं[6]।

आगम-साहित्य में जो उत्सर्ग और अपवाद हैं वे लगभग इसी आशय के द्योतक हैं। फिर भी 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की निश्चित रेखाएँ खिंची हुई हैं। उनके लिए अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की व्यवस्था देना उचित नहीं होता। बहुश्रुत आगम-धर के अभाव में आगमोक्त विधि-निषेधों का यथावत् अनुसरण ही ऋजु मार्ग है। मुनि को कल्पिक, एषणीय या भिक्षा-सम्बन्धी बयालीस दोष-वर्जित भिक्षा लेनी चाहिए। यह ग्रहणैषणा (भक्त-पान लेने की विधि) है।

१—जि० चू० पृ० १७७ : हरियग्गहणेण सव्वे रुक्खगुच्छाइणो वणप्फइविसेसा गहिया।

२ (क) अ० चू० पृ० १०७ : एवं काले अपडिसिद्धकुलमियभूमिपवेसावत्थितस्स गवेषणाजुत्तस्स गहणेसणाणियमणत्थमुपदिस्सति।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : एवं तस्स कालाइगुणसुद्धस्स अणिट्ठकुलाणि वज्जेंतस्स चियत्तकुले पविसंतस्स जहोवदिट्ठे ठाणे ठियस्स आयसमुत्था दोसा वज्जेतस्स दायगसुद्धी भण्णइ।

३—(क) अ० चू० पृ० १०७ : कप्पित सेसेसणा दोसपरिसुद्धम्।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'कल्पिकम्' एषणीयम्।

४—(क) अ० चू० पृ० १०७ : बायालीसाए अण्णतरेण एसणादोसेण दुट्ठं।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'अकल्पिकम्' अनेषणीयम्।

५—प्र० प्र० १४३ :

यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥

६—वही १४४-४६ :

यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम्।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च॥
किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्यं वा॥
देशं कालं क्षेत्रं पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥

श्लोक २८ :

११६. श्लोक २८ :

इस श्लोक मे 'छर्दित' नामक एषणा के दसवे दोषयुक्त भिक्षा का निषेध है[1]। तुलना के लिए देखिए—आवश्यक सूत्र ४८।

११७ देती हुई (देंतियं क) :

प्राय. स्त्रियाँ ही भिक्षा दिया करती हैं, इसलिए यहाँ दाता के रूप में स्त्री का निर्देश किया है[2]।

श्लोक २९ :

११८ और (य ख) :

अगस्त्य चूर्णि मे 'य' के स्थान पर 'वा' है। उन्होने 'वा' मे सब वनस्पति का ग्रहण माना है[3]।

११९. असंयमकरी होती है—यह जान (असंजमकरिं नच्चा ग) :

मुनि की भिक्षाचर्या मे अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेक रखा गया है। भिक्षा देते समय दाता आरम्भ-रत नहीं होना चाहिए।

असयम का अर्थ सयममात्र का अभाव होता है, किन्तु प्रकरण-सगति मे यहाँ उसका अर्थ जीव-वध ही सभव लगता है। भिक्षा देने के निमित्त आता हुआ दाता यदि हिंसा करता हुआ आए अथवा भिक्षा देने के लिए वह पहले से ही वनस्पति आदि के आरम्भ में लगा हुआ हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेने का निषेध है।

१२० भक्त-पान (तारिसं घ) :

दोनो चूर्णिकार 'तारिस' ऐसा पाठ मानते हैं। उनके अनुसार यह शब्द भक्त-पान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है[4]। टीकाकार तथा उनके उपजीवी व्याख्याकार 'तारिसिं' ऐसा पाठ मान उसे देने वाली स्त्री के साथ जोड़ते हैं[5]। इसका अनुवाद होगा—उसे वर्जे—उसके हाथ से भिक्षा न ले।

श्लोक ३० :

१२१ एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में निकाल कर (साहट्टु क) :

भोजन को एक बर्तन से निकाल कर दूसरे बर्तन मे डालकर दे तो चाहे वह प्रासुक ही क्यों न हो मुनि उसका परिवर्जन करे।

१　पि० नि० ६२७-२८ :
सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग तह छड्डणे य चउभंगो।
चउभंगे पडिसेहो गहणे आणाइणो दोसा।
उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा।
सीयपडणंमि काया पडिए महुबिंदुआहरणं॥

२—(क) अ० चू० पृ० १०७ : 'पाएणं इत्थीहिं भिक्खादाणं' ति इत्थीनिद्देसो।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : पायसो इत्थियाओ भिक्खं दलयंति तेण इत्थियाए निद्देसो कओ।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'ददतीम्'···स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्।

३—अ० चू० पृ० १०७ : वा सद्देण सव्ववणस्सतिकायं।

४—(क) अ० चू० पृ० १०७ : तारिसं पुव्वमधिकृतं पाणभोयणं परिवज्जए।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : तारिस भत्तपाणं तु परिवज्जए।

५—हा० टी० प० : १६६ : तादृशीं परिवर्जयेत्।

इस प्रकार के आहार की चौभङ्गी इस तरह है[1] --

(१) प्रासुक बर्तन से आहार को प्रासुक बर्तन मे निकाले।

(२) प्रासुक बर्तन से आहार को अप्रासुक बर्तन में निकाले।

(३) अप्रासुक बर्तन से आहार को प्रासुक बर्तन मे निकाले।

(४) अप्रासुक बर्तन से आहार को अप्रासुक बर्तन मे निकाले।

प्रासुक में से प्रासुक निकाले उसके भङ्ग इस प्रकार है. -

(१) अल्प को अल्प मे से निकाले।

(२) बहुत को अल्प मे से निकाले।

(३) अल्प को बहुत मे से निकाले।

(४) बहुत को बहुत मे से निकाले।

विशेष जानकारी के लिए देखिए—पिण्डनिर्युक्ति गा० ५६३-६८।

१२२. श्लोक ३०-३१ :

आहार को पाक-पात्र से दूसरे पात्र मे निकालना और उसमे जो अनुपयोगी अश हो उसे बाहर फेकना सहरण कहलाता है। संहरण-पूर्वक जो भिक्षा दी जाए उसे 'संहृत' नाम का दोष माना गया है। सचित्त-वस्तु पर रखे हुए पात्र मे भिक्षा निकालकर देना, छोटे पात्र में न समाए उतना निकाल कर देना, बडे पात्र मे जो बडे कष्ट से उठाया जा सके उतना निकाल कर देना, 'संहृत' दोष है[2]। जो देय-भाग हो, उसे सचित्त-वस्तु पर रख कर देना 'निक्षिप्त' दोष है[3]। उदक का प्रेरण, अवगाहन और चालन सचित्त-स्पर्श के भीतर समाए हुए हैं। फिर भी इनका विशेष प्रसग होने के कारण विशेष उल्लेख किया गया है। सचित्त वस्तु का अवगाहन कर या उसे हिलाकर भिक्षा दी जाए, यह एषणा का 'दायक' नामक छट्ठा दोष है।

१—(क) अ० चू० पृ० १०७ : साहट्टु अण्णम्मि भायणे छोढूणं। एत्थ य फासुयं अफासुए साहरति चउभंगो। तत्थ जं फासुय फासुए साहरति तं सुक्खं सुक्खे साहरति एत्थ वि चउभंगो। भंगाण पिंडनिज्जुत्तीए विसेसत्थो।

(ख) जि० चू० पृ० १७८ : साहट्टु नाम अन्नंमि भायणे साहरिउं देंति तं फासुगपि विवज्जए, तत्थ फासुए फासुयं साहरइ १ फासुए अफासुयं साहरइ २ अफासुए फासुयं साहरइ ३ अफासुए अफासुयं साहरति ४, तत्थ ज फासुयं फासुएसु साहरति तं थेवं थेवे साहरति बहुए थेवं साहरइ थेवे बहुयं साहरइ बहुए बहुय साहरइ, एतेसिं भंगाणं जहा पिंडनिज्जुत्तीए।

२—पि० नि० ५६५-७१ ·

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाई।
छोढु तयन्नहिं तेण देई अह होइ साहरणं॥
भूमाइएसु तं पुण साहरण होइ छसुवि काएसु।
जं त दुहा अचित्तं साहरण तत्थ चउभंगो॥[1]
सुक्के सुक्क पढमो सुक्के उल्लं तु बिइयओ भंगो।
उल्ले सुक्कं तइओ उल्ले उल्ल चउत्थो उ॥
एक्केक्के चउभंगो सुक्काईएसु चउसु भंगेसु।
थोवे थोव थोवे बहुं च विवरीय वो अन्ने॥
जत्थ उ थोवे थोव सुक्के उल्लं च छुहइ तं भक्ख(गेज्झ)।
जइ त तु समुक्खेउ थोवाभार वलइ अन्न॥
उक्खेवे निक्खेवे महल्लभाणंमि लुद्ध वह डाहो।
अचियत्तं वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते॥
थोवे थोवं छूढं सुक्के उल्लं तु त तु आइन्नं।
बहुय तु अणाइन्न कडदोसो सोत्ति काऊण॥

३ -देखिए 'संघट्टिया' का टिप्पण (५. १. ६१) संख्या १६३

श्लोक ३२ :

१२३. पुराकर्म-कृत (पुरेकम्मेण क) :

साधु को भिक्षा देने के निमित्त पहले सजीव जल से हाथ, कड़छी आदि धोना अथवा अन्य किसी प्रकार का आरम्भ—हिंसा करना पूर्व-कर्म दोष है[1]।

१२४. बर्तन से (भायणेण ख) :

कांसे आदि के बर्तन को 'भाजन' कहा जाता है[2]। निशीथ चूर्णि के अनुसार मिट्टी का बर्तन 'अमत्रक' या 'मात्रक' और कांस्य का पात्र 'भाजन' कहलाता है[3]।

१२५. श्लोक ३३-३४ : पाठान्तर का टिप्पण :

एवं उदओल्ले ससिणिद्ध......॥३३॥

गेरुय वण्णिय...............॥३४॥

टीकाकार के अनुसार ये दो गाथाएँ है। चूर्णि मे इनके स्थान पर सत्रह श्लोक हैं। टीकाभिमत गाथाओ मे 'एवं' और 'बोधव्व' ये दो शब्द जो है वे इस बात के सूचक है कि ये संग्रह-गाथाएँ है। जान पडता है कि पहले ये श्लोक भिन्न-भिन्न थे फिर बाद में संक्षेपीकरण की दृष्टि से उनका थोडे मे सग्रह किया गया। यह कब और किसने किया इसकी निश्चित जानकारी हमें नही है। इसके बारे में इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह परिवर्तन चूर्णि और टीका के निर्माण का मध्यवर्ती है।

अगस्त्य चूर्णि की गाथाए इस प्रकार हैं :

१ उदओल्लेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतिय पडियाइक्खे ण मे कप्पति तारिसं॥

२ ससिणिद्धेण हत्थेण . . ..

३. ससरक्खेण हत्थेण ....

४. मट्टियागतेण हत्थेण ... ...

५. ऊसगतेण हत्थेण......... ....

६. हरितालगतेण हत्थेण ....

७. हिंगोलुयगतेण हत्थेण . ...

८. मणोसिलागतेण हत्थेण...............

९ अजणगतेण हत्थेण ....

१०. लोणगतेण हत्थेण................ .....

११ गेरुयगतेण हत्थेण . . ..

१२. वण्णियगतेण हत्थेण. . . . .

१३. सेडियगतेण हत्थेण ....

१४. सोरट्ठियगतेण हत्थेण ... .

१५. पिट्ठगतेण हत्थेण. .. ..

१—(क) अ० चू० पृ० १०८ : पुरेकम्मं जं साधुनिमित्तं धोवणं हत्थादीणं।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : पुरेकम्मं नाम जं साधूणं दट्ठूणं हत्थं भायणं धोवइ तं पुरेकम्मं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १७० : पुरः कर्मणा हस्तेन—साधुनिमित्तं प्राक्कृतजलोज्झनव्यापारेण।

२—(क) जि० चू० पृ० १७६ : भायण कंसभायणादि।
(ख) हा० टी० प० १७० : 'भाजनेन वा' कांस्यभाजनादिना।

३—(क) नि० ४.३६ चू० : पुढविमओ मत्तओ। कंसमयं भायणं।

१६. कुक्कुसगतेण हत्थेण ... .

१७. उक्कुट्ठगतेण हत्थेण........ .. ..

श्लोक ३३ :

१२६. जल से आर्द्र, सस्निग्ध (उदओल्ले ससिणिद्धे [क]) :

जिससे बूंदें टपक रही हो उसे आर्द्र[1] और केवल गीला-सा हो उसे सस्निग्ध[2] कहा जाता है।

१२७. सचित्त रज-कण (ससरक्खे[3] [ख]) :

विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.१८ का टिप्पण संख्या ६६।

१२८. मृत्तिका (मट्टिया [ख]) :

इसका अर्थ है मिट्टी का ढेला या कीचड[4]।

१२९. क्षार (ऊसे [ख]) :

इसका अर्थ है खारी या नोनी मिट्टी[5]।

श्लोक ३४ :

१३०. गैरिक (गेरुय [क]) :

इसका अर्थ है लाल मिट्टी[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७९ : उदउल्लं नाम जलतितं उदउल्लं।
   (ख) हा० टी० प० १७० : उदकार्द्रो नाम गलदुदकबिन्दुयुक्त।

२—(क) नि० भा० गा० १४८ चूर्णि : जत्थूदयबिंदू ण सविज्जति तं ससिणिद्धं।
   (ख) अ० चू० पृ० १०८ : ससिणिद्धं—जं उदगेण किंचि णिद्धं, ण पुण गलति।
   (ग) जि० चू० पृ० १७९ : ससिणिद्धं नाम ज न गलइ।
   (घ) हा० टी० प० १७० · सस्निग्धो नाम ईषदुदकयुक्तः।

३—(क) अ० चू० पृ० १०९ : ससरक्ख पंसु रउग्गुंडितं।
   (ख) जि० चू० पृ० १७९ : ससरक्खेण ससरक्खं नाम पंसुरजगुंडियं।
   (ग) हा० टी० प० १७० : सरजस्को नाम—पृथिवीरजोगुण्डितः।

४—(क) अ० चू० पृ० १०९ : मट्टिया लेट्टुगो।
   (ख) जि० चू० पृ० १७९ : मट्टिया कडउमट्टिया चिक्खल्लो।
   (ग) हा० टी० प० १७० : मृद्गतो नाम—कर्दमयुक्तः।

५—(क) अ० चू० पृ० १०९ ऊसो लवणपंसू।
   (ख) जि० चू० पृ० १६७ : ऊसो नाम पंसुखारो।
   (ग) हा० टी० प० १७० : ऊषः—पांशु क्षार.।

६—(क) अ० चू० पृ० ११० गेरुयं सुवण्णगेरुतादि।
   (ख) जि० चू० पृ० १७९ . गेरुअ सुवण्ण (रसिया)।
   (ग) हा० टी० प० १७० : गैरिका—धातुः।

१३१. वर्णिका (वण्णिय [क]) :

इसका अर्थ है पीली मिट्टी[१]।

१३२. श्वेतिका (सेडिय [क]) :

इसका अर्थ है खड़िया मिट्टी[२]।

१३३. सौराष्ट्रिका (सोरट्ठिय [ख]) :

सौराष्ट्र मे पाई जाने वाली एक प्रकार की मिट्टी। इसे गोपीचन्दन भी कहते हैं[३]।
चूर्णिकारो के अनुसार स्वर्णकार सोने पर चमक लाने के लिए इस मिट्टी का उपयोग करते थे।[४]

१३४. तत्काल पीसे हुए आटे (पिट्ठ [ख]) :

चावलों का कच्चा और अपरिणत आटा 'पिष्ट' कहलाता है। अगस्त्यसिंह और जिनदास के अनुसार अग्नि की मद आँच से पकाया जाने वाला अपक्व पिष्ट एक प्रहर मे परिणत होता है और तेज आँच से पकाया जाने वाला शीघ्र परिणत हो जाता है[५]।

१३५. अनाज के भूसे या छिलके (कुक्कुस [ख]) :

चावलो के छिलकों को 'कुक्कुस' कहा जाता है[६]।

१३६ फल के सूक्ष्म खण्ड (उक्कट्ठं [ग]) :

उत्कृष्ट शब्द के 'उक्किट्ठ'[७], 'उक्कट्ठ'[८] और 'उक्कुट्ठ'[९]- ये तीन शब्द बनते है। भिन्न-भिन्न आदर्शो मे इन सब का प्रयोग मिलता है। 'उत्कृष्ट' का अर्थ फलों के सूक्ष्म-खण्ड अथवा वनस्पति का चूर्ण होता है[१०]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११० : वण्णिता पीतमट्टिया।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ वण्णिया पीयमट्टिया।
(ग) हा० टी० प० १७० : वर्णिका - पीतमृत्तिका।

२—(क) अ० चू० पृ० ११० : सेडिया महासेडाति।
(ख) जि० चू० पृ० १७६. सेडिया गडरिया।
(ग) हा० टी० प० १७० : श्वेतिका—शुक्लमृत्तिका।

३ - शा० नि० पृ० ६४ :

सौराष्ट्र्याढकीतुवरीपर्पटीकालिकासती।
सुजाता देशभाषायां गोपीचन्दनमुच्यते॥

४— (क) अ० चू० पृ० ११०. सोरट्ठिया तूवरिया सुवण्णस्स ओप्पकरणमट्टिया।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : सोरट्ठिया उवरिया, जीए सुवण्णकारा उप्पं करेंति सुवण्णस्स पिंड।

५—(क) अ० चू० पृ० ११० : आमपिट्ठ आमओ लोट्टो। सो अप्पिधणो पोरुसीए परिणमति। बहुइंधणो आरतो चेव।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : आमलोट्टो, सो अप्पेंधणो पोरिसिमित्तेण परिणमइ बहुइ धणो आरतो परिणमइ।

६ - (क) अ० चू० पृ० ११० : कुक्कुसा चाउलत्तया।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : कुक्कुसा चाउलातया।
(ग) हा० टी० प० १७० : कुक्कुसाः प्रतीताः।
(घ) नि० ४.३६ चू० : तदुलाण कुक्कुसा।

७—हैम० ८.१.१२८ : 'उक्किट्ठ' इत् कृपादौ।

८—हैम० ८.१.१२६ : 'उक्कट्ठ' ऋतोऽत्।

९—हैम० ८.१.१३१ · 'उक्कुट्ठ' उदृत्वादौ।

१०—(क) नि० भा० गा० १४८ चू० : उक्कुट्ठो णाम सचित्तवणस्सतिपत्तंकुर-फलाणि वा उदूखले कुट्टति तेहिं हत्थो लित्तो, एस उक्कुट्ठो हत्थो भण्णति।
(ख) नि० ४.३६ चू० : सचित्तवणस्सती—चुण्णो ओक्कुट्ठो भण्णति।

दशवैकालिक के व्याख्याकारों ने उत्कृष्ट का अर्थ—सुरापिष्ट, तिल, गेहूँ और यवों का आटा या ओखली में कूटे हुए इमली या पीलुपर्णी के पत्र, लौकी, तरबूज आदि किया है[1]।

१३७. असंसृष्ट और संसृष्ट को जानना चाहिए (असंसट्ठे [ग] संसट्ठे चेव बोधव्वे [घ]) :

सजीव पृथ्वी, पानी और वनस्पति से भरे हुए हाथ या पात्र को संसृष्ट-हस्त या संसृष्ट-पात्र कहा जाता है। निशीथ में संसृष्ट-हस्त के २१ प्रकार बतलाए हैं—

"उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे लोणे य।
हरियाले मणोसिलाए, रसगए गेरुय सेढीए ॥ १ ॥
हिंगुलु अंजणे लोद्धे, कुक्कुस पिट्ठ कंद मूल सिंगबेरे य।
पुप्फक कुट्ठ एए, एक्कवीसं भवे हत्था ॥ २ ॥"

निशीथ भाष्य गाथा १४७ की चूर्णि में संसृष्ट के अठारह प्रकार बतलाए हैं—'पुरेकम्मे, पच्छाकम्मे, उदउल्ले, ससिणिद्धे, ससरक्खे, मट्टिआऊसे, हरियाले, हिंगुलए, मणोसिला, अजणे, लोणे, गेरुय, वण्णिय, सेडिय, सोरट्ठिय, पिट्ठ, कुकुस, उक्कुट्ठे चेव।' इनमें पुरा-कर्म, पश्चात्-कर्म, उदकार्द्र और सस्निग्ध—ये अप्काय से सम्बन्धित हैं। पिष्ट, कुक्कुस और उत्कृष्ट—ये वनस्पतिकाय से सबन्धित हैं। इनके सिवाय शेष पृथ्वीकाय से सबन्धित हैं।[2]

आयार चूला १।८० में 'उक्कट्ठ' के आगे 'संसट्ठ' शब्द और है। यहाँ उसके स्थान में 'कए' है पर वह 'कुक्कुस' के आगे है। उक्कट्ठ के आगे 'कए, कड, संसट्ठ' जैसा कोई शब्द नहीं है, इसलिए अर्थ में थोड़ी अस्पष्टता आती है। यह सचित्त वस्तु से संसृष्ट आहार लेने का निषेध और उससे असंसृष्ट आहार लेने का विधान है[3]।

सजातीय प्रासुक आहार से असंसृष्ट हाथ आदि से लेने का निषेध और संसृष्ट हाथ आदि से लेने का जो विधान है, वह असंसृष्ट और संसृष्ट शब्द के द्वारा बताया गया है। टीकाकार "विधि पुनरत्रोर्ध्वं वक्ष्यति स्वयमेव" इस वाक्य के द्वारा सजातीय प्रासुक आहार से असंसृष्ट और संसृष्ट हाथ आदि का सम्बन्ध अगले दो श्लोकों से जोड़ देते हैं।

तैंतीसवीं गाथा के 'एव' शब्द के द्वारा "दव्वीए भायणेण वा, देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं" की अनुवृत्ति होती है।

श्लोक ३५ :

१३८ जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसङ्ग हो (पच्छाकम्मं जहिं भवे [घ]) :

जिस वस्तु का हाथ आदि पर लेप लगे और उसे धोना पड़े वैसी वस्तु से अलिप्त हाथ आदि से भिक्षा देने पर पश्चात्-कर्म दोष का प्रसङ्ग आता है। भिक्षा देने के निमित्त जो हस्त, पात्र आदि आहार से लिप्त हुए हों उन्हें गृहस्थ सचित्त जल से धोता है, अतः पश्चात्-कर्म होने की सम्भावना को ध्यान में रखकर असंसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का निषेध तथा संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का विधान किया गया है[4]। रोटी आदि सूखी चीज, जिसका लेप न लगे और जिसे देने के बाद हाथ आदि धोना न पड़े, वह असंसृष्ट हाथ आदि से भी ली जा सकती है[5]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११० . उक्कट्ठ थूरो सुरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिट्ठ वा। अबिलिया पीलुपण्णियातीणि वा उक्खलछुण्णाणि।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : उक्किट्ठ नाम वोद्धियकालिंगादीणि उक्खले खुभति।
(ग) हा० टी० प० १७० : तथोत्कृष्ट इति उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गालाबुत्रपुषफलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते चिञ्चिणिकादिपत्रसमुदायो वा उदूखलकण्डित इति।

२—नि० भा० गा० १४७।

३—आ० चू० १/८० वृ : संसृष्टेन हस्तादिना दीयमान न गृह्णीयात् इत्येवमादिना तु असंसृष्टेन तु गृह्णीयात् इति।

४—नि० भा० गा० १८५२ :

मा किर पच्छाकम्मं, होज्ज असंसट्ठगं तओ वज्जं।
कर-मत्तेहिं तु तम्हा, संसट्ठेहिं भवे गहणं ॥

५—(क) अ० चू० पृ० ११० : असंसट्ठो अण्णादीहिं अणुवलित्तो तत्थ पच्छेकम्मदोसो। सुक्कपोयलिकमादि देंतीए घेप्पति।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : अलेवेणं दव्वं दविमाइ देज्जा, तत्थ पच्छाकम्मदोसोत्तिकाउं न घेप्पइ। सुक्खपूयलिया दिज्जइ तो घेप्पइ।
(ग) हा० टी० प० १७० : शुष्कमण्डकादिवत् तदन्यदोषरहितं गृह्णीयादिति।

पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ६१३-२६) में एषणा के लिप्त नामक नौवें दोष का वर्णन करते हुए एक बहुत ही रोचक संवाद प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कहते हैं—"मुनि को अलेपकृत आहार (जो चुपड़ा न हो, सूखा हो, वैसा आहार) लेना चाहिए, इससे पश्चात्-कर्म के दोष का प्रसङ्ग टलता है और रस-लोलुपता भी सहज मिटती है।" शिष्य ने कहा—"यदि पश्चात्-कर्म दोष के प्रसङ्ग को टालने के लिए लेप-कर आहार न लिया जाए यह सही हो तो उचित यह होगा कि आहार लिया ही न जाए जिससे किसी दोष का प्रसङ्ग ही न आए।" आचार्य ने कहा—"सदा अनाहार रहने से चिरकाल तक होने वाले तप, नियम और संयम की हानि होती है, इसलिए यावत्-जीवन का उपवास करना ठीक नहीं।" शिष्य फिर बोल उठा—"यदि ऐसा न हो तो छह-छह मास के सतत उपवास किए जाएं और पारणा में अलेप-कर आहार लिया जाए।" आचार्य बोले—"यदि इस प्रकार करते हुए संयम को निभाया जा सके तो भले किया जाए, रोकता कौन है? पर अभी शारीरिक बल सुदृढ नहीं है, इसलिए तप उतना ही किया जाना चाहिए जिससे प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि मुनि का आचार भली-भांति पाला जा सके।"

मुनि को प्रायः विकृति का परित्याग रखना चाहिए। शरीर अस्वस्थ हो, संयम-योग की वृद्धि के लिए शक्ति-संचय करना आवश्यक हो तो विकृतियाँ भी खाई जा सकती हैं। अलेप-कर आहार मुख्य होना चाहिए। कहा भी है 'अभिक्खणं निव्विगइं गया य'[1]।' इसलिए सामान्य विधि से यह कहा गया है कि मुनि को अलेप-कर आहार लेना चाहिए। पश्चात्-कर्म दोष की दृष्टि से विचार किया जाए वहाँ उतना ही पर्याप्त है जितना मूल श्लोकों में बताया गया है।

१३६. असंसृष्ट संसृष्ट (असंसट्ठेण, ३५ [क] संसट्ठेण ३६ [क]) :

असंसृष्ट और संसृष्ट के आठ विकल्प होते हैं—

१. संसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य।
२. संसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।
३. संसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य।
४. संसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।
५. असंसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य।
६. असंसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।
७. असंसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य।
८. असंसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।

इनमें दूसरे, चौथे, छट्ठे और आठवें विकल्प में पश्चात्-कर्म की भावना होने के कारण उन रूपों में भिक्षा लेने का निषेध है और शेष रूपों में उसका विधान है[2]।

१—दश० चू० : २.७।

२—(क) अ० चू० पृ० ११० : एत्थभंगा—संसट्ठो हत्थो संसट्ठो मत्तो सावसेसं दव्वं, संसट्ठो हत्थो संसट्ठो मत्तो णिरवसेसं दव्वं—एवं अट्ठ भंगा। एत्थ पढमो पसत्थो, सेसा कारणे जीव-सरीररक्खणत्थमणंतरमपविट्ठं।

(ख) जि० चू० पृ० १७९ : एत्थ अट्ठभंगा—हत्थो संसत्तो मत्तो संसट्ठो निरवसेसं दव्वं एवं अट्ठभंगा कायव्वा, एत्थ पढमो भंगो सव्वुक्किट्ठो, अण्णेसुवि जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ गेण्हति।

(ग) हा० टी० प० १७० : इह च वृद्धसंप्रदायः—संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे, संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते निरवसेसे दव्वे, एवं अट्ठभंगा, एत्थ पढमभंगो सव्वुत्तमो, अन्नेसुऽवि जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ घिप्पइ, ण इयरेसु, पच्छाकम्मदोसाउ त्ति।

श्लोक ३७ :

१४०. श्लोक ३७ :

इस श्लोक में 'अनिसृष्ट' नामक उद्गम के पन्द्रहवें दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। अनिसृष्ट का अर्थ है—अननुज्ञात। वस्तु के स्वामी की अनुज्ञा—अनुमति के बिना उसे लेने पर 'उड्डाह' अपवाद होता है, चोरी का दोष लगता है, निग्रह किया जा सकता है। इसलिए मुनि को वस्तु के नायक की अनुमति के बिना उसे नहीं लेना चाहिए।

१४१. स्वामी या भोक्ता हों (भुंजमाणाणं [क]) :

'भुञ्ज्' धातु के दो अर्थ हैं—पालना और खाना। प्राकृत में धातुओं के 'परस्मै' और 'आत्मने' पद की व्यवस्था नहीं है, इसलिए संस्कृत में 'भुजमाणाण' शब्द के संस्कृत रूपान्तर दो बनते हैं—(१) भुञ्जतो' और (२) भुञ्जानयो'।

'दोण्हं तु भुजमाणाण' का अर्थ होता है—एक ही वस्तु के दो स्वामी हों अथवा एक ही भोजन को दो व्यक्ति खाने वाले हों।[1]

१४२. देखे (पडिलेहए [घ]) :

उसके चेहरे के हाव-भाव आदि से उसके मन के अभिप्राय को जाने।

मुनि को वस्तु के दूसरे स्वामी का, जो मौन बैठा रहे, अभिप्राय नेत्र और मुँह की चेष्टाओं से जानने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि उसे कोई आपत्ति न हो, अपना आहार देना इष्ट हो तो मुनि उसकी स्पष्ट अनुमति के बिना भी एक अधिकारी द्वारा दत्त आहार ले सकता है और यदि अपना आहार देना उसे इष्ट न हो तो मुनि एक अधिकारी द्वारा दत्त आहार भी नहीं ले सकता[2]।

श्लोक ३८ :

१४३ श्लोक ३८

इस श्लोक में 'निसृष्ट' (अधिकारी के द्वारा अनुमत) भक्त-पान लेने का विधान है।

श्लोक ३९ :

१४४ वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे (भुञ्जमाणं विवज्जेज्जा [ख]) :

दोहद-पूर्ति हुए बिना गर्भ का पात या मरण हो सकता है इसलिए गर्भवती स्त्री की दोहद-पूर्ति (इच्छा-पूर्ति) के लिए जो आहार बने वह परिमित हो तो उसकी दोहद-पूर्ति के पहले मुनि को नहीं लेना चाहिए[3]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११० : "भुज पालनऽभ्यवहरणयो.' इति एवं विसेसेति—अब्भवहरमाणाण रक्खंताण वा विच्छयातालि अभोयणमवि सिया।

(ख) जि० चू० पृ० १७९ : भुजसद्दो पालणे अब्भवहारे च तत्थ पालने ताव एगस्स साहुपायोग्गस्स दोन्नी सामिया अब्भवहारे दो जधा एक्कम्मि वट्टियाए बे जणा भोत्तुकामा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : द्वयोर्भुञ्जतो.' पालनां कुर्वतो एकस्य वस्तुन' स्वामिनोरित्यर्थ एव भुञ्जानयो अभ्यवहारायोद्यतयोरपि योजनीय, यतो भुजि पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति।

२ (क) अ० चू० पृ० ११० :

आगारिंगित-चेट्ठागुणेहिं, भासाविसेस करणेहिं।
मुह-णयणविकारेहि य, घेप्पति अतग्गतो भावो॥

अब्भवहरणीय ज दोण्ह उवणीय ण ताव भुंजिउमारभंति, तं पि 'वर्तमानसामीप्ये०' [पाणि०३.३.१३१] इति वर्तमानमेव। णाताभिप्पातस्स जदि इट्ठं तो घेप्पति, ण अण्णहा।

(ख) जि० चू० पृ० १७९ णेत्तादीहिं विगारेहि अभणंतस्सवि नज्जइ जहा एयस्स दिज्जमाणं चियत्तं न वा इति अचियत्तं तो णो पडिगेण्हेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : तद्दीयमानं नेच्छेदुत्सर्गत:, अपितु अभिप्रायं तस्य द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारै:, किमस्येदमिष्टं दीयमानं नवेति, इष्टं चेद् गृह्णीयान्न चेन्नेति।

३—(क) अ० चू० पृ० १११ : इमे दोसा परिमितमुवणीत, दिण्णे सेसमपज्जत्तं ति डोहलस्साविगमे मरणं गब्भपतणं वा होज्जा तीसे तस्स वा गब्भस्स सण्णीभूतस्स अप्पत्तियं होज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : तत्थ जं सा भुंजइ कोइ ततो देइ तं ण गेण्हियव्वं, को दोसो ?, कदाइ तं परिमिय भवेज्जा, तीए य सद्धा ण विणीया होज्जा, अविणीये य डोहले गब्भपडणं मरणं वा होज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : तत्र भुञ्जमानं तया विवर्ज्य मा भूत्तस्या अल्पत्वेनाभिलाषानिवृत्त्या गर्भपतनादिदोष इति।

श्लोक ४० :

१४५. काल-मासवती (कालमासिणी [क]) :

जिसके गर्भ का प्रसूतिमास या नवां मास चल रहा हो उसे काल-मासवती (काल-प्राप्त गर्भवती) कहा जाता है[1]।

जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार जिन-कल्पिक मुनि गर्भवती स्त्री के हाथ से भिक्षा नही लेते, फिर चाहे वह गर्भ थोड़े दिनों का ही क्यों न हो[2]।

काल-मासवती के हाथ से भिक्षा लेना 'दायक' (एषणा का छट्ठा) दोष है।

श्लोक ४१ :

१४६. श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि में (अगस्त्य चूर्णिगत क्रमांक के अनुसार ५६ वें और ५७ वें तथा टीका के अनुसार ४० वें और ४२ वें श्लोक के पश्चात्) "तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं"—ये दो चरण नही दिये हैं और 'दॆंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं'—इन दो चरणों के आशय को अधिकार-क्रम से स्वतः प्राप्त माना है। वैकल्पिक रूप मे इन दोनो श्लोको को द्वयर्ध (छह चरणो का श्लोक) भी कहा है[3]।

श्लोक ४२ :

१४७. रोते हुए छोड़ (निक्खिवित्तु रोयंतं [ग]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार गच्छवासी स्थविर मुनि और गच्छ-निर्गत जिनकल्पिक-मुनि के आचार मे कुछ अन्तर है। स्तनजीवी बालक को स्तन-पान छुडा स्त्री भिक्षा दे तो, बालक रोए या न रोए, गच्छवासी मुनि उसके हाथ से भिक्षा नही लेते। यदि वह बालक कोरा स्तनजीवी न हो, दूसरा आहार भी करने लगा हो और यदि वह छोडने पर न रोए तो गच्छवासी मुनि उसकी माता के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। स्तनजीवी बालक चाहे स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी उसे अलग करने पर रोने लगे उस स्थिति में गच्छवासी मुनि भिक्षा नही लेते।

गच्छ-निर्गत मुनि स्तनजीवी बालक को अलग करने पर, चाहे वह रोए या न रोए, स्तन-पान कर रहा हो या न कर रहा हो, उसकी माता के हाथ से भिक्षा नही लेते। यदि वह बालक दूसरा आहार करने लगा हो उस स्थिति में उसे स्तन-पान करते हुए को छोडकर, फिर चाहे वह रोए या न रोए, भिक्षा दे तो नही लेते और यदि वह स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी अलग करने पर रोए तो भी भिक्षा नही लेते। यदि न रोए तो वे भिक्षा ले सकते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० १११ : प्रसूतिकालमासे 'कालमासिणी'।
(ख) जि० चू० पृ० १८० : कालमासिणी नाम नवमे मासे गब्भस्स वट्टमाणस्स।
(ग) हा० टी० प० १७१ : 'कालमासवती' गर्भाधानान्नवममासवती।

२—(क) जि० चू० पृ० १८० : जा पुण कालमासिणी पुव्वुट्ठिया परिवेसेंती य थेरकप्पिया गेण्हंति,, जिणकप्पिया पुण जद्दिवसमेव आवन्नसत्ता भवति तओ दिवसाओ आरद्धं परिहरंति।
(ख) हा० टी० प० १७१ : इह च स्थविरकल्पिकानामनिषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमानं कल्पिकं, जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः।

३—अ० चू० पृ० ११२ : पुव्वभणित सुत्त सिलोगद्धं बितीए अणुसरिज्जति—देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पति तारिसं। अहवा दिवड्ढसिलोगो अत्थनिगमणवसेणं।

४—(क) अ० चू० पृ० ११२ : गच्छवासीण थणजीवी थण पियतो निक्खित्तो रोवतु वा मा वा अग्गहणं, अह अपिवतो णिक्खित्तो रोवंते (अग्गहणं अरोवंते) गहणं, अह भत्त पि आहारेति तं पिबंते निक्खित्ते रोवंते अग्गहणं, अरोवंते गहणं। गच्छ-निग्गताण थणजीविम्मि णिक्खित्ते पिबंते (अपिबंते) वा रोयंते (अरोयंते) वा अग्गहणं, भत्ताहारे पिबंते निक्खित्ते रोयमाणे अरोयमाणे वा अग्गहणं, अपिबंते रोयमाणे अग्गहणं, अरोयमाणे गहणं।
(ख) जि० चू० पृ० १८० : तत्थ गच्छवासी जति थणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हंति रोवतु वा मा वा, अह अन्नपि आहारेति तो जति न रोवइ तो गेण्हंति, अह अपियंतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो ण गेण्हंति, गच्छनिग्गया पुण जाव थण-जीवी ताव रोवउ वा मा वा अपियंतओ पियंतओ वा न गेण्हंति, जाहे अन्नंपि आहारेउं पयत्तो भवति ताहे जइ पियं-तओ तो रोवइ मा वा न गेण्हंति, अपियन्तओ जवि रोवइ परिहरंति अरोवंते गेण्हंति।
(ग) हा० टी० प० १७२ : चूर्णि का ही पाठ यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ 'अत्रायं वृद्धसम्प्रदायः' कहकर उद्धृत किया है।

यह स्थूल-दर्शन से बहुत साधारण सी बात लगती है, किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाये तो इसमें अहिंसा का पूर्ण दर्शन होता है। दूसरे को थोड़ा भी कष्ट देकर अपना पोषण करना हिंसा है। अहिंसक ऐसा नही करता इसलिए वह जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में भी बहुत सतर्क रहता है। उक्त प्रकरण उस सतर्कता का एक उत्तम निदर्शन है।

शिष्य पूछता है—बालक को रोते छोडकर भिक्षा देने वाली गृहिणी से लेने मे क्या दोष है ? आचार्य कहते हैं—बालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने मे एव कठोर हाथो से उठाने से बालक मे अस्थिरता आती है। इसमे परिताप दोष होता है। बिल्ली आदि उसे उठा ले जा सकती है[1]।

श्लोक ४४ :

१४८. शंका-युक्त हो (संकियं ख) :

इस श्लोक मे 'शकित' (एषणा के पहले) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। आहार शुद्ध होने पर भी कल्पनीय और अकल्पनीय—उद्गम, उत्पादन और एषणा से शुद्ध अथवा अशुद्ध का निर्णय किए बिना लिया जाए वह 'शकित' दोष है। शका महित लिया हुआ आहार शुद्ध होने पर भी कर्म-बन्ध का हेतु होने के कारण अशुद्ध हो जाता है। अपनी ओर से पूरी जांच करने के बाद लिया हुआ आहार यदि अशुद्ध हो तो भी कर्म-बन्ध का हेतु नही बनता[2]।

श्लोक ४५-४६ :

१४९. श्लोक ४५-४६ :

इन दोनो श्लोको मे 'उद्भिन्न' नामक (उद्गम के बारहवे) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध है। उद्भिन्न दो प्रकार का होता है—'पिहित-उद्भिन्न' और 'कपाट-उद्भिन्न'। चपड़ी आदि से बद पात्र का मुह खोलना 'पिहित-उद्भिन्न' कहलाता है। बन्द किवाड़ का खोलना 'कपाट-उद्भिन्न' कहलाता है। पिधान सचित्त और अचित्त दोनो प्रकार का हो सकता है। उसे साधु के लिए खोला जाए और फिर बद किया जाए वहाँ हिंसा की सम्भावना है। इसलिए 'पिहित-उद्भिन्न' भिक्षा निषिद्ध है। किवाड खोलने में अनेक जीवो के वध की सम्भावना रहती है इसलिए 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का निषेध है। इन श्लोकों मे 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का उल्लेख नही है। इन दो भेदो का आधार पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ३४७) है।

तुलना के लिए देखिए - आयार चूला १।९०,९१।

श्लोक ४७ :

१५०. पानक (पाणगं क) :

हरिभद्र ने 'पानक' का अर्थ आरनाल (काजी) किया है[3]। आगम-रचनाकाल मे साधुओ को प्राय गर्म जल या पानक (तुषोदक, यवोदक, सौवीर आदि) ही प्राप्त होता था। आयार चूला १।१०१ मे अनेक प्रकार के पानको का उल्लेख है। प्रवचन सारोद्धार के अनुसार 'सुरा' आदि को 'पान', साधारण जल को 'पानीय' और द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल को 'पानक' कहा जाता है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११२ : एत्थ दोसा—सुकुमालसरीरस्स खरेहिं हत्थेहिं सयणीए वा पीडा, मज्जारादी वा आणावहरणं करेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : सीसो आह—को तत्थ दोसोत्ति ?, आयरिओ आह—तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण परितावणादोसो मज्जाराइ व अवधरेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७२।

२—पि० नि० गा० ५२९-५३०।

३—हा० टी० प० १७३ : 'पानकं' च आरनालादि।

४—प्रव० सारो० गा० १४१७ : पाणं सुराइयं पाणियं जलं पाणगं पुणो एत्थ। दक्खावाणियपमुहं…।

पानक गृहस्थो के घरो में मिलते थे । इन्हे विधिवत् निष्पन्न किया जाता था । भावप्रकाश आदि आयुर्वेद ग्रन्थों मे इनके निष्पन्न करने की विधि निर्दिष्ट है । अस्वस्थ और स्वस्थ दोनों प्रकार के व्यक्ति परिमित मात्रा मे इन्हे पीते थे ।

सुश्रुत के अनुसार गुड से बना खट्टा या बिना अम्ल का पानक गुरु और मूत्रल है[1] ।

द्राक्षा (किसमिस) से बना पानक श्रम, मूर्च्छा, दाह और तृषानाशक है । फालसे से और बेरो का बना पानक हृदय को प्रिय तथा विष्टम्भि होता है[2] ।

साधारण जल दान आदि के लिए निष्पन्न नही किया जाता । दानार्थ-प्रकृत से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'पानक' का अर्थ द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल है ।

१५१. दानार्थ तैयार किया हुआ (दाणट्ठा पगडं ^घ^) :

विदेश-यात्रा से लौटकर या वैसे ही किसी के आगमन के अवसर पर प्रसाद-भाव से जो दिया जाए वह दानार्थ कहलाता है ।

प्रवास करके कोई सेठ चिरकाल के बाद अपने घर आये और साधुवाद पाने के लिए सर्व पाखण्डियो को दान देने के निमित्त भोजन बनाए वह दानार्थ-प्रकृत कहलाता है । महाराष्ट्र के राजा दान-काल मे समान रूप से दान देते हैं । उसके लिए बनाया गया भोजन आदि भी 'दानार्थ-प्रकृत' कहलाता है[3] ।

श्लोक ४६ :

१५२. पुण्यार्थ तैयार किया हुआ (पुण्णट्ठा पगडं ^घ^) :

जो पर्व-तिथि के दिन साधुवाद या श्लाघा की भावना रखे बिना केवल 'पुण्य होगा' इस धारणा से अशन, पानक आदि निष्पन्न किया जाता है—उसे 'पुण्यार्थ-प्रकृत' कहा जाता है[4] । वैदिक परम्परा मे 'पुण्यार्थ-प्रकृत' दान का बहुत प्रचलन रहा है ।

प्रश्न हुआ कि शिष्ट कुलों मे भोजन पुण्यार्थ ही बनता है । वे क्षुद्र कुलों की भांति केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाते, किन्तु पितरों को बलि देकर स्वयं शेष भाग खाते हैं । अत 'पुण्यार्थ-प्रकृत' भोजन के निषेध का अर्थ शिष्ट-कुलो से भिक्षा लेने का निषेध होगा ? आचार्य ने उत्तर मे कहा—नही, आगमकार का 'पुण्यार्थ-प्रकृत' के निषेध का अभिप्राय: वह नही है जो प्रश्न की भाषा मे रखा गया है । उनका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ जो अशन, पानक पुण्यार्थ बनाए वह मुनि न ले[5] ।

१—सु० सू० ४६.४३० :

गौडमम्लमनम्लं वा पानक गुरु मूत्रलम् ।

२—सु० सू० ४६ ४३२-३३ :

मार्द्वीकं तु श्रमहरं, मूर्च्छादाहतृषापहम् ।

परूषकाणां कोलानां, हृद्यं विष्टम्भि पानकम् ॥

३ – (क) अ० चू० पृ० ११३ : 'दाणट्ठपगडं' कोति ईसरो पवासागतो साधुसद्देण सव्वस्स आगतस्स सक्कारणनिमित्तं दाणं देति, रायाणो वा मरहट्ठगा दाणकाले अविसेसेण देंति ।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : दाणट्ठापगडं नाम कोति वाणियगमादी दिसासु चिरेण आगम्म घरे दाण देतित्ति सव्वपासंडाणं त दाणट्ठ पगड भण्णइ ।

(ग) हा० टी० प० १७३ : दानार्थं प्रकृत नाम—साधुवादनिमित्तं यो ददात्यव्यापारपाखण्डिभ्यो देशान्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति ।

४ (क) अ० चू० पृ० ११३ : जं तिहि-पव्वणीसु पुण्णमुद्दिस्स कीरति त पुण्णट्ठप्पगडं ।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : पुन्नत्थापगडं नाम जं पुण्णनिमित्त कीरइ तं पुण्णट्ठ पगडं भण्णइ ।

५—हा० टी० प० १७३ : पुण्यार्थं प्रकृतं नाम—साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति । अत्राह—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्तेः, तथाहि—न पितृकर्मादिव्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति, नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात्, स्वभृत्यभोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्यैत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याप्यनिषेधादिति, एतेनाऽदेयदानाभाव: प्रत्युक्त:, देयस्यैव यदृच्छादानानुपपत्तेः, कदाचिदपि वा दाने यदृच्छादानोपपत्तेः, तथा व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात् तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽप्यारम्भप्रवृत्तेः नासौ तदर्थं इत्यारम्भदोषायोगात्, दृश्यते च कदाचित् सूतकादाविव सर्वेभ्य एव प्रदानविकला शिष्टाभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति, विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इति ।

श्लोक ५१ :

१५३. वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ (वणिमट्ठा पगडं [घ]) :

दूसरो को अपनी दरिद्रता दिखाने से या उनके अनुकूल बोलने से जो द्रव्य मिलता है उसे 'वनी' कहते हैं और जो उसको पीए—उसका आस्वादन करे अथवा उसकी रक्षा करे वह 'वनीपक' कहलाता है[१]। अगस्त्यसिंह स्थविर ने श्रमण आदि को 'वनीपक' माना है[२], वह स्थानाङ्गोक्त वनीपको की ओर सकेत करता है। वहाँ पाँच प्रकार के 'वनीपक' बतलाए है—अतिथि-वनीपक, कृपण-वनीपक, ब्राह्मण-वनीपक, श्व-वनीपक और श्रमण-वनीपक[३]। वृत्तिकार के अनुसार अतिथि-भक्त के सम्मुख अतिथि-दान की प्रशसा कर उससे दान चाहनेवाला अतिथि-वनीपक कहलाता है। इसी प्रकार कृपण(रक आदि दरिद्र) भक्त के सम्मुख कृपण-दान की प्रशसा कर और ब्राह्मण-भक्त के सम्मुख ब्राह्मण-दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला क्रमशः कृपण-वनीपक और ब्राह्मण-वनीपक कहलाता है। श्व-(कुत्ता) भक्त के सम्मुख श्व-दान की प्रशंसा कर उससे दान चाहने वाला श्व-वनीपक कहलाता है। वह कहता है— 'गाय आदि पशुओ को घास मिलना सुलभ है किन्तु छिः छिः कर दुत्कारे जाने वाले कुत्तो को भोजन मिलना सुलभ नही। ये कैलास पर्वत पर रहने वाले यक्ष हैं। भूमि पर यक्ष के रूप मे विचरण करते हैं[४]।" श्रमण-भक्त के सम्मुख दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला श्रमण-वनीपक कहलाता है।

हरिभद्र सूरि ने 'वनीपक' का अर्थ 'कृपण' किया है[५]। किन्तु 'कृपण' 'वनीपक का एक प्रकार है इसलिए पूर्ण अर्थ नही हो सकता। इस शब्द मे सब तरह के भिखारी आते हैं।

श्लोक ५५ :

१५४. पूतिकर्म (पूईकम्मं [ख]) :

यह उद्गम का तीसरा दोष है। जो आहार आदि श्रमण के लिए बनाया जाए वह 'आधाकर्म' कहलाता है। उससे मिश्र जो आहार आदि होते हैं, वे पूतिकर्मयुक्त कहलाते हैं[६]। जैसे—अशुचि-गध के परमाणु वातावरण को विषाक्त बना देते हैं, वैसे ही आधाकर्म-आहार का थोड़ा अश भी शुद्ध आहार में मिलकर उसे सदोष बना देता है। जिस घर मे आधाकर्म आहार बने वह तीन दिन तक पूतिदोष-युक्त होता है इसलिए चार दिन तक (आधाकर्म-आहार बने उस दिन और उसके पश्चात् तीन दिन तक) मुनि उस घर से भिक्षा नही ले सकता[७]।

१—ठा० ५।२०० वृ० : परेषामात्मदुःस्थत्वदर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्य सा वनी प्रतीता, तां पिबति—आस्वादयति पातीति वेति वनीपः स एव वनीपको—याचकः।

२—अ० चू० पृ० ११३ : समणाति वणीमगा।

३—ठा० ५।२०० : पंच वणीमगा पण्णत्ता तंजहा—अतिहिवणीमगे, किवणवणीमगे, माहणवणीमगे, साणवणीमगे, समणवणीमगे।

४—ठा० ५।२०० वृ० :

अवि नाम होज्ज सुलभो, गोणाईण तणाइ आहारो।
छिच्छिक्कारहयाणं न हु सुलभो होज्ज सुणताण ॥
केलासभवणा एए, गुज्झगा आगया महिं।
चरंति जक्खरूवेणं, पूयाऽपूया हिताऽहिता ॥

५—हा० टी० प० १७३: वनीपकाः—कृपणाः।

६—(क) पि० नि० गा० २६६ :

समणकडाहाकम्मं समणाणं जं कडेण मीसं तु।
आहार उवहि-वसही सव्वं तं पूइयं होइ ॥

(ख) हा० टी० प० १७४ : पूतिकर्म—संभाव्यमानाधाकर्मावयवसंमिश्रलक्षणम्।

७—पि० नि० गा० २६८ :

पढमदिवसम्मि कम्मं तिन्नि उ दिवसाणि पूइयं होइ।
पूईसु तिसु न कप्पइ कप्पइ तइओ जया कप्पो ॥

१५५. अध्यवतर (अज्झोयर [ग])

'अध्यवतर' उद्‌गम का सोलहवाँ दोष है । अपने के लिए आहार बनाते समय साधु की याद आने पर और अधिक पकाए उसे 'अध्यवतर' कहा जाता है[१] । 'मिश्र-जात' में प्रारम्भ से ही अपने और साधुओं के लिए सम्मिलित रूप से भोजन पकाया जाता है[२] और इसमें भोजन का प्रारम्भ अपने लिए होता है तथा बाद में साधु के लिए अधिक बनाया जाता है । 'मिश्र-जात' में चावल, जल, फल और साग आदि का परिमाण प्रारम्भ में अधिक होता है और इसमे उनका परिमाण मध्य में बढ़ता है । यही दोनों में अन्तर है[३] ।

टीकाकार 'अज्झोयर' का संस्कृत रूप अध्यवपूरक करते हैं । वह अर्थ की दृष्टि से सही है पर छाया की दृष्टि से नही, इसलिए हमने इसका सस्कृत रूप 'अध्यवतर' दिया है ।

१५६. प्रामित्य (पामिच्चं [ग])

'प्रामित्य' उद्‌गम का नवाँ दोष है । इसका अर्थ है—साधु को देने के लिए कोई वस्तु दूसरो से उधार लेना[४] । पिण्ड-निर्युक्ति (३१६-३२१) की वृत्ति से पता चलता है कि आचार्य मलयगिरि ने 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' को एकार्थक माना है । ९२ वीं गाथा की वृत्ति मे उन्होंने लिखा है कि वापस देने की शर्त के साथ साधु के निमित्त जो वस्तु उधार ली जाती है वह 'अपमित्य' है[५] । इसका अगला दोष 'परिवर्तित' है[६] । चाणक्य ने 'परिवर्तक', 'प्रामित्यक' और 'आपमित्यक' के अर्थ भिन्न-भिन्न किए हैं । उसके अनुसार एक धान्य से आवश्यक दूसरे धान्य का बदलना 'परिवर्तक' कहलाता है । दूसरे से धान्य आदि आवश्यक वस्तु को मागकर लाना 'प्रामित्यक' कहलाता है । जो धान्य आदि पदार्थ लौटाने की प्रतिज्ञा पर ग्रहण किये जाते हैं, वे 'आपमित्यक' कहलाते हैं[७] ।

भिक्षा के प्रकरण में 'आपमित्यक' नाम का कोई दोष नही है । साधु को देने के लिए दूसरों से माग कर लेना और लौटाने की शर्त से लेना—ये दोनो अनुचित हैं । सभव है वृत्तिकार को 'प्रामित्य' के द्वारा इन दोनो अर्थों का ग्रहण करना अभिप्रेत हो, किन्तु शाब्दिक-दृष्टि से 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' का अर्थ एक नही है । 'प्रामित्य' मे लौटाने की शर्त नही होती । 'दूसरे से माग कर लेना' —'प्रामित्य' का अर्थ इतना ही है ।

१५७. मिश्रजात (मीसजायं [घ]) :

'मिश्र-जात' उद्‌गम का चौथा दोष है । गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका ले, वह 'मिश्र-जात' दोष है[८] । उसके तीन प्रकार हैं—यावदर्थिक-मिश्र, पाखण्डि-मिश्र और साधु-मिश्र । भिक्षाचर (गृहस्थ या अगृहस्थ) और कुटुम्ब

१—हा० टी० प० १७४ : अध्यवपूरकं—स्वार्थमूलाद्रहणप्रक्षेपरूपम् ।

२—हा० टी० प० १७४ : मिश्रजात च—आदित एव गृहिसयतमिश्रोपस्कृतरूपम् ॥

३—पि० नि० गा० ३८८-८९ :

अज्झोयरओ तिविहो जावंतिय सघरमीसपासडे ।
मूलंमि य पुव्वकये ओयरई तिण्ह अट्ठाए ॥
तंदुलजलआयाणे पुप्फफले सागवेसणे लोणे ।
परिमाणे णाणत्तं अज्झोयरमीसजाए य ॥

४—हा० टी० प० १७४ : प्रामित्य—साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणम् ।

५—पि० नि० गा० ९२ वृत्ति : 'पामिच्चे' इति अपमित्य—भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यद् साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यम् ।

६—पि० नि० गा० ९३ : परियट्टिए ।

७—कौटि० अर्थ० २.१५. ३३ : सस्यवर्णानामर्घान्तरेण विनिमयः परिवर्तकः ।
सस्ययाचनमन्यतः प्रामित्यकम् ।
तदेव प्रतिदानार्थमापमित्यकम् ।

८—(क) पि० नि० गा० २७३ : मिगंथट्ठा तइओ अत्तट्ठाएऽवि रंधंते । वृत्ति—आत्मार्थमेव राध्यमाने तृतीयो गृहनायको ब्रूते, यथा—निर्ग्रन्थानामर्थायाधिकं प्रक्षिपेति ।

(ख) हा० टी० प० १७४ : मिश्रजातं च—आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपम् ।

के लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'यावदर्थिक' कहलाता है। पाखण्डी और अपने लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'पाखण्डि-मिश्र' एवं जो भोजन केवल साधु और अपने लिए एक साथ पकाया जाए वह 'साधु-मिश्र' कहलाता है[1]।

श्लोक ५७ :

१५८. पुष्प, बीज और हरियाली से (पुप्फेसु ग बीएसु हरिएसु वा घ) :

यहाँ पुष्प, बीज और हरित शब्द की सप्तमी विभक्ति तृतीया के अर्थ मे है।

१५९. उन्मिश्र हों (उम्मीसं ग) :

'उन्मिश्र' एषणा का सातवा दोष है। साधु को देने योग्य आहार हो, उसे न देने योग्य आहार (सचित्त या मिश्र) से मिला कर दिया जाए अथवा जो अचित्त आहार सचित्त या मिश्र वस्तु से सहज ही मिला हुआ हो वह 'उन्मिश्र' कहलाता है[2]।

बलि का भोजन कणवीर आदि के फूलो से मिश्रित हो सकता है। पानक 'जाति' और 'पाटला' आदि के फूलो से मिश्रित हो सकता है। धानी अक्षत-बीजो से मिश्रित हो सकती है। पानक 'दाडिम' आदि के बीजो से मिश्रित हो सकता है। भोजन अदरक, मूलक आदि हरित से मिश्रित हो सकता है। इस प्रकार खाद्य और स्वाद्य भी पुष्प आदि से मिश्रित हो सकते है[3]।

'संहृत' मे अदेय-वस्तु को सचित्त से लगे हुए पात्र मे या सचित्त पर रखा जाता है और इसमे सचित्त और अचित्त का मिश्रण किया जाता है, इन दोनो मे यही अन्तर है[4]।

श्लोक ५८ :

१६०. उत्तिंग (उत्तिंग घ) :

इसका अर्थ है—कीटिका-नगर[5]।

विशेष जानकारी के लिए देखिए ८.१५. का इसी शब्द का टिप्पण।

१६१. पनक (पणगेसु घ) :

'पनक' का अर्थ नीली या फफूंदी होता है[6]।

१—पि० नि० गा० २७१ : मीसज्जाय जावंतियं च पासंडिसाहुमीसं च।

२—पि० नि० गा० ६०७ :

　　दायव्वमदायव्वं च दोऽवि दव्वाइ देइ मीसेउं।
　　ओयणकुसुणाईणं साहरणं तयन्नहिं छोढुं॥

३—(क) अ० चू० पृ० ११४ : तेसिं किंचि 'पुप्फेहिं' बलिकूरादि असणं उम्मिस्सं भवति, 'पाणं' पाडलादीहिं कढितसीतलं वा किंचि वासितं, 'खादिमं' मोदगादी, 'सादिमं' वडिकादि। 'बीएहिं' अक्खतादीहिं, 'हरिएहिं' भूतणातीहिं जहासंभव।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : पुप्फेहिं उम्मिसं नाम पुप्फाणि कणवीरमंदरादीणि तेहिं बलिमादि असणं उम्मिस्सं होज्जा, पाणए कणवीरपाडलादीणि पुप्फाणि परिकप्पंति, अहवा बीयाणि जहिं छाए पडियाणि होज्जा, अक्खयमीसा वा धाणी होज्जा, पाणिए दालिमपाणगाइसु बीयाणि होज्जा, हरिताणि विरयसपाणेसु अल्लगमूलगादीणि पक्खित्ताणि होज्जा, जहा य असणपाणाणि उम्मिस्सगाणि पुप्फादीहिं भवंति एव खाइमसाइमाणिवि भाणियव्वाणि।

(ग) हा० टी० प० १७४ : 'पुष्पैः' जातिपाटलादिभिः भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वेति।

४—पि० नि० गा० ६०७।

५—(क) अ० चू० पृ० ११४ : उत्तिगो कीडीयाणगरं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उत्तिगो नाम कीडियानगरयं।

(ग) हा० टी० प० १७५ : कीटिकानगर।

६—(क) अ० चू० पृ० ११४ : पणओ उल्ली, ओल्लियए कहिंचि अणतरादिट्ठूवित।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : पणओ उल्ली भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : पनकेषु……उल्लीषु।

१६२. निक्षिप्त (रखा हुआ) हो (निक्खित्तं ग) :

निक्षिप्त दो तरह का होता है—अनन्तर निक्षिप्त और परंपर निक्षिप्त। नवनीत जल के अन्दर रखा जाता है—यह अनन्तर निक्षिप्त का उदाहरण है। सपातिम जीवों के भय से दधि आदि का बर्तन जलकुण्ड में रखा जाता है—यह परपर निक्षिप्त का उदाहरण है[1]। जहाँ जल, उत्तिग, पनक का अशन आदि के साथ सीधा सम्बन्ध हो जाता है वहा अशन आदि अनन्तर निक्षिप्त कहलाते हैं। जहाँ जल, उत्तिग, पनक आदि का सम्बन्ध अशन आदि के साथ सीधा नही होता केवल भोजन के साथ होता है वहाँ अशनादि परंपर निक्षिप्त कहलाते हैं। दोनो प्रकार के निक्षिप्त अशनादि साधु के लिए वर्जित है। यह ग्रहैषणा-दोष है[2]।

श्लोक ६१ :

१६३. उसका (अग्नि का) स्पर्श कर (संघट्टिया घ) :

साधु को भिक्षा दू उतने समय मे रोटी आदि जल न जाये, दूध आदि उफन न जाये ऐसा सोचकर रोटी या पूआ आदि को उलट कर, दूध आदि को निकाल कर अथवा जल का छींटा देकर अथवा जलते ईंधन को हाथ, पैर आदि से छू कर देना—यह सघट्य-दोष है[3]।

इलोक ६३ :

१६४. इलोक ६३ :

अगस्त्य चूर्णि और जिनदास चूर्णि के अनुसार यह इलोक सग्रह-गाथा है। इस सग्रह-गाथा में अगस्त्य चूर्णि के अनुसार निम्न भी गाथाएँ समाविष्ट हैं :

१. असण पाणगं वावि खाइम साइम तहा ॥
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्त त च उस्सिक्किया दए ॥
२. ·························· तं च ओसक्किया दए ॥
३. ·························· त च उज्जालिया दए ॥
४. ·························· त च विज्झाविया दए ॥
५. ·························· त च उस्सिचिया दए ॥
५. ·························· त च उक्कड्ढिया दए ॥
७. ·························· त च निस्सिचिया दए ॥
८. ·························· त च ओवत्तिया दए ॥
६. ·························· त च ओतारिता दए ॥

जिनदास चूर्णि के अनुसार सात इलोको का विषय सगृहीत है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११४ : निक्खित्तमणंतरं परपर च। अणतरं णवणीय-पोयलियाति, परंपरनिक्खित्तमसणाति भायणत्थमुपरि जलकुंडस्स विण्णत्थ।
(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उदगंमि णिक्खित्तं दुविहं, त०—अणंतरणिक्खित्त जधा नवनीतपोग्गलियमादि, परंपरनिक्खित्तं दहिपिढो सपातिमाविभयेण छोढूण जलकुंडस्स उवरिं ठवितं।
(ग) हा० टी० प० १७५ : उदयनिक्खित्त दुविह अणंतरं परंपरं च, अणंतर नवनीतपोग्गलियमादि, परोप्परं जलघडोवरि-भायणत्थं दधिमादि।

२—अ० चू० पृ० ११४ : एत्थ निक्खित्तमिति गहणेसणा दोसा भणिता।

३—(क) अ० चू० पृ० ११५ : 'जाव साधूणं भिक्खं देमि ताव मा डज्झिहिती उब्भुतिहिति वा' आहट्टेऊण देति, पूवलियं वा उत्थल्लेऊण, उम्मुयाणि वा हत्थपादेहिं संघट्टेता।
(ख) जि० चू० पृ० १८२ : संघट्टिया नाम जाव अहं साहूणं भिक्खं देमि ताव मा उब्भराइऊणं छड्डिज्जिहिति तेण आघट्टेऊण देइ।
(ग) हा० टी० प० १७५ : तच्च संघट्टय, यावद्भिक्षां ददामि तावत्तापातिशयेन मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्याघट्टय ददातिति।

४—जिनदास चूर्णि में इलोक-संख्या २ और ५ नहीं हैं।

१६५. (चूल्हे में) ईंधन डालकर (उस्सक्किया क) :

मैं भिक्षा दूं इतने में कहीं चूल्हा बुझ न जाए—इस विचार से चूल्हे में ईंधन डालकर[1]।

१६६. (चूल्हे में) ईंधन निकाल कर (ओसक्किया क) :

मैं भिक्षा दूं इतने में कोई वस्तु जल न जाए—इस भावना से चूल्हे में से ईंधन निकाल कर[2]।

१६७. उज्ज्वलित कर (सुलगा कर) (उज्जालिया ख) :

तृण, ईंधन आदि के प्रक्षेप से चूल्हे को प्रज्वलित कर। प्रश्न हो सकता है 'उस्सक्किया' और 'उज्जालिया' में क्या अन्तर है ? पहले का अर्थ है—जलते हुए चूल्हे में ईंधन डाल कर जलाना और दूसरे का अर्थ है—नए सिरे से चूल्हे को सुलगा कर अथवा प्रायः बुझे हुए चूल्हे को तृण आदि से जला कर[3]।

१६८. प्रज्वलित कर (पज्जालिया ख) :

बार-बार ईंधन से चूल्हे को प्रज्वलित कर[4]।

१६९. बुझाकर (निव्वाविया ख) :

मैं भिक्षा दूं इतने में कहीं कोई चीज उफन न जाए—इस दृष्टि से चूल्हे को बुझा कर[5]।

१७०. निकाल कर (उस्सिंचिया ग) :

पात्र बहुत भरा हुआ है, इसमें से आहार बाहर न निकल जाए—इस भय से उत्सेचन कर—बाहर निकालकर अथवा उसको हिलाकर उसमें गर्म जल डालकर[6]।

१—(क) अ० चू० पृ० ११५ : उस्सिक्किया अवसतुइया। 'जाव भिक्खं देमि ताव मा विज्झाहिति' त्ति सअट्ठाए तन्निमित्तं चेहहरालक्खे (?) वि परिहरितव्वं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उस्सकिया नाम अवसतुइय साधुनिमित्तं उस्सिक्किज्जा तहा जहा अह भिक्ख दाहामि ताव मा उज्भावेतित्ति।

(ग) हा० टी० प० १७५ : 'उस्सक्किय' ति यावद्भिक्षां ददामि तावन्मा भूद्विध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्यात्।

२—(क) अ० चू० पृ० ११५ : ओसक्किय उम्मुयाणि ओसारेऊण, मा ओवणो डज्झिहिति उवधुप्पिधिति वा किंचि।

(ख) हा० टी० प० १७५. 'ओसक्किया' अवसर्प्य अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः।

३—(क) अ० चू० पृ० ११५. उज्जालिय कंलिय —कुतलगादीहि। उस्सिक्कणुज्जलणविसेसो-जलताण चेव उम्मुयाण विसेसुज्जालणट्ठमुप्पुजण उस्सिक्कणं, बहुविज्झातस्स तिणादीहिं उज्जालणं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२-१८३. उज्जालिया नाम तणाईणि इंधणाणि परिक्खिविऊण उज्जालयइ, सीसो आह—उस्सक्कियउज्जालियाणं को पइविसेसो ?, आयरिओ आह—उस्सक्केति जलंतमवि, उज्जालयइ पुण संजतट्ठाए उट्ठिता सव्वहा विज्झाय अगणिं तणाईहिं पुणो उज्जालेति।

(ग) हा० टी० प० १७५ : 'उज्ज्वाल्य' अर्धविध्यात सकृदिन्धनप्रक्षेपेण।

४—हा० टी० प० १७५ : 'प्रज्वाल्य' पुनः पुनः (इन्धनप्रक्षेपेण)।

५—(क) अ० चू० पृ० ११६ : पाणगादिणा देयेण विज्झवेंती देति।

(ख) जि० चू० पृ० १८३ : निव्वाविया नाम जाव भिक्खं देमि ताव उवणादी डज्झिहिति ताहे तं अगणिं विज्झवेऊण देइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : 'निव्वाविया' निर्वाप्य दाहभयादेवेति भावः।

६—(क) अ० चू० पृ० ११६ : उस्सिंचिया कढंताओ ओकड्ढिऊण उण्होदगादि देति।

(ख) जि० चू० पृ० १८३ : उस्सिंचिया नाम तं अइभरियं मा उब्भूयाएऊण छड्डिज्जिहिति ताहे थोवं उक्कड्ढीऊण पासे ठवेइ, अहवा तओ चेव उक्किड्ढिऊणं उण्होदगं दोच्चगं वा देइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : 'उस्सिच्य' अतिभृतादुज्झनभयेन ततो वा दानार्थं तीमनादीनि।

१७१. छींटा देकर (निस्सिंचिया [ग]) :

उफान के भय से अग्नि पर रखे हुए पात्र में पानी का छींटा देकर अथवा उसमे से अन्न निकालकर[1] ।

१७२. टेढ़ाकर (ओवत्तिया [घ]) :

अग्नि पर रखे हुए पात्र को एक ओर से झुकाकर[2] ।

१७३. उतार कर (ओयारिया [घ]) :

साधु को भिक्षा दूं इतने में जल न जाए— इस भय से उतारकर[3] ।

श्लोक ६५ :

१७४. ईंट के टुकड़े (इट्टालं [ख]) :

मिट्टी के ढेले दो प्रकार के होते हैं—एक भूमि से सम्बद्ध और दूसरे असम्बद्ध । असम्बद्ध ढेले के तीन प्रकार होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । पत्थर उत्कृष्ट है, लोष्ठ मध्यम है और ईंट जघन्य है[4] ।

श्लोक ६६ :

१७५.

अगस्त्य चूर्णि में ६६ वें श्लोक का प्रारम्भ 'गभीरं झुसिरं चेव'—इस चरण से होता है जब कि जिनदास और हरिभद्र के सम्मुख जो आदर्श था उसमें यह ६६ वे श्लोक का तीसरा चरण है[5] । अगस्त्यसिंह ने यहाँ 'अधोमालापहृत' की चर्चा की है[6], जब कि जिनदास और हरिभद्र के आदर्श में उसका उल्लेख नहीं है ।

श्लोक ६७ :

१७६. मचान (मंचं [ग]) :

चार लट्ठों को बाँधकर बनाया हुआ ऊँचा स्थान जहाँ नमी, सीलन तथा जीव-जन्तुओं से बचाने के लिए भोजनादि रखे जाते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार यह सोने या चढ़ने के काम आता था[7] ।

१— (क) अ० चू० पृ० ११६ : जाव भिक्खं देमि ताव मा उब्भिहितित्ति पाणिताति तत्थ णिस्सिंचति ।

(ख) जि० चू० पृ० १८३ : निस्सिंचिया णाम त अद्दहियं दव्वं अण्णत्थ निस्सिंचिऊण तेण भायणेण ऊणं देइ तं अहवा तम-द्दहियगं उवणपससाणाओ जाव साहूणं भिक्खं देमि ताव मा उब्भूयावेउत्तिकाऊण उदगाविणा परिसिंचिऊण देइ ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : 'निषिच्य' तद्भाजनाद्रहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात्, उद्वर्तनभयेन वाऽऽद्रहितमुदकेन निषिच्य ।

२—(क) अ० चू० पृ० ११६ : अगणिनिक्खित्तमेव एक्कपस्सेण ओवत्तेतूण देति ।

(ख) जि० चू० पृ० १८३ : उव्वत्तिया णाम तेणेव अगणिनिक्खित्तं ओयत्तेऊण एगपासेण देति ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : 'अपवर्त्य' तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेनान्येन वा दद्यात् ।

३—(क) जि० चू० पृ० १८३ : ओयारिया नाम जमेतमद्दहियं जाव साधूणं भिक्खं देमि ताव मो डज्झिहितित्ति उत्तारेज्जा ।

(ख) हा० टी० प० १७५ : 'अवतार्य' दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात् ।

४—डगला पुण दुविधा—सम्बद्धा भूमिए होज्जा असम्बद्धा वा होज्जा । जे असम्बद्धा ते तिविधा ······। उवला उक्कोसा, लेट्ठू मज्झिमा मज्झिमा, इट्टालं जहण्णं ।

५— अ० चू० पृ० ११६ : गहणेसणा विसेसो निक्खित्तमुपदिट्ठं, गवेषणा विसेसो पागडकरणमुपदिस्सति जहा 'गंभीरं झुसिरं' सिलोगो ।

६—अ० चू० पृ० ११७ : एतं भूमिघराविसु अहेमालोहडं ।

७—अ० चू० पृ० ११७ : मंचो सयणीयं चडणमंचिया वा ।

श्लोक ६९ :

१७७. मालापहृत (मालोहडं [ग]) :

मालापहृत उद्गम का तेरहवां दोष है । इसके तीन प्रकार हैं—

(१) ऊर्ध्व-मालापहृत—ऊपर से उतारा हुआ ।

(२) अधो-मालापहृत—भूमि-गृह (तल-घर या तहखाना) से लाया हुआ ।

(३) तिर्यग्-मालापहृत—ऊँडे बर्तन या कोठे आदि में से झुककर निकाला हुआ[1] ।

यहाँ सिर्फ ऊर्ध्व-मालापहृत का निषेध किया गया है[2] । अगस्त्य चूर्णि का मत इससे भिन्न है—देखिए ६६ वें श्लोक का टिप्पण ।

६७ वें श्लोक में निश्रेणि, फलक, पीठ मच, कील और प्रासाद —इन छः शब्दों के अन्वय में चूर्णिकार और टीकाकार एकमत नहीं हैं । चूर्णिकार निश्रेणि, फलक और पीठ को आरोहण के साधन तथा मच, कील और प्रासाद को आरोह्य-स्थान मानते हैं[3] ।

आयार चूला के अनुसार चूर्णिकार का मत ठीक जान पड़ता है । वहाँ १।८७ वें सूत्र मे अन्तरिक्ष स्थान पर रखा हुआ आहार लाया जाए उसे मालापहृत कहा गया है और अन्तरिक्ष-स्थानो के जो नाम गिनाए हैं उनमे 'थंभंसिवा', मचसिवा, पासायंसि वा'—ये तीन शब्द यहाँ उल्लेखनीय हैं । इन्हे आरोह्य-स्थान माना गया है । १।८७ वें सूत्र मे आरोहण के साधन बतलाए है उनमें 'पीढं वा, फलग वा, निस्सेणिं वा'- -इनका उल्लेख किया है । इन दोनो सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन छहों शब्दों मे पहले तीन शब्द जिन पर चढा जाए उनका निर्देश करते हैं और अगले तीन शब्द चढने के साधनो को बताते हैं ।

टीकाकार ने 'मच' और 'कील' को पहले तीन शब्दों के साथ जोडा उसका कारण इनके आगे का 'च' शब्द जान पडता है । सम्भवतः उन्होंने 'च' के पूर्ववर्ती पाँचो को प्रासाद से भिन्न मान लिया[4] ।

श्लोक ७० :

१७८. पत्ती का शाक (सन्निरं [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ केवल 'शाक' किया है[5] ।

जिनदास और हरिभद्र इसका अर्थ 'पत्र-शाक' करते हैं[6] ।

१७९. घीया (तुंबागं [ग]) :

जिसकी त्वचा म्लान हो गई हो और अन्तर्-भाग अम्लान हो, वह 'तुबाग' कहलाता है[7] । हरिभद्र सूरि ने तुम्बाक का अर्थ छाल व

१—पि० नि० गा० ३६३ ।

२—तुलना के लिए देखिए आयारचूला १।८७-८६ ।
अधो मालापहृत के लिए देखिए आयारचूला १।८७-८६ ।

३—(क) अ० चू० पृ० ११७ : निस्सेणी मालादीण आरोहण-कट्ठं संघातिमं फलगं, पहुलं कट्ठमेव ण्हणाति उपयोग्गं पीढ । एताणि उस्सवेत्ताण उद्ध ठवेऊण आरुहे चडेज्ज । '' '''मंचो सयणीय चडणमंचिगा वा । खीलो भूमिसमाकोट्टितं कट्ठं । पासादो समालको घरविसेसो । एताणि समणट्ठाए दाया चडेज्जा ·

(ख) जि० चू० पृ० १८३ : णिस्सेणी लोगपसिद्धा फलगं-महल्लं सुवण्णय भवइ, पीढयं ण्हाणपीढाइ, उस्सविता णाम एताणि उड्ढहुत्ताणि काऊण तिरिच्छाणि वा आरुहेज्जा, मंचो लोगपसिद्धो, कीलो उड्ढ व खाणुं, पासाओ पसिद्धो, एतेहिं दायये समणट्ठाए आरुहेत्ता भत्तपाणं आणेज्जा ।

४—हा० टी० प० १७६ : निश्रेणिं फलक पीठम् 'उस्सवित्ता' उत्सृत्य ऊर्ध्वं कृत्वा इत्यर्थः, आरोहेन्मञ्चं, कीलकं च उत्सृत्य कमारोहेदित्याह—प्रासादम् ।

५—अ० चू० पृ० ११७ : 'सण्णिरं' साग ।

६—(क) जि० चू० पृ० १८४ : सन्निरं पत्तसागं ।

(ख) हा० टी० प० १७६ : सन्निरमिति पत्रशाकम् ।

७—(क) अ० चू० पृ० ११७ : तुम्बागं ज तयाए मिलाणममिलाण अंतो त्वम्लानम् ।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तुम्बागं नाम जं तयामिलाणं अब्भंतरओ अद्दयं ।

मज्जा के बीच का भाग किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होने बताया है कि कई व्याख्याकार इसका अर्थ हरी तुलसी करते हैं[1]। शालिग्रामनिघण्टु के अनुसार यह दो प्रकार का होता है—एक लम्बा और दूसरा गोल[2]। हिन्दी में 'तुबाक' को कद्दू, लौकी तथा रामतरोई और बंगला में लाउ कहते हैं।

श्लोक ७१ :

१८०. सत्तू (सत्तुचुण्णाइं [क]) :

अगस्त्य चूर्णि में सत्तू और चूर्ण को भिन्न-भिन्न माना है[3]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि 'सत्तुचुण्णाइ' का अर्थ सत्तू करते हैं[4]।

सत्तू और चूर्ण ये भिन्न शब्द हो तो चूर्ण का अर्थ चून, जो आटा और घी को कड़ाही में भूनकर चीनी मिलाकर बनाया जाता है, हो सकता है। हरियाना मे चून के 'लड्डू' बनते हैं। सत्तू चूर्ण को एक माना जाए तो इसका अर्थ पिष्टक होना चाहिए। सत्तू को पानी से घोल, नमक मिला आग पर पकाया जाता है। कड़ा होने पर उसे उतार लिया जाता है। यह 'पिष्टक' कहलाता है।

१८१. बेर का चूर्ण (कोलचुण्णाइं [ख]) :

अगस्त्यसिंह और जिनदास ने इसका अर्थ बेर का चूर्ण[5] और हरिभद्र ने बेर का सत्तू किया है[6]।

आयार चूला मे पीपल, मिर्च, अदरक आदि के चूर्णों का उल्लेख है[7]।

१८२. तिल-पपड़ी (सक्कुलि [ग]) .

चूर्णि और टीका में इसका अर्थ तिल-पपडी किया है[8]। चरक और सुश्रुत की व्याख्या मे कचौरी आदि किया गया है[9]।

श्लोक ७२ :

१८३. न बिकी हों (पसढं [क]) :

जो विक्रेय वस्तु बहुत दिनो तक न बिके उसे 'प्रशठ' या 'प्रसृत' कहा गया है[10]। टीकाकार ने इसका सस्कृत रूप 'प्रसह्य' किया है[11]।

१—हा० टी० प० १७६ : 'तुम्बाकं' त्वग्मिजान्तर्वर्ति आर्द्रां वा तुलसीमित्यन्ये।

२—शालि० नि० पृ० ८६० : अलाबुः कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्त्तुला।

३—अ० चू० पृ० ११७ . "सत्तुया जवातिधाणाविकारो"। "चुण्णाइं" अण्णे पिट्ठविसेसा।

४—(क) जि० चू० पृ० १८४ : सत्तुचुण्णाणि नाम सत्तुगा, ते य जवविगारो।

(ख) हा० टी० प० १७६ . 'सक्तुचूर्णान्' सक्तून्।

५—(क) अ० चू० पृ० ११७ : कोला बदरा तेसिं चुण्णाणि।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : कोलाणि—बदराणि तेसिं चुण्णो कोलचुण्णाणि।

६—हा० टी० प० १७६ : 'कोलचूर्णान्' बदरसक्तून्।

७—आ० चू० २।१०७ : पिप्पलिचुण्णं वा ···मिरियचुण्ण वा··· ···सिंगबेरचुण्णं वा······अन्नयरं वा तहप्पगारं।

८—(क) अ० चू० पृ० ११७ : सक्कुली तिलपप्पडिया।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : सक्कुलीति पप्पडिकादि।

(ग) हा० टी० प० १७६ : 'शष्कुलीं' तिलपर्पटिकाम्।

९—(क) सु० २७०.२६७।

(ख) भक्ष्यपदार्थ वर्ग : ४६.५४४।

१०—(क) अ० चू० पृ० ११८ : पसढमिति पच्चक्खातं तद्दिवसं विक्कतं न गतं।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तं पसढं नाम ज बहुदेवसियं दिणे दिणे विक्कायते त।

११—हा० टी० प० १७६ : 'प्रसह्य' अनेकदिवसस्थापनेन प्रकटम्।

१८४. रज से (रएण [ख]) :

रज का अर्थ है—हवा से उड़कर आई हुई अरण्य की सूक्ष्म सचित्त (सजीव) मिट्टी[1]।

श्लोक ७३ :

१८५. पुद्गल,···अनिमिष (पुग्गलं [क] · अणिमिसं [ख]) :

पुद्गल शब्द जैन-साहित्य का प्रमुख शब्द है। इसका जैनेतर साहित्य मे क्वचित् प्रयोग हुआ है। बौद्ध-साहित्य में पुद्गल चेतन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग आभरण के अर्थ मे हुआ है[2]। जैन-साहित्य मे पुद्गल एक द्रव्य है। परमाणु और परमाणु-स्कन्ध—इन दोनो की सज्ञा 'पुद्गल' है। कही-कही आत्मा के अर्थ मे भी इसका प्रयोग मिलता है[3]।

प्रस्तुत श्लोक मे जो 'पुद्गल' शब्द है उसके संस्कृत रूप 'पुद्गल' और 'पौद्गल' दोनो हो सकते है। चूर्णि और टीका-साहित्य में पुद्गल का अर्थ मांस भी मिलता है[4]। यह इसके अर्थ का विस्तार है। पौद्गल का अर्थ पुद्गल-समूह होता है। किसी भी वस्तु के कलेवर, संस्थान या बाह्य रूप को पौद्गल कहा जा सकता है। स्थानांग में मेघ के लिए 'उदगपोग्गल' (सं० उदकपौद्गलम्') शब्द प्रयुक्त हुआ है[5]। पौद्गल का अर्थ मांस, फल या उसका गूदा—इनमें से कोई भी हो सकता है। इसलिए यहां कुछ व्याख्याकारो ने इसका अर्थ मांस और कइयो ने वनस्पति—फल का अन्तर्भाग किया है।

इस प्रकार अनिमिष शब्द भी मत्स्य तथा वनस्पति दोनो का वाचक है। चूर्णिकार पुद्गल और अनिमिष का अर्थ मास-मत्स्य-परक करते हैं[6]। वे कहते हैं—साधु को मास खाना नहीं कल्पता, फिर भी किसी देश, काल की अपेक्षा से इस अपवाद सूत्र की रचना हुई है[7]। टीकाकार मास-परक अर्थ के सिवाय मतान्तर के द्वारा इनका वनस्पति-परक अर्थ भी करते है[8]।

आयारचूला १।१३३-१३४ वें सूत्र से इन दो श्लोको की तुलना होती है। १३३ वे सूत्र मे इक्षु, शाल्मली इन दो वनस्पतिवाचक शब्दों का उल्लेख है और १३४ वें सूत्र मे मास और मत्स्य शब्द का उल्लेख है। वृत्तिकार शीलाङ्क सूरि मास और मत्स्य का लोक-प्रसिद्ध अर्थ करते हैं, किन्तु वे मुनि के लिए इन्हें अभक्ष्य बतलाते हैं। उनके अनुसार बाह्योपचार के लिए इनका ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु खाने के लिए नहीं[9]।

अगस्त्यसिंह स्थविर, जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि के तथा शीलाङ्कसूरि के दृष्टिकोण मे अन्तर केवल आशय के अस्पष्टीकरण और स्पष्टीकरण का है, ऐसा सम्भव है। वे अपवाद रूप मे मास और मत्स्य के लेने की बात कहकर रुक जाते है, किन्तु उनके उपयोग की चर्चा नही करते। शीलाङ्कसूरि उनके उपयोग की बात बता सूत्र के आशय को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं।

१—(क) अ० चू० पृ० ११८ : रयेण अरण्णातो वायुसमुद्धतेण समततो घत्थं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तत्थ वायुणा उद्धुएण आरण्णेण सच्चित्तेण रएण।
(ग) हा० टी० प० १७६ : 'रजसा' पार्थिवेन।

२—कौटि० अर्थ० २.१४ प्र० ३२ : तस्माद् वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्गललक्षणान्युपलभेत।
व्याख्या:—उच्चावचहरणोपायसम्भवात्, वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां वज्रादिरूपाणां चतुर्णां, जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्गल-लक्षणानि, जाति—उत्पत्तिः, रूपम्—आकारः, वर्णः—रागः, प्रमाण—माषकादिपरिमाणं, पुद्गलम् आभरणं, लक्षण—लक्ष्म एतानि उपलभेत - विद्यात्।

३—सू० १.१३.१५ : उत्तमपोग्गले। वृत्ति—उत्तमः पुद्गल—आत्मा।

४—नि० भा० गा० १३५ चूर्णि : पोग्गल मोयगदंते पोग्गल—मस।

५—ठा० ३.३५९ वृ० : उदकप्रधानं पौद्गलम्—पुद्गलसमूहो मेघः इत्यर्थः, उदकपौद्गलम्।

६—(क) अ० चू० पृ० ११८ : पोग्गल प्राणिविकारो। अणिमिसो वा कण्टकायितो।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : बहुअट्ठियं व मंसं मच्छं वा बहुकंटयं।

७—(क) अ० चू० पृ० ११८ : मसातीण अग्गहणे सति देश-काल गिलाणावेक्खमिदमववातसुत्त।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : मस वा णेव कप्पति साहूण कचि कालं देस पडुच्च इमं सुत्तमागत।

८—हा० टी० प० १७६ : बह्वस्थि 'पुद्गल' मांसम् 'अनिमिष वा' मत्स्यं वा बहुकण्टकम्, अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः, अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते इति।

९—आ० चू० १।१३४ वृ० : एवं मांससूत्रमपि नेयम्, अस्य चोपादान क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात् फलवद्दृष्टं, भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थे, नाभ्यवहारार्थे, पदातिभोगवदिति।

१८६. आस्थिक (अत्थियं [ग]) :

दोनों चूर्णियों में 'अच्छियं' पाठ मिलता है[1]। इसका संस्कृत रूप 'आक्षिक' बनता है। 'आक्षिक एक प्रकार का रजक फल है'[2]। आक्षिकी नामक एक लता भी होती है। उसका फल पित्त-कफ नाशक, खट्टा तथा वातवर्धक होता है[3]।

हारिभद्रीय वृत्ति के अनुसार 'अत्थिय' पाठ है। वहाँ इसका अर्थ अस्थिक-वृक्ष का फल किया गया है[4]। भगवती (२२.३) और प्रज्ञापना (१) में बहुबीजक वनस्पति के प्रकरण में 'अत्थिय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसकी पहचान 'अगस्ति या अगस्त्य' से की जा सकती है। इसे हिन्दी में 'अगस्तिया', 'हथिया', 'हदगा' कहते हैं। अगस्तिया के फूल और फली होते हैं। इसकी फली का शाक भी बनता है[5]।

१८७. तेन्दू (तिंदुयं[६] [ग]) :

तेन्दू भारत, लंका, बर्मा और पूर्वी बंगाल के जंगलों मे पाया जाने वाला एक मझोले आकार का वृक्ष है। इस वृक्ष की लकड़ी को आबनूस कहते हैं। इस वृक्ष का खाया जाने वाला फल नीबू के समान हरे रंग का होता है और पकने पर पीला हो जाता है[7]।

१८८. फली (सिंबलिं [घ]) :

अगस्त्य चूर्णि और हारिभद्रीय वृत्ति में 'सिंबलि' का अर्थ निष्पाव (वल्ल धान्य) आदि की फली और जिनदास चूर्णि में केवल फली किया है[8]। शाल्मलि के अर्थ में 'सिंबलि' का प्रयोग देशी नाममाला मे मिलता है[9]।

शिष्य ने पूछा—७०वें श्लोक मे अपक्व प्रलम्ब लेने का निषेध किया है, उससे वे स्वयं निषिद्ध हो जाते हैं। फिर इनका निषेध क्यो? आचार्य ने कहा—वहाँ अपक्व प्रलम्ब लेने का निषेध है, यहाँ बहु-उज्झन-धर्मक वस्तुओं का। इसलिए ये पक्व भी नहीं लेनी चाहिए[10]।

श्लोक ७५ :

१८९. श्लोक ७५ :

अब तक के श्लोको में मुनि को अकल्पनीय आहार का निषेध कर कल्पनीय आहार लेने की अनुज्ञा दी है। अब ग्राह्य-अग्राह्य जल के विषय मे विवेचन है[11]। जल भी अकल्प्य छोड़ कल्प्य ग्रहण करना चाहिए।

१—(क) अ० चू० पृ० ११८ : अच्छियं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : अच्छियं।

२—सु० ४६.२०१ : फलवर्गं।

३—च० सू० २७.१६० : पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चाक्षिकीफलम्।

४—हा० टी० प० १७६ : 'अत्थिकं' अस्थिकवृक्षफलम्।

५—शालि० नि० भू० पृ० ५२३।

६—(क) जि० चू० पृ० १८४ : तिंदुयं—टिंबरुयं।
(ख) हा० टी० प० १७६ : 'तेंदुकं' तेंदुरुकीफलम्।

७—नालन्दा विशाल शब्द सागर।

८—(क) अ० चू० पृ ११८ : णिप्फवादि संगा—संबलि।
(ख) हा० टी० प० १७६ : 'शाल्मलिं वा' वल्लादिफलिम्।
(ग) जि० चू० पृ० १८४ : सिंबलि—सिंगा।

९—दे० ना० ८.२३ : सामरी सिंबलिए—सामरी शाल्मलिः।

१०—जि० चू० पृ० १८४-८५ : सीसो आह—णणु पलंबगहणेण एयाणि गहियाणि, आयरिओ भण्णइ—एताणि सत्थोवहताणिवि अण्णंमि समुदाणे फासुए लब्भमाणे ण गिण्हियव्वाणि।

११—(क) अ० चू० पृ० ११८ : 'एगालंभो अपज्जत्तं' ति पाण-भोयणेसणाओ पत्थुयाओ, तत्थ किंचि सामण्णमेव संभवति भोयणे पाणे य,····· अयं तु पाणग एव विसेसो संभवतीति भण्णति।
(ख) जि० चू० पृ० १८५ : जहा भोयणं अकप्पियं पडिसिद्धं कप्पियमणुण्णायं तहा पाणगमवि भण्णइ।

१६०. उच्चावच पानी (उच्चावयं पाणं [क])

उच्च और अवच शब्द का अर्थ है ऊँच और नीच। जल के प्रसङ्ग मे इनका अर्थ होगा—श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ। जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ हो वह 'उच्च' और जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ न हो वह 'अवच' कहलाता है।

जो वर्ण में सुन्दर, गंध से अपूति—दुर्गन्ध रहित, रस से परिपक्व और स्पर्श से स्निग्धता रहित हो वह उच्च जल है और वह साधु को कल्पता है। जो ऐसे वर्ण आदि से रहित है वह अवच और अग्राह्य है।

द्राक्षा-जल 'उच्च जल' है और आरनाल का पूति—दुर्गन्धयुक्त जल 'अवच जल' है[1] :

'उच्चावच' का अर्थ नाना प्रकार भी होता है[2]।

१६१. गुड़ के घड़े का धोवन (वारधोयणं [ख]) :

चूर्णि-द्वय मे 'वालधोवण' पाठ है। चूर्णिकार ने यहाँ रकार और लकार का एकत्व माना है[3]। 'वार' घडे को कहते हैं। फाणित—गुड़ आदि से लिप्त घड़े का धोवन 'वार-धोवन' कहलाता है[4]।

१६२. आटे का धोवन (संसेइमं [ग])

'ससेइम का' अर्थ आटे का धोवन होता है[5]। शीलाङ्काचार्य इसका अर्थ तिल का धोवन और उबाली हुई भाजी जिसे ठडे जल से सींचा जाए, वह जल, करते हैं[6]। अगस्त्यसिह स्थविर और अभयदेव सूरि शीलाङ्काचार्य के दूसरे अर्थ को स्वीकृत करते हैं[7]। निशीथ चूर्णि में भी 'ससेइम' का यह दूसरा अर्थ मिलता है[8]।

१६३. जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो (अहुणाधोयं [घ]) :

यह एषणा के आठवे दोष 'अपरिणत' का वर्जन है। आयार चूला के अनुसार अनाम्ल—जिसका स्वाद न बदला हो, अव्युत्क्रान्त—

१—(क) अ० चू० पृ० ११८ : 'उच्चावयं' अणेगविध वण्ण-गध-रस-फासेहिं हीण-मज्झिमुत्तमं।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : उच्चं च अवचं च उच्चावच, उच्च नाम जं वण्णगंधरसफासेहिं उववेय, तं च मुद्दियापाणगादी, चउत्थरसिय वावि जं वण्णओ सोभण गधओ अपूयं रसओ परिकप्परसं फासओ अपिच्छिल तं उच्च भण्णइ, त कप्पइ, अवय णाम जमेतेहिं वण्णगधरसफासेहिं विहीण, त अवय भन्नति, एव ता वसतीए घेप्पति।

(ग) हा० टी० प० १७७ : 'उच्च' वर्णाद्युपेतं द्राक्षापानादि 'अवचं' वर्णादिहीनं पूत्यारनालादि।

२—जि० चू० पृ० १८५ : अहवा उच्चावयं णाम णाणापगारं भन्नइ।

३—(क) अ० चू० पृ० ११८, ११९ : अहवा वालधोवण, 'वालो' वारगो र-लयोरेकत्वमिति कृत्वा लकारो भवति वाल:, तेण वार एव वाल.।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : रकारलकाराणमेगत्तमितिकाउ वारओ वालओ भन्नइ।

४—(क) अ० चू० पृ० ११९ : तस्य धोवणं फाणितातीहिं लित्तस्स वालादिस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : सो य गुलफाणियादिभायणं तस्स धोवणवारधोवण।

(ग) हा० टी० प० १७७ : 'वारकधावनं' गुडघटधावनमित्यर्थ:।

५—(क) जि० चू० पृ० १८५ . ससेइम नाम पाणियं अहुहेऊण तस्सोवरि पिट्ठे संसेइज्जंति, एवमादि तं संसेदियं भन्नति।

(ख) हा० टी० प० १७७ : 'संस्वेदजं' पिष्टोदकादि।

६—आ० चू० १।११ वृ० : तिलधावनोदकम्, यदिवाऽरणिकादिसंस्विन्नधावनोदकं।

७—(क) अ० चू० पृ० ११९ : जम्मि किंचि सागादी संसेदेत्ता सित्तोसित्तादि कीरति तं ससेइमं।

(ख) ठा० ३.३७६ वृ० : ससेकेन निर्वृत्तमिति संसेकिमम्—अरणिकादिपत्रशाकमुत्काल्य येन शीतलजलेन ससिच्यते।

८—(क) नि० १५ गा० ४७०९ चू० : ससेतिमं णाम पिट्ठरे पाणियं तावेत्ता पिण्डियट्ठिया तिला तेण ओलहिज्जंति, तस्स जे आमा तिला ते संसेतिमामं भण्णति। आदिग्गहणेण जं पि अण्णं किंच एतेण कमेण संसिज्जति तं पि संसेतिमाम भण्णति।

(ख) नि० १७.१३२ गा० ५९९९ चू० : ससेतिम, तिला उण्हपाणिएण सित्ता जति, सीतोदगा धोवति तो संसेतिमं भण्णति।

जिसकी गन्ध न बदली हो, अपरिणत—जिसका रंग न बदला हो, अविध्वस्त—विरोधी शस्त्र के द्वारा जिसके जीव ध्वस्त न हुए हों, वह अधुनाधौत जल अप्रासुक (सजीव) होने के कारण मुनि के लिए अनेषणीय (अग्राह्य) होता है[1]। जो इसके विपरीत आम्ल, व्युत्क्रान्त, परिणत, विध्वस्त होने के कारण प्रासुक (अजीव) हो वह चिरधौत जल मुनि के लिए एषणीय (ग्राह्य) होता है। यहाँ केवल अधुनाधौत जल का निषेध और चिरधौत होने के कारण जो अजीव और परिणत (परिणामान्तर प्राप्त) हो गया हो उसे लेने का विधान किया गया है[2]।

जिनदास चूर्णि और टीका में 'संस्वेदज' जल लेने का उत्सर्ग-विधि से निषेध और आपवादिक विधि से विधान किया है[3]।

परम्परा के अनुसार जिस धोवन को अन्तर्मुहूर्त्त काल न हुआ हो वह अधुनाधौत और इसके बाद का चिरधौत कहलाता है। इसकी शास्त्रीय परिभाषा यह है —जिसका स्वाद, गंध, रस और स्पर्श न बदला हो वह अधुनाधौत और जिसके ये बदल गए हो वह चिरधौत है[4]। इसका आधार अधुनाधौत और अप्रासुक के मध्यवर्ती उक्त चार विशेषण हैं।

श्लोक ७६ :

१९४. मति (मईए [ख]) :

यहाँ मति शब्द कारण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। वर्ण आदि के परिवर्तन और अपरिवर्तन जल के अजीव और सजीव होने का निर्णय करने मे कारण बनते हैं[5]।

मति द्वारा चिरधौत को जानने के लिए तीन उपाय बताए जाते है—

१ - पुष्पोदक का विगलित होना।

२—बिन्दुओं का सूखना।

३—चावलो का सीझना।

चूर्णिकार के अनुसार ये तीनो अनादेश (असम्यग् विधान) हैं, क्योंकि पुष्पोदक कभी-कभी चिरकाल तक टिक सकता है। जल की बूँदें भी सर्दी में चिरकाल से सूखती हैं और गर्मी मे शीघ्र सूख जाती हैं। कलम, शालि आदि चावल जल्दी सीझ जाते हैं। घटिया चावल देरी से सीझते हैं। पुष्पोदक के विगलित होने में, बिन्दुओ के सूखने मे और चावलो के सीझने मे समय की निश्चितता नहीं है, इसलिए इनका कालमान जल के सचित्त से अचित्त होने में निर्णायक नही बनता[6]।

श्लोक ७८ :

१९५. बहुत खट्टा (अच्चंबिलं [ग]) :

आगम-रचना-काल में साधुओं को यवोदक, तुषोदक, सौवीर, आरनाल आदि अम्ल जल ही अधिक मात्रा मे प्राप्त होते थे। उनमें

१—आ० चू० १।९९ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा `` 'से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा—उस्सेइमं वा, संसेइमं वा, चाउलोदगं वा, अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाधोय अणंबिलं अव्वोक्कंतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं अणेसणिज्जं ति मन्नमाणे लाभे संते णो पडिगाहिज्जा।

२—अ० चू० पृ० ११६ : 'आउक्कायस्स चिरेण परिणामो' त्ति मुद्दियापाणगं पच्छितमेरां, वालगे वा धोयमेत्ते, साणे वा पच्छितमेत्ते, अभिणव-धोतेसु चाउलेसु।

३—(क) जि० चू० पृ० १८५ : तम्मवि अन्नंमि लब्भमाणे ण पडिगाहेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १७७ : एतवचनवदुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति।

४—जि० चू० पृ० १८५-८६ : अपुच्छिए वण्णगंधरसफासेहिं नज्जति, जया य पाणस्स य कुक्कुसाबया हेट्ठीभूया सुट्ठु य पसण्णं भवति, फासुयं भवति, उसिणोदगमवि जवा तिन्नि वारे उव्वत्तं ताहे कप्पइ।

५—(क) अ० चू० पृ० ११६ : मतीए कारणेहिं।

(ख) हा० टी० प० १७७ : मत्या दर्शनेन वा, 'मत्या' तद्ग्रहणादिकर्मजया।

६—जि० चू० पृ० १८५ : मतीए नाम जं कारणेहिं जाणइ, तत्थ केई इमाणि तिण्णि कारणाणि भणंति, जहा जाव पुप्फोदया विरायंति ताव मिस्सं, अण्णे पुण भणंति—जाव फुसियाणि सुक्कंति, अण्णे भणंति—जाव तंदुला सिज्झंति, एवइएण कालेण अचित्तं भवइ, तिण्णिवि एते अणाएसा, कहं ?, पुप्फोदया कयावि चिरमच्छेज्जा, फुसियाणि वरिसारत्ते चिरेण सुक्कंति, उण्हकाले लहु, कलमसालि-तंदुलावि लहुं सिज्झंति, एतेण कारणेण।

कांजी की भांति अम्लता होती थी। अधिक समय होने पर वे जल अधिक अम्ल हो जाते थे। उनमे दुर्गन्ध भी पैदा हो जाती थी। वैसे जलों से प्यास भी नहीं बुझती थी। इसलिए उन्हें चखकर लेने का विधान किया गया है।

श्लोक ८१ :

१९६. अचित्त भूमि को (अचित्तं [ख]) :

दग्धस्थान आदि शस्त्रोपहत भूमि तथा जिस भूमि पर लोगो का आवागमन होता रहता है वह भूमि अचित्त होती है[1]।

१९७. यतना-पूर्वक (जयं [ग]) :

यहाँ 'यत' शब्द का अर्थ अत्वरित किया है[2]।

१९८. परिस्थापित करे (परिट्ठवेज्जा [ग]) :

परिस्थापन (परित्याग) दश प्रायश्चित्तों मे चौथा प्रायश्चित्त है[3]। अयोग्य या सदोष आहार आदि वस्तु आ जाए तो उसका परित्याग करना एक प्रायश्चित्त है, इसे 'विवेक' कहा जाता है। इस श्लोक में परित्याग कहाँ और कैसे करना चाहिए, परित्याग के बाद क्या करना चाहिए—इन तीन बातो का सकेत मिलता है। परित्याग करने की भूमि एकान्त और अचित्त होनी चाहिए[4]। उस भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर (उसे देख रजोहरण से साफ कर) परित्याग करना चाहिए[5]।

परित्याग करते समय 'वोसिरामि'—छोडता हूँ, परित्याग करता हू यों तीन बार बोलना चाहिए[6]। परित्याग करने के बाद उपाश्रय में आकर प्रतिक्रमण करना चाहिए।

१९९. प्रतिक्रमण करे (पडिक्कमे [घ]) :

प्रतिक्रमण का अर्थ है लौटना—वापस आना। प्रयोजन के बिना मुनि को कही जाना नही चाहिए। प्रयोजनवश जाए तो वापस आने पर आने-जाने मे जान-अनजान मे हुई भूलो की विशुद्धि के लिए ईर्यापथिकी का (देखिए आवश्यक चूर्णि ४.६) ध्यान करना चाहिए। यहाँ इसी को प्रतिक्रमण कहा गया है[7]।

श्लोक ८२ :

२००. श्लोक ८२ :

इस श्लोक से भोजन-विधि का प्रारम्भ होता है। सामान्य विधि के अनुसार मुनि को गोचराग्र से वापस आ उपाश्रय में भोजन करना चाहिए, किन्तु जो मुनि दूसरे गाँव मे भिक्षा लाने जाए और वह बालक, बूढा, बुभुक्षितया, तपस्वी हो या प्यास से पीडित हो तो

१—(क) अ० चू० पृ० १२० : अचित्तं फासथंडिल्लाति।
(ख) जि० चू० पृ० १८६ : अचित्तं नाम जं सत्थोवहयं अचित्तं, त च आगमणथंडिलादी।
(ग) हा० टी० प० १७८ : 'अचित्तं' दग्धदेशादि।

२—(क) जि० चू० पृ० १८६ : जयं नाम अतुरियं।
(ख) हा० टी० प० १७८ : 'यतम्' अत्वरितम्।

३—ठा० १०।७३।

४—विशेष स्पष्टता के लिए देखिए आयार चूला १।२,३।

५—जि० चू० पृ० १८६ : पडिलेहणागहणेण पमज्जणावि गहिया, चक्खुणा पडिलेहणा, रयहरणादिणा पमज्जणा।

६—हा० टी० प० १७८ : प्रतिष्ठापयेद्विधिना त्रिर्वाक्यपूर्वं व्युत्सृजेत्।

७—(क) अ० चू० पृ० १२० : पच्चागतो इरियावहियाए पडिक्कमे।
(ख) जि० चू० पृ० १८६-८७ : परिट्ठवेऊण उवस्सयमागंतूण ईरियावहियाए पडिक्कमेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १७८ : प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेदीर्यापथिकाम्। एतच्च बहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रतिक्रमणम-बहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणनियमज्ञापनार्थमिति।

उपाश्रय में आने के पहले ही भोजन (कलेवा) कर सकता है। श्लोक ८२ से ८६ तक इसी आपवादिक विधि का वर्णन है। जिस गाँव में वह भिक्षा के लिए जाए वहाँ साधु ठहरे हुए हों तो उनके पास जाकर आहार करना चाहिए। यदि साधु न हों तो कोष्ठक अथवा भित्ति-मूल आदि हों वहाँ जाना चाहिए[1]। यदि उनका अधिकारी हो तो वहाँ ठहरने के लिए उनकी अनुमति लेनी चाहिए। आहार के लिए उपयुक्त स्थान वह होता है, जो ऊपर से छाया हुआ और चारों ओर से संवृत हो। वैसे स्थान में ऊपर से उड़ते हुए सूक्ष्म जीवों के गिरने की संभावना नहीं रहती। आहार करने से पहले 'हस्तक'[2] से समूचे शरीर का प्रमार्जन करना चाहिए[3]।

२०१. भित्तिमूल (भित्तिमूलं [ग]) :

व्याख्याकारों ने इसका अर्थ दो घरों का मध्यवर्ती भाग[4], भित्ति का एक देश अथवा भित्ति का पार्श्ववर्ती भाग[5] और कुटीर या भींत किया है[6]।

श्लोक ८३ :

२०२. अनुज्ञा लेकर (अणुन्नवेत्तु [क]) :

स्वामी से अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है—"हे श्रावक ! तुम्हें धर्म-लाभ है। मैं मुहूर्त भर यहाँ विश्राम करना चाहता हूँ" मुनि यह कहे, 'किन्तु यहा खाना-पीना चाहता हूँ' यह न कहे, क्योंकि ऐसा कहने पर गृहस्थ कुतूहलवश वहाँ आने का प्रयत्न कर सकता है।[7] अनुज्ञा देने की विधि इस प्रकार है—गृहस्थ नतमस्तक होकर कहता है—"आप चाहते हैं वैसे विश्राम की अनुज्ञा देता हूँ।"

२०३. छाए हुए एवं संवृत स्थल में (पडिच्छन्नम्मि संवुडे [ख]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'प्रतिच्छन्न' और 'संवृत'—ये दोनो शब्द स्थान के विशेषण हैं[8]। अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार 'प्रतिच्छन्नं' स्थान का और 'संवृत' मुनि का विशेषण है[9]। उत्तराध्ययन (१.३५) में ये दोनो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शान्त्याचार्य ने इन दोनों को मुख्यार्थ मे स्थान का विशेषण माना है[10]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२० : गोतरग्गगतस्स भोत्तव्वसंभवो गामंतरं भिक्खायरियाए गतस्स काल-क्खमण-पुरिसे आसज्ज पढमालियं।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ : जो य सो गोयरग्गगओ भुंजइ सो अन्न गामं गओ बालो वूडो छाआलू खमओ वा, अहवा तिसिओ तो कोई विलंबणं काऊण पाणयं पिबेज्जा, एवमावि, पढमालियं काउं, तं पुण अण्णसाधुउवस्सगऽसतीए कुट्ठए भित्तिमूले वा समुद्दिसेज्जा।

२—देखिए टिप्पण सख्या २०४।

३—प्रश्न० (सं०) पृ० २०२ : संपमज्जिऊण ससीसं कायं।

४—अ० चू० पृ० १२० : दोण्हं घराण अंतरं भित्तिमूलं।

५—हा० टी० प० १७८ : 'भित्तिमूलं वा' कुड्यैकदेशादि।

६—जि० चू० पृ० १८७ : भित्ती नाम कुड्डो कुडडो।

७—(क) अ० चू० पृ० १२० : धम्मलाभपुव्वं तस्स त्थाणस्स पभुमणुण्णवेति—जदि ण उवरोहो एत्थ मुहुत्तं वीससामि, ण भणति 'समुद्दिसामि' मा कोतुहल्लेण एहिती।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ : तेण तत्थ ठायमाणेण तत्थ पहू अणुन्नवेयव्वो—धम्मलाभो ते सावगा ! एत्थ अहं मुहुत्तागंमि विस्समामि, ण य भणयति जहा समुद्दिस्सामि आययामि वा, कोउएण पलोएहिंति।

(ग) हा० टी० प० १७८ : 'अनुज्ञाप्य' सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहम्।

८—जि० चू० पृ० १८७ : पडिच्छण्णे संवुडे ठातियव्वं जहा सहसत्ति न दीसती, जहा य सागारियं दूरओ जं न पासति तहा ठातियव्वं।

९—(क) अ० चू० पृ० १२० : पडिच्छण्णे थाणे संवुडो सयं जधा सहसा ण दीसति सयमावयंतं पेच्छति।

(ख) हा० टी० प० १७८ : 'प्रतिच्छन्ने' तत्र कोष्ठकादौ 'संवृत' उपयुक्तः सन्।

१०—उत्त० बृ० पत्र ६०,६१ : 'प्रतिच्छन्ने' उपरिप्रावरणान्विते, अन्यथा सम्पातिमसत्त्वसम्पातसम्भवात्, 'संवृते' पार्श्वतः कटकुड्यादिना सङ्कटद्वारे अटव्यां कुडङ्गादिषु वा………संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्।

बृहत्कल्प के अनुसार मुनि का आहार-स्थल प्रतिच्छन्न—ऊपर से छाया हुआ और संवृत —पार्श्व-भाग में आवृत होना चाहिए। इस दृष्टि से 'प्रतिच्छन्न' और 'संवृत' दोनों स्थान के विशेषण होने चाहिए।

२०४. हस्तक से (हत्थगं ग) :

'हस्तक' का अर्थ—मुखपोतिका, मुख-वस्त्रिका होता है[1]। कुछ आधुनिक व्याख्याकार 'हस्तक' का अर्थ पूंजनी (प्रमार्जनी) करते हैं, किन्तु यह साधार नहीं लगता। ओघनिर्युक्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में मुख-वस्त्रिका का उपयोग प्रमार्जन बतलाया है[2]। पात्र-केसरिका का अर्थ होता है—पात्र-मुख-वस्त्रिका -पात्र-प्रमार्जन के काम आने वाला वस्त्र-खण्ड[3]। 'हस्तक', मुख-'वस्त्रिका' और 'मुखान्तक' - ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

श्लोक ८४ :

२०५. गुठली, कांटा (अट्ठियं कंटओ ख) :

चूर्णिकार इनका अर्थ हड्डी और मछली का कांटा करते हैं और इनका सम्बन्ध देश-काल की अपेक्षा से ग्रहण किए हुए मांस आदि से जोड़ते हैं[4]।

अस्थिक और कंटक प्रमादवश गृहस्थ द्वारा मुनि को दिए हुए हो सकते हैं—ऐसा टीकाकार का अभिमत है। उन्होंने एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार अस्थिक और कंटक कारणवश गृहीत भी हो सकते हैं[5]। किन्तु यहाँ अस्थिक और कंटक का अर्थ हड्डी और मछली का कांटा करना प्रकरण-संगत नहीं है। गोचराग्र-काल में आहार करने के तीन कारण बतलाए हैं -असहिष्णुता, ग्रीष्मऋतु का समय और तपस्या का पारणा[6]। ओघनिर्युक्ति के भाष्यकार ने असहिष्णुता के दो कारण बतलाए हैं - भूख और प्यास[7]। क्लान्त होने पर मुनि भूख की शांति के लिए थोड़ा-सा खाता है और प्यास की शांति के लिए पानी पीता है। यहाँ 'भुंजमाण' शब्द का अर्थ परिभोग किया जा सकता है। उसमें खाना और पीना—ये दोनों समाते हैं।

गुठली और कांटे का प्रसंग भोजन की अपेक्षा पानी में अधिक है। आयारचूला[8] में कहा है कि आम्रातक, कपित्थ, बिजौरे, दाख, खजूर, नारियल, करीर (करील—एक प्रकार की कंटीली झाड़ी), बेर, आंवले या इमली का धोवन 'सअट्ठिय' (गुठली सहित), 'सकणुयं' (छिलके सहित) और 'सबीयग' (बीज सहित) हो, उसे गृहस्थ वस्त्र आदि से छानकर दे तो मुनि न ले।

इस सूत्र के 'सअट्ठिय' शब्द की तुलना प्रस्तुत श्लोक के 'अट्ठिय' शब्द से होती है। शीलाङ्काचार्य ने 'सअट्ठिय' शब्द का अर्थ गुठली सहित किया है[9]।

१—(क) जि० चू० पृ० १८७ : हत्थगं मुहपोत्तिया भण्णइत्ति।
(ख) हा० टी० प० १७८ : 'हस्तकं' मुखवस्त्रिकारूपम्।

२—ओ० नि० ७१२ वृ० : सम्पातिमसत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिर्मुखे दीयते, तथा रजः—सचित्तपृथिवीकायस्तत् प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते, तथा रेणुप्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिकाग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिकामुखं बध्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति।

३—ओ० नि० ६६८ वृ०।

४—(क) अ० चू० पृ० १२१ : अट्ठितं कारणगहितं अणाभोगेण वा, एवं अणिमिस।
(ख) जि० चू० पृ० १८७ : जइ तस्स साहुणो तत्थ भुंजमाणस्स देसकालादीणि पडुच्च गहिए मंसादीए अन्नपाणे अट्ठी कंटको वा हुज्जा।

५—हा० टी० प० १७८ : अस्थि कण्टको वा स्यात्, कथंचिद् गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये।

६—ओ० नि० भा० २५०।

७—ओ० नि० भाष्य १४१।

८—आ० चू० १।१०४।

९- आ० चू० १।१०४ वृ० : 'सास्थिकं' सहास्थिना—कुलकेन यद्वर्तते।

आयारचूला में जिन बारह प्रकार की वनस्पति के फलों के धोवन का उल्लेख किया गया है उनमें लगभग सभी फल गुठली या बीज वाले हैं और उनके कुछ पेड़ कटीले भी हैं। इसीलिए दाता के प्रमादवश किसी धोवन में गुठली और काँटे का रहना संभव भी है। हो सकता है ये भोजन में भी रह जाएँ। किन्तु यहाँ ये दोनों शब्द हड्डी और मत्स्य-कंटक के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत नहीं होते।

श्लोक ८७ :

२०६. श्लोक ८७ :

पिछले पाँच श्लोकों (८२-८६) में गोचराग्र-गत मुनि के भोजन की विधि का वर्णन है। आगे के दस श्लोकों (८७-९६) में भिक्षा लेकर उपाश्रय में आहार करने की और उसकी अन्तराल-विधि का वर्णन है। इसमें सबसे पहले स्थान-प्रतिलेखना की बात आती है।

गृहस्थ के पास से भिक्षा लेने के बाद मुनि को उसका विशोधन करना चाहिए। उसमें जीव-जन्तु या कंटक आदि हों तो उन्हें निकाल कर अलग रख देना चाहिए।

ओघनिर्युक्तिकार ने भिक्षा-विशुद्धि के तीन स्थान बतलाए हैं --शून्य-गृह, वह न हो तो देव-कुल और वह न मिले तो उपाश्रय का द्वार[1]। इसलिए आश्रय में प्रविष्ट होने से पहले स्थान-प्रतिलेखना करनी चाहिए और प्रतिलेखित स्थान में आहार की विशुद्धि कर फिर उपाश्रय में प्रवेश करना चाहिए। प्रवेश-विधि इस प्रकार है—पहले रजोहरण से पादप्रमार्जन करे, उसके बाद तीन बार 'निसीहिया' (आवश्यक कार्य से निवृत्त होता हूँ) बोले और गुरु के सामने आते ही हाथ जोड़ 'णमो खमासमणाण' बोले। इस सारी विधि को विनय कहा गया है[2]।

उपाश्रय में प्रविष्ट होकर स्थान-प्रतिलेखन कर भिक्षा की झोली को रख दे, फिर गुरु के समीप आ 'ईर्यापथिकी' सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग (शरीर को निश्चल बना भुजाओं को प्रलंबितकर खड़ा रहने की मुद्रा) करने के लिए 'तस्सोत्तरी करणेण'[3] सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग करे। उसमें अतिचारों की क्रमिक स्मृति करे, फिर 'लोगस्स उज्जोयगरे'[4] सूत्र का चिन्तन करे[5]।

ओघनिर्युक्तिकार कायोत्सर्ग में केवल अतिचार-चिन्तन की विधि बतलाते हैं[6]। जिनदास महत्तर अतिचार-चिन्तन के बाद 'लोगस्स' सूत्र के चिन्तन का निर्देश देते हैं[7]। नमस्कार-मंत्र के द्वारा कायोत्सर्ग को पूरा कर गुरु के पास आलोचना करे। चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार आलोचना करने वाला अव्याक्षिप्त-चित्त होकर (दूसरों से वार्तालाप न करता हुआ) आलोचना करे[8]। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य व्याक्षिप्त न हो, धर्म-कथा, आहार-नीहार, दूसरे से बातचीत करने और विकथा में लगे हुए न हों तब उनके पास आलोचना करनी चाहिए[9]।

आलोचना करने से पहले वह आचार्य की अनुज्ञा ले और आचार्य अनुज्ञा दे तब आलोचना करे[10]। जिस क्रम से भिक्षा ली हो उसी क्रम से पहली भिक्षा से प्रारम्भ कर अन्तिम भिक्षा तक जो कुछ बीता हो वह सब आचार्य को कहे। समय कम हो तो आलोचना (निवेदन)

१—ओ० नि० गा० ५०३।

२—ओ० नि० गा० ५०९।

३—आव० ५.३।

४—आव० २।

५—जि० चू० पृ० १८८।

६—ओ० नि० गा० ५१२।

७—जि० चू० पृ० १८८ : ताहे 'लोगस्सुज्जोयगरं कड्ढिऊण सअतियारं आलोएइ।

८—(क) जि० चू० पृ० १८८ : अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम तमालोयंतो अण्णेण केणइ समं न उल्लावइ, अवि वयणं वा अन्नस्स न देई।

(ख) हा० टी० प० १७९ : अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थः।

९—ओ० नि० गा० ५१४।

१०—ओ० नि० गा० ५१५।

का संक्षेप भी किया जा सकता है[1]। आलोचना आचार्य के पास की जानी चाहिए अथवा आचार्य-सम्मत किसी दूसरे मुनि के पास भी वह की जा सकती है[2]। आलोचना सरल और अनुद्विग्न भाव से करनी चाहिए। स्मृतिगत अतिचारो की आलोचना करने के बाद भी अज्ञात या विस्मृत पुरःकर्म, पश्चात् कर्म आदि अतिचारों की विशुद्धि के लिए फिर प्रतिक्रमण करे –'पडिक्कमामि गोयरचरियाए'[3] सूत्र पढ़े। फिर व्युत्सृष्ट-देह[4] (प्रलम्बित बाहु और स्थिर देह खडा) होकर निरवद्यवृत्ति और शरीर धारण के प्रयोजन का चिंतन करे[5]। नमस्कार मंत्र पढ़कर. कायोत्सर्ग को पूरा करे और जिन-संस्तव—'लोगस्स' सूत्र पढ़े। उसके बाद स्वाध्याय करे— एक मण्डली मे भोजन करनेवाले सभी मुनि एकत्रित न हो जाएं तब तक स्वाध्याय करे। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आठ उच्छ्वास तक नमस्कार-मंत्र का ध्यान करे अथवा 'जइ मे अणुग्गह कुज्जा' इत्यादि दो श्लोको का ध्यान करे[6]। फिर मुहूर्त तक स्वाध्याय करे (कम से कम तीन गाथा पढे) जिससे परिश्रम के बाद तत्काल आहार करने से होने वाले धातु-क्षोभ, मरण आदि दोष टल जाएं[7]।

मुनि दो प्रकार के होते हैं—

१. मण्डल्युपजीवी—मण्डली के साथ भोजन करने वाले।

२. अमण्डल्युपजीवी—अकेले भोजन करने वाले।

मण्डल्युपजीवी मुनि मण्डली के सब साधु एकत्रित न हो जाएं तब तक आहार नही करता। उनकी प्रतीक्षा करता रहता है। अमण्डल्युपजीवी मुनि भिक्षा लाकर कुछ क्षण विश्राम करता है[8]। विश्राम के क्षणो मे वह अपनी भिक्षा के अर्पण का चिन्तन करता है। उसके बाद आचार्य से प्रार्थना करता है—"भते ! यह मेरा आहार आप लें।" आचार्य यदि न लें तो वह फिर प्रार्थना करता है—"भते ! आप पाहुने, तपस्वी, रुग्ण, बाल, वृद्ध या शिक्षक—इनमें से जिस किसी मुनि को देना चाहे उन्हे दे।" यों प्रार्थना करने पर आचार्य पाहुने आदि में से किसी मुनि को कुछ दें तो शेष रहा हुआ आचार्य की अनुमति से स्वयं खा ले और यदि आचार्य कहे कि साधुओ को तुम ही निमन्त्रण दो तो वह स्वय साधुओ को निमंत्रित करे। दूसरे साधु निमन्त्रण स्वीकार करे तो उनके साथ खा ले और यदि कोई निमन्त्रण स्वीकार न करे तो अकेला खा ले[9]।

निमंत्रण क्यों देना चाहिए—इसके समाधान में ओघनिर्युक्तिकार कहते हैं—जो भिक्षु अपनी लाई हुई भिक्षा के लिए साधर्मिक साधुओ को निमन्त्रण देता है उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से कर्म का विलय होता है, आत्मा उज्ज्वल होती है[10]। निमंत्रण आदरपूर्वक देना चाहिए। जो अवज्ञा से निमन्त्रण देता है, वह साधु-सघ का अपमान करता है। जो एक साधु का

१—ओ० नि० गा० ५१८, ५१९।

२—ओ० नि० गा० ५१७।

३—आव० ४.८।

४—ओ० नि० गा० ५१० वृ० : व्युत्सृष्टदेहः—प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेहः सर्पाद्युपद्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गम्, अथवा व्युत्सृष्टदेहो दिव्योपसर्गेऽप्यपि न कायोत्सर्गभङ्गं करोति, त्यक्तदेहोऽक्षिमलदूषिकामपि नापनयति, स एवंविधः कायोत्सर्गं कुर्यात्।
विशेष जानकारी के लिए देखिए १०.१३ के 'वोसट्ठ-चत्त-देहे' की टिप्पणी।

५—अ० चू० पृ० १२२ : वोसट्ठो इम चितए जं अतरं भणीहामि।

६—ओ० नि० भाष्य २७४।

७—ओ० नि० गा० ५२१ :

> विणएण पट्ठवित्ता सज्झाय कुणइ तो मुहुत्ताग।
> पुव्वभणिया य दोसा, परिस्समाई जढा एव॥

८—(क) जि० चू० पृ० १८९ : जइ पुव्वं ण पट्ठविय ताहे पट्ठविऊण सज्झायं करेइ, जाव साधुणो अन्ने आगच्छंति, जो पुण खमगो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्तं व सज्झो (वीसत्थो) इम चिंतेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १८० : स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् 'क्षणं' स्तोककालं मुनिः।

९—ओ० नि० गा० : ५२१—२४।

१०—ओ० नि० गा० ५२५।

अनादर करता है, वह सब साधुओं का अनादर करता है[1]। जो एक साधु का आदर करता है, वह सब साधुओं का आदर करता है[2]।

कारण स्पष्ट है—जिसमें साधुता, ज्ञान, दर्शन, तप और संयम है वह साधु है। साधुता जैसे एक में है वैसे सब में है। एक साधु का अपमान साधुता का अपमान है और साधुता का अपमान सब साधुओं का अपमान है। इसी प्रकार एक साधु का सम्मान साधुता का सम्मान है और साधुता का सम्मान सब साधुओं का सम्मान है[3]। इसीलिए कहा है कि संयम-प्रधान साधुओं का वैयावृत्य करो—भक्त-पान का लाभ करो। और सब प्रतिपाती हैं, वैयावृत्य अप्रतिपाती है[4]।

इन दस श्लोकों में से पहले श्लोक का प्रतिपाद्य है—भिक्षा-विशुद्धि के लिए स्थान का प्रतिलेखन। दूसरे का प्रतिपाद्य है—उपाश्रय में प्रवेश की विधि, ईर्यापथिकी का पाठ और कायोत्सर्ग। भूलों की विस्मृति—यह तीसरे का विषय है। चौथे का विषय है—उनकी आलोचना। छोटी या विस्मृत भूलों की विशुद्धि के लिए पुन: प्रतिक्रमण, चिन्तन और चिन्तनीय विषय ये पांचवें और छट्ठे में हैं। कायोत्सर्ग पूरा करने की विधि और इसके बाद किए जाने वाले जिन-संस्तव और स्वाध्याय का उल्लेख—ये सातवें श्लोक के तीन चरणों में हैं और स्वाध्याय के बाद भोजन करना यह वहाँ स्वयंगम्य है। चौथे चरण में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के लिए विश्राम का निर्देश दिया गया है। शेष तीन श्लोकों में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के विश्रामकालीन चिन्तन, निमंत्रण और आहार करने के वस्तु-विषय का प्रतिपादन हुआ है।

तुलना के लिए देखिए—प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-१ : चौथी भावना)।

२०७. कदाचित् (सिया [क]) :

यहाँ 'स्यात्' का प्रयोग 'यदि' के अर्थ में हुआ है[5]। आवश्यकतावश साधु उपाश्रय में न आकर बाहर ही आहार कर सकता है। इसका उल्लेख श्लोक ८२ और ८३ में है। विशेष कारण के अभाव में साधारण विधि यह है कि जहाँ साधु ठहरा हो वहीं आकर भोजन करे। उसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

श्लोक ८८ :

२०८. विनयपूर्वक (विणएण [क]) :

उपाश्रय में प्रवेश करते समय नैषेधिकी का उच्चारण करते हुए अञ्जलिपूर्वक 'नमस्कार हो क्षमाश्रमण को'—ऐसा कहना विनय की पद्धति है। एक हाथ में झोली होती है इसलिए दाएं हाथ की अंगुलियों को मुकुलित कर, उसे ललाट पर रख 'नमो खमासमणाणं' का उच्चारण करे[6]। तुलना—णिक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो—प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-३ पाँचवीं भावना)।

१—ओ० नि० गा० ५२६ : एक्कम्मि हीलियंमी, सव्वे ते हीलिया हुंति।

२—ओ० नि० गा० ५२७ : एक्कम्मि पूइयंमी, सव्वे ते पूइया हुंति।

३—ओ० नि० गा० ५२९-५३१।

४—ओ० नि० गा० ५३२।

५—अ० चू० पृ० १२१ : सिया य इति कदायि कस्सति एवं चिंता होज्जा —'किं मे सागारियातिसंकडे बाहिं समुद्दिट्ठेण ? उवस्सए चेव भविस्सति' एवं इच्छेज्जा, एस नियतो विधिरिति एव सियासद्दो।

६—(क) अ० चू० पृ० १२२ : निसीहिया, "नमो खमासमणाणं" जति य ओलम्बणवावडो तो दाहिणहत्थमाकुंचियंगुलिं णिडाले काऊण एतेन विणएण।

(ख) जि० चू० पृ० १८८ : विणओ नाम पविसंतो णिसीहियं काऊण 'नमो खमासमणाणं' ति भणंतो जति से वाविओ हत्थो, एसो विणओ भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७९ : 'विनयेन' नैषेधिकी नमः क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन।

श्लोक ९२ :

२०९. (अहो [क]) :

व्याख्याकारो ने इसे विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त माना है[1] । इसे सम्बोधन के लिए भी प्रयुक्त माना जा सकता है ।

श्लोक ९३ :

२१०. क्षण भर विश्राम करे (वीसमेज्ज खणं मुणी [घ]) :

मण्डली-भोजी मुनि मण्डली के अन्य साधु न आ जाएँ तब तक और एकाकी भोजन करने वाला मुनि थोड़े समय के लिए विश्राम करे[2] ।

श्लोक ९४ :

२११. (लाभमट्ठिओ [ख]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

श्लोक ९६ :

२१२. खुले पात्र में (आलोए भायणे [ग]) :

जिस पात्र का मुह खुला हो या चौडा हो उसे आलोक-भाजन कहा जाता है । आहार करते समय जीव-जन्तु भलीभांति देखे जा सकें इस दृष्टि से मुनि को प्रकाशमय पात्र मे आहार करना चाहिए[3] ।

२१३. (अपरिसाडयं [घ]) :

इसका पाठान्तर 'अपरिसाडिय' है । भगवती[4] और प्रश्न व्याकरण[5] मे इस प्रसग मे 'अपरिसाडिं' पाठ मिलता है । वहाँ इसका अर्थ होगा, जैसे न गिरे वैसे ।

श्लोक ९७ :

२१४. गृहस्थ के लिए बना हुआ (अन्नट्ठ पउत्तं [ग]) :

अगस्त्य-चूर्णि मे इसके दो अर्थ किए हैं परकृत और अन्नार्थ—भोजनार्थ प्रयुक्त[6] । जिनदास चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ

१—(क) अ० चू० पृ० १२२ : अहोसद्दो विम्हए । को विम्हओ ? सत्तसमाकुले वि लोए अपीडाए जीवाण सरीरधारणं ।
　(ख) हा० टी० प० १७९ : 'अहो' विस्मये ।

२—(क) जि० चू० पृ० १८९ : जाव साघुणो अन्ने आगच्छंति, जो पुण खमणो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्तं वा सज्झो (वीसत्थो) ।
　(ख) हा० टी० प० १८० : मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् 'क्षण' स्तोककालं मुनिरिति ।

३—(क) अ० चू० पृ० १२३ : तं पुण कंटऽट्ठि-मक्खिता परिहरणत्थं, 'आलोगभायणे' पगास-विउलमुहे वल्लिकाइए ।
　(ख) जि० चू० पृ० १८९ : तेण साहुणा आलोयभायणे समुद्दिसियव्वं ।
　(ग) हा० टी० प० १८० : 'आलोके भाजने' मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थः ।

४—भग० ७.१.२२ : अपरिसाडिं ।

५—प्रश्न० सवर द्वार १ : (चौथी भावना) ।

६—अ० चू० पृ० १२४ : अण्णट्ठापउत्तं—परकडं, अहवा भोयणत्थे पयोए एतं लद्धं' अत्तो तं ।

मोक्षार्थ-प्रयुक्त किया है । उनके अनुसार मोक्ष की साधना शरीर से होती है और शरीर का निर्वाह आहार से होता है । मोक्ष-साधना के लिए शरीर का निर्वाह होता रहे इस दृष्टि से मुनि को आहार करना चाहिए, सौन्दर्य और बल बढ़ाने के लिए नहीं[1] ।

२१५. तीता (तिक्त) (तित्तगं [क]) :

तिक्त के उदाहरण—करेला[2], खीरा, ककड़ी आदि हैं[3] ।

२१६. कडुवा (कडुयं [क]) :

कटुक के उदाहरण--त्रिकटु[4] (सोंठ, पीपल और कालीमिर्च) अदरक[5] और अबरक[6] आदि हैं ।

२१७. कसैला (कसायं [क]) :

कषाय के उदाहरण—आँवले[7], निष्पाव[8] (वल्लधान्य) आदि हैं ।

२१८. खट्टा (अंबिलं [ख]) :

खट्टे के उदाहरण तक्र, काँजी आदि हैं[9] ।

२१९. मीठा (महुरं [ख]) :

मधुर के उदाहरण —क्षीर[10], जल[11], मधु[12] आदि ।

२२०. नमकीन (लवणं [ग]) :

नमकीन के उदाहरण —नमक आदि[13] ।

१—(क) जि० चू० पृ० १९० : 'एयलद्धमन्नत्थपउत्त' मिति अण्णो—मोक्खो तण्णिमित्तं आहारेयव्वंति, तम्हा साहुणा सव्वाबाघु-कूलेसु साधुत्ति (न) जिब्भवियं उवालभइ, जहा अमेतं मया लद्धं एतं सरीरसगडस्स अक्खोवंगसरिसंतिकाऊण पउत्तं न वण्णरूवबलाइनिमित्तंति ।

(ख) हा० टी० प० १८० : 'अन्यार्थम्' अक्षोपाङ्गन्यायेन परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं तत्साधकम् ।

२—अ० चू० पृ० १२४ : 'तित्तगं' कारवेल्लाति ।

३—(क, जि० चू० पृ० १८९ : तत्थ तित्तगं एलगवालुगाइ ।

(ख) हा० टी० प० १८० : तिक्तकं वा एलुकवालुङ्कादि ।

४—अ० चू० पृ० १२४ : 'कडुयं' त्रिकडुकाति ।

५—जि० चू० पृ० १८९ : कडुमल्लगादि, जहा पभूएण अल्लगेण संजुत्तं दोद्धग ।

६—हा० टी० प० १८० : कटुकं वा आर्द्रकतीमनादि ।

७—अ० चू० पृ० १२४ : 'कसाय' आमलकसारियाति ।

८—(क) जि० चू० पृ० १८९ : कसायं निप्फावादी ।

(ख) हा० टी० प० १८० : कषायं वल्लादि ।

९—(क) अ० चू० पृ० १२४ : अंबिलं तक्क-कंजियादि ।

(ख) जि० चू० पृ० १८९ : अंबिलं तक्कबिलादि ।

(ग) हा० टी० प० १८० : अम्लं तक्रारनालादि ।

१०—अ० चू० पृ० १२४ : मधुरं खीराति ।

११—जि० चू० पृ० १८९ : मधुरं जलखीरादि ।

१२—हा० टी० प० १८० : मधुरं क्षीरमध्वादि ।

१३—(क) अ० चू० पृ० १२४ : लवणं सामुद्दलवणातिणा सुपक्खित्तमण्णं ।

(ख) जि० चू० पृ० १८९ : लवणं पसिद्धं चेव ।

(ग) हा० टी० प० १८० : लवणं वा प्रकृतिक्षारं तथाविधं शाकादिलवणोत्कटं वाऽन्यत् ।

२२१. मधुघृत (महु-घयं [ख]) :

जैसे मधु और घी सरस मानकर खाए जाते हैं वैसे ही अस्वाद-वृत्ति वाला मुनि नीरस भोजन को भी सरस की भांति खाए। इस उपमा का दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जैसे मधु और घी को एक जबड़े से दूसरे जबड़े की ओर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वे सीधे ही निगल लिए जाते हैं, उसी प्रकार स्वाद-विजेता मुनि सरस भोजन को स्वाद के लिए मुंह में इधर-उधर घुमाता न रहे, किन्तु उसे शहद और घी की भांति निगल जाए[1]।

श्लोक ९८ :

२२२. मुधाजीवी (मुहाजीवी [ग]) :

जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता उसे मुधाजीवी कहा जाता है[2]।

टीकाकार मुधाजीवी का अर्थ अनिदान-जीवी करते हैं और मतान्तर का भी उल्लेख करते हैं[3]।

मुधाजीवी या अनिदान-जीवी का अर्थ अनासक्त भाव से जीने वाला, भोग का सकल्प किये बिना जीने वाला हो सकता है किन्तु इस प्रसङ्ग में इसका अर्थ—प्रतिफल देने की भावना रखे बिना जो आहार मिले उससे जीवन चलाने वाला—सगत लगता है।

एक राजा था। एक दिन उसके मन में विचार आया कि सभी लोग अपने-अपने धर्म की प्रशसा करते हैं और उसको मोक्ष का साधन बताते हैं अत: कौन-सा धर्म अच्छा है उसकी परीक्षा करनी चाहिए। धर्म की पहचान उनके गुरु से ही होगी। वही सच्चा गुरु है जो अनिर्विष्ट भोजी है। उसी का धर्म सर्व श्रेष्ठ होगा। ऐसा सोच उसने अपने नौकरो से घोषणा कराई कि राजा मोदको का दान देना चाहता है। राजा की मोदक-दान की बात सुन अनेक कार्पटिक आदि वहां दान लेने आये। राजा ने दान के इच्छुक उन एकत्र कार्पटिक आदि से पूछा—"आप लोग अपना जीवन-निर्वाह किस तरह करते हैं?" उपस्थित भिक्षुओं मे से एक ने कहा—"मैं मुख से निर्वाह करता हूँ।" दूसरे ने कहा —"मैं पैरो मे निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मैं हाथो से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा—"मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ।" पाचवें ने कहा—"मेरा क्या निर्वाह? मैं मुधाजीवी हूँ।" राजा ने कहा—"आप लोगो के उत्तर को मैं अच्छी तरह नही समझ सका अत: इसका स्पष्टीकरण करें।" तब पहले भिक्षु ने कहा—"मैं कथक हूँ, कथा कह कर अपना निर्वाह करता हूँ, अत: मैं मुख से निर्वाह करता हू।" दूसरे ने कहा —"मैं सन्देश पहुंचाता हूं, लेखवाहक हूं अत: पैरो से निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मैं लेखक हूँ, अत: हाथ से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा —"मैं लोगो का अनुग्रह प्राप्त कर निर्वाह करता हूँ।" पांचवे ने कहा— "मैं ससार से विरक्त निर्ग्रन्थ हूँ। सयम-निर्वाह के हेतु नि स्वार्थ बुद्धि से लेता हूं। मैं आहार आदि के लिए किसी की अधीनता स्वीकार नही करता, अत: मैं मुधाजीवी हूँ।" इस पर राजा ने कहा—"वास्तव में आप ही सच्चे साधु हैं।" राजा उस साधु से प्रतिबोध पाकर प्रव्रजित हुवा।

२२३. अरस (अरसं [क]) :

गुड़, दाड़िम आदि रहित, संस्कार रहित या बघार रहित भोज्य-वस्तु को 'अरस' कहा जाता है[4]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२४ : महुघतं व भुंजेज्ज-जहा मधुघतं कोति सुरसमिति सुमुहो भुंजति तहा तं सुमुहेण भुंजितव्वं, अहवा महु-घतमिव हणुयातो हणुयं असंचारंतेण।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : तं मधुघयमिव भुंजियव्वं साहुणा, जहा महुघयाणि भुंजंति तहा तं असोहणमवि भुंजियव्वं, अहवा जहा महुघयं हणुगाओ हणुगं असंचारेंहि भुंजितव्वं।

(ग) हा० टी० प० १८० : मधुघृतमिव च भुञ्जीत सयत:, न वर्णाद्यर्थम्, अथवा मधुघृतमिव 'नो वामाओ हणुआओ दाहिणं हणुअं संचारेज्जा'।

२—जि० चू० पृ० १९० : मुहाजीवि नाम जं जातिकुलादीहिं आजीवणविसेसेहिं परं न जीवति।

३—हा० टी० प० १८१ : 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये।

४—(क) अ० चू० पृ १२४ : अरसं गुडदाडिमादिविरहितं।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : हिंगुलवणादीहिं संभारेहि रहियं।

(ग) हा० टी० प० १८१ : अरसम्- असंप्राप्तरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमित्यर्थ:।

२२४. विरस (विरसं [क]) :

जिसका रस बिगड़ गया हो, सत्व नष्ट हो गया हो उसे 'विरस' कहा जाता है, जैसे बहुत पुराने, काले और ठण्डे चावल 'विरस' होते हैं[1]।

२२५. व्यञ्जन सहित या व्यञ्जन रहित (सूइयं वा असूइयं [ख]) :

सूप आदि व्यञ्जनयुक्त भोज्य-पदार्थ 'सूपित' या 'सूप्य' कहलाते हैं। व्यञ्जन रहित पदार्थ 'असूपित' या 'असूप्य' कहलाते हैं[2]।

टीकाकार ने इनके संस्कृत रूप 'सूचित' और 'असूचित' दिए है और चूर्णिकार द्वारा मान्य अर्थ स्वीकार किया है। उन्होंने मतान्तर का उल्लेख करते हुए इनका अर्थ—'कहकर दिया हुआ' और 'बिना कहकर दिया हुआ' किया है[3]। चरक के अनुसार 'सूप्य' शीघ्र पकने वाला माना गया है[4]।

तुलना—अवि सूइयं वा सुक्कं—'सूइयं' ति दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि तथाभूतं शुष्कं वा वल्लचनकादि—

आयारो—९।४।१३, वृ० पत्र २८६।

२२६. आर्द्र (उल्लं [ग]) :

जिस भोजन मे छौंका हुआ शाक या सूप यथेष्ठ मात्रा में हो उसे 'आर्द्र' कहा गया है[5]।

२२७. शुष्क (सुक्कं [ग]) :

जिस भोजन में बघार रहित शाक हो उसे 'शुष्क' कहा गया है[6]।

२२८. मन्थु (मन्थु [घ]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका मे 'मन्थु' का अर्थ बेर का चूर्ण किया है[7]। जिनदास महत्तर ने बेर, जौ आदि के चूर्ण को 'मन्थु' माना है[8]। सुश्रुत में 'मन्थ' शब्द का प्रयोग मिलता है। वह सम्भवतः 'मन्थु' का ही समानार्थक शब्द होना चाहिए। उसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—जौ के सत्तू घी में भूनकर शीतल जल में न बहुत पतले, न बहुत सान्द्र घोलने से 'मन्थ' बनता है[9]। 'मन्थु' खाद्य द्रव्य भी रहा है और सुश्रुत के अनुसार विविध द्रव्यों के साथ विविध रोगो के प्रतिकार के लिए उसका उपयोग किया जाता था[10]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२४ : विरस कालंतरेण सभावविच्चुतं उस्सिण्णोयणाति।
  (ख) जि० चू० पृ० १९० : विरसं नाम सभावओ विगतरसं विरसं भण्णइ, तं च पुराणकण्हवण्णियसीतोयणादि।
  (ग) हा० टी० प० १८१ : 'विरस वापि' विगतरसमतिपुराणौदनादि।

२—अ० चू० पृ० १२४ : सूवितं सव्वंजणं असूवितं णिव्वंजणं।

३—हा० टी० प० १८१ : 'सूचितं' व्यञ्जनादियुक्तम् 'असूचितं वा' तद्रहितं वा, कथयित्वा अकथयित्वा वा दत्तमित्यन्ये।

४—च० सू० अ० २७.३०५।

५—(क) अ० चू० पृ० १२४ : सुसूवियं 'ओल्लं'।
  (ख) हा० टी० प० १८१ : 'आर्द्रं' प्रचुरव्यञ्जनम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १२४ : मंदसूवियं 'सुक्कं'।
  (ख) हा० टी० प० १८१ : शुष्कं स्तोकव्यञ्जनम्।

७—(क) अ० चू० पृ १२४ : बदरामलिहितचुण्णं मन्थु।
  (ख) हा० टी० प० १८१ : मन्थु—बदरचूर्णादि।

८—जि० चू० पृ० १९० : मन्थू नाम बोरचुन्न जवचुन्नादि।

९—सु० सू० अ० ४६.४२५ :

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः, शीतवारिपरिप्लुताः।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा, मन्थ इत्युपदिश्यते॥

१०—सु० सू० अ० ४६.४२६-४२८।

यवचूर्ण (सत्तू) खाया भी जाता था और पिया भी जाता था। द्रव-मन्थु के लिए 'उदमन्थ' शब्द का प्रयोग मिलता है। वर्षाऋतु में 'उदमन्थ' (जलयुक्त सत्तू), दिन में सोना, अवश्याय (ओस अर्थात् रात्रि में बाहर सोना), नदी का पानी, व्यायाम, आतप (धूप)-सेवन तथा मैथुन छोड़ दे[1]।

'मन्थु' के विविध प्रकारों के लिए देखिए ५.२.२४ 'फलमथूणि' की टिप्पण।

२२९. कुल्माष (कुम्मास [घ]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'कुल्माष' जौ के बनते हैं और वे 'गोल्ल' देश में किए जाते हैं[2]। टीकाकार ने पके हुए उड़द को 'कुल्माष' माना है और यवमास को 'कुल्माष' मानने वालो के मत का भी उल्लेख किया है[3]। भगवती में भी 'कुम्मासपिंडिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है[4]। वहाँ वृत्तिकार ने 'कुल्माष' का अर्थ अधपके मूग आदि किया है और केवल अधपके उडद को 'कुल्माष' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[5]। वाचस्पति कोश में अधपके गेहूँ को 'कुल्माष' माना है और चने को 'कुल्माष' मानने वालो के मत का भी उल्लेख किया है[6]।

अभिधान चिन्तामणि की रत्नप्रभा व्याख्या में अधपके उड़द आदि को 'कुल्माष' माना है[7]। चरक की व्याख्या के अनुसार जौ के आटे को गूंधकर उबलते पानी मे थोडी देर स्विन्न होने के बाद निकालकर पुन: जल से मर्दन करके रोटी या पूड़े की तरह पकाए हुए भोज्य को अथवा अर्ध स्विन्न चने या जौ को 'कुल्माष' कहा जाता है और वे भारी, रूखे, वायुवर्धक और मल को लाने वाले होते है'[8]।

श्लोक ९९ :

२३०. अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है (अप्पं पि बहु फासुयं [ख]) :

अल्प और बहु की व्याख्या मे चूर्णि और टीका में थोडा अन्तर है। चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ—अल्प भी बहुत है[9]—होता है और टीका के अनुसार इसका अर्थ अल्प या बहुत, जो असार है—होता है[10]।

२३१. मुधालब्ध (मुहालद्धं [ग]) :

उपकार, मंत्र, तंत्र और औषधि आदि के द्वारा हित-सम्पादन किए बिना जो मिले उसे 'मुधालब्ध' कहा जाता है[11]।

१—च० सू० अ० ६.३४-३५ :

"उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्याय नदीजलम्।
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत्।"

२—जि० चू० पृ० १९० : कुम्मासा जहा गोल्लविसए जवमया करेंति।

३—हा० टी० प० १८१ : कुल्माषा:—सिद्धमाषा:, यवमाषा इत्यन्ये।

४—भग० १५.८ : एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए।

५—भग० १५.१ वृ० : कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादय:, माषा इत्यन्ये।

६—अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूमा, अन्ये च चणकादय:। कुल्माषा इति कथ्यन्ते।

७—अ० चि० काण्ड ४.२४१ : कुल्माष, यावक: द्वे अर्धपक्वमाषादे:।

८—च० सू० अ० २७.२६२ : कुल्माषा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चस:।

९—(क) अ० चू० पृ० १२४ : 'अप्पं पि बहु फासुयं' 'फासुएसणिज्जं दुल्लभं' ति अप्पमवि तं पभूतं। तमेव रसादिपरिहीणमवि अप्पमवि।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : तत्थ साहुणा इमं आलंबण कायव्वं, जहा मम सयणपरिचारिणो अणुवकारियस्स अप्पमवि परो देति त बहु मण्णियव्वं, जं विरसमवि मम लोगो अणुवकारिस्स देति तं बहु भणियव्वं।

१०—हा० टी० प० १८१ : अल्पमेतन्न देहपूरकमिति किमनेन ? बहु वा असारप्रायमिति, वा शब्दस्य व्यवहित: संबंध:, किं विशिष्टं तदित्याह—'प्रासुकं' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थ:, अन्ये तु व्याचक्षते—अल्पं वा, वाशब्दाद्विरसादि वा, बहुप्रासुकं—सर्वथा शुद्धं नातिहीलयेदिति।

११—(क) अ० चू० पृ० १२४ : मुधालद्धं—बेंटलादिउवगारवज्जितेण मुहालद्धं।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : मुहालद्धं नाम जं कोंटलबेंटलादीणि मोत्तूणमितरहा लद्धं तं मुहालद्धं।

(ग) हा० टी० प० १८१ : 'मुधालब्धं' कोण्टलादिव्यतिरेकेण प्राप्तम्।

२३२. दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले (भुंजेज्जा दोसवज्जियं च) :

जिनदास महत्तर इसका अर्थ—आधाकर्म आदि दोष-रहित[1] और टीकाकार संयोजना आदि दोष-रहित करते हैं[2]। आधाकर्म आदि गवेषणा के दोष हैं और संयोजना आदि भोगैषणा के। यहाँ भोगैषणा का प्रसङ्ग है इसलिए टीकाकार का मत अधिक संगत लगता है और यह मुनि के आहार का एक सामान्य विशेषण है, इसलिए चूर्णिकार का मत भी असगत नहीं है।

परिभोगैषणा के पाँच दोष हैं :—(१) अंगार, (२) धूम, (३) संयोजना, (४) प्रमाणातिक्रान्त और (५) कारणातिक्रान्त।

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! अंगार, धूम और संयोजना से दोषयुक्त आहार व पान का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमें मूर्च्छित, गृद्ध, स्नेहाबद्ध और एकाग्र होकर आहार करे—वह अगार दोषयुक्त पान-भोजन है।

"जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमे बहुत द्वेष और क्रोध करता हुआ आहार करे—वह धूम दोषयुक्त पान-भोजन है।

"जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर स्वाद बढ़ाने के लिए उसे दूसरे द्रव्य के साथ मिलाकर आहार करे—वह संयोजना दोषयुक्त पान-भोजन है[3]।"

प्रमाणातिक्रान्त का अर्थ है—मात्रा से अधिक खाना। उसकी व्याख्या इस प्रकार है—जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर कुकड़ी के अण्डे जितने प्रमाण वाले (वृत्तिकार के अनुसार मुर्गी के अण्डे का दूसरा अर्थ है—जिस पुरुष का जितना भोजन हो उस पुरुष की अपेक्षा से उसका बत्तीसवाँ भाग) ३२ कौर (ग्रास) से अधिक आहार करे—वह प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले आठ कौर आहार करे—वह अल्पाहार है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले बारह कौर आहार करे—वह अपार्ध—अवमोदरिका (भूख के अनुसार आधे से भी अधिक कम खाना) है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले सोलह कौर आहार करे—वह अर्ध-अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाणवाले चौबीस कौर आहार करे—वह अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले ३२ कौर आहार करे—वह प्रमाणप्राप्त है। जो इससे एक कौर भी कम आहार करे—वह श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकाम-रसभोजी नही कहा जाता[4]।

साधु के लिए छह कारणों से भोजन करना विहित है। उसके बिना भोजन करना कारणातिक्रान्त-दोष कहलाता है। वे छह कारण ये हैं[5]—(१) क्षुधा-निवृत्ति, (२) वैयावृत्य—आचार्य आदि की वैयावृत्य करने के लिए, (३) ईर्यार्थ—मार्ग को देख-देखकर

१—जि० चू० पृ० १६० : आहाकम्माईहिं दोसेहिं वज्जियं।

२—हा० टी० प० १८१ : 'दोषवर्जितं' सयोजनाविरहितमिति।

३—भग० ७.१.२१ : अह भंते ! सइंगालस्स, सधूमस्स, संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ?, गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने आहारं आहारेइ, एस णं गोयमा। सइंगाले पाण-भोयणे।
जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता महयाअप्पत्तिय कोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! सधूमे पाण-भोयणे।
जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा जाव पडिग्गाहेत्ता गुणुप्पायणहेउं अन्नदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! संजोयणादोसदुट्ठे पाण-भोयणे।

४—भग० ७.१.२४ : जे णं निग्गंथे वा, निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं जाव साइमं पडिग्गाहेत्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! पमाणातिक्कंते पाण-भोयणे। अट्ठ कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया, सोलस कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागप्पत्ते, चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे ओमोदरिए, बत्तीसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते, एत्तो एक्केण वि घासेणं ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोईत्ति वत्तव्वं सिया।

५—उत्त० २६.३ :

वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

चलने के लिए, (४) संयमार्थ—सयम पालने के लिए, (५) प्राण-धारणार्थ—सयम-जीवन की रक्षा के लिए और (६) धर्म-चिन्तनार्थ—धर्म ध्यान करने के लिए।

गौतम ने एक दूसरे प्रश्न में पूछा—"भगवन् ! शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणत, एषणा-युक्त, विशेष एषणा-युक्त और सामुदानिक पान-भोजन का क्या अर्थ है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! शस्त्र और शरीर परिकर्म-रहित निर्ग्रन्थ प्रासुक, अपने लिए अकृत, अकारित और असंकल्पित, अनाहूत, अक्रीतकृत, अनुद्दिष्ट, नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष-रहित, विप्रयुक्त, उद्गम और उत्पादन की एषणायुक्त अगार, धूम और सयोजना-दोष-रहित तथा सुर-सुर और चव-चव (यह भोजन के समय होने वाले शब्द का अनुकरण है) शब्द-रहित, न अति शीघ्र और न अत्यन्त धीमे, नीचे न डालता हुआ, गाडी की धुरी में अजन लगाने और व्रण पर लेप करने के तुल्य केवल सयम-यात्रा के निर्वाह हेतु, संयम भार का वहन करने के लिए, अस्वाद वृत्तिपूर्वक, जैसे बिल मे सांप पैठता है वैसे ही स्वाद के निमित्त ग्रास को इधर-उधर ले जाए बिना आहार करता है—यह शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणत, एषणा-युक्त, विशेष एषणा-युक्त और सामुदानिक पान-भोजन का अर्थ है[1]।

श्लोक १०० :

२३३. मुधादायी (मुहादाई ग) :

प्रतिफल की कामना किए बिना निःस्वार्थ भाव से देने वाले को 'मुधादायी' कहा है।

इन चार श्लोकों (९७-१००) में अस्वादवृत्ति और निष्कामवृत्ति का बहुत ही मार्मिक प्रतिपादन किया गया है। जब तक देहासक्ति या देह-लक्षी भाव प्रबल होता है, तब तक स्वाद जीता नही जा सकता। नीरस भोजन मधु और घी की भाँति खाया नहीं जा सकता। जिसका लक्ष्य बदल जाता है, देह का रस चला जाता है, मोक्ष-लक्षी भाव का उदय हो जाता है, वही व्यक्ति स्वाद पर विजय पा सकता है, सरस और नीरस को किसी भेदभाव के बिना खा सकता है।

दो रस एक साथ नही टिक सकते, या तो देह का रस टिकेगा या मोक्ष का। भोजन मे सरस और नीरस का भेद उसे सताता है जिसके देह में रस है। जिसे मोक्ष मे रस मिल गया उसे भोजन में रस जैसा कुछ लगता ही नही, इसलिए वह भोजन को भी अन्यार्थ-प्रयुक्त (मोक्ष के हेतु-भूत शरीर का साधन) मानकर खाता है। इस वृत्ति से खाने वाला न किसी भोजन को अच्छा बताता है और न किसी को बुरा।

मुधादायी, मुधालब्ध और मुधाजीवी—ये तीन शब्द निष्कामवृत्ति के प्रतीक हैं। निष्कामवृत्ति के द्वारा ही राग-द्वेष पर विजय पाई जा सकती है। कहीं से बिरस आहार मिले तो मुनि इस भावना का आलम्बन ले कि 'मैंने इसका कोई उपकार नही किया, फिर भी इसने मुझे कुछ दिया है। क्या यह कम बात है ?' यों चिन्तन करने वाला द्वेष से बच सकता है।

'मुझे मोक्ष की साधना के लिए जीना है और उसी के लिए खाना है'—यों चिन्तन करने वाला राग या आसक्ति से बच सकता है।

साधु हमारा भला नही करते, फिर हम उन्हे क्यो दें ? यह प्रतिफल का विचार है, फल के प्रति फल और उपकार के प्रति उपकार—यह विनिमय है। उसका कोई स्वतंत्र परिणाम नही होता। इस भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग बहुधा कहा करते हैं—साधु, समाज पर भार हैं क्योंकि वे समाज से बहुत लेते हैं, देते कुछ भी नहीं। यह सकाम मानस का चिन्तन है।

१—भग० ७.१-२५ : अह भंते ! सत्थातीतस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स, वेसियस्स, सामुदाणियस्स, पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ?, गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा निक्खित्त-सत्थ-मुसले ववगय-माला-वन्नगविलेवणे ववगयचुयचइयचत्तदेहं, जीव-विप्पजढं, अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकीयकड-मणुद्दिट्ठं, नवकोडीपरिसुद्धं, दस दोसविप्पमुक्कं, उग्गम-उप्पायणेसणासु-परिसुद्धं, वीतिंगालं, वीतधूमं, संजोयणादोसविप्पमुक्कं, सुरसुरं, अचवचवं, अदुयमविलंबियं अपरिसाडिं, अक्खोवंजणवणाणुले-वणभूयं संजम-जाया-माया-वत्तियं, संजम-भार वहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेत्ति। एस णं गोयमा ! सत्थातीतस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स वेसियस्स सामुदाणियस्स पाणभोयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते।

इसका अर्थ यह हुआ कि सकाम दृष्टि वाले लोग विनिमय से आगे कुछ देख नही पाते ; किन्तु जिन्हें निष्काम दृष्टि मिली है, वे लोग संयम का स्वतन्त्र मूल्य आंकते हैं और इसलिए वे प्रतिफल की कामना किए बिना सयम-साधना मे सहयोगी बनते हैं ।

एक संन्यासी था । वह एक भागवत के यहाँ आया और बोला -- "मैं तुम्हारे यहाँ चातुर्मास-काल व्यतीत करना चाहता हूँ । मुझे विश्वास है कि तुम मेरे निर्वाह का भार वहन कर सकोगे ।" भागवत ने कहा—"आप मेरे यहाँ वर्षाकाल व्यतीत कर सकते हैं किन्तु उसके लिए आपको मेरी एक शर्त स्वीकार करनी होगी । वह यह है कि आप मेरे घर का कोई भी काम न करेंगे ।" परिव्राजक ने भागवत की शर्त मान ली । सन्यासी ठहर गया । भागवत भी संन्यासी की असन-वसन आदि से खूब सेवा करने लगा ।

एक दिन रात्रि के समय आकर चोरो ने भागवत का घोडा चुरा लिया और प्रभात होता जानकर उसे नदी के तट पर के वृक्ष से बांध दिया । संन्यासी प्रातः नित्य नियमानुसार स्नान करने नदी पर गया । वहाँ उसने घोड़े को वृक्ष से बधा देखा । सन्यासी से रहा नही गया और वह झट से भागवत के घर आया । अपनी प्रतिज्ञा को बचाते हुए भागवत से बोला —"मैं नदी पर अपना वस्त्र भूल आया हूँ ।" भागवत ने नौकर को वस्त्र लाने नदी पर भेजा । नौकर ने घोडे को नदी के तट पर वृक्ष मे बंधा देखा और अपने स्वामी से सब बात कही । भागवत सन्यासी के भाव को ताड़ गया और संन्यासी से बोला -"आप अपनी प्रतिज्ञा को भूल गये । अब मैं आपकी सेवा नही कर सकता, क्योकि निर्विष्ट—किसी से सेवा की अपेक्षा रख कर उसकी सेवा करने—का फल अल्प होता है ।"

पंचमं अज्झयणं

पिंडेसणा

(बीओ उद्देसो)

पंचम अध्ययन

पिण्डैषणा

(द्वितीय उद्देशक)

पिंडेसणा (बीओ उद्देसो) : पिण्डैषणा (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए । दुगंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डए ॥	प्रतिग्रहं संलिह्य, लेपमात्रया संयतः । दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा, सर्वं भुञ्जीत न छर्दयेत् ॥१॥	१—सयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोछ कर सब खा ले, शेष न छोड़े, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त[1] ।
२—सेज्जा निसीहियाए समावन्नो व गोयरे । अयावयट्ठा भोच्चा णं जइ तेणं न संथरे ॥	शय्यायां नैषेधिक्यां, समापन्नो वा गोचरे । अयावदर्थं भुक्त्वा 'णं', यदि तेन न संस्तरेत् ॥२॥	२-३—उपाश्रय[2] या स्वाध्याय-भूमि में[3] अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि मे[4] अपर्याप्त[5] खाकर यदि न रह सके तो[6] कारण उत्पन्न होने पर[7] पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे ।
३—तओ कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसए । विहिणा पुव्व-उत्तेण इमेणं उत्तरेण य ॥	ततः कारणे उत्पन्ने, भक्त-पानं गवेषयेत् । विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च ॥३॥	
४—कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे । अकालं च विवज्जेत्ता काले कालं समायरे ॥	कालेन निष्क्रामेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत् । अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥४॥	४—भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए । अकाल को वर्जकर[8] जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे[9] ।
५—[10]अकाले चरसि भिक्खू कालं न पडिलेहसि । अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेसं च गरिहसि ॥	अकाले चरसि भिक्षो ! कालं न प्रतिलिखसि । आत्मानं च क्लामयसि, सन्निवेशं च गर्हसे ॥५॥	५—भिक्षो ! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते, इसीलिए तुम अपने-आप को क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो ।
६—सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारियं । अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए ॥	सति काले चरेद् भिक्षुः, कुर्यात् पुरुषकारकम् । 'अलाभ' इति न शोचेत्, तप इति अधिसहेत ॥६॥	६—भिक्षु समय होने पर[11] भिक्षा के लिए जाए; पुरुषकार (श्रम) करे ; भिक्षा न मिलने पर शोक न करे; 'सहज तप ही सही'—यों मान भूख को सहन करे ।

७—[15]तहेवुच्चावया पाणा
भत्तट्ठाए समागया ।
त-उज्जुयं न गच्छेज्जा
जयमेव परक्कमे ॥

तथैवोच्चावचाः प्राणाः,
भक्तार्थं समागताः ।
तदृजुकं न गच्छेत्,
यतमेव पराक्रामेत् ॥७॥

७—इसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित्त एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक जाए।

८—गोयरग्ग-पविट्ठो उ
न निसीएज्ज कत्थई ।
कहं च न पबंधेज्जा
चिट्ठित्ताण व संजए ॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्तु,
न निषीदेत् कुत्रचित् ।
कथां च न प्रबध्नीयात्,
स्थित्वा वा संयतः ॥८॥

८—गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी कहीं न बैठे[13] और खड़ा रह कर भी कथा का प्रबन्ध न करे[14]।

९—[15]अग्गलं फलिहं दारं
कवाडं वा वि संजए ।
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी ॥

अर्गलां परिघं द्वारं,
कपाटं वाऽपि संयतः ।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत्,
गोचराग्रगतो मुनिः ॥९॥

९—गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी आगल, परिघ[16], द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे।

१०—समणं माहणं वा वि
किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए ॥

श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि,
कृपणं वा वनीपकम् ।
उपसंक्रामन्तं भक्तार्थं,
पानार्थं वा संयतः ॥१०॥

११—तं अइक्कमित्तु न पविसे
न चिट्ठे चक्खु-गोयरे ।
एगंतमवक्कमित्ता
तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥

तमतिक्रम्य न प्रविशेत्,
न तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।
एकान्तमवक्रम्य,
तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥११॥

१०-११—भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण करते हुए (घर में जाते हुए) श्रमण, ब्राह्मण, कृपण[17] या वनीपक को लाँघकर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आँखों के सामने खड़ा भी न रहे। किन्तु एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए।

१२—वणीमगस्स वा तस्स
दायगस्सुभयस्स वा ।
अप्पत्तियं सिया होज्जा
लहुत्तं पवयणस्स वा ॥

वनीपकस्य वा तस्य,
दायकस्योभयोर्वा ।
अप्रीतिकं स्याद् भवेत्,
लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥१२॥

१२—भिक्षाचरों को लाँघकर घर में प्रवेश करने पर वनीपक या गृहस्वामी को अथवा दोनों को अप्रेम हो सकता है अथवा उससे प्रवचन की[18] लघुता होती है।

१३—पडिसेहिए व दिन्ने वा
तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा,
ततस्तस्मिन् निवृत्ते ।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थं,
पानार्थं वा संयतः ॥१३॥

१३—गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध करने या दान दे देने पर, वहाँ से उनके वापस चले जाने के पश्चात् संयमी मुनि भक्त-पान के लिये प्रवेश करे।

१४—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च संलुंचिया दए ॥

उत्पलं पद्मं वाऽपि,
कुमुदं वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं,
तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥१४॥

१५—[23]तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥१५॥

१४-१५—कोई उत्पल[19], पद्म[20], कुमुद[21], मालती[22] या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

१६—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च सम्मद्दिया दए ॥

उत्पलं पद्मं वाऽपि,
कुमुदं वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं,
तच्च संमृद्य दद्यात् ॥१६॥

१७—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥१७॥

१६-१७—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचल कर[24] भिक्षा दे, वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

१८—सालुयं वा विरालियं
कुमुदुप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं
उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥

शालूकं वा विरालिकां,
कुमुदोत्पलनालिकाम् ।
मृणालिकां सर्षपनालिकां,
इक्षु-खण्डमनिर्वृतम् ॥१८॥

१९—तरुणगं वा पवालं
रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स
आमगं परिवज्जए ॥

तरुणकं वा प्रवालं,
वृक्षस्य तृणकस्य वा ।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य,
आमकं परिवर्जयेत् ॥१९॥

१८-१९—कमलकन्द[25], पलाशकन्द[27], कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, पद्म-नाल[28], सरसों की नाल[29], अपक्व गंडेरी[30], वृक्ष, तृण[31] या दूसरी हरियाली की कच्ची नई कोपल न ले ।

२०—तरुणियं व छिवाडिं
आमियं भज्जियं सइं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तरुणीं वा 'छिवाडिं',
आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥२०॥

२०—कच्ची[32] और एक बार भूनी हुई[33] फली[34] देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

२१—तहा कोलमणुस्सिन्नं
वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं
आमगं परिवज्जए ॥

तथा कोलमनुत्स्विन्नं,
वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।
तिलपर्पटकं नीपं,
आमकं परिवर्जयेत् ॥२१॥

२१—इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह बेर, वंश-करीर[35], काश्यप-नालिका[36] तथा अपक्व तिल-पपड़ी[37] और कदम्ब-फल[38] न ले ।

२२—तहेव चाउलं पिट्ठं
वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइपिन्नागं
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव 'चाउल' पिष्टं,
विकटं वा तप्त-निर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकं,
आमकं परिवर्जयेत् ॥२२॥

२२—इसी प्रकार चावल का पिष्ट[39], पूरा न उबला हुआ गर्म[40] जल[41], तिल का पिष्ट, पोई-साग और सरसों की खली[42]—अपक्व न ले ।

२३—कविट्ठं माउलिंगं च
मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं
मणसा वि न पत्थए ॥

कपित्थं मातुलिङ्गं च,
मूलकं मूलकर्तिकाम् ।
आमामशस्त्रपरिणतां,
मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥२३॥

२३—अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कैथ[43], बिजौरा[44], मूला और मूले के गोल टुकडे[45] को मन कर भी न चाहे ।

२४—तहेव फलमंथूणि
बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव फलमन्थून्,
बीजमन्थून् ज्ञात्वा ।
बिभीतकं प्रियालं च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥२४॥

२४—इसी प्रकार अपक्व फलचूर्ण, बीजचूर्ण[46], बहेडा[47] और प्रियाल-फल[48] न ले ।

२५—समुयाणं चरे भिक्खू
कुलं उच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म
ऊसढं नाभिधारए ॥

समुदानं चरेद् भिक्षुः,
कुलमुच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य,
उच्छृतं (उत्सृतं) नाभिधारयेत् ॥२५॥

२५—भिक्षु सदा समुदान[49] भिक्षा करे, उच्च और नीच सभी कुलों में जाए, नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में न जाए ।

२६—अदीणो वित्तिमेसेज्जा
न विसीएज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि
मायन्ने एसणारए ॥

अदीनो वृत्तिमेषयेत्,
न विषीदेत पण्डितः ।
अमूर्च्छितो भोजने,
मात्राज्ञ एषणारतः ॥२६॥

२६—भोजन में अमूर्च्छित, मात्रा को जानने वाला, एषणारत, पण्डित मुनि अदीन भाव से वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे । (भिक्षा न मिलने पर) विषाद न करे ।

२७—बहुं परघरे अत्थि
विविहं खाइमसाइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे
इच्छा देज्ज परो न वा ॥

बहु परगृहेऽस्ति,
विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत्,
इच्छा दद्यात् परो न वा ॥२७॥

२७—गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है, (किन्तु न देने पर) पण्डित मुनि कोप न करे । (यों चिन्तन करे कि) इसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे ।

२८—सयणासण वत्थं वा
भत्तपाणं व संजए ।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा
पच्चक्खे वि य दीसओ ॥

शयनासन वस्त्रं वा,
भक्त-पानं वा संयतः ।
अददतो न कुप्येत्,
प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥२८॥

२८—संयमी मुनि सामने दीख रहे शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे ।

२९—इत्थियं पुरिसं वा वि
डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणो न जाएज्जा
नो य णं फरुसं वए ॥

स्त्रियं पुरुषं वाऽपि,
डहरं वा महान्तम् ।
वन्दमानो न याचेत,
नो चैनं परुषं वदेत् ॥२९॥

२९—मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे[50], (न देने पर) कठोर वचन न बोले ।

३०—जे न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स
सामण्णमणुचिट्ठई ॥

यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्,
वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।
एवमन्वेषमाणस्य,
श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥३०॥

३०—जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए—गर्व न करे । इस प्रकार (समुदानचर्या का) अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध भाव से टिकता है ।

३१—सिया एगइओ लद्धुं
लोभेण विणिगूहई ।
मा मेयं दाइयं संतं
दट्ठूणं सयमायए ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
लोभेन विनिगूहते ।
मा ममेदं दर्शितं सत्,
दृष्ट्वा स्वयमाददात् ॥३१॥

३२—अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो
बहुं पावं पकुव्वई ।
दुत्तोसओ य से होइ
निव्वाणं च न गच्छई ॥

आत्मार्थ-गुरुको लुब्धः,
बहु पापं प्रकरोति ।
दुस्तोषकश्च स भवति,
निर्वाणं च न गच्छति ॥३२॥

३१-३२—कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे, आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वयं ले न ले,—इस लोभ से छिपा लेता है[51], वह अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला और रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है । वह जिस किसी वस्तु से संतुष्ट नहीं होता और निर्वाण को नहीं पाता ।

३३—सिया एगइओ लद्धुं
विविहं पाणभोयणं ।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा
विवण्णं विरसमाहरे ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
विविधं पान-भोजनम् ।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा,
विवर्णं विरसमाहरेत् ॥३३॥

३३—कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कहीं एकान्त में बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है ।

३४—जाणंतु ता इमे समणा
आययट्ठी अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवई पंतं
लूहवित्ती सुतोसओ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा,
आयतार्थी अयं मुनिः ।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं,
रूक्षवृत्तिः सुतोषकः ॥३४॥

३४—ये श्रमण मुझे यों जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी[52] है, सन्तुष्ट है, प्रान्त (असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति[53] और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है ।

३५—पूयणट्ठी जसोकामी
माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं
मायासल्लं च कुव्वई ॥

पूजनार्थी यशःकामी,
मान-सम्मान-कामकः ।
बहु प्रसूते पाप,
मायाशल्यञ्च करोति ॥३५॥

३५—वह पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला[५४] मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य[५५] का आचरण करता है ।

३६—सुरं वा मेरगं वा वि
अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू
जसं सारक्खमप्पणो ॥

सुरां वा मेरकं वाऽपि,
अन्यद्वा माद्यकं रसम् ।
स्व (स) साक्ष्य न पिबेद्भिक्षुः,
यशः संरक्षन्नात्मनः ॥३६॥

३६—अपने संयम[५६] का संरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक[५७] या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से[५८] न पीए ।

३७—पिया एगइओ तेणो
न मे कोइ वियाणई ।
तस्स पस्सह दोसाइं
नियडिं च सुणेह मे ॥

पिबति एककः स्तेनः,
न मां कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान्,
निकृतिं च शृणुत मम ॥३७॥

३७ जो मुनि --मुझे कोई नहीं जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त मे स्तेन-वृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषों को देखो और मायाचरण को मुझसे सुनो ।

३८—वड्ढई सोंडिया तस्स
मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं
सययं च असाहुया ॥

वर्धते शौण्डिता तस्य,
माया-मृषा च भिक्षोः ।
अयशश्चानिर्वाणं,
सतत च असाधुता ॥३८॥

३८—उस भिक्षु के उन्मत्तता[५९], माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष बढते हैं ।

३९—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो
अत्तकम्मेहि दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥

नित्योद्विग्नो यथा स्तेनः,
आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
नाराधयति संवरम् ॥३९॥

३९-- वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों से चोर की भांति सदा उद्विग्न रहता है । मद्यप-मुनि मरणान्त-काल मे भी संवर[६०] की आराधना नही कर पाता ।

४०—आयरिए नाराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरहंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यान्नाराधयति,
श्रमणांश्चापि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते,
येन जानन्ति तादृशम् ॥४०॥

४०—वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणो की भी । गृहस्थ भी उसे मद्यप मानते हैं, इसलिए उसकी गर्हा करते हैं ।

४१—एवं तु अगुणप्पेही
गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥

एवंतु अगुणप्रेक्षी,
गुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
नाराधयति संवरम् ॥४१॥

४१—इस प्रकार अगुणों की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणों को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नही कर पाता ।

४२—तवं कुव्वइ मेहावी
पणीयं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ
तवस्सी अइउक्कसो ॥

तपः करोति मेधावी,
प्रणीतं वर्जयेद् रसम् ।
मद्यप्रमादविरतः,
तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥४२॥

४३—तस्स पस्सह कल्लाणं
अणेगसाहुपूइयं ।
विउलं अत्थसंजुत्तं
कित्तइस्सं सुणेह मे ॥

तस्य पश्यत कल्याणं,
अनेक-साधु-पूजितम् ।
विपुलमर्थ-संयुक्तं,
कीर्तयिष्ये शृणुत मम ॥४३॥

४२-४३—जो मेधावी[११] तपस्वी तप करता है, प्रणीत[१२] रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद[१३] से विरत होता है, गर्व नहीं करता, उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित[१४], विपुल और अर्थ-संयुक्त[१५] कल्याण को स्वयं देखो[१६] और मैं उसकी कीर्तना करूंगा वह सुनो ।

४४—एवं तु गुणप्पेही
अगुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि
आराहेइ संवरं ॥

एवं तु गुण-प्रेक्षी,
अगुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
आराधयति संवरम् ॥४४॥

४४—इस प्रकार गुण की प्रेक्षा—(आसेवना) करने वाला और अगुणों को[१७] वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी मुनि मरणान्तकाल में भी संवर की आराधना करता है ।

४५—आयरिए आराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यानाराधयति,
श्रमणांश्चापि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति,
येन जानन्ति तादृशम् ॥४५॥

४५—वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी । गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं ।

४६—तवतेणे वयतेणे
रूवतेणे य जे नरे ।
आयारभावतेणे य
कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥

तपःस्तेनः वचःस्तेनः,
रूपस्तेनश्च यो नरः ।
आचार-भावस्तेनश्च,
करोति देव-किल्बिषम् ॥४६॥

४६—जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर[१८] होता है, वह किल्बिषिक देव-योग्य-कर्म[१९] करता है ।

४७—लद्धूण वि देवत्तं
उववन्नो देवकिब्बिसे ।
तत्था वि से न याणाइ
किं मे किच्चा[२०] इमं फलं ? ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं,
उपपन्नो देव-किल्बिषे ।
तत्राऽपि सः न जानाति,
किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥४७॥

४७—किल्बिषिक देव के रूप में उपपन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहां वह नहीं जानता कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है ।'

४८—तत्तो वि से चइत्ताणं
लब्भिही एलमूययं ।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा
बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

ततोऽपि सः च्युत्वा,
लप्स्यते एडमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिं वा,
बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥४८॥

४८—वहां से च्युत होकर वह मनुष्य-गति में आ एडमूकता (गूंगापन)[२१] अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को पाएगा, जहां बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है ।

४९—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी
मायामोसं विवज्जए ॥

एनं च दोषं दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
अणुमात्रमपि मेधावी,
माया-मृषा विवर्जयेत् ॥४९॥

४९—इस दोष को देखकर ज्ञातपुत्र ने कहा—मेधावी मुनि अणु-मात्र भी माया-मृषा न करे ।

५०—सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं
संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिंदिए
तिव्वलज्ज गुणवं विहरेज्जासि ॥
॥ त्ति बेमि ॥

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं,
संयतानां बुद्धानां सकाशे ।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः,
तीव्रलज्जो गुणवान् विहरेत् ॥५०॥
इति ब्रवीमि ।

५०—संयत और बुद्ध श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि सीखकर उसमें सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम[७२] और गुण से सम्पन्न होकर विचरे ।

इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

पिण्डैषणायाः पञ्चमाध्ययने द्वितीय उद्देशकः समाप्तः ।

टिप्पण : अध्ययन ५ (द्वितीय उद्देशक)

श्लोक १ :

१. दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त (दुगंधं वा सुगंधं वा [ग]) :

दुर्गन्ध और सुगन्ध शब्द अमनोज्ञ और मनोज्ञ आहार के उपलक्षण हैं। इसलिए दुर्गन्ध के द्वारा अप्रशस्त और सुगन्ध के द्वारा प्रशस्त वर्ण, रस और स्पर्शयुक्त आहार समझ लेना चाहिए।

शिष्य ने पूछा – गुरुदेव ! यदि श्लोक का पश्चार्द्ध पहले हो और पूर्वार्द्ध बाद में हो, जैसे —'संयमी मुनि दुर्गन्ध या सुगन्धयुक्त सब आहार खा ले, शेष न छोड़े, पात्र को पोंछ कर लेप लगा रहे तब तक' तो इसका अर्थ सुख-ग्राह्य हो सकता है ?

आचार्य ने कहा- 'प्रतिग्रह' शब्द मांगलिक है। इसलिए इसे आदि में रखा है और 'जूठन न छोड़े' इस पर अधिक बल देना है, इसलिए इसे बाद में रखा है। अतः यह उचित ही है[1]। इस श्लोक का आशय यह है कि मुनि सरस-सरस आहार खाए और नीरस आहार हो उसे जूठन के रूप मे डाले—ऐसा न करे किन्तु सरस या नीरस जैसा भी आहार मिले उन सब को खा ले।

तुलना के लिए देखिए आयार चूला १।६।

श्लोक २ :

२. उपाश्रय (सेज्जा [क]) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'उपाश्रय'[2], जिनदास महत्तर ने 'उपाश्रय' मठ, कोष्ठ[3] और हरिभद्र सूरि ने 'वसति' किया है[4]।

३. स्वाध्याय भूमि में (निसीहियाए [क]) :

स्वाध्याय-भूमि प्रायः उपाश्रय से भिन्न होती थी। वृक्ष-मूल आदि एकान्त स्थान को स्वाध्याय के लिए चुना जाता था[5]। वहाँ जनता के आवागमन का संभवतः निषेध रहता था। 'नैषेधिकी' शब्द के मूल मे यह निषेध ही रहा होगा। दिगम्बरों में प्रचलित 'नसिया' इसीका अपभ्रंश है।

---

१ – (क) जि० चू० पृ० १९४ : सीसो आह—जइ एवं सिलोगपच्छद्धं पुव्विं पढिज्जइ पच्छा पडिग्गहं संलिहिऊण, तो अत्थो सुहगेज्झयरो भवति, आयरिओ भणइ—सुहमुहोच्चारणत्थं, विचित्ता य सुत्तबंधा, पसत्थं च पडिग्गहगहणं उद्देसगस्स आदितो भण्णमाणं भवतित्ति अतो एवं सुत्तं एवं पढिज्जति।

(ख) अ० चू० पृ० १२५ : सुत्तस्स संलेहणविहाणे भणितव्वे अणाणुपुव्वीकरणं कहिंचि आणुपुव्विनियमो कहिंचि पच्छिमकोपदेसो भवति त्ति एतस्स पदस्सत्थं। एवं च घासेसणा विधाणे भणिते वि पुणो वि गोयरग्गपविट्ठस्स उपदेसो अविरुद्धो। अत्त-मुसितपयोग इवा वा 'दुग्गंधं' पयोगो उद्देसगादो अप्पसत्थो त्ति ॥

२—अ० चू० पृ० १२६ : 'सेज्जा' उवस्सओ।

३—जि० चू० पृ० १९४ : सेज्जा-उवस्सतादि मढकोट्ठयादि।

४—हा० टी० प० १८२ : 'शय्यायां' वसतौ।

५—(क) अ० चू० पृ० १२६ : 'निसीहिया' सज्झायथाणं, जम्मि वा रुक्खमूलादौ सेव निसीहिया।

(ख) जि० चू० पृ० १९४ : जहा निसीहिया जत्थ सज्झायं करेंति।

(ग) हा० टी० प० १८२ : 'नैषेधिक्यां' स्वाध्यायभूमौ।

४. गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में (समावन्नो व गोयरे ^ख^) :

गोचर-काल में छात्रावास आदि एकान्त स्थान में आहार करने का विधान बाल, वृद्ध, तपस्वी या अत्यन्त क्षुधित और तृषित साधुओं के लिए है[1]। अगस्त्यसिंह ने इसका सम्बन्ध पूर्व व्याख्या (५.१.८२) से जोड़ा है[2]।

५. अपर्याप्त (अयावयट्ठा ^ग^) :

इसका अर्थ है— जितना चाहे उतना नहीं अर्थात् पेट भर नहीं[3]।

तुलना के लिए देखिए बृहत्कल्प (५.४८)।

६. न रह सके तो (न संथरे ^घ^) :

दूसरी बार भिक्षाचरी करना विशेष विधि जैसा जान पड़ता है। टीकाकार तपस्वी आदि के लिए ही इसका विधान बतलाते हैं, प्रतिदिन भोजन करने वाले स्वस्थ मुनियों के लिए नहीं[4]। मूल सूत्र की ध्वनि भी लगभग ऐसी ही है।

श्लोक ३ :

७. कारण उत्पन्न होने पर (कारणमुप्पन्ने ^क^) :

यहां 'कारण' शब्द में सप्तमी विभक्ति के स्थान में 'मकार' अलाक्षणिक है।

पुष्ट आलम्बन के बिना मुनि दूसरी बार गोचरी न जाए, किन्तु क्षुधा की वेदना, रोग आदि कारण हो तभी जाए। साधारणतया जो एक बार में मिले उसे खाकर अपना निर्वाह कर ले।

मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(१) तपस्या, (२) अत्यन्त भूख-प्यास, (३) रुग्णावस्था और (४) प्राघूर्णक साधुओं का आगमन[5]।

श्लोक ४ :

८. अकाल को वर्जकर (अकालं च विवज्जेत्ता ^ग^) :

प्रतिलेखन का काल स्वाध्याय के लिए अकाल है। स्वाध्याय का काल प्रतिलेखन के लिए अकाल है। काल-मर्यादा को जानने वाला भिक्षु अकाल-क्रिया न करे[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १९४ : गोयरग्गसमावण्णो बालवुड्ढखवगादि मट्ठकोट्ठगादिसु समुद्दिट्ठो होज्जा।

(ख) हा० टी० प० १८२ : समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादि छन्नमठादौ।

२—अ० चू० पृ० १२६ : गोयरे वा जहा पढमं भणित।

३—(क) अ० चू० पृ० १२६ : एतेसु 'अयावयट्ठं भोच्चा' णं जावदट्ठं यावदभिप्रायं तव्विवरीय 'मतावयट्ठं' भुंजित्ता।

(ख) जि० चू० पृ० १९४ : अयावयट्ठं नाम ण यावयट्ठं, उट्ठं (ऊणं)ति वुत्त भवति।

(ग) हा० टी० प० १८२ : न यावदर्थम्—अपरिसमाप्तमिति।

४—हा० टी० प० १८२ : यदि तेन भुक्तेन 'न संस्तरेत्' न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति।

५—(क) अ० चू० पृ० १२६ : सो पुण खमओ वा जधा "वियट्ठभत्तियस्स कप्पति सव्वे गोयरकाला (दशा० श्रु० ८ सूत्र २४४) छुधालु वा दोसीणाति पढमालिय काउं पाहुणएहिं वा उवउत्ते ततो एवमातिम्मि कारणे उप्पण्णे।

(ख) हा० टी० प० १८२ : ततः 'कारणे' वेदनादावुत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्त-पान 'गवेषयेद्', अन्विष्ये(न्वेषये)द्, अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति।

६—(क) अ० चू० पृ० १२६ : जधोतियं विवरीय 'अकालं च सति कालमवगतमणागतं वा एतं 'विवज्जेत्ता' वतिक्कम्म, ण केवलं भिक्खाए पडिलेहणातीणमवि अहोतिते।

(ख) जि० चू० पृ० १९४ : 'अकालं च विवज्जेत्ता' णाम जहा पडिलेहणवेलाए सज्झायस्स अकालो, सज्झायवेलाए पडिलेहणाए अकालो एवमादि अकालं विवज्जित्ता।

(ग) हा० टी० प० १८३ : 'अकालं च वर्जयित्वा' येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते स खल्वकालस्तमपास्य।

९. जो कार्य जिस समय का हो उसे उसी समय करे (काले कालं समायरे [घ]) :

इस श्लोक से छट्ठे श्लोक तक समय का विवेक बतलाया गया है। मुनि को भिक्षा-काल में भिक्षा, स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय और जिस काल में जो क्रिया करनी हो वह उसी काल में करनी चाहिए[1]।

सूत्रकृताङ्ग के अनुसार—भिक्षा के समय में भिक्षा करे, खाने के समय में खाए, पीने के समय में पिए, वस्त्र-काल में वस्त्र ग्रहण करे या उनका उपयोग करे, लयन-काल में (गुफा आदि में रहने के समय अर्थात् वर्षाकाल मे) लयन में रहे और सोने के समय में सोए[2]। काल का व्यतिक्रम मानसिक असन्तोष पैदा करता है। इसका उदाहरण अगले श्लोक में पढ़िए।

श्लोक ५ :

१०. श्लोक ५ :

एक मुनि अकालचारी था। वह भिक्षा-काल को लाँघकर आहार लाने गया। बहुत घूमा, पर कुछ नहीं मिला। खाली झोली ले वापस आ रहा था। कालचारी साधु ने पूछा —"क्यो, भिक्षा मिली ?" वह तुरन्त बोला—"इस गाँव में भिक्षा कहां है ? यह तो भिखारियो का गाँव है।"

अकालचारी मुनि की इस आवेश-पूर्ण वाणी को सुन कालचारी मुनि ने जो शिक्षा-पद कहा वही इस श्लोक में सूत्रकार ने उद्धृत किया है[3]। घटनाक्रम ज्यों का त्यो रखते हुए सूत्रकार ने मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है, जैसे—चरसि, पडिलेहसि, किलामेसि, गरिहसि।

श्लोक ६ :

११. समय होने पर (सइ-काले [क]) :

'सइकाले' का संस्कृत रूप 'स्मृतिकाले' भी हो सकता है। जिस समय भिक्षा देने के लिए भिक्षुओ को याद किया जाए उस समय को स्मृति-काल कहा जाता है[4]।

श्लोक ७ :

१२. श्लोक ७-८ :

सातवें और आठवें श्लोक में क्षेत्र-विवेक का उपदेश दिया गया है[5]। मुनि को वैसे क्षेत्र मे नही जाना चाहिए जहाँ जाने से दूसरे जीव-जन्तु डर कर उड जाएँ, उनके खाने-पीने मे विघ्न पडे आदि-आदि[6]। इसी प्रकार भिक्षार्थ गए हुए मुनि को गृह आदि में नहीं बैठना चाहिए।

१—जि० चू० पृ० १९४-५ : भिक्खावेलाए भिक्खं समायरे, पडिलेहणवेलाए पडिलेहणं समायरे, एवमादि, भणियं च—'जोगो जोगो जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउञ्जंतो। अण्णोऽण्णमबाहंतो असवत्तो होइ कायव्वो।'

२—सू० २.१.१५ : अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले।

३—(क) जि० चू० पृ० १९५ : तमकालचारिं आउरीभूतं दट्ठूण अण्णो साहू भणेज्जा—लद्धा ते एयंमि निवेसे भिक्खत्ति ?, सो भणइ—कुओ एत्थ थंडिल्लगामे भिक्खत्ति। तेण साहुणा भण्णइ—तुमं अप्पणो दोसे परस्स उवरिंन्नि वाडेहि, तुमं पमाय-दोसेण सज्झायलोभेण वा कालं न पच्चुवेक्खसि, अप्पाणं अइहिंडीए ओमोवरियाए किलामेसि, इमं सन्निवेसं च गरिहसि, जम्हा एते दोसा तम्हा।

(ख) हा० टी० प० १८३।

४—हा० टी० प० १८३ : 'सति' विद्यमाने 'काले' भिक्षासमये चरेद्भिक्षुः, अन्ये तु व्याचक्षते—स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षाकाः स स्मृतिकालः।

५—हा० टी० प० १८४ : उक्ता कालयतना, अधुना क्षेत्रयतनामाह।

६—हा० टी० प० १८४ : तत्संत्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोषात्।

श्लोक ८ :

१३. न बैठे (न निसीएज्ज ख) :

यहाँ बैठने के बारे मे सामान्य निषेध किया गया है[1]। इसके विशेष विवरण और अपवाद की जानकारी के लिए देखिए बृहत्कल्प सूत्र (३.२१-२२)।

अनुसधान के लिए देखिए अध्याय ६ श्लोक ५६-५६ ।

१४. कथा का प्रबन्ध न करे (कहं च न पबंधेज्जा ग) :

कथा के तीन प्रकार हैं—धर्म-कथा, वाद-कथा और विग्रह-कथा । इस त्रिविध-कथा का प्रबन्ध न करे। किसी के पूछने पर एक उदाहरण बता दे किन्तु चर्चाक्रम को लम्बा न करे[2] ।

साधारणतया भिक्षु गृहस्थ के घर मे जैसे बैठ नही सकता वैसे खड़ा-खडा भी धर्म-कथा नही कह सकता[3]।

तुलना के लिए देखिए बृहत्कल्प (३.२२-२४) ।

श्लोक ६ :

१५. श्लोक ६ :

इस श्लोक मे वस्तु-विवेक की शिक्षा दी गई है। मुनि को वस्तु का वैसा प्रयोग नही करना चाहिए जिससे लघुता लगे और चोट लगने का भी प्रसग आए[4] ।

१६. परिघ (फलिहं क) :

नगर-द्वार के किवाड को बन्द करने के बाद उसके पीछे दिया जाने वाला फलक[5] ।

श्लोक १० :

१७. कृपण (किविणं ख) :

इसका अर्थ 'पिण्डोलग' है[6]। उत्तराध्ययन (५.२२) में 'पिण्डोलग' का अर्थ—'पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला'—किया है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १२७ : 'ण णिसिएज्ज' णो पविसेज्ज 'कत्थति' त्ति गिह-देवकुलादौ ।

(ख) जि० चू० पृ० १९५ : गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि ।

२—जि० चू० पृ० १९६ : णण्णत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा ।

३—जि० चू० पृ० १९५-१९६ : जहा य न निसिएज्जा तहा ठिओऽवि धम्मकहावादकहा-विग्गहकहादि णो 'पबंधिज्जा' नाम ण कहेज्जइ ।

(ख) हा० टी० प० १८४ : 'कथां च' धर्मकथादिरूपां 'न प्रबध्नीयात्' प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह, अत एवाह – स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इति, अनेषणाद्वेषादिदोषप्रसंगादिति ।

४—(क) जि० चू० पृ० १९६ : इमे दोसा—कयाति दुब्बद्धे पडेज्जा, पडंतस्स य संजमविराहणा आयविराहणा वा होज्जत्ति ।

(ख) हा० टी० प० १८४ : लाघवविराधनादोषात् ।

५—(क) अ० चू० पृ० १२७ : णगरद्दारकवाडोवत्थंभणं 'फलिहं' ।

(ख) हा० टी० प० १८४ : 'परिघं' नगरद्वारादिसंबन्धिनम् ।

६—(क) अ० चू० पृ० १२७ : किवणा पिंडोलगा ।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : किविणा—पिण्डोलगा ।

(ग) हा० टी० प० १८४ : 'कृपणं वा' पिण्डोलकम् ।

७—उत्त० बृ० वृ० प० २५० ।

श्लोक १२ :

१८. प्रवचन की (पवयणस्स [घ]) :

प्रवचन का अर्थ द्वादशाङ्गी है[1]। प्रवचन के आधारभूत जैन-शासन को भी प्रवचन कहा जाता है।

श्लोक १४ :

१९. उत्पल (उप्पलं [क]) :

नील-कमल[2]।

२०. पद्म (पउमं [क]) :

रक्त-कमल।

अगस्त्यसिंह ने पद्म का अर्थ 'नलिन'[3] और हरिभद्र ने 'अरविन्द' किया है[4]। 'अरविन्द' रक्तोत्पल का नाम है[5]।

२१. कुमुद (कुमुयं वा [ख]) :

श्वेत-कमल। इसका नाम गर्दभ है[6]।

२२. मालती (मगदंतियं [ख]) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ मालती और मोगरा है। कुछ आचार्य इसका अर्थ 'मल्लिका' (बेला) करते है[7]।

श्लोक १५ :

२३. श्लोक १५ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार १४ वे और १५ वे श्लोक को द्वयर्ध श्लोक के रूप मे पढने की परम्परा रही है। चूर्णिकार ने इसके समर्थन मे लौकिक श्लोक भी उद्धृत किया है[8]।

१—भग० २०.८.१४ : पवयणं पुण दुवालसंगे गणिपिडगे।

२—(क) अ० चू० पृ० १२८ : उप्पलं णील।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : उप्पल नीलोत्पलादि।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'उत्पल' नीलोत्पलादि।

३—अ० चू० पृ० १२८ : पउम णलिणं।

४—हा० टी० प० १८५ : 'पद्मम्' अरविन्दं वापि।

५—शा० नि० भू० पृ० ५३९।

६—(क) जि० चू० पृ० १२८ : 'कुमुदं' गद्दभग।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : कुमुद -- गद्दभुप्पल।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'कुमुद वा' गर्दभकं वा।

७—(क) अ० चू० पृ० १२८ : 'मगदंतिगा' मेत्तिगा।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : मदगंतिआ - मेत्तिया, अण्णे भणति-वियइल्लो मदगतिया भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मगदंतिकां' मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये।

८—अ० चू० पृ० १२९ : 'तं भवे भत्तपाणं' एतस्स सिलोगस्स प्रायेणं प्रच्छद्धं पढंति—देंतियं पडियाइक्खे तं किं ? संजताणं अकप्पियं पुणो ण मे कप्पति एरिसमिति पुनरुत्तं, तप्परिहरणत्थं पच्छिमद्धं णेव समाणसंबंधमतीताणंतरसिलोगसबंधतं समाणेंति, तहा य दिवड्ढसिलोगो भवति, लोगे य मुणाहियत्थपडिसमाणणेण दिवड्ढसिलोइया प्रयोगा उवलब्भंति यथा —

> दश धर्मं न जानंति, धृतराष्ट्र ! निबोधनात्।
> मत्तः प्रमत्त उन्मत्तो श्रांतः क्रुद्धः पिपासितः ॥
> त्वरमाणश्च भीरुश्च चोरः कामी च ते दश ॥

श्लोक १६ :

२४. कुचल कर (सम्मद्दिया' घ) :

इसी ग्रन्थ (५.१.२९) में सम्मर्दन के प्रकरण में 'हरिय' शब्द के द्वारा समस्त वनस्पति का सामान्य ग्रहण किया है। यहाँ भेदपूर्वक उत्पल आदि का उल्लेख किया है इसलिए यह पुनरुक्त नहीं है[२]।

श्लोक १८ :

२५. श्लोक १८ :

शालूक आदि अपक्व रूप मे खाए जाते हैं इसलिए उनका निषेध किया गया है[३]।

२६. कमलकन्द (सालुयं क) :

कमल की जड[४]।

२७. पलाशकन्द (विरालियं क) :

विदारिका का अर्थ पलाशकन्द किया गया है। हरिभद्र सूरि ने यह सूचित किया है कि कुछ आचार्य इसका अर्थ पर्ववल्लि, प्रतिपर्ववल्लि, प्रतिपर्वकन्द करते हैं[५]। अगस्त्यसिंह ने वैकल्पिक रूप मे इसका अर्थ 'क्षीर-विदारी, जीवन्ती और गोवल्ली' किया है[६]। जिनदास के अनुसार बीज से नाल, नाल से पत्ते और पत्ते से कन्द उत्पन्न होता है वह 'विदारिका' है[७]।

२८. पद्म-नाल (मुणालियं ग) :

पद्म-नाल पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है और उसका आकार हाथी दाँत जैसा होता है[८]।

१—हा० टी० प० १८५ : समृद्य दद्यात्, समर्दनम् नाम पूर्वच्छिन्नानामेवापरिणतानां मर्दनम्।

२—(क) अ० चू० पृ० १२८ : 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणी य।' उप्पलादीण एत्थं हरियग्गहणेण गहणे वि काल-विसेसेण एतेसिं परिणाममेवा इति इह सभेदोपादाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १९६-१९७ : सीसो आह—णणु एस अत्थो पुव्वि चेव भणिओ जहा 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाइं' ति हरियग्गहणेण वणप्फई गहिया, किमत्थ पुणो गहणं कयंति ?, आयरिओ भणइ —तत्थ अविसेसिय वणप्फइ-गहणं कय, इह पुण सभेदभिण्णं वणप्फइकायमुच्चारियं।

३—जि० चू० पृ० १९७ : एयाणि लोगो खायति अतो पडिसेहणनिमित्तं नालियागहणं कयंति .... 'सासवनालिअ' सिद्धतत्थगणाओ, तमवि लोगो ऊणसतिकाऊण आमग चेव खायति।

४—(क) अ० चू० पृ० १२९ : 'सालुयं उप्पलकंदो।'

(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'सालुगं' नाम उप्पलकन्दो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'शालूक वा' उत्पलकन्दम्।

(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३९ : पद्मादिकन्दः शालूकम्।

५—हा० टी० प० १८५ : 'विरालिकां' पलाशकन्दरूपां, पर्ववल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये।

६—अ० चू० पृ० १२९ : 'विरालियं' पलासकदो अहवा 'छीरविराली' जीवन्ती गोवल्ली इति एसा।

७—जि० चू० पृ०१९७ : 'बिरालियं' नाम पलासकंदो भण्णइ, जहा बीए वल्ली जायंति, तीसे पत्ते, पत्ते कंदा जायति, सा बिरालिया।

८—(क) अ० चू० पृ० १२९ : पउमाणमूला 'मुणालिया'।

(ख) जि० चू० पृ० १९७ : मुणालिया-गयदंतसन्निभा पउमिणिकंदाओ निग्गच्छति।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मृणालिकां' पद्मिनीकन्दोत्थाम्।

(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३८ : मृणालं पद्मनालकम्।

२६. सरसों की नाल (सासवनालियं [ग]) ।

सरसों की नाल[1] ।

३०. अपक्व गंडेरी (उच्छुखंडं [घ]) :

पर्वाक्ष या पर्व-सहित इक्षु-खण्ड सचित्त होता है[2] । यहां उसी को अनिर्वृत—अपक्व कहा है[3] ।

श्लोक १६ :

३१. तृण (तणगस्स [ख]) :

जिनदास चूर्णि में तृण शब्द से अर्जक[4] और मूलक आदि का ग्रहण किया है[5] ।

अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार इससे मधुर-तृण आदि का ग्रहण करते हैं[6] । मधुर का अर्थ—लाल गन्ना या चावल हो सकता है । संभव है तृणक शब्द तृण-द्रुम का संक्षेप हो । नारियल, ताल, खजूर, केतक और छुहारे के वृक्ष को तृण-द्रुम कहा जाता है ।

श्लोक २० :

३२. कच्ची (तरुणियं [क]) :

यह उस फली का विशेषण है, जिसमें दाने न पडे हो[7] ।

३३. एक बार भूनी हुई (भज्जियं सइं [ख]) :

दो या तीन बार भूनी हुई फली लेने का निषेध नही है । इसलिए यहां सकृत् शब्द का प्रयोग किया गया है[8] । यहां केवल एक बार भूनी हुई फली लेने का निषेध है ।

आयारचूला १।७ मे दो-तीन बार भूनी हुई फली लेने का विधान भी है[9] ।

१—(क) अ० चू० पृ० १२६ : सासवणालिया सिद्धत्थगणाला ।
   (ख) जि० चू० पृ० १६७ : 'सासवनालिअं' सिद्धत्थगणालो ।
   (ग) हा० टी० प० १८५ : 'सर्षपनालिकां' सिद्धार्थकमञ्जरीम् ।
२—(क) अ० चू० पृ० १२६ : 'उच्छुगंडमणिव्वुडं' सपव्वच्छियं ।
   (ख) जि० चू० पृ० १६७ : उच्छुखंडमवि पव्वेसु धरमाणेसु ता नेव अनवगतजीव कप्पइ ।
३ हा० टी० प० १८५ : इक्षुखण्डम्—अनिर्वृतं' सचित्तम् ।
४—शा० नि० भू० पृ० ५२६ : इसका अर्थ वन-तुलसी है ।
५—जि० चू० पृ० १६७ : तणस्स जहा अज्जगमूलादीणं ।
६ (क) अ० चू० पृ० १२६ : तणस्स वा महुरतणातिकस्स ।
   (ख) हा० टी० प० १८५ : 'तृणस्य वा' मधुरतृणादेः ।
७—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'तरुणिया' अणापक्का ।
   (ख) जि० चू० पृ० १६७ : 'तरुणिया' नाम कोमलिया ।
   (ग) हा० टी० प० १८५ : 'तरुणां वा' असंजाताम् ।
८—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'सतिभज्जिता' एक्कसि भज्जिता ।
   (ख) जि० चू० पृ० १६७ : 'सइं भज्जिया' नाम एक्कसिं भज्जिया ।
   (ग) हा० टी० प० १८५ : तथा भर्जितां 'सकृद्' एकवारम् ।
६—आ० चू० १।७ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे, सेज्जं पुण जाणेज्जा—पिहुयं वा, बहुरयं वा, भुज्जियं वा, मथुं वा चाउलं वा, चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते पडिगाहेज्जा ।

३४. फली (छिवाडिं[क]) :

अगस्त्य चूर्णि में 'छिवाडी' का अर्थ 'सबलिया' और जिनदास चूर्णि में 'सिंगा' तथा टीका में मूग आदि की फली किया है[1]। 'संबलिया' और 'सिंगा' दोनो फली के ही पर्यायवाची नाम हैं।

श्लोक २१ :

३५. वंश-करीर (वेलुयं[ख]) :

अगस्त्य चूर्णि मे 'वेलुय' का अर्थ 'बिल्व' या 'वंशकरिल्ल' किया है[2]। जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार इसका अर्थ 'वंशकरिल्ल' है[3]। आचाराङ्ग वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'बिल्व' किया है।[4] यहाँ 'वेलुय' का अर्थ 'बिल्व' संगत नही लगता, क्योंकि दशवैकालिक मे 'बिल्व' का उल्लेख पहले ही हो चुका है[5]। प्राकृत भाषा की दृष्टि से भी 'बिल्व' का 'वेलुय' रूप नहीं बनता, किन्तु 'वेणुक' का बनता है[6]। यहाँ 'वेलुय' का अर्थ वश-करीर—बास का अकुर होना चाहिए। अभिधान चिन्तामणि मे दस प्रकार के शाको में 'करीर' का भी उल्लेख है[7]।

अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका मे 'करीर' का अर्थ बास का अकुर किया गया है[8]। सुश्रुत के अनुसार बांस के अंकुर कफकारक, मधुरविपाकी, विदाही, वायुकारक, कषाय एवं रूक्ष होते हैं[9]।

३६. काश्यपनालिका (कासवनालियं[ख]) :

व्याख्याकारो ने इसका अर्थ 'श्रीपर्णि फल' और 'कसारु' किया है[10]। 'श्रीपर्णि' के दो अर्थ हैं[11] (१) कुभारी और (२) कायफल।

कुभारी - यह वनस्पति भारतवर्ष, सिलोन और फिलीपाइन द्वीप-समूह मे पैदा होती है। इसका वृक्ष ६० फुट तक ऊँचा होता है। इसका पिंड सीधा रहता है और उसकी गोलाई ६ फुट तक रहती है। इसकी छाल सफेद और कुछ भूरे रग की रहती है। माघ से चैत्र तक इसके पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में नए पत्ते निकलते हैं। इसमे पीले रग के फूल लगते हैं, जिन पर भूरे छीटे होते हैं। इसका फल १ इच लम्बा, मोटा और फिसलना होता है। यह पकने पर पीला हो जाता है[12]।

१—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'छिवाडिया' सबलिया।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'छिवाडी' नाम संगा।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'छिवाडिं' मिति मुद्गादिफलिम्।
२—अ० चू० पृ० १३० : 'वेलुय' बिल्ल वंसकरिल्लो वा।
३—(क) जि० चू० पृ० १९७ : वंसकिरिल्लो वेलुयं।
(ख) हा० टी० प० १८५ : 'वेणुक' वंशकरिल्लम्।
४—आ० चू० १।११८ वृ० : 'वेलुय' वेलुयति बिल्वम्।
५—दश० ५.१.७३ : अत्थियं तिंदुयं बिल्लं।
६—हैम० ८.१.२०३ : वेणौ णो वा।
७—४.२४९-५० : 'मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढकाः। त्वक् पुष्पं कवकं शाकं दशधा...।
८—वही पृ० ४७७ : 'करीरं' वंशादेः।
९—सु० (सू०) ४६.३१४ : 'वेणोः' करीराः कफला मधुरा रसपाकतः।
विदाहिनो वातकराः सकषाया विरूक्षणाः॥
१०—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'कासवनालियं' सीवण्णी फलं कस्सारुकं।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'कासवनालिअं' सीवणिफलं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'कासवनालिअं' श्रीपर्णीफलम्।
११—श० चं० पृ० ४१५, ५२७।
१२—श० चं० पृ० ४१५।

कायफल—यह एक छोटे कद का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष है। इसका छिलका खुरदरा, बादामी और भूरे रंग का होता है। इसके पत्ते गुच्छों में लगते हैं। उनकी लम्बाई ७.५ से १२.५ सेन्टिमीटर और चौड़ाई २.५ से ५ सेन्टिमीटर तक होती है[१]।

कसारु—कसेरु नाम का जलीय कन्द है। यह एक किस्म का भारतीय घास का कंद है। इस घास से बोरे और चटाइयाँ बनती हैं। यह घास तालाबों और झीलों में जमती है। इस वृक्ष की जड़ों में कुछ गठाने रहती हैं जो तन्तुओं से ढँकी हुई रहती हैं। इसका फल गोल और पीले रंग का जायफल के बराबर होता है।

इसकी छोटे और बड़े के भेद से दो जातियाँ होती हैं। छोटा कसेरु हल्का और आकृति में मोथे की तरह होता है। इसको हिन्दी में चिचोड़ और लेटिन में केपेरिस एस्क्यूलेंटस कहते हैं। दूसरी बड़ी जाति को राज कसेरु कहते हैं। सर्दी के दिनों में कसेरु जमीन से निकाले जाते हैं और उनके ऊपर का छिलका हटाकर उनको कच्चे ही खाते हैं[२]।

३७. अपक्व-तिलपपड़ी (तिलपप्पडगं [ग])

वह तिल-पपड़ी वर्जित है, जो कच्चे तिलों से बनी हो[३]।

३८. कदम्ब-फल (नीमं [ग]) :

हारिभद्रीय टीका में 'नीमं' नीमफलम्—ऐसा मुद्रित पाठ है[४]। किन्तु 'नीमं नीपफलम्'—ऐसा पाठ होना चाहिए। चूर्णियों में 'नीम' शब्द का प्रयोग उचित हो सकता है, किन्तु संस्कृत में नहीं[५]। संस्कृत में इसका रूप 'नीप' होगा। 'नीव' का अर्थ 'कदम्ब' है और उस का प्राकृत रूप 'नीम' होता है[६]।

कदम्ब एक प्रकार का मध्यम आकार का वृक्ष होता है जो भारतवर्ष के पहाड़ों में स्वाभाविक तौर से बहुत पैदा होता है। इसका पुष्प सफेद और कुछ पीले रंग का होता है। इसके फूल पर पंखुड़ियाँ नहीं होतीं, बल्कि सफेद-सफेद सुगन्धित तन्तु इसके चारों ओर उठे हुए रहते हैं। इसका फल गोल नीबू के समान होता है।

कदम्ब की कई तरह की जातियाँ होती हैं। इनमें राज कदम्ब, धारा कदम्ब, धूलि कदम्ब, भूमि कदम्ब इत्यादि जातियाँ उल्लेखनीय हैं[७]।

श्लोक २२ :

३९. चावल का पिष्ट (चाउलं पिट्ठं [क]) :

अगस्त्यसिंह ने अभिनव और अनिन्धन (बिना पकाए हुए) चावल के पिष्ट को सचित्त माना है[८]।

जिनदास ने 'चावल-पिट्ठ' का अर्थ भ्राष्ट्र (भूने हुए चावल) किया है। वह जब तक अपरिणत होता है तब तक सचित्त रहता है[९]।

१—व० चं० पृ० ५२७।

२—व० चं० पृ० ४७९।

३—(क) अ० चू० पृ० १३० . 'तिलपप्पडगो' आमतिलेहिं जो पप्पडो कतो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : जो आमगेहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमगं परिवज्जेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'तिलपर्पटं' पिष्टतिलमयम्।

४—हा० टी० प० १८५ : 'नीमं' नीमफलम्।

५—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'णीव' फलं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : 'नीमं' नीमरुक्खस्स फलं।

६—हैम० ८.१.२३४ : नीपापीडे मो वा।

७—व० चं० पृ० ३७५।

८—अ० चू० पृ० १३० : चाउलं पिट्ठलोट्ठो। तं अभिणवमणिंधणं सच्चित्तं भवति।

९—जि० चू० पृ० १९८ : चाउलं पिट्ठं भट्ठं भण्णइ, तमपरिणतगमं सचित्तं भवति।

४०. पूरा न उबाला हुआ गर्म (तत्तनिव्वुडं ख) :

चूर्णि और टीका में 'तत्त-निव्वुड' के 'तप्त-निर्वृत' और 'तप्त-अनिर्वृत'—इन दो संस्कृत रूपों के अनुसार अर्थ किए गए हैं। जो जल गर्म होकर फिर से शीत हो गया हो—विभिन्न काल-मर्यादा के अनुसार सचित्त हो गया हो—वह तप्त निर्वृत कहलाता है। जो जल थोड़ा गर्म किया हुआ हो वह—तप्त-अनिर्वृत कहलाता है[1]। पक्व जल वही माना जाता है जो पर्याप्त मात्रा में उबाला गया हो। देखिए इसी सूत्र (३.६) की टि० संख्या ३६।

४१. जल (वियडं ख) :

मुनि के लिए अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेने का निषेध है। वे अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेते भी हैं किन्तु वही, जो दूसरी वस्तु के मिश्रण से विकृत हो जाए। स्वाभाविक जल सजीव होता है और विकृत जल निर्जीव। मुनि के लिए विकृत जल (या इक्कीस प्रकार का द्राक्षा आदि का पानक। देखिए—आयारचूला १) ही ग्राह्य है। इसलिये अङ्ग-साहित्य में बहुधा 'वियडं' शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में भी होता है[2]। अभयदेवसूरि ने वियड का अर्थ 'पानक' किया है[3]।

'वियड' शब्द का प्रयोग शीतोदक और उष्णोदक दोनों के साथ होता है[4]।

अगस्त्यसिंह स्थविर 'वियड' का अर्थ गर्म जल करते हैं[5]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ शुद्धोदक किया है[6]।

४२. पोई-साग और सरसों की खली (पूइपिन्नागं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ है—सरसों की पिट्ठी[7]। जिनदास महत्तर सरसों के पिंड(भोज्य)को 'पूइ पिन्नागं' कहते हैं[8]। टीकाकार ने इसका अर्थ सरसों की खली किया है[9]। आयारचूला में भी 'पूइ पिन्नाग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ कुथित की खली किया है[10]। सूत्रकृताङ्ग के वृत्तिकार ने 'पिण्याक' का अर्थ केवल खली किया है[11]।

सुश्रुत में 'पिण्याक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। व्याख्या में उसका अर्थ तिल, अलसी, सरसों आदि की खली किया है[12]। उस स्थिति में 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ सरसों की खली करना चिन्तनीय है।

शालिग्राम निघण्टु (पृ० ८७३) के अनुसार 'पूइ' एक प्रकार का साग है। संस्कृत में इसे उपोदकी या पोदकी कहते हैं। हिन्दी में इसका नाम पोई का साग है। बंगला में इसे पूइशाक कहते हैं।

पूइ और पिन्नाग को पृथक् मानकर व्याख्या की जाए तो पूइ का अर्थ पोई और पिण्याक का अर्थ सरसों आदि की खली किया जा सकता है।

१—(क) अ० चू० पृ० १३० : तत्तनिव्वुडं सीतलं पडिसचित्तीभूतं अणुव्वत्तदंडं वा।

(ख) हा० टी० प० १८५ : तप्तनिर्वृतं क्वथितं सत् शीतीभूतम्, तप्तानिर्वृतं वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डम्।

२—ठा० ३।३४९ : णिग्गथस्स ण गिलायमाणस्स कप्पंति तओ वियडदत्तीओ पडिग्गाहित्तते।

३—ठा० ३।३४९ वृ० : 'वियड'त्ति पानकाहारः।

४—आ० चू० ६।२४ : 'सिओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा'।

५—अ० चू० पृ० १३० : वियडं उण्होदगं।

६—(क) जि० चू० पृ० १९८ : सुद्धमुदयं वियडं भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० १८५ : विकटं वा—शुद्धोदकम्।

७—अ० चू० पृ० १३० : पूतिपिन्नागो सरिसवपिट्ठं।

८—जि० चू० पृ० १९८ : 'पूतियं' नाम सिद्धत्थपिंडगो, तत्थ अभिन्ना वा सिद्धत्थगा भोज्जा, दरभिन्ना वा।

९—हा० टी० प० १८५ : 'पूतिपिण्याकं' सर्षपखलम्।

१० आ० चू० १।११२ वृ० : 'पूतिपिन्नाग'न्ति कुथितखलम्।

११—सू० २.६.२६ प० ३९६ वृ० : 'पिण्याकः' खलः।

१२—सु० (सू०) ४६.३२१ : "पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्व्वदोषप्रकोपणानि।

श्लोक २३ :

४३. कैथ[1] (कविट्ठं [क]) :

कैथ एक प्रकार का कंटीला पेड़ है जिसमें बेल के आकार के कसैले और खट्टे फल लगते हैं।

४४. बिजौरा[2] (माउलिंगं [क]) :

बीजपूर, मातुलुंग, रुचक, फलपूरक इसके पर्यायवाची नाम हैं[3]।

४५. मूला और मूले के गोल टुकड़े (मूलगं मूलगत्तियं [ख]) :

'मूलक' शब्द के द्वारा पत्र-सहित-मूली[4] और 'मूलक कर्त्तिका' के द्वारा पत्र-रहित-मूली[5] का ग्रहण किया है। चूर्णि के अनुसार यह पाठ 'मूलकत्तिया'—'मूलकर्त्तिका' और टीका के अनुसार 'मूलवत्तिया' 'मूलवर्त्तिका' है[6]। सुश्रुत (४.६.२५७) मे कच्ची मूली के अर्थ में 'मूलक-पोतिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। संभव है उसी के स्थान मे 'मूलवत्तिय' का प्रयोग हुआ हो।

श्लोक २४ :

४६. फलचूर्ण, बीजचूर्ण (फलमंथूणि [क]; बीयमंथूणि [ख]) :

बेर आदि फलों के चूर्ण को 'फलमन्थु' कहते हैं[7] और जौ, उड़द, मूग आदि बीजो के चूर्ण को 'बीजमन्थु' कहते है[8]। आयार चूला मे उदुम्बर, न्यग्रोध (बरगद), प्लक्ष (पाकड़), अश्वत्थ आदि के मन्थुओ का उल्लेख है[9]।

देखिए 'मंथु' (५.१.९८) की टिप्पण सख्या २२८।

४७. बहेड़ा[10] (बिहेलगं [ग]) :

अर्जुन वृक्ष की जाति का एक बड़ा और ऊँचा वृक्ष, जिसके फल दवा के काम मे आते है। त्रिफला मे से एक फल।

१—(क) अ० चू० पृ० १३० : कवित्थफलं 'कविट्ठं'।
(ख) हा० टी० प० १८५ : 'कपित्थ' कपित्थफलम्।

२—(क) अ० चू० पृ० १३० : बीजपूरग मातुलिंगं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : कविट्ठमाउलिंगाणि पसिद्धाणि।
(ग) हा० टी० प० १८५ :'मातुलिङ्गं च' बीजपूरकम्।

३—शा० नि० भू० ५७८।

४—जि० चू० पृ० १९८ : मूलओ सपत्तपलासो।

५—अ० चू० पृ० १३० : मूलगकंदगचक्कलिया।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : मूलकत्तिया—मूलकंदा चित्तलिया भण्णइ :
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मूलवर्त्तिकां' मूलकन्दचक्कलिम्।

६—(क) जि० चू० पृ० १९८।
(ख) हा० टी० प० १८५।

७—(क) जि० चू० पृ० १९८ : मंथू—बदरचुण्णो भण्णइ, फलमंथू बदरओंबरादीणं भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १८६ : 'फलमन्थून्' बदरचूर्णान्।

८—(क) जि० चू० पृ० १९८ : 'बीयमंथू' जवमासमुग्गादीणि।
(ख) हा० टी० प० १८६ : 'बीजमन्थून्' यवादिचूर्णान्।

९—आ० चू० १।१११ : उंबरमंथुं वा, नग्गोहमंथुं वा, पिलुंखुमंथुं वा, आसोत्थमंथुं वा, अन्नयरं वा, तहप्पगारं मंथुजाय।

१०—(क) अ० चू० पृ० १३० : 'बिभेलगं' भूतरुक्खफल, तस्समाणजातीतं हरिडगाति वा।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : बिहेलगरुक्खस्स फलं बिहेलगं।
(ग) हा० टी० प० १८६ : 'बिभीतकं' बिभीतकफलम्।

४८. प्रियाल फल[1] (पियालं ^ग^) :

प्रियाल को चिरौंजी कहते हैं।

'चिरौंजी' के वृक्ष प्रायः सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। इसके पत्ते छोटे-छोटे, नोकदार और खुरदरे होते हैं। इसके फल करोंदे के समान नीले रंग के होते हैं। उनमें से जो मगज निकलती है उसे चिरौंजी कहते हैं।

श्लोक २५ :

४९: समुदान (समुयाणं ^क^) :

मुनि के लिए समुदान भिक्षा करने का निर्देश किया गया है। एक या कुछ एक घरों में से भिक्षा ली जाय तो एषणा की शुद्धि रह नहीं सकती, इसलिए अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए, ऊँच और नीच सभी घरों में जाना चाहिए[2]।

जो घर जाति से नीच कहलाएँ, धन से समृद्ध न हों और जहाँ मनोज्ञ आहार न मिले उनको छोड जो जाति से उच्च कहलाएँ, धन से समृद्ध हों और जहाँ मनोज्ञ आहार मिले वहाँ न जाए। किन्तु भिक्षा के लिए निकलने पर जुगुप्सित कुलो को छोडकर परिपाटी (क्रम) से आने वाले छोटे-बड़े सभी घरो में जाए। जो भिक्षु नीच कुलो को छोड़कर उच्च कुलो में जाता है वह जातिवाद को बढावा देता है और लोग यह मानते हैं कि यह भिक्षु हमारा परिभव कर रहा है[3]।

बौद्ध-साहित्य में तेरह 'धुताङ्ग' बतलाए गए हैं। उनमें चौथा 'धुताङ्ग' 'सापदान-चारिकाङ्ग' है। गाँव में भिक्षाटन करते समय बिना अन्तर डाले प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करने को 'सापदान-चारिकाङ्ग' कहते हैं[4]।

श्लोक २६ :

५०. वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे (वंदमाणो न जाएज्जा ^ग^) :

यहाँ उत्पादन के ग्यारहवें दोष 'पूर्व-सस्तव' का निषेध है।

दोनो चूर्णिकारो और टीकाकार ने 'वदमाण न जाएज्जा' पाठ को मुख्य मानकर व्याख्या की है और 'वदमाणो न जाएज्जा' को पाठान्तर माना है[5]। किन्तु मूल पाठ 'वदमाणो न जाएज्जा' ही होना चाहिए। इस श्लोक मे उत्पादन के ग्यारहवे दोष—पुव्विपच्छा

१—(क) अ० चू० पृ० १३० : पियालं पियालरुक्खफलं वा।

(ख) जि० चू० पृ० १९८ : पियालो रुक्खो तस्स फलं पियालं।

(ग) हा० टी० प० १८६ : 'प्रियालं वा' प्रियालफल च।

२—(क) अ० चू० पृ० १३१ : समुयाणीयंति—समाहरिज्जंति तदत्थ चाउलसाकतो रसादीणि तदुपसाधणाणीति अण्णमेव 'समुदाणं चरे' गच्छेदिति। अहवा पुव्वभणितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धमण्णं समुदाणीयं चरे।

(ख) जि० चू० पृ० १९८ : समुदाया भिज्जइत्ति, थोवं थोवं पडिवज्जइत्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा० टी० प० १८६ : समुदानं भावभैक्ष्यमाश्रित्य चरेद् भिक्षुः।

३—जि० चू० पृ० १९८-१९९ . 'उच्च' नाम जातितो णो सारतो सारतो णो जातीतो, एगं सारतोवि जाइओवि, एगं णो सारओ नो जाइओ, अवयमवि जाइयो एग अवयं नो सारओ, सारओ एगं अवयं नो जाइओ, एगं जाइओऽवि अवय सारओऽवि, एगं नो जाइओ अवय नो सारओ, अहवा उच्चं जत्थ मणुण्णाणि लब्भति, अवय जत्थ न तारिसाणित्ति, तहप्पगार कुलं उच्चं वा भवउ अवयं वा भवउ, सव्व परिवाडीय समुदाणितव्वं, ण पुण नीयं कुलं अतिक्कमिऊण ऊसढ अभिसंधारिज्जा, 'नीयं' नाम नीयंति वा अवयति वा एगट्ठा, दुगुंछियकुलाणि वज्जेऊण ज सेस कुलं तमतिक्कमिऊणं नो ऊसढं गच्छेज्जा, ऊसढं नाम ऊसढंति वा उच्चति वा एगट्ठं, तंमि ऊसढे उक्कोस लभीहामि बहुं वा लभीहामित्तिकाऊण णो णियाणि अतिक्कमेज्जा, किं कारण ? दीहा भिक्खायरिया भवति, सुत्तत्थपलिमंथो य, जडजीवस्स य अण्णे म रोयंति, जे ते अतिक्कमिज्जंति ते अप्पत्तियं करेंति जहा परिभवति एस अम्हेत्ति, पव्वइयोवि जातिवायं ण मुयति, जातिवाओ य उववूहिओ भवति।

४—विसुद्धि मार्ग भूमिका पृ० २४। विशेष विवरण के लिए देखें पृ० ६७-६८।

५—(क) अ० चू० पृ० १३२ : पाठविसेसो वा—'वंदमाणो न जाएज्जा'।

(ख) जि० चू० पृ० २०० : अथवा एस आलावओ एव पढिज्जइ 'वंदमाणो न जाएज्जा' वंदमाणो नाम वंदमाणो सिराकंप पंजलियादीहि णो जाएज्जा, वायाएवि वंदणसरिसाए ण जाएज्जो, जहा तुमंमि मट्टिए देवए वाऽसि।

संथव' (पूर्वपश्चात् संस्तव) के एक भाग 'पूर्व-संस्तव' का निषेध है। इसका समर्थन आयार चूला के 'वंदिय वंदिय' शब्द से होता है[1]। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ यह है कि मुनि गृहपति की स्तुति कर याचना न करे[2]।

आयार चूला के टिप्पणीगत दोनो वाक्य और प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध के दोनों चरण केवल अर्थ-दृष्टि से ही नहीं किन्तु शब्द-दृष्टि से भी प्रायः तुल्य हैं। आचाराङ्ग के 'वंदिय' का अर्थ यहाँ 'वदमाणो' के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। निशीथ में 'पूर्व-संस्तव' के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[3]। प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार १) मे 'ण वि वदणाए' के द्वारा उक्त अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। इनके आधार पर 'वंदमाणो' पाठ ही सगत है। वन्दमान—वन्दना करते हुए व्यक्ति से याचना नहीं करनी चाहिए—यह अर्थ चूर्णिकार और टीकाकार को अभिप्रेत है[4]। किन्तु यह व्याख्या विशेष अर्थवान् नही लगती और इसका कही आधार भी नही मिलता। 'वदमाणो न जाएज्जा' इसका विशेष अर्थ भी है, आगमो में आधार भी है, इसलिए अर्थ की दृष्टि से भी 'वंदमाणो' पाठ अधिक उपयुक्त है।

श्लोक ३१ :

५१. छिपा लेता है (विणिगूहई ख) :

इसका अर्थ है—सरस आहार को नीरस आहार से ढाँक लेता है[5]।

श्लोक ३४ :

५२. मोक्षार्थी (आययट्ठी ग) :

इस शब्द को अगस्त्यचूर्णि में 'आयति-अर्थी' तथा जिनदास चूर्णि और टीका मे 'आयत-अर्थी' माना है[6]।

५३. रूक्षवृत्ति (लूहवित्ती घ) :

रूक्ष शब्द का अर्थ रूखा और संयम—दोनो होता है। जिनदास चूर्णि में रूक्षवृत्ति का अर्थ रूक्ष-भोजी और टीका में इसका अर्थ सयम-वृत्ति किया है[7]।

१— आ० चू० १।६२ : 'नो गाहावइं वंदिय-वंदिय जाएज्जा' नो वण फरुसं वएज्जा'।

२—आ० चू० १।६२ वृ० : गृहपतिं 'वन्दित्वा' वाग्भिः स्तुत्वा प्रशस्य नो याचेत।

३—नि० २.३८ : जे भिक्खू पुरे संथवं पच्छा संथवं वा करेइ करेंतं वा सातिज्जति। चू० : 'संथवो' थुती, अदत्ते दाणे पुव्वसंथवो, दिण्णे पच्छासथवो। जो तं करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं।

४—(क) अ० चू० पृ० ११२ : 'वंदमाणं ण जाएज्जा' 'जहा अहं वंदितो एतेण, आयामि णं, महो अवस्स दाहिति। सो वंदिय-मेत्तेण जातिओ चिंतेज्ज भणेज्ज वा—चोरते वंदिहि त्ति, एणातियं एवमादि दोसा।

(ख) जि० चू० पृ० २०० : 'वंदमाणं न जाइज्जा' जहा अहमेतेण वंदिउत्ति अवस्समेसो दाहेति, तत्थ विपरिणामादिदोसा सभवंति, पुरिसं पुण वदमाणं वंदमाणं अन्नं किंचि वक्खेवं काऊण अण्णतो वा भमिऊण पुणो तत्थेव गंतूण मग्गइ, जइ ताहे पुणो वंदति तो मग्गिओ जइ कदापि पडिसेहेज्जा। तत्थ नो अण्णं फरुसं वए, जहा हीणं ते वंदितं, तुमं अवंदओ चेव, एवमादि।

(ग) हा० टी० प० १८६ : वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचेत, विपरिणामदोषात्, अन्नाद्यभावेन याचितादाने न चैनं परुषं ब्रूयात्—वृथा ते वन्दनमित्यादि।

५—(क) जि० चू० पृ० २०१ : विविहेहिं पगारेहिं गूहति विणिगूहति, अप्पसारियं करेइ, अन्नेण अन्तपन्तेण ओहाडेति।

(ख) हा० टी० प० १८७ : 'विनिगूहते' अहमेव भोक्ष्य इत्यन्तप्रान्तादिनाऽऽच्छादयति।

६—(क) अ० चू० पृ० ११३ : [आयतठ्ठी] आगामिणि काले हितमायतीहितं, आततिहितेण अत्थी आयत्याभिलासी।

(ख) जि० चू० पृ० २०२ : आयती—मोक्खो भण्णइ, तं आययं अत्थयतीति आययट्ठी।

(ग) हा० टी० प० १८७ : 'आयतार्थी' मोक्षार्थी।

७—(क) जि० चू० पृ० २०२ : लूहाइ से वित्ती, एतस्स य निहारे गिद्धी अत्थि।

(ख) हा० टी० प० १८७ : 'रूक्षवृत्तिः' संयमवृत्तिः।

श्लोक ३५ :

५४. मान-सम्मान की कामना करने वाला (माणसम्माणकामए ^ख) :

वंदना करना, आने पर खड़ा हो जाना मान कहलाता है और वस्त्र-पात्र आदि देना सम्मान है अथवा मान एकदेशीय अर्चना है और सम्मान व्यापक अर्चना[1]।

५५. माया-शल्य (मायासल्लं ^घ) :

यहाँ शल्य का अर्थ आयुध[2] (शरीर में घुसा हुआ कांटा) अथवा बाण की नोक है। जिस प्रकार शरीर में घुसी हुई अस्त्र की नोक व्यथा देती है उसी प्रकार जो पाप-कर्म मन को व्यथित करते रहते हैं उन्हे शल्य कहा जाता है।

माया, निदान और मिथ्यादर्शन—ये तीनों सतत चुभने वाले पाप-कर्म हैं, इसलिए इन्हें शल्य कहा जाता है[3]।

पूजार्थी-व्यक्ति बहुत पाप करता है और अपनी पूजा आदि को सुरक्षित रखने के लिए वह सम्यक् प्रकार से आलोचना नहीं करता किन्तु माया-शल्य करता है—अपने दोषो को छिपाने का प्रयत्न करता है[4]।

श्लोक ३६ :

५६. संयम (जसं ^घ) :

यहाँ यश शब्द का अर्थ सयम है[5]। सयम के अर्थ मे इसका प्रयोग भगवती में भी मिलता है[6]।

५७. सुरा, मेरक (सुरं वा मेरगं वा ^क) :

सुरा और मेरक दोनो मदिरा के प्रकार हैं। टीकाकार पिष्ट आदि द्रव्य से तैयार की हुई मदिरा को सुरा और प्रसन्ना को मेरक मानते हैं[7]। चरक की व्याख्या में परिपक्व अन्न के सन्धान से तैयार की हुई मदिरा को सुरा माना है[8]। भावमिश्र के अनुसार उबाले हुए शालि, षष्टिक आदि चावलो को सन्धित करके तैयार की हुई मदिरा को सुरा कहा जाता है[9]। मैरेय तीक्ष्ण, मधुर तथा गुरु होती है[10]। सुरा को पुनः सन्धान करने से जो सुरा तैयार होती है, उसे मैरेय कहते हैं अथवा धाय के फूल, गुड़ तथा धान्याम्ल (कांजी) के सन्धान से मैरेय तैयार होता है[11]। वृद्ध शौनक के अनुसार आसव और सुरा को मिलाकर एक पात्र मे सन्धान करने से प्रस्तुत मद्य को मैरेय कहा जाता है[12]। आयुर्वेद-विज्ञान के अनुसार कैथ की जड़, बेर तथा खांड—इनका एकत्र सन्धान करने से मैरेयी नाम की मदिरा तैयार होती है[13]।

५८. आत्म-साक्षी से (ससक्खं ^ग) :

इससे अगले श्लोक मे लुक-छिपकर स्तेन-वृत्ति से मद्य पीने वाले का वर्णन किया है। प्रस्तुत श्लोक में आत्म-साक्षी से मद्य न पीए—

१—(क) जि० चू० पृ० २०२ : माणो वंदणअब्भुट्ठाणपच्चयओ, सम्माणो तेहिं वंदणादीहिं वत्थपत्तादीहिं य, अहवा माणो एगदेसे कीरइ, सम्माणो पुण सव्वप्पगारेहिं इति।

(ख) हा० टी० प० १८७ : तत्र वन्दनाभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानः, वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तः सन्मानः।

२—अ० चू० पृ० १३४ : सल्लं—आउधं देहलग्गं।

३—ठा० ३।३८५।

४—जि० चू० पृ० २०२ : कम्मगरुययाए वा सो लज्जाए वा अणालोएंतो मायासल्लमवि कुव्वति।

५—हा० टी० प० १८८ : यशः शब्देन संयमोऽभिधीयते।

६ भग० ४१.१.६. : ते णं भंते ! जीवा किं आयजसेणं उववज्जंति ··आत्मनः संबन्धि यशो यशोहेतुत्वाद् यशः सयम आत्मयशस्तेन।

७—हा० टी० प० १८८ : 'सुरां वा' पिष्टादिनिष्पन्नां, 'मेरकं वापि' प्रसन्नाख्याम्।

८ पूर्व भा० (सूत्रस्थान) अ० २५. पृ० २०३ : 'परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः'।

६ - अ० पूर्व भा० (सूत्रस्थान) अ० २५. पृ० २०३ : 'शालिषष्टिकपिष्टादिकृतं मद्यं सुरा स्मृता'।

१०—वही अ० २७ श्लोक १८४।

११—वही अ० २५ पृ० २०३ : मैरेयं धातकीपुष्पगुडधान्याम्लसन्धितम्'।

१२—वही अ० २७ पृ० २४० : 'आसवस्य सुरायाश्च, द्वयोरेकत्र भाजने।
संधानं तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम्'॥

१३—वही अ० २५. पृ० २०३ : 'मालूरमूलं बदरी, शर्करा च तथैव हि।
एषामेकत्रसन्धानात्, मैरेयी मदिरा स्मृता॥'

यह बतलाया गया है। अगस्त्य चूर्णि में 'ससक्ख' का अर्थ स्वसाक्ष्य'[1] और वैकल्पिक रूप में 'ससाक्ष्य'[2] - गृहस्थों के सम्मुख किया है। जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ केवल 'ससाक्ष्य' किया है[3]। टीकाकार 'ससक्ख' का अर्थ—परित्याग मे साक्षीभूत केवली के द्वारा प्रतिषिद्ध करते हैं और मद्य-पान का आत्यन्तिक निषेध बतलाते हैं[4]। साथ ही साथ कुछ व्याख्याकार इस सूत्र को ग्लान विषयक अपवाद सूत्र मानते हैं—इस मतान्तर का उल्लेख भी मिलता है[5]।

श्लोक ३८ :

५९. उन्मत्तता (सोंडिया क) :

'सोंडिया' का अर्थ है—सुरापान की आसक्ति या गृद्धि से होने वाली उन्मत्तता[6]।

श्लोक ३९ :

६०. संवर (संवरं ग) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'प्रत्याख्यान'[7], जिनदास महत्तर ने 'संयम'[8] तथा हरिभद्र सूरि ने 'चारित्र[9]' किया है।

श्लोक ४२ :

६१. जो मेधावी (मेहावी क) :

मेधावी दो प्रकार के होते हैं—ग्रन्थ-मेधावी और मर्यादा-मेधावी। जो बहुश्रुत होता है उसे ग्रन्थ-मेधावी कहा जाता है और मर्यादा के अनुसार चलने वाला मर्यादा-मेधावी कहलाता है[10]।

६२. प्रणीत (पणीयं ख) :

दूध, दही, घी आदि स्निग्ध पदार्थ या विकृति को प्रणीत-रस कहा जाता है[11]। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए ८.५६ का टिप्पण।

६३. मद्य-प्रमाद (मज्जप्पमाय ग) :

यहाँ मद्य और प्रमाद भिन्नार्थक शब्द नहीं हैं, किन्तु मद्य प्रमाद का कारण होता है इसलिए मद्य को ही प्रमाद कहा गया है[12]।

१—अ० चू० पृ० १३४ : ससक्खी सुतेण अप्पणा—सचेतणेण इति।

२—अ० चू० पृ० १३४ : अहवा जया गिलाणकज्जे ततो 'ससक्खो ण पिबे' जणसक्खिगमित्यर्थः।

३—जि० चू० पृ० २०२ : जति नाम गिलाणनिमित्तं ताए कज्जं भविज्जा ताहे 'ससक्खं नो पिबेज्जा' ससक्खं नाम सागारिएहिं पच्चुप्पाइयमाणं।

४—हा० टी० प० १८८ : 'ससाक्षिकं' सदापरित्यागसाक्षिकेवलिप्रतिषिद्धं न पिबेद् भिक्षुः, अनेनात्यन्तिक एव तत्प्रतिषेधः, सदासाक्षिभावात्।

५—हा० टी० प० १८८ : अन्ये तु ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्रमल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षते।

६—(क) अ० चू० पृ० १३४ : सुरादिसु संगो 'सोंडिया'।

(ख) जि० चू० पृ० २०३ : सुंडिया नाम जा सुरातिसु गेही सा सुंडिआ भण्णति, ताणि सुरादीणि मोत्तूणं ण अन्नं रोयइ।

(ग) हा० टी० प० १८८ : 'शौण्डिका' तदत्यन्ताभिष्वङ्गरूपा।

७—अ० चू० पृ० १३४ 'संवरं' पच्चक्खाणं।

८—जि० चू० पृ० २०४ : संवरो नाम संजमो।

९—हा० टी० प० १८८ : 'संवरं' चारित्रम्।

१०—जि० चू० पृ० २०३ : मेधावी दुविहो, तं०—गंथमेधावी मेरामेधावी य, तत्थ जो महंतं गंथं अहिज्जति सो गंथमेधावी, मेरामेधावीनाम मेरा मज्जाया भण्णति तीए मेराए धावतित्ति मेरामेधावी।

११—(क) अ० चू० पृ० १३५ : पणीए पधाणे विगतीमादीते।

(ख) जि० चू० पृ० २०३ : पणीतरसं नाम नेहविगतीओ भण्णति :

(ग) हा० टी० प० १८९ : 'प्रणीतं' स्निग्धम्।

१२—ठा० ६।४४ वृ० : 'छव्विहे पमाए पन्नत्ते तं जहा—मज्जपमाए ·····मद्यं—सुरादि तदेव प्रमादकारणत्वात् प्रमादो मद्यप्रमादः।

श्लोक ४३ :

६४. अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित (अणेगसाहुपूइयं [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'अणेगसाहु' को समस्त-पद माना है[1]। जिनदास चूर्णि में 'अणेगं' को 'कल्लाणं' का विशेषण माना है[2]।

६५. विपुल और अर्थ-संयुक्त (विउलं अत्थसंजुत्तं [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'विउल' का मकार अलाक्षणिक है और विपुलार्थ-संयुक्त एक शब्द बन जाता है। विपुलार्थ-संयुक्त अर्थात् मोक्ष-पुरुषार्थ से युक्त[3]। जिनदास चूर्णि में भी ऐसा किया है, किन्तु 'अत्थसजुत्त' की स्वतन्त्र व्याख्या भी की है[4]। टीका में 'विउलं' और 'अत्थसजुत्तं' की पृथक् व्याख्या की है[5]।

६६. स्वयं देखो (पस्सह [क]) :

देखना चक्षु का व्यापार है। इसका प्रयोग पूर्ण अवधारण के लिए भी होता है, जैसे—मन से देख रहा है। यहाँ सर्वगत अवधारण के लिए 'पश्यत' का प्रयोग हुआ है- -उस तपस्वी के कल्याण को देखो अर्थात् उसका निश्चित ज्ञान करो[6]।

श्लोक ४४ :

६७. अगुणों को (अगुणाणं [ख]) :

जिनदास चूर्णि मे जो नागार्जुनीय परम्परा के पाठ का उल्लेख है उसके अनुसार इसका अर्थ होता है—अगुण-रूपी ऋण न करने वाला[7]। अगस्त्यसिंह ने इस अर्थ को विकल्प में माना है[8]।

श्लोक ४६ :

६८. तप का चोर ·····भाव का चोर (तवतेणे [क] · ······भावतेणे [ग]) :

तपस्वी जैसे पतले दुबले शरीरवाले को देख किसी ने पूछा--"वह तपस्वी तुम्हीं हो ?" पूजा-सत्कार के निमित्त "हाँ, मैं ही हूँ"—ऐसा कहना अथवा "साधु तपस्वी ही होते हैं", ऐसा कह उसके प्रश्न को घोटाले में डालने वाला तप का चोर कहलाता है। इसी प्रकार धर्मकथी, उच्चजातीय, विशिष्ट आचार-सम्पन्न न होते हुए भी मायाचार से अपने को वैसा बतलाने वाला क्रमशः वाणी का चोर, रूप का चोर और आचार का चोर होता है।

१—(क) अ० चू० पृ० १३५ : अणगेहिं 'साधूहिं पूतियं' पसंसियं इह-परलोगहितं।
   (ख) हा० टी० प० १८९ : अनेकसाधुपूजितं, पूजितमिति—सेवितमाचरितम्।

२—जि० चू० पृ० २०४ : अणेगं नाम इहलोइयपरलोइय, जं च।

३ अ० चू० पृ० १३५ : 'विपुलअट्ठसंजुत्तं विपुलेण' विस्थिण्णेण 'अत्थेण संजुत्त'' अवक्षयेण मोक्खाणत्थेण।

४—जि० चू० पृ० २०४ : 'विउलं अत्थसंजुत्त'' नाम विपुलं विसालं भण्णति, सो य मोक्खो, तेण विउलेण अत्थेण संजुत्तं विउलत्थ-संजुत्त, अत्थसंजुत्तं णाम सभावसंजुत्तं, ण पुण णिरत्थियति।

५—हा० टी० प० १८९ : 'विपुलं विस्तीर्णं विपुलमोक्षावहत्वात् 'अर्थसंयुक्तं' तुच्छताविपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधकत्वात्।

६—अ० चू० पृ० १३५ : पस्सणं णयणगतो वावारो सव्वगतावधारणे वि पयुज्जति, मनसा पस्सति। तस्य पस्सतेति।

७—जि० चू० पृ० २०४ : तहा नागज्जुणिया तु एवं पढंति—'एवं तु अगुणप्पेही अगुणाणं विवज्जए' अगुणा एव अणं अगुणाणं, अणंति वा रिणंति वा एगट्ठा, तं च अगुणरिणं अकुव्वंतो।

८—अ० चू० पृ० १३६ : अथवा अगुणी एवं रिणं तं विवज्जेति।

जो किसी सूत्र और अर्थ को नहीं जानता तथा अभिमानवश किसी को पूछता भी नहीं, किन्तु व्याख्यान या वाचना देते समय आचार्य तथा उपाध्याय से सुनकर ग्रहण करता है और 'यह तो मुझे ज्ञात ही था'—इस प्रकार का भाव दिखाता है वह भाव-चोर होता है[1]।

६९. किल्बिषिक देव-योग्य-कर्म (देवकिब्बिसं [घ]) :

देवो मे जो किल्विष (अधम जाति का) होता है, उसे देवकिल्विष कहा जाता है। देवकिल्बिष में उत्पन्न होने योग्य कर्म या भाव देवकिल्बिष कहलाता है।

"देवकिब्बिस" का सस्कृत रूप देव-किल्विष हो सकता है जैसा कि दीपिकाकार ने किया है। किन्तु वह देव-जाति का वाचक होता है इसलिए "कुव्वइ" क्रिया के साथ उसका सबध नही जुडता। इसलिए उसका सस्कृत रूप "दैव-किल्बिष" होना चाहिए। वह कर्म और भाव का वाचक है और उसके साथ क्रिया की सगति ठीक बैठती है। किल्बिष देवताओ की जानकारी के लिए देखिए भगवती (९.३३) एव स्थानाङ्ग (३.४६६)।

स्थानाङ्ग में चार प्रकार का अपध्वंस बतलाया है—असुर, अभियोग, सम्मोह और दैवकिल्बिष[2]। वृत्तिकार ने अपध्वंस का अर्थ चरित्र और उसके फल का विनाश किया है। वह आसुरी आदि भावनाओं से होता है[3]। उत्तराध्ययन में चार भावनाओ का उल्लेख है। उनमे तीसरी भावना किल्विषिकी है। इस भावना के द्वारा जो चरित्र का विनाश होता है उसे दैवकिल्बिष-अपध्वंस कहा जाता है। स्थानाङ्ग (४ ५७०) के अनुसार अरिहन्त-प्रज्ञप्त-धर्म, आचार्य-उपाध्याय और चार तीर्थ का अवर्ण बोलने वाला व्यक्ति देवकिल्बिषकत्व कर्म का बध करता है। उत्तराध्ययन के अनुसार ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, सघ और साधुओं का अवर्ण बोलने वाला तथा माया करने वाला किल्बिषिकी भावना करता है[4]।

प्रस्तुत श्लोक मे किल्बिषिक-कर्म का हेतु माया है। देवो मे किल्विष पाप या अधम होता है उसे देवकिल्विष कहा जाता है। माया करने वाला दैवकिल्बिष करता है अर्थात्—देवकिल्बिष मे उत्पन्न होने योग्य कर्म करता है।

श्लोक ४७ :

७०. (किच्चा [घ]) :

'कृत्वा' और 'कृत्यात्' इन दोनो का प्राकृत रूप 'किच्चा' बनता है।

श्लोक ४८ :

७१. एडमूकता (गूंगापन) (एलमूययं [ख]) :

एडमूकता — मेमने की तरह मैं-मैं करनेवाला एडमूक कहलाता है[5]। एडमूक को प्रव्रज्या के अयोग्य बतलाया है[6]।

१—जि० चू० पृ० २०४ : तत्थ तवतेणो णाम जहा कोइ खमगसरिसो केणावि पुच्छिओ --तुमं सो खमओत्ति ?, तत्थ सो पूयासक्कार-निमित्तं भणति ओमिति, अहवा भणइ---साहूणो चेव तव करेंति, तुसिणो संचिक्खइ, एस तवतेणे, वयतेणे णाम जहा कोइ धम्मकहि-सरिसो वाईसरिसो अण्णेण पुच्छिओ जहा तुमे सो धम्मकहि वावी वा ?, पूयासक्कारणिमित्तं भण्णइ —आम, तोण्हिक्को वा अच्छइ, अहवा भणइ—साधुणो चेव धम्मकहिणो वाविणो य भवति, एस वयतेणे, रूवतेणे णाम रूवस्सी कोइ रायपुत्तावी पव्वइओ, तस्स सरिसो केणइ पुच्छिओ, जहा तुमं सो अमुगोसि ? ताहे भण्णति—आमंति, तुसिणीओ वा अच्छइ, रायपुत्तावयो एरिसा वा, एस रूवतेणे, आयारभावतेणे णाम जहा महुराए कोउहलति जहा आवस्सयचुण्णीए स आयारतेणो, भावतेणो णाम जो अणब्भुवगतं किंचि सुत्तं अत्थं वा आयावलेवेण न पुच्छइ, वक्खाणंतं वाएंतस्स वा सोऊण गेण्हइ।

२—ठा० ४।५६६ : चउविहे अवद्धंसे पन्नते तंजहा—आसुरे आभिओगे संमोहे देवकिब्बिसे।

३—ठा० ४।५६६ वृ० : अपध्वंसनमपध्वंसः—चारित्रस्य तत् फलस्य वा असुरादिभावनाजनितो विनाशः।

४—उत्त० ३६.२६४ : नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥

५—हा० टी० प० १९० : 'एलमूकताम्' अजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे।

६—आव० हा० वृ० पृ० ६२८।

तुलना—अन्नयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवति, ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए, तामयत्ताए, जाइमूयत्ताए पच्चायति—एलवन्मूका एलमूकास्तद् भावेनोत्पद्यन्ते ।...यथैलको मूकोऽव्यक्तवाक् भवति, एवमसावप्यव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति (सूत्र० २.२ वृत्ति)

श्लोक ५० :

७२. उत्कृष्ट संयम (तिव्वलज्ज ^घ) :

यहाँ लज्जा का अर्थ संयम है[१]।

१—(क) अ० चू० पृ० १३७ : 'तिव्वलज्ज' तिव्वं अत्यर्थं: लज्जा संजम एव जस्स स भवति तिव्वलज्जो ।

(ख) जि० चू० पृ० २०५ : लज्जा-संजमो —तिव्वसंजमो, तिव्वसद्दो पकरिसे वट्टइ, उक्किट्ठो संजमो जस्स सो तिव्वलज्जो भण्णइ ।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'तीव्रलज्जः' उत्कृष्टसंयमः सन् ।

छट्ठं अज्झयणं

महायारकहा

षष्ठ अध्ययन

महाचार कथा

आमुख

'क्षुल्लक-आचारकथा' (तीसरे अध्ययन) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचारकथा का विस्तार से निरूपण हुआ है इसलिये इसका नाम 'महाचार-कथा' रखा गया है।

> "जो पुव्विं उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो ।
> सच्चेव य होई कहा, आयारकहाए महईए ॥" (नि० २४५)

तीसरे अध्ययन मे केवल अनाचार का नाम-निर्देश किया गया है और इस अध्ययन मे अनाचार के विविध पहलुओं को छुआ गया है। औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र, अभ्याहृत, रात्रि-भक्त और स्नान—ये अनाचार है (३ २)—यह 'क्षुल्लक-आचारकथा' की निरूपण-पद्धति है। 'जो निर्ग्रन्थ नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन आदि का सेवन करते हैं वे जीव-वध का अनुमोदन करते है—यह महर्षि महावीर ने कहा है, इसलिए धर्मजीवी-निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन-पानी का वर्जन करते है (६ ४८-४९)—यह 'महाचार-कथा' की निरूपण-पद्धति है। यह अन्तर हमे लगभग सर्वत्र मिलेगा और यह सकारण भी है। 'क्षुल्लक-आचारकथा' की रचना निर्ग्रन्थ के अनाचारों का सकलन करने के लिये हुई है (३.१) और महाचार कथा की रचना जिज्ञासा का समाधान करने के लिए हुई है (६.१-४)।

'क्षुल्लक-आचार-कथा' मे अनाचारों का सामान्य निरूपण है। वहाँ उत्सर्ग और अपवाद की चर्चा नहीं है। 'महाचार-कथा' में उत्सर्ग और अपवाद की भी यत्र-तत्र चर्चा हुई है।

एक ओर अठारह स्थान बाल, वृद्ध और रोगी सब प्रकार के मुनियों के लिये अनाचरणीय बतलाए है (६ ६-७, नि० ६ २६७) तो दूसरी ओर निषद्या (जो अठारह स्थानों मे सोलहवाँ स्थान है) के लिये अपवाद भी बतलाया गया है—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर मे बैठ सकता है (६.५९)। रोगी निर्ग्रन्थ भी स्नान न करे (६.६०)। यहाँ छट्ठे श्लोक के निषेध को फिर दोहराया है। इस प्रकार इस अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद के अनेक संकेत मिलते हैं।

अठारह स्थान—

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, अकल्प, गृहि-भाजन, पर्यंक, निषद्या, स्नान और शोभा-वर्जन—ये अठारह अनाचार स्थान हैं—

> "वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
> पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥ (नि० २६८)

तुलना—

'क्षुल्लक-आचारकथा' में जो अनाचार बतलाए हैं उनकी 'महाचार-कथा' से तुलना यों हो सकती है—

अनाचार	वर्णित स्थल (अ० ३ का श्लोक)	तुलनीय स्थल (अ० ६ का श्लोक)
औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र और अभ्याहृत	२	४४-४६
रात्रि-भोजन	२	२२-२५
स्नान	२	६०-६३
सन्निधि	३	१७-१८
गृहिपात्र	३	५०-५२
अग्नि समारम्भ	४	३२-३५

अनाचार	वर्णित स्थल (अ० ३ का श्लोक)	तुलनीय स्थल (अ० ६ का श्लोक)
आसन्दी, पर्यङ्क	५	५३-५५
गृहान्तर निषद्या	५	५६-५९
गात्र उद्वर्तन	५	६३
तप्तानिर्वृत भोजित्व	६	२९-३१
मूल, शृङ्गबेर, इक्षु-खण्ड, कन्द, मूल, फल और बीज सौवर्चल, सैन्धव, रुमालवण; सामुद्र, पांशुक्षार और	७	४०-४२
काला-लवण	८	२६-२८
धूम-नेत्र या धूपन	९	३२-३५ या ६४-६६
वमन, वस्तीकर्म, विरेचन, अजन, दतौन और गात्र-अभ्यङ्ग	९	२१
विभूषा	९	६४-६६

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि 'क्षुल्लक-आचार' का इस अध्ययन मे सहेतुक निरूपण हुआ है।

इस अध्ययन का दूसरा नाम "धर्मार्थकाम" माना जाता रहा है। इसका कोई पुष्ट आधार नहीं मिलता किन्तु सम्भव है कि इसी अध्ययन के चतुर्थ श्लोक में प्रयुक्त 'धम्मत्थकाम' शब्द के आधार पर वह प्रयुक्त होने लगा हो। 'धर्मार्थकाम' निर्ग्रन्थ का विशेषण है। धर्म का अर्थ है मोक्ष। उसकी कामना करने वाला 'धर्मार्थकाम' होता है।

"धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिव अणाबाहं।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकामत्ति ॥" (नि० २६५)

निर्ग्रन्थ धर्मार्थकाम होता है। इसीलिए उसका आचार-गोचर (क्रिया-कलाप) कठोर होता है। प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य यही है। इसलिए सभव है कि प्रस्तुत अध्ययन का नाम "धर्मार्थकाम" हुआ हो।

प्रस्तुत अध्ययन मे अहिंसा, परिग्रह आदि की परिष्कृत परिभाषाएँ मिलती हैं—

(१) अहिंसा--'अहिंसा सव्वभूएसु संजमो' (६-८)।

(२) परिग्रह—'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' (६ २०)।

यह अध्ययन प्रत्याख्यान प्रवाद नामक नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है (नि० ११७)।

छट्ठं अज्झयणं : षष्ठ अध्ययन

महायारकहा : महाचारकथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं । गणिमागमसंपन्नं उज्जाणम्मि समोसढं ॥	ज्ञानदर्शनसंपन्नं, संयमे च तपसि रतम् । गणिमागमसंपन्नम्, उद्याने समवसृतम् ॥१॥	१-२—ज्ञान[1]-दर्शन[2] से सम्पन्न, सयम और तप में रत, आगम-सम्पदा[3] से युक्त गणी को उद्यान में[4] समवसृत देख राजा और उनके अमात्य[5], ब्राह्मण और क्षत्रिय[6] उन्हें नम्रतापूर्वक पूछते हैं—आपके आचार का विषय[7] कैसा है ?
२—रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया । पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं भे आयारगोयरो ? ॥	राजानो राजामात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः । पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं भवतामाचारगोचरः? ॥२॥	
३—तेसिं सो निहुओ दंतो सव्वभूयसुहावहो । सिक्खाए सुसमाउत्तो आइक्खइ वियक्खणो ॥	तेभ्यः स निभृतो दान्तः, सर्वभूतसुखावहः । शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥३॥	३—ऐसा पूछे जाने पर वे स्थितात्मा, दान्त, सब प्राणियों के लिए सुखावह, शिक्षा में[8] समायुक्त और विचक्षण गणी उन्हें बताते हैं—
४—हंदि[9] धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे । आयारगोयरं भीमं सयलं दुरहिट्ठियं ॥	हंदि धर्मार्थकामानां, निर्ग्रन्थानां शृणुत मम । आचारगोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ॥४॥	४—मोक्ष चाहने वाले[10] निर्ग्रन्थों के भीम, दुर्धर और पूर्ण आचार का विषय मुझसे सुनो ।
५—नन्नत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं । विउलट्ठाणभाइस्स न भूयं न भविस्सई ॥	नान्यत्र ईदृशमुक्तं, यल्लोके परम-दुश्चरम् । विपुलस्थानभागिनः, न भूतं न भविष्यति ॥५॥	५—लोक में इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं कहा गया है । मोक्ष-स्थान की आराधना करने वाले के लिए ऐसा आचार अतीत में न कहीं था और न कहीं भविष्य में होगा ।
६—सखुड्डगवियत्ताणं वाहियाणं च जे गुणा । अखंडफुडिया कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥	सक्षुल्लक-व्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः । अखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः, तान् शृणुत यथा तथा ॥६॥	६—बाल, वृद्ध[11] अस्वस्थ या स्वस्थ—सभी मुमुक्षुओं को जिन गुणों की आराधना अखण्ड और अस्फुटित[12] रूप से करनी चाहिए, उन्हें यथार्थ रूप से सुनो ।

७—दस अट्ठ य ठाणाइं जाइं बालोऽवरज्झई । तत्थ अन्नयरे ठाणे निग्गंथत्ताओ भस्सई ॥	दशाष्टौ च स्थानानि, यानि बालोऽपराध्यति । तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने, निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति ॥७॥	७—आचार के अठारह स्थान हैं[13]। जो अज्ञ उनमे से किसी एक भी स्थान की विराधना करता है, वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट होता है।
[वयछक्कं[14] कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं । पलियंक निसेज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं ॥]	[व्रतषट्कं कायषट्कं, अकल्पो गृहि-भाजनम् । पर्यङ्को निषद्या च, स्नानं शोभा-वर्जनम् ॥]	[अठारह स्थान हैं—छह व्रत और छह काय तथा अकल्प, गृहस्थ-पात्र, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभा का वर्जन।]
८—तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं । अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो ॥	तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम् । अहिंसा निपुणं दृष्टा, सर्वभूतेषु संयमः ॥८॥	८—महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहला स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्मरूप से[15] देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।
९—जावंति लोए पाणा तसा अदुव थावरा । ते जाणमजाणं वा न हणे णो वि घायए ॥	यावन्तो लोके प्राणाः, त्रसाः अथवा स्थावराः । तान् जानन्नजानन् वा, न हन्यात् नो अपि घातयेत् ॥९॥	९—लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी है, निर्ग्रन्थ जान या अजान मे[16] उनका हनन न करे और न कराए।
१०—सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं । तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥	सर्वे जीवा अपीच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम् । तस्मात्प्राणवधं घोरं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति 'णं' ॥१०॥	१०—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नही। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।
११—अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया । हिंसगं न मुसं बूया नो वि अन्नं वयावए ॥	आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदि वा भयात् । हिंसकं न मृषा ब्रूयात्, नो अप्यन्यं वादयेत् ॥११॥	११—निर्ग्रन्थ अपने या दूसरों के लिए, क्रोध से[17] या भय से पीडाकारक सत्य और असत्य न बोले[18], न दूसरो से बुलवाए।
१२—मुसावाओ य लोगम्मि सव्वसाहूहिं गरहिओ । अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए ॥	मृषावादश्च लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हितः । अविश्वास्यश्च भूतानां, तस्मान्मृषा विवर्जयेत् ॥१२॥	१२—इस समूचे लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है[19] और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अतः निर्ग्रन्थ असत्य न बोले।

१३—चित्तमंतमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि
ओग्गहंसि अजाइया ॥

चित्तवदचित्तं वा,
अल्पं वा यदि वा बहु।
दन्तशोधनमात्रमपि,
अवग्रहे अयाचित्वा ॥१३॥

१४—तं अप्पणा न गेण्हंति
नो वि गेण्हावए परं।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि
नाणुजाणंति संजया ॥

तदात्मना न गृह्णन्ति,
नाऽपि ग्राहयन्ति परम्।
अन्य वा गृह्णन्तमपि,
नानुजानन्ति संयताः ॥१४॥

१३-१४—संयमी मुनि सजीव या निर्जीव[20], अल्प या बहुत[21], दन्तशोधन[22] मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नहीं कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता।

१५—अबंभचरियं घोरं
पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरंति मुणी लोए
भेयाययणवज्जिणो ॥

अब्रह्मचर्यं घोरं,
प्रमादं दुरधिष्ठितम्।
नाचरन्ति मुनयो लोके,
भेदायतन-वर्जिनः ॥१५॥

१५—अब्रह्मचर्य लोक में घोर[23] प्रमाद-जनक[24] और दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है।[25] चरित्र-भंग के स्थान से बचने वाले[26] मुनि उसका आसेवन नहीं करते।

१६—मूलमेयमहम्मस्स
महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

मूलमेतद् अधर्मस्य,
महादोषसमुच्छ्रयम्।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति 'णं' ॥१६॥

१६—यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल[27] और महान् दोषों की राशि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के संसर्ग का वर्जन करते हैं।

१७—बिडमुब्भेइमं लोणं
तेल्लं सप्पिं च फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति
नायपुत्तवओरया ॥

बिडमुद्भेद्यं लवणं,
तैलं सर्पिश्च फाणितम्।
न ते सन्निधिमिच्छन्ति,
ज्ञातपुत्र-वचोरताः ॥१७॥

१७—जो महावीर के वचन में रत हैं, वे मुनि बिडलवण[28], सामुद्र-लवण[29], तैल, घी और द्रव-गुड[30] का संग्रह[31] करने की इच्छा नहीं करते।

१८—[32]लोभस्सेसो अणुफासो
मन्ने अन्नयरामवि[33]।
जे सिया[34] सन्निहीकामे[35]
गिही पव्वइए न से ॥

लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः,
मन्येऽन्यतरदपि।
यः स्यात्सन्निधि-कामः,
गृही प्रव्रजितो न सः ॥१८॥

१८—जो कुछ भी संग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव[33] है—ऐसा मैं मानता हूँ[34]। जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है।

१९—जं पि वत्थं व पायं वा
कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा
धारंति परिहरंति य ॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा,
कम्बलं पादप्रोञ्छनम्।
तदपि संयमलज्जार्थं,
धारयन्ति परिदधते च ॥१९॥

१९—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए[38] ही रखते और उनका उपयोग करते हैं[39]।

२०—न सो परिग्गहो वुत्तो
नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

न स परिग्रह उक्तः,
ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा (तायिना) ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः,
इत्युक्तं महर्षिणा ॥२०॥

२०—सब जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने[४०] वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है[४१]। मूर्च्छा परिग्रह है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने[४२] कहा है।

२१—[४३]सव्वत्थुवहिणा बुद्धा
संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि
नायरंति ममाइयं ॥

सर्वत्रोपधिना बुद्धाः,
संरक्षणाय परिगृह्णन्ति ।
अप्यात्मनोऽपि देहे,
नाचरन्ति ममायितम् ॥२१॥

२१—सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थङ्कर उपधि (एक दूष्य—वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येक बुद्ध, जिनकल्पिक आदि भी संयम की रक्षा के निमित्त उपधि (रजोहरण, मुख-वस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

२२—अहो निच्चं तवोकम्मं
सव्वबुद्धेहिं वण्णियं ।
जा य[४४] लज्जासमा वित्ती
एगभत्तं च भोयणं ॥

अहो नित्यं तपः कर्म,
सर्वबुद्धैर्वर्णितम् ।
या च लज्जासमा वृत्तिः,
एक-भक्तं च भोजनम् ॥२२॥

२२—अहो ! सभी तीर्थङ्करों ने श्रमणों के लिए संयम के अनुकूल वृत्ति[४५] और देह-पालन के लिए एक बार भोजन[४६] (या राग-द्वेष-रहित होकर भोजन करना)—इस नित्य तपः कर्म[४७] का उपदेश दिया है।

२३—संतिमे सुहुमा पाणा
तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो
कहमेसणियं चरे ? ॥

सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणाः,
त्रसा अथवा स्थावराः ।
यान्रात्रौ अपश्यन्,
कथमेषणीयं चरेत् ? ॥२३॥

२३—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म-प्राणी हैं, उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ एषणा कैसे कर सकता है।

२४—उदउल्लं बीयसंसत्तं
पाणा निवडिया महिं[४८] ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा
राओ तत्थ कहं चरे ? ॥

उदकार्द्रं बीजसंसक्तं,
प्राणाः निपतिता मह्याम् ।
दिवा तान् विवर्जयेत्,
रात्रौ तत्र कथं चरेत् ? ॥२४॥

२४—उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन[४९] तथा जीवाकुल मार्ग—उन्हें दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना शक्य नहीं—इसलिए निर्ग्रन्थ रात को भिक्षाचर्या कैसे कर सकता है ?

२५—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति
निग्गंथा राइभोयणं ॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुञ्जते,
निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥२५॥

२५—ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—"जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि भोजन नहीं करते, चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।"

२६—पुढविकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

पृथ्वीकायं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥२६॥

२६—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एवं अनुमति—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।

२७—पुढविकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

पृथ्वीकायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥२७॥

२७—पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

२८—तम्हा एयं[50] वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
पुढविकायसमारंभं[51]
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
पृथ्वीकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥२८॥

२८—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

२९—आउकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

अप्-कायं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥२९॥

२९—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नहीं करते ।

३०—आउकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

अप्-कायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥३०॥

३०—अप्काय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

३१ तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
अप्-काय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३१॥

३१—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का वर्जन करे ।

३२—जायतेयं न इच्छंति
पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं
सव्वओ वि दुरासयं ॥

जात-तेजसं नेच्छन्ति,
पावकं ज्वालयितुम् ।
तीक्ष्णमन्यतरच्छस्त्रं,
सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥३२॥

३२—मुनि जाततेज[52] अग्नि[53] जलाने की इच्छा नहीं करते । क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र[54] और सब ओर से दुराश्रय है[55] ।

३३—पाईणं पडिणं वा वि
उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वा वि
दहे उत्तरओ वि य ॥

प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि,
ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि ।
अधो दक्षिणतो वापि,
दहेदुत्तरतोऽपि च ॥३३॥

३३—वह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशा और विदिशाओं में[56] दहन करती है ।

३४—भूयाणमेसमाघाओ
हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा
संजया किंचि नारभे ॥

भूतानामेष आघातः,
हव्यवाहो न संशयः ।
तं प्रदीपप्रतापार्थं,
संयताः किञ्चिन्नारभन्ते ॥३४॥

३४—निःसन्देह यह हव्यवाह (अग्नि[४७]) जीवों के लिए आघात है[४८]। संयमी प्रकाश और ताप के लिए[४९] इसका कुछ भी आरम्भ न करे।

३५—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
तेजः-काय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३५॥

३५—(अग्नि जीवों के लिए आघात है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

३६—अनिलस्स समारंभं
बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं[११] चेयं[१२]
नेयं ताईहिं सेवियं ॥

अनिलस्य समारम्भं,
बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्य-बहुलं चैतं,
नैन त्रायिभिः सेवितम् ॥३६॥

३६—तीर्थङ्कर वायु के समारम्भ को अग्नि-समारम्भ के तुल्य[१०] ही मानते हैं। यह प्रचुर पाप-युक्त है। यह छहकाय के त्राता मुनियों के द्वारा आसेवित नहीं है।

३७—तालियंटेण पत्तेण
साहाविहुयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छन्ति
वीयावेऊण वा परं ॥

तालवृन्तेन पत्रेण,
शाखा-विधुवनेन वा ।
न ते वीजितुमिच्छन्ति,
वीजयितुं वा परेण ॥३७॥

३७—इसलिए वे वीजन, पत्र, शाखा और पंखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा कराना नहीं चाहते।

३८—जंपि वत्थं व पायं वा
कंबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति
जयं परिहरंति य ॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा,
कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
न ते वातमुदीरयन्ति,
यतं परिदधते च ॥३८॥

३८—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा[१३] नहीं करते, किन्तु यतना-पूर्वक उनका परिभोग करते हैं।

३९—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वाउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
वायुकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३९॥

३९—(वायु-समारम्भ सावद्य-बहुल है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४०—वणस्सइं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

वनस्पतिं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करण-योगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥४०॥

४०—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से वनस्पति की हिंसा नहीं करते।

४१—वणस्सइं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

वनस्पतिं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥४१॥

४१—वनस्पति की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

४२—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वणस्सइसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
वनस्पति-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४२॥

४२—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे ।

४३—तसकायं न हिंसति
मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

त्रसकायं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करण-योगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥४३॥

४३—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते ।

४४—तसकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

त्रसकायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥४४॥

४४—त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

४५—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तसकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम् ।
त्रसकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४५॥

४५—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे ।

४६—"जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं
इसिणा[16]—हारमाइणि[17] ।
ताइं तु विवज्जंतो
संजमं अणुपालए ॥

यानि चत्वारि अभोज्यानि,
ऋषिणा आहारादीनि ।
तानि तु विवर्जयन्,
संयममनुपालयेत् ॥४६॥

४६—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय[18] हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि संयम का पालन करे ।

४७—पिंडं सेज्जं च वत्थं च
चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च,
चतुर्थं पात्रमेव च ।
अकल्पिकं नेच्छेत्,
प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥४७॥

४७—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे[19] किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे ।

४८—जे नियागं ममायंति
कोयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

ये नित्याग्रं ममायन्ति,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वध ते समनुजानन्ति,
इत्युक्तं महर्षिणा ॥४८॥

४८—जो नित्याग्र (आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला) क्रीत (निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया) औद्देशिक (निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया) और आहृत (निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया) आहार ग्रहण करते हैं वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

४९—तम्हा असणपाणाइं
कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो
निग्गंथा धम्मजीविणो ॥

तस्मादशनपानादि,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वर्जयन्ति स्थितात्मानः,
निर्ग्रन्था धर्मजीविनः ॥४९॥

४९—इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं।

५०—कंसेसु कंसपाएसु
कुंडमोएसु वा पुणो[७१] ।
भुंजंतो असणपाणाइं
आयारा परिभस्सइ ॥

कांस्येषु कांस्य-पात्रेषु,
'कुण्डमोदेषु' वा पुनः ।
भुञ्जान अशनपानादि,
आचारात् परिभ्रश्यति ॥५०॥

५०—जो गृहस्थ के कांसे के प्याले[६९], कासे के पात्र और कुण्डमोद[७०] (कांसे के बने कुण्डे के आकार वाले बर्तन) मे अशन, पान आदि खाता है वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है।

५१—सीओदगसमारंभे
मत्तधोयणछड्डणे ।
जाइं छन्नंति[७३] भूयाइं
दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥

शीतोदक-समारम्भे,
अमत्र-धावनच्छर्दने ।
यानि क्षण्यन्ते भूतानि,
दृष्टस्तत्रासंयमः ॥५१॥

५१—बर्तनो को सचित्त जल[७२] से धोने में और बर्तनो के धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थङ्करो ने वहाँ असंयम देखा है[७४]।

५२—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं
सिया तत्थ न कप्पई ।
एयमट्ठं[७५] न भुंजंति
निग्गंथा गिहिभायणे ॥

पश्चात्कर्म पुरःकर्म,
स्यात्तत्र न कल्पते ।
एतदर्थं न भुञ्जते,
निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥५२॥

५२—गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने मे 'पश्चात् कर्म' और 'पुरःकर्म' की सभावना[७५] है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नहीं है। एतदर्थं वे गृहस्थ के बर्तन में भोजन नही करते।

५३—आसंदीपलियंकेसु
मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं
आसइत्तु सइत्तु वा ॥

आसन्दी-पर्यङ्कयोः,
मञ्चाशालकयोर्वा ।
अनाचरितमार्याणां,
आसितुं शयितुं वा ॥५३॥

५३—आर्यों के लिए आसन्दी, पलंग, मञ्च और आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन[७७]) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण है।

५४—[७८]नासंदीपलियंकेसु
न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथाऽपडिलेहाए
बुद्धवुत्तमहिट्ठगा[८१] ॥

नासन्दी-पर्यङ्कयोः,
न निषद्यायां न पीठके ।
निर्ग्रन्थाः अप्रतिलेख्य,
बुद्धोक्ताधिष्ठातारः ॥५४॥

५४—तीर्थङ्करों के द्वारा प्रतिपादित विधियो का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसन्दी, पलंग, आसन[७९] और पीढे का[८०] (विशेष स्थिति में उपयोग करना पड़े तो) प्रतिलेखन किए बिना उन पर न बैठे और न सोए।

५५—गंभीरविजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदीपलियंका य
एयमट्ठं विवज्जिया ॥

गम्भीरं विच (ज) या एते,
प्राणा दुष्प्रतिलेख्यकाः ।
आसन्दी-पर्यङ्कश्च
एतदर्थं विवर्जितौ ॥५५॥

५५—आसन्दी आदि गम्भीर-छिद्र वाले[82] होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी, पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया है।

५६—गोयरग्गपविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायारं
आवज्जइ अबोहियं ॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
एतादृशमनाचार,
आपद्यते अबोधिकम् ॥५६॥

५६—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को[83] प्राप्त होता है।

५७—[84]विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाणं अवहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं ॥

विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
प्राणानामवधे वधः ।
वनीपक-प्रतिघातः,
प्रतिक्रोधोऽगारिणाम् ॥५७॥

५७—गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य—आचार का विनाश, प्राणियो का अवधकाल में वध, भिक्षाचरों के अन्तराय और घर वालो को क्रोध उत्पन्न होता है—

५८ अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥

अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
स्त्रीतश्चापि शङ्कनम् ।
कुशीलवर्धनं स्थान,
दूरतः परिवर्जयेत् ॥५८॥

५८—ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[85] और स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है[86]। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

५९ [87]तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो ॥

त्रयाणामन्यतरकस्य,
निषद्या यस्य कल्पते ।
जरयाऽभिभूतस्य,
व्याधितस्य तपस्विनः ॥५९॥

५९—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।

६०—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए ।
वोक्कंतो होइ आयारो
जढो हवइ संजमो ॥

व्याधितो वा अरोगी वा,
स्नानं यस्तु प्रार्थयते ।
व्युत्क्रान्तो भवति आचारः,
त्यक्तो भवति संयमः ॥६०॥

६०—जो रोगी या नीरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार[88] का उल्लंघन होता है, उसका संयम परित्यक्त[89] होता है।

६१—[90]संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य ।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए ॥

सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणाः,
घसासु 'भिलुगासु' च ।
यांस्तु भिक्षुः स्नान,
विकटेन उत्प्लावयति ॥६१॥

६१—यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि[91] और दरार-युक्त भूमि में[92] सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से[93] स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित करता है।

६२—[९५]तम्हा ते न सिणायंति
सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं
असिणाणमहिट्ठगा[९६] ॥

तस्मात्ते न स्नान्ति,
शीतेन उष्णेन वा ।
यावज्जीव व्रतं घोरं,
अस्नानाधिष्ठातारः ॥६२॥

६२—इसलिए मुनि शीत या उष्ण जल से[९५] स्नान नहीं करते । वे जीवनपर्यन्त घोर अस्नान-व्रत का पालन करते हैं ।

६३—सिणाणं अदुवा कक्कं
लोद्धं पउमगाणि य ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए
नायरंति कयाइ वि ॥

स्नानमथवा कल्कं,
लोध्रं पद्मकानि च ।
गात्रस्योद्वर्तनार्थं,
नाचरन्ति कदाचिदपि ॥६३॥

६३—मुनि शरीर का उबटन करने के लिए गन्ध-चूर्ण[९७], कल्क[९८], लोध्र[९९], पद्म-केसर[१००] आदि का प्रयोग नहीं करते ।

६४—नगिणस्स वा वि मुंडस्स
दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स
किं विभूसाए कारियं ॥

नग्नस्य वापि मुण्डस्य,
दीर्घरोमनखवत ।
मैथुनाद् उपशान्तस्य,
किं विभूषया कार्यम् ॥६४॥

६४—नग्न[१०१], मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले[१०२] तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है ?

६५—विभूसावत्तियं भिक्खू
कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे
जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥

विभूषाप्रत्ययं भिक्षुः,
कर्म बध्नाति चिक्कणम् ।
संसार-सागरे घोरे,
येन पतति दुरुत्तरे ॥६५॥

६५—विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है । उससे वह दुस्तर संसार-सागर में गिरता है ।

६६—विभूसावत्तियं चेयं
बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं ॥

विभूषाप्रत्ययं चेतः,
बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्य-बहुलं चैतत्,
नैतत् त्रायिभिः सेवितम् ॥६६॥

६६—विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थङ्कर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं । यह प्रचुर पापयुक्त है । यह छहकाय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है ।

६७—खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो
तवे रया संजम अज्जवे गुणे ।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं
नवाइ पावाइं न ते करेंति ॥

क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः,
तपसि रताः संयमार्जवे गुणे ।
धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि,
नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति ॥६७॥

६७—अमोहदर्शी[१०३], तप, संयम और ऋजुतारूप गुण में रत मुनि शरीर को[१०४] कृश कर देते हैं । वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नए पाप नहीं करते ।

६८—सओवसंता अममा अकिंचणा
सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो ।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा
सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो ॥
—त्ति बेमि ॥

सदोपशान्ता अममा अकिञ्चनाः,
स्वविद्याविद्यानुगतायशस्विनः ।
ऋतु-प्रसन्ने विमल इव चन्द्रमाः,
सिद्धिं विमानानि उपयन्ति त्रायिणः ।
इति ब्रवीमि ॥

६८—सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिञ्चन, आत्म-विद्यायुक्त[१०५]यशस्वी और त्राता मुनि शरद् ऋतु के[१०६] चन्द्रमा[१०७] की तरह मल-रहित होकर सिद्धि या सौधर्मावतंसक आदि विमानों को[१०८] प्राप्त करते हैं ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ६

श्लोक १ :

१. ज्ञान (नाण क) :

ज्ञान-सम्पन्न के चार विकल्प होते हैं—

(१) दो ज्ञान से सम्पन्न—मति और श्रुत से युक्त।

(२) तीन ज्ञान से सम्पन्न - मति, श्रुत और अवधि से युक्त अथवा मति, श्रुत और मन:पर्याय से युक्त।

(३) चार ज्ञान से सम्पन्न -मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्याय से युक्त।

(४) एक ज्ञान से सम्पन्न—केवलज्ञान से युक्त।

आचार्य इन चारो में से किसी भी विकल्प से सम्पन्न हो सकते हैं[1]।

२. दर्शन (दंसण क) :

दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होने वाला सामान्यबोध दर्श नकहलाता है[2]।

३. आगम-सम्पन्न (आगमसंपन्नं ग) :

आगम का अर्थ श्रुत या सूत्र है। चतुर्दश-पूर्वी, एकादश अङ्गो के अध्येता या वाचक तथा स्वसमय-परसमय को जाननेवाले 'आगम-सपन्न' कहलाते हैं[3]। 'ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न'—इस विशेषण से प्राप्त विज्ञान की महत्ता और 'आगम-सम्पन्न' से दूसरो को ज्ञान देने की क्षमता बताई गई है[4]। इसलिए ये दोनो विशेषण अपना स्वतंत्र अर्थ रखते हैं।

४. उद्यान में (उज्जाणम्मि घ) :

जहाँ क्रीड़ा के लिए लोग जाते हैं वह 'उद्यान' कहलाता है। यह उद्यान शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है[5]। अभिधान चिन्तामणि के अनुसार 'उद्यान' का अर्थ क्रीडा-उपवन है[6]। जीवाभिगम वृत्ति के अनुसार पुष्प आदि अच्छे वृक्षों से सम्पन्न और उत्सव आदि मे बहुजन उपभोग्य स्थान 'उद्यान' कहलाता है[7]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार उद्यान का अर्थ है—नगर के समीप का वह स्थान जहाँ लोग सहभोज

---

१ - अ० चू० पृ० १३८ : णाणं पंचविहं मति-सुता-ऽवधि-मणपज्जव-केवलणामधेयं··· तत्थ त दोहिं वा मतिसुतेहिं, तिहिं वा मतिसुतावहीहिं अहवा मतिसुयमणपज्जवेहिं, चतुहिं वा मतिसुतावहीहिं मणपज्जवेहिं, एक्केण वा केवलनाणेण संपण्णं।

२ - जि० चू० पृ० २०७ : दर्शन द्विप्रकारं क्षायिकं क्षायोपशमिकं च, अतस्तेन क्षायिकेण क्षायोपशमिकेन वा संपन्नम्।

३—(क) अ० चू० पृ० १३८ : आगमो सुतमेव अतो तं चोद्दसपुव्वि एकारसंगसुयधरं वा।

(ख) जि० चू० पृ० २०८ : आगमसंपन्नं नाम वायगं, एक्कारसंगं च, अन्नं वा ससमयपरसमयवियाणगं।

(ग) हा० टी० प० १९१ : 'आगमसपन्नं' विशिष्टश्रुतधर, बह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्।

४—(क) अ० चू० पृ० १३८ : णाणदंसणसंपण्णमिति एतेण आतगतं विण्णाणमाहप्पं भण्णति, 'भणि आगमसपण्णं' एतेण परग्गाहण-सामत्थसंपण्ण। 'संपण्णमिति' सद्दं पुणरुत्तमवि न भवति, पढमे सय संपण्णं, बितिये परसंग्गाहणं एवं समत्थता।

५—हला० : उद्याति क्रीडार्थमस्मिन्।

६—अ० चि० ४.१७८ : आक्रीड: पुनरुद्यानम्।

७—जीव० सू० २५८ वृ० : उद्यानं—पुष्पादि सद्वृक्षसंकुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यम्।

(उद्यानिका) करते हों[1]। समवायांग वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है[2]। आज की भाषा मे उद्यान को पिकनिक प्लेस (गोष्ठी-स्थल) कहा जा सकता है।

श्लोक २ :

५. राजा और उनके अमात्य (रायाणो रायमच्चा [क]) :

चूर्णि-द्वय में अमात्य का अर्थ दण्डनायक, सेनापति आदि किया है[3]। टीकाकार ने इसका अर्थ मन्त्री किया है[4]। कौटिल्य-अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'अमात्य' को कर्मसचिव[5] और राजा का सहायक माना गया है[6]। 'अमात्य' को महामात्र और प्रधान भी कहा जाता है[7]। शुक्र ने अमात्य का मन्त्रि-परिषद् में नवा स्थान माना है[8]। उनके अनुसार देश-काल का विशेष ज्ञाता 'अमात्य' कहलाता है[9]। राज्य में कितने गाँव, कितने नगर और कितने अरण्य हैं ? कितनी भूमि जोती गई ? उसमे से राज्य को कितना अंश प्राप्त हो चुका है ? कितना अभी प्राप्त करना है ? कितनी भूमि बिना जोती रह गई ? इस वर्ष कितना कर लगाया गया ? भाग, दण्ड, शुल्क आदि से प्राप्तव्य धन कितना है ? बिना जोती भूमि से कितना अन्न उत्पन्न हुआ ? वन मे कौन-कौन सी वस्तुएँ उत्पन्न हुई ? खानो मे कितना धन उत्पन्न हुआ ? खानो के रत्न आदि से कितनी आय हुई ? कितनी भूमि स्वामी-हीन हो गई ? कितनी उपज मारी गई और कितनी उपज चोरो के हाथ लगी ? इन समस्त विषयो पर विचार करना और फिर उसका विवरण राजा के समक्ष प्रस्तुत करना अमात्य का कर्तव्य माना गया है[10]। इस तरह यह मन्त्रि-परिषद् का सदस्य कृषि, व्यापार आदि विभागो का अध्यक्ष रहा होगा।

६, क्षत्रिय (खत्तिया [ख]) :

अगस्त्यसिंह ने 'क्षत्रिय' का अर्थ 'राजन्य' आदि किया है[11]। जिनदास के अनुसार कोई राजा होता है, क्षत्रिय नही भी होता, कोई क्षत्रिय होता है, राजा नहीं भी होता। यहाँ उन क्षत्रियो का उल्लेख है जो राजा नही है[12]। हरिभद्र ने 'क्षत्रिय' का अर्थ श्रेष्ठि आदि किया है[13]।

१—जि० उ० ८. सू० २. चू० : उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति, ज वा ईसि णगरस्स उवकंठं ठियं तं उज्जाणं।

२—सम० ११७ वृ० : बहुजनो यत्र भोजनार्थं यातीति।

३—(क) अ० चू० पृ० १३८ : रायमत्ता अमच्चसेणावतिपभितयो।

(ख) जि० चू० पृ० २०८ : रायमच्चा अमच्चा, डंडणायगा सेणावइप्पभितयो।

४—हा० टी० प० १९१ : 'राजामात्याश्च' मन्त्रिणः।

५—कौटि० अ० ८.४ पृ० ४४।

६—वही, ८.४ पृष्ठ ४१ : अमात्या नाम राज्ञः सहायाः।

७—अ० चि० ३.३८४ स्वोपज्ञवृत्तिः 'महामात्राः प्रधानानि' —अमात्यपुरोहितसेनापत्यादयः।

८—शु० २.७०-७२।

९—शु० २.८६ : देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते।

१०—शु० २.१०२-५ : पुराणि च कति ग्रामा अरण्यानि च सन्ति हि।
कर्षिता कति भूः केन प्राप्तो भागस्ततः कति॥
भागशेषं स्थितं कस्मिन् कत्यकृष्टा च भूमिका।
भागद्रव्यं वत्सरेऽस्मिञ्छुल्कदण्डादिजं कति॥
अकृष्टपच्यं कति च कति चारण्यसंभवम्।
कति चाकरसंजातं निधिप्राप्तं कतीति च॥
अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तस्कराहृतम्।
सञ्चितन्तु विनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत्॥

११—अ० चू० पृ० १३८ : 'खत्तिया' राइण्णादयो।

१२—जि० चू० पृ० २०८-९ : 'खत्तिया' नाम कोइ राया भवइ ण खत्तियो, अन्नो खत्तियो भवति ण उ राया, तत्थ जे खत्तिया ण राया तेसिं गहणं कयं।

१३—हा० टी० प० १९१ : 'क्षत्रियाः' श्रेष्ठ्यादयः।

'राजन्य' का अर्थ राजवंशीय या सामन्त तथा श्रेष्ठि का अर्थ ग्राम-महत्तर (ग्राम-शासक) या श्रीदेवताङ्कित-पट्ट धारण करने वाला है।

७. आचार का विषय (आयारगोयरो [ख]) :

आचार के विषय को 'आचार-गोचर' कहते हैं[1]। स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार साधु के आचार के अङ्गभूत छह व्रतों को 'आचार-गोचर' कहा जाता है। वहाँ आचार और गोचर का अर्थ स्वतन्त्र भाव से भी किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—यह पाँच प्रकार का आचार है। गोचर का अर्थ है 'भिक्षाचरी'[2]।

श्लोक ३ :

८. शिक्षा में (सिक्खाए [ग]) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण और आसेवन। सूत्र और अर्थ का अभ्यास करना ग्रहण शिक्षा है। आचार का सेवन और अनाचार का वर्जन आसेवन शिक्षा कहलाती है[3]।

श्लोक ४ :

९. (हंदि [क]) :

यह अव्यय है इसका अर्थ है—उपदर्शन[4]।

१०. मोक्ष चाहने वाले (धम्मत्थकामाणं [क]) :

चारित्र आदि धर्म का प्रयोजन मोक्ष है। उसकी इच्छा करने वाले 'धर्मार्थकाम' कहलाते हैं[5]।

श्लोक ६ :

११. बाल, वृद्ध (सखुड्डगवियत्ताणं [क]) :

खुड्डग (क्षुद्रक) का अर्थ बाल और वियत्त (व्यक्त) का अर्थ वृद्ध है। 'सखुड्डगवियत्त' का शब्दार्थ है—सबालवृद्ध[6]।

१२. अखण्ड और अस्फुटित (अखंडफुडिया [ग]) :

टीकाकार के अनुसार आंशिक-विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णत. विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है[7]। अगस्त्य-

---

१—(क) अ० चू० पृ० १३६ : आयारस्स आयारे वा गोयरो—आयारगोयरो, गोयरो पुण विसयो।
(ख) हा० टी० प० १९१ : 'आचारगोचरः' क्रियाकलापः।

२—स्था० ८.३.६५१ प० ४१८ वृ० : 'आचारः' साधुसमाचारस्तस्य गोचरो—विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचरः अथवा आचारश्च-ज्ञानादिविषयः पञ्चधा गोचरश्च—भिक्षाचर्येत्याचारगोचरम्।

३—जि० चू० पृ० २०९ : सिक्खा दुविधा, तंजहा—गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा य, गहणसिक्खा नाम सुत्तत्थाणं गहणं, आसेवणासिक्खा नाम जे तत्थ करणिज्जा जोगा तेसिं काएण संफासणं, अकरणिज्जाण य वज्जणया।

४—हा० टी० प० १९२ : 'हंदि' त्ति हन्दीत्युपप्रदर्शने।

५—हा० टी० प० १९२ : धर्मः—चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थः—प्रयोजनं मोक्षस्तं कामयन्ति—इच्छन्तीति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामा—मुमुक्षवस्तेषाम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १४३ : खुड्डगो—बालो, वियत्तो व्यक्त इति सखुड्डएहिं वियत्ता सखुड्डगवियत्ता, तेसिं।
(ख) जि० चू० पृ० २१६ : सह खुड्डगेहिं सखुड्डगा, वियत्ता नाम महल्ला, तेसिं 'सखुड्डगवियत्ताणं' बालवुड्ढाणंति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १९५ : सह क्षुल्लकैः—द्रव्यभावबालैर्ये वर्त्तन्ते ते व्यक्ता—द्रव्यभाववृद्धास्तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां, सबालवृद्धानाम्।

७—हा० टी० प० १९५-९६ : अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन, अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन।

सिंह स्थविर ने वैकल्पिक रूप से 'खण्डफुल्ल' शब्द मानकर उसका अर्थ विकल किया है । अखण्डफुल्ल अर्थात् अविकल—सम्पूर्ण[1] ।

श्लोक ७ :

१३. आचार के अठारह स्थान हैं (दस अट्ठ य ठाणाइं[क]) :

आचार के अठारह स्थान निम्नोक्त हैं :

१. अहिंसा	१०. वायुकाय-संयम
२. सत्य	११. वनस्पतिकाय-संयम
३. अचौर्य	१२. त्रसकाय-संयम
४. ब्रह्मचर्य	१३. अकल्प वर्जन
५. अपरिग्रह	१४. गृहि-भाजन-वर्जन
६. रात्रि-भोजन त्याग	१५. पर्यंक-वर्जन
७. पृथ्वीकाय-संयम	१६. गृहान्तर निषद्या-वर्जन
८. अप्काय-संयम	१७. स्नान-वर्जन
९. तेजस्काय-संयम	१८. विभूषा-वर्जन

१४. श्लोक ७ :

कुछ प्रतियों में आठवाँ श्लोक 'वयछक्क' मूल में लिखा हुआ है किन्तु यह दशवैकालिक की निर्युक्ति का श्लोक है । चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे निर्युक्ति के श्लोक के रूप में अपनी व्याख्या में स्थान दिया है[2] ।

हरिभद्रसूरि भी इन दोनों निर्युक्ति-गाथाओं को उद्धृत करते हैं और प्रस्तुत गाथा के पूर्व लिखते हैं :

"कानि पुनस्तानि स्थानानीत्याह निर्युक्तिकारः
वयछक्कं कायछक्क, अकप्पो गिहिभायण ।
पलियंकनिसेज्जा य, सिणाण सोहवज्जण" ।। (हा० टी० प० १९६)

दोनों चूर्णियों में 'गिहिणिसेज्जा' ऐसा पाठ है जबकि टीका में केवल 'निसेज्जा' ही है ।

कुछ प्राचीन आदर्शों में 'निर्युक्तिगाथेयम्' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया हुआ मिला है । संभव है पहले इस संकेत के साथ लिखा जाता था और बाद में यह संकेत छूट गया और वह मूल के रूप में लिखा जाने लगा ।

वादिवेताल शान्तिसूरि ने इस श्लोक को शय्यंभव की रचना के रूप में उद्धृत किया है[3] ।

समवायाङ्ग (१८) में यह सूत्र इस प्रकार है :

समणाणं निग्गंथाणं सखुड्डय-विअत्ताणं अट्ठारस ठाणा प० तं०
वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंक निसिज्जा य सिणाणं सोभवज्जणं ।।

१—अ० चू० पृ० १४४ : 'खण्डा' विकला, फुल्ला-भट्ठा, अकारेण पडिसेहो उभयमणुसरति . . . अहवाऽविकलमेव खण्डफुल्लं ।

२—(क) अ० चू० पृ० १४४ : निग्गंथभावातो भस्सति, एतस्स चेव अत्थस्स वित्थारणे इमा निज्जुत्ती —"अट्ठारस ठाणाइं" गाहा । कंठा । तेसिं विवरणत्थमिमा निज्जुत्ती —"वयछक्कं कायछक्कं" गाहा ।

(ख) जि० चू० पृ० २१६ : निग्गंथभावाओ भस्स (स्स) ति, एस चेव अत्थो सुत्तफासियनिज्जुत्तीए भण्णति तं० 'अट्ठारस ठाणाइं' गाथा भाणियव्वा कयराणि पुण अट्ठारसठाणाइं ?, एत्थ इमाए सुत्तफासियनिज्जुत्तीए भण्णइ—वयछक्कं कायछक्कं ।'

३—उत्त० बृ० वृ० पृ० २० : शय्यम्भवप्रणीताचारकथायामपि "वयछक्ककायछक्क" मित्यादिनाऽऽचारप्रक्रमेऽप्यनाचारवचनम् ।

श्लोक ८ :

१५. सूक्ष्म रूप से (निउणं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'निउण' शब्द 'दिट्ठा' का क्रिया विशेषण है[1]। जिनदास चूर्णि और टीकाकार के अनुसार वह 'अहिंसा' का विशेषण है[2]।

श्लोक ९ :

१६. जान या अजान में (ते जाणमजाणं वा ग) :

हिंसा दो प्रकार से होती है—जान में या अजान मे । जान-बूझकर हिंसा करने वालो में राग-द्वेष की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और अजान में हिंसा करने वालों में अनुपयोग या प्रमाद होता है[3]।

श्लोक ११ :

१७. क्रोध से (कोहा ख) :

मृषावाद के छह कारण है—क्रोध, मान, माया, लोभ, भय और हास्य । दूसरे महाव्रत मे क्रोध, लोभ, हास्य और भय —इन चारों का निर्देश है[4]। यहाँ क्रोध और भय इन दो कारणो का उल्लेख है । चूर्णि और टीका ने इनको साकेतिक मानकर सभी कारणो को समझ लेने का सकेत दिया है ।

१. क्रोध-हेतुक मृषावाद : जैसे --तू दास है इस प्रकार कहना ।

२. मान-हेतुक मृषावाद जैसे अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत कहना ।

३. माया-हेतुक मृषावाद . जैसे—भिक्षाटन से जी चुराने के लिए 'पैर में पीडा है' यो कहना ।

४. लोभ-हेतुक मृषावाद : जैसे—सरस भोजन की प्राप्ति होते देख एषणीय नीरस को अनेषणीय कहना ।

५. भय-हेतुक मृषावाद जैसे—दोष सेवन कर प्रायश्चित्त के भय से उसे स्वीकृत करना ।

६. हास्य-हेतुक मृषावाद : कुतूहलवश बोलना[5]।

१८. पीडाकारक सत्य और असत्य न बोले (हिंसगं न मुसं बूया ग) :

'हिंसक' शब्द के द्वारा परपीड़ाकारी सत्य वचन बोलने का निषेध और 'मृषा' शब्द के द्वारा सब प्रकार के मृषावाद का निषेध किया गया है[6]।

१—अ० चू० पृ० १४४ : निपुणं—सव्वपाकारं सव्वसत्तगता इति ।

२—(क) जि० चू० पृ० २१७ : 'निउणा' नाम सव्वजीवाण, सव्वे वाहिं अणववाएण, जे णं उद्देसियादीणि भुंजंति ते तहेव हिंसगा भवन्ति, जीवाजीवेहिं संजमोत्ति सव्वजीवेसु अविसेसेण संजमो जम्हा अओ अहिंसा जिणसासणे निउणा, ण अण्णत्थ ।

(ख) हा० टी० प० १९६ : 'निपुणा' आधाकर्माद्यपरिभोगतः कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा ।

३—(क) जि० चू० पृ० २१७ : 'जाणमाणो' नाम जेसि चितेऊण रागद्दोसाभिभूओ घाएइ, अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुव-ओगेणं इंदियाइणावी पमातेण घातयति ।

(ख) हा० टी० प० १९६ : तान् जानन् रागाद्यभिभूतो व्यापादनबुध्या अजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण ।

४—जि० चू० पृ० २१८ : कोहग्गहणेण माणमायालोभावि गहिया ।

५ हा० टी० प० १९७ : क्रोधाद्वा त्वं दास इत्यादि, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मिति मानाद्वा अबहुश्रुत एवाहं बहुश्रुत इत्यादि मायातो भिक्षाटनपरिजिहीर्षया पादपीडा ममेत्यादि लोभाच्छोभनतरान्नलाभे सति प्राप्तस्यैषणीयस्येऽप्यनेषणीयमिदमित्यादि, भयदि वा 'भयात्' किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम् ।

६—(क) अ० चू० पृ० १४५ : हिंसगं जं सच्चमवि पीडाकारिं, मुसा—वितहं, तमुभयं ण बूया ण वदेज्जा ।

(ख) जि० चू० पृ० २१८ : 'हिंसगं' नाम जेण सच्चेण भणिएण पीडा उप्पज्जइ तं हिंसगं······ण वत्तव्वमिति, सच्चमेव तं अपि, अपि च न सच्चवचनं सत्यमतथ्यवचनं न च, यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमितरं मृषा ।

श्लोक १२ :

१९. सब साधुओं द्वारा गर्हित है (सव्वसाहूहिं गरहिओ [ख])

मृषावाद सब साधुओ द्वारा गर्हित है। इसके समर्थन में चूर्णिकार ने लिखा है कि बौद्ध आदि साधु भी मृषावाद की गर्हा करते हैं। उनके पाँच शिक्षा-पदो में 'मृषावाद-परिहार' को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसका महत्त्व इसलिए है कि इसकी आराधना के बिना शेष शिक्षा-पदो की आराधना सभव नही होती।

एक श्रावक था। उसने मृषावाद को छोड चार अणुव्रत ग्रहण किए, मृषावाद का परित्याग नहीं किया। कुछ समय पश्चात् वह एक-एक कर सभी व्रत तोडने लगा। एक बार उसके मित्र ने कहा—"तुम व्रतों को क्यो तोड़ते हो ?" उसने उत्तर दिया—"नहीं तो, मैं व्रतो को कहाँ तोड़ता हूँ ?" मित्र ने कहा—"तुम झूठ बोलते हो।" उसने कहा—"मैंने झूठ बोलने का त्याग कब किया था ?" सत्य-शिक्षापद के अभाव में उसने सारे व्रत तोड डाले[1]।

श्लोक १३ :

२०. सजीव या निर्जीव (चित्तमंतमचित्तं [क]) :

जिसमे ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाली चेतना हो उसे 'चित्तवान्' और चेतना-रहित को 'अचित्त' कहते हैं। द्विपद, चतुष्पद और अपद ये 'चित्तवान्' और हिरण्य आदि अचित्त हैं[2]।

२१. अल्प या बहुत (अप्पं···बहुं [ख]) :

अल्प और बहुत के प्रमाण तथा मूल्य की दृष्टि से चार विकल्प बनते हैं :

(१) प्रमाण से अल्प मूल्य से बहुत।

(२) प्रमाण से बहुत मूल्य से अल्प।

(३) प्रमाण से अल्प मूल्य से अल्प।

(४) प्रमाण से बहुत मूल्य से बहुत।

मुनि इनमें से किसी भी विकल्प वाली वस्तु को स्वामी की आज्ञा लिए बिना ग्रहण न करे[3]।

२२. दन्तशोधन (दन्तसोहण [ग]) :

चरक में 'दन्तशोधन' को दन्तपवन और दन्तविशोधन कहा है[4]। वृद्ध वाग्भट ने इसे दन्तधावन कहा है[5]। मिलिन्दपञ्ह मे इसके स्थान में 'दन्तपोण' और दशवैकालिक मे 'दन्तवण' का प्रयोग हुआ है।

श्लोक १५ :

२३. घोर (घोरं [क]) :

घोर का अर्थ भयानक या रौद्र है। अब्रह्मचारी के मन में दया का मात्र नही रहता। अब्रह्मचर्य मे प्रवृत्त मनुष्य के लिए ऐसा

१—(क) जि० चू० पृ० २१८ : जो सो मुसावाओ, एस सव्वसाहूहिं गरहिओ सक्काविणोऽवि मुसावावं गरहंति, तत्थ सक्काणं पंचण्हं सिक्खावयाणं मुसावाओ भारियतरोत्ति, एत्थ उदाहरणं एगेण उवासएण मुसावायवज्जाणि चत्तारि सिक्खावयाणि गहियाणि, तओ सो ताणि भंजिउमारद्धो, अण्णेण य भणिओ, जहा—किमेयाणि भंजसि ? तओ सो भणइ—मिच्छा णाहं भंजामि। ण मए मुसावायस्स पच्चक्खायं तेसिंपि सव्वाहियया णिच्छिता। एतेण कारणेण तेसिंपि मुसावाओ गुरुओ सव्वसिक्खापदेहिंतो।

(ख) हा० टी० प० १९७ : सर्वस्मिन्नेव सर्वसाधुभि. 'गर्हितो' निन्दितः, सर्वव्रतापकारित्वात् प्रतिज्ञातापालनात्।

२—जि० चू० पृ० २१८-१९ : चित्तं नाम चेतणा भण्णइ, सा य चेतणा जस्स अत्थि तं चित्तमतं भण्णइ, त दुपयं चउप्पयं अपयं वा होज्जा, 'अचित्त' नाम हिरण्णादि।

३—जि० चू० पृ० २१९ : अप्पं नाम पमाणओ मुल्लओ य, बहुमवि पमाणओ मुल्लओ य।

४—च० सूत्र अ० ५.७१-७२।

५—अ० पूर्वभाग पृ० ४१।

कोई भी कार्य नहीं होता जिसे वह न कह सके या न कर सके । अर्थात् अब्रह्मचारी रौद्र बन जाता है। इसलिए अब्रह्मचर्य को 'घोर' कहा गया है[1]।

२४. प्रमाद-जनक (पमायं [ग]) :

अब्रह्मचर्य इन्द्रिय का प्रमाद है[2]। अब्रह्मचर्य से मनुष्य प्रमत्त हो जाता है। यह सब प्रमादों का मूल है। इसमें आसक्त मनुष्य का सारा आचार और क्रिया-कलाप प्रमादमय या भूलों से परिपूर्ण बन जाता है। इसलिए अब्रह्मचर्य को 'प्रमाद' कहा गया है[3]।

२५ दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है (दुरहिट्ठियं [ग]) :

जिनदास के अनुसार अब्रह्मचर्य घृणा प्राप्त कराने वाला होता है, इसलिए उसे 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अब्रह्मचर्य जुगुप्सित जनो द्वारा अधिष्ठित -आश्रित है[5]। इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि अब्रह्मचर्य जन्म-मरण की अनन्त परम्परा का हेतु है —यह जानने वाले के लिए वह सहजतया, आसेवनीय नही होता। इसलिए उसे सायति के लिए 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[6]।

२६ चारित्र-भंग के स्थान से बचने वाले (भेयाययणवज्जिणो [घ]):

चरित्र-भेद का आयतन (स्थान) मैथुन है। इसका वर्जन करने वाले 'भेदायतनवर्जी' कहलाते हैं[7]।

श्लोक १६ :

२७. मूल (मूलं [क]) :

मूल, बीज और प्रतिष्ठान—ये एकार्थक शब्द हैं[8]।

श्लोक १७ :

२८. बिड-लवण (बिडं [क]) :

यह कृत्रिम लवण गोमूत्र आदि मे पकाकर तैयार किया जाता है। अतः यह प्रासुक ही होता है[9]।

२९. समुद्र-लवण (उब्भेइमं [क]) :

उद्भिज लवण दो प्रकार का होता है—

(१) समुद्र के पानी से बनाया जाने वाला।

१—(क) अ० चू० पृ० १४६ : घोर भयाणग।
　(ख) जि० चू० पृ० २१९ : घोरं नाम निरणुक्कोसं, कहं ? अबंभपवत्तो हि ण किंचि त अकिच्चं जं सो न भणइ।
　(ग) हा० टी० प० १९८ : 'घोरं' रौद्रं रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्।

२— अ० चू० पृ० १४६ : स एवइंदियप्पमातो।

३—(क) जि० चू० पृ० २१९ : जम्हा एतेण पमत्तो भवति अतो पमायं भणइ, तं च सव्वपमादाण आदी, अहवा सव्वं चरण-करण तंमि वट्टमाणे पमादेतित्ति।
　(ख) हा० टी० प० १९८ : 'प्रमादं' प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्।

४—जि० चू० पृ० २१९ : दुरहिट्ठियं नाम दुगुछं पावइ तमहिट्ठियंतोत्ति दुरहिट्ठिय।

५—अ० चू० पृ० १४६ : 'दुरहिट्ठिय' दुगु छियाधिट्ठितं।

६—हा० टी० प० १९८ : 'दुराश्रयं' दुस्सेवं विदितजिनवचनेनानन्तसंसारहेतुत्वात्।

७—(क) जि० चू० पृ० २१९ : भिज्जइ जेण चरित्तपाली सो भेदो, तस्स भेदस्स पसूती आयतणं मेहुणंति, तं भेदायतणं वज्जति।
　(ख) हा० टी० प० १९८ : भेदः—चारित्रभेदस्तदायतनं—तत्स्थानमिदमवोक्तन्यायात्तद्वर्जिनः—चारित्रातिचारभीरवः।

८—जि० चू० पृ० २१९ : मूलं नाम बीयंति वा पइट्ठाणंति वा मूलंति वा एगट्ठा।

९—(क) अ० चू० पृ० १४६ : 'बिडं' जं पागजातं तं फासुगं।
　(ख) जि० चू० पृ० २२० : बिलं (डं) गोमुत्तादीहिं पचिऊण कित्तिमं कीरइ...अहवा बिलग्गहणेण फासुगलोणस्स गहणं कयं।
　(ग) हा० टी० प० १९८ : 'बिडं' गोमूत्रादिपक्वम्।

(२) खानों से निकलने वाला।

यहाँ 'सामुद्रिक' लवण का ग्रहण किया है। यह अप्रासुक होता है[१]।

३०. द्रव-गुड़ (फाणियं ख) :

अगस्त्यसिंह ने 'फाणित' का अर्थ इक्षु-विकार और हरिभद्र ने द्रव-गुड़ किया है[२]।

भावप्रकाश के अनुसार कुछ गाढ़ और बहुत तरल ऐसे पकाए हुए ईख के रस को 'फाणित' कहा जाता है[३]।

३१. संग्रह (सन्निहिं ग) :

लवण आदि वस्तुओं का संग्रह करना, उन्हें अपने पास रखना या रात को रखना 'सन्निधि' कहलाता है[४]। जो लवण आदि द्रव्य चिरकाल तक रखे जा सकते हैं उन्हें अविनाशी द्रव्य और जो दूध, दही थोड़े समय तक टिकते हैं उन्हें विनाशी द्रव्य कहा जाता है। यहाँ अविनाशी द्रव्यों के संग्रह को 'सन्निधि' कहा है[५]। निशीथ-चूर्णि के अनुसार विनाशी द्रव्य के संग्रह को 'सन्निधि' और अविनाशी द्रव्य के संग्रह को 'सञ्चय' कहा जाता है[६]।

श्लोक १८ :

३२. श्लोक १८ :

व्यवहार भाष्य की टीका में आचार्य मलयगिरि ने इस श्लोक के स्थान पर दशवैकालिक का उल्लेख करते हुए जो श्लोक उद्धृत किया है, उसके प्रथम तीन चरण इससे सर्वथा भिन्न हैं।

वह इस प्रकार है—"यत् दशवैकालिके उक्तमशन पानं खादिम तथा सचय न कुर्यात् तथा च तद्ग्रन्थः—

असण पाणग चेव, खाइम साइम तहा।
जे भिक्खू सन्निहिं कुज्जा, गिही पव्वइए न से ॥" (व्य० उ० ५ गा० ११४)

३३. प्रभाव (अणुफासो क) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अनुस्पर्श' का अर्थ अनुसरण या अनुगमन किया है[७] और जिनदास महत्तर ने अनुभाव—सामर्थ्य या प्रभाव किया है[८]।

१—(क) अ० चू० पृ० १४६ : 'उब्भेइम' सामुद्दोति लवणागरेसु समुप्पज्जति त अफासुग।
(ख) हा० टी० प० १९८ : 'उद्भेद्य' सामुद्रादि।
(ग) जि० चू० पृ० २२० . उब्भेइमग्गहणेण सामुद्दादीण गहण कय।

२—(क) अ० चू० पृ० १४६ : 'फाणित' उच्छुविकारो।
(ख) हा० टी० प० १९८ : फाणितं द्रवगुडः।

३ - भा० नि० भू० पृ० १०८४ : इक्षोरसस्तु यः पक्वः, किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः।
स एवेक्षुविकारेषु, ख्यातः फाणितसंज्ञया॥

४—(क) जि० चू० पृ० २२० : 'सन्निधि' नाम एतेसि दव्वाणं, जा परिवासणा सा सन्निधी भण्णति।
(ख) हा० टी० प० १९८ : 'संनिधिं कुर्वन्ति' पर्युषितं स्थापयन्ति।

५-- जि० चू० पृ० २२० : एताणि अविणासिदव्वाणि न कप्पंति, किमंग पुण रसादीणि विणासिदव्वाणित्ति ?, एवमादि सन्निधिं न ते साधवो भगवन्तो णायपुत्तस्स वयणे रया इच्छंति।

६—नि० चू० उ० ८. सू० १७. चू० : सन्निही णाम दधिखीरादि जं विणासि दव्वं, जं पुण घयतेल्ल-वत्थ-पत्त-गुल-खंड-सक्कराइयं अविणासि दव्व, चिरमवि अच्छइण विणस्सइ, सो संचतो।

७—अ० चू० पृ० १४७ : अणुसरणमणुगमो अणुफासो।

८—जि० चू० पृ० २२० : अणुफासो णाम अणुभावो भण्णति।

३४. मैं मानता हूं (मन्ने [ख]) :

यह क्रिया है। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका कर्त्ता शय्यम्भव है[१]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका कर्त्ता तीर्थङ्कर है[२]। हरिभद्र सूरी के अभिमत में प्राकृत-शैली के अनुसार इसका पुरुष परिवर्तन होता है[३]।

३५. (अन्नयरामवि [ख]) :

चूर्णिकार के अनुसार यह सामान्य निर्देश है इसलिए इसका लिङ्ग नपुंसक है[४]। हरिभद्र सूरी ने इसे सन्निधि का विशेषण माना है[५]। किन्तु 'सन्निधि' पुलिङ्ग-शब्द है इसलिए यह चिन्तनीय है।

३६. (सिया [ग]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने सिया को क्रिया माना है[६]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरी ने 'सिया' का अर्थ कदाचित् किया है[७]।

३७ (सन्निहीकामे [ग]) :

चूर्णिकारो ने 'सन्निधिकाम'—यह एक शब्द माना है[८]। टीकाकार ने 'कामे' को क्रिया माना है। उनके अनुसार 'सन्निहिं कामे' ऐसा पाठ बनता है[९]।

श्लोक १९ :

३८. संयम और लज्जा की रक्षा के लिए (संजमलज्जट्ठा [ग]) :

वहाँ वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रोञ्छन रखने के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं—

(१) संयम के निमित्त।
(२) लज्जा के निमित्त।

शीतकाल मे शीत से पीड़ित होकर मुनि अग्नि सेवन न करे; उसके लिए वस्त्र रखने का विधान किया गया है।

पात्र के अभाव में संसक्त और परिशाटन दोष उत्पन्न होते हैं इसलिए पात्र रखने का विधान किया गया है।

पानी के जीवों की रक्षा के लिए कम्बल (वर्षाकल्प) रखने का विधान किया गया है।

लज्जा के निमित्त 'चोलपट्टक' रखने का विधान है।

व्याख्याकारो ने संयम और लज्जा को अभिन्न भी माना है। वहाँ 'संयम की रक्षा के लिए'—यह एक ही प्रयोजन फलित होता है[१०]।

१— अ० चू० पृ० १४७ : मणगपिता गणहरो सय वाअत्था अप्पणो अभिप्पायमाह --मण्णे एवं जाणामि।
२- जि० चू० पृ० २२० : मन्ने णाम तित्थकरो वा एवमाह।
३—हा० टी० प० १९८ : 'मन्ये' मन्यन्ते, प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थकरगणधरा।
४—(क) अ० चू० . अण्णतरामिति विडालोणं किंचि जहा अण्णं निहिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० २२० : अन्नतरं णाम तिलतुसतिभागमेत्तमवि, अहवा अन्नयरं असणादी।
५—हा० टी० प० १९८ : 'अन्यतरामपि' स्तोकामपि।
६—अ० चू० पृ० १४७ : 'सियावित्ति भवेज्ज'।
७—(क) जि० चू० पृ० २२० : 'सिया कदापि'।
(ख) हा० टी० प० १९८ : 'यः स्यात्' यः कदाचित्।
८—(क) अ० चू० पृ० १४७ : सण्णिधी भणितो, त कामयतीति सण्णिधीकामो।
(ख) जि० चू० पृ० २२० : सण्णिंहि कामयतीति सन्निहिकामी।
९—हा० टी० प० १९८ : कदाचित्सन्निधिं 'कामयते' सेवते।
१०—(क) जि० चू० पृ० २२१ : एतेसिं वत्थादीणं ज धारणं तमवि, संजमनिमित्त वा वत्थस्स गहणं कीरइ, मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादि दोसा भविस्संति, पाताभावेऽवि संसत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्सति. कम्बलं वासकप्पादी त उदगादिरक्खणट्ठा घेप्पति, लज्जानिमित्त चोलपट्टको घेप्पति, अहवा सजमो चेव लज्जा, भणित च --"इह तो लज्जा नाम लज्जामतो भण्णइ, संजममंतोत्ति वुत्त भवति," एताणि वत्थादीणि संजमलज्जट्ठा।
(ख) हा० टी० प० १९९ : 'संयमलज्जार्थ' मिति संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्रं, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्ते, अथवा संयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद्वस्त्रादि धारयंति।

३९. रखते और उनका उपयोग करते हैं (धारंति परिहरंति [घ]) :

प्रयोजन होने पर इसका मैं उपयोग करूंगा—इस दृष्टि से रखना 'धारण' कहलाता है और वस्त्र आदि का स्वयं परिभोग करना 'परिहरण' कहलाता है[1]। यह सामयिक धातु का प्रयोग है। इस धातु का लौकिक अर्थ छोड़ना होता है और सामयिक अर्थ है पहनना[2]।

श्लोक २० :

४०. ज्ञातपुत्र महावीर ने (नायपुत्तेण [ख]) :

भगवान् महावीर का एक नाम 'नायपुत्त'—ज्ञातपुत्र भी है। यह नाम पितृवंश से सम्बन्धित है। भगवान् के लिए ज्ञात, ज्ञातकुल-निर्वृत्त और ज्ञातकुलचन्द्र आदि विशेषण भी प्रयुक्त हुए हैं। भगवान् के पिता सिद्धार्थ को 'ज्ञातकुल निर्वृत्त' नाम से सम्बोधित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् के कुल का नाम 'ज्ञात' था। अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर के अनुसार 'ज्ञात' क्षत्रियों का एक कुल या जाति है। 'ज्ञात' शब्द से वे ज्ञातकुल-उत्पन्न सिद्धार्थ का ग्रहण करते हैं और 'ज्ञातपुत्र' से भगवान् का[3]।

आचाराङ्ग (२.१५) में भगवान् के पिता को काश्यपगोत्री कहा गया गया है। भगवान् इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए थे यह भी माना जाता है[4]। भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। इसलिए वे आदि-काश्यप कहलाते हैं। भगवान् महावीर भी इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। ज्ञात या ज्ञातृ काश्यपगोत्रियों का अवान्तर भेद रहा होगा।

हरिभद्र सूरि ने 'ज्ञात' का अर्थ उदार-क्षत्रिय सिद्धार्थ किया है[5]। बौद्ध-साहित्य में भगवान् के लिए 'नातपुत्त' शब्द का अनेक स्थलों में प्रयोग हुआ है[6]। प्रो० बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि लिच्छवियों की एक शाखा या वंश का नाम 'नाय' (नात) था। 'नाय' शब्द का अर्थ संभवतः ज्ञाति (राजा के ज्ञातिजन) है[7]।

श्वेताम्बर अङ्ग आगमों में 'नाया धम्मकहा' एक आगम है। यहाँ 'नाय' शब्द भगवान् के नाम का सूचक है। दिगम्बर-परम्परा में 'नायधम्मकहा' को 'नाथधर्म-कथा' कहा गया है[8]। महाकवि धनञ्जय ने भगवान् का वंश 'नाथ' माना है। इसलिए—भगवान् को 'नाथान्वय' नाम से संबोधित किया है[9]। नाथ 'नाय' या 'नात' का ही अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है।

४१. वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है (न सो परिग्गहो वुत्तो [क]) :

मुनि के वस्त्रों के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ हैं। पहली परम्परा मुनि को वस्त्र धारण करने का निषेध करती है और दूसरी उसका विधान। पहली परम्परा के अनुयायी अपने को दिगम्बर कहते हैं और दूसरी के अनुयायी श्वेताम्बर। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दोनो

१—जि० चू० पृ० २२१ : तत्थ धारणा णाम सपयोअणत्थं धारिज्जइ, जहा उप्पण्णे पयोयणे एत परिभुंजिस्सामित्ति, एसा धारणा, परिहरणा नाम जा सयं वत्थादी परिभुंजइ सा परिहरणा भण्णइ।

२—हा० टी० प० १९९ : 'परिहरन्ति च—'परिभुञ्जते च'।

३—(क) अ० चू० : णायकुलप्पभूयसिद्धत्थखत्तियसुतेण।

(ख) जि० चू० पृ० २२१ : णाया नाम खत्तियाणं जातिविसेसो, तम्मि सभूओ सिद्धत्थो, तस्स पुत्तो णायपुत्तो।

४—अ० चि० १.३५ : इक्ष्वाकुकुलसम्भूताः स्याद्द्वाविंशतिरर्हताम्।

५—हा० टी० प० १९९ : ज्ञात - उदारक्षत्रिय· सिद्धार्थः तत्पुत्रेण।

६—(क) म० नि० १.२.४ ; ३.१.४।

(ख) सं० नि० ३ १.१।

७—जै० भा० वर्ष २ अङ्क १४.१५ पृ० २७६ : जेकोबी ने 'नाय' शब्द का संस्कृत प्रतिशब्द 'ज्ञात्रिक' व्यवहार किया है, परन्तु अर्थ-निर्णय की चेष्टा नहीं की है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस वंश की पुत्र या कन्या का राजकन्या या राजपुत्र के साथ विवाह हो सकता था उसी वंश को 'ज्ञातिवंश' कहा गया है।

८—ज० ध० भाग १ पृ० १२५ : णाहधम्मकहा णाम अंगं तित्थयराणं धम्मकहाणं सरूवं वण्णेदि।

९—ध० ना० ११५ : सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥

शब्द अशास्त्रीय हैं जबकि दोनों के विचार शास्त्र-सम्मत हैं। भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से यह प्रमाणित हो चुका है कि उपलब्ध जैन-साहित्य में आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) प्राचीनतम आगम है। उसकी चूला (आयार चूला) मे मुनि को एक वस्त्र सहित, दो वस्त्र सहित आदि कहा है[1]। अन्य आगमों में मुनि की अचेल और सचेल--दोनों अवस्थाओ का उल्लेख मिलना है[2]। जिनकल्पी मुनि के लिए शीत ऋतु बीत जाने पर अचेल रहने का भी विधान है[3]। वास्तव में वस्त्र रखना या न रखना कोई विवाद का विषय नहीं है। परिस्थिति-भेद से सचेलता और अचेलता दोनों अनुज्ञात है। अचेल को उत्कर्ष-भाव और सचेल को अपकर्ष-भाव नहीं लाना चाहिए और न आपस में एक दूसरे की अवज्ञा करनी चाहिए—

> ओऽवि दुवत्थतिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
> ण हु ते हीलंति परं, सव्वेऽपि य ते जिणाणाए ॥१॥
> जे खलु विसरिसकप्पा, संघयणधिइयादिकारणं पप्प।
> णऽवमन्नइ ण य हीणं, अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥२॥
> सव्वेऽवि जिणाणाए, जहाविहिं कम्मखवणअट्ठाए।
> विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणई एवं ॥३॥ (आचा० वृ० पत्र २२२)

इन गाथाओ में समन्वय की भाषा का ज्वलन्त रूप है। आचार्य उमास्वाति (या उमास्वामी) को दोनो सम्प्रदाय अपना-अपना आचार्य मान रहे हैं। उन्होने धर्म-देह रक्षा के निमित्त अनुज्ञात पिण्ड, शय्या आदि के साथ वस्त्रैषणा का उल्लेख किया है[4] तथा कल्प्याकल्प्य की समीक्षा में भी वस्त्र का उल्लेख किया है[5]। इसी प्रकार एषणा-समिति की व्याख्या में वस्त्र का उल्लेख है[6]। स्थानाङ्ग में पाँच कारणो से अचेलता को प्रशस्त बतलाया है। वहाँ चौथे कारण को तप और पाँचवें कारण को महान् इन्द्रिय-निग्रह कहा है[7]। संक्षेप में यही पर्याप्त होगा कि अवस्था-भेद के अनुसार अचेलता और सचेलता दोनों विहित है। परिग्रह का प्रश्न शेष रहता है। शब्द की दृष्टि से विचार किया जाए तो लेना मात्र परिग्रह है। स्थानांग में परिग्रह के तीन नाम बतलाए हैं—शरीर, कर्म-पुद्गल और भण्डोपकरण[8]। बन्धन की दृष्टि से विचार करने पर परिग्रह की परिभाषा मूर्च्छा है। सूत्रकार ने इसे बहुत ही स्पष्ट शब्दो में प्रस्तुत किया है। जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र आदि रखे जाते हैं वे संयम-साधना मे उपकारी होते हैं इसलिए धर्मोपकरण कहलाते है। वे परिग्रह नही हैं। उनके धारण करने का हेतु मूर्च्छा नही है। सूत्रकार ने उनके रखने के दो प्रयोजन बतलाए हैं—संयम और लज्जा। स्थानाङ्ग में प्रयोजन का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार वस्त्र-धारण के तीन प्रयोजन हैं—लज्जा, जुगुप्सा-निवारण और परीषह—

१—आ० चू० ५।२ : जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारिज्जा नो बीयं।

२—उत्त० २.१३ :

> एगयाऽचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
> एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥

३—आ० ८.५०-५३ : उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले।

४—प्र० प्र० १३८ :

> पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
> कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥

५—प्र० प्र० १४५ :

> किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
> पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्यं वा ॥

६—त० भा० ९.५ : अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनम् —एषणा-समितिः।

७—ठा० ५.२०१ : पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तंजहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिते, तवे अणुण्णाते, विउले इंदियनिग्गहे।

८—ठा० ३.९५ : तिविहे परिग्गहे पं० तं०—कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे।

शीत, उष्ण और मच्छर आदि से बचाव करना[1]। प्रश्न व्याकरण में सयम के उपग्रह तथा वात, आतप, दंश और मच्छर से बचने के लिए उपधि रखने का विधान किया है[2]।

४२. महर्षि (गणधर) ने (महेसिणा घ) :

जिनदास महत्तर ने 'महर्षि' का अर्थ गणधर या मनक के पिता शय्यंभव किया है और हरिभद्रसूरि ने केवल 'गणधर' किया है[3]।

श्लोक २१ :

४३. श्लोक २१ :

इस श्लोक का अर्थ दोनो चूर्णिकार एक प्रकार का करते हैं[4]। अनुवाद उन्ही की व्याख्या के अनुसार किया गया है। टीकाकार का अर्थ इससे भिन्न है। वे बुद्ध का अर्थ जिन नही, किन्तु तत्त्व-वित् साधु करते हैं[5]। जिनदास ने 'परिग्गहे' को क्रिया माना है[6]। टीकाकार ने 'परिग्गहे' को सप्तमी विभक्ति माना है[7]। सर्वत्र का अर्थ चूर्णि मे अतीत-अनागत-काल और सर्व भूमि किया है[8]। टीकाकार ने सर्वत्र का अभिप्राय उचित क्षेत्र और काल माना है[9]। टीका के अनुसार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—"उचित क्षेत्र और काल में आगमोक्त उपधि-सहित, तत्त्वज्ञ मुनि छह जीवनिकाय के सरक्षण के लिए वस्त्र आदि का परिग्रहण होने पर भी उसमें ममत्व नहीं करते। और तो क्या, वे अपने देह पर भी ममत्व नही करते।"

श्लोक २२ :

४४. संयम के अनुकूल वृत्ति (लज्जासमा वित्ति ग) :

यह वृत्ति का विशेषण है। लज्जा का अर्थ है सयम। मुनि की वृत्ति—जीविका सयम के अनुरूप या अविरोधी होती है इसलिए उसे "लज्जासमा" कहा गया है[10]।

---

१ ठा० ३.३४७ : तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा, तजहा —हिरिपत्तियं दुगुंछापत्तितं, परीसहवत्तिय।

२—प्रश्न (संवरद्वार १) : एयंपि संजमस्स उवग्गहणट्ठाए वातातवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहित परिहरियव्वं।'

३—(क) जि० चू० पृ० २२१ : गणधरा मणगपिया वा एवमाहु:।

(ख) हा० टी० प० १९९ 'महर्षिणा' गणधरेण, सूत्रे सेज्जंभव आहेति।

४—(क) अ० चू० पृ० १४८ : सव्वत्थ उवधिणा सह सोपकरणा, बुद्धा —जिणा। स्वाभाविकमिवं जिणलिंगमिति सव्वे वि एगदूसेण निग्गता। पत्तेयबुद्धजिणकप्पियादयोवि रयहरणमुहणंतगातिणा सह सजमसारक्खणत्थे परिग्गहेण मुच्छानिमित्ते, तम्मि विज्जमाणे वि भगवंतो मुच्छं न गच्छंतीति अपरिग्गहा। कह च ते भगवंतो उवकरणो मुच्छं काहिंति जेहिं जयणत्थमुवकरणं धारिज्जति तंमि ? अवि अप्पणो वि देहंमि णाचरंति ममाइत।

(ख) जि० चू० पृ० २२२ :

५—हा० टी० प० १९९ : 'बुद्धा' यथावद्विवितवस्तुतत्त्वा: साधव:।

६—जि० चू० पृ० २२२ : 'सरक्खण परिग्गहो' नाम संजमरक्खणणिमित्तं परिगिण्हति।

७—हा० टी० प० १९९ : 'संरक्षणपरिग्रह' इति सरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योग:।

८—जि० चू० पृ० २२१ : सव्वेसु अतीताणागतेसु सव्वभूमिएसुत्ति।

९—हा० टी० प० १९९ : 'सर्वत्र' उचिते क्षेत्रे काले च।

१०—(क) अ० चू० पृ० १४८ : लज्जा —संजमो। लज्जासमा सजमाणुविरोहेण।

(ख) हा० टी० प० १९९ : लज्जा -संयमस्तेन समा - सदृशी तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थ:।

४५. (जा य [ग]) :

दोनों चूर्णियों में[1] 'जा य' (या च) और टीका मे 'जाव' (यावत्) पाठ मानकर व्याख्या की है[2]।

४६. एक बार भोजन (एगभत्तं च भोयणं [घ]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'एक-भक्त-भोजन' का अर्थ एक बार खाना अथवा राग-द्वेष रहित भाव से खाना किया है[3]। उक्त वाक्य-रचना में यह प्रश्न शेष रहता है कि एक बार कब खाया जाए ? इस प्रश्न का समाधान दिवस शब्द का प्रयोग कर जिनदास महत्तर कर देते हैं[4]। टीकाकार द्रव्य-भाव की योजना के साथ चूर्णिकार के मत का ही समर्थन करते हैं[5]।

काल के दो विभाग हैं—दिन और रात। रात्रि-भोजन श्रमण के लिए सर्वथा निषिद्ध है। इसलिये इसे सतत तप कहा गया है। शेष रहा दिवस-भोजन। प्रश्न यह है कि दिवस-भोजन को एक-भक्त-भोजन माना जाए या दिन में एक बार खाने को ? चूर्णिकार और टीकाकार के अभिमत से दिन में एक बार खाना एक-भक्त-भोजन है। आचार्य वट्टकेर ने भी इसका अर्थ यही किया है—

> **उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।**
> **एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥**
> (मूलाचार—मूल गुणाधिकार ३५)

'सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन घड़ी छोड़कर या मध्यकाल में एक मुहूर्त्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त्त काल मे एक बार भोजन करना, यह एक-भक्त-मूल मूल-गुण है।'

स्कन्दपुराण को भी इसका यही अर्थ मान्य है[6]। महाभारत मे वानप्रस्थ भिक्षु को एक बार भिक्षा लेनेवाला और एक बार भोजन करने वाला कहा है[7]। मनुस्मृति[8] और वशिष्ठ स्मृति[9] मे भी एक बार के भोजन का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन (२७.१२) के अनुसार सामान्यत: एक बार तीसरे पहर में भोजन करने का क्रम रहा है। पर यह विशेष प्रतिज्ञा रखने वाले श्रमणों के लिए था या सबके लिए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु आगमों के कुछ अन्य स्थलों के अध्ययन से पता चलता है कि यह क्रम सबके लिए या सब स्थितियों मे नहीं रहा है। जो निर्ग्रन्थ सूर्योदय से पहले आहार लेकर सूर्योदय के बाद उसे खाता है वह "क्षेत्रातिक्रान्त पान-भोजन है"[10]। निशीथ (१०.३१-३९) के 'उग्गयवित्तीए' और 'अणत्थमियमणसकप्पे' इन दो शब्दों का फलित यह है कि भिक्षु का भोजन-काल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच का कोई भी काल हो सकता है। यही आशय दशवैकालिक के निम्न श्लोक में मिलता है—

> **अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।**
> **आहारमइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥** (८.२८)

१—(क) अ० चू० पृ० १४८ : जा इति वित्ती-उद्देसवयणं चकारो समुच्चये।
(ख) जि० चू० पृ० २२२ : 'जा' इति अविसेसिया, चकारो सावेक्खे।

२—हा० टी० प० १९९ : यावल्लज्जासमा।

३—अ० चू० पृ० १४८ : एगवारं भोयणं एगस्स वा राग-द्दोसरहियस्स भोयणं।

४—जि० चू० पृ० २२२ : एगस्स रागदोसरहियस्स भोअणं अहवा इक्कवारं दिवसओ भोयणंति।

५—हा० टी० प० १९९ : द्रव्यत एकम्—एकसंख्यानुगतं, भावत एकं—कर्मबन्धाभावादद्वितीय, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति।

६—दिनार्द्धसमयेऽतीते, भुज्यते नियमेन यत्।
एक भक्तमिति प्रोक्तं, रात्रौ तन्न कदाचन ॥

७—महा० शा० २४५.६ : सकृदन्ननिषेविता।

८—म० स्मृ० ६.५५ : एककालं चरेद् भैक्षम्।

९—व० स्मृ० ३.११८ : ब्रह्मचर्योक्तमार्गेण सकृद्भोजनमाचरेत्।

१०—भग० ७.१ सू० २१ : गोयमा ! जे ण निग्गंथो वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारं आहारेति, एस णं गोयमा ! खेत्तातिक्कंते पाणभोयणे।

तात्पर्य यह है कि यदि केवल तीसरे पहर मे ही भोजन करने का सार्वदिक विधान होता तो सूर्योदय या सूर्यास्त हुआ है या नहीं—ऐसी विचिकित्सा का प्रसग ही नही आता और न 'क्षेत्रातिक्रान्त पान-भोजन' ही होता, पर ऐसी विचिकित्सा की स्थिति का भगवती, निशीथ और बृहत्कल्प मे उल्लेख हुआ है। इससे जान पडता है कि भिक्षुओ के भोजन का समय प्रातःकाल और साय-काल भी रहा है। ओघनिर्युक्ति में विशेष स्थिति में प्रातः, मध्याह्न और सायं—इन तीनो समयो में भोजन करने की अनुज्ञा मिलती है[1]। इस प्रकार 'एक-भक्त-भोजन' के सामान्यत एक बार का भोजन और विशेष परिस्थिति में दिवस-भोजन—ये दोनों अर्थ मान्य रहे हैं।

४७ अहो · नित्य तपः कर्म (अहो निच्चं तवोकम्म [क]) :

जिनदास ने अहो शब्द के तीन अर्थ किए हैं :

(१) दीनभाव।
(२) विस्मय।
(३) आमंत्रण।

उनके अनुसार 'अह' शब्द यहाँ विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2]। टीकाकार का भी यही अभिमत है[3]।

आर्य-शय्यभव या गणधरो ने इस 'नित्य-तप कर्म' पर आश्चर्य अभिव्यक्त किया है[4]। तपः कर्म का अर्थ तप का अनुष्ठान है[5]।

श्लोक २४ :

४८. उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन (उदउल्लं बीयसंसत्तं [क]) :

'उदउल्लं' के द्वारा स्निग्ध आदि (५ १ ३३-३४ के) सभी शब्दो का संग्रहण किया जा सकता है[6]।

'बीज' और 'ससक्त' शब्द की व्याख्या सयुक्त और वियुक्त दोनो रूपो मे मिलती है। बीज से ससक्त ओदन आदि—यह संयुक्त व्याख्या है। 'बीज' और 'ससक्त'—किसी सजीव वस्तु से मिला हुआ काजी आदि—यह इसकी वियुक्त व्याख्या है[7]।

४९. (महिं [ख]) :

यहाँ सप्तमी के स्थान मे द्वितीया विभक्ति है।

श्लोक २८ :

५०. (एयं) :

टीकाकार ने 'एयं' का सस्कृत रूप 'एतत्'[8] (५.१.११), 'एन'[9] (५.२.४९), 'एतं'[10] (६.२५) और 'एव'[11] (६.२८) किया है।

१—ओ० नि० गा० २५० भाष्य गा० १४८-१४९।

२—जि० चू० पृ० २२२ : अहो सद्दो तिसु अत्थेसु वट्टइ, तं जहा—दीणभावे विम्हए आमंतणे, तत्थ दीणभावे जहा अहो अहमिति, जहा विम्हए अहो सोहण एवमादी, आमंतणे जहा आगच्छ अहो देवदत्तात्ति एवमादि, एत्थ पुण अहो सद्दो विम्हए वट्टव्वो।

३—हा० टी० प० १९९ : अहो विस्मये।

४—अ० चू० पृ० १४८ : अज्जसेज्जंभवो गणहरा वा एवमाहसु—अहो निच्चं तवोकम्मं।

५—(क) अ० चू० पृ० १४८ : 'तवोकम्म' तवोकरणं।

(ख) जि० चू० पृ० २२२ : णिच्चं नाम निययं, 'तवोकम्म' तवो कीरमाणो।

(ग) हा० टी० पृ० १९९ : नित्यं मामायाणभावेन तदन्यगुणवृद्धिसंभवं प्रतिपात्येव तपःकर्म—तपोऽनुष्ठानम्।

६—हा० टी० प० २०० : उदकार्द्रं पूर्ववदेकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्सस्निग्धादिपरिग्रहः।

७—हा० टी० प० २०० : 'बीजससक्तं' बीजैः ससक्त—मिश्रम्, ओदनादीति गम्यते, अथवा बीजानि पृथग्भूतान्येव, संसक्तं चारनालाद्यपरेणेति।

८—हा० टी० प० १६५ : 'तम्हा' एअं विआणित्ता—तस्मादेतद् विज्ञाय।

९—हा० टी० प० १९० : एअ च दोसं दट्ठूण—एनं च दोषम्—अनन्तरोदितम्।

१०—हा० टी० प० २०० : एअ च दोसं दट्ठूण—'एतं च' अनन्तरोदितम्।

११—हा० टी० प० २०० : तम्हा एअं वियाणित्ता—तस्मादेवं विज्ञाय।

यद्यपि इसके संस्कृत रूप ये सभी बन सकते हैं फिर भी अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'एवं' की अपेक्षा 'एत' अधिक सगत है । यह 'दोष' शब्द का विशेषण है ।

५१. समारम्भ (समारंभं [ग]) :

समारंभ का अर्थ आलेखन आदि किया है[1] । आलेखन आदि की जानकारी के लिए देखिए टिप्पणी स० ७२-७३ (४.१८) ।

श्लोक ३२ :

५२. जाततेज (जायतेयं [क]) :

जो जन्म-काल से ही तेजस्वी हो वह 'जाततेज' कहलाता है । सूर्य 'जाततेज' नहीं होता । वह उदय-काल में शान्त और मध्याह्न में तीव्र होता है[2] । स्वर्ण परिकर्म से तेजस्वी बनता है इसलिए वह 'जाततेज' नही कहलाता । जो परिकर्म के बिना उत्पत्ति के साथ-साथ ही तेजस्वी हो उसे 'जाततेज' कहा जाता है[3] । अग्नि उत्पत्ति के साथ ही तेजस्वी होती है । इसीलिए उसे 'जाततेज' कहा गया है ।

५३. अग्नि (पावगं [ख]) :

लौकिक मान्यता के अनुसार जो हुत किया जाता है वह देवताओ के पास पहुँच जाता है इसलिए वह 'पावग' (प्रापक) कहलाता है । जैन दृष्टि के अनुसार 'पावक' का कोई विशेष अर्थ नही है । जो जलाता है वह 'पावक' है[4] । यह अग्नि का पर्यायवाची नाम है और 'जाततेज' इसका विशेषण है । टीकाकार के अनुसार 'पावग' का सस्कृत रूप 'पापक' और उसका अर्थ अशुभ है । वे 'जाततेज' को अग्नि का पर्यायवाची नाम और 'पापक' को उसका विशेषण मानते है[5] ।

५४. दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र (तिक्खमन्नयरं सत्थं [ग]) :

जिससे शासन किया जाए उसे शस्त्र कहते हैं । कुछेक शस्त्र एक धार, दो धार, तीन धार, चार धार और पाँच धार वाले होते हैं, किन्तु अग्नि सर्वतोधार—सब तरफ से धार वाला शस्त्र है । एक धार वाले परशु, दो धार वाले शलाका या एक प्रकार का बाण, तीन धार वाली तलवार, चार धार वाले चतुष्कर्ण और पाँच धार वाले अजानुफल होते हैं । इन सब शस्त्रो में अग्नि जैसा कोई तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है[6] । अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'तिक्खमन्नयरा सत्था' ऐसा पाठ होना चाहिए । इससे व्याख्या मे भी बडी सरलता होती है । 'तिक्खमन्नयरा सत्था' अर्थात् अन्यतर शस्त्रों से तीक्ष्ण ।

१—हा० टी० प० २०० : समारम्भमालेखनादि: ।

२—अ० चू० पृ० १५० : जात एव जम्मकाल एव तेजस्वी, ण तहा आदिच्चो उदये सोमो मज्झे तिव्वो ।

३—जि० चू० पृ० २२४ : जायतेओ जायते तेअमुप्पत्तीसमकमेव जस्स सो जायतेयो भवति, जहा सुवण्णादीण परिकम्मणाविसेसेण तेयाभिसंबंधो भवति, ण तहा जायतेयस्स ।

४—(क) अ० चू० पृ० १५० : पावग हव्व, सुराणं पावयतीति पावक:—एव लोइया भणति । वय पुण अविसेसेण 'डहण' इति पावक: तं पावकम् ।

(ख) जि० चू० पृ० २२४ : लोइयाण पुण जं हूयइ त देवसगास (पावइ) अओ पावगो भण्णइ ।

५—हा० टी० प० २०१ : जाततेजा—अग्नि: त जाततेजस नेच्छन्ति मन:प्रभृतिभिरपि 'पापक' पाप एव पापकस्तं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभम् ।

६—(क) अ० चू० पृ० १५० : 'तं सत्थं एकधारं ईलिमादि, दुधारं करणयो, तिधार तरवारी, चउधारं चउक्कण्णाओ, सव्वओधारं णत्थि विरहितं चक्कं अग्गी समंततो सव्वतोधारं, एवमण्णतरातो सत्थातो तिक्खयाए सव्वतोधारता' ।

(ख) जि० चू० पृ० २२४ : सासिज्जइ जेण तं सत्थं, किंचि एगधारं, दुधारं, तिधारं, चउधारं, पंचधारं, सव्वतोधारं नत्थि मोत्तूणमग्गिमेगं, तत्थ एगधारं परसु, दुधारं कणयो, तिधारं असि, चउधारं तिपडतो कणीयो, पचधार अजानुफलं, सव्वओ धारं अग्गी, एतेहिं एगधारदुधारतिधारचउधारपंचधारेहिं सत्थेहिं अण्णं नत्थि सत्थं अगणिसत्थाओ तिक्खतरमिति ।

'तिक्खमन्नयर सत्थ' पाठ मानकर जो व्याख्या हुई है वह कुछ जटिल बन पड़ी है—'तिक्खमन्नयरं सत्थं' अर्थात् अन्यतर शस्त्र—सबसे तीक्ष्ण शस्त्र अथवा सर्वतोधार[1] शस्त्र। अन्यतर का अर्थ प्रधान है[2]।

५५. सब ओर से दुराश्रय है (सव्वओ वि दुरासयं [घ]) :

अग्नि सर्वतोधार है इसीलिए उसे सर्वतो दुराश्रय कहा गया है। इसे अपने आश्रित करना दुष्कर है[3]। इसकी दुराश्रयता का वर्णन ३३वें श्लोक मे है।

श्लोक ३३ :

५६. विदिशाओं में (अणुदिसां [ख]) :

एक दिग् से दूसरी दिग् के अन्तरित आकाश को अनुदिशा या विदिशा कहते हैं[4]। यहाँ सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है[5]।

श्लोक ३४ :

५७. अग्नि (हव्ववाहो [ख]) :

'हव्यवाह' अग्नि का पर्यायवाची नाम है। लौकिक मान्यता के अनुसार देव-तृप्ति के लिए जो घृत आदि हव्य-द्रव्यों का वहन करे वह 'हव्यवाह' कहलाता है। चूर्णिकार ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जो जीवित प्राणियों के जीवन का 'वह' (सस्कृत मे वध) करता है और मूर्तिमान अजीव द्रव्यों के विनाश का वहन करता है उसे 'हव्यवाह' कहा जाता है[6]।

५८. आघात है (एसमाघाओ [क]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। उपचार दृष्टि से आघात का हेतु भी आघात कहलाता है[7]।

५९. प्रकाश और ताप के लिए (पईवपयावट्ठा [ग]) :

अग्नि-समारम्भ के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं—प्रदीप और प्रताप। अधकार मे प्रकाश के लिए अग्नि का प्रदीपन किया जाता है— दीप आदि जलाये जाते हैं। हिमकाल में तथा वर्षाकाल में लोग अग्नि-ताप लेते हैं। अग्नि-ताप मे वस्त्रों को सुखाते हैं और ओदन आदि पकाते हैं[8]। इन दोनो प्रयोजनो मे अन्य गौण प्रयोजन स्वयं समा जाते हैं।

१—हा० टी० प० २०१ : 'तीक्ष्णं' छेदकरणात्मकम् 'अन्यतरत् शस्त्रं' सर्वशस्त्रम्, एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भाव:।

२—अ० चू० पृ० १५० : अण्णतराओत्ति पधाणाओ।

३—(क) जि० चू० पृ० २२४ : सव्वओवि दुरासयं नाम एतं सत्थ सव्वतोधारत्तणेण दुक्खमाश्रयत इति दुराश्रयं।
(ख) हा० टी० प० २०१ : सर्वतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति।

४—अ० चू० पृ० १५० : 'अणुदिसाओ'—अंतरदिसाओ।

५—हा० टी० प० २०१ : 'सुपां सुपो भवन्ती' ति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

६ – (क) अ० चू० पृ० १५० : हव्वाणि डहणीयाणि वहेति विद्धंसयति एवं हव्ववाहो, लोगे पुण हव्वं देवाण वहति हव्ववाहो।
(ख) जि० चू० पृ० २२५ : हव्वं वहतीति हव्ववाहो, तत्थ लोगसिद्धंते हव्वं देवाणं अहावरं दिव्वा तिप्पंतीति, वहतीति वाहो, वहति णाम णेति, हव्वं नाम जं हूयते घयादि त हव्व भण्णइ, अम्ह पुण जम्हा हव्वाणि जीवाणं जीवियाणि वधति अजीवदव्वाण य मुत्तिमताणं विणासं वहतीति हव्ववाहो।
(ग) हा० टी० प० २०१ : 'हव्यवाह' अग्नि:।

७—(क) जि० चू० पृ० २२५ : तेसिं भूताण आघादे आघातो णाम जावंतो भूता अगणिसमारम्भमल्लियंते ते सव्वे घातयतीति आघातो।
(ख) हा० टी० प० २०१ : एष 'आघात' हेतुत्वादाघात:।

८—(क) जि० चू० पृ० २२५ : तत्थ पवीवनिमित्तं जहा अंधकारे पगासत्थं पदीवो कीरई, पयावणनिमित्तं हिमागमे वरिसासु वा अप्पाण तावंति, वत्थाणि वा ओदणादीणि वा पयावंति।
(ख) हा० टी० प० २०१ : 'प्रदीपप्रतापनार्थम्' आलोकशीतापनोदार्थम्।

श्लोक ३६ :

६०. अग्नि-समारम्भ के तुल्य (तारिसं ^ख^) :

इसके पूर्ववर्ती श्लोको में अग्निकाय के समारम्भ का वर्णन किया गया है। यहाँ 'तारिसं' शब्द के द्वारा 'अनिल समारम्भ' की 'अग्नि समारम्भ' से तुलना की गई है[1]।

६१. (सावज्जबहुलं ^ग^) :

जिसमें बहुल (प्रचुर) सावद्य हो वह सावद्य-बहुल होता है[2]। जो अवद्य सहित होता है उसे सावद्य कहते है। अवद्य, वैर और पर—ये एकार्थक हैं[3]।

६२. (च ^ग^) :

अगस्त्यसिंह ने[4] 'चकार' को हेतु के अर्थ मे और जिनदास ने[5] पाद-पूर्ति के अर्थ मे माना है।

श्लोक ३८ :

६३. उदीरणा (उईरंति ^ग^) :

इसका अर्थ है—प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करना—प्रेरित करना।

श्लोक ४६ :

६४. श्लोक ४६ :

४५वें श्लोक तक मूलगुणों (व्रत-षट्क और काय-षट्क) की व्याख्या है। इस श्लोक से उत्तरगुणो की व्याख्या प्रारम्भ होती है। प्रस्तुत अध्ययन मे उत्तरगुण छह (अकल्प-वर्जन, गृहि-भाजन वर्जन, पर्यंक-वर्जन, गृहान्तर-निषद्या-वर्जन, स्नान-वर्जन और विभूषा-वर्जन) बतलाए हैं। वे मूलगुणो के सरक्षण के लिए हैं, जैसे—पांच महाव्रतो की रक्षा के लिए २५(प्रत्येक की पांच-पांच) भावनाएँ होती हैं, वैसे ही व्रत और काय-षट्क की रक्षा के लिए ये छह स्थान हैं। जिस प्रकार भीत और किवाडयुक्त गृह के लिए भी प्रदीप और जागरण रक्षा-हेतु होते हैं, वैसे ही पचमहाव्रतयुक्त साधु के लिये भी ये उत्तरगुण महाव्रतो के अनुपालन के हेतु होते हैं। उनमे पहला उत्तरगुण 'अकल्प' है[6]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५१ : 'तारिस' अग्गिसमारभसरिस।
(ख) हा० टी० प० २०१ : 'तादृश' जाततेजःसमारम्भसदृशम्।

२—(क) अ० चू० पृ० १५१ : सावज्ज बहुल जम्मि त सावज्जबहुलं।
(ख) हा० टी० प० २०१ : 'सावद्यबहुलं' पापभूयिष्ठम्।

३—जि० चू० पृ० २२५ : सह वज्जेण सावज्जं, वज्ज नाम वज्जंति वेरति वा परति वा एगट्ठा, बहुल नाम सावज्जवोसायपण।

४—अ० चू० पृ० १५१ : चकारो हेतौ।

५ जि० चू० पृ० २२५ : चकारः पादपूरणे।

६—जि० चू० पृ० २२६ : कायछक्कं गतं, गया य मूलगुणा, इयाणि उत्तरगुणा, अकप्पादीणि छट्ठाणाणि, ताणि मूलगुणसारक्खणभूताणि, तं जहा पंचमहव्वयाणं रक्खणनिमित्तं पत्तेयं पंच पंच भावणाओ तह अकप्पादीणि छट्ठाणाणि वयकायाणं रक्खणत्थं भणियाणि, जहा वा गिहस्स कुड्डकवाडजुत्तस्सवि पदीवजागरमाणादि रक्खणाविसेसा भवन्ति तह पंचमहव्वयजुत्तस्सवि साहुणो तेसिमणुपालणत्थं इमे उत्तरगुणा भवन्ति, तत्थ पढमं उत्तरगुणो अकप्पो।

६५. अकल्पनीय (अभोज्जाइं [क]) :

यहाँ अभोज्य (अभोग्य) का अर्थ अकल्पनीय है। जो भक्त-पान, शय्या, वस्त्र और पात्र साधु के लिए अग्राह्य हो—विधि-सम्मत न हो, संयम का अपकारी हो उसे अकल्पनीय कहा जाता है[१]।

६६. (इसिणा [ख]) :

चूर्णिद्वय के अनुसार यह तृतीया का एक वचन है[२] और टीकाकार ने इसे षष्ठी का बहुवचन माना है[३]।

६७. (आहारमाईणि [ख]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। आदि शब्द के द्वारा शय्या, वस्त्र और पात्र का ग्रहण किया गया है[४]।

श्लोक ४७ :

६८. अकल्पनीय ..की इच्छा न करे (अकप्पियं न इच्छेज्जा [ग]) :

अकल्प दो प्रकार के होते हैं—शैक्ष-स्थापना अकल्प और अकल्प-स्थापना अकल्प। शैक्ष (जो कल्प, अकल्प न जानता हो) द्वारा आनीत या याचित आहार, वसति और वस्त्र ग्रहण करना, वर्षाकाल मे किसी को प्रव्रजित करना या ऋतुबद्ध-काल (वर्षाकाल के अतिरिक्त काल) में अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' कहलाता है[५]। जिनदास महत्तर के अनुसार जिसने पिण्डनिर्युक्ति का अध्ययन न किया हो उसका लाया हुआ भक्त-पान, जिसने शय्या (आयारचूला २) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा याचित वसति और जिसने वस्त्रैषणा (आयारचूला ५) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत वस्त्र, वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना और ऋतुबद्ध-काल मे अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष स्थापना अकल्प' कहलाता है[६]। जिसने पात्रैषणा (आयारचूला ६) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत पात्र भी 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' है[७]। अकल्पनीय पिण्ड आदि को 'अकल्प-स्थापना-अकल्प' कहा जाता है। यहाँ यही प्रस्तुत है[८]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५२ : 'अभोज्जाणि' अकप्पिताणि।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ : 'अभोज्जाणि' अकप्पियाणि।
(ग) हा० टी० प० २०३ : 'अभोज्यानि' संयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि।

२—(क) अ० चू० पृ० १५२ : 'इसिणा' साधुणा।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ : 'इसिणा' णाम साधुणा।

३—हा० टी० प० २०३ : 'ऋषीणां' साधूनाम्।

४—(क) अ० चू० पृ० १५२ : आहारो आदी जेसिं ताणि आहारादीणि।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ : आहारो आई जेसिं ताणि आहारमादीणि ताणि अभोज्जाणि।
(ग) हा० टी० प० २०३ : आहारशय्यावस्त्रपात्राणि।

५—अ० चू० पृ० १५२ : पढमोत्तरगुणो अकप्पो। सो दुविहो, त—सेहठवणाकप्पो अकप्पट्ठवणाकप्पो य। पिंडसेज्जवत्थपत्ताणि अप्पप्पणो अकप्पितेण उप्पाइयाणि ण कप्पंति, वासासु सव्वे ण पव्वाविज्जति, उडुबद्धे अणला। अकप्पठवणाकप्पो इमो।

६—जि० चू० पृ० २२६ : तत्थ सेहट्ठवणाकप्पो नाम जेण पिण्डणिज्जुत्ती ण सुता तेसु आणियं न कप्पइ भोत्तुं, जेण सेज्जाओ ण सुयाओ तेण वसही उग्गमिता ण कप्पइ, जेण वत्थेसणा ण सुया तेण वत्थं, उडुबद्धे अणला ण पव्वाविज्जति, वासासु सव्वेऽवि।

७—हा० टी० प० २०३ : अणहीआ खलु जेणं पिंडेसणसेज्जवत्थपाएसा।
तेणाणियाणि जतिणो कप्पंति ण पिंडमाईणि ॥१॥
उउबद्धंमि न अणला वासावासे उ दोऽवि णो सेहा।
दिक्खिज्जंती पायं ठवणाकप्पो इमो होइ ॥२॥

८—हा० टी० प० २०३ : अकल्पस्थापनाकल्पमाह—'जाइं' ति सूत्रम्।

श्लोक ५० :

६९. कांसे के प्याले (कंसेसु [क]) :

कांसे से बने हुए बर्तन को 'कंस' (कांस्य) कहते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्याले या क्रीड़ा-पान के बर्तन को 'कंस' माना है[१]। जिनदास महत्तर थाल या खोरक—गोलाकार बर्तन को 'कंस' मानते हैं[२]। टीकाकार के अनुसार कटोरा आदि 'कंस' कहलाता है[३]। कंस गगरी जैसा पात्र-विशेष है। कुछ लोग इसे फूल या कांसे का पात्र समझते हैं। यूनानियों का ध्यान इसकी ओर गया था। उन्होंने लिखा है कि वह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था[४]।

७०. कुंडमोद (कुंडमोएसु [ख]) :

अगस्त्यचूर्णि के अनुसार कच्छ आदि देशों मे प्रचलित कुंडे के आकार वाला कांसे का भाजन 'कुंडमोद' कहलाता है[५]। जिनदास चूर्णि ने हाथी के पाँव के आकार वाले बर्तन को 'कुंडमोद' माना है[६]। टीकाकार ने हाथी के पाँव के आकार वाले मिट्टी आदि के भाजन को 'कुंडमोद' कहा है[७]। चूर्णिद्वय मे 'कुंडमोएसु' के स्थान में 'कोंडकोसेसु' पाठान्तर का उल्लेख है। 'कोंड' का अर्थ तिल पीलने का पात्र[८] अथवा मिट्टी का पात्र[९] और 'कोस' का अर्थ शराव — सकोरा[१०] किया गया है।

७१. (पुणो [ख]) :

दोनो चूर्णिकारो के अनुसार 'पुनः' शब्द 'विशेषण' के अर्थ में है और इसके द्वारा सोने, चांदी आदि के बर्तन सूचित किए गए हैं[११]।

श्लोक ५१ :

७२. सचित्त जल (सीओदग [क]) :

यहाँ शीत का अर्थ 'सचित्त' है[१२]।

७३. (छन्नंति [ग]) :

चूर्णिद्वय के अनुसार यह धातु 'क्षणु हिंसायाम्'[१३] है। टीकाकार ने 'छिप्पति' पाठ मानकर उसके लिए संस्कृत धातु 'क्षिपंनज् प्रेरणे' का प्रयोग किया है[१४]।

१—अ० चू० : कसस्स विकारो कासं तेसु वट्टगातिसु लीलापाणेसु।

२—जि० चू० पृ० २२७ : कंसाओ जायाणि कसाणि, ताणि पुण थालाणि वा खोरगाणि वा तेसु कंसेसुत्ति।

३—हा० टी० प० २०३ : 'कंसेषु' करोटकादिषु।

४—पा० भा० पृ० १४८।

५—अ० चू० पृ० १५३ : कुंडमोय कच्छातिसु कुंडसंथियं कंसभायणमेव महत।

६—जि० चू० पृ० २२७ : 'कुंडमोयो' नाम हत्थपदागितीसंठियं कुंडमोयं।

७—हा० टी० प० २०३ : 'कुंडमोदेषु' हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु।

८—अ० चू० पृ० १५३ : 'जे पढंति कोंडकोसेसु वा' तत्थ 'कोंडगं' तिलपीलणग।

९—जि० चू० पृ० १५३ : अन्ने पुण एव पढति 'कुंडकोसेसु वा पुणो' तत्थ कुण्डं पुढविमयं भवति।

१०—(क) अ० चू० पृ० १५३ : 'कोसे' सरावाती।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ : कोसग्गहणेण सरावादीणि गहियाणि।

११—अ० चू० पृ० १५३ : पुणो इति विसेसणो, रुप्पतलिकातिसु वा।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ : पुणो सद्दो विसेसणे वट्टति, किं विसेसयति ?, जहा अन्नेसु सुवन्नादिभायणेसुत्ति।

१२—(क) जि० चू० पृ० २२८ : सीतग्गहणेण सचेयणस्स उदगस्स गहणं कयं।

(ख) हा० टी० प० २०४ : 'शीतोदक.......' सचेतनोदकेन।

१३—(क) अ० चू० पृ० १५३ : 'छन्नंति' क्षणु हिंसाया मिति हिंसज्जंति।

(ख) जि० चू० पृ० २२८ : छण्णसद्दो हिंसाए वट्टइ।

१४—हा० टी० प० २०४ : 'क्षिप्यन्ते' हिंस्यन्ते।

७४. तीर्थङ्करों ने वहाँ असंयम देखा है (दिट्ठो तत्थ असजमो [घ]) :

गृहस्थ के भाजन मे भोजन करने से छहों प्रकार के जीवों की विराधना संभव है । क्योंकि जब गृहस्थ उस भाजन को सचित्त जल से धोता है तब अप्काय की और धोए हुए जल को फेंकने से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति तथा त्रसकाय की विराधना होती है । उस पानी को अविधि से फेंकने से वायुकाय की विराधना होती है । यह असंयम है[1] ।

श्लोक ५२ :

७५. संभावना (सिया [ख]) :

जिनदास ने 'सिया' शब्द को आशका के अर्थ मे और हरिभद्र ने 'कदाचित्' के अर्थ में माना है[2] ।

७६. (एयमट्ठं [ग]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

श्लोक ५३ :

७७ आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन) (आसालएसु [ख]) :

अवष्टम्भ वाला (जिसके पीछे सहारा हो वैसा) आसन 'आसालक' कहलाता है । चूर्णि और टीका के अनुसार 'मंचमासालएसु वा' इस चरण मे दूसरा शब्द 'आसालय' है[3] और अगविज्जा के अनुसार यह 'मासालग' है[4] । 'मचमासालय' मे मकार अलाक्षणिक है—इसकी चर्चा चूर्णि और टीका मे नही है ।

श्लोक ५४ :

७८. श्लोक ५४ :

पिछले श्लोक मे आसन्दी आदि पर बैठने और सोने का सामान्यतः निषेध है । यह अपवाद सूत्र है । इसमे आसन्दी आदि का प्रतिलेखन किए बिना प्रयोग करने का निषेध है । जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार राजकुल आदि विशिष्ट स्थानों में धर्म-कथा के समय आसन्दी आदि का प्रतिलेखन-पूर्वक प्रयोग करना विहित है[5] । अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह श्लोक कुछ परम्पराओं मे नही है[6] ।

---

१ जि० चू० पृ० २२८ : अणिद्दिट्ठस्स असंजमस्स गहण कयं, सो य इमो - जेण आउक्काएण धोव्वंति सो आउक्काओ विराहिओ भवति, कदापि पूयरगादिवि तसा होज्जा, धोविता य जत्थ छड्डिज्जति तत्थ पुढविआउतेउहरियतसविराहणा वा होज्जा, वाउक्काओ अत्थि चेव, अजयणाए वा छड्डिज्जमाणे वाउक्काओ विराहिज्जइ, एव छण्ह पुढविमाईण विराहणा भवति, एसो असजमो तित्थगरेहिं दिट्ठो ।

२—(क) जि० चू० पृ० २२८ : सियासद्दो आसकाए वट्टइ ।
(ख) हा० टी० प० २०४ : स्यात्—तत्र कदाचित् ।

३—(क) अ० चू० पृ० १५४ : 'आसालओ'—सावट्ठंभमासण ।
(ख) जि० चू० पृ० २२८ : आसालओ नाम ससावगम (सावट्ठ भ) आसण ।
(ग) हा० टी० प० ४०४ : आशालकस्तु अवष्टम्भसमन्वित आसनविशेष ।

४—(क) अगविज्जा पृ० ५२ : सयणाऽऽसणे व फलगे वा मंच -मचमासालगेसु वा ······ ॥२४॥
(ख) वही पृ० ६५ : मासालो मचको व त्ति पल्लको पडिसेज्जको ······ ॥१७२॥

५—(क) जि० चू० पृ० २२६ : जया पुण कारणं भवइ तदा निग्गथा पडिलेहाण्णन्ति, (एति) धम्मकहारायकुलादिसु पडिलेहेऊण निसीयणादीणि कुव्वति, पडिलेहाए णाम चक्खुणा पडिलेहेऊण सयणादीणि कुव्वति ।
(ख) हा० टी० प० २०४ . इह चाप्रत्युपेक्षितासन्द्यादौ निषीदनादिनिषेधात् धर्मकथादौ राजकुलादिषु प्रत्युपेक्षितेषु निषीदनादिविधिमाह, विशेषणान्यथानुपपत्तेरिति ।

६—अ० चू० पृ० १५४ : आसन्दी पलियंकेसु एस सिलोगो केसिंचि णेव अत्थि। जेसिं अत्थि तेसिं णिग्गन्थणतरागस्स पत्तिए, अहवा तस्स जयणा एसा । जे ण पढति ते सामण्णमेव जयणोवदेसमंगीकरेंति, जता कारणं तदा पडिलेहणाए, ण अपडिलेहिय ।

७९. आसन (निसेज्जा ^ख) :

एक या अनेक वस्त्रों से बना हुआ आसन[1]।

८०. पीढ़े का (पीढए ^ख) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'पीढा' पलाल का[2] और टीका के अनुसार बेत आदि का होता है[3]।

८१. (बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ^घ) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ५५ :

८२. गंभीर-छिद्र वाले (गंभीरविजया ^क) :

गभीर का अर्थ अप्रकाश और विजय का अर्थ विभाग है। जिनका विभाग अप्रकाशकर होता है वे 'गभीरविजय' कहलाते हैं[4]। जिनदास चूर्णि में मार्गण, पृथक्करण, विवेचन और विचय को एकार्थक माना है[5]। टीकाकार ने 'विजय' की छाया विजय और उसका अर्थ आश्रय किया है[6]। जिनदास चूर्णि मे 'वैकल्पिक' रूप में 'विजय' का अर्थ आश्रय किया है। इनके अनुसार 'गभीरविजय' का अर्थ 'प्रकाश-रहित आश्रय वाला' है[7]। हमने 'विजय' की सस्कृत-छाया 'विचय' की है। अभयदेवसूरि ने भी इसकी छाया यही की है[8]।

श्लोक ५६ :

८३. अबोधि-कारक अनाचार को (अबोहियं ^घ)

अगस्त्य चूर्णि और टीका में अबोधिक का अर्थ--अबोधिकारक[9] या जिसका फल मिथ्यात्व हो वह[10] किया है। जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ केवल मिथ्यात्व किया है[11]।

श्लोक ५७ :

८४. श्लोक ५७ :

चूर्णिद्वय मे गृहस्थ के घर बैठने से होने वाले ब्रह्मचर्य-नाश आदि के कारणों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :
स्त्री को बार-बार देखने से और उसके साथ बातचीत करने से ब्रह्मचर्य का विनाश होता है[12]।

---

१ -(क) जि० चू० पृ० २२६ : 'निसिज्जा' नाम एगे कप्पो अणेगा वा कप्पा।
　(ख) हा० टी० प० २०४ : निषद्यायाम् एकादिकल्परूपायाम्।

२ - जि० चू० पृ० २२६ : 'पीढगं'—पलालपीठगादि।

३ - हा० टी० प० २०४ : 'पीठके'—वेत्रमयादौ।

४—अ० चू० पृ० १५४ : गंभीरं अप्पगासं, विजयो—विभागो। गंभीरो जेसिं ते गंभीरविजया।

५ — जि० चू० पृ० २२६ . गंभीरं अप्पगासं भण्णइ, विजओ नाम मग्गणंति वा पिथुकरणंति वा विवेयणति वा विजओत्ति वा एगट्ठा।

६ हा० टी० प० २०४ : गम्भीरम् —अप्रकाशं विजय—आश्रयः अप्रकाशाश्रया 'एते'।

७- जि० चू० पृ० २२६ : अहवा विजओ उवस्सओ भण्णइ, जम्हा तेसिं पाणाणं गंभीरो उवस्सओ तओ दुव्विसोधगा।

८ - भग० २५.७ वृ० : आणाविजए—आज्ञा-जिनप्रवचन तस्याविचयो निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचयं प्राकृतत्वाच्च आणाविजयेत्ति।

९ —अ० चू० पृ १५४ : अबोहिकारि अबोहिक।

१०—हा० टी० प० २०५ : 'अबोधिकं' मिथ्यात्वफलम्।

११—जि० चू० पृ० २२६ : 'अबोहियं' नाम मिच्छत्तं।

१२—जि० चू० पृ० २२६ : कहं बंभचेरस्स विवत्ती होज्जा ?, अवरोप्परओसभासअन्नोऽन्नदंसणादीहिं बंभचेरविवत्ती भवति।

कोई वधक तीतर बेचने के लिए आया। गृहस्वामिनी मुनि के सामने लेने में सकुचाती है। वह वस्त्र मरोड़ने के व्याज से उसकी गर्दन तोड़ देने का संकेत जताती है और वह उस तीतर को असमय मे ही मार डालता है—इस प्रकार अवधकाल में प्राणियों का वध होता है[1]।

टीका मे 'पाणाण च वहे वहो' ऐसा पाठ व्याख्यात है। इसका अर्थ है—गोचराग्र प्रविष्ट मुनि गृहस्थ के घर बैठता है तब उसके लिए भक्त-पान बनाया जाता है—इस प्रकार प्राणियों का वध होता है[2]।

भिक्षाचर घर पर मागने जाते हैं। स्त्री सोचती है कि साधु से बात करते समय बीच में उठ इन्हे भिक्षा कैसे दूं ? साधु को बुरा लगेगा, यह सोच वह उनकी ओर ध्यान नही देती। इससे भिक्षाचरों के अन्तराय होता है और वे साधु का अवर्णवाद बोलते हैं[3]।

स्त्री जब साधु से बातचीत करती है तब उसका पति, ससुर या बेटा सोचने लगता है कि यह साधु के साथ अनुचित बातें करती है। हम भूखे-प्यासे हैं, हमारी तरफ ध्यान नही देती और प्रतिदिन का काम भी नही करती। इस तरह घर वालो को क्रोध उत्पन्न होता है[4]।

श्लोक ५८ :

८५. ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है (अगुत्ती बंभचेरस्स [क])

स्त्री के अङ्ग-प्रत्यङ्गो पर दृष्टि गड़ाए रखने से और उसकी मनोज्ञ इन्द्रियो को निरखते रहने से ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[5]।

८६. स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है (इत्थीओ यावि संकणं [ख]) :

स्त्री के प्रफुल्ल वदन और कटाक्ष को देखकर लोग सन्देह करने लगते हैं कि यह स्त्री इस मुनि को चाहती है और वैसे ही मुनि के प्रति भी लोग सन्देह करने लगते हैं। इस तरह स्त्री और मुनि दोनो के प्रति लोग सन्देहशील बनते हैं[6]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५५ : अवधे वधो—अवहत्थाणे ओरतो। कहं ? अविरतियाए सहालवेंतस्स जीवते तित्तिरए विक्केणुए उवणीए, कहं जीवंतमेतस्स पुरतो गेह्णामि त्ति वत्थद्धंतवलणसन्नाए गीवं वलावेति, एव अवहे वधो सभवति।

(ख) जि० चू० पृ० २२९-३० : पाणाण अवधे वहो भवति, तत्थ पाणा णाम सत्ता, तेसिं अवधे वधो भवेज्जा, कहं ? सो तत्थ उल्लाव करेइ, तत्थ य तित्तिरओ...सो चितेति-कहमेतस्स अग्गओ जीवंतं गेण्हिस्सामि, ताहे ताए सण्णा कया, वलिया वलियार, आगलियं, तेवि जा गिण्हामि ताहे मारिज्जेज्जा, एवं पाणाण अवधे वधो भवति।

२—हा० टी० प० २०५ : प्राणिनां च वधे वधो भवति, तथा सबन्धाबाधाकर्माविकरणेन।

३—जि० चू० पृ० २३० : तत्थ य बहवे भिक्खायरा एंति, सा चितेति—कहमेतस्स सगासाओ उट्ठेहामित्ति अपत्तियं से भविस्सति, ताहे ते अतित्थाविज्जंति, तत्थ अंतराइयदोसो भवति, ते तस्स अवण्णं भासंति।

४—जि० चू० पृ० २३० : समता कोहो पडिकोहो, समंता नाम सव्वत्तो, तकारडकारलकाराणामेगत्तमितिकाउं पडिकोहो पडिज्जइ, सो य पडिकोधो इमेण पगारेण भवति—जे तीए पतिससुरपुत्तादी ते अपडिगणिज्जमाणा मण्णेज्जा-एसा एतेण समणएण पंसुलाए कहाए अक्खित्ता अम्हे आगच्छमाणे वा भुक्खियतिसिए वा णाभिजाणइ, न वा अप्पणो णिच्चकरणिज्जाणि अणुट्ठेइ, अतो पडिकोधो अगारिणं भवइ।

५—जि० चू० पृ० २३० : इत्थीणं अंगपच्चंगेसु दिट्ठिनिवेसमाणस्स इंदियाणि मणुन्नाणि निरिक्खतस्स बंभवतं अगुत्त भवइ।

६—जि० चू० पृ० २३० : इत्थी वा पप्फुल्लवयणा कडक्खविक्खित्तलोयणा संकिजेज्जा, जहा एसा एयं कामयति, चकारेण तथा सुमणियसुक्कावीगुणेहिं उववेतं संकेज्जा।

श्लोक ५६ :

८७. श्लोक ५६ :

चूर्णि और टीका के अनुसार अतिजराग्रस्त, अतिरोगी और घोर तपस्वी भिक्षा लेने के लिए नहीं जाते किन्तु जो असहाय होते हैं, जो स्वयं भिक्षा कर लाया हुआ खाने का अभिग्रह रखते हैं या जो साधारण तप करते हैं, वे भिक्षा के लिए जाते हैं[1]। गृहस्थ के घर में स्वल्पकालीन विश्राम लेने का अपवाद इन्हीं के लिए है और वह भी ब्रह्मचर्य-विपत्ति आदि दोषों का सम्भव न हो, उस स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है[2]।

श्लोक ६० :

८८. आचार (आयारो ग) :

इस श्लोक में आचार और संयम—ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'आचार' का तात्पर्य कायक्लेश आदि बाह्य तप और 'संयम' का तात्पर्य अहिंसा—प्राणि-रक्षा है[3]।

८६. परित्यक्त (जढो घ) :

'जढ' का अर्थ है परित्यक्त[4]। हेमचन्द्राचार्य ने 'त्यक्त' के अर्थ मे 'जढ' को निपात किया है[5] और षड्भाषाचन्द्रिका में इसके अर्थ मे 'जड्ड' का निपात है[6]।

श्लोक ६१ :

६० श्लोक ६१ :

सचित्त जल से स्नान करने मे हिंसा होती है इसलिए उसका निषेध बुद्धिगम्य हो सकता है, किन्तु अचित्त जल से स्नान करने का निषेध क्यों ? सहज ही यह प्रश्न होता है। प्रस्तुत श्लोक में इसी का समाधान है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५५ : अभिभूत इति अतिप्रपीडितो, एवं वाहितो वि, 'तवस्सी' पक्खमासातिखमणकिलंतो एतेसिं णेव गोयरावतरणं। जस्स य पुण सहायासतीए अत्तलाभिए वा हिंडेज्जा ततो एतेसिं निसेज्जा अणुण्णाता।

(ख) जि० चू० पृ० २३०-३१ : जराभिभूओ 'वाहिअस्स तवस्सिणो' त्ति अभिभूयग्गहणं जो अतिकट्ठपत्ताए जराए वज्जइ, जो सो पुण बुड्ढभावेऽवि सति समत्थो ण तस्स गहणं कयंति, एते तिण्णिवि न हिंडाविज्जंति, तिन्नि हिंडाविज्जंति सेयो असत्ताभिओ वा अविकिट्ठतवस्सी वा एवमावि, तेहिं कारणेहिं हिंडेज्जा, तेसिं च तिण्ह णिसेज्जा अणुन्नाया।

(ग) हा० टी० प० २०५ : 'जरयाऽभिभूतस्य' अत्यन्तवृद्धस्य 'व्याधिमतः' अत्यन्तमशक्तस्य 'तपस्विनो' विकृष्टक्षपकस्य। एते च भिक्षाटनं न कार्यन्त एव, आत्मलब्धिकाद्यपेक्षया तु सूत्रविषयः।

२—(क) अ० चू० पृ० १५५ : एतेसिं बंभविवत्ति—वणीमगपडिघातातिजयणाए परिहरंताणं णिसेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० २११ : तत्थ थेरस्स बंभचेरस्स विवत्तीमादी दोसा नत्थि, सो मुहुत्तं अच्छइ, जहा अन्तरातपडिघातादओ दोसा न भवंति, वाहिओऽवि मग्गति किंचि तं जाव निक्कालिज्जइ ताव अच्छइ, विस्समणट्ठं वा, तवस्सीवि आतवेण किलामिओ विसमिज्जा।

३—(क) जि० चू० पृ० २११ : आयारग्गहणेण कायकिलेसादिणो बाहिरतवस्स गहणं कयं।

(ख) हा० टी० प० २०५ : 'आचारो' बाह्यतपोरूपः, 'संयमः' प्राणिरक्षणादिकः।

४—हा० टी० प० २०५ : 'जढः' परित्यक्तो भवति।

५—हैम० ४.२५८ : 'जढं'—त्यक्तम्।

६—षड्भाषाचन्द्रिका पृ० १७८ : त्यक्ते जड्डम्।

७—हा० टी० प० २०५ : प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्याग इत्याह।

९१. पोली भूमि (घसासु [ख]) :

'घसा' का अर्थ है – शुषिर भूमि, पुराने भूसे की राशि[1] या वह प्रदेश जिसके एक सिरे का आक्रमण करने से सारा प्रदेश हिल उठे[2]।

९२. दरार-युक्त भूमि में (भिलुगासु [ख]) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है दरार[3]।

९३. जल से (वियडेण [घ]) :

'विकृत' का अर्थ जल या[4] प्रासुक जल है[5]।

श्लोक ६२ :

९४. श्लोक ६२ :

सूक्ष्म प्राणी की जहां हिंसा न होती हो उस स्थिति में भी स्नान नहीं करना चाहिए। जिनदास महत्तर ने इसके कारणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि स्नान करने से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है, अस्नान रूप काय-क्लेश तप नहीं होता और विभूषा का दोष लगता है[6]।

९५. शीत या उष्ण जल से (सीएण उसिणेण वा [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'शीत' का अर्थ जिसका स्पर्श सुखकर हो वह जल और 'उष्ण' का अर्थ आयु-विनाशकारी जल किया है[7]। टीकाकार ने 'शीत' और 'उष्ण' का अर्थ प्रासुक और अप्रासुक जल किया है[8]।

९६. (असिणाणमहिट्ठगा [घ]) :

यहाँ 'मकार' अलाक्षणिक है।

श्लोक ६३ :

९७. गन्ध-चूर्ण (सिणाणं [क]) :

यहाँ 'स्नान' का अर्थ गन्ध-चूर्ण है। टीकाकार ने 'स्नान' को उसके प्रसिद्ध अर्थ अंग-प्रक्षालन में ग्रहण किया है[9]। वह सही नहीं है। चूर्णिद्वय में इसकी विस्तृत जानकारी नहीं मिलती फिर भी उससे यह स्पष्ट है कि यह कोई उद्वर्तनीय गन्ध द्रव्य है[10]। उमास्वाति ने

१—(क) अ० चू० पृ० १५६ : घसति सुहुमसरीरजीवविसेसा इति घसि, अंतो सुण्णो भूमिपदेसो पुराणभूसातिरासी वा।
(ख) हा० टी० प० २०५ : 'घसासु' शुषिरभूमिषु।

२—जि० चू० पृ० २३१ : घसा नाम जत्थ एगदेसे अक्कममाणे सो पदेसो सव्वो चलइ सा घसा भण्णइ।

३—(क) जि० चू० पृ० २३१ : भिलुगा राई।
(ख) हा० टी० प० २०५ : 'भिलुगासु च' तथाविधभूमिराजीषु च।

४—जि० चू० पृ० २३१ : वियडं पाणयं भण्णइ।

५—(क) अ० चू० पृ० १५६ : 'वियडेण' फासुपाणिएणावि।
(ख) हा० टी० प० २०६ : 'विकृतेन' प्रासुकोदकेन।

६—जि० चू० पृ० २३२ : जइ उप्पीलावणादिदोसा न भवंति, तहावि अन्ने ण्हायमाणस्स दोसा भवंति, कहं ?, ण्हायमाणस्स बंभचेरे अगुत्ति भवति, असिणाणपच्चइओ य कायकिलेसो तवो सो न हवइ, विभूसादोसो य भवति।

७—अ० चू० पृ० १५६ : सीतेण वा सुहफरिसेण, उसिणेण वा आउविणासकारिणा।

८—हा० टी० प० २०६ : शीतेन वोष्णेनोदकेन प्रासुकेनाप्रासुकेन वेत्यर्थः।

९—हा० टी० प० २०६ : 'स्नानं' पूर्वोक्तम्।

१०—अ० चू० पृ० १५६ : सिणाणं सामायिणं उवण्हाणं। अथवा गंधवट्टओ।

इसको घ्राणेन्द्रिय का विषय बतलाया है[1]। उससे भी इसका गन्ध-द्रव्य होना प्रमाणित है। मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष में इसका एक अर्थ सुगन्धित चूर्ण किया है[2]।

९८. कल्क (कक्कं [क]) :

इसका अर्थ स्नान-द्रव्य, विलेपन-द्रव्य अथवा गन्धाट्टक— गन्ध-द्रव्य का आटा है। प्राचीन काल में स्नान में सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग किया जाता था। स्नान से पहले तेल-मर्दन किया जाता और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगन्धित उबटन लगाया जाता था। इसी का नाम कल्क है[3]। इसे चूर्ण-कषाय भी कहा जाता है।

९९. लोध्र (लोद्धं [क]) :

लोध (गन्ध-द्रव्य) का प्रयोग ईषत् पाण्डुर छवि करने के लिए होता था[4]। 'मेघदूत' के अनुसार लोध्र-पुष्प के पराग का प्रयोग मुख की पाण्डुता के लिए होता था[5]। 'कालिदास का भारत' के अनुसार स्नान के बाद काला-गुरु, लोध्र रेणु, धूप और दूसरे सुवासित द्रव्यों (कोषेय) के सुगन्धमय धूप में केश सुखाए जाते थे[6]। 'प्राचीन भारत के प्रसाधन'[7] के अनुसार लोध्र (पठानी लोध) वृक्ष की छाल का चूर्ण शरीर पर, मुख्यतः मुख पर लगाया जाता था। इसका रंग पाण्डुर होता है और पसीने को सुखाता है। सभवतः इन्हीं दो गुणों के कारण कवियों को यह प्रिय रहा होगा। इसका उपयोग श्वेतिमा गुण के लिए ही हुआ है। स्वास्थ्य की दृष्टि से सुश्रुत मे लोध्र के पानी से मुख को धोना कहा है। लोध्र के पानी से मुख धोने पर झाई, फुंसी, दाग मिटाते है[8]।

लोध के वृक्ष बगाल, आसाम और हिमालय तथा खसिया पहाडियों मे पाए जाते है। यह एक छोटी जाति का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष होता है। इसके पत्ते ३ से ६ इच लम्बे, अडाकृत और कगूरेदार होते हैं। इसके फूल पीले रग के और सुगन्धित होते हैं। इसके प्राय आधा इच लम्बा और अंडाकृति का फल लगता है। यह फल पकने पर बैंगनी रग का होता है। इस फल के अन्दर एक कठोर गुठली रहती है। उस गुठली मे दो-दो बीज रहते है। इसकी छाल गेरुए रग की और बहुत मुलायम होती है। इसकी छाल और पत्तो मे से रग निकाला जाता है[9]।

---

१ (क) प्र० प्र० ४३ : स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः ।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥

(ख) प्र० प्र० ४३ अव० : स्नानमङ्गप्रक्षालनं चूर्णम् ।

२ -- A Sanskrit English Dictionary. Page 1266 : Anything used in ablution (e.g. Water, Perfumed Powder) ।

३ --(क) अ० चू० पृ० १५६ : कक्कं ण्हाणसंजोगो वा ।

(ख) जि० चू० पृ० २३२ : कक्को लवन्तयो कीरइ, वण्णावी कक्को वा, उव्वलयं अट्टगमावि कक्को भण्णइ ।

४—(क) अ० चू० पृ० १५६ : लोद्धं कसायादि अपंडुरच्छविकरणत्थं विज्जति ।

(ख) हा० टी० प० २०६ : लोध्रं—गन्धद्रव्यम् ।

५—मेघ० उ० २ : हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं,
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारुकर्णे शिरीषं,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥

६—कालीदास का भारत पृ० १२० ।

७—प्राचीन भारत पृ० ७५ ।

८—सु० चि० २४.८ : क्षिल्लोधककषायेण तथैवामलकस्य वा ।
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थः शीतोदकेन वा ॥
नीलिकां मुखशोषं च पिडकां व्यंगमेव च ।
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत् ॥

९—व० चं० भा० ८ पृ० २२१० ।

१००. पद्म-केसर (पउमगाणि [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि[1] के अनुसार 'पद्मक' का अर्थ 'पद्म-केसर' अथवा कुंकुम, टीकाकार[2] के अनुसार उसका अर्थ कुंकुम और केसर तथा जिनदास चूर्णि[3] के अनुसार कुंकुम है। सर मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ एक विशेष सुगन्धित द्रव्य किया है[4]।

'पद्मक' का प्रयोग महाभारत में मिलता है—तुलाधार ने जाजलि से कहा—"मैंने दूसरों के द्वारा काटे गए काठ और घास-फूस से यह घर तैयार किया है। अलक्तक (वृक्ष-विशेष की छाल), पद्मक (पद्माख), तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्ध-द्रव्य एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओं को मैं दूसरों से खरीद कर बेचता हूँ[5]।" सुश्रुत में भी इसका प्रयोग हुआ है—न्यग्रोधादि गण में कहे आम्र से लेकर नन्दी वृक्ष पर्यन्त वृक्षों की त्वचा, शङ्ख, लाल चन्दन, मुलैहठी, कमल, गैरिक, अजन (सुरमा), मजीठ, कमलनाल, पद्माख—इनको बारीक पीसकर, दूध में घोलकर, शर्करा-मधु मिलाकर भली प्रकार छानकर ठण्डा करके जलन अनुभव करते रोगी को बस्ति दे[6]।

श्लोक ६४ :

१०१. नग्न (नगिणस्स [क]) :

चूर्णिद्वय में 'नगिण' का अर्थ नग्न किया है[7]। टीका में उसके दो प्रकार किए हैं—औपचारिक नग्न और निरुपचरित नग्न। जिनकल्पिक वस्त्र नहीं पहनते इसलिए वे निरुपचरित नग्न होते हैं। स्थविर-कल्पिक मुनि वस्त्र पहनते हैं किन्तु उनके वस्त्र अल्प मूल्य वाले होते हैं, इसलिए उन्हें कुचेलवान् या औपचारिक नग्न कहा जाता है[8]।

१०२. दीर्घ रोम और नख वाले (दीहरोमनहंसिणो [ख]) :

स्थविर-कल्पिक मुनि प्रमाणयुक्त नख रखते हैं जिससे अन्धकार में दूसरे साधुओं के शरीर में वे लग न जाए। जिन-कल्पिक मुनि के नख दीर्घ होते हैं[9]। अगस्त्य चूर्णि से विदित होता है कि नखों के द्वारा नख काटे जाते हैं किन्तु उनके कोण भलीभाँति नहीं कटते इसलिए वे दीर्घ हो जाते हैं[10]।

१—अ० चू० पृ० १५७ : 'पउमं' पउमकेसरं कुंकुमं वा।

२—हा० टी० प० २०६ : 'पद्मकानि च' कुंकुमकेसराणि।

३—जि० चू० पृ० २३२ : पउमं कुंकुम भण्णइ।

४—A Sanskrit English Dictionary. Page 584 : Padmaka—A Particular fragrant Substance.

५—महा० शा० अ० २६२. श्लोक ७ : परिच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम्।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा॥

६—सु० उत्तरभाग. ३६.१४८ : आम्रादीनां त्वचं शङ्खं चन्दनामलकोत्पलैः॥
गैरिकाञ्जनमञ्जिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम्।
श्लक्ष्णपिष्टं तु पयसा शर्करामधुसंयुतम्॥

७—(क) अ० चू० पृ० १५७ : 'णगिणो' णग्गो।
(ख) जि० चू० पृ० २३२ : णगिणो—णग्गो भण्णइ।

८—हा० टी० प० २०६ : 'नग्नस्य वापि' कुचेलवतोऽप्युपचारनग्नस्य निरुपचरितस्य नग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यमेव सूत्रम्।

९—हा० टी० प० २०६ : 'दीर्घरोमनखवतः' दीर्घरोमवतः कक्षादिषु दीर्घनखवती हस्तादौ जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति यथाऽन्यसाधूनां शरीरेषु तमस्यपि न लगन्ति।

१०—अ० चू० पृ० १५७ : दीहाणि रोमाणि कक्खादिसु जस्स सो दीहरोमो, अग्गी कोटी, णहाणं अग्गीयो णहस्सीयो, णहा जदि वि पडिणहादीहि अतिदीहा कप्पिज्जंति तहवि असंठविताओ णहधूराओ दीहाओ भवंति। दीहसद्दो पत्तेयं भवति, दीहाणि रोमाणि णहस्सीयो य जस्स सो दीहरोमणहस्सी तस्स।

श्लोक ६७ :

१०३. अमोहदर्शी (अमोहदंसिणो [क]) :

मोह का अर्थ विपरीत है। अमोह इसका प्रतिपक्ष है। जिसका दर्शन अविपरीत है उसे अमोहदर्शी कहते हैं[1]।

१०४ शरीर को (अप्पाणं [क]) :

'आत्मा' शब्द शरीर और जीव —इन दोनो अर्थों मे व्यवहृत होता है। मृत शरीर के लिए कहा जाता है कि इसका आत्मा चला गया - आत्मा शब्द का यह प्रयोग जीव के अर्थ में है। यह कृशात्मा है, स्थूलात्मा है—आत्मा शब्द का यह प्रयोग शरीर के अर्थ में है। प्रस्तुत श्लोक मे आत्मा शब्द शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शरीर अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ कार्मण शरीर का अधिकार है। कार्मण शरीर—सूक्ष्म शरीर को क्षय करने के लिए तप किया गया है तब औदारिक शरीर—स्थूल शरीर स्वयं कृश हो जाता है अथवा औदारिक शरीर को तप के द्वारा कृश किया जाता है तब कार्मण शरीर स्वयं कृश हो जाता है[2]।

श्लोक ६८ :

१०५. आत्म-विद्यायुक्त (सविज्जविज्जाणुगया [ख]) :

'स्वविद्या' का अर्थ अध्यात्म-विद्या है। 'स्वविद्या' ही विद्या है, उससे जो अनुगत —युक्त है उसे 'स्वविद्याविद्यानुगत' कहते हैं[3]। यह अगस्त्य चूर्णि की व्याख्या है। जिनदास महत्तर विद्या शब्द के पुन. प्रयोग को लौकिक-विद्या का प्रतिषेध करने के लिए ग्रहण किया हुआ बतलाते हैं[4]। टीकाकार ने 'स्वविद्या' को केवल ज्ञान या श्रुत-ज्ञान रूप माना है[5]।

१०६. शरद् ऋतु के (उउप्पसन्ने [ग]) :

सब ऋतुओ मे अधिक प्रसन्न ऋतु शरद् है। इसलिए उसे 'ऋतु प्रसन्न' कहा गया है। इसका दूसरा अर्थ—प्रसन्न-ऋतु भी किया जा सकता है[6]।

१०७. चन्द्रमा (चंदिमा [ग]) :

चूर्णि और टीका मे 'चंदिमा' का अर्थ 'चन्द्र' किया है[7]। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'चंदिमा' का सस्कृत रूप चन्द्रिका होता है[8]।

१—(क) अ० चू० पृ० १५७ : मोहं विवरीयं, ण मोहं अमोहं पस्सति अमोहदंसिणो।

(ख) जि० चू० पृ० २३३ : अमोहं पासंतित्ति अमोहदंसिणो सम्मद्दिट्ठी ··।

२—(क) अ० चू० पृ० १५७ : 'अप्पाणं' अप्पा इति एस सद्दो जीवे सरीरे य दिट्ठप्पयोगो, जीवे जधा मतसरीरं भण्णति—गतो सो अप्पा जस्सिमं सरीरं, सरीरे—थूलप्पा किसप्पा, इह पुण तं खविज्जति, त्ति अप्पवयणं सरीरे ओरालियसरीरखवणेण कम्मणं वा सरीरखवणमिति, उभयेणाधिकारो।

(ख) जि० चू० पृ० २३३ : आह—किं ताव अप्पाणं खवेंति उदाहु सरीरंति ?, आयरिओ भणइ—अप्पसद्दो दोहिवि दीसइ—सरीरे जीवे य, तत्थ सरीरे ताव जहा एसो संतो दीसई भा णं हिंसहित्ति, जीवे जहा गओ सो जीवो जस्सेयं सरीरं, तेण भणितं खवेंति अप्पाणंति, तत्थ सरीरं औदारिकं कम्मगं च, तत्थ कम्मएण अधिगारो, तस्स य तवसा खए कीरमाणे ओवारियमवि खिज्जइ।

३—अ० चू० पृ० १५८ : सविज्जविज्जाणुगता 'स्व' इति अप्पा, 'विज्जा' विन्नाणं, आत्मनि विज्जा सविज्जा अज्झप्पविज्जा, विज्जागाणातो सेसिज्जति, अज्झप्पविज्जा जा विज्जा ताए अणुगता सविज्जविज्जाणुगता।

४—जि० चू० पृ० २३४ : बीय विज्जागहण लोइयविज्जापडिसेहणत्थं कतं।

५—हा० टी० प० २०७ : स्वविद्या—परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा।

६—अ० चू० पृ० १५८ : उदू छ, तेसु पसण्णो उदुप्पसण्णो, सो पुण सरदो, अहवा उदू एव पसण्णो।

७—(क) अ० चू० पृ० १५८ : चन्द्रमा चन्द्र इत्यर्थः।

(ख) जि० चू० पृ० २३४ : जहा सरए चंदिमा विसेसेण निम्मलो भवति।

(ग) हा० टी० प० २०७ : चन्द्रमा इव विमलाः।

८—हैम० ८.१.१८५ : चन्द्रिकायां मः।

१०८. सौधर्मावतंसक आदि विमानों को (विमाणाइ घ) :

वैमानिक देवों के निवास-स्थान 'विमान' कहलाते हैं[1]। सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने वाले उत्कृष्टतः अनुत्तर विमान तक चले जाते हैं[2]।

१—हा० टी० प० २०७ : 'विमानानि' सौधर्मावतंसकादीनि ।

२—अ० चू० पृ० १५८ : विमाणाणि उक्कोसेण अणुत्तरादीणि ।

सत्तमं अज्झयणं

वक्कसुद्धि

सप्तम अध्ययन

वाक्यशुद्धि

आमुख

आचार का निरूपण उसी को करना चाहिए जिसे वाक्य-शुद्धि का विवेक मिला हो। मौन गुप्ति है, वाणी का प्रयोग समिति। गुप्ति का लाभ अकेले साधक को मिलता है, समिति का लाभ वक्ता और श्रोता—दोनों को मिलता है। वाणी का वही प्रयोग समिति है जो सावद्य और अनवद्य के विवेक से सम्वलित हो। जिसे सावद्य-अनवद्य का विवेक न हो उसे बोलना भी उचित नहीं फिर उपदेश देने की बात तो बहुत दूर है[1]।

प्रस्तुत अध्ययन में असत्य और सत्यासत्य भाषा के प्रयोग का निषेध किया गया है[2], क्योंकि भाषा के ये दोनों प्रकार सावद्य ही होते हैं। सत्य और असत्याऽमृषा (व्यवहार-भाषा) के प्रयोग का निषेध भी है[3] और विधान भी है[4]।

सत्य और व्यवहार-भाषा सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की होती है। वस्तु के यथार्थ रूप का स्पर्श करने वाली भाषा सत्य हो सकती है, किन्तु वह वक्तव्य हो भी सकती है और नहीं भी। जिससे कर्म-परमाणु का प्रवाह आए वह जीव-वधकारक-भाषा सत्य होने पर भी अवक्तव्य है[5]। इस प्रकार निर्ग्रन्थ के लिए क्या वक्तव्य और क्या अवक्तव्य—इसका प्रस्तुत अध्ययन में बहुत सूक्ष्म विवेचन है। अहिंसा की दृष्टि से यह बहुत ही मननीय है। दशवैकालिक सूत्र अहिंसा का आचार-दर्शन है। वाणी का प्रयोग आचार का प्रमुख अंग है। अहिंसक को बोलने से पहले और बोलते समय कितनी सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिए, यह अध्ययन उसका निदर्शन है।

भाषा के प्रकारों का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। उसके लिए प्रज्ञापना (पद ११) और स्थानाङ्ग (स्था० १०) द्रष्टव्य हैं।

वाक्य-शुद्धि से संयम की शुद्धि होती है। अहिंसात्मक वाणी भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है। अतः वाक्य-शुद्धि का विवेक देने के लिए स्वतन्त्र अध्ययन रचा गया है[6]। प्रस्तुत अध्ययन सत्य-प्रवाद (छट्ठे) पूर्व से उद्धृत किया गया है[7]। निर्युक्तिकार ने मौन और भाषण दोनों को कसौटी पर कसा है। भाषा-विवेकहीन मौन का कोई विशेष मूल्य नहीं है। भाषा-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति दिन-भर बोलकर भी मौन की आराधना कर लेता है। इसलिए पहले बुद्धि से विमर्श करना चाहिए फिर बोलना चाहिए। आचार्य ने कहा—शिष्य! तेरी वाणी बुद्धि का वैसे अनुगमन करे जैसे अन्धा आदमी अपने नेता (ले जाने वाले) का अनुगमन करता है[8]।

१—हा० टी० प० २०७ : "सावज्जणवज्जाणं, वयणाण जो न याणइ विसेस।
वोत्तुं पि तस्स ण खमं, किमंग पुण देसणं काउं॥

२—दश० ७.१,२।

३—वही, ७.२।

४—वही, ७.३।

५—वही, ७.११-१३।

६—दश० नि० २८८ : जं वक्कं वयमाणस्स संजमो सुज्झई न पुण हिंसा।
न य अत्तकलुसभावो तेण इहं वक्कसुद्धित्ति॥

७—वही, १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।

८—वही, २९०-२९२ : वयणविभत्तिअकुसलो वओगयं बहुविहं अयाणंतो।
जइवि न भासइ किंची न चेव वयगुत्तयं पत्तो॥
वयणविभत्तीकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसंपि भासमाणो तहावि वयगुत्तयं पत्तो॥
पुव्वं बुद्धीए पेहित्ता पच्छा वयमुयाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेउ ते गिरा॥

सत्तमं अज्झयणं : सप्तम अध्ययन

वक्कसुद्धि : वाक्यशुद्धि

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं । दोण्हं तु विणयं सिक्खे दो न भासेज्ज सव्वसो ॥	चतसृणां खलु भाषाणां, परिसंख्याय प्रज्ञावान् । द्वाभ्यां तु विनयं शिक्षेत, द्वे न भाषेत सर्वशः ॥१॥	१—प्रज्ञावान् मुनि चारों भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग)[1] सीखे और दो सर्वथा न बोले ।
२—जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा य जा मुसा । जा य बुद्धेहिऽणाइन्ना न तं भासेज्ज पन्नवं ॥	या च सत्या अवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा । या च बुद्धैरनाचीर्णा, न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥२॥	२—जो अवक्तव्य-सत्य[2], सत्यमृषा (मिश्र) मृषा और असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो[3] उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले ।
३—असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं । समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥	असत्यामृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम् । समुत्प्रेक्ष्य (क्ष्य) असंदिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३॥	३—प्रज्ञावान् मुनि असत्याऽमृषा (व्यवहार-भाषा) और सत्य-भाषा—जो अनवद्य, मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले ।
४—[4]एयं च अट्ठमन्नं वा जं तु नामेइ सासयं[8] । स भासं सच्चमोसं पि तं पि धीरो विवज्जए ॥	एतं चार्थमन्यं वा, यस्तु नामयति स्वाशयम् । स भाषां सत्यामृषां अपि, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥४॥	४—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्याऽमृषा को भी[5] न बोले जो अपने आशय को 'यह[6] अर्थ है या दूसरा'[7]—इस प्रकार संदिग्ध बना देती हो ।
५—[9]वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो । तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुसं वए ॥	वितथामपि तथा-मूर्ति, यां गिरं भाषते नरः । तस्मात्स स्पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषा वदेत् ॥५॥	५—जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुष-वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले ?
६—तम्हा गच्छामो वक्खामो अमुगं वा णे भविस्सई । अहं वा णं करिस्सामि एसो वा णं करिस्सई ॥	तस्माद् गच्छामः वक्ष्यामः, अमुकं वा नो भविष्यति । अहं वा इदं करिष्यामि, एष वा इदं करिष्यति ॥६॥	६-७—इसलिए[10]—'हम जाएंगे'[11], 'कहेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', 'मैं यह करूँगा' अथवा 'यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा'—यह और इस प्रकार की

७—एवमाई उ जा भासा
एसकालम्मि संकिया ।
संपयाईयमट्ठे वा
तं पि धीरो विवज्जए ॥

एवमादिस्तु या भाषा,
एष्यत्काले शङ्किता ।
साम्प्रतातीतार्थयोर्वा,
तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥७॥

दूसरी भाषा जो भविष्य-सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल-सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित[१२] हो, उसे भी धीर-पुरुष न बोले ।

८—[१३]अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा
एवमेयं ति नो वए ॥

अतीते च काले,
प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यमर्थं तु न जानीयात्,
एवमेतदिति नो वदेत् ॥८॥

८—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जिस अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे ।

९—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु
एवमेयं ति नो वए ॥

अतीते च काले,
प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यत्र शंका भवेत्तत्,
एवमेतदिति नो वदेत् ॥९॥

९—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जिस अर्थ में शंका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है' ऐसा न कहे ।

१०—[१४]अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
निस्संकियं भवे जं तु
एवमेयं ति निद्दिसे ॥

अतीते च काले,
प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
निश्शङ्कितं भवेद्यत्तु,
एवमेतदिति निर्दिशेत् ॥१०॥

१०—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो (उसके बारे में) 'यह इस प्रकार ही है'- ऐसा कहे ।

११—तहेव फरुसा भासा
गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा
जओ पावस्स आगमो ॥

तथैव परुषा भाषा,
गुरुभूतोपघातिनी ।
सत्यापि सा न वक्तव्या,
यतः पापस्य आगमः ॥११॥

११—इसी प्रकार परुष[१५] और महान् भूतोपघात करने वाली[१६] सत्य भाषा भी न बोले, क्योंकि इससे पाप-कर्म का बंध होता है ।

१२—तहेव काणं काणे त्ति
पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति
तेणं चोरे त्ति नो वए ॥

तथैव काणं 'काण' इति,
पण्डकं पण्डक इति वा ।
व्याधितं वाऽपि रोगीति,
स्तेनं "चोर" इति नो वदेत् ॥१२॥

१२—इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।

१३—एएणन्नेण अट्ठेण
परो जेणुवहम्मई ।
आयारभावदोसन्नू
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥

एतेनाऽन्येन वाऽर्थेन,
परो येनोपहन्यते ।
आचार-भाव-दोषज्ञः,
न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥१३॥

१३—आचार (वचन-नियमन) संबंधी भाव-दोष (चित्त के प्रद्वेष या प्रमाद) को जानने वाला[१७] प्रज्ञावान् पुरुष पूर्व श्लोकोक्त अथवा इसी कोटि की दूसरी भाषा, जिससे दूसरे को चोट लगे—न बोले ।

१४—[18]तहेव होले गोले त्ति
साणे वा वसुले त्ति य।
दमए दुहए वा वि
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव 'होलः' 'गोल' इति,
'श्वा' वा 'वृषल' इति च।
'द्रमको' 'दुर्भग' श्चाऽपि,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥१४॥

१४—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल!, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !—ऐसा न बोले।

१५—[19]अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥

आर्यिके ! प्रार्यिके ! वाऽपि,
अम्ब ! मातृष्वसः ! इति च।
पितृष्वसः ! भागिनेयि ! इति,
दुहितः ! नप्तृके ! इति च ॥१५॥

१६—[20]हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥

हले ! हला ! इति 'अन्ने' इति,
'भट्टे !' स्वामिनि ! गोमिनि !
'होले' ! गोले ! 'वृषले' ! इति,
स्त्रियं नैवमालपेत् ॥१६॥

१७—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण[21] वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

नामधेयेन तां ब्रूयात्,
स्त्री-गोत्रेण वा पुन.।
यथार्हमभिगृह्य,
आलपेत् लपेत् वा ॥१७॥

१५-१६-१७—हे आर्यिके! (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके ! (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्ब ! (हे मा !), हे मौसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !, हे हले !, हे हला !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे गोले !, हे वृषले !—इस प्रकार स्त्रियों को आमन्त्रित न करे ! किन्तु (प्रयोजन वश) यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर[22] एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे।

१८—अज्जए पज्जए वा वि
बप्पो चुल्लपिउ त्ति य।
माउला भाइणेज्ज त्ति
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥

आर्यक ! प्रार्यक ! वाऽपि,
वप्तः ! क्षुल्लपितः ! इति च।
मातुल ! भागिनेय ! इति,
पुत्र ! नप्तः ! इति च ॥१८॥

१९—[23]हे हो हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टा सामिय गोमिए।
होल गोल वसुले त्ति
पुरिसं नेवमालवे ॥

हे ! भो ! हल ! इति 'अन्न !' इति,
भट्ट ! स्वामिक ! गोमिक !।
'होल !' 'गोल' 'वृषल !' इति
पुरुषं नैवमालपेत् ॥१९॥

२०—नामधेज्जेण णं बूया
पुरिसगोत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

नामधेयेन तं ब्रूयात्,
पुरुष-गोत्रेण वा पुनः।
यथार्हमभिगृह्य,
आलपेत् लपेत् वा ॥२०॥

१८-१९-२०—हे आर्यक !, (हे दादा!, हे नाना !), हे प्रार्यक !, (हे परदादा !, हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता!, हे हल !, हे अन्न!, हे भट्ट !, हे स्वामिन्!, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृषल !—इस प्रकार पुरुष को आमंत्रित न करे। किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे।

२१—[24]पंचिंदियाण पाणाणं
एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न विजाणेज्जा
ताव जाइ त्ति आलवे॥

पञ्चेन्द्रियाणां प्राणानां,
एषा स्त्री अयं पुमान्।
यावत्तां (त) न विजानीयात्,
तावत् 'जातिः' इत्यालपेत्॥२१॥

२१—पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के बारे में जब तक—यह स्त्री है या पुरुष—ऐसा न जान जाए तब तक गाय की जाति, घोड़े की जाति—इस प्रकार बोले।

२२—[25]तहेव मणुस्सं पसुं
पक्खिं वा वि सरीसिवं।
थूले पमेइले वज्झे
पाइमे त्ति य नो वए॥

तथैव मनुष्यं पशुं,
पक्षिणं वाऽपि सरीसृपम्।
स्थूलः प्रमेदुरो बध्यः (वाह्यः),
पाक्य (पात्य) इति च नो वदेत्॥२२॥

२३—[28]परिवुड्ढे त्ति णं बूया
बूया उवचिए त्ति य।
संजाए पीणिए वा वि
महाकाए त्ति आलवे॥

परिवृद्ध इत्येनं ब्रूयात्,
ब्रूयादुपचित इति च।
सजातः प्रीणितो वाऽपि,
महाकाय इत्यालपेत्॥२३॥

२२-२३—इसी प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी और साँप को (देख यह) स्थूल, प्रमेदुर, वध्य (या वाह्य)[26] अथवा पाक्य[27] है, ऐसा न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) उसे परिवृद्ध[29] कहा जा सकता है, उपचित[30] कहा जा सकता है अथवा सजात (युवा)[31], प्रीणित[32] और महाकाय कहा जा सकता है।

२४—तहेव गाओ दुज्झाओ
दम्मा गोरहग त्ति य।
वाहिमा रहजोग त्ति
नेवं भासेज्ज पन्नवं॥

तथैव गावो दोह्याः,
दम्या 'गोरहगा' इति च।
वाह्या रथयोग्या इति,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान्॥२४॥

२४-२५—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि गायें दुहने योग्य हैं[33], बैल[34] दमन करने योग्य है[35], वहन करने योग्य है[36] और रथ-योग्य है[37]—इस प्रकार न बोले।

(प्रयोजनवश कहना हो तो) बैल युवा है[39], धेनु दूध देने वाली है, (बैल) छोटा है, बड़ा है[40] अथवा सवहन—धुरा को वहन करने वाला है[41]—यों कहा जा सकता है।

२५—[38]जुवं गवे त्ति णं बूया
धेणुं रसदय त्ति य।
रहस्से महल्लए वा वि
वए संवहणे त्ति य॥

युवा गौरित्येनं ब्रूयात्,
धेनुं रसदा इति च।
ह्रस्वो वा महान् वाऽपि,
वदेत् सवहन इति च॥२५॥

२६—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए
नेवं भासेज्ज पन्नवं॥

तथैव गत्वोद्यानं,
पर्वतान् वनानि च।
रुक्षान् महतः प्रेक्ष्य,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान्॥२६॥

२६—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बड़े वृक्षों को देख प्रज्ञावान् मुनि यों न कहे—

२७—अलं पासायखंभाणं
तोरणाणं गिहाण य।
फलिहग्गलनावाणं
अलं उदगदोणिणं॥

अलं प्रासादस्तम्भाभ्यां,
तोरणेभ्यो गृहेभ्यश्च।
परिघार्गलनौभ्यः,
अलं उदकद्रोण्यै॥२७॥

२७—(ये वृक्ष) प्रासाद[42], स्तम्भ, तोरण (नगरद्वार), घर, परिघ, अर्गला[43], नौका और जल की कुंडी के लिए[44] उपयुक्त (पर्याप्त या समर्थ) हैं।

२८—पीढए चंगबेरे य
नंगले मइयं सिया ।
जंतलट्ठी व नाभी वा
गंडिया[४७] व अलं सिया ॥

पीठकाय 'चंगबेराय' च,
लाङ्गलाय 'मयिकाय' स्यात् ।
यन्त्रयष्ट्यै वा नाभये वा,
गण्डिकायै वा अलं स्यात् ॥२८॥

२८—(ये वृक्ष) पीठ, काष्ठ-पात्री,[४५] हल, मयिक[४६], कोल्हू, नाभि (पहिए का मध्य भाग) अथवा अहरन के उपयुक्त हैं ।

२९—आसणं सयणं जाणं
होज्जा वा किंचुवस्सए ।
भूओवघाइणिं भासं
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

आसनं शयनं यानं,
भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये ।
भूतोपघातिनीं भाषां,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२९॥

२९—(इन वृक्षों) में आसन, शयन, यान और उपाश्रय के[४८] उपयुक्त कुछ (काष्ठ) हैं—इस प्रकार भूतोपघातिनी भाषा प्रज्ञावान् भिक्षु न बोले ।

३०—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव गत्वोद्यानं,
पर्वतान् वनानि च ।
वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य,
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३०॥

३१—जाइमंता इमे रुक्खा
दीहवट्टा महालया ।
पयायसाला विडिमा
वए दरिसणि त्ति य ॥

जातिमन्त इमे वृक्षाः,
दीर्घवृत्ताः महान्तः ।
प्रजातशाखा विटपिनः,
वदेद् दर्शनीया इति च ॥३१॥

३०-३१—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन मे जा वहाँ बड़े वृक्षो को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) प्रज्ञावान् भिक्षु यों कहे—ये वृक्ष उत्तम जाति के हैं, लम्बे हैं, गोल हैं, महालय (बहुत विस्तार वाले अथवा स्कन्ध युक्त) हैं[४९], शाखा वाले हैं, प्रशाखा वाले हैं[५०] और दर्शनीय हैं ।

३२—तहा फलाइं पक्काइं
पायखज्जाइं नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइं
वेहिमाइ त्ति नो वए ॥

तथा फलानि पक्वानि,
पाकखाद्यानि नो वदेत् ।
वेलोचितानि 'टालाइं',
वेध्यानि इति नो वदेत् ॥३२॥

३२—तथा ये फल पक्व हैं, पकाकर खाने योग्य हैं[५१]—इस प्रकार न कहे । (तथा ये फल) वेलोचित (अविलम्ब तोडने योग्य) हैं[५२], इनमे गुठली नही पड़ी है[५३], ये दो टुकड़े करने योग्य हैं[५४] (फांक करने योग्य हैं)—इस प्रकार न कहे ।

३३—[५५]असंथडा इमे अंबा
बहुनिवट्टिमा[५६]-फला ।
वएज्ज बहुसंभूया
भूयरूव त्ति वा पुणो ॥

असंस्कृता इमे आम्राः,
बहुनिर्वर्तित-फलाः ।
वदेद् बहुसंभूता,
भूतरूपा इति वा पुनः ॥३३॥

३३—(प्रयोजनवश कहना हो तो) ये आम्र-वृक्ष अब फल-धारण करने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (प्रायः निष्पन्न) फल वाले हैं, बहु-संभूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले) हैं अथवा भूतरूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहे ।

३४—तहेवोसहीओ पक्काओ
नीलियाओ छवीइय ।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति
पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥

तथैवौषधयः पक्वाः,
नीलिकाः छविमत्यः ।
लवनीया भर्जनीया इति,
पृथु-खाद्या इति नो वदेत् ॥३४॥

३४—इस प्रकार औषधियाँ[५७] पक गई हैं, अपक्व हैं[५८], छवि (फली) वाली हैं[५९], काटने योग्य हैं, भूनने योग्य हैं, चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं—[६०]इस प्रकार न बोले ।

३५—[61]कढा बहुसंभूया
थिरा ऊसढा वि य।
गब्भियाओ पसूयाओ
ससाराओ त्ति आलवे ॥

कढा बहुसम्भूताः,
स्थिरा उच्छ्रता अपि च।
गर्भिताः प्रसूताः,
ससारा इत्यालपेत् ॥३५॥

३५—(प्रयोजनवश बोलना हो तो) औषधियाँ अंकुरित हैं, निष्पन्न-प्रायः हैं, स्थिर हैं, ऊपर उठ गई हैं, भुट्टों से रहित हैं, भुट्टों से सहित हैं, धान्य-कण सहित हैं—इस प्रकार बोले।

३६—तहेव संखडिं नच्चा
किच्चं कज्जं ति नो वए।
तेणगं वा वि वज्झे त्ति
सुतित्थ त्ति य आवगा ॥

तथैव संस्कृतिं ज्ञात्वा,
कृत्यं कार्यमिति नो वदेत्।
स्तेनकं वाऽपि वध्य इति,
सुतीर्था इति चापगाः ॥३६॥

३६-३७—इसी प्रकार संखडी (जीमनवार)[62] और कृत्य—मृतभोज को जानकर—ये करणीय हैं[63], चोर मारने योग्य है और नदी अच्छे घाट वाली है - इस प्रकार न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) संखडी को संखड़ी, चोर को पणितार्थ (धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला)[64] और 'नदी के घाट प्रायः सम है'—इस प्रकार कहा जा सकता है।

३७—संखडिं संखडिं बूया
पणियट्ठ त्ति तेणगं।
बहुसमाणि तित्थाणि
आवगाणं वियागरे ॥

संस्कृतिं संस्कृतिं ब्रूयात्,
पणितार्थ इति स्तेनकम्।
बहुसमानि तीर्थानि,
आपगानां व्यागृणीयात् ॥३७॥

३८—तहा नईओ पुण्णाओ
कायतिज्ज[65] त्ति नो वए।
नावाहिं तारिमाओ त्ति
पाणिपेज्ज त्ति नो वए ॥

तथा नद्यः पूर्णाः,
कायतार्या इति नो वदेत्।
नौभिस्तार्या इति,
प्राणिपेया इति नो वदेत् ॥३८॥

३८-३९—तथा नदियाँ भरी हुई हैं, शरीर के द्वारा पार करने योग्य हैं, नौका के द्वारा पार करने योग्य है और तट पर बैठे हुए प्राणी उनका जल पी सकते हैं—इस प्रकार न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) (नदियाँ) प्रायः भरी हुई हैं, प्रायः अगाध है, बहु-सलिला हैं, दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है[66], बहुत विस्तीर्ण जल वाली हैं—प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे।

३९—बहुवाहडा अगाहा
बहुसलिलुप्पिलोदगा।
बहुवित्थडोदगा यावि
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

बहुप्रभृता अगाधा,
बहुसलिलोत्पीडोदकाः।
बहुविस्तृतोदकाश्चापि,
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३९॥

४०—तहेव सावज्जं जोगं
परस्सट्ठाए निट्ठियं।
कीरमाणं ति वा नच्चा
सावज्जं न लवे मुणी ॥

तथैव सावद्यं योगं,
परस्यार्थाय निष्ठितम्।
क्रियमाणमिति वा ज्ञात्वा,
सावद्यं न लपेत् मुनिः ॥४०॥

४०—इसी प्रकार दूसरे के लिए किए गए अथवा किए जा रहे सावद्य व्यापार को जानकर मुनि सावद्य वचन न बोले। जैसे—

४१—[67]सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुछिन्ने सुहडे मडे।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥

सुकृतमिति सुपक्वमिति,
सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम्।
सुनिष्ठितं सुलष्टमिति,
सावद्यं वर्जयेत् मुनिः ॥४१॥

४१—बहुत अच्छा किया है[68] (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्र-शाक आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (शाक की तिक्तता आदि), बहुत अच्छा मरा है (दाल या सत्तू में घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है (तेमन आदि में), बहुत ही इष्ट है (चावल आदि)—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे।

४२—पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे
पयत्तछिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्तलट्ठ त्ति व कम्महेउयं
पहारगाढ त्ति व गाढमालवे ॥

प्रयत्नपक्वमिति वा पक्वमालपेत्,
प्रयत्नछिन्नमिति वा छिन्नमालपेत् ।
प्रयत्नलष्टमिति वा कर्महेतुकम्,
गाढप्रहारमिति वा गाढमालपेत् ॥४२॥

४२—(प्रयोजनवश कहना हो तो) सुपक्व को प्रयत्न-पक्व कहा जा सकता है। सुच्छिन्न को प्रयत्नच्छिन्न कहा जा सकता है, कर्म-हेतुक[६९] (शिक्षापूर्वक किए हुए) को प्रयत्न-लष्ट कहा जा सकता है। गाढ (गहरे घाव वाले) को प्रहार गाढ कहा जा सकता है।

४३—सव्वुक्कसं परग्घं वा
अउलं नत्थि एरिसं ।
अचक्कियमवत्तव्वं
अचिंतं चेव नो वए ॥

सर्वोत्कर्षं परार्घं वा,
अतुलं नास्ति ईदृशम् ।
अशक्यमवक्तव्यम्,
अचिन्त्यं चैव नो वदेत् ॥४३॥

४३—(क्रय-विक्रय के प्रसग में) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह तुलना-रहित है इसके समान दूसरी वस्तु कोई नही है, इसका मोल करना शक्य नही है[७०], इसकी विशेषता नही कही जा सकती[७१], यह अचिन्त्य है—इस प्रकार न कहे।

४४—सव्वमेयं वइस्सामि
सव्वमेयं त्ति नो वए ।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

सर्वमेतद् वदिष्यामि,
सर्वमेतदिति नो वदेत् ।
अनुविचिन्त्य सर्वं सर्वत्र,
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥४४॥

४४—(कोई सन्देश कहलाए तब) मैं यह सब कह दूंगा, (किसी को सन्देश देता हुआ) यह पूर्ण है (अविकल या ज्यों का त्यों है) इस प्रकार न कहे। सब प्रसगों में पूर्वोक्त सब वचन-विधियों का अनुचिन्तन कर प्रज्ञा-वान् मुनि वैसे बोले (जैसे कर्मबन्ध न हो)।

४५—सुक्कीयं वा सुविक्कीयं
अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच
पणियं नो वियागरे ॥

सुक्रीत वा सुविक्रीतम्,
अक्रेयं क्रेयमेव वा ।
इदं गृहाण इदं मुञ्च,
पण्यं नो व्यागृणीयात् ॥४५॥

४५—पण्य वस्तु के बारे मे (यह माल) अच्छा खरीदा (बहुत सस्ता आया) (यह माल) अच्छा बेचा (बहुत नफा हुआ), यह बेचने योग्य नही है, यह बेचने योग्य है, इस माल को ले (यह महगा होने वाला है), इस माल को बेच डाल (यह सस्ता होने वाला है)—इस प्रकार न कहे।

४६—अप्पग्घे वा महग्घे वा
कए वा विक्कए वि वा ।
पणियट्ठे समुप्पन्ने
अणवज्जं वियागरे ॥

अल्पार्घे वा महार्घे वा,
क्रये वा विक्रयेऽपि वा ।
पण्यार्थे समुत्पन्ने,
अनवद्यं व्यागृणीयात् ॥४६॥

४६—अल्पमूल्य या बहुमूल्य माल के लेने या बेचने के प्रसङ्ग मे मुनि अनवद्य वचन बोले क्रय-विक्रय से विरत मुनियो का इस विषय में कोई अधिकार नही है इस प्रकार कहे।

४७—[७२]तहेवासंजयं धीरो
आस एहि करेहि वा ।
सय चिट्ठ वयाहि त्ति,
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैवाऽसंयतं धीरः,
आस्व एहि कुरु वा ।
शेष्व तिष्ठ व्रज इति,
नैव भाषेत प्रज्ञावान् ॥४७॥

४७—इसी प्रकार धीर और प्रज्ञावान् मुनि असंयति (गृहस्थ) को बैठ, इधर आ (अमुक कार्य) कर, सो, ठहर या खड़ा हो जा, चला जा—इस प्रकार न कहे।

४८—बहवे इमे असाहू
लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहु त्ति
साहुं साहु त्ति आलवे ॥

बहव इमे असाधवः,
लोके उच्यन्ते साधवः ।
न लपेदसाधुं साधुरिति,
साधुं साधुरित्यालपेत् ॥४८॥

४८—ये बहुत सारे असाधु जन-साधारण मे साधु कहलाते हैं। मुनि असाधु को साधु न कहे, जो साधु हो उसी को साधु कहे[७३]।

४९—नाणदंसणसंपन्नं
संजमे य तवे रयं ।
एवंगुणसमाउत्तं
संजयं साहुमालवे ॥

ज्ञानदर्शनसंपन्नं,
संयमे च तपसि रतम् ।
एवं गुणसमायुक्तं,
संयतं साधुमालपेत् ॥४९॥

४९—ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप मे रत —इस प्रकार गुण-समायुक्त संयमी को ही साधु कहे ।

५०—[७४]देवाणं मणुयाणं च
तिरियाणं च वुग्गहे ।
अमुयाणं जओ होउ
मा वा होउ त्ति नो वए ॥

देवानां मनुजानाञ्च,
तिरश्चां च व्युद्ग्रहे ।
अमुकानां जयो भवतु,
मा वा भवतु इति नो वदेत् ॥५०॥

५०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों (पशु-पक्षियो) का आपस मे विग्रह होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो—इस प्रकार न कहे ।

५१—[७५]वाओ वुट्ठं व सीउण्हं
खेमं धायं सिवं ति वा ।
कया णु होज्ज एयाणि
मा वा होउ त्ति नो वए ॥

वातो वृष्टं वा शीतोष्णं,
क्षेमं 'धायं' शिवमिति वा ।
कदा नु भवेयुरेतानि,
मा वा भवेयुरिति नो वदेत् ॥५१॥

५१—वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम[७६], सुभिक्ष[७७] और शिव[७८], ये कब होंगे अथवा ये न हों तो अच्छा रहे —इस प्रकार न कहे ।

५२—[७९]तहेव मेहं व नहं व माणवं
न देव देव त्ति गिरं वएज्जा ।
सम्मुच्छिए उन्नए वा पओए
वएज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति ॥

तथैव मेघं वा नभो वा मानवं,
न देव देव इति गिरं वदेत् ।
सम्मूर्च्छितः उन्नतो वा पयोदः,
वदेद् वा वृष्टो बलाहक इति ॥५२॥

५२—इसी प्रकार मेघ, नभ[८०] और मानव[८१] के लिए 'ये देव है'—ऐसी वाणी न बोले । पयोधर सम्मूच्छित हो रहा है—उमड रहा है, अथवा उन्नत हो रहा है झुक रहा है, अथवा मेघ बरस पड़ा है—इस प्रकार बोले ।

५३—[८२]अंतलिक्खे त्ति णं बूया
गुज्झाणुचरियं त्ति य ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स
रिद्धिमंतं ति आलवे ॥

अन्तरिक्षमिति तद् ब्रूयात्,
गुह्यानुचरितमिति च ।
ऋद्धिमन्तं नरं दृष्ट्वा,
ऋद्धिमान् इत्यालपेत् ॥५३॥

५३—नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे । ऋद्धिमान् नर को देखकर 'यह ऋद्धिमान् पुरुष है'— ऐसा कहे ।

५४—तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा
ओहारिणी जा य परोवघाइणी
से कोह लोह भयसा व माणवो[८३]
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥

तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः,
अवधारिणी या च परोपघातिनी ।
सक्रोध-लोभ-भयेन वा मानवतः,
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥५४॥

५४—इसी प्रकार मुनि सावद्य का अनु-मोदन करनेवाली, अवधारिणी (संदिग्ध अर्थ के विषय मे असंदिग्ध)[८४] और पर-उपघात-कारिणी भाषा, क्रोध, लोभ, भय, मान या हास्यवश न बोले ।

५५—सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥

सवाक्यशुद्धिं समुत्प्रेक्ष्य मुनिः,
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत् सदा ।
मितामदुष्टां अनुविचिन्त्य भाषकः,
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥५५॥

५५—वह मुनि वाक्य-शुद्धि को भली-भाँति समझ कर दोषयुक्त वाणी का प्रयोग न करे । मित और दोष-रहित वाणी सोच-विचार कर बोलने वाला साधु सत् पुरुषों में प्रशंसा को प्राप्त होता है ।

५६—भासाए दोसे य गुणे य जाणिया
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

भाषायाः दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा,
तस्याश्च दुष्टायाः परिवर्जकः सदा ।
षट्सु संयतः श्रामण्ये सदा यतः,
वदेद् बुद्धः हितमानुलोमिकीम् ॥५६॥

५६—भाषा के दोषों और गुणों को जानकर दोषपूर्ण भाषा को सदा वर्जने वाला, छह जीवकाय के प्रति संयत, श्रामण्य में सदा सावधान रहने वाला प्रबुद्ध भिक्षु हित और आनुलोमिक वचन बोले ।

५७—[८८]परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए
चउक्कसायावगए अणिस्सिए ।
स निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥

परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः,
अपगतचतुष्कषायः अनिश्रितः ।
स निर्धूय धुन्नमलं पुराकृतं,
आराधयेल्लोकमिमं तथा परम् ॥५७॥

५७—गुण-दोष को परख कर बोलने वाला[८८], सुसमाहित-इन्द्रिय वाला, चार कषायों से रहित, अनिश्रित (तटस्थ) भिक्षु पूर्वकृत पाप-मल[८९] को नष्ट कर वर्तमान तथा भावी लोक की आराधना करता है ।

—त्ति बेमि ॥

इति ब्रवीमि

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ७

श्लोक १ :

१. विनय (शुद्ध प्रयोग) (विणयं [ग]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार भाषा का वह प्रयोग, जिसमे धर्म का अतिक्रमण न हो, विनय कहलाता है[1]। टीकाकार ने भाषा के शुद्ध प्रयोग को विनय कहा है[2]। अगस्त्य चूर्णि मे मूल पाठ 'विजय' है और 'विनय' को वहाँ पाठान्तर माना है[3]। विजय (विचय) अर्थात् निर्णय। वहाँ जो चार भाषाए बताई गई हैं उनमे से असत्य और मिश्र तो साधु को सर्वथा बोलनी ही नही चाहिए। शेष दो भाषाओ (सत्य और व्यवहार) का साधु को निर्णय करना चाहिए—उसे क्या और कैसे बोलना या नही बोलना है—इसका विवेक करना चाहिए।

श्लोक २ :

२. अवक्तव्य-सत्य (सच्चा अवत्तव्वा [क]):

अवक्तव्य-सत्य-भाषा का स्वरूप ग्यारहवे श्लोक से तेरहवे तक बतलाया गया है।

३. जो ··भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो (जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना [ग]) :

श्लोक के इस चरण मे असत्यामृषा का प्रतिपादन हुआ है। वह क्रम-दृष्टि से 'जा य सच्चा अवत्तव्वा' के बाद होना चाहिए था, किन्तु पद्य-रचना की अनुकूलता की दृष्टि से विभक्ति-भेद, वचन-भेद, लिङ्ग-भेद और क्रम-भेद हो सकता है। इसलिए यहाँ क्रम-भेद किया गया है[4]।

श्लोक ४ :

४. श्लोक ४ :

इस श्लोक का अनुवाद चूर्णि और टीका के अभिमत से भिन्न है। हमारे अनुवाद का आधार इसके पूर्ववर्ती दो श्लोक हैं। दूसरे के अनुसार असत्य और सत्य-मृषा भाषा सर्वथा वर्जनीय है तथा सत्य और असत्यामृषा, जो बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण है वह वर्जनीय है। तीसरे श्लोक मे आचीर्ण-सत्य और असत्यामृषा का स्वरूप बताकर उनके बोलने का विधान किया है। इसके पश्चात् क्रमशः चौथे में असत्यामृषा और पाँचवें में सत्य-भाषा के अनाचीर्ण स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

१—जि० चू० पृ० २४४ : जं भासमाणो धम्मं णातिक्कमइ, एसो विणयो भण्णइ।

२—हा० टी० प० २१३ : 'विनय' शुद्धप्रयोगं विनीयतेऽनेन कर्मेतिकृत्वा।

३—अ० चू० पृ० १६४ : विजयो समाणजातियाओ णिकरिसणं। जधा विसियो सुभिक्खयो, तत्थ वयणीयावयणीयत्तेण विजयं सिक्खे। केसिंचि आलावओ 'विणयं सिक्खे' तेसिं विसेसेण जो णयो भाणितव्वो तं सिक्खे।

४—(क) जि० चू० पृ० २४४ : चउत्थीवि जा अ बुद्धेहिं णाइन्नागहणेण असच्चामोसावि गहिता, उक्कमकरणे मोसावि गहिता, एवं यथानुलोमत्थ, इतरहा सच्चाए उवरिमा भाणियव्वा, गंथाणुलोमताए विभत्तिभेदो होज्जा वयणभेदो वसु (थी) पुमलिंगभेदो व होज्जा अत्थं अमुंचंतो।

(ख) हा० टी प० २१३ : या च 'बुद्धै' तीर्थंकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा।

'सासय' का संस्कृत रूप 'शाश्वत' भी होता है। मोक्ष के लिए 'सासयं ठाणं' शब्द व्यवहृत होता है, जब कि स्वाशय यहाँ स्वतंत्र रहकर भी अपना पूर्ण अर्थ देता है। असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा के बारह प्रकार हैं उनमें दसवां प्रकार है—'संशयकरणी'[1]। जो भाषा अनेकार्थवाचक होने के कारण श्रोता को संशय में डाल दे उसे संशयकरणी कहा जाता है। जैसे—किसी ने कहा—"सैन्धव लाओ।" सैन्धव का अर्थ—नमक और सिन्धु देश का घोड़ा, पुरुष और वस्त्र होता है[2]। श्रोता संशय में पड़ जाता है। वक्ता अपने सहजभाव से अनेकार्थवाचक शब्द का प्रयोग करता है। वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण नहीं है, किन्तु आशय को छिपाकर दूसरो को भ्रम में डालने के लिए अनेकार्थ शब्द का प्रयोग (जैसे—अश्वत्थामा हत:) किया जाए वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण है अथवा जो शब्द सामान्यत: सदिग्ध हों—सन्देह-उत्पादक हो उनका प्रयोग भी अनाचीर्ण है।

टीकाकार ने चौथे श्लोक में सत्यासत्य[3], सावद्य एवं कर्कश सत्य और पाँचवें मे असत्य[4] का निषेध बतलाया है, किन्तु वह आवश्यक नहीं लगता। वे सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिए उनके पुनर् निषेध की कोई आवश्यकता नही जान पडती। असत्य-भाषा सावद्य ही होती है इसलिए सावद्य आदि विशेषणयुक्त असत्य के निषेध का कोई अर्थ नही होता।

५. उस अनुज्ञात असत्याऽमृषा को भी (स भासं सच्चमोसं पि [ग] तं पि [घ]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इस श्लोक में सत्य और असत्यामृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[5]। जिनदास महत्तर असत्यामृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[6] और टीकाकार सत्य तथा सत्य-मृषा का निषेध बतलाते हैं[7]।

हमारी धारणा के अनुसार ये दोनो श्लोक तीसरे श्लोक के 'असदिग्ध' शब्द से सबन्धित होने चाहिए—वह व्यवहार और सत्य-भाषा अनाचीर्ण है जो सदिग्ध हो। अगस्त्य चूर्णि के आधार पर इसका अनुवाद यह होगा - यह (सावद्य और कर्कश) अर्थ या इसी प्रकार का दूसरा (सक्रिय, आस्नवकर और छेदनकर आदि) अर्थ जो शाश्वत मोक्ष को भग्न करे, उस असत्यामृषा-भाषा और सत्य-भाषा का भी धीर पुरुष प्रयोग न करे।

६. यह (एयं [क]) :

दोनो चूर्णिकार और टीकाकार 'एय' शब्द से सावद्य और कर्कश वचन का निर्देश करते हैं[8]।

७. दूसरा (अन्नं [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर अन्य शब्द के द्वारा सक्रिय, आस्नवकर और छेदनकर आदि का ग्रहण करते हैं[9]। इसकी तुलना आयारचूला (४।१०) से होती है। वहाँ भाषा के चार प्रकारो का निरूपण करने के पश्चात् बतलाया है कि मुनि सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक,

---

१—पन्न० भा० ११ सू० १६५।

२—दश० नि० गाथा २७७; हा० टी० प० २१०; संशयकरणी च भाषा—अनेकार्थसाधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्।

३—हा० टी० प० २१३ : साम्प्रतं सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह।

४—हा० टी० प० २१४ : साम्प्रतं मृषाभाषासंरक्षणार्थमाह।

५—अ० चू० पृ० १६५ : सा पुण साधुणो अणब्भणुण्णतात्ति सच्चा,···असच्चामोसा मपि तं पढममणब्भणुण्णतामवि।

६—जि० चू० पृ० २४५-२४६ : स भिक्खू ण केवलं जाओ पुव्वभणियाओ सावज्जभासाओ वज्जेज्जा, किन्तु जावि असच्चमोसा भासा तमवि धीरो विविहं अणेगप्पगारं वज्जए विवज्जएत्ति।

७—हा० टी० प० २१३ : 'स' साधु: पूर्वोक्तभाषाभाषकत्वेनाधिकृतो भाषां 'सत्यामृषामपि' पूर्वोक्ताम्, अपिशब्दात्सत्यापि या तथाभूता तामपि 'धीरो' बुद्धिमान् 'विवर्जयेत्' न ब्रूयादिति भाव:।

८—(क) अ० चू० पृ० १६५ : एतमितिसावज्जं कक्कसं च।

(ख) जि० चू० पृ० २४५ : एयं सावज्जं कक्कसं च।

(ग) हा० टी० प० २१३ : 'एतं चार्थम्' अनन्तरप्रतिषिद्धं सावद्यकर्कशविषयम्।

९—अ० चू० पृ० १६५ : अन्नं सकिरियं अण्हयकरी छेयणकरी एवमादि।

निष्ठुर, परुष, आस्नवकरी, छेदनकरी, भेदनकरी, परितापनकरी और भूतोपघातिनी सत्य-भाषा भी न बोले[1]। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि ने लिखा है—'मृषा और सत्य-मृषा भाषा मुनि के लिए सर्वथा अवाच्य है। कर्कश आदि विशेषणयुक्त सत्य-भाषा भी उसे नहीं बोलनी चाहिए[2]।

८. (सासयं [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका मे इसका अर्थ मोक्ष है[3]। हमने इसका अर्थ स्वाश्रय अपना आश्रय किया है। जिनदास चूर्णि के अनुसार 'सासय' का अर्थ स्वाश्रव—अपना श्राता होना चाहिए[4]। आस्रव का अर्थ श्राता भी है[5]। इसका अर्थ वचन, प्रतिज्ञा और अंगीकार भी है[6]। इसलिए इसका अर्थ अपना वचन, प्रतिज्ञा या अंगीकार भी हो सकता है।

श्लोक ५ :

९. श्लोक ५ :

इस श्लोक मे बतलाया गया है कि सफेद झूठ बोलने वाला पाप से स्पृष्ट होता ही है, किन्तु वस्तु का यथार्थ निर्णय किए बिना सत्य लगने वाली असत्य वस्तु को सहसा सत्य कहने वाला भी पाप से बच नहीं पाता। इसलिए सत्य-भाषी पुरुष को अनुविचिन्त्य भाषा (सोच-विचार कर बोलने वाला) और निष्ठा भाषी (निश्चयपूर्वक बोलने वाला) होना चाहिए। इस श्लोक की तुलना आयारचूला (४।३) से होनी है।

अगस्त्यसिंह स्थविर वितथ का अर्थ अन्यथावस्थित करते है[7]। जिनदास महत्तर अतद्रूप वस्तु को 'वितथ' कहते है[8]।

टीकाकार 'वितथ' का अर्थ 'अतथ्य' करते है[9]। मूर्ति का अर्थ दोनों चूर्णिकारो के अनुसार शरीर[10] और टीकाकार के अनुसार स्वरूप है[11]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अपि' शब्द को 'भी' के अर्थ में लिया है[12]। जिनदास महत्तर 'अपि' शब्द को सभावना के अर्थ में ग्रहण करते हैं[13]। हरिभद्रसूरि 'अपि' का अर्थ 'भी' मानते है किन्तु उसे तथामूर्ति के आगे प्रयुक्त मानते है[14]।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ होता है -(१) जो पुरुष अन्यथावस्थित, किन्तु किसी भाव से तथा-भूतरूप वाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है, (२) जिनदास महत्तर के अनुसार इसका अर्थ है -जो पुरुष वितथ-मूर्ति वाली वस्तु का

---

१ आ० चू० ४।१० · तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइयं अभिकंख नो भासेज्जा।

२—आचा० ४।१० वृ० तत्र मृषा सत्यामृषा च साधूना तावन्न वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशादिगुणोपेता सा न वाच्या।

३—(क) अ० चू० पृ० १६५ : सासतो मोक्खो।

(ख) हा० टी० प० २१३ : शाश्वतम् मोक्षम्।

४ जि० चू० पृ० २४५ : जहा ज योवमवि गुणणादि तं च सोयारस्स अप्पियं भवइ।

५ पाइयसद्दमहण्णव पृ० १५७।

६—बृहद् हिन्दी कोष।

७- अ० चू० पृ० १६५ : अनधा वितहं - अण्णहावत्थितं।

८—जि० चू० पृ० २४६ . वितहं नाम जं वत्थुं न तेण सभावेण अत्थि त वितह भण्णइ।

९— हा० टी० प० २१४ : 'वितथम्' अतथ्यम्।

१०—अ० चू० पृ० १६५; जि० चू० पृ० २४६ : 'मुत्ती सरीरं भण्णइ।'

११—हा० टी० प० २१४ : 'तथामूर्त्यपि' कथंचित्तत्स्वरूपमपि वस्तु।

१२ अ० चू० पृ० १६५ : अविसद्देण केणतिभावेण तथाभूतमवि।

१३—जि० चू० पृ० २४६ : अविसद्दो सभावणे।

१४—हा० टी० प० २१४ : अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः।

आश्रय लेकर बोलता है और (३) हरिभद्रसूरि के अनुसार इसका अर्थ होता है—तथामूर्ति होते हुए भी जो वितथ हो, उसका आश्रय लेकर जो बोलता है ।

चूर्णिकार और टीकाकार के उदाहरणों में बहुत बड़ा अन्तर है । अगस्त्यचूर्णि के अनुसार स्त्री-वेषधारी पुरुष को देखकर यह कहना कि स्त्री सुन्दर है[1] । जिनदास चूर्णि के अनुसार स्त्री-वेषधारी पुरुष को देखकर यह कहना कि स्त्री गा रही है, नाच रही है, बजा रही है, जा रही है तथा पुरुष-वेषधारी स्त्री को देखकर यह कहना कि पुरुष गा रहा है, नाच रहा है, बजा रहा है, जा रहा है—सदोष है[2] । टीका के अनुसार 'पुरुष-वेषधारी स्त्री को स्त्री कहना सदोष है[3] । चूर्णिकार वेष के आधार पर किसी को पुरुष या स्त्री कहना सदोष मानते हैं और टीकाकार इसे निर्दोष मानते हैं । यह परस्पर विरोध है ।

चूर्णि—पुरुष = स्त्रीवेष = स्त्री = सदोष
स्त्री = पुरुषवेष = पुरुष = सदोष
टीका—स्त्री = पुरुषवेष = स्त्री = सदोष

रूप-सत्य भाषा की अपेक्षा टीकाकार का मत ठीक लगता है । उनकी दृष्टि से पुरुष-वेषधारी स्त्री को पुरुष कहना चाहिए, स्त्री नहीं, किन्तु सातवें श्लोक की टीका मे उन्होंने लिखा है कि जहाँ किसी व्यक्ति के बारे मे उसके स्त्री या पुरुष होने का निश्चय न हो तब 'यह पुरुष है' ऐसा कहना वर्तमान शकित भाषा है[4] । इससे चूर्णिकार के मत की ही पुष्टि होती है । वे उसको सन्देह-दशा की स्थिति में जोड़ते हैं । नाटक आदि के प्रसङ्ग मे जहाँ वेष-परिवर्तन को सभावना सहज होती है वहाँ दूसरो को भ्रम में डालने के लिए अथवा स्वय को सन्देह हो वैसी स्थिति मे तथ्य के प्रतिकूल, केवल वेष के अनुसार, स्त्री या पुरुष कहना सदोष है ।

सत्य-भाषा का चौथा प्रकार रूप-सत्य है[5] । जैसे प्रव्रजित रूपधारी को प्रव्रजित कहना 'रूप-सत्य सत्य भाषा' है । इस श्लोक में बतलाया है कि परिवर्तित वेष वाली स्त्री को स्त्री नही कहना चाहिए । इसका तात्पर्य यही है कि जिसके स्त्री या पुरुष होने में सन्देह हो उसे केवल बाहरी रूप या वेष के आधार पर स्त्री या पुरुष नहीं कहना चाहिए किन्तु उसे स्त्री या पुरुष का वेष धारण करने वाला कहना चाहिए । आयारचूला से भी इस आशय की पुष्टि होती है[6] ।

श्लोक ६ :

१०. इसलिए (तम्हा [क]) :

यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध है । अगस्त्यसिंह ने इनका सम्बन्ध इस प्रकार मिलाया है—संदिग्ध वेष आदि के आधार पर बोलना भी सदोष है । इसलिए मृषावाद की सभावना हो वैसी शकित भाषा नही बोलनी चाहिए[7] ।

हरिभद्रसूरि के अनुसार सत्य लगने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलने वाला पाप से लिप्त होता है, इसलिए जहाँ मृषावाद की सभावना हो वैसी शंकित भाषा नही बोलनी चाहिए[8] । तात्पर्य यह है कि पूर्व श्लोकोक्त वेष-शकित भाषा बोलने वाला पाप से लिप्त होता है, इसलिए क्रिया-शकित भाषा नही बोलनी चाहिए ।

१—अ० चू० पृ० १६५ : जहा पुरिसमित्थिनेवत्थ भणति – सोभणे इत्थी एवमादि ।

२ जि० चू० पृ० २४६ : तत्थ पुरिसं इत्थिणेवत्थियं इत्थि वा पुरिसनेवत्थियं दट्ठूण जो भासइ—इमा इत्थिया गायति णच्चइ वाएइ गच्छइ, इमो वा पुरिसो गायइ णच्चइ वाएति गच्छइत्ति ।

३ हा० टी० प० २१४ : पुरुषनेपथ्यस्थितवनिताद्यप्यङ्गीकृत्य यां गिरं भाषते नरः, इयं स्त्री आगच्छति गायति वेत्यादिरूपाम् ।

४ —हा० टी० प० २१४ : साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति ।

५—पन्न० पद ११ ।

६—आ० चू० ४।५ : इत्थी वेस, पुरिस वेस, नपुंसग वेस एयं वा चेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ णिट्ठाभासी, समियाए संजए भासं भासेज्जा

वृत्ति —तथा स्त्र्यादिके दृष्टे सति स्त्र्येवैषा पुरुषो वा नपुंसकं वा, एवमेवैतदन्यथैतत्, एवम् 'अनुविचिन्त्य' निशम्य निष्ठाभाषी सन् समित्या समतया संयत एव भाषां भाषेत ।

७- अ० चू० पृ० १६६ : जतो एवं नेवच्छादीव य संदिद्धे वि दोसो, तम्हा ।

८—हा० टी० प० २१४ : 'तम्हा' त्ति सूत्रं, यस्माद्वितथं तथामूर्त्यपि वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणो बध्यते तस्मात् ।

११. हम जायेंगे (गच्छामो[क]) :

यहाँ 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा'[1] इस सूत्र के अनुसार निकट भविष्य के अर्थ में वर्तमान विभक्ति है।

श्लोक ७ :

१२. वर्तमान और अतीत काल-संबन्धी अर्थ के बारे में शंकित (संपयाईयमट्ठे[ग]) :

काल की दृष्टि से शंकित भाषा के तीन प्रकार होते हैं :

(१) भविष्यकालीन (२) वर्तमानकालीन और (३) अतीतकालीन। भविष्यकालीन शंकित भाषा के उदाहरण छट्ठे श्लोक में आ चुके हैं। निश्चित जानकारी के अभाव में—अमुक वस्तु अमुक की है—इस प्रकार कहना वर्तमानकालीन शंकित भाषा है।

टीककार के अनुसार—स्त्री या पुरुष है—ऐसा निश्चय न होने पर किसी को स्त्री या पुरुष कहना वर्तमान शंकित भाषा है। बैल देखा या गाय, इसकी ठीक स्मृति न होते हुए भी ऐसा कहे कि मैंने गाय देखी थी—यह अतीतकालीन शंकित भाषा है[2]।

श्लोक ८-९ :

१३. श्लोक ८-१० :

दोनो चूर्णियो मे आठवे, नवे और दसवे श्लोक के स्थान पर दो ही श्लोक हैं और रचना-दृष्टि से वे इनसे भिन्न हैं। विषय-वर्णन की दृष्टि से कोई अन्तर नही जान पडता किन्तु शब्द-सकलन की दृष्टि से चूर्णि मे व्याख्यात श्लोक गम्भीर हैं।

टीकाकार ने चूर्णि से भिन्न परम्परा के आदर्शों का अनुसरण किया है। अगस्त्य चूर्णिगत श्लोक और उसकी व्याख्या इस प्रकार है :

तहेवाणागतं अट्ठं जं वऽण्णऽणुवधारितं।
संकितं पडुपण्णं वा एवमेयं ति णो वदे ॥८॥
तेहवाणागतं अट्ठं जं होति उवधारितं।
नीसंकितं पडुप्पण्णं थावथावाए णिद्दिसे ॥९॥

अनुवाद

इसी प्रकार सुदूर भविष्य और अतीत के अज्ञात तथा वर्तमान के संदिग्ध अर्थ के बारे में यह इस प्रकार ही है—ऐसा न कहे।

इसी प्रकार सुदूर भविष्य और अतीत के सुज्ञात तथा वर्तमान के निश्चित अर्थ को हृदय मे सम्यक् प्रकार से स्थापित कर उसका निर्देश करे—जैसा हो वैसा कहे।

छट्ठे तथा सातवे श्लोक में जिस क्रिया का हो सकना संदिग्ध हो उसे निश्चयपूर्ण शब्दो मे कहने का निषेध किया है और इन दो श्लोको मे अतीत, अनागत और वर्तमान की घटनाओं तथा व्यक्तियों की निश्चित जानकारी के अभाव में या संदिग्ध जानकारी की स्थिति में उनका निश्चित भाषा मे प्रतिपादन करने का निषेध किया है। अगस्त्य चूर्णि में 'एष्यत्' का अर्थ निकट भविष्य और अनागत का अर्थ सुदूर भविष्य किया है[3]। कल्की होगा—यह सुदूर भविष्य का अविज्ञात अर्थ है[4]। दिलीप सुदूर अतीत मे हुए हैं[5]। उनके बारे में निर्धारित बातें कहना असत्य वचन है।

१—सिद्ध० ४. ४. ७६।

२—हा० टी० प० २१४ : तथा साम्प्रतातीतार्थयोरपि या शङ्किता, साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति, अतीतार्थेऽप्येवमेव बलीवर्दतत्स्त्र्याद्यनिश्चये तदाऽत्र गौरस्माभिर्दृष्ट इति।

३—अ० चू० पृ० १६६ : एसो आसण्णो, अणागतो विकिट्ठो।

४—अ० चू० पृ० १६६ : अणुवधारितं—अविण्णातं।

५—अ० चू० पृ० १६६ : जहा दिलीपादयो एवं विधा आसी।

उप(अव)धारित का अर्थ वस्तु की सामान्य जानकारी (उपलब्धिमात्र) और निःशङ्कित का अर्थ वस्तु की विशिष्ट जानकारी (सर्वोपलब्धि) है[1]।

अतीत और अनागत के साथ उपधारित और वर्तमान के साथ निःशंकित का प्रयोग किया है वह सापेक्ष है। वर्तमान की जितनी पूर्ण जानकारी हो सकती है उतनी अतीत और भविष्य की नहीं हो सकती।

सामान्य बात यही है कि दोनों काल के अनवधारित और शंकित अर्थ के बारे में 'यह इसी प्रकार है' इस प्रकार नहीं कहना चाहिये किन्तु 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार कहना चाहिए। मिथ्या वचन और विवाद से बचने का यह उत्तम उपाय है।

जिनदास चूर्णि (पृ० २४८) में ये श्लोक इस प्रकार हैं :

> तं तहेव अईयंमि, कालंमिऽणवधारियं।
> जं चण्णं संकियं वावि, एवमेवंति नो वए॥
> तहेवाणागयं अत्थं, जं होइ उवहारियं।
> निस्संकियं पडुप्पन्ने, एवमेयंति निद्दिसे॥

अनुवाद

इसी प्रकार अतीत काल के अनिश्चित अर्थ तथा अन्य (वर्तमान तथा भविष्य) के शंकित अर्थ के विषय में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे।

इसी प्रकार भविष्यकाल तथा वर्तमान और अतीत के निश्चित अर्थ के बारे में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे।

श्लोक १० :

१४. श्लोक १० :

छट्ठे श्लोक से नवें श्लोक तक निश्चयात्मक भाषा बोलने का निषेध किया है और इस श्लोक में उसके बोलने का विधान है। निश्चयात्मक भाषा बोलनी ही नहीं चाहिए, ऐसा जैन दृष्टिकोण नहीं है, किन्तु जैन दृष्टिकोण यह है कि जिस विषय के बारे में वक्ता को सन्देह हो या जिस कार्य का होना संदिग्ध हो उसके बारे में निश्चयात्मक भाषा नहीं बोलनी चाहिए—ऐसा करूँगा, ऐसा होगा, इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। 'किन्तु मेरी कल्पना है कि मैं ऐसा करूँगा,' 'संभव है कि यह इस प्रकार होगा'—यों कहना चाहिए। स्याद्वाद को जो लोग सन्देहवाद कहते हैं और जो कहते हैं कि जैन लोग निश्चयात्मक भाषा में बोलते ही नहीं उनके लिए यह श्लोक सहज प्रतिवाद है।

श्लोक ११ :

१५. फरुस (परुषा [ग]) :

जिनदास और हरिभद्र ने 'परुष' का अर्थ स्नेह-वर्जित—रूखा किया है[2]। शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ मर्म का प्रकाशन करने वाली वाणी है[3]।

१६. महान् भूतोपघात करने वाली (गुरुभूओवघाइणी [ग]) :

आयारचूला ४।१० में केवल 'भूओवघाइय' शब्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग संभवतः पद-रचना की दृष्टि से हुआ है। 'गुरु' शब्द भूत का विशेषण हो तो अर्थ का विरोध आता है। छोटे या बड़े किसी भी जीव की घात करने वाली भाषा मुनि के लिए अवाच्य है। इसलिए यह भूतोपघातिनी का विशेषण होना चाहिए। जिस भाषा के प्रयोग से महान् भूतोपघात हो उसे गुरु-भूतोपघातिनी भाषा कहा जा सकता है[4]।

1—अ० चू० पृ० १६७ : उवधारियं वत्थुमत्तं, णीसंकितं सव्वधारं।

2—(क) जि० चू० पृ० २४६ : 'फरुसा' णाम णेहवज्जिया।
(ख) हा० टी० प० २१५ : 'परुषा भाषा' निष्ठुरा भावस्नेहरहिता।

3—आ० चू० ४।१० वृ० : 'परुषां' मर्मोद्घाटनपराम्।

4—जि० चू० पृ० २४६ : जीए भासाए भासिताए गुरुओ भूतोवघाओ भवइ।

अगस्त्य चूर्णि मे 'गुरु-भूतोपघातिनी' के तीन अर्थ किए गए हैं : (१) वृद्ध आदि गुरुजन या सब जीवो को उपतप्त करने वाली, (२) गुरु अर्थात् बड़े व्यक्तियों का उपघात करने वाली, जैसे—कोई विदेशागत व्यक्ति है। वह अपने को कुल-पुत्र या ब्राह्मण बतलाता है। उसे दास आदि कहना उसके उपघात का हेतु बनता है। (३) गुरु अर्थात् बड़ी भूतोपघात करने वाली, जैसे—कोई ऐसी बात कहना जिससे विद्रोह भड़क जाए, अन्तःपुर आदि को मार डाले[1]।

यहाँ उपघात के प्राणिवध, पीड़ा और अभ्याख्यान—ये तीन अर्थ हो सकते हैं[2]।

प्रस्तुत श्लोक में स्नेह-वर्जित, पीड़ा और प्राणिवधकारक तथा अभ्याख्यानात्मक सत्य वचन बोलने का निषेध है।

श्लोक १३ :

१७. आचार…सम्बन्धी भाव-दोष को जानने वाला (आयारभावदोसन्नू [ग]) :

जिनदास चूर्णि और टीका मे 'आयार' का कोई अर्थ नही किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'आयार' का अर्थ—'वचन-नियमन' किया है। भाव-दोष का अर्थ प्रदुष्ट चित्त है। काना किसी व्यक्ति का नाम हो उसे काना कहने में दोष नही है, किन्तु द्वेषपूर्ण चित्त से काने व्यक्ति को काना नही कहना चाहिए।

भाव दोष का दूसरा अर्थ प्रमाद है। प्रमादवश किसी को काना नही कहना चाहिए[3]।

श्लोक १४ :

१८. श्लोक १४ :

होल, गोल आदि शब्द भिन्न-भिन्न देशों में प्रयुक्त होने वाले तुच्छता, दुश्चेष्टा, विग्रह, परिभव, दीनता और अनिष्टता के सूचक हैं[4]। एक शब्द में ये अवज्ञा-सूचक शब्द हैं। होल—निष्ठुर आमत्रण। गोल—जारपुत्र। श्वान—कुत्ता। वृषल—शूद्र। द्रमक—रक। दुर्भग—भाग्यहीन[5]।

तुलना के लिए देखिए आयारचूला ४।१२ तथा 'होलावायं सहीवाय, गोयावाय च नो वदे' (सूत्रकृताङ्ग १.९.२७)।

श्लोक १५ :

१९. श्लोक १५ :

इन शब्दों का प्रयोग करने से स्नेह उत्पन्न होता है। 'यह श्रमण अभी भी लोक-संज्ञा को नहीं छोड़ रहा है, यह चाटुकारी है'—ऐसा लोग अनुभव करते हैं, इसलिए इनका निषेध किया गया है[6]।

१- अ० चू० पृ० १६७ : विद्धावीण गुरूण सव्वभूताण वा उवघातिणी, अहवा गुरूणि जाणि भूताणि महंति, तेसिं कुलपुत्तबंभणत्त-भावित विदेसागतं तहाजातीयकतसंबंध दासादि वदति जतो से उवघातो भवति गुरुं वा भूतोवघातं जा करेति रायतेउरादि अभिद्रोहातिणा मारणंतियं।

२—(क) ठा० १०.९० वृ० : उवघातनिस्सते –उपघाते—प्राणिवधे निश्रितम्—आश्रितम्, दशमं मृषा।

(ख) नि० चू० : उपघातः—पीडा व्यापादनं वा।

(ग) प्र० वृ० ११ : उवघाइयणिस्सिया—आघातनिःसृता चौरस्त्वमित्याद्यभ्याख्यानम्।

३—अ० चू० पृ० १६८ : वयण-नियमणमायारो, एयंमि आयारे सति भाव दोसो—पदुट्ठं चित्तं तेण भावदोसेण ण भासेज्ज। जति पुण काण-चोर-ति कस्सति णामं ततो भासेज्जावि। अहवा आयारे भावदोसो पमातो, पमातेण ण भासेज्ज।

४—हा० टी० प० २१५ : इह होलादिशब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादिवाचकाः।

५—अ० चू० पृ० १६८ : होलेत्ति निट्ठुरमामंतण देसीए भविलवदणमिव। एवं गोले इति दुच्चेट्ठितातो पुणएओवमाणवदणं वसुलो सुद्दपरिभववयणं भोयणनिमित्तं घरे घरे द्रमति गच्छतीति दमओ रंको। दूभगो अणिट्ठो।

६—जि० चू० पृ० २५० : एयाणि अभिवयाणीणि णो भासेज्जा, किं कारणं ? जम्हा एयं भणंतस्स णेहो जायइ परोप्परं, लोगो य भणेज्जा, एवं वा लोगो चितेज्जा, एसऽज्जवि लोगसन्नं ण मुयइ, चाडुकारी वा।

श्लोक १६ :

२०. श्लोक १६ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'हले' और 'अन्ने' तरुणी स्त्री के लिए सम्बोधन-शब्द हैं। इनका प्रयोग महाराष्ट्र में होता था। लाट (मध्य और दक्षिणी गुजरात) देश में उसके लिए 'हला' शब्द का प्रयोग हुआ करता था। 'भट्टे' पुत्र-रहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था। 'सामिणी' यह लाट देश में प्रयुक्त होने वाला सम्मान-सूचक सम्बोधन-शब्द है और 'गोमिणी' प्राय: सब देशों में प्रयुक्त होता था। होले, गोले और वसुले - ये तीनों प्रिय वचन वाले आमंत्रण हैं, जो कि गोल देश मे प्रयुक्त होते थे[1]।

जिनदास के अनुसार 'हले' आमन्त्रण का प्रयोग वरदा-तट में होता था, और 'हला' का प्रयोग लाट देश में। 'अन्ने' का प्रयोग महाराष्ट्र में वेश्याओं के लिए होता था। 'भट्टे' का प्रयोग लाट देश में ननद के लिए होता था। 'सामिणी' और 'गोमिणी'—ये चाटुता के आमन्त्रण हैं। होले, गोले और वसुले —ये तीनों मधुर आमन्त्रण हैं।[2]

श्लोक १७ :

२१. (नामधिज्जे ण क ... गोत्तेण ख) :

प्राचीन काल में व्यक्ति के दो नाम होते थे—गोत्र-नाम और व्यक्तिगत-नाम। व्यक्ति को इन दोनो नामो से सम्बोधित किया जाता था। जैसे—भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य का नाम इन्द्रभूति था और वे आगमो मे गौतम—इस गोत्रज नाम से प्रसिद्ध हैं।

पाणिनी ने गोत्र का अर्थ --पौत्र आदि अपत्य किया है[3]। यशस्वी और प्रसिद्ध पुरुष के परपर-वंशज गोत्र कहलाते थे। स्थानाङ्ग मे काश्यप, गोतम, वत्स, कुत्स, कौशिक, मण्डव, वाशिष्ट—ये सात गोत्र बतलाये हैं[4]।

वैदिक साहित्य में गोत्र शब्द व्यक्ति-विशेष या रक्त-सम्बन्ध से सबद्ध जन-समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[5]।

बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गोतम, अत्रि, वशिष्ठ और कश्यप—ये सात गोत्र-कर्त्ता ऋषि हैं तथा आठवां गोत्र-कर्त्ता ऋषि अगस्त्य हैं। इनकी संतति या वश-परम्परा को गोत्र कहा जाता है[6]।

इस श्लोक में बताया गया है कि नाम याद हो तो नाम लेकर सम्बोधित करें, नाम याद न हो तो गोत्र से सम्बोधित करे अथवा नाम या गोत्र दोनों मे से जो अधिक उचित हो उससे सम्बोधित करे। अवस्था आदि की दृष्टि से जिस व्यक्ति के लिए जो उचित हो उसी शब्द से उसको सम्बोधित करे[7]। मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा' कहा जाता है, कही उसे 'धर्म-प्रिया' और कही 'धर्मशीला'। इस प्रकार जहाँ जो शब्द उचित हो, उसी से सम्बोधित करे[8]।

१—अ० चू० पृ० १६८ : हले-अन्नेति मरहट्ठेसु तरुणित्थीमामंतणं। हले ति लाडेसु। भट्टे ति अवच्च-रहितवयणं पायो लाडेसु। सामिणिति सव्वदेसेसु। गोमिणी गोल्लविसए। होले गोले वसुले त्ति देसीए लालणगत्थाणीयाणि प्रियवयणामंतणाणि।

२—जि० चू० पृ० २५० : तत्थ वरदातडे हलेत्ति आमंतणं, लाडविसए समाणवयमण्णं वा आमंतणं जहा हलित्ति, मरहट्ठविसए आमंतणं, वोमूलक्खरगाण चाटुवयणं अण्णेत्ति, भट्टे ति लाडाण पतिभगिणी भण्णइ, सामिणी गोमिणिओ चाटुए वयणं, होलेत्ति आमंतणं, जहा—'होलवणिओ ते पुच्छइ, सयक्कऊ परमेसाणो इंदो। अण्णंपि किर बारसा इंदमहसतं समतिरेकं'॥ एवं गोलवसुगावि महुरं सप्पिवास आमंतणं।

३ - पा० अा० ४. १. १६२ : अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्।

४—ठा० ७.३० : सत्त मूलगोत्ता प० तं०—कासवा गोतमा वच्छा कोच्छा कोसिता मंडवा वासिट्ठा।

५—अ० वै० ५. २१. ३।

६—प्रवराध्याय ५४।

७—जि० चू० पृ० २५१ : जं तीए नामं तेण नामधिज्जेण सा इत्थी आलवियव्वा, जाहे नामं न सरेज्जा ताहे गोत्तेण आलवेज्जा, जहा कासवगोत्ते! एवमादि, 'जहारिहं' नाम जा वुड्ढा सा अहोत्ति वा तुब्भेति वा भाणियव्वा, जा समाणवया सा तुमंति वा वत्तव्वा, अच्छं पुणो वप्प ईसरीति वा, समाणवया ऊणा वा तहावि तुब्भेत्ति भाणियव्वा, जेणप्पगारेण लोगो आभासइ जहा जहा गोमिणित्ति वा एवमादि।

८—हा० टी० प० २१६ : तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना, अन्यथा च यथा न लोकोपघातः।

२२. गुण-दोष का विचार कर (अभिगिज्झ [ग]) :

'अभिगिज्झ' शब्द की तुलना आयारचूला ४।१० के 'अभिकख' शब्द से होती है। टीकाकार ने इसका अर्थ किया है —'अभिकाङ्क्ष्य—पर्यालोच्य' अर्थात् पर्यालोचन कर। प्रस्तुत श्लोक के 'अभिगिज्झ' शब्द का चूर्णिकार और टीकाकार दोनों को यही अर्थ अभिमत है[1]।

श्लोक १६ :

२३. श्लोक १६ :

हे ! और भो ! सामान्य आमत्रण शब्द हैं। 'अण्ण' यह महाराष्ट्र मे पुरुष के सम्बोधन के लिये प्रयुक्त होता था। 'भट्टि', 'सामि' और 'गोमि'—ये पूजावाची शब्द हैं। 'होल' प्रभुवाची शब्द है। 'गोल' और 'वसुल' युवा पुरुष के लिए प्रयुक्त प्रिय-शब्द हैं[2]।

श्लोक २१ :

२४. श्लोक २१ :

शिष्य ने पूछा—यदि पञ्चेन्द्रिय जीवों के बारे मे स्त्री-पुरुष का सन्देह हो तो उनके लिए जाति शब्द का प्रयोग करना चाहिए तब फिर चतुरिन्द्रिय तक के जीव जो नपुसक ही होते हैं, उनके लिये स्त्री और पुरुष लिङ्गवाची शब्दों का प्रयोग कैसे किया जा सकता है और यह जो प्रयोग किया जाता है, जैसे—

	पुरुष	स्त्री
पृथ्वी	पत्थर	मृत्तिका
जल	करक	उस्सा (अवश्याय)
अग्नि	मुर्मुर	ज्वाला
वायु	वात	वातुली (वात्या)
वनस्पति	आम्र	अबिया
द्वीन्द्रिय	शख	शुक्ति
त्रीन्द्रिय	मत्कोटक	पिपीलिका
चतुरिन्द्रिय	मधुकर	मधुकरी

क्या वह सही है ?

आचार्य ने कहा—जनपद-सत्य और व्यवहार-सत्य भाषा की दृष्टि से यह सही है।

शिष्य—तब फिर पचेन्द्रिय के लिए भी ऐसा हो सकता है ?

आचार्य—पचेन्द्रिय मे स्त्री, पुरुष और नपुसक तीनो होते हैं, इसलिए उनका यथार्थ निर्देश करना चाहिए। असदिग्ध जानकारी के अभाव मे सही निर्देश नही हो सकता इसलिए वहाँ 'जाति' शब्द का प्रयोग करना चाहिए[3]।

श्लोक २२ :

२५. श्लोक २२ :

इस श्लोक मे मनुष्य, पशु, पक्षी और अजगर को स्थूल, प्रमेदुर, वध्य और पाक्य नही कहना चाहिए। उन्हें जो कहना है वह अगले श्लोक मे प्रतिपाद्य है।

१—(क) जि० चू० पृ० २५१ : अभिगिज्झ नाम पुव्वमेव दोसगुणे चिंतेऊण।
(ख) हा० टी० प० २१६ : 'अभिगृह्य' गुणदोषानालोच्य।

२—अ० चू० पृ० १६६ : हे भो हरेत्ति सामण्णमामतणवयण। 'अण्णं' इति मरहट्ठाणं। भट्टि सामिय गोमिया पूया वयणाणि। णिद्देसातिसु सव्वविभत्तिसु। होल इति पहुवयणं। गोल वसुल जुवाणप्रियवयणं।

३—हा० टी० प० २१७ : अह लिंगवच्चए दोसो ता कीस पुढवादि नपुंसगत्तेवि पुरिसित्थिनिद्देसो पयट्टइ, जहा पत्थरो मट्टिआ करओ उस्सा मुम्मुरो जाला वाओ वाउली अंबओ अंबिलिया किमिओ जलूया मक्कोडओ कीडिआ भमरओ मच्छिआ इच्चेवमादि? आयरिओ आह जणवयसच्चेण ववहारसच्चेण य एव पयट्टइत्ति ण एत्थ दोसो पंचिदिएसु पुण ण एयमंगीकीरइ गोवालादीणवि ण सुविहुधम्मत्ति विपरिणामसम्भवाओ, पुव्विं असामायारिकहणे वा गुणसंभवादिति।

२६. वध्य (या वाह्य) (वज्झे [ग]) :

शीलाङ्कसूरि ने 'वज्झ' शब्द के दो संस्कृत रूप दिए हैं —वध्य और वाह्य। इनका क्रमशः अर्थ होता है—वध करने योग्य और वहन करने योग्य[1]।

अगस्त्य चूर्णि में मनुष्य की वध्यता के लिए पुरुष-मेध का उदाहरण दिया गया है[2]।

२७. पाक्य (पाइमे [घ]) :

टीकाकार ने इसका मूल अर्थ पकाने योग्य तथा मतान्तर के अनुसार काल-प्राप्त किया है[3]। शीलाङ्कसूरि ने इसके दो अर्थ किए हैं--पचन-योग्य और पातन-योग्य—देवता आदि के बलि देने योग्य[4]।

श्लोक २३ :

२८. श्लोक २३ :

पूर्वोक्त श्लोक में स्थूल आदि जिन चार शब्दों के प्रयोग का निषेध किया है उनकी जगह आवश्यकता होने पर परिवृद्ध आदि शब्दों के प्रयोग का विधान इस श्लोक में किया गया है।

अवाच्य	वाच्य
स्थूल	परिवृद्ध
प्रमेदुर	उपचित
वध्य या वाह्य	सजात और प्रीणित
पाक्य	महाकाय

आयारचूला ४।२५ में स्थूल आदि के स्थान पर परिवृद्ध-काय, उपचित-काय, स्थिर-संहनन, चित-मांस-शोणित और बहुप्रतिपूर्णेन्द्रिय शब्दों के प्रयोग का विधान है।

२९. परिवृद्ध (परिवुड्ढे [क])

हरिभद्रसूरि ने इसका संस्कृत रूप 'परिवृद्ध' किया है और शीलाङ्कसूरि भी आयारचूला ४।२६ वृत्ति में इसका यही रूप मानते हैं। प्राकृत व्याकरण के अनुसार भी वृद्ध का वुड्ढ रूप बनता है[5]। चूर्णियों तथा कुछ प्राचीन आदर्शों में 'परिवूढ' ऐसा पाठ मिलता है।

उत्तराध्ययन (७. २, ६) में 'परिवूढ' शब्द का प्रयोग हुआ है। शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप 'परिवृढ' और इसका अर्थ 'समर्थ' किया है[6]।

उपाध्याय कमलसंयम ने एक स्थल पर उसका संस्कृत रूप 'परिवृढ' और दूसरे स्थल पर 'परिवृद्ध' किया है[7]।

३०. उपचित (उवचिए [ख]) :

मांस के उपचय से उपचित[8]।

१—आ० चू० ४।२५ वृ० : वध्यो वहनयोग्यो वा।

२—अ० चू० पृ० १७० : तत्थ मणुस्सो पुरिसमेधादिसु।

३—हा० टी० प० २१७ : 'पाक्यः' पाकप्रायोग्यः, कालप्राप्त इत्यन्ये।

४—आ० चू० ४।२५ वृ० : पचनयोग्यो देवतादेः पातनयोग्यो वेति।

५—हैम० ८.२.४० : दग्धविदग्ध-वृद्धि वृद्धे: ढः।

६—उत्त० बृ० वृ० पत्र २७३, २७४।

७—उत्त० स० पत्र १५८-१५९।

८—अ० चू० पृ० १७० : उवचितो मंसोवचएण।

३१. संजात (युवा) (संजाए ग) :

संजात का अर्थ युवा है[१]।

३२. प्रीणित (पीणिए ग) :

प्रीणित का अर्थ है—आहार आदि से तृप्त[२]।

श्लोक २४ :

३३. दुहने योग्य हैं (दुज्झाओ क) :

दोह्य का अर्थ है—दुहने योग्य[३] अथवा दोहन-काल, जैसे—अभी इन गायों के दुहने का समय है[४]।

३४. बैल (गोरहग ख) :

गोरहग—तीन वर्ष का बछड़ा[५]। रथ की भाँति दौड़ने वाला बैल, जो रथ में जुत गया वह बैल, पाण्डु-मथुरा आदि में होने वाला बछड़ा। कहीं-कहीं रथ में जुतने योग्य तरुण बैल को तथा अमदप्राप्त छोटे बैल को भी गोरहग कहा जाता है[६]। टीका में 'गोरहग' का अर्थ कल्होड किया है[७]। कल्होड देशी शब्द है। इसका अर्थ है—वत्सतर—बछड़े से आगे की ओर संभोग में प्रवृत्त होने के पहले की अवस्था[८]।

३५. दमन करने योग्य है (दम्मा ख) :

दम्य अर्थात् दमन करने योग्य[९]। बधिया करने योग्य—कृत्रिम नपुंसक करने योग्य भी दम्य का अर्थ है।

३६. वहन करने योग्य है (वाहिमा ग) :

वाह्य—गाड़ी का भार ढोने में समर्थ[१०]।

३७. रथ-योग्य है (रहजोग ग) :

अभिनव युवा होने के कारण यह बैल अल्प-काय है, बहुत भार ढोने में समर्थ नहीं है, इसलिए यह रथ-योग्य है[११]।

श्लोक २५ :

३८. श्लोक २५ :

इस तथा पूर्ववर्ती श्लोक के अनुसार—

१—अ० चू० पृ० १७० : सजातो समत्तजोव्वणो।

२—अ० चू० पृ० १७० : पीणितो आहारातितित्तो।

३—हा० टी० प० २१७ : तथैव गावो 'दोह्या' दोहार्हाः।

४—(क) अ० चू० ४।२७ चू० : दोहनयोग्या एता गावो दोहनकालो वा वर्त्तते।
(ख) जि० चू० पृ० २५३ : दोहणिज्जा दुज्झा, जहा गावीणं दोहणवेला वट्टइ।

५—सूत्र० १. ४. २. १३ वृ० : 'गोरहगं'ति त्रिहायणं बलीवर्दम्।

६—अ० चू० पृ० १७० : गोजोग्गा रहा गोरहजोग्गत्तणेण गच्छंति गोरहगा पण्डु-मधुरादीसु किसोर-सरिसा गोपोतलगा अण्णत्थ वा तरुणतरुणारोहा जे रहम्मि वाहिज्जंति, अमदप्पत्ता खुल्लगवसभा वा ते वि।

७—हा० टी० प० २१७ : गोरथकाः कल्होडाः।

८—दे० ना० २.६. पृ० ५६ : कल्होडो वच्छयरे.... कल्होडो वत्सतरः।

९—(क) अ० चू० पृ० १७० : दम्मा दमणपत्तकाला।
(ख) जि० चू० पृ० २५३ : दमणीया दम्मा, दमणपयोग्गंसि धुरं भवइ।

१० जि० चू० पृ० २५३ : वाहिमा नाम जे सगडाधीमरसमत्था।

११—जि० चू० पृ० : २५३ : रथजोग्गा नाम अहिणवजोव्वणत्तणेण अप्पकाया, ण ताव बहुभारस्स समत्था, किन्तु संपयं रहजोग्गा एतेत्ति।

अवाच्य	वाच्य
१. गाय दुहने योग्य है।	धेनु दूध देने वाली है।
२. बैल दम्य है।	बैल युवा है।
३. बैल हल में जोतने योग्य है।	बैल ह्रस्व है—छोटा है।
४. बैल वाह्य है।	बैल महालय—बड़ा है।
५. बैल रथ-योग्य है।	बैल संवहन है।

३९. बैल युवा है (जुवं गवे ^क^):

युवा बैल, चार वर्ष का बैल[1]।

४०. बड़ा है (महल्लए ^ग^):

दोनों चूर्णियों में 'महल्लए' के स्थान पर 'महव्वए' पाठ है[2]। आयारचूला ४।२८ में 'महल्लए ति वा' 'महव्वए ति वा'—ये दोनों पाठ हैं।

४१. धुरा को वहन करने वाला है (संवहणे ^घ^):

संवहण—जो धुरा को धारण करने में क्षम हो उसे संवहन कहा जाता है[3]।

श्लोक २७ :

४२. प्रासाद (पासाय ^क^):

एक खंभे वाले मकान को प्रासाद कहा जाता है[4]। चूर्णिकारों ने इसका व्युत्पत्तिक-लभ्य अर्थ भी किया है—जिसे देखकर लोगों के मन और आँखें प्रसन्न हो वह प्रासाद कहलाता है[5]।

४३. परिघ, अर्गला (फलिहग्गल ^ग^):

नगर-द्वार की आगल को परिघ और गृहद्वार की आगल को अर्गला कहा जाता है[6]।

४४. जल की कुंडी के लिए (उदगदोणिणं ^घ^):

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार—एक काठ के बने हुए जल-मार्ग को अथवा काठ की बनी हुई जिस प्रणाली से रहँट आदि के जल का संचार हो उसे 'द्रोणि' कहा जाता है[7]।

१—जि० चू० पृ० २५४ : जुवं गवो नाम जुवाणगोणोत्ति, चउहायणो वा।
२—(क) अ० चू० पृ० १७१ : वाहिमजवि महव्वयवालवे।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ : जो वाहिमो त महव्वयं भणेज्जा।
३—(क) दशा० दी० ७.२५ : संवहनं धुर्यम्।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ : जो रहजोग्गो तं संवहणं भणेज्जा।
(ग) हा० टी० प० २१७ : संवहनमिति रथयोग्यं संवहनं वदेत्।
४—(क) जि० चू० पृ० २५४ : पासादस्स एगखंभस्स।
(ख) हा० टी० प० २१८ : एकस्तम्भः प्रासादः।
५—(क) अ० चू० पृ० १७१ : पसीदंति जंमि जणस्स मणोणयणाणि सो पासादो।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ : पसीयंति जंमि जणस्स नयणाणि पासादो भण्णइ।
६—हा० टी० प० २१८ : तत्र नगरद्वारे परिघः गोपुरकपाटादिष्वर्गला।
७—अ० चू० पृ० १७१ : एग कट्ठं उदगजाणमेव, जेण वा अरहट्टादीण उदगं संचरति सा दोणी।

जिनदास महत्तर के अनुसार जिसमें रहँट की घड़ियाँ पानी डालें वह जल-कुंडी अथवा काठ की बनी हुई वह कुंडी जो कम पानी वाले देशों में जल से भरकर रखी जाती है और जहाँ स्नान तथा कुल्ला किया जाता है, वह 'उदगदोणि' कहलाती है[1]।

टीकाकार ने इसका अर्थ —रहँट के जल को धारण करने वाली—किया है[2]। आयार चूला ४।२६ में 'यह वृक्ष उदक द्रोणी के योग्य है' ऐसा कहने का निषेध मिलता है। 'द्रोणी' का अर्थ जल-कुंडी के सिवाय काष्ठमय नौका भी हो सकता है[3]। अर्थशास्त्र में 'द्रोणी' का अर्थ काष्ठमय जलाधार किया है[4]।

श्लोक २८ :

४५. काष्ठ-पात्री (चंगबेरे क) :

काष्ठमयी या वंशमयी पात्री को 'चंगबेर' कहा जाता है[5]। प्रश्न व्याकरण में इसी अर्थ मे 'चंगेरी' शब्द का प्रयोग मिलता है[6]।

४६. मयिक (मइयं ख) :

मइय अर्थात् बोए हुए खेत को सम करने के लिए उपयोग मे आने वाला एक कृषि का उपकरण[7]। आयारचूला में 'मइय' के स्थान पर 'कुलिय' शब्द का प्रयोग हुआ है[8]। शीलाङ्काचार्य ने 'कुलीय' का अर्थ नहीं किया है। अनुयोगद्वार की वृत्ति मे इसका अर्थ यह है—कृषि का उपकरण-विशेष जिसके नीचे तिरछे और तीखी लोह की पट्टियां बंधी हुई हों, वैसा लघुतर काष्ठ। इसका उपयोग खेत की घास काटने के लिये किया जाता है[9]। प्रश्न व्याकरण में इसी अर्थ में 'मत्तिय' शब्द मिलता है[10]।

४७. (गंडिया घ) :

गण्डिका अर्थात् अहरन[11], काष्ठफलक[12]। कौटिलीय अर्थशास्त्र मे एक स्थल पर गण्डिका को जल-सतरण का उपाय बतलाया है[13]। व्याख्याकार ने माधव को उद्धृत करते हुए उसका अर्थ प्लवन-काष्ठ किया है[14]।

१—जि० चू० पृ० २५४ : उदगदोणी अरहट्टस्स भवति, जीए उवरिं घडीओ पाणियं पाडेंति, अहवा उदगदोणी घरांगणए कट्ठमयी अप्पोदएसु देसेसु कीरइ, तत्थ मणुस्सा ण्हातंति आयमति वा।

२—हा० टी० प० २१८ : उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिकाः।

३—(क) प्रश्न० (आश्रवद्वार) १.१३ वृ० : दोणि—द्रोणी नौः।
(ख) अ० चिं० ३.५४१।

४—कौटि० अर्थ० २.५६ : द्रोणी दारुमयो जलाधारो जलपूर्णः।

५—जि० चू० पृ० २५४ : चंगबेरं कट्ठमयमायणं भण्णइ, अहवा चंगेरी वंसमयी भवति।

६—प्रश्न० (आश्रवद्वार) १ १३ वृ० : चंगेरी —चङ्गेरी महती काष्ठ-पात्री वृहत्पटलिका वा।

७—हा० टी० प० २१८ : मयिकम्—उप्तबीजाच्छादनम्।

८—आ० चू० ४।२६ : अग्गलनावा-उदगदोणि पीढचंगबेरनंगलकुलियजंतलट्ठीनाभिगंडीआसणसयणजाणउवस्सयजोग्गा ति वा।

९—अनु० वृ० : अधोनिबद्धतिर्यक्तीक्ष्णलोहपट्टिकं कुलिकं लघुतरं काष्ठं तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रे वाह्यते तन्मरुमंडलादि प्रतीतं कुलिकमुच्यते।

१०—प्रश्न० (आश्रवद्वार) १ वृ० : मत्तियत्ति मत्तिकं, येन कृष्टं वा क्षेत्रं मृज्यते।

११—(क) हा० टी० प० २१८ : गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी (अहिगरणी) स्थापनी।
(ख) कौटि० अर्थ० २. १२ : गण्डिका—काष्ठाधिकरणी।

१२—कौटि० अर्थ० २. ३१ : गण्डिकासु कुट्टयेत्, (व्याख्या) गण्डिकासु काष्ठफलकेषु कुट्टयेत्।

१३—वही, १०.२।

१४—वही, १०.२ : गण्डिकाभिः प्लवनकाष्ठैरिति माधवः।

श्लोक २९ :

४८. उपाश्रय के (उवस्सए [ख]) :

उपाश्रय—घर अथवा साधुओं के रहने का स्थान[1]।

श्लोक ३१ :

४९. दीर्घ ··· हैं, वृत्त ··· हैं, महालय ··· हैं (दीहवट्टा महालया [ख]) :

नालिकेर, ताड़ आदि वृक्ष दीर्घ होते हैं[2]। अशोक, नन्दि आदि वृक्ष वृत्त होते हैं[3]। बरगद आदि वृक्ष महालय होते हैं[4] अथवा जो वृक्ष बहु विस्तृत होने के कारण नानाविध पक्षियों के आधारभूत हों, उन्हें महालय कहा जाता है[5]।

५०. प्रशाखा वाले हैं (विडिमा [ग]) :

विटपी—जिनमें प्रशाखाएं फूट गई हों[6]।

श्लोक ३२ :

५१. पकाकर खाने योग्य हैं (पायखज्जाइं [ख]) :

पाक-खाद्य—इन फलों में गुठलियाँ पड़ गई हैं, इसलिए ये भूसे आदि में पकाकर खाने योग्य हैं[7]।

५२. वेलोचित ··· हैं (वेलोइयाइं [ग]) :

जो फल अति पक्व होने के कारण डाल पर लगा न रह सके—तत्काल तोड़ने योग्य हो उसे 'वेलोचित' कहा जाता है[8]।

५३. इनमें गुठली नहीं पड़ी है (टालाइं [ग]) :

जिस फल में गुठली न पड़ी हो उसे 'टाल' कहा जाता है[9]।

१—अ० चू० पृ० १७२ : उवस्सयं साधुणिलयणं।

२—जि० चू० पृ० २५५ : दीहा जहा नालिएरतालमादी।

३—(क) जि० चू० पृ० २५५ : वट्टा जहा असोगमाई।
(ख) हा० टी० प० २१८ : वृत्ता नन्दिवृक्षादयः।

४—जि० चू० पृ० २५५ : महालया नाम वडमादि।

५—जि० चू० पृ० २५५ : अहवा महसद्दो बाहुल्ले वट्टइ, बहूणं पक्खिसंघाण आलया महालया।

६—(क) जि० चू० पृ० २५५ : 'विडिमा' तत्थ जे खंधओ ते साला भण्णंति, सालाहिंतो जे णिग्गया ते विडिमा भण्णंति।
(ख) हा० टी० प० २१८ : 'विटपिनः' प्रशाखावन्तः।

७—(क) जि० चू० पृ० २५६ : पाइखज्जाणि नाम जहा एताणि फलाणि बद्धट्ठियाणि संपयं कारसपलालादिसु पाइऊण खाइयव्वाणित्ति।
(ख) हा० टी० प० २१८-१९ : 'पाकखाद्यानि' बद्धास्थीनीति गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति।

८—(क) हा० टी० प० २१९ : 'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं कालं न विषहन्ति इत्यर्थः।
(ख) जि० चू० पृ० २५६ : 'वेलोइयाणि' नाम वेला-कालो, तं आ णिति वेला तेसिं उच्चिणिऊणंति अतिपक्काणि एयाणि धरंति अइ न उच्चिणिज्जंति।

९—(क) जि० चू० पृ० २५६ : टालाणि नाम अबद्धट्ठियाणि भन्नंति।
(ख) हा० टी० प० २१९ : 'टालानि' अबद्धास्थीनि कोमलानीति।

५४. ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (वेहिमाइं [घ]) :

जिन आमों में गुठली न पड़ी हों उनकी फांके की जाती हैं[१]। वैसे आमों को देखकर उन्हें वेध्य नहीं कहना चाहिए।

श्लोक ३३ :

५५. श्लोक ३३ :

मार्ग बताने के लिये वृक्ष का संकेत करना जरूरी हो तो—'वृक्ष पक्व हैं' के स्थान पर ये असतृत हैं—फल धारण करने में असमर्थ हैं— इस प्रकार कहा जा सकता है[२]।

पाक-खाद्य के स्थान पर ये वृक्ष बहुनिर्वर्तित फल (प्राय. निष्पन्न फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[३]।

'वेलोचित' के स्थान पर ये वृक्ष बहुसम्भूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[४]।

'टाल— इन फलों में गुठली नहीं पड़ी है' के स्थान पर ये फल भूत-रूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[५]।

'द्वैधिक— दो टुकड़े करने योग्य' के स्थान पर क्या कहना चाहिए ? यह न तो यहाँ बतलाया गया है और न आचाराङ्ग में ही। इससे यह जाना जा सकता है कि 'टाल' और 'द्वैधिक' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं। अचार के लिए केरी या अंबिया (बिना जाली—अन्दर का तन्तु पड़ा आम का कच्चा फल) तोड़ी जाती है और उसकी फांके की जाती हैं, इसलिए 'टाल' और 'वेहिम' कहने का निषेध है।

५६. (बहुनिवट्टिमा [ख]) :

इसमें मकार दीर्घ है, वह अलाक्षणिक है।

श्लोक ३४ :

५७. औषधियाँ (ओसहीओ [क]) :

एक फसला पौधा, चावल, गेहूँ आदि[६]।

५८. अपक्व हैं (नीलियाओ [ख])

नीलिका का अर्थ हरी या अपक्व है[७]।

५९. छवि (फली) वाली हैं (छवी इय [क]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'नीलिया' औषध का[८] और टीका के अनुसार 'छवि' का विशेषण है[९]।

१—(क) जि० चू० पृ० २५६ · वेहिम, अबद्धट्ठिगाणं अंबाणं पेसियाओ कीरंति।
(ख) हा० टी० प० २१९ : 'द्वैधिकानी' ति पेशीसंपादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि।

२—हा० टी० प० २१९ : असमर्था 'एते' आम्राः, अतिभारेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः।

३—हा० टी० प० २१९ : बहूनि निर्वर्तितानि -बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा, अनेन पाकखाद्यार्थ उक्तः।

४—हा० टी० प० २१९ : 'बहुसंभूताः' बहूनि संभूतानि—पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचितार्थ उक्तः।

५—(क) जि० चू० पृ० २५६ : 'भूतरूवा' णाम फलगुणोववेया।
(ख) हा० टी० प० २१९ : भूतानि रूपाणि—अबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालार्थ उपलक्षितः।

६ - (क) अ० चू० पृ० १७३ : ओसहिओ फलपाकपज्जन्ताओ सालिमादिओ।
(ख) हा० टी० प० २१९ · 'ओषधयः' शाल्यादिलक्षणाः।

७— अ० चू० पृ० १७३ : तथा पाकपत्ताओ णीलियाओ।

८ - जि० चू० पृ० २५६ · तत्थ सालिवीहिमादियातो ताओ पक्काओ नीलियाओ वा णो भणेज्जा, छविग्गहणेण णिप्फावतिलमुग्गादीण सिंगातो छविमंताओ णो भणेज्जा।

९—हा० टी० प० २१९ : तथा नीलाश्छवय इति वा बल्लचवलकादिफललक्षणाः।

टीकाकार को संभवत: 'फलियाँ नीली हैं, कच्ची हैं', यह अर्थ अभिप्रेत रहा है । अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पक्काओ' और 'नीलियाओ' 'छवी इय' के भी विशेषण होते हैं, जैसे—फलियाँ पक गई हैं या अपक्व हैं[1] ।

आयारचूला के अनुसार पक्काओ, नीलियाओ, छवीइ, लाइमा, भज्जिमा, पिहुखज्जा—ये सारे 'ओसहिओ' के विशेषण हैं[2] ।

६०. चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं (पिहुखज्ज [घ]) :

पृथुक का अर्थ चिड़वा है[3] । आयारचूला (४।३३) में 'बहुखज्जाति वा' ऐसा पाठ है । शीलाङ्कसूरि ने उसका वैकल्पिक रूप में वही अर्थ किया है जो 'पिहुखज्ज' का है[4] ।

श्लोक ३५ :

६१. श्लोक ३५ :

(१) रूढ
(२) बहुसम्भूत
(३) स्थिर
(४) उत्सृत
(५) गर्भित
(६) प्रसूत
(७) ससार

वनस्पति की ये सात अवस्थाएँ हैं । इनमें बीज के अंकुरित होने से पुनर् बीज बनने तक की अवस्थाओं का क्रम है ।

(१) बीज बोने के पश्चात् जब वह प्रादुर्भूत होता है तो दोनों बीज-पत्र एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, भ्रूणाग्र को बाहर निकलने का मार्ग मिलता है- इस अवस्था को 'रूढ़' कहा जाता है ।

(२) पृथ्वी के ऊपर आने के पश्चात् बीज-पत्र हरे हो जाते हैं और बीजाङ्कुर की पहली पत्ती बन जाते हैं— इस अवस्था को 'सम्भूत' कहा जाता है ।

(३) भ्रूणमूल नीचे की ओर बढकर जड़ के रूप में विस्तार पाता है—इस अवस्था को 'स्थिर' कहा जाता है ।

(४) भ्रूणाग्र स्तम्भ के रूप में आगे बढता है इसे 'उत्सृत' कहा जाता है ।

(५) आरोह पूर्ण हो जाता है और भुट्टा नहीं निकलता उस अवस्था को 'गर्भित' कहा जाता है ।

(६) भुट्टा निकलने पर उसे 'प्रसूत' और

(७) दाने पड जाने पर उसे 'ससार' कहा जाता है ।

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार—(१) अंकुरित को रूढ (२) सुफलित (विकसित) को बहुसम्भूत (३) उपघात से मुक्त बीजांकुर की उत्पादक शक्ति को स्थिर (४) सुसंवर्धित स्तम्भ को उत्सृत (५) भुट्टा न निकला हो तो उसे गर्भित (६) भुट्टा निकलने पर प्रसूत और दाने पड़ने पर ससार कहा जाता है[5] ।

जिनदास चूर्णि और टीका मे भी शब्दान्तर के साथ लगभग यही अर्थ है[6] ।

१—अ० चू० पृ० १७३ : छवीओ संबलीओ णिप्फावादीण तओ वि पक्काओ णीलिताओ वा ।

२—आ० चू० ४।३३ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहावि ताओ न एवं वएज्जा तंजहा—पक्का ति वा ...... ।

३—(क) अ० चि० ३.६५ : पृथुकश्चिपिटस्तुल्यौ ।

(ख) जि० चू० पृ० २५६ : पिहुखज्जाओ नाम जवगोधूमादीणं पिहुगा कीरंति ताथे खज्जंति ।

(ग) हा० टी० प० २१९ : पृथुका अर्धपक्वशाल्यादिषु क्रियन्ते ।

४—आ० चू० ४।३३ वृ० : 'बहुखज्जा' बहुभक्ष्याः पृथुकरणयोग्या वेति ।

५—अ० चू० पृ० १७३ : विरूढा—अंकुरिता । बहुसम्भूता—सुफलिता । ओग्गादि उवघातातीताओ थिरा । सुसंवड्ढिता उस्सढा । अणिव्विसुणाओ गब्भिणाओ । णिव्विसूताओ—पसूताओ । सव्वोवघातविरहिताओ सुणिप्फणाओ ससाराओ ।

६—(क) जि० चू० पृ० २५७ : 'विरूढा' णाम जाता, बहुसंभूया णाम निप्फन्ना, थिरा णाम निब्भयीभूया, उवगया यत्ति उस्सिया भण्णंति, गब्भिया णाम जासिं ण ताव सीसयं निप्फिडइ त्ति, निप्फाडिएसु पसूताओ भण्णंति, ससारातो नाम सहसारेण ससारातो सतंदुलाओत्ति वुत्तं भवइ ।

(ख) हा० टी० प० २१९ : 'रूढाः' प्रादुर्भूताः त'बहुसंभूता' निष्पन्नप्रायाः · ······ 'उत्सृता' इति उपघातेभ्यो निर्गता इति वा, तथा 'गर्भिता' अनिर्गतशीर्षकाः 'प्रसूता' निर्गतशीर्षकाः 'ससाराः' संजाततन्दुलादिसाराः ।

श्लोक ३६ :

६२. संखडि (जीमनवार) (संखडिं क) :

भोज (जीमनवार या प्रकरण) मे जीव-वध होता है, इसलिए इसे 'संखडि' कहा जाता है[1]। भोज में अन्न का संस्कार किया जाता है—पकाया जाता है, इसलिए इसे संस्कृति भी कहा जाता है ।

६३ मृतभोज (किच्चं ख) :

किच्च—कृत्य अर्थात् मृत-भोज । पितर आदि देवो के प्रीति-सम्पादनार्थ 'कृत्य' किये जाते थे । 'गृहस्थ को ये कृत्य करने चाहिए'—ऐसा मुनि नही कह सकता । इससे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है[2]।

'कृत्य' शब्द का प्रयोग हरिभद्र सूरी ने भी किया है :

संखडि-पमुहे किच्चे, सरसाहारं खुजे पगिण्हंति ।
भत्तठं थुव्वंति, वणीमगा ते वि न हु मुणिणो ।।

श्लोक ३७ :

६४. पणितार्थ (धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला) (पणियट्ठ ख) :

चोर धन के अर्थी होते है । वे उसके लिए अपने प्राणो की भी बाजी लगा देते हैं[3]। इसीलिए उन्हें सांकेतिक भाषा में पणितार्थ कहा जाता है । प्रयोजन होने पर भी भाषा-विवेक-सम्पन्न मुनि को वैसे सांकेतिक शब्दो का प्रयोग करना चाहिए जिससे कार्य भी सध जाए और कोई अनर्थ भी न हो ।

श्लोक ३८ :

६५. (कायतिज्ज ख) :

इसका पाठान्तर 'कायपेज्ज' है । उसका अर्थ है काकपेया नदियां अर्थात् तट पर बैठे हुए कौए जिनका जल पी सके वे नदियां[4], किन्तु इसी श्लोक के चौथे चरण में 'पाणिपेज्ज' पाठ है । जिनके तट पर बैठे हुए प्राणी जल पी सके वे नदियां 'पाणिपेज्ज' कहलाती हैं[5]। इसलिए उक्त पाठान्तर विशेष अर्थवान् नही लगता ।

श्लोक ३९ :

६६. दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है (उप्पिलोदगा ख) :

दूसरी नदियो के द्वारा जिनका जल उत्पीड़ित होता हो वे या बहुत भरने के कारण जिनका जल उत्पीड़ित हो गया हो—दूसरी ओर मुड़ गया हो—वे नदियां 'उप्पिलोदगा' कहलाती हैं[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० २५७ : छण्ह जीवनिकायाण आउयाणि संखंडिज्जंति जीए सा संखडी भण्णइ ।
(ख) हा० टी० प० २१९ : संखण्ड्यन्ते प्राणिनामायूंषि यस्यां प्रकरणक्रियायां सा संखडी ।

२—(क) अ० चू० पृ० १७४ : किच्चमेव परत्थेण देवपीति मणुस्सकज्जमिति ।
(ख) जि० चू० पृ० २५७ : किच्चमेय जं पितीण देवयाण या अट्ठाए किज्जइ, करणिज्जमेयं ज पियकारियं देवकारियं वा किज्जइ ।
(ग) हा० टी० प० २१९ : 'करणीये' ति पित्रादिनिमित्तं कृत्यमेवेति नो वदेत् ।

३—हा० टी० प० २१९ : पणितेनार्थोऽस्येति पणितार्थः, प्राणद्यूतप्रयोजन इत्यर्थः ।

४—जि० चू० पृ० ५२८ : अण्णे पुण एवं पढंति, जहा-कायपेज्जंति नो वदे, काआ तडत्था पिबंतीति कायपेज्जाओ ।

५—जि० चू० पृ० २५८ : तडत्थिएहिं पाणीहिं पिज्जतीति पाणिपिज्जाओ ।

६—जि० चू० पृ० २५८ : 'उप्पिलोदगा' नाम जासि परनदीहिं उप्पीलियाणि उदगाणि, अहवा बहुउप्पिलोदओ जासिं अइभरियत्तणेण अण्णओ पाणियं वच्चइ ।

श्लोक ४१ :

६७. श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'सुकृत' सर्व क्रिया का प्रशंसक (अनुमोदक) वचन है। इसी प्रकार 'सुपक्व' पाक-क्रिया, 'सुच्छिन्न' छेद-क्रिया, 'सुहृत' हरण-क्रिया, 'सुमृत' लीन-क्रिया, 'सुनिष्ठित' सम्पन्न-क्रिया, 'सुलष्ट' शोभन या विशिष्ट-क्रिया के प्रशंसक वचन हैं। दशवैकालिक-चूर्णिकार और टीकाकार इनके उदाहरण भोजन-विषयक भी देते हैं और सामान्य भी।

उत्तराध्ययन के टीकाकार कमल संयमोपाध्याय इसके सारे उदाहरण भोजन-विषयक देते हैं[१]। नेमिचन्द्राचार्य इन सारे प्रयोगों की भोजन-विषयक व्याख्या कर विकल्प के रूप में सुपक्व शब्द को छोड़कर शेष शब्दों की सामान्य विषयक व्याख्या भी करते हैं[२]।

सुकृत आदि के प्रयोग सामान्य हो सकते हैं, किन्तु इस श्लोक में मुख्यतया भोजन के लिए प्रयुक्त हैं—ऐसा लगता है।

आचाराङ्ग में कहा है—भिक्षु बने हुए भोजन को देखकर 'यह बहुत अच्छा किया है'—इस प्रकार न कहे[३]।

दशवैकालिक के प्रस्तुत श्लोक की तुलना इसीसे होती है, इससे यह सहज ही जाना जाता है कि यहाँ ये सारे प्रयोग भोजन आदि से सम्बन्धित हैं।

सुकृत आदि शब्दों का निरवद्य प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—इसने बहुत अच्छी सेवा की, इसका वचन-विज्ञान परिपक्व है। इसने स्नेह-बन्धन को बहुत अच्छी तरह छेद डाला है आदि-आदि[४]।

६८. बहुत अच्छा किया है (सुकडे त्ति [क]) :

जिसे स्नेह, नमक, काली मिर्च आदि मसाले के साथ सिद्ध किया जाए वह 'कृत' कहलाता है। सुकृत अर्थात् बहुत अच्छा किया हुआ[५]।

श्लोक ४२ :

६९. कर्म-हेतुक (कम्महेउयं [ग]) :

कर्म-हेतुक का अर्थ है—शिक्षापूर्वक या सधे हुए हाथों से किया हुआ[६]।

श्लोक ४३ :

७०. इसका मोल करना शक्य नहीं है (अचक्कियं [ग]) :

हस्तलिखित (ख और ग) आदर्शों और अगस्त्य चूर्णि में अचक्किय तथा कुछ आदर्शों में अविक्किय पाठ है। दोनों चूर्णिकारों

१—उत्त० स० १.३६ : सुकृतम्—अन्नादि, सुपक्वं घृतपूर्णादि, सुच्छिन्नं—पत्र-शाकादि, सुहृतं—शाकावेस्तिक्ततादि, सुमृतं—घृतादि सक्तुसूपादौ, सुनिष्ठितं—रसप्रकर्षतया निष्ठांगतम्, सुलष्टं—शोभन शाल्यादिअखण्डोज्ज्वलादि प्रकारैरेवमन्यदपि सावद्य वर्जयेत् मुनिः।

२—उत्त० ने० १.३६ वृ० : यद्वा सुष्ठु कृतं यदनेनाऽरातेः प्रतिकृतं, सुपक्वं पूर्ववत्, सुच्छिन्नोऽयं न्यग्रोधद्रुमादिः, सुहृतं कदर्यस्य धनं चौरादिभिः सुमृतोऽयं प्रत्यनीकद्विजवर्णादिः, सुनिष्ठितोऽयं प्रासादादिः, सुलष्टोऽयं करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्यं वचो वर्जयेद् मुनिः।

३—आ० चू० ४।२३ : से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए, तहावि तं णो एवं वदेज्जा, तंजहा—सुकडुकडे त्ति वा, सुकडे त्ति वा, साहुकडे त्ति वा, कल्लाणे त्ति वा, करणिज्जे त्ति वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

४—उत्त० ने० १.३६ वृ० : निरवद्यं तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्नं स्नेहनिगडादि, सुहृतोऽयमुत्प्रव्राजयितुकामेभ्यो निजकेभ्यः शैक्षकः, सुमृतमस्य पण्डितमरणेन, सुनिष्ठितोऽयं साध्वाचारे, सुलष्टोऽयं दारको व्रतग्रहणस्येत्यादिकम्।

५—अ० (चू०) : २७.२६४ की व्याख्या :

'अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना।
विज्ञेयं लवणस्नेह-कटुकैः संस्कृतं कृतम्॥'

६—जि० चू० पृ० २५६ : कम्महेउयं नाम सिक्खापुव्वगंति वुत्तं भवति।

ने इसका अर्थ 'असक्कं' (अशक्य) किया है[1]।

हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ—असंस्कृत—दूसरी जगह सुलभ किया है[2]।

७१. यह अचिन्त्य है (अचितं [घ]) :

अगस्त्यसिंह[3] और जिनदास[4] ने 'अचित' पाठ माना है। हरिभद्रसूरि[5] ने 'अचिअत्त' पाठ मान कर उसका अर्थ अप्रीतिकर किया है।

श्लोक ४७ :

७२. श्लोक ४७ :

असंयमी को आ-जा आदि क्यों नहीं कहना चाहिए ? इस प्रश्न के समाधान में चूर्णिकार कहते हैं --असंयमी पुरुष तपे हुए लोहे के गोले के समान होते हैं। गोले को जिधर से छूओ वह उधर से जला देता है वैसे ही असंयमी मनुष्य चारों ओर से जीवों को कष्ट देने वाला होता है। वह सोया हुआ भी अहिंसक नहीं होता फिर जागते हुए का तो कहना ही क्या[6] ?

श्लोक ४८ :

७३. जो साधु हो उसी को साधु कहे (साहुं साहु त्ति आलवे [घ]) :

साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं होता, वास्तव में साधु वह होता है जो निर्वाण-साधक-योग की साधना करे[7]।

श्लोक ५० :

७४. श्लोक ५० :

अमुक व्यक्ति या पक्ष की विजय हो, यह कहने से युद्ध के अनुमोदन का दोष लगता है और दूसरे पक्ष को द्वेष उत्पन्न होता है, इसलिए मुनि को ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए[8]।

१—(क) अ० चू० पृ० १७६ . अवविकयमसक्क ।

(ख) जि० चू० पृ० २६० : अचक्कियं नाम असक्कं, जहा कइएण विक्कायएण वा पुच्छिओ इमस्स मोल्लं करेहित्ति, ताहे भणियव्वं को एतस्स मोल्लं करेउं समत्थोत्ति, एव अचक्कियं भण्णइ ।

२—हा० टी० प० २२१ : 'अविक्किअति' असंस्कृतं सुलभमीदृशमन्यत्रापि ।

३ अ० चू० पृ० १७६ : अचिंतितं चिंतेतुं पि ण तीरति ।

४—जि० चू० पृ० २६० : अचित णाम ण एतस्स गुणा अम्हारिसेहिं पागएहिं चिंतिज्जंति ।

५—हा० टी० प० २२१ : अचिअत्तं वा—अप्रीतिकरम् ।

६—जि० चू० पृ० २६१ : अस्संजतो सव्वतो दोसमावहति चिट्ठंतो तत्तायगोलो, जहा तत्तायगोलो जओ छिवइ ततो डहइ तहा असंजओवि सुयमाणोऽवि णो जीवाणं अणुवरोधकारओ भवति, किं पुण जागरमाणोत्ति ।

७—जि० चू० पृ० २६१ : जे णिव्वाणसाहए जोगे साधयति ते भावसाधवो भण्णंति ।

८—(क) जि० चू० पृ० २६२ : तत्थ अमुयाणं जतो होउत्ति भणिए अणुमइए दोसो भवति, तप्पक्खिओ वा पओसमावज्जेज्जा, अओ एरिसं भासं णो वएज्जा ।

(ख) हा० टी० प० २२२ : 'अमुकानां' ··जयो भवतु मा वा भवत्विति नो वदेद्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गादिति ।

श्लोक ५१ :

७५. श्लोक ५१ :

जिसमें अपनी या दूसरों की शारीरिक सुख-सुविधा के लिए अनुकूल स्थिति के होने और प्रतिकूल स्थिति के न होने की आशंसा हो वैसा वचन मुनि न कहे—इस दृष्टि से यह निषेध है[1]।

७६. क्षेम (खेमं [ख]) :

शत्रु-सेना तथा इस प्रकार का और कोई उपद्रव नहीं हो, तो उस स्थिति का नाम क्षेम है[2]। व्यवहार भाष्य की टीका में क्षेम का अर्थ शुभ लक्षण किया है। उससे राज्य भर में नीरोगता व्याप्त रहती है[3]।

७७. सुभिक्ष (धायं [ख]) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—सुभिक्ष[4]।

७८. शिव (सिवं [ख]) :

शिव अर्थात् रोग, मारी का अभाव[5], उपद्रव न होना[6]।

श्लोक ५२ :

७९. श्लोक ५२ :

मेघ, नभ और राजा देव नहीं हैं। उन्हें देव कहने से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण और लघुता होती है, इसलिए उन्हें देव नहीं कहना चाहिए[7]।

वैदिक साहित्य में आकाश, मेघ और राजा को देव माना गया है किन्तु यह वस्तु-स्थिति से दूर है। जनता में मिथ्या धारणा न फैले, इसलिए यह निषेध किया गया है।

तुलना के लिए देखिए आयारचूला ४।१६,१७।

८०. नभ (नहं [क]) :

मिथ्यावाद से बचने के लिए 'आकाश' को देव कहने का निषेध किया गया है। प्रकृति के उपासक आकाश को देव मानते थे। प्रश्न-उपनिषद् मे 'आकाश' को देव कहा गया है। आचार्य पिप्पलाद ने उससे कहा - वह देव आकाश है। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक् (सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ), मन (अन्तःकरण) और चक्षु (ज्ञानेन्द्रिय-समूह) (ये भी देव हैं)। ये सभी अपनी महिमा को प्रकट करते हुए कहते हैं—हम ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण करते हैं[8]।

१—अ० चू० पृ० १७७ : एताणि सरीरसुहहेउं पयाणं वा आसंसमाणो···णो वदे ।

२—(क) अ० चू० पृ० १७७ : खेमं परचक्कातिणिरुवद्दवं ।

(ख) हा० टी० प० २२२ : 'क्षेमं' राजविड्वरशून्यम् ।

३—व्य० उ० ३ गाथा २०९ : क्षेमं नाम सुलक्षणं यद् वशात् सर्वत्र राज्ये नीरोगता ।

४—(क) अ० चू० पृ० १७७ : धातं सुभिक्खं ।

(ख) हा० टी० प० २२२ : 'ध्मातं' सुभिक्षम् ।

५—अ० चू० पृ० १७७ : कुलरोगमारिविरहितं शिवम् ।

६—हा० टी० प० २२२ : 'शिव' मिति चोपसर्गरहितम् ।

७—(क) अ० चू० पृ० १७८ : मिच्छत्तथिरीकरणादयो दोसा इति ।

(ख) जि० चू० पृ० २६२ : तत्थ मिच्छत्तथिरीकरणादि दोसा भवंति ।

(ग) हा० टी० प० २२३ : मिथ्यावादलाघवादिप्रसङ्गात् ।

८—प्र० उ० प्रश्न २.२ : तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः ।

८६. गुण-दोष को परख कर बोलने वाला (परिक्खभासी [क]) :

गुण-दोष की परीक्षा करके बोलने वाला परीक्ष्यभाषी कहलाता है[1]। जिनदास चूर्णि में 'परिज्जभासी' और 'परिक्खभासी' को एकार्थक माना गया है[2] ।

८७. पाप मल (धुन्नमलं [ग]) :

धुन्न का अर्थ पाप है[3] ।

१—(क) अ० चू० पृ० १७६ : परिक्ख सुपरिनिच्चितं तधाभासितुं सीलं यस्स सो परिक्खभासी ।
(ख) हा० टी० प० २२३ : 'परीक्ष्यभाषी' आलोचितवक्ता ।

२—जि० चू० पृ० २६४ : 'परिक्खभासी' नाम परिज्जभासित्ति वा परिक्खभासित्ति वा एगट्ठा ।

३—(क) अ० चू० पृ० १७६ : धुण्णं पावमेव ।
(ख) जि० चू० पृ० २६४ : तत्थ धुण्णंति वा पावंति वा एगट्ठा ।
(ग) हा० टी० प० २२४ : धुन्नमलं पापमलम् ।

अट्ठमं अज्झयणं

आयारपणिही

अष्टम अध्ययन

आचार-प्रणिधि

आमुख

आचार वही है जो संक्षेप में तीसरे और विस्तार से छठे अध्ययन में कहा गया है[1]। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य आचार नहीं है। इसका अभिधेय अर्थ है—आचार की प्रणिधि या आचार-विषयक प्रणिधि। आचार एक निधि है। उसे पाकर निर्ग्रन्थ को जैसे चलना चाहिए उसका पथ-दर्शन इस अध्ययन में मिलता है। आचार की सरिता में निर्ग्रन्थ इन्द्रिय और मन को कैसे प्रवाहित करे, उसका दिशा-निर्देश मिलता है। प्रणिधि का दूसरा अर्थ है—एकाग्रता, स्थापना या प्रयोग। ये प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं। उच्छृङ्खल-अश्व सारथि को उन्मार्ग में ले जाते हैं वैसे ही दुष्प्रणिहित (राग-द्वेष प्रयुक्त) इन्द्रियाँ श्रमण को उत्पथ में ले जाती हैं[2]। यह इन्द्रिय का दुष्प्रणिधान है।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में इन्द्रियों की मध्यस्थ प्रवृत्ति हो—राग और द्वेष का लगाव न हो यह उनका सुप्रणिधान है।

क्रोध, मान, माया और लोभ का संग्राहक शब्द है—कषाय। जिस श्रमण का कषाय प्रबल होता है उसका श्रामण्य ईक्षु-पुष्प की भांति निष्फल होता है[3]। इसलिए श्रमण को कषाय का निग्रह करना चाहिए। यही है मन का सुप्रणिधान।

"श्रमण को इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त-प्रयोग नहीं करना चाहिए, प्रशस्त-प्रयोग करना चाहिए"—यह शिक्षण ही इस अध्ययन की आत्मा है, इसलिए इसका नाम 'आचार-प्रणिधि' रखा गया है[4]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में गूढ-पुरुष-प्रणिधि, राज-प्रणिधि, दूत-प्रणिधि आदि प्रणिधि उत्तरपद वाले कई प्रकरण हैं। इस प्रकार के नामकरण की पद्धति उस समय प्रचलित थी—ऐसा जान पड़ता है। अर्थशास्त्र के व्याख्याकार ने प्रणिधि का अर्थ कार्य में लगाना व व्यापार किया है। आचार मे प्रवृत्त करना व व्यापार करना—ये दोनों अर्थ यहाँ सगत होते है। यह 'प्रत्याख्यान प्रवाद' नामक नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[5]। इसकी दिशाएं प्रकीर्ण है। वे दैनंदिन व्यवहारों को बड़े मार्मिक ढग से छूती हैं।

कान खुले रहते हैं, बहुत सुना जाता है; आँखें खुली रहती हैं, बहुत दीख पडता है; किन्तु सुनी और देखी गई सारी बातों को दूसरों से कहे—यह भिक्षु के लिए उचित नहीं है। श्रुत और दृष्ट बात के औपघातिक अंश को पचा ले, उसे प्रकाशित न करे (श्लोक २०-२१)।

'देह मे उत्पन्न दुःख को सहना महान् फल का हेतु है'—इस विचार-मन्थन का नवनीत है अहिंसा। एक दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का हृदय 'देहे दुक्खं महाफलं' (श्लोक २७) है। यह 'देहली-दीपक न्याय' से अध्ययन के आर और पार—दोनों भागों को प्रकाशित करता है और श्रामण्य के रक्त की शुद्धि के लिए शोधन-यंत्र का काम करता है।

इसमें कषाय-विजय, निद्रा-विजय, अट्टहास्य-विजय के लिए बड़े सुन्दर निर्देशन दिए गए हैं।

श्रद्धा का सातत्य रहना चाहिए। भाव-विशुद्धि के जिस उत्कर्ष से पैर बढ़ चलें, वे न रुकें और न अपने पथ से हटें—ऐसा प्रयत्न होना चाहिए (श्लोक ६१)।

स्वाध्याय और ध्यान—ये आत्म-दोषों को मांजने वाले हैं। इनके द्वारा आत्मा परमात्मा बने (श्लोक ६३)।

यहाँ पहुँचकर 'आचार-प्रणिधि' सम्पन्न होती है।

१—दशा० नि० २९३ : जो पुव्विं उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।

२—दशा० नि० २९९ : जस्स खलु दुप्पणिहिआणि, इंदिआइं तवं चरंतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं, सारही वा तुरंगेहिं॥

३—दशा० नि० ३०१ : सामन्नमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व, निप्फलं तस्स सामन्नं॥

४—दशा० नि० ३०८ : तम्हा उ अप्पसत्थं, पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं।
पणिहाणंमि पसत्थे, भणिओ 'आयारपणिहि' त्ति॥

५—दशा० नि० १-१७।

आयारपणिही : आचार-प्रणिधि

अट्ठमं अज्झयणं : अष्टम अध्ययन

मूल	संस्कृत	हिन्दी अनुवाद
१—आयारप्पणिहिं लद्धुं जहा कायव्व भिक्खुणा । तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥	आचार-प्रणिधिं लब्ध्वा, यथा कर्तव्यं भिक्षुणा । तं भवद्भ्यः उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥	१—आचार-प्रणिधि को[1] पाकर[2] भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए वह मैं तुम्हें कहूँगा । अनुक्रमपूर्वक मुझसे सुनो ।
२—[3]पुढविदगअगणिमारुय तणरुक्ख सबीयगा[4] । तसा य पाणा जीव त्ति इइ वुत्तं महेसिणा ॥	पृथिवीदकाग्निमारुताः, तृणरुक्षाः सबीजकाः । त्रसाश्च प्राणा. जीवा इति, इति उक्तं महर्षिणा ॥२॥	२—पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, बीज-पर्यन्त तृण-वृक्ष और त्रस प्राणी- ये जीव हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है ।
३—तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया । मणसा कायवक्केण एवं भवइ संजए ॥	तेषामक्षण-योगेन, नित्यं भवितव्यं स्यात् । मनसा काय-वाक्येन, एवं भवति संयतः ॥३॥	३—भिक्षु को मन, वचन और काया से उनके प्रति सदा अहिंसक[5] होना चाहिए । इस प्रकार अहिंसक रहने वाला संयत (संयमी) होता है ।
४—[6]पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं नेव भिंदे न संलिहे । तिविहेण करणजोएण संजए सुसमाहिए ॥	पृथिवीं भित्तिं शिलां लेष्टुं, नैव भिन्द्यात् न संलिखेत् । त्रिविधेन करण-योगेन, संयतः सुसमाहितः ॥४॥	४—सुसमाहित संयमी तीन करण और तीन योग से पृथ्वी, भित्ति[7] (दरार), शिला और ढेले का भेदन न करे और न उन्हें कुरेदे ।
५—सुद्धपुढवीए न निसिए ससरक्खम्मि[9] य आसणे । पमज्जित्तु निसीएज्जा जाइत्ता जस्स ओग्गहं ॥	शुद्धपृथिव्यां न निषीदेत्, ससरक्षे च आसने । प्रमृज्य निषीदेत्, याचित्वा यस्यावग्रहम् ॥५॥	५—मुनि शुद्ध पृथ्वी[8] और सचित्त-रज से संसृष्ट आसन पर न बैठे[10] । अचित्त-पृथ्वी पर प्रमार्जन कर[11] और वह जिसकी हो उसकी अनुमति लेकर[12] बैठे ।
६—सीओदगं न सेवेज्जा सिलावुट्ठं[14] हिमाणि य । उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए ॥	शीतोदकं न सेवेत, शिला-वृष्टं हिमानि च । उष्णोदकं तप्तप्रासुकं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥६॥	६—संयमी शीतोदक[13], ओले, बरसात के जल और हिम का[15] सेवन न करे । तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल[16] ले ।

७—उदउल्लं अप्पणो कायं
नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूयं
नो णं संघट्टए मुणी ॥

उदकार्द्रमात्मनः कायं,
नैव प्रोञ्छेत न संलिखेत् ।
समुत्प्रेक्ष्य न तथाभूतं
नैनं संघट्टयेत् मुनिः ॥७॥

७—मुनि जल से भीगे अपने शरीर को[17] न पोंछे और न मले[18]। शरीर को तथाभूत[19] (भीगा हुआ) देखकर[20] उसका स्पर्श न करे।

८—[21]इंगालं अगणिं अच्चिं
अलायं वा सजोइयं ।
न उंजेज्जा न घट्टेज्जा
नो णं निव्वावए मुणी ॥

अङ्गारमग्निमर्चिः,
अलातं वा सज्योतिः ।
नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत्,
नैनं निर्वापयेद् मुनिः ॥८॥

८—मुनि अङ्गार, अग्नि, अर्चि और ज्योतिसहित अलात (जलती लकड़ी) को न प्रदीप्त करे, न स्पर्श करे और न बुझाए।

९—तालियंटेण पत्तेण
साहाविहुयणेण वा ।
न वीएज्ज अप्पणो कायं
बाहिरं वा वि पोग्गलं ॥

तालवृन्तेन पत्रेण,
शाखा-विधुवनेन वा ।
न व्यजेदात्मनः कायं,
बाह्यं वाऽपि पुद्गलम् ॥९॥

९—मुनि वीजन, पत्र, शाखा या पंखे से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों पर[22] हवा न डाले।

१०—तणरुक्खं न छिंदेज्जा
फलं मूलं व कस्सई ।
आमगं विविहं बीयं
मणसा वि न पत्थए ॥

तृणरुक्षं न छिन्द्यात्,
फलं मूलं वा कस्यचित् ।
आमकं विविधं बीजं,
मनसापि न प्रार्थयेत् ॥१०॥

१०—मुनि तृण, वृक्ष[23] तथा किसी भी (वृक्ष आदि के) फल या मूल का छेदन न करे और विविध प्रकार के सचित्त बीजों की मन से भी इच्छा न करे।

११—गहणेसु न चिट्ठेज्जा
बीएसु हरिएसु वा ।
उदगम्मि तहा निच्चं
उत्तिंगपणगेसु वा ॥

गहनेषु न तिष्ठेत्,
बीजेषु हरितेषु वा ।
उदके तथा नित्यं,
'उत्तिङ्गपनकेषु' वा ॥११॥

११—मुनि वन-निकुञ्ज के बीच[24] बीज, हरित, अनन्तकायिक-वनस्पति[25], सर्पच्छत्र[26] और काई पर खड़ा न रहे[27]।

१२—तसे पाणे न हिंसेज्जा
वाया अदुव कम्मुणा ।
उवरओ सव्वभूएसु
पासेज्ज विविहं जगं ॥

त्रसान् प्राणान् न हिंस्यात्,
वाचा अथवा कर्मणा ।
उपरतः सर्वभूतेषु,
पश्येद् विविधं जगत् ॥१२॥

१२—मुनि वचन अथवा काया से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। सब जीवों के[28] वध से उपरत होकर विविध प्रकार वाले[29] जगत् को देखे—आत्मौपम्यदृष्टि से देखे।

१३—अट्ठ सुहुमाइं पेहाए
जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु
आस चिट्ठ सएहि वा ॥

अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य,
यानि ज्ञात्वा संयतः ।
दयाधिकारी भूतेषु,
आस्व उत्तिष्ठ शेष्व वा ॥१३॥

१३—संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म (शरीर वाले जीवों) को देखकर बैठे, खड़ा हो और सोए। इन सूक्ष्म-शरीर वाले जीवों को जानने पर ही कोई सब जीवों की दया का अधिकारी होता है।

१४—कयराइं अट्ठ सुहुमाइं
जाइं पुच्छेज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी
आइक्खेज्ज वियक्खणो ॥

कतराणि अष्टौ सूक्ष्माणि,
यानि पृच्छेत् संयतः ।
इमानि तानि मेधावी,
आचक्षीत विचक्षणः ॥१४॥

१४—वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं ? संयमी शिष्य यह पूछे तब मेधावी और विचक्षण आचार्य कहे कि वे ये हैं—

१५—[30]सिणेहं पुप्फसुहुमं च
पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं बीय हरियं च
अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥

स्नेहं पुष्प-सूक्ष्मं च,
'प्राणोत्तिङ्ग' तथैव च ।
'पनकं' बीजं हरितं च,
'अण्डसूक्ष्मं' च अष्टमम् ॥१५॥

१५—स्नेह, पुष्प, प्राण, उत्तिङ्ग[31], काई, बीज, हरित और अण्ड—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं ।

१६—एवमेयाणि जाणित्ता
सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं
सव्विंदियसमाहिए ॥

एवमेतानि ज्ञात्वा,
सर्वभावेन संयतः ।
अप्रमत्तो यतेत नित्यं,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥१६॥

१६—सब इन्द्रियों से समाहित साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवों को सब प्रकार से[32] जानकर अप्रमत्त-भाव से सदा यतना करे ।

१७—धुवं च पडिलेहेज्जा
जोगसा पायकंबलं ।
सेज्जमुच्चारभूमिं च
संथारं अदुवासणं ॥

ध्रुवं च प्रतिलेखयेत्,
योगेन पात्र-कम्बलम् ।
शय्यामुच्चारभूमिं च,
संस्तारमथवासनम् ॥१७॥

१७—मुनि पात्र[33], कम्बल[34] शय्या[35], उच्चार-भूमि[36], संस्तारक[37] अथवा आसन का[38] यथासमय[39] प्रमाणोपेत[40] प्रतिलेखन करे[41] ।

१८—[42]उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाणजल्लियं ।
फासुयं पडिलेहित्ता
परिट्ठावेज्ज संजए ॥

उच्चारं प्रस्रवणं,
'खेलं' सिंघाणं 'जल्लियम्' ।
प्रासुकं प्रतिलेख्य,
परिष्ठापयेत् संयतः ॥१८॥

१८—संयमी मुनि प्रासुक (जीव रहित) भूमि का प्रतिलेखन कर वहाँ उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक के मैल और शरीर के मैल का[43] उत्सर्ग करे ।

१९—पविसित्तु परागारं
पाणट्ठा भोयणस्स वा[44] ।
जयं चिट्ठे मियं भासे
न य रूवेसु मणं करे ॥

प्रविश्य परागारं,
पानार्थं भोजनाय वा ।
यतं तिष्ठेत् मितं भाषेत्,
न च रूपेषु मनः कुर्यात् ॥१९॥

१९—मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके उचित स्थान में खड़ा रहे[45], परिमित बोले[46] और रूप में मन न करे[47] ।

२०—[48]बहुं सुणेइ कण्णेहिं
बहुं अच्छीहिं पेच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं
भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥

बहु शृणोति कर्णैः,
बहुक्षीभिः प्रेक्षते ।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं,
भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥२०॥

२०—कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है; किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं ।

२१—सुयं वा जइ वा दिट्ठं
न लवेज्जोवघाइयं ।
न य केणइ उवाएणं
गिहिजोगं समायरे ॥

श्रुतं वा यदि वा दृष्टं,
न लपेद् औपघातिकम् ।
न च केनाप्युपायेन,
गृहियोगं समाचरेत् ॥२१॥

२१—सुनी हुई[४९] या देखी हुई[५०] घटना के बारे में साधु औपघातिक-वचन न कहे और किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का[५१] समाचरण न करे ।

२२—निट्ठाणं रसनिज्जूढं
भद्दगं पावगं ति वा ।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा
लाभालाभं न निद्दिसे ॥

निष्ठानं निर्यूढरसम्,
भद्रकं पापकमिति वा ।
पृष्टो वाप्यपृष्टो वा,
लाभालाभं न निर्दिशेत् ॥२२॥

२२—किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस[५२] है, यह नीरस[५३] है, यह अच्छा है, यह बुरा है - ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला— यह भी न कहे ।

२३—न य भोयणम्मि गिद्धो
चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुयं न भुंजेज्जा
कीयमुद्देसियाहडं ॥

न च भोजने गृद्धः,
चरेदुञ्छमजल्पिता ।
अप्रासुकं न भुञ्जीत,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ॥२३॥

२३—भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए[५४] किन्तु वाचालता से रहित होकर[५५] उञ्छ[५६] (अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा) ले । अप्रासुक, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार प्रमादवश आ जाने पर भी न खाए ।

२४—सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
अणुमायं पि संजए ।
मुहाजीवी असंबद्धे
हवेज्ज जगनिस्सिए ॥

सन्निधिं च न कुर्यात्,
अणुमात्रमपि संयतः ।
मुधाजीवी असंबद्धः,
भवेज्जगन्निश्रितः ॥२४॥

२४—संयमी अणुमात्र भी सन्निधि[५७] न करे । वह मुधाजीवी[५८], असंबद्ध[५९] (अलिप्त) और जनपद के आश्रित[६०] रहे— कुल या ग्राम के आश्रित न रहे ।

२५—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे
अप्पिच्छे सुहरे सिया ।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा
सोच्चाणं जिणसासणं ॥

रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टः,
अल्पेच्छः सुभरः स्यात् ।
आसुरत्वं न गच्छेत्,
श्रुत्वा जिन-शासनम् ॥२५॥

२५—मुनि रूक्षवृत्ति,[६१] सुसन्तुष्ट, अल्प इच्छा वाला[६२] और अल्पाहार से तृप्त होने वाला[६३] हो । वह जिन-शासन को[६४] सुनकर क्रोध[६५] न करे ।

२६—"कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं
पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं
काएण अहियासए ॥

कर्णसौख्येषु शब्देषु,
प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
दारुणं कर्कशं स्पर्शं,
कायेन अध्यासीत ॥२६॥

२६—कानों के लिए सुखकर[६७] शब्दों मे प्रेम न करे, दारुण और कर्कश[६८] स्पर्श[६९] को काया से सहन करे ।

२७—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं
सीउण्हं अरई भयं ।
अहियासे अव्वहिओ
देहे दुक्खं महाफलं ॥

क्षुधां पिपासां दुःशय्यां,
शीतोष्णमरतिं भयम् ।
अध्यासीताऽव्यथितः,
देहे दुःखं महाफलम् ॥२७॥

२७—क्षुधा, प्यास, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना)[७०], शीत, उष्ण, अरति[७१] और भय को[७२] अव्यथित[७३] चित्त से सहन करे । क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को[७४] सहन करना महाफल[७५] का हेतु होता है ।

२८—अत्थंगयम्मि आइच्चे
पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं[८८] सव्वं
मणसा वि न पत्थए॥

अस्तङ्गते आदित्ये,
पुरस्तात् चानुद्गते।
आहारमयं सर्वं,
मनसापि न प्रार्थयेत् ॥२८॥

२८—सूर्यास्त से लेकर[७९] पुन: सूर्य पूर्व में[८०] न निकल आए तब तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे[८१]।

२९—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए॥

'अतिंतिण:' अचपल:,
अल्पभाषी मिताशन:।
भवेदुदरे दान्त:,
स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् ॥२९॥

२९—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर प्रलाप न करे[८०], चपल न बने, अल्पभाषी[८१], मितभोजी[८२] और उदर का दमन करने वाला[८३] हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे[८४]।

३०—[८५]न बाहिरं परिभवे
अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा
जच्चा तवसिबुद्धिए॥

न बाह्यं परिभवेत्,
आत्मानं न समुत्कर्षयेत्।
श्रुतलाभे न माद्येत,
जात्या तपस्वि-बुद्ध्या ॥३०॥

३०—दूसरे का[८६] तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिखाए। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का[८७] मद न करे।

३१—[८८]से[८९] जाणमजाणं वा
कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं
बीयं तं न समायरे॥

अथ जानन् अजानन् वा,
कृत्वा अधार्मिकं पदम्।
संवृणुयात् क्षिप्रमात्मानं,
द्वितीयं तं न समाचरेत् ॥३१॥

३१—जान या अजान में[९०] कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार[९१] वह कार्य न करे।

३२—अणायारं परक्कम्म
नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे
असंसत्ते जिइंदिए॥

अनाचारं पराक्रम्य,
नैव गूहेत न निह्नुवीत।
शुचि: सदा विकटभाव:,
असंसक्तो जितेन्द्रिय: ॥३२॥

३२—अनाचार[९२] का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे[९३] किन्तु सदा पवित्र[९४], स्पष्ट[९५], अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।

३३—अमोहं वयणं कुज्जा
आयरियस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए॥

अमोघं वचनं कुर्यात्,
आचार्यस्य महात्मन:।
तत्परिगृह्य वाचा,
कर्मणोपपादयेत् ॥३३॥

३३—मुनि महान् आत्मा आचार्य के वचन को सफल करे। (आचार्य जो कहे) उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे।

३४—अधुवं जीवियं नच्चा
सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टेज्ज भोगेसु[९७]
आउं परिमियमप्पणो॥

अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा,
सिद्धिमार्गं विज्ञाय।
विनिवर्तेत भोगेभ्य:,
आयु: परिमितमात्मन: ॥३४॥

३४—मुमुक्षु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जान तथा सिद्धि-मार्ग का[९६] ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त बने।

* (बलं थामं च पेहाए
सद्धामारोग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय
तहप्पाणं निजुंजए) ॥

बलं स्थाम च प्रेक्ष्य,
श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय,
तथात्मानं नियुञ्जीत ॥

अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और काल को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार आत्मा को तप आदि में नियोजित करे ।

३५—जरा जाव न पीलेइ
वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति
ताव धम्मं समायरे ॥

जरा यावन्न पीडयति,
व्याधिर्यावन्न वर्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते,
तावद्धर्मं समाचरेत् ॥३५॥

३५—जब तक बुढ़ापा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे ।

३६—कोहं माणं च मायं च
लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ
इच्छंतो हियमप्पणो ॥

क्रोधं मानं च मायां च,
लोभं च पापवर्धनम् ।
वमेच्चतुरो दोषांस्तु,
इच्छन् हितमात्मनः ॥३६॥

३६—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं । आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े ।

३७—[99]कोहो पीइं पणासेइ
माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ
लोहो सव्वविणासणो ॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति,
मानो विनयनाशनः ।
माया मैत्र्याणि नाशयति.
लोभः सर्वविनाशनः ॥३७॥

३७—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है[99] ।

३८—[100]उवसमेण हणे कोहं[101]
माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण
लोभं संतोसओ जिणे ॥

उपशमेन हन्यात् क्रोधं,
मानं मार्दवेन जयेत् ।
मायां च ऋजुभावेन,
लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥३८॥

३८—उपशम से[101] क्रोध का हनन करे, मृदुता से[102] मान को जीते, ऋजुभाव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते ।

३९—कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ,
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृष्णाः कषायाः,
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥३९॥

३९—अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्द्धमान माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट[104] कषाय[105] पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं ।

---

* यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती है, कुछ में नहीं ।

४०—राइणिएसु विणयं पउंजे
धुवसीलयं सययं न हावएज्जा ।
कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो
परक्कमेज्जा तवसंजमम्मि ॥

रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत,
ध्रुवशीलतां सततं न हापयेत् ।
कूर्म इवालीनप्रलीनगुप्तः,
पराक्रमेत् तपस्संयमे ॥४०॥

४०—पूजनीयों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति[106] विनय का प्रयोग करे। ध्रुवशीलता (अष्टादश-सहस्र शीलाङ्गों[107]) की कभी हानि न करे। कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त[108] हो तप और संयम में पराक्रम करे।

४१—निद्दं च न बहुमन्नेज्जा
संपहासं विवज्जए ।
मिहोकहाहिं न रमे
सज्झायम्मि रओ सया ॥

निद्रां च न बहु मन्येत,
संप्रहासं विवर्जयेत् ।
मिथः कथासु न रमेत,
स्वाध्याये रतः सदा ॥४१॥

४१—निद्रा को बहुमान न दे[109], अट्ट-हास[110] का वर्जन करे, मैथुन की कथा में[111] रमण न करे, सदा स्वाध्याय में[112] रत रहे।

४२—जोगं च समणधम्मम्मि[113]
जुंजे अणलसो धुवं ।
जुत्तो य समणधम्मम्मि
अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥

योगं च श्रमणधर्मे,
युञ्जीतानलसो ध्रुवम् ।
युक्तश्च श्रमणधर्मे,
अर्थं लभतेऽनुत्तरम् ॥४२॥

४२—मुनि आलस्य-रहित हो श्रमणधर्म मे योग (मन, वचन और काया) का यथो-चित[114] प्रयोग करे। श्रमण-धर्म में लगा हुआ[115] मुनि अनुत्तर फल[116] को प्राप्त होता है।

४३—[117]इहलोगपारत्तहियं
जेणं गच्छइ सोग्गइं ।
बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा
पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं ॥

इहलोकपरत्रहितं,
येन गच्छति सुगतिम् ।
बहुश्रुतं पर्युपासीत,
पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ॥४३॥

४३—जिस श्रमणधर्म के द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत[118] की पर्युपासना करे और अर्थ विनिश्चय[119] के लिए प्रश्न करे।

४४—[120]हत्थं पायं च कायं च
पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीणगुत्तो निसिए
सगासे गुरुणो मुणी ॥

हस्तं पादं च कायं च,
प्रणिधाय जितेन्द्रियः ।
आलीनगुप्तो निषीदेत्,
सकाशे गुरोर्मुनिः ॥४४॥

४४—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संयमित कर[121], आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से संयत) होकर[122] गुरु के समीप बैठे।

४५—[123]न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य ऊरुं समासेज्जा
चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए ॥

न पक्षतः न पुरतः,
नैव कृत्यानां पृष्ठतः ।
न च ऊरुं समाश्रित्य,
तिष्ठेद् गुर्वन्तिके ॥४५॥

४५—आचार्य आदि के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर[124] न बैठे।

४६—अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा
मायामोसं विवज्जए ॥

अपृष्टो न भाषेत,
भाषमाणस्यान्तरा ।
पृष्ठमांसं न खादेत्,
मायामृषा विवर्जयेत् ॥४६॥

४६—बिना पूछे न बोले[125], बीच में[126] न बोले, पृष्ठमांस—चुगली न खाए[127] और कपटपूर्ण असत्य का[128] वर्जन करे।

४७—अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा, भासं अहियगामिणिं॥

अप्रीतिर्येन स्यात्, आशु कुप्येद्वा परः।
सर्वशस्तां न भाषेत, भाषामहितगामिनीम् ॥४७॥

४७—जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा[129] न बोले।

४८—दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं [134]वियं जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं॥

दृष्टां मितामसंदिग्धां, प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम्।
अजल्पाकीमनुद्विग्नां, भाषां निसृजेदात्मवान् ॥४८॥

४८—आत्मवान्[130], दृष्ट[131], परिमित[132], असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण[133], व्यक्त, परिचित, वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले।

४९—[135]आयारपन्नत्तिधरं, दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वइविक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी॥

आचार-प्रज्ञप्ति-धर, दृष्टिवादमधीयानम्।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा, न तमुपहसेन्मुनिः ॥४९॥

४९ आचारांग और प्रज्ञप्ति—भगवती को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढनेवाला[136] मुनि बोलने में स्खलित हुआ है[137] (उसने वचन, लिङ्ग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जान कर मुनि उसका उपहास न करे।

५०—[138]नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंत भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं॥

नक्षत्र स्वप्न योग, निमित्त मंत्र-भेषजम्,
गृहिणस्तन्नाचक्षीत, भूताधिकरणं पदम् ॥५०॥

५०- नक्षत्र[139], स्वप्नफल[140], वशीकरण[141], निमित्त[142], मन्त्र[143] और भेषज—ये जीवों की हिंसा के[144] स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए।

५१—अन्नट्ठं पगडं लयणं, भएज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमिसंपन्नं, इत्थीपसुविवज्जियं॥

अन्यार्थं प्रकृत लयनं, भजेत शयनासनम्।
उच्चारभूमिसम्पन्नं, स्त्रीपशुविवर्जितम् ॥५१॥

५१—मुनि दूसरों के लिए बने हुए[145] गृह[146], शयन और आसन का सेवन करे। वह गृह मल-मूत्र-विसर्जन की भूमि से युक्त तथा स्त्री और पशु से रहित[147] हो।

५२—विवित्ता य भवे सेज्जा, नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं॥

विविक्ता च भवेच्छय्या, नारीणां न लपेत् कथाम्।
गृहि-संस्तवं न कुर्यात्, कुर्यात् साधुभिः संस्तवम् ॥५२॥

५२—जो एकान्त स्थान हो वहाँ मुनि केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे[148]। मुनि गृहस्थों से परिचय न करे, परिचय साधुओं से करे[149]।

५३—[150]जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं॥

यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥५३॥

५३—जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को[151] सदा बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है[152]।

५४—चित्तभित्तिं न निज्झाए
नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं
दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

चित्रभित्तिं न निध्यायेत्,
नारीं वा स्वलङ्कृताम् ।
भास्करमिव दृष्ट्वा,
दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥५४॥

५४ चित्र-भित्ति[१५३] (स्त्रियो के चित्रों से चित्रित भित्ति) या आभूषणो से सुसज्जित[१५४] स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे। उन पर दृष्टि पड़ जाए तो उसे वैसे खीच ले जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वय खिंच जाती है।

५५—हत्थपायपडिच्छिन्नं
कण्णनासविगप्पियं[१५५] ।
अवि [१५६]वाससइं नारिं
बंभयारी विवज्जए ॥

प्रतिच्छिन्न हस्तपादां,
विकल्पित-कर्णनासाम् ।
अपि वर्षशतां नारीं,
ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥५५॥

५५ - जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

५६—विभूसा इत्थिसंसग्गी
पणीयरसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा ॥

विभूषा स्त्री-संसर्गः,
प्रणीत-रसभोजनम् ।
नरस्यात्मगवेषिणः,
विषं तालपुटं यथा ॥५६॥

५६ - आत्मगवेषी[१५७] पुरुष के लिए विभूषा[१५८], स्त्री का ससर्ग और प्रणीत-रस[१५९] का भोजन तालपुट-विष[१६०] के समान है।

५७—अंगपच्चंगसंठाणं
चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए
कामरागविवड्ढणं ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग संस्थानं,
चारुल्लपितप्रेक्षितम् ।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत्,
कामरागविवर्धनम् ॥५७॥

५७—स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान[१६१], चारु-भासित (मधुर बोली) और कटाक्ष[१६२] को न देखे—उनकी ओर ध्यान न दे, क्योंकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले हैं।

५८—विसएसु मणुन्नेसु
पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय
परिणामं पोग्गलाण उ ॥

विषयेषु मनोज्ञेषु,
प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
अनित्यं तेषां विज्ञाय,
परिणामं पुद्गलानां तु ॥५८॥

५८—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पुद्गलो के परिणमन को[१६३] अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे[१६४]।

५९—पोग्गलाण परीणामं
तेसिं नच्चा जहा तहा ।
विणीयतण्हो विहरे
सीईभूएण अप्पणा ॥

पुद्गलानां परिणामं,
तेषां ज्ञात्वा यथा तथा ।
विनीततृष्णो विहरेत्,
शीतीभूतेनात्मना ॥५९॥

५९—इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गलों के परिणमन को, जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को उपशान्त कर[१६५] तृष्णा-रहित हो विहार करे।

६०—जाए[१६६] सद्धाए निक्खंतो
परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालेज्जा
गुणे आयरियसम्मए ॥

यया श्रद्धया निष्क्रान्तः
पर्यायस्थानमुत्तमम् ।
तामेवाऽनुपालयेत्,
गुणान् आचार्यसम्मतान् ॥६०॥

६०—जिस श्रद्धा से[१६७] उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घर से निकला, उस श्रद्धा को[१६८] पूर्ववत् बनाए रखे और आचार्य-सम्मत[१६९] गुणों का अनुपालन करे।

६१—तवं चिमं संजमजोगयं च
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए[170] समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं[171] ॥

तपश्चेदं संयमयोगं च,
स्वाध्याययोगं च सदाऽधिष्ठेत्।
शूर इव सेनया समाप्तायुधः,
अलमात्मने भवत्यलं परेभ्यः ॥६१॥

६१—जो मुनि इस तप, संयम-योग[172] और स्वाध्याय-योग में[173] सदा प्रवृत्त रहता है[174] वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित[175] वीर।

६२—सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जं सि[176]मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥

स्वाध्याय-सद्ध्यानरतस्य त्रायिणः,
अपापभावस्य तपसि रतस्य।
विशुध्यते यत् तस्य मलं पुराकृतं,
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥६२॥

६२—स्वाध्याय और सद्ध्यान में[177] लीन, त्राता, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व संचित मल[178] उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल।

६३—से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए
सुयेण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए[179]
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमा[180] ॥

स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः,
श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिञ्चनः।
विराजते कर्मघनेऽपगते,
कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमा ॥६३॥

६३—जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला[181] है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्व-रहित[182] और अकिञ्चन[183] है, वह कर्म रूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त[184] चन्द्रमा।

त्ति बेमि।

इति ब्रवीमि।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पण : अध्ययन ८

श्लोक १ :

१. आचार-प्रणिधि को (आयारप्पणिहिं क) :

प्रणिधि का अर्थ समाधि या एकाग्रता है[1]। आचार में सर्वात्मना जो अध्यवसाय (एकाग्र चिन्तन या दृढ़ मानसिक संकल्प) होता है, उसे 'आचार-प्रणिधि' कहा जाता है[2]।

२. पाकर (लद्धं क) :

अगस्त्य चूर्णि[3] और टीका[4] के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया (क्त्वा प्रत्यय) का और जिनदास चूर्णि[5] के अनुसार यह 'तुम्' प्रत्यय का रूप है। 'तुम्' प्रत्यय का रूप मानने पर 'आयार-पणिहिं लद्धुं' का अनुवाद 'आचार-प्रणिधि की प्राप्ति के लिए' होगा।

श्लोक २ :

३. श्लोक २ :

तुलना कीजिए—पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई॥
(सूत्रकृताङ्ग १.११.७-८)

४. (सबीयगा क) :

देखिए ४.८ की टिप्पण संख्या २०।

श्लोक ३ :

५. अहिंसक (अच्छणजोएण क) :

'क्षण' का अर्थ हिंसा है। न क्षण—अक्षण अर्थात् अहिंसा[6]। 'योग' का अर्थ सम्बन्ध[7] या व्यापार है। जिसका प्रयत्न

१—अ० चि० ६.१४ : अवधानसमाधानप्रणिधानानि तु समाधौ स्युः।

२—अ० चू० पृ० १८४ : आयारप्पणिधी—आयारे सव्वप्पणा अज्झवसातो।

३—अ० चू० पृ० १८४ : 'लद्धुं' पाविऊण।

४—हा० टी० प० २२७ : 'लब्ध्वा' प्राप्य।

५—जि० चू० पृ० २७१ : (लब्धुं) प्राप्तये।

६—अ० चू० पृ० १८५ : छणणं छणः अणु हिंसायामिति एयस्स रूवं, छणारस्स य खकारता पाकते, जधा अक्षीणि अच्छीणि अकारो पडिसेधे, न छणः अछणः अहिंसणमित्यर्थः।

७—अ० चू० पृ० १८५ : जोगो सम्बन्धो।

अहिंसक (हिंसा-रहित) होता है, उसे 'अक्षण योग' कहा जाता है[1]।

श्लोक ४ :

६. श्लोक ४ ।

भेदन और लेखन करने से पृथ्वी आदि अचित्त हो तो उसके आश्रित जीवों की और सचित्त हों तो उसकी और उसके आश्रित जीव - दोनों की हिंसा होती है[2], इसलिए इसका निषेध है।

७. भित्ति (भित्ति [क]) :

इसका अर्थ है —दरार[3]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पण संख्या ६६।

श्लोक ५ :

८. शुद्ध पृथ्वी (सुद्धपुढवीए [क]) :

'शुद्ध पृथ्वी' के दो अर्थ हैं —शस्त्र से अनुपहत पृथ्वी अर्थात् सचित्त-पृथ्वी और शस्त्र से उपहत —अचित्त होने पर भी जिस पर कबल आदि बिछा हुआ न हो वह पृथ्वी[4]। गात्र की उष्मा से पृथ्वी के जीवों की विराधना होती है, इसलिए सचित्त पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिए और कंबल आदि बिछाए बिना जो अचित्त पृथ्वी पर बैठता है उसका शरीर धूलि से लिप्त हो जाता है अथवा उसके निम्न भाग में रहे हुए जीवों की गात्र की उष्मा से विराधना होती है, इसलिए अचित्त पृथ्वी पर भी आसन आदि बिछाए बिना नहीं बैठना चाहिए[5]।

९. (ससरक्खम्मि [ख]) :

सचित्त-रज से संसृष्ट[6]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पण संख्या ६६।

---

१ - (क) अ० चू० पृ० १८५ : अहिंसणेण अच्छणे जोगो जस्स सो अच्छणजोगो।

(ख) जि० चू० पृ० २७४ : अकारो पडिसेहे वट्टइ, छण्णसद्दो हिंसाए वट्टइ, जोगो मणवयणकाइओ तिविधो, न छणजोगो अच्छणजोगो तेण अच्छणजोएण निव्वाघाएण।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'अक्षणयोगेन' अहिंसाव्यापारेण।

२ - जि० चू० पृ० २७५ : तत्थ अचित्ताए तन्निस्सिया विराधिज्जंति, सचित्ताए पुढवीजीवा तण्णिस्सिया य विराहिज्जंति।

३ —(क) अ० चू० पृ० १८५ : 'भित्ती' तडी।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : भित्तिमादि णवितडीतो अवोवद्दलिया सा भित्ती भन्नति।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'भित्ति' तटीम्।

४ —(क) अ० चू० पृ० १८५ : असत्थोवहता सुद्धपुढवी, सत्थोवहतावि कंबलिमातीहि अणंतरिया।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : सुद्धपुढवी नाम न सत्थोवहता, असत्थोवहयावि जा णो वत्यंतरिया सा सुद्धपुढवी भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'शुद्धपृथिव्याम्' अशस्त्रोपहतायामनन्तरितायाम्।

५ —जि० चू० पृ० २७५ : तत्थ सचित्तपुढवीए गायउण्हाए विराधिज्जइ, अचित्ताए एयाए पति (गायआ) सणाधी गुंडिज्जंति, हेट्ठिल्ला वा तण्णिस्सिता सत्ता उण्हाए विराधिज्जंति।

६ —(क) जि० चू० पृ० २७५ : ससरक्खं नाम जंमि सच्चित्तरतो वाउवूधुतो लग्गसणो ससरक्खं भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २२८ : 'सरजस्के वा' पृथ्वीरजोऽवगुण्ठिते वा।

१०. न बैठे (निसिए [क]) :

बैठने का स्पष्ट निषेध है। इसके उपलक्षण से खड़ा रहने, सोने आदि का भी निषेध समझ लेना चाहिए[१]।

११. प्रमार्जन कर (पमज्जित्तु [ग]) :

सचित्त-पृथ्वी पर बैठने का सर्वथा निषेध है। अचित्त-पृथ्वी पर सामान्यतः आसन बिछाए बिना बैठने का निषेध है, किन्तु धूलि का प्रमार्जन कर बैठने का विधान भी है। यह उस सामान्य विधि का अपवाद है[२]।

१२ लेकर (जाइत्ता [घ]) :

चूर्णि और टीका के अनुसार यह पाठ 'जाणित्तु' रहा—ऐसा समझ है। उसके संस्कृत रूप 'ज्ञात्वा' और 'ज्ञपयित्वा' दोनों हो सकते हैं। ज्ञात्वा अर्थात् पृथ्वी को अचेतन जानकर, ज्ञपयित्वा अर्थात् वह जिसकी हो उसे जताकर- अनुमति लेकर या मांगकर। टीका में 'जाइत्ता' की भी व्याख्या है[३]।

श्लोक ६ :

१३. शीतोदक (सीओदगं [क]) :

यहाँ इसका अर्थ है—भूम्याश्रित सचित्त जल[४]।

१४. (वुट्ठं [ख]) :

बरसात का पानी, अन्तरिक्ष का जल[५]।

१५. हिम का (हिमाणि [ख]) :

हिम-पात शीतकाल में होता है[६] और वह प्रायः उत्तरापथ मे होता है[७]।

१६. तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल (उसिणोदगं तत्तफासुयं [ग]) :

शिष्य ने पूछा—भगवन्! जो उष्णोदक होता है वह तप्त भी होता है और प्रासुक भी होता है तब फिर उसके साथ तप्त-प्रासुक विशेषण क्यों लगाया गया?

१—हा० टी० प० २२८ : न निषीदेत्, निषीदनग्रहणात् स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रहः।

२—हा० टी० प० २२८ : अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणेन निषीदेत्।

३—(क) अ० चू० पृ० १८५ : जाणित्तु सत्थोवहता इति जिगतो पंचविहं वा ओग्गहं जाणित्तु तं जाइय अणुण्णवित।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : जाणिऊण जहा एसा अचित्तअयवा, अमणिमाई उवहयस्स य जस्स सो परिग्गहो तस्स उग्गहं अणुजाणावेऊण निसीयणादीणि कुज्जा।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'ज्ञात्वे' त्यचेतनां ज्ञात्वा 'याचयित्वाऽवग्रह' मिति यस्य संबन्धिनी पृथिवी तमवग्रहमनुज्ञाप्येति।

४—(क) अ० चू० पृ० १८५ : 'सीतोदगं' तलागादिसु भोमं पाणितं।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : सीतोदगगहणेण सचेतणस्स उदयस्स गहणं कयं।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'शीतोदकं' पृथिव्युद्भवं सच्चित्तोदकम्।

५—(क) अ० चू० पृ० १८५ : 'वुट्ठं' तक्कालवरिसोदगं।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : वुट्ठग्गहणेण सेसअंतरिक्खोदगस्स गहणं कयं।

६—अ० चू० पृ० १८५ : हिमं हिमवति सीतकाले भवति।

७—(क) जि० चू० पृ० २७६ : हिमं पाउसे उत्तरावहे भवति।

(ख) हा० टी० प० २२८ : हिमं प्रतीतं प्राय उत्तरापथे भवति।

आचार्य ने कहा—सारा उष्णोदक तप्त-प्रासुक नहीं होता, किन्तु पर्याप्त मात्रा में उबल जाने पर ही वह तप्त-प्रासुक होता है। इसलिए यह विशेषण सार्थक है। मुनि के लिए वही उष्णोदक ग्राह्य है, जो पूर्ण मात्रा में तप्त होने पर प्रासुक हो जाए[१]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.२.२२ की टिप्पण संख्या ४०-४१।

श्लोक ७ :

१७. जल से भीगे अपने शरीर को (उदउल्लं अप्पणो कायं [क]) :

मुनि के शरीर भीगने का प्रसंग तब आता है जब वे नदी पार करते हैं या भिक्षाटन में वर्षा आ जाती है[२]।

१८. पोंछे⋯मले (पुंछे⋯संलिहे [ख]) :

वस्त्र तृण आदि से पोंछना 'प्रोञ्छन' और उंगली, हाथ आदि से पोंछना 'संलेखन' कहलाता है[३]।

१९. तथाभूत (तहाभूयं [ग]) :

'तथाभूत' का अर्थ आर्द्र या स्निग्ध है[४]।

२०. देखकर (समुप्पेह [ग]) :

टीका में इसका अर्थ 'देखकर' किया है[५]। चूर्णियों के अनुसार 'समुप्पेहे' पाठ है। इसका अर्थ है—सम्यक् प्रकार से देखे[६]।

श्लोक ८ :

२१. श्लोक ८ :

अङ्गार आदि शब्दों की विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.२० की टिप्पण संख्या ८९-१००।

श्लोक ९ :

२२. बाहरी पुद्गलों पर (बाहिरं⋯पोग्गलं [घ]) :

बाह्य पुद्गल का अर्थ व्यतिरिक्त वस्तु[७]—उष्णोदक आदि पदार्थ है[८]।

१—(क) जि० चू० पृ० २७६ : तं पुण उण्होदगं जाहे तत्तं फासुगं भवति ताहे संजतो पडिग्गाहिज्जत्ति, आह—उण्होदगमेव वत्तव्वं तत्त फासुगगहणं न कायव्वं, जम्हा जं उण्होदगं तमवस्स तत्त फासुयं च भविस्सइ ?, आयरियो आह—न सव्वं उण्होदगं तत्तफासुयं भवति, जाहे सव्वत्ता डंडा ताहे फासुय भवति, अतो तत्तफासुयगहणं कयं भवति।

(ख) हा० टी० प० २२८ : 'उष्णोदकं' क्वथितोदकं 'तप्तप्रासुकं' तप्तं सत्प्रासुक त्रिदण्डोद्वृत्तं, नोष्णोदकमात्रम्।

२—हा० टी० प० २२८ : नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहत 'उदकार्द्रम्' उदकबिन्दुचितमात्मनः 'कायं' शरीरं स्निग्धं वा।

३—(क) अ० चू० पृ० १९६ : पुंछणं वत्थादीहिं लूसणं संलेहणमंगुलिमादीहिं णिच्छोडण।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : तत्थ पुंछणं वत्थेहिं तणादीहिं वा भवइ, संलिहण ज पाणिणा संलिहिऊण णिच्छोडेइ एवमादि।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'पुञ्छयेद्' वस्त्रतृणादिभि. 'न संलिखेत्' पाणिना।

४—(क) अ० चू० पृ० १८६ : तथाभूतमिति उदओल्लं सरिसं।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : तहाभूअ णाम जं उदउल्लं ससणिद्धं।

(ग) हा० टी० प० : 'तथाभूतम्' उदकार्द्रादिरूपम्।

५—हा० टी० प० २२८ : 'संप्रेक्ष्य' निरीक्ष्य।

६—(क) अ० चू० पृ० १८६ : समुप्पेहे उवेक्खेज्जा परिचारेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : समुप्पेहे नाम सम्मं उवेहे, संमं णिरिक्खतित्ति वुत्तं भवइ।

७—अ० चू० पृ० १८६ : सरीरवतिरित्तं वा बाहिरं पोग्गलं।

८—(क) जि० चू० पृ० २७७ : बाहिरपोग्गलग्गहणेणं उसिणोदयादीणं गहणं।

(ख) हा० टी० प० २२९ : 'बाह्यं' वापि पुद्गलम् उष्णोदकादि।

श्लोक १० :

२३. तृण, वृक्ष (तणरुक्खं [क]) :

'तृण' शब्द से सभी प्रकार की घासो और 'वृक्ष' शब्द से सभी प्रकार के वृक्षों एवं गुच्छ, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है[1]। तृणद्रुम संयुक्त शब्द भी है। कोश में नालिकेर, खर्जूर और पूग आदि ताल जाति के वृक्षों को तृणद्रुम कहा है[2], सम्भवतः इसीलिए कि तृणों के समान इनके भी रेशे समानान्तर और कांटे नुकीले होते हैं। किन्तु यहां इनका वियुक्त अर्थ-ग्रहण ही अधिक संगत है।

श्लोक ११ :

२४. वन-निकुञ्ज के बीच (गहणेसु [क]) :

गहन का अर्थ है वृक्षाच्छन्न प्रदेश। गहन मे हलन-चलन करने से वृक्ष की शाखा आदि का स्पर्श होने की संभावना रहती है इसलिए वहां ठहरने का निषेध है[3]।

२५. अनन्तकायिक वनस्पति (उदगम्मि [ग]) :

'उदक' के दो अर्थ किए गए है —अनन्तकायिक वनस्पति और जल[4]। किन्तु यह वनस्पति का प्रकरण है, इसलिए यहां इसका अर्थ वनस्पति-परक ही संगत है। प्रज्ञापना व भगवती मे अनन्तकायिक वनस्पति के प्रकरण में 'उदक' नामक वनस्पति का उल्लेख हुआ है[5]। जहां जल होता है वहां वनस्पति होती है अर्थात् जल मे वनस्पति होने का नियम है। इस वनस्पति-प्रधान दृष्टि से इसका अर्थ जल भी किया जा सकता है।

२६. सर्पच्छत्र (उत्तिंग [घ]) :

इसका अर्थ सर्पच्छत्र[6] —कुकुरमुत्ता है। यह पौधा बरसात के दिनों मे पेड़ों की जड़ों मे या सील की जगह में उगा करता है।

२७. खड़ा न रहे (न चिट्ठेज्जा [क]) :

यह शब्द न बैठे, न सोए आदि का संग्राहक है[7]।

श्लोक १२ :

२८. सब जीवों के (सव्वभूएसु [ग]) :

यह त्रस का प्रकरण है इसलिए यहां 'सर्वभूत' का अर्थ 'सर्व त्रस जीव' है[8]।

१—(क) जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ तणं दब्भादि, रुक्खग्गहणेण एगट्ठियाण बहुबीयाण य गहणं, 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण' मितिकाउं सेसावि गुच्छगुम्मादि गहिया।

(ख) हा० टी० प० २२६ : तृणानि —दर्भादीनि, वृक्षाः—कदम्बादयः।

२—अमर० काण्ड २ वर्ग ४ श्लोक १७० : खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमाः।

३—(क) जि० चू० पृ० २७७ : गहणं गुविलं भण्णइ, तत्थ उव्वत्तमाणो परियत्तमाणो वा साहादीणि घट्टेइ तं गहणं, तत्थ णो चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २२६ : 'गहनेषु' वननिकुञ्जेषु' न तिष्ठेत्, संघट्टनादिदोषप्रसङ्गात्।

४—जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ उदगं नाम अणंतवणप्फई, से भणियं च—'उदए अवए पणए सेवाले' एवमादि, अहवा उदगगहणेण उदगस्स गहणं करेंति, कम्हा ?, जेण उदएण वणप्फइकाओ अत्थि।

५—पन्न १.४३ पृ० १०५ : जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, तंजहा—उदए, अवए, पणए ······।

६—हा० टी० प० २२६ : 'उत्तिङ्गः'...सर्पच्छत्रादिः।

७—अ० चू० पृ० १८७ : ण चिट्ठे णिसीयणादि सव्वं ण चेएज्जा।

८—अ० चू० पृ० १८७ : सव्वभूताणि तसकायाधिकारोत्ति सव्वतसा।

२९. विभिन्न प्रकार वाले (विविहं [ख]):

इसका अर्थ हीन, मध्य और उत्कृष्ट[1] अथवा कर्म की पराधीनता से नरक आदि गतियों में उत्पन्न है[2]।

श्लोक १५ :

३०. श्लोक १५ :

आठ सूक्ष्मों की व्याख्या इस प्रकार है :

१—स्नेहसूक्ष्म के पाँच प्रकार हैं—ओस, बरफ, कुहासा ओला और उद्भिद् जलबिन्दु[3]।

२—पुष्पसूक्ष्म—बड़, उम्बर आदि के फूल या उन जैसे वर्ण वाले दुर्विभाव्य फूल[4]।

३—प्राण सूक्ष्म—अणुद्धरी-कुंथु, जो चलने पर जाना जाता है किन्तु स्थिरावस्था मे दुर्ज्ञेय है[5]।

४—उत्तिंग सूक्ष्म—कीटिका-नगर, जहाँ प्राणी दुर्ज्ञेय हों[6]।

५—पनक सूक्ष्म—काई। यह पाँच वर्ण की होती है। वर्षा में भूमि, काठ और उपकरण (वस्त्र) आदि पर उस द्रव्य के समान वर्ण वाली उत्पन्न होती है[7]।

६—बीज सूक्ष्म—सरसों और शाल के अग्रभाग पर होने वाली कणिका, जिसे लोग 'सुमधु' भी कहते हैं[8]। स्थानाङ्ग वृत्तिकार के अनुसार इसे लोक-भाषा में 'तुषमुख' भी कहा जाता है[9]।

७—हरित सूक्ष्म—जो तत्काल उत्पन्न, पृथ्वी के समान वर्ण वाला और दुर्ज्ञेय हो वह अंकुर[10]।

८—अंड-सूक्ष्म के पाँच प्रकार हैं—मधुमक्खी, कीडी, मकडी (स्थानाङ्ग ८.२० मे वृत्तिकार ने लूता—मकड़ी के स्थान मे गृह-कोकिला—गिलहरी का उदाहरण दिया है) ब्राह्मणी और गिरगिट के अंडे[11]।

३१. उत्तिङ्ग (उत्तिंग [ख]):

स्थानाङ्ग में आठ सूक्ष्म बतलाए हैं[12]। दशवैकालिक और स्थानाङ्ग के सूक्ष्माष्टक मे अर्थ-दृष्टि से अभेद है। जो क्रम-भेद है उसका कारण गद्य और पद्य रचना है। शब्द-दृष्टि से सात शब्द तुल्य है केवल एक शब्द मे अन्तर है। स्थानाङ्ग मे 'लेण' है वहाँ दशवैकालिक मे 'उत्तिग' है। स्थानाङ्ग वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने 'लेण' का अर्थ जीवा का आश्रय-स्थान किया है[13]। दशवैकालिक

१—अ० चू० पृ० १८७ : विविधमणेगागारं हीणमज्झाधिकभावेण।

२—हा० टी० प० २२६ : विविधं 'जगत्' कर्मपरतन्त्रं नरकादि गतिरूपम्।

३—जि० चू० पृ० २७८ : सिणेहसुहुमं पंचपगारं, तं- ओसा हिमए महिया करए हरतणुए।

४—जि० चू० पृ० २७८ : पुप्फसुहुम नाम वडउम्बरादीनि संति पुप्फाणि, तेसिं सरिवन्नाणि दुव्विभावणिज्जाणि ताणि सुहुमाणि।

५—जि० चू० पृ० २७८ : पाणसुहुमं अणुद्धरी कुंथू जा चलमाणा विभाविज्जइ थिरा दुव्विभावा।

६—अ० चू० पृ० १८८ : उत्तिंगसुहुमं कीडियाघरग, जे वा जत्थ पाणिणो दुव्विभावणिज्जा।

७—जि० चू० पृ० २७८ : पणगसुहुमं णाम पंचवन्नो पणगो वासासु भूमिकट्ठउवगरणादिसु तद्दव्वसमवन्नो पणगसुहुमं।

८—जि० चू० पृ० २७८ : बीयसुहुमं नाम सरिसवादि सालिस्स वा मुहमूले जा कणिया सा बीयसुहुमं, सा य लोगेण उ सुमहु (तुम)त्ति भण्णइ।

९—ठा० ८ ३५ वृ : लोके या तुषमुखमित्युच्यते।

१०—जि० चू० पृ० २७८ : हरितसुहुमं णाम जो अहुणुट्ठियं पुढविसमाणवण्णं दुव्विभावणिज्ज तं हरियसुहुम।

११—अ० चू० पृ० १८८ : उद्दंसंडं महुमक्खिगादीण। कीडियाअंडगं—पिपीलियाअंडं, उक्कलिअंडं लूयापडागस्स। हलियंडंबंभणि-याअंडगं, सरडिअडगं—हल्लोहल्लिअंडं।

१२—ठा० ८ ३५ : अट्ठ सुहुमा पं० तं० पाणसुहुमे, पणगसुहुमे, बीयसुहुमे, हरियसुहुमे, पुप्फसुहुमे, अंडसुहुमे, लेणसुहुमे, सिणेहसुहुमे।

१३—ठा० ८.३५ वृ० : लयनम्—आश्रयः सत्त्वानाम्, तच्च कीटिकानगरादि, कीटिकाद्यास्तत्र च सूक्ष्माः सत्त्वा भवन्तीति।

के टीकाकार हरिभद्र सूरि ने 'उत्तिंग' का अर्थ 'कीटिका-नगर' किया है[1]। इन दोनों सूत्रों के शाब्दिक-भेद और आर्थिक-अभेद से एक बड़ा लाभ हुआ है, वह है 'उत्तिंग' शब्द के अर्थ का निश्चय। विभिन्न व्याख्याकारों ने 'उत्तिंग' शब्द के विभिन्न अर्थ किए हैं, किन्तु प्रस्तुत श्लोक मे प्रयुक्त 'उत्तिंग' का अर्थ वही होना चाहिए जो 'लयन' का है। इस प्रकार 'लयन' शब्द 'उत्तिंग' के अर्थ को कस देता है। इसी अध्ययन के ग्यारहवें श्लोक में जो 'उत्तिंग' शब्द आया है वह वनस्पति का वाचक है। प्रस्तुत प्रकरण त्रसकाय से सबन्धित है। प्रकरण-भेद से दोनो में अर्थ-भेद है।

श्लोक १६ :

३२. सब प्रकार से (सव्वभावेण [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि मे लिङ्ग, लक्षण, भेद, विकल्प—यह सर्वभाव की व्याख्या है[2]। लिङ्ग आदि सर्व साधनों से जानना, सर्वभाव से जानना कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ 'सर्वस्वभाव' किया है[3]। जिनदास चूर्णि में वर्ण, संस्थान आदि को 'सर्वभाव' माना गया है[4]। वहाँ एक विशेष जानकारी दी गई है कि छद्मस्थ सब पर्यायों को नही जान सकता। इसलिए 'सर्वभाव' का अर्थ होगा जिसका जो विषय है उसे पूर्णरूप से (जानकर)[5]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'अपनी शक्ति के अनुरूप स्वरूप-संरक्षण' किया है[6]।

श्लोक १७ :

३३. पात्र (पाय [ख]) :

यहाँ पात्र शब्द से काष्ठ, तुम्बा और मिट्टी—ये तीनों प्रकार के पात्र ग्राह्य हैं[7]।

३४. कम्बल (कंबलं [ख]) :

यहाँ कम्बल शब्द से ऊन और सूत—दोनों प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं[8]।

३५. शय्या (सेज्जं [ग]) :

शय्या का अर्थ है वसति उपाश्रय। उसका दिन मे दो या तीन बार प्रतिलेखन करने की परम्परा का उल्लेख है[9]।

१—हा० टी० प० २३० : उत्तिंगसूक्ष्म—कीटिका-नगरम्। तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति।

२—अ० चू० पृ० १८८ : सव्वभावेणलिंगलक्खणभेदविकप्पेणं।

३—अ० चू० पृ० १८८ : अहवा सव्वसभावेण।

४—जि० चू० पृ० २७८ : सव्वप्पगारेहिं वण्णसंठाणाईहिं णाऊणंति।

५—जि० चू० पृ० २७८-२७९ : अहवा ण सव्वपरियाएहिं छउमत्थो सक्केइ उवलभिउं, किं पुण जो जस्स विसयो ? तेण सव्वेण भावेण जाणिऊणंति।

६—हा० टी० प० २३० : 'सर्वभावेन' शक्त्यनुरूपेण स्वरूपसंरक्षणादिना।

७—(क) अ० चू० पृ० १८८ : पायं लाबुदारुमट्टियामयं।
(ख) जि० चू० पृ० २७९ : पायग्गहणेण दारुअलाउयमट्टियपायाणं गहणं।
(ग) हा० टी० प० २३१ : पात्रग्रहणात्—अलाबुदारुमयादिपरिग्रहः।

८—(क) अ० चू० पृ० १८८ : कंबलोपदेसेण तज्जातीयं वत्थादि सव्वमुपदिट्ठं।
(ख) जि० चू० पृ० २७९ : कम्बलगहणेण उण्णियसोत्तियाण सव्वेसिं गहणं।
(ग) हा० टी० प० २३१ : कम्बलग्रहणादूर्णासूत्रमयपरिग्रहः।

९—(क) जि० चू० पृ० २७९ : सेज्जाओ वसहीओ भण्णइ, तमवि दुकालं तिकालं वा पडिलेहिज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३१ : 'शय्यां' वसतिं द्विकालं त्रिकालं च।

३६. उच्चार-भूमि (उच्चारभूमिं [ग]) :

जहाँ लोगों का अनापात और असंलोक हो अर्थात् लोगों का गमनागमन न हो और लोग न दीखते हों, वह उच्चार—मलोत्सर्ग करने योग्य भूमि है। साधु उसका प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर उसमें प्रवेश करे[1]।

३७. संस्तारक (संथारं [घ]) :

सस्तारक-भूमि के लिए भी प्रतिलेखन और प्रमार्जन दोनों का विधान है[2]।

३८. आसन का (आसणं [घ]) :

बैठते समय आसन का प्रतिलेखन करने का विधान है[3]।

३९. यथासमय (धुवं [क]) :

इसका अर्थ नित्य-नियत समय या यथासमय है[4]।

४०. प्रमाणोपेत (जोगसा [ख]) :

इसका अर्थ अन्यूनातिरिक्त अर्थात् प्रमाणोपेत है। प्रतिलेखन न हीन करना चाहिए और न अतिरिक्त, किन्तु प्रमाणोपेत करना चाहिए। जैसे योग-रक्त साड़ी का अर्थ प्रमाण-रक्त साड़ी होना है, वैसे ही जोगसा का अर्थ प्रमाण-प्रतिलेखन होता है[5]। व्याख्याओं मे इसका मूल अर्थ —'सामर्थ्य होने पर' भी किया गया है[6]।

४१. प्रतिलेखन करे (पडिलेहेज्जा [क]) :

प्रतिलेखन का अर्थ है देखना। मुनि के लिए दिन मे दो बार (प्रातः और सायं) वस्त्र आदि का प्रतिलेखन करना विहित है। प्रतिलेखन-विधि की जानकारी के लिए उत्तराध्ययन (२६.२२-३१) और ओघनिर्युक्ति गाथा (२५६-२७५) द्रष्टव्य हैं।

श्लोक १८ :

४२. श्लोक १८ :

इस श्लोक मे निर्दिष्ट उच्चार आदि की तरह अन्य शरीर के अवयव, आहार या उपकरण आदि का भी प्रासुक स्थान में उत्सर्ग करना चाहिए। यह उपाश्रय मे उत्सर्ग करने की विधि का वर्णन है[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १८८ : उच्चारो सरीरमलो तस्स भूमी उच्चारभूमी, तमवि अणावातमसंलोगाविविहिणा पडिलेहेज्जा, पडिलेहितपमज्जिते वा आयारेज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : उच्चारभूमिमवि अणावायमसंलोयाविगुणेहिं जुत्त गयमाणो।

(ग) हा० टी० प० २३१ : उच्चारभुव च—अनापातवदादि स्थण्डिलम्।

२—(क) जि० चू० पृ० २७९ : तहा संथारभूमिमवि पडिलेहिय पमज्जिय अत्थुरेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : 'संस्तारक' तृणमयाविरूपम्।

३—जि० चू० पृ० २७९ · तहा आसणमवि पडिलेहिऊण उवविसेज्ज।

४—(क) अ० चू० पृ० १८८ : धुव णियतं।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ · धुवं णाम जो जस्स पच्चुवेक्खणकालो तं तमि णिच्चं।

(ग) हा० टी० प० २३० : 'ध्रुव च' नित्यं च यो यस्य काल उक्तोऽनागतः परिभोगे च तस्मिन्।

५—जि० चू० पृ० २७९ : जोगसा नाम सति सामत्थे, अहवा जोगसा णाम जं पमाणं भणितं ततो पमाणाओ ण हीणमहितं वा पडिलेहिज्जा, जहा जोगरत्ता साडिया पमाणरत्तित्ति वुत्तं भवइ तहा पमाणपडिलेहा जोगसा भण्णइ।

६—(क) अ० चू० पृ० १८८ : जोगसा जोगसामत्थे सति। अहवा उवउज्जिऊण पुव्वि ति जोगेण जोगसा ऊणातिरित्तपडिलेहणा-वज्जितं वा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : 'योगे सति' सति सामर्थ्ये अन्यूनातिरिक्तम्।

७—(क) जि० चू० पृ० २७९ : अन्नं वा सरीरावयव आहारोवकरणादि वा, फासुयं ठाणं 'पडिलेहिऊण परिठ्ठवेज्ज संजए'त्ति, एस उवस्सए विधी भण्णिओ।

(ख) हा० टी० प० २३१ : उपाश्रयस्थानविधिरुक्तः।

४३. शरीर के मैल का (जल्लियं ख) :

'जल्लिय' का अर्थ है शरीर पर जमा हुआ मैल। चूर्णिद्वय के अनुसार मुनि के लिए उसका उद्वर्तन करना - मैल उतारना विहित नहीं है। पसीने से गलकर मैल उतरता है अथवा ग्लान साधु शरीर पर जमे हुए मैल को उतार सकता है। यहाँ मैल के उत्सर्ग का उल्लेख इन्हीं की अपेक्षा से है[1]।

अगस्त्यसिंह ने 'जाव सरीरभेओ' इस वाक्य के द्वारा 'जल्ल परीषह' की ओर संकेत किया है। इसकी जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन (२.३७)।

श्लोक १९ :

४४. (वा ख) :

सामान्यतः गृहस्थ के घर जाने के भोजन और पानी ये दो प्रयोजन बतलाए है। रुग्ण साधु के लिए औषध लाने के लिए तथा इसी कोटि के अन्य कारणो से भी गृहस्थ के घर मे प्रवेश करना होता है --यह 'वा' शब्द से सूचित किया गया है[2]।

४५. उचित स्थान में खड़ा रहे (जयं चिट्ठे ग) :

इसका शाब्दिक अर्थ है—यतनापूर्वक खडा रहे। इसका भावार्थ है - गृहस्थ के घर मे मुनि झरोखा, सन्धि आदि स्थानों को देखता हुआ खडा न रहे अर्थात् उचित स्थान मे खडा रहे[3]।

४६. परिमित बोले (मियं भासे ग) :

गृहस्थ के पूछने पर मुनि यतना से एक बार या दो बार बोले[4] अथवा प्रयोजन वश बोले[5]। जो बिना प्रयोजन बोलता है वह भले थोडा ही बोले, मितभाषी नही होता और प्रयोजनवश अधिक बोलने वाला भी मितभाषी है। आहार एषणीय न हो तो उसका प्रतिषेध करे[6] यह भी 'मियं भासे' का एक अर्थ है।

४७. रूप में मन न करे (ण य रूवेसु मणं करे घ) :

भिक्षाकाल मे दान देने वाली या दूसरी स्त्रियों का रूप देखकर यह चिन्तन न करे—इसका आश्चर्यकारी रूप है, इसके साथ मेरा सयोग हो आदि। रूप की तरह शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श में भी मन न लगाए—आसक्त न बने[7]।

१—(क) अ० चू० पृ० १८९ : जल्लिया मलो, तस्स य जाव सरीरभेदाए नत्थि उव्वट्टणं जदा पुण पस्सेदेण गलति गिलाणाति कज्जे वा अवकरिसणं तदा।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : जल्लियं नाम मलो, जो कप्पइ उवट्टेउं, जो पुण गिम्हकाले पस्सेयो भवति, अण्णंमि गिलाणादि कारणे मलस्स केरिसो कीरइ तस्स त गहण कयंति।

२—(क) जि० चू० पृ० २७९-२८० : अन्नेसु वा कारणेसु पविसिऊण।

(ख) हा० टी० प० २३१ : ग्लानादेरौषधार्थं वा।

३—(क) जि० चू० पृ० २८० : तत्थ जयं चिट्ठे नाम तंमि गिहदुवारे चिट्ठे, जो आलोयत्थिग्गलाईणि वज्जयंति, अवलोयं सोहयंतो चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : यतं—गवाक्षकादीन्यनवलोकयन् उचितदेशे।

४—जि० चू० पृ० २८० : मितं भासेज्जा नाम पुच्छिओ संजओ जयणाए एक्कं वा दो वा वारे भासेज्जा।

५—जि० चू० पृ० २८० : कारणनिमित्तं वा भासइ।

६—जि० चू० पृ० २८० : अणेसणं वा पडिसेहयइ।

७—जि० चू० पृ० २८० : रूवं दायगस्स अण्णेसिं वा दट्ठूणं तेसु मणं ण कुज्जा, जहा अहो रूवं, जति णाम एतेण सह संजोगो होज्जत्ति एवमादि।

श्लोक २० :

४८. श्लोक २० :

चूर्णिकार ने इस श्लोक के प्रतिपाद्य की पुष्टि के लिए एक उदाहरण दिया है :

एक व्यक्ति पर-स्त्री के साथ मैथुन सेवन कर रहा था। किसी साधु ने उसे देख लिया। वह लज्जित हुआ और सोचने लगा कि साधु किसी दूसरे को कह देगा, इसलिए मैं उसे मार डालूं। उसने आगे जाकर मार्ग रोका और मौका देखकर साधु से पूछा—'आज तूने मार्ग में क्या देखा ?' साधु ने कहा .

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खु अक्खाउमरिहइ ॥

यह सुनकर उसने मारने का विचार छोड़ दिया[1]। इस प्रसग से यह स्पष्ट होता है कि सत्य भी विवेकपूर्वक बोलना चाहिए। साधु को झूठ नहीं बोलना चाहिए, किन्तु जहाँ सत्य बोलने से हिंसा का प्रसंग हो वहाँ सत्य भी नही बोलना चाहिए। वैसी स्थिति में मौन रखना ही अहिंसक का धर्म है। इसका सम्बन्ध आचाराङ्ग से भी है। वहाँ बताया गया है—पथिक ने साधु से पूछा · 'क्या तुमने मार्ग में मनुष्य, वृषभ, महिष, पशु, पक्षी, सांप, सिंह या जलचर को देखा ? यदि देखा हो तो बताओ।' वैसी स्थिति मे साधु जानता हुआ भी 'जानता हूँ'—ऐसा न कहे। किन्तु मौन रहे[2]।

श्लोक २१ :

४९. सुनी हुई (सुयं [ख]) :

किसी के बारे में दूसरों से सुनकर कहना कि 'तू चोर है'—यह सुना हुआ औपघातिक वचन है[3]।

५०. देखी हुई (दिट्ठं [ग]) :

मैंने इसे लोगों का धन चुराते देखा है—यह देखा हुआ औपघातिक वचन है[4]।

५१. गृहस्थोचित कर्म का (गिहिजोगं [घ]) :

'गृहियोग' का अर्थ है—गृहस्थ का संसर्ग या गृहस्थ का कर्म – व्यापार। 'इस लडकी का तूने वैवाहिक सम्बन्ध नही किया ?', 'इस लड़के को तूने काम में नहीं लगाया'—ऐसा प्रयत्न गृहियोग कहलाता है[5]।

१—(क) अ० चू० पृ० १९०।
(ख) जि० चू० पृ० २८१।

२—आ० चू० ३।५५ : तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा नो जाणंति वइज्जा।

३—(क) जि० चू० पृ० २८१ : तत्थ सुतं जहा तुमं मए सुओ अट्ठाबद्धो चोरो एवमादि।
(ख) हा० टी० प० २३१ : यथा—चौरस्त्वमित्यादि।

४—(क) जि० चू० पृ० २८१ : दिट्ठो—दिट्ठोसि मए परदव्वं हरमाणो एवमादि।
(ख) हा० टी० प० २३१ : यदि वा दृष्टं स्वयमेव।

५—(क) अ० चू० पृ० १९० : गिहिजोगं गिहिसंसग्गि गिहवावारं वा गिहिजोगं।
(ख) जि० चू० पृ० २८१ : गिहीहिं समं जोगं गिहिजोगं, संसग्गित्ति वुत्तं भवति, अहवा गिहिकम्मं जोगो भण्णइ, तस्स गिहि-कम्माणं कयाणं अकयाणं च तत्थ उवेक्खणं सयं वाऽकरणं, जहा एस दारिया किं न दिज्जइ ? दारगो वा किं न निवेसिज्जइ ?, एवमादि।
(ग) हा० टी० प० २३१ : 'गृहियोगं' गृहिसंबन्धं तद्बालग्रहणादिरूपं गृहिव्यापारं वा।

श्लोक २२ :

५२. सरस (णिट्ठाणं [क]) :

जो भोजन सब गुणों से युक्त और वेषवारों से संस्कृत हो उसे निष्ठान कहा जाता है[1], जैसे—चटनी, मसाला, छौंक (तेमन) आदि। दाल, शाक आदि भोजन के उपकरण भी निष्ठान कहलाते हैं। निष्ठान का भावार्थ सरस है।

५३. नीरस (रसनिज्जूढं [क]) :

रस-निर्यूढ। जिनका रस चला गया हो उसे 'निर्यूढ रस' कहा जाता है। 'निर्यूढ रस' अर्थात् निकृष्ट या रस-रहित भोजन[2]।

श्लोक २३ :

५४. भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए (न य भोयणम्मि गिद्धो [क] चरे [ख]) :

भोजन से चारों प्रकार के आहार का ग्रहण होता है। भोजन की आसक्ति से मुनि नीच कुलों को छोड़कर उच्च कुलों में प्रवेश न करे[3] और विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए दाता की श्लाघा करता हुआ भिक्षाटन न करे[4]।

५५. वाचालता से रहित होकर (अयंपिरो [ख]) :

चूर्णि काल में इसका अर्थ अजल्पनशील रहा है[5]। टीकाकार ने—'धर्म-लाभ' मात्र बोलने वाला—इतना और विस्तृत किया है[6]। भिक्षा लेने से पूर्व 'धर्म-लाभ' कहने की परम्परा आज भी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय में प्रचलित है।

५६. उञ्छ (उंछं [ग]) :

'उञ्छ' शब्द मूलतः कृषि से सम्बन्धित है। सिट्टो या भुट्टो को काटा जाता है उसे 'शिल' कहते हैं और नीचे गिरे हुए धान्यकणों को एकत्र करने को 'उञ्छ' कहते हैं। यह विस्तार पाते-पाते भिक्षा से जुड़ गया और खाने के बाद रहा हुआ शेष भोजन लेना, घर-घर से थोड़ा-थोड़ा भोजन लेना—इनका वाचक बन गया और सामान्यतः भिक्षा का पर्यायवाची जैसा बन गया। महाभारत में भिक्षा के लिए 'उञ्छ' और 'शिल' दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं[7]।

दशवैकालिक में 'उञ्छ' शब्द का प्रयोग तीन स्थलों में 'अन्नाय' शब्द के साथ[8] और दो स्थलों में स्वतन्त्र रूप[9] से हुआ है।

१—(क) जि० चू० पृ० २८१ : णिट्ठाणं णाम जं सव्वगुणोववेयं सव्वसंभारसंभियं तं णिट्ठाणं भण्णइ।
　(ख) हा० टी० प० २३१ : 'निष्ठानं' सर्वगुणोपेतं संभृतमन्नम्।

२—(क) जि० चू० पृ० २८१ : रसणिज्जूढं णाम जं कदसणं ववगयरसं तं रसणिज्जूढं भण्णइ।
　(ख) हा० टी० प० २३१ : रसं निर्यूढमेतद्विपरीतं कदशनम्।

३—जि० चू० पृ० २८१ : भोयणगहणेण चउव्विहस्सवि आहारस्स गहणं कयं, तस्स भोयणस्स गेहीए य णीयकुलाणि अतिक्कमन्तो उच्चकुलाणि पविसेज्जा।

४—हा० टी० प० २३१ : न च भोजने गृद्धः सन् विशिष्टवस्तुलाभायेश्वरादिकुलेषु मुखमङ्गलिकया चरेत्।

५—(क) अ० चू० पृ० १९० : अजंपणसीलो अयंपुरो।
　(ख) जि० चू० पृ० २८१ : अयंपिरो णाम अजंपणसीलो।

६—हा० टी० प० २३१ : अजल्पनशीलो धर्मलाभमात्राभिधायी चरेत्।

७—महा० शान्ति० १९१.४ : असक्तमतिरनाकाङ्क्षी नित्यमुञ्छशिलाशनः।
　　　सर्वभूतहिते युक्त एष विप्रो भुजङ्गम ! ॥

८—दश० ९.३.४; १०.१६; चू० २.५।

९—दश० ८.२३; १०.१७।

श्लोक २४ :

५७. सन्निधि (सन्निहिं [क])

इसका शाब्दिक अर्थ है पास में रखना, जमा करना, संग्रह करना। इसका भावार्थ है रातवासी रखना[1]। मुनि के लिए आगामी काल की चिन्ता से प्रेरित हो संग्रह करने का निषेध किया गया है[2]।

५८. मुधाजीवी (मुहाजीवी [ग]) :

यहाँ अगस्त्यसिंह ने 'मुहाजीवी' का अर्थ मूल्य के बिना जीने वाला अर्थात् अपने जीवन के लिए धन आदि का प्रयोग न करने वाला किया है[3]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.१ की टिप्पण संख्या १००।

५९. असंबद्ध (अलिप्त) (असंबद्धे [घ]) :

इसका एक अर्थ है—सरस आहार में आसक्त न हो—बद्ध न हो[4]। दूसरा अर्थ है—जिस प्रकार कमल-पत्र पानी मे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार गृहस्थों से निर्लिप्त[5]।

६०. जनपद के आश्रित (जगनिस्सिए [घ]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार मुनि एक कुल या ग्राम के निश्रित न रहे, किन्तु जनपद के निश्रित रहे[6]। जिनदास चूर्णि के अनुसार 'जगन्निश्रित' की व्याख्या इस प्रकार है—मुनि गृहस्थ के निश्रित रहे अर्थात् गृहस्थो के घर से जो भिक्षा प्राप्त हो वह ले, किन्तु मन्त्र-तन्त्र से जीविका न करे[7]। टीका के अनुसार इसका अर्थ है—त्रस और स्थावर जीवों के संरक्षण में संलग्न[8]। स्थानाङ्ग में श्रमण के लिए पाँच निश्रा-स्थान बतलाए गए हैं—छहकाय, गण—गणराज्य, राजा, गृहपति और शरीर[9] भिक्षु इनकी निश्रा मे विहार करता है। चूर्णियो के अर्थ टीका की अपेक्षा अधिक मूलस्पर्शी हैं।

श्लोक २५ :

६१. रूक्षवृत्ति (लूहवित्ती [क]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'रूक्षवृत्ति' के दो अर्थ हैं—संयम के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला अथवा चने, निष्पाव, कोद्रव आदि रूक्ष द्रव्यों से जीविका करने वाला[10]। जिनदास चूर्णि और टीका को दूसरा अर्थ अभिमत है[11]।

१—जि० चू० पृ० २८२ : सन्निधी—गुलघयतिल्लादीणं दव्वाणं परिवासणंति।

२—अ० चू० पृ० १९० : सण्णिधाणं सण्णिधी उत्तरकालं भुंजीहामित्ति सण्णिचयकरणमणेगदेवसियं तं ण कुव्वेज्ज।

३—अ० चू० पृ० १९० : मुधा अमुल्लेण तधा जीवति मुधाजीवी जहा पढमपिंडेसणाए।

४—अ० चू० पृ० १९० : असंबद्धो रसादिपडिबंधेहिं।

५—(क) जि० चू० पृ० २८२ : असंबद्धे णाम जहा पुक्खरपत्तं तोएण न संबज्झइ एवं गिहीहिं समं असंबद्धेण भवियव्वंति।
(ख) हा० टी० प० २३१ : असंबद्धः पद्मिनीपत्रोदकवद्गृहस्थैः।

६—अ० चू० पृ० १९० : जगणिस्सितो इति ण एक्कं कुलं गामं वा णिस्सितो जणपदमेव।

७—जि० चू० पृ० २८२ : 'जगनिस्सिए' णाम तत्थ चराचिं [illegible] णिस्साए विहरेज्जा, न तेहिं समं कुंटलाइं करेज्जा।

८—हा० टी० प० २३१ : 'जगन्निश्रितः' चराचरसंरक्षणप्रतिबद्धः।

९—ठा० ५।१९२ : धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पं० तं—छक्काया गणे राया गाहावती सरीरं।

१०—अ० चू० पृ० १९१ : लूहं संजमो तस्स अणुवरोहेण वित्ति जस्स सो लूहवित्ती, अहवा लूहदव्वाणि चणगनिप्फावकोद्दवादीणि वित्ती जस्स।

११—(क) जि० चू० पृ० २८२ : निप्फावकोद्दवादिलूहदव्वेहिं वित्ती जस्स सो लूहवित्ती भण्णइ, निच्चं साहुणा लूहवित्तिणा भवियव्वं।
(ख) हा० टी० प० २३१ : रूक्षैः—वल्लचणकादिभिर्वृत्तिरस्येति रूक्षवृत्तिः।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.२.३४ की टिप्पण संख्या ५१।

६२. अल्प इच्छा वाला (अप्पिच्छे [क]) :

जिसके आहार की जितनी मात्रा हो उससे कम खानेवाला 'अल्पेच्छ' अल्प-इच्छा वाला कहलाता है[1]।

६३. अल्पाहार से तृप्त होने वाला (सुहरे [ख]) :

रूक्षवृत्ति, सुसंतुष्ट, अल्पेच्छ और सुभर इनमें कारण-भाव—फल-भाव है। रूक्षवृत्ति का फल सुसंतोष, सुसंतोष का अल्पेच्छता और अल्पेच्छता का फल सुभरता है[2]।

६४. जिन-शासन को (जिणसासणं [ख]) :

जिन-शासन को सुनकर—अक्रोध की शिक्षा के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। जिन-वचन में क्रोध के बहुत ही कटु विपाकों का वर्णन किया है। जीव चार प्रकार से नारकीय कर्मों का बन्धन करता है। उनमें पहला है—क्रोध-शीलता[3]। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर क्रोध न किया जाए इसके लिए जिन-शासन में अनेक आलम्बन बतलाए गए हैं, जैसे—कोई अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि पुरुष भिक्षु को गाली दे, मारे-पीटे तब वह सोचे कि यह मेरा अपराध नहीं कर रहा है। मुझे कष्ट दे रहे है मेरे किए हुए कर्म। इस प्रकार सोचकर जो गाली और मार-पीट को सहन करता है वह अपनी आत्मा का शोधन करता है। देखिए उत्तराध्ययन (२.२४-२७)। अगस्त्य-सिंह ने अक्रोध की आलम्बनभूत एक गाथा उद्धृत की है :

> अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाण ।
> लाभं मन्नति धीरो, जहुत्तराणं अभावंमि ॥

इसका अर्थ है 'गाली देना, पीटना और मारना'—ये कार्य बालजनो के लिए सुलभ हैं। कोई आदमी गाली दे तब भिक्षु यह सोचे कि खैर, गाली ही दी, पीटा तो नहीं। पीटे तो सोचे कि चलो पीटा, पर मारा तो नहीं। मारे तब सोचे कि खैर, मेरा धर्म तो नहीं लूटा। इस प्रकार क्रोध पर विजय पाए।

६५. क्रोध (आसुरत्तं [ग]) :

'आसुर' शब्द का सम्बन्ध असुर जाति से है। आसुर अर्थात् असुर-संबन्धी। असुर क्रोध-प्रधान माने जाते हैं, इसलिए 'आसुर' शब्द क्रोध का पर्याय बन गया। आसुरत्व अर्थात् क्रोध-भाव[4]।

श्लोक २६ :

६६. श्लोक २६ :

श्लोक के प्रथम दो चरणों में श्रोत्र-इन्द्रिय के और अन्तिम दो चरणों में स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह का उपदेश है। इससे मध्यवर्ती शेष इन्द्रिय चक्षु, घ्राण और रसन के निग्रह का उपदेश स्वयं जान लेना चाहिए। जिस प्रकार मुनि मनोज्ञ शब्दों में राग न करे उसी

१—(क) जि० चू० पृ० २८२ : अप्पिच्छो णाम जो जस्स आहारो ततो आहारपमाणाओ ऊणमाहारेमाणो अप्पिच्छो भवति ।
(ख) हा० टी० प० २३१ : अल्पेच्छो न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागी ।

२—हा० टी० प० २३१ : सुभरः स्यात् अल्पेच्छत्वादेव दुर्भिक्षादावपीति फलं प्रत्येकं वा स्यात् ।

३—ठा० ४.४३० : चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए कम्मं पगरेंति, —कोवसीलताए, पाहुडसीलताए संसत्ततवोकम्मेणं निमित्ता-जीवयाए ।

४—(क) अ० चू० पृ० १९१ : असुराणं एस विसेसेण त्ति आसुरो कोहो, तब्भावो आसुरत्तं ।
(ख) जि० चू० पृ० २८२ ।

प्रकार अमनोज्ञ शब्दों में द्वेष न करे। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के प्रिय और अप्रिय विषयों में राग और द्वेष न करे। जैसे बाहरी वस्तुओं से राग और द्वेष का निग्रह कर्म-क्षय के लिए किया जाता है, वैसे ही कर्म-क्षय के लिए आन्तरिक दुःख भी सहने चाहिए[1]।

६७. कानों के लिए सुखकर (कण्णसोक्खेहिं [क]) :

वेणु, वीणा आदि के जो शब्द कानों के सुख के हेतु होते हैं, वे शब्द 'कर्णसौख्य' कहे जाते हैं[2]।

६८. दारुण और कर्कश (दारुणं कक्कसं [ग]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'दारुण' का अर्थ है विदारण करने वाला और कर्कश का अर्थ है शरीर को कृश करने वाले शीत, उष्ण आदि के स्पर्श। इन दोनों को एकार्थक भी माना है। तीव्रता बताने के लिए अनेक एकार्थक शब्दों का प्रयोग करना पुनरुक्त नहीं कहलाता[3]। टीका के अनुसार 'दारुण' का अर्थ अनिष्ट और 'कर्कश' का अर्थ कठिन है[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार शीत, उष्ण आदि दारुण स्पर्श हैं और ककड़ आदि के स्पर्श कर्कश है। पहले का सम्बन्ध ऋतु-विशेष और दूसरे का सम्बन्ध मार्ग-गमन से है[5]।

६९. स्पर्श (फासं [ग]) :

स्पर्श का अर्थ स्पर्शन-इन्द्रिय का विषय (कठोर आदि) है। इसका दूसरा अर्थ दुःख या कष्ट भी है[6]। यहाँ दोनों अर्थ किए जा सकते हैं।

श्लोक २७ :

७०. दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) (दुस्सेज्जं [क]) :

जिस पर सोने से कष्ट होता है उन्हें दुःशय्या कहा जाता है। विषमभूमि, फलक आदि दुःशय्या हैं[7]।

७१. अरति (अरई [ख]) :

अरति भूख, प्यास आदि से उत्पन्न होती है[8]। टीकाकार ने मोहजनित उद्वेग को 'अरति' माना है[9]।

१—जि० चू० पृ० २८३ : तत्थ कण्णसोक्खेहिं सद्देहिंति एतेण आदिल्लस्स सोइंदियस्स गहणं कयं, दारुणं कक्कसं फासंति—एतेण अंतिल्लस्स फासिंदियस्स गहणं कयं, आदिल्ले अंतिल्ले य गहिए सेसावि तस्स मज्झपडिया चक्खूघाणजीहा गहिया, कन्नेहिं विरूविहिं रागं ण गच्छेज्जा, एवं गरहा, सेसेसुवि रागं न गच्छेज्जत्ति, जहा एतेसु सद्दाइसु मणुण्णेसु रागं न गच्छेज्जा तहा अमणुण्णेसुवि दोसं न गच्छेज्जा, जहा बाहिरवत्थूसु रागदोसनिग्गहो कम्मखवणत्थं कीरइ तहा कम्मखवणत्थमेव अन्तसमुट्ठियमवि दुक्खं सहियव्वं।

२—जि० चू० पृ० २८३ : कन्नाणं सुहा कन्नसोक्खा तेसु कन्नसोक्खेसु वंसीवीणाइसद्देसु।

(ख) हा० टी० प० २३२ : कर्णसौख्यहेतवः कर्णसौख्याः शब्दा - वेणुवीणादिसंबन्धिनः।

३—जि० चू० पृ० २८३ : दारुणं णाम दारणसीलं दारुणं, कक्कसं नाम जो सीउण्हकोसादिफासो सो सरीरं किसं कुव्वईति कक्कसं, तं कक्कसं फासं उदिण्णं काएण अहियासएत्ति, अहवा दारुणसद्दो कक्कससद्दोऽवि य एगट्ठा, अच्चत्थनिमित्तं पउज्जमाणा णो पुणरुत्तं भवइ।

४—हा० टी० प० २३२ : 'दारुणम्' अनिष्टं 'कर्कशं' कठिनम्।

५—अ० चू० पृ० १९१ : दारुणः कष्टः तीव्रः, सीउण्हादितं कक्कसो, वयत्थो वयत्थाए जो फासो सोवि वयत्थो, तं पुण रुक्खादिसकडेसु विपणिमग्गेसु वा फरिसितो।

६—सू० १.५.२.२२।

७—(क) अ० चू० पृ० १९१ : विसमादिभूमिसुदुःखसयणं दुस्सेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० २८३ : दुसिज्जा नाम विसमभूमिफलगमादी।

(ग) हा० टी० प० २३२ : 'दुःशय्यां' विषमभूम्यादिरूपाम्।

८—जि० चू० पृ० २८३ : अरती एतेहिं खुप्पिवासादीहिं भवइ।

९—हा० टी० प० २३२ : 'अरतिं' मोहनीयोद्भवाम्।

७२. भय को (भयं [घ]) :

सिंह, साँप आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाला उद्वेग 'भय' कहलाता है[१]।

७३. अव्यथित (अव्वहिओ [ग]) :

अव्यथित का अर्थ—अहीन, अक्लीव और असीदमान—विषाद न करता हुआ है[२]।

७४. देह में उत्पन्न कष्ट को (देहे दुक्खं [घ]) :

कष्ट दो प्रकार के होते हैं—उदीर्ण—स्वतः उत्पन्न और उदीरित—जान-बूझ कर उत्पादित। यहाँ 'देह' शब्द में सप्तमी विभक्ति है। इसके आधार पर अगस्त्यसिंह ने 'देहे दुक्खं' का अर्थ देह में उत्पन्न दुःख किया है[३]। जिनदास इस विषय में मौन हैं[४]। हरिभद्र इनका सम्बन्ध इस प्रकार बतलाते हैं—देह होने पर दुःख होता है। देह असार है—यह सोचकर दुःख को सहन करना महा फल का हेतु होता है[५]।

मुनि की अनेक भूमिकाएँ हैं। जिन-कल्पी या विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि कष्टों की उदीरणा करते हैं। स्थविर-कल्पी का मार्ग इनसे भिन्न है। वे उत्पन्न कष्टों को सहन करते हैं। अगस्त्यसिंह की व्याख्या इस भूमिका-भेद को 'उत्पन्न' शब्द के द्वारा स्पष्ट करती है।

७५. महाफल (महाफलं [घ]) :

आत्मवादी का चरम साध्य मोक्ष है, इसलिए वह उसीको सबसे महान् फल मानता है। उत्पन्न दुःख को सहन करने का अंतिम फल मोक्ष होता है, इसलिए उसे महाफल कहा गया है[६]।

श्लोक २८ :

७६. सूर्यास्त से लेकर (अत्थंगयम्मि [क]) :

यहाँ 'अस्त' के दो अर्थ हो सकते हैं—सूर्य का डूबना—अदृश्य होना अथवा वह पर्वत जिसके पीछे सूर्य छिप जाता है[७]।

७७. पूर्व में (पुरत्था [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पुरस्तात्' का अर्थ पूर्व दिशा और टीका के अनुसार प्रातःकाल है[८]।

७८. (आहारमइयं [ग]) :

यहाँ 'मइय' मयट् प्रत्यय के स्थान में है[९]।

१—(क) अ० चू० पृ० १९१ : भयं उव्वेगो सीह-सप्पातीतो।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : 'भयं' सप्पसीहवाघादि वा भवति।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'भयं' व्याघ्रादिसमुत्थम्।

२—(क) जि० चू० पृ० २८३ : अव्वहिओ नाम अहीणो अविक्कीवो असीयमाणोत्ति वुत्तं भवति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'अव्यथितः' अदीनमनाः सन्।

३—अ० चू० पृ० १९२ : देहो सरीरं तंमि उप्पण्णं दुक्खं।

४—जि० चू० पृ० २८३ : देहे दुक्खं महाफलं।

५—हा० टी० प० २३२ : देहे दुःखं महाफलं संचिन्त्येति वाक्यशेषः। तथा च शरीरे सत्येतद्दुःखं, शरीरं चासारं, सम्यगतिसह्यमानं च मोक्षफलमेवेदम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १९२ : मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : महाफलं—महा मोक्खो भण्णइ, तं मोक्खपज्जवसाणं फलमिति।

७—(क) अ० चू० पृ० १९२ : आइच्चादितिरोभावकरणं पव्वयो अत्थो, चक्खुविसयातिक्कमेण वा अदरिसणमत्थो तं गते।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : अत्थो नाम पव्वओ, तंमि गतो आदिच्चो अत्थगओ, अहवा अचक्खुविसयपत्थो, अत्थंगते आदिच्चे
(ग) हा० टी० प० २३५ : 'अस्तं गत आदित्ये' अस्तपर्वतं प्राप्ते अदर्शनीभूते वा।

८—(क) अ० चू० पृ० १९२ : पुरत्था वा पुव्वाए दिसाए।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'पुरस्ताच्चानुद्गते' प्रत्यूषस्यनुदिते।

९—पाइयसद्दमहण्णव पृ० ८१६।

७६. मन से भी इच्छा न करे (मणसा वि न पत्थए घ) :

मन से भी इच्छा न करे, तब वचन और शरीर के प्रयोग की कल्पना ही कैसे की जा सकती है—यह स्वयंगम्य है[1]।

श्लोक २६ :

८० प्रलाप न करे (अतिंतिणे क) :

तेन्दु आदि की लकड़ी को अग्नि मे डालने पर जो तिण-तिण शब्द होता है उसे तिंतिण' कहते है। यह ध्वनि का अनुकरण है। जो व्यक्ति मनचाहा कार्य न होने पर बकवास करता है उसे भी 'तिंतिण' कहा जाता है। आहार न मिलने पर या मनचाहा न मिलने पर जो प्रलाप नहीं करता वह 'अतिंतिण' होता है[2]।

८१. अल्पभाषी (अप्पभासी ख) :

अल्पभाषी का अर्थ है कार्य के लिए जितना बोलना आवश्यक हो उतना बोलने वाला[3]।

८२. मितभोजी (मियासणे ख) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार इसका समास दो तरह से होता है।

१. मित+अशन=मिताशन
२. मित+असन =मितासन

मिताशन का अर्थ मितभोजी और मितासन का अर्थ थोड़े समय तक बैठने वाला है। इसका आशय है कि श्रमण भिक्षा के लिए जाए तब किसी कारण से बैठना पड़े तो अधिक समय तक न बैठे[4]।

८३ उदर का दमन करने वाला (उयरे दंते ग) :

जो जिस-तिस प्रकार के प्राप्त भोजन से संतुष्ट हो जाता है, वह उदर का दमन करने वाला कहलाता है[5]।

८४. थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे (थोवं लद्धुं न खिसए घ) :

थोड़ा आहार पाकर श्रमण देय—अन्न, पानी आदि और दायक की खिसना न करे, निन्दा न करे[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० २८४ : किमंग पुण वायाए कम्मुणा इति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : मनसापि न प्रार्थयेत्, किमङ्ग पुनर्वाचा कर्मणा वेति।

२—(क) अ० चू० पृ० १९२ : तेंबुरु विकट्ठडहणमिव तिणितिणणं तितिणं, तहा अरसादि न हीलिउमिच्छतित्ति अतितिणे।
(ख) जि० चू० पृ० २८४ : जहा टिंबरुदयदारुअ अगणिमि पक्खित्तं तडतडेती ण साहुणा तहावि तडतडियव्वं।
(ग) हा० टी० प० २३३ : अतिन्तिणो नामालाभेऽपि नेषद्भाषिकवनभाषी।

३—(क) अ० चू० पृ० १९२ : अप्पवादी जो कारणमत्तं जावणाति भासति
(ख) जि० चू० पृ० २८४ : अप्पवादी नाम कज्जमेत्तभासी।
(ग) हा० टी० प० २३३ : 'अल्पभाषी' कारणे परिमितवक्ता।

४—(क) जि० चू० पृ० २८४ : मितासणे नाम मिय असतीति मियासणे, परिमितमाहारतित्ति वुत्तं भवति, अहवा मियासणे भिक्खट्ठाए णिग्गओ कारणे उवट्ठातुं मितं इच्छइ।
(ख) हा० टी० प० २३३ : 'मिताशनो' मितभोक्ता।

५—(क) जि० चू० पृ० २८४ : 'उदरं पोट्ट'—तंमि दंतेण होयव्वं, जेण तेणेव संतुसियव्वंति।
(ख) हा० टी० प० २३३ : 'उदरे दान्तो येन वा तेन वा वृत्तिशील:।

६—(क) जि० चू० पृ० २८४ : तं वा अण्ण पाणं दायगं वा णो खिसेज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३३ : 'स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्' देयं दातारं वा न हीलयेदिति।

श्लोक ३० :

८५. श्लोक ३० :

श्रुत मद की तरह मैं कुल-सम्पन्न हूँ, और बल-सम्पन्न हूँ और रूप-सम्पन्न हूँ—इस प्रकार मुनि कुल, बल और रूप का भी मद न करे[1]।

८६. दूसरे का (बाहिरं [क]) :

बाह्य अर्थात् अपने से भिन्न व्यक्ति[2]।

८७. श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का (सुयलाभे [ग] · बुद्धिए [घ]) :

श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि—ये आत्मोत्कर्ष के हेतु हैं। मैं बहुश्रुत हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार श्रमण श्रुत का गर्व न करे। लाभ का अर्थ है—लब्धि, प्राप्ति। लब्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार लाभ का गर्व न करे। मैं उत्तम जातीय हूँ, बारह प्रकार के तप करने में और बुद्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार जाति, तप और बुद्धि का मद न करे[3]। लाभ का वैकल्पिक पाठ लज्जा है। लज्जा अर्थात् संयम में मेरे समान दूसरा कौन है इस प्रकार लज्जा का मद न करे।

श्लोक ३१ :

८८. श्लोक ३१-३३ :

जान या अजान में लगे हुए दोष को आचार्य या बड़े साधुओं के सामने निवेदन करना आलोचना है। अनाचार का सेवन कर गुरु के समीप उसकी आलोचना करे तब आलोचक को बालक की तरह सरल होकर सारी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए[4]। जो ऋजु नहीं होता वह अपने अपराध की आलोचना नहीं कर सकता[5]। जो मायावी होता है वह (आकम्पयित्ता) गुरु को प्रसन्न कर आलोचना करता है। इसके पीछे भावना यह होती है कि गुरु प्रसन्न होंगे तो मुझे प्रायश्चित्त थोड़ा देंगे।

जो मायावी होता है वह (अणुमाणइत्ता) छोटा अपराध बताने पर गुरु थोड़ा दण्ड देंगे, यह सोच अपने अपराध को बहुत छोटा बताता है। इस प्रकार वह भगवती (२५.७) और स्थानाङ्ग (१०.७०) में निरूपित आलोचना के दश दोषों का सेवन करता है। इसीलिए कहा है कि आलोचना करने वाले को विकट-भाव (बालक की तरह सरल और स्पष्ट भाव वाला) होना चाहिए[6]। जिसका हृदय पवित्र नहीं होता, वह आलोचना नहीं कर सकता। आलोचना नहीं करने वाले विराधक होते हैं, यह सोचकर आलोचना की जाती है[7]।

१—हा० टी० प० २३३ : उपलक्षणं चैतत्कुलबलरूपाणाम्, कुलसंपन्नोऽहं बलसंपन्नोऽहं रूपसंपन्नोऽहमित्येवं न माद्येतेति।

२—(क) अ० चू० पृ० १९२ : अप्पाणवतिरित्तो बाहिरो।

(ख) जि० चू० पृ० २८४ : बाहिरो नाम अत्ताणं मोत्तूण जो सो लोगो सो बाहिरो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २३३ : 'बाह्यम्' आत्मनोऽन्यम्।

३ (क) जि० चू० पृ० २८४ : सुएण उक्करिसं गच्छेज्जा, जहा बहुस्सुतोऽहं को मए समाणोत्ति, (पाठंतेण) लाभेणऽवि को मए अण्णो ?, लद्धीएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमादिएअहियसि लज्जा (ह्री) संजमो भण्णइ, तेणवि संजमेण उक्करिसं गच्छेज्जा, को मए संजमेण सरिसोत्ति ?, जातीएवि जहा उत्तमजातीओऽहं तवेण को अण्णो बारसविधे तवे समाणो मएत्ति ?, बुद्धिएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमावि, एतेहिं सुयाईहिं णो उक्करिसं गच्छेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३३ : श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत पण्डितो लब्धिमानहमित्येवं, तथा जात्या—तापस्त्वेन बुद्ध्या वा, न माद्येतेति वर्तते, जातिसंपन्नस्तपस्वी बुद्धिमानहमित्येवम्।

४—भग० २५.७.१८; ठा० १०.७१।

५—ठा० ८.१८।

६—अ० चू० पृ० १९३ : सदा वियडभावो सव्भावत्थं जधा बालो जंपतो तहेव वियडभावो।

७—ठा० ८.१८।

आलोचना करने पर अपराधी भी पवित्र हो जाता है अथवा पवित्र वही है जो स्पष्ट (दोष से निर्लिप्त) होता है[१]। आलोचना करने के पश्चात् आलोचक को असंसक्त और जितेन्द्रिय (फिर दोषपूर्ण कार्य न करने वाला) होना चाहिए[२]।

आलोचना करने योग्य साधु के दस गुण बतलाए हैं। उनमें आठवाँ गुण दान्त है[३]। दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय। जो जितेन्द्रिय और असंसक्त होता है वही आलोचना का अधिकारी है।

आलोचना के पश्चात् शिष्य का यह कर्तव्य होता है कि गुरु जो प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे और तदनुकूल प्रवृत्ति करे, उसका निर्वाह करे[४]।

अनाचार-सेवन, उसकी आलोचना-विधि और प्रायश्चित्त का निर्वाह—ये तीनों तथ्य क्रमशः ३१,३२,३३—इन तीन श्लोकों में प्रतिपादित हुए हैं।

८९. (से [क]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'से' का अर्थ वाक्य का उपन्यास है[५]। जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार 'से' शब्द साधु का निर्देश करने वाला है[६]।

९०. जान या अजान में (जाणमजाणं वा [क]) :

अधर्म का आचरण केवल अजान में ही नहीं होता, किन्तु यदा-कदा ज्ञानपूर्वक भी होता है। इसका कारण मोह है। मोह का उदय होने पर राग और द्वेष से ग्रस्त मुनि जानता हुआ भी मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगा लेता है और कभी कल्प्य और अकल्प्य को न जानकर अकल्प्य का आचरण कर लेता है[७]।

९१. दूसरी बार (बीयं [घ]) :

प्राकृत में कहीं-कहीं एक पद में भी सन्धि हो जाती है। इसके अनुसार 'बिइओ' का 'बीओ' बना है[८]।

श्लोक ३२ :

९२. अनाचार (अणायारं [क]) :

अनाचार अर्थात् अकरणीय वस्तु[९], उन्मार्ग[१०], सावद्यप्रवृत्ति[११]।

१—जि० चू० पृ० २८५ : अहवा सो चेव सुई जो सदा वियडभावो।

२—अ० चू० पृ० १९३ : असंसत्तो दोसेहिं गिहत्यकज्जेहिं वा। जितसोतादिविदिओ, ण पुण तहाकारी।

३—भग० २५.७.१९; ठा० ८.१९।

४—अ० चू० पृ० १९३ : एवं सवरिसितसब्भसब्भावो अणायारविसोधणत्थं जं आणवेंति गुरवो तं।

५—अ० चू० पृ० १९३ : से इति वयणोवन्नासो।

६—(क) जि० चू० पृ० २८४ : सेत्ति साधुनिद्देसे।

(ख) हा० टी० प० २३३ : 'स' साधुः।

७—(क) जि० चू० पृ० २८४-८५ : तेण साहुणा जाहे जाणमाणेण रागद्दोसवसएण मूलगुणउत्तरगुणाण अन्नतरं आधम्मियं पयं पडिसेवियं भवइ, अजाणमाणेण वा अकप्पिय बुद्धीए पडिसेवियं होज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३३ : 'जानन्नजानन् वा' आभोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः।

८—हैम० ८.१.५।

९—अ० चू० पृ० १९३ : अणायारं अकरणीयं वत्थुं।

१०—जि० चू० पृ० २८५ : अणायारो उम्मग्गोत्तिवुत्तं भवइ।

११—हा० टी० प० २३३ : 'अनाचारं' सावद्ययोगम्।

९३. न छिपाए और न अस्वीकार करे (नेव गूहे न निण्हवे [ख]) :

पूरी बात न कहना, थोड़ा कहना और थोड़ा छिपा लेना—यह 'गूहन' का अर्थ है[१]। 'निन्हव' का अर्थ है—सर्वथा अस्वीकार, इन्कार[२]।

९४. पवित्र (सुई [ग]) :

शुचि अर्थात् आलोचना के दोषों को वर्जने वाला[३] अथवा अकलुषित मति[४]। शुचि वह होता है जो सदा स्पष्ट रहता है[५]।

९५. स्पष्ट (वियडभावे [ग]) :

जिसका भाव—मन प्रकट होता है—स्पष्ट होता है, वह 'विकटभाव' कहलाता है[६]।

श्लोक ३४ :

९६. सिद्धि मार्ग का (सिद्धिमग्गं [ख]) :

सिद्धि-मार्ग—सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्रात्मक मोक्ष-मार्ग[७]।

विशेष जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन (अ० २८)।

९७. (भोगेसु [ग]) :

यहाँ पचमी के स्थान पर सप्तमी विभक्ति है[८]।

श्लोक ३७ :

९८. श्लोक ३७ :

क्रोधादि को वश में न करने पर केवल पारलौकिक हानि ही नही होती किन्तु इहलौकिक हानि भी होती है। इस श्लोक में यही बतलाया गया है[९]।

९९. लोभ सब का विनाश करने वाला है (लोहो सव्वविणासिणो [घ]) :

लोभ से प्रीति आदि सब गुणों का नाश होता है। जिनदास चूर्णि में इसे सोदाहरण स्पष्ट किया है। लोभवश पुत्र मृदु-स्वभाव वाले पिता से भी रुष्ट हो जाता है—यह प्रीति का नाश है। धन का भाग नहीं मिलता है तब वह उद्धत हो प्रतिज्ञा करता है कि धन का भाग अवश्य लूंगा—यह विनय का नाश है। वह कपटपूर्वक धन लेता है और पूछने पर स्वीकार नहीं करता, इस प्रकार मित्र-भाव नष्ट हो जाता है। यह लोभ की सर्वगुण नाशक वृत्ति है। लोभ से वर्तमान और आगामी—दोनों जीवन नष्ट होते हैं। इस दृष्टि से

१—(क) अ० चू० पृ० १९३ : गूहणं पडिच्छायणं।
(ख) जि० चू० पृ० २८५ : गूहणं किंचि कहणं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २३३ : गूहनं किंचित्कथनम्।

२—(क) जि० चू० पृ० २८५ : णिण्हवो णाम पुच्छिओ संतो सव्वहा अवलवइ।
(ख) हा० टी० प० २३३ : निह्नव एकान्तापलापः।

३—अ० चू० पृ० १९३ : सुती ण आकंपतिता अणुमाणतिता।

४—हा० टी० प० २३३ : 'शुचिः' अकलुषितमतिः।

५—जि० चू० पृ० २८५ : सो चेव सुई जो सदा वियडभावो।

६—हा० टी० प० २३३ : 'विकटभावः' प्रकटभावः।

७—(क) जि० चू० पृ० २८५ : सिद्धिमग्गं च णाणदंसणचरित्तमइयं।
(ख) हा० टी० प० २३३ : 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणम्।

८—हा० टी० प० २३३ : भोगेभ्यो अनर्थहेतुभ्यः।

९—जि० चू० पृ० २८६ : तेसिं कोहादीणमणिग्गहियाणं (च) इहलोइओ इमो दोसो भवइ।

भी यह सर्वनाश करने वाला है[1]।

श्लोक ३८ :

१००. श्लोक ३८ :

इस श्लोक में क्रोधादि चार कषायों के विजय का उपदेश है :

अनुदित क्रोध का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह क्रोध-विजय है[2]।

अनुदित मान का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह मान-विजय है[3]।

अनुदित माया का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण यह माया-विजय है[4]।

अनुदित लोभ का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह लोभ-विजय है[5]।

१०१. उपशम से (उवसमेण [क]) :

उपशम का अर्थ है क्षमा, शान्ति[6]।

१०२. (उवसमेण हणे कोहं [क]) :

तुलना कीजिए—

अक्कोधेन जिने कोधं……

अर्थात् अक्रोध से क्रोध को जीतो।

[धम्मपद—क्रोधवर्ग, श्लोक ३]

१०३. मृदुता से (मद्दवया [ख]) :

मृदुता का अर्थ है—उच्छ्रितता—उद्धतभाव न होना, न अकड़ना[7]।

श्लोक ३९ :

१०४. संश्लिष्ट (कसिणा [ग]) :

टीकाकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—कृत्स्न और कृष्ण[8]। कृत्स्न अर्थात् सम्पूर्ण[9], कृष्ण अर्थात् संश्लिष्ट[10]। कृष्ण का

१—(क) जि० चू० पृ० २८६ : लोभो पुण सव्वाणि एयाणि पीतिविणयमित्ताणि नासेइत्ति, सं०— मिउणोविय तावस्स पुत्तो लोभेण रुसेइ, भागे य अविज्जमाणेण पडिण्णमारभेज्जा, जहा अवस्सं मए भाग दवावेमि, मायाए समत्थं णिग्हिऊण अवलवेज्जा, अओ लोभो सव्वविणासणो, अहवा इमं लोगं परं वा लोगं दोऽवि लोभेण णासयइत्ति सव्वविणासणो य।

(ख) हा० टी० प० २३४ : लोभः सर्वविनाशनः, तत्त्वतस्त्रयाणामपि तद्भावभावित्वादिति।

२—जि० चू० पृ० २८६ : कोहस्स उदयनिरोधो कायव्वो, उदयपत्तस्स (वा) विफलीकरणं।

३—जि० चू० पृ० २८६ : माणोदयनिरोधो कायव्वो, उदयपत्तस्स (वा) विफलीकरणं।

४—हा० टी० प० २३४ : मायां च ऋजुभावेन—अशठतया जयेत् उदयनिरोधादिनैव।

५—जि० चू० पृ० २८६ : लोभोदयनिरोहो कायव्वो, उदयपत्तस्स विफलीकरणं।

६—(क) अ० चू० पृ० १९४ : खमा उवसमो तेण।

(ख) जि० चू० पृ० २८६ : उवसमो खमा भण्णइ, तीए।

(ग) हा० टी० प० २३४ : 'उपशमेन' शान्तिरूपेण।

७—हा० टी० प० २३४ : मार्दवेन—अनुच्छ्रिततया।

८—हा० टी० प० २३४ : 'कृत्स्नाः' सम्पूर्णाः 'कृष्णा वा' क्लिष्टाः।

९—अ० चू० पृ० १९४ : कसिणा पडिपुण्णा।

१०—जि० चू० पृ० २८६ : अहवा संकिलिट्ठा कसिणा भवन्ति।

प्रधान अर्थ काले रंग से सम्बन्धित है किन्तु मन के बुरे या दुष्ट विचार आत्मा को अन्धकार में ले जाते हैं, इसलिए कृष्ण शब्द मानसिक संक्लेश के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१०५. कषाय (कसाया [ग]) :

यह अनेकार्थक शब्द है। कुछ एक अर्थ, जो क्रोधादि की भावना से सम्बन्धित हैं, ये हैं—गेरुआ रंग, लेप, गोंद, भावावेश[1]। क्रोध, मान, माया और लोभ रंग है—इनसे आत्मा रंजित होता है। ये लेप हैं—इनके द्वारा आत्मा कर्म-रज से लिप्त होता है। ये गोंद हैं—इनके चेप से कर्म-परमाणु आत्मा पर चिपकते हैं। ये भावावेश हैं—इनके द्वारा मन का सहज सन्तुलन नष्ट होता है, इसलिए इन्हें 'कषाय' कहा गया है। प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार 'कष' का अर्थ है संसार। जो आत्मा को संसारोन्मुख बनाता है, वह 'कषाय' है। कषाय-रस से भीगे हुए वस्त्र पर मजीठ का रंग लगता है और टिकाऊ होता है, वैसे ही क्रोधादि से भीगे हुए आत्मा पर कर्म-परमाणु चिपकते हैं और टिकते हैं, इसलिए ये कषाय कहलाते हैं।

श्लोक ४० :

१०६. पूजनीयों…के प्रति (राइणिएसु [क]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार आचार्य, उपाध्याय आदि सर्व साधु, जो दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ हो, रात्निक कहलाते हैं[2]। जिनदास महत्तर ने रात्निक का अर्थ पूर्व-दीक्षित अथवा सद्भाव (पदार्थ) के उपदेशक किया है[3]। टीकाकार के अनुसार चिर-दीक्षित[4] अथवा जो ज्ञान आदि भाव-रत्नों से अधिक समृद्ध हों वे रात्निक कहलाते हैं[5]।

रत्न दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-रत्न और भाव-रत्न। पार्थिव-रत्न द्रव्य-रत्न हैं। कारण कि ये परमार्थ-दृष्टि से अकिंचित्कर है। परमार्थ-दृष्टि से भाव-रत्न हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ये जिनके पास अधिक उन्नत हों उन्हें टीकाकार रत्नाधिक कहते हैं। अभयदेवसूरि ने 'रायणिय' का संस्कृत रूप 'रात्निक' दिया है[6]। इसका सम्बन्ध रत्नी से है। रत्नी ज्येष्ठ, सम्मानित या उच्चाधिकारी के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। शतपथ ब्राह्मण (५.५.१.१) मे ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित, राजन्य, सेनानी, कोषाध्यक्ष, भागदुघ् (राजग्राह्य कर संचित करने वाला) आदि के लिए 'रत्नी' का प्रयोग हुआ है। इसलिए रात्निक का प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ पूजनीय या विनयास्पद व्यक्ति होना चाहिए।

स्थानाङ्ग में साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन सभी के लिए 'राइणिते' और 'ओमरातिणिते'[7] तथा मूलाचार में साधुओं के लिए 'रादिणिय' और 'ऊणरादिणिय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं[8]। सूत्रकृताङ्ग मे 'रातिणिय' और 'समव्वय' शब्द मिलते है[9]। ये दीक्षा-पर्याय की दृष्टि से साधुओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं :

१—बृ० हि० पृ० २६६।

२—अ० चू० पृ० १९५ : रातिणिया पुव्वदिक्खिता आयरियोवज्झायादिसु सव्वसाधुसु वा अप्पणतो पढमपव्वतियेसु।

३—जि० चू० पृ० २८६ : रायाणिया पुव्वदिक्खिया सब्भावोवदेसगा वा।

४—हा० टी० प० २३५ : 'रत्नाधिकेषु' चिरदीक्षितादिषु।

५—हा० टी० प० २५२-२५३ : 'रत्नाधिकेषु' ज्ञानादिभावरत्नाभ्युच्छ्रितेषु।

६—ठा० ५.४८ वृ० : रत्नानि द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कर्केतनादीनि भावतो ज्ञानादीनि तत्र रत्नैः—ज्ञानादिभिर्व्यवहरतीति रात्निकः—बृहत्पर्यायः।

७—ठा० ४.४२६-४२९ वृ० : रत्नानि भावतो ज्ञानादीनि तैर्व्यवहरतीति रात्निक पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थः।

८—मूला० अधि० ५. गा० १८७ पृ० ३०३ : रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ, अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो, कायव्वो अप्पमत्तेण॥

९—सू० १.१४.७।

१. रात्निक—पूर्वदीक्षित
२. समव्रत—सहदीक्षित
३. ऊनरात्निक—पश्चात्‌दीक्षित

श्रमण वसुनन्दी ने मूलाचार की टीका में 'रादिणिय' और 'ऊनरादिणिय' के संस्कृत रूप रात्निक और ऊनरात्निक किए हैं।

१०७. ध्रुवशीलता की (धुवसीलयं [ख]) :

ध्रुवशीलता का अर्थ चूर्णिकार और टीकाकार ने अष्टादश-सहस्र-शीलाङ्ग किया है[1]। वह इस प्रकार है :

जे णो करंति मणसा, णिज्जियआहारसन्ना सोइंदिये।
पुढविकायारंभं, खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे ॥१॥

यह एक गाथा है। दूसरी गाथा में 'खंति' के स्थान पर मुत्ति' शब्द आएगा शेष ज्यों का त्यों रहेगा। तीसरे मे 'अज्जव' आएगा। इस प्रकार १० गाथाओ मे दश धर्मों के नाम क्रमशः आएँगे। फिर ग्यारहवी गाथा मे 'पुढवि' के स्थान पर 'आउ' शब्द आएगा। पुढवि के साथ १० धर्मों का परिवर्तन हुआ था उसी प्रकार 'आउ' शब्द के साथ भी होगा। फिर 'आउ' के स्थान पर क्रमशः 'तेउ', 'वाउ', 'वणस्सइ', 'बेइंदिय', 'तेइंदिय', 'चउरिंदिय', 'पचेंदिय' और 'अजीव' ये दश शब्द आएगे। प्रत्येक के साथ दश धर्मों का परिवर्तन होने से (१०×१०) एक सौ गाथाएँ हो जाएँगी। १०१ गाथा में 'सोइंदिय' के स्थान पर 'चक्खुरिंदिय' शब्द आएगा। इस प्रकार पांच इन्द्रियो की (१००×५) पांच सौ गाथाएं होगी। फिर ५०१ मे 'आहारसन्ना' के स्थान पर 'भयसन्ना' फिर 'मेहुण-सन्ना' और 'परिग्गहसन्ना' शब्द आएँगे। एक सज्ञा के ५०० होने से ४ सज्ञा के (५००×४) २००० होगे। फिर 'मणसा' शब्द का परिवर्तन होगा। 'मणसा' के स्थान पर 'वयसा' फिर 'कायसा' आएगा। एक-एक का २००० होने से तीन कायो के (२०००×३) ६००० होगे। फिर 'करति' शब्द में परिवर्तन होगा। 'करति' के स्थान पर 'कारयति' और 'समणुजाणति' शब्द आएँगे। एक-एक के ६००० होने से तीनों के (६०००×३) १८,००० हो जाएँगे। सक्षेप में यों कह सकते हैं —दश धर्म क्रमश बदलते रहेगे। प्रत्येक धर्म १८०० बार आएगा। १० धर्मों के बाद 'पुढविकाय' में परिवर्तन आएगा। प्रत्येक दशक के बाद ये दश काय बदलते रहेगे। प्रत्येक काय १८० बार आएगा। फिर 'सोइंदिय' शब्द बदल जाएगा। प्रत्येक सौ के बाद 'इंदिय' परिवर्तन होगा। प्रत्येक इंदिय ३६ बार आएगा। फिर 'आहारसन्ना' में परिवर्तन होगा। चारो सज्ञाएँ क्रमशः बदलती जाएँगी। प्रत्येक ५०० के बाद संज्ञा बदलेगी, प्रत्येक सज्ञा ६ बार आएगी। फिर 'मणसा' शब्द में परिवर्तन होगा। तीन काय क्रमश. बदलती रहेंगी। प्रत्येक दो हजार के बाद काय का परिवर्तन होगा। प्रत्येक काय ३ बार आएगा। फिर 'करति' मे परिवर्तन होगा। प्रत्येक ६००० के बाद तीनों करण का परिवर्तन होगा। प्रत्येक करण एक-एक बार आएगा। इस प्रकार एक गाथा के १८,००० गाथाएँ बन जाएँगी। ये अठारह हजार शील के अंग हैं। इन्हे रथ से निम्न प्रकार उप-मित किया जाता है :

१—(क) जि० चू० पृ० २८७ : धुवसीलयं णाम अट्ठारससीलंगसहस्साणि।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'ध्रुवशीलताम्' अष्टादशशीलाङ्गसहस्रपालनरूपाम्।

जे णो करंति ६···	जे णो कारयंति ६···	जे णो समणुजाणंति ६···							
मणसा २······	वयसा २······	कायसा २······							
णिज्जिय आहारसन्ना ५००	णिज्जिय भयसन्ना ५००	णिज्जिय मेहुणसन्ना ५००	णिज्जिय परिग्गहसन्ना ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शनेन्द्रिय १००					
पृथिवी १०	अप् १०	तेज १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पंचेन्द्रिय १०	
क्षान्ति १	मुक्ति २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	संयम ७	तप ८	ब्रह्मचर्य ९	अकिञ्चन १०

श्रमण सूत्र (परिशिष्ट)

१०८ कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त (कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गुप्त' शब्द 'आलीन' और 'प्रलीन' दोनों से सम्बद्ध है अर्थात् आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त । कूर्म की तरह काय-चेष्टा का निरोध करे, वह 'आलीन-गुप्त' और कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक शारीरिक प्रवृत्ति करे, वह प्रलीन-गुप्त कहलाता है[1] । जिनदास चूर्णि के अनुसार आलीन का अर्थ थोड़ा लीन और प्रलीन का अर्थ विशेष लीन होता है । जिस प्रकार कूर्म अपने अङ्गों को गुप्त रखता है तथा आवश्यकता होने पर उन्हें धीमे से फैलाता है, उसी तरह श्रमण आलीन-प्रलीन-गुप्त रहे[2] ।

१—अ० चू० पृ० १९५ : कुम्मो कच्छभो, जधा सो सजीवितपालणत्थमंगाणि कभल्ले संहरति, गमणातिकारणे य सणियं पसारेति; तहा साधू वि संजमकडाहे इंदियप्पयारं कायचेट्ठं निरुंभिऊण अल्लीणगुत्तो । कारणे जतणाए ताणि चेव पवत्तयंतो पल्लीणगुत्तो । गुत्तसद्दो पत्तेयं परिसमप्पति ।

२—(क) जि० चू० पृ० २८७ : जहा कुम्मो सए सरीरे अंगाणि गोवेऊण चिट्ठइ, कारणेवि सणियमेव पसारेइ, तहा साहूवि अल्लीणपलीणगुत्तो परक्कमेज्जा तवसंजमम्मित्ति, आह—आलीणाणं पलीणाणं को पइविसेसो ?, भण्णइ, ईसि लीणाणि आलीणाणि, अच्चत्थलीणाणि पलीणाणित्ति ।

(ख) हा० टी० प० २३९ : 'कूर्म इव' कच्छप इवालीनप्रलीनगुप्तः अङ्गोपाङ्गानि सम्यक् संयम्येत्यर्थः ।

श्लोक ४१ :

१०९. निद्रा को बहुमान न दे (निद्दं च न बहुमन्नेज्जा [क]) :

बहुमान न दे अर्थात् प्रकामशायी न बने —सोता ही न रहे[१]। सूत्रकृताङ्ग में बताया है कि सोने के समय में सोए "सयणं सयण-काले।" वृत्तिकार के अनुसार अगीतार्थ दो प्रहर तक सोए और गीतार्थ एक प्रहर तक[२]।

११०. अट्टहास (संपहासं [ख]) :

संप्रहास अर्थात् समुदित रूप में होने वाला सशब्द हास्य[३]। जिनदास चूर्णि और टीका मे 'सप्पहासं' पाठ है। उसका अर्थ है अट्टहास[४]।

१११. मैथुन की कथा में (मिहोकहाहिं [ग]) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी रहस्य-कथा किया है[५]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी या भक्त, वेश आदि सम्बन्धी रहस्यमयी कथा है[६]। टीकाकार ने इसे राहस्यिक-कथा कहा है[७]। आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन और ओघनियुक्ति की टीका में भी इसका यही अर्थ मिलता है[८]।

११२. स्वाध्याय में (सज्झायम्मि [घ]) :

स्वाध्याय का अर्थ है—विधिपूर्वक अध्ययन। इसके पाँच प्रकार हैं[९] :

१. वाचना—पढ़ाना।
२. प्रच्छना—सदिग्ध विषय को पूछना।
३. परिवर्तना—कण्ठस्थ किए हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना।
४. अनुप्रेक्षा—अर्थ-चिन्तन करना।
५. धर्मकथा—श्रुत आदि धर्म की व्याख्या करना।

१—(क) जि० चू० पृ० २८७ : बहुमनिज्जा नाम नो पकामसायी भवेज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'निद्रां च न बहुमन्येत', न प्रकामशायी स्यात्।

२—सू० २.१.१५ पृ० ३०१ वृ० : शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं—संस्तारकः स च शयनकाले, तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वयं निद्राविमोक्षो गीतार्थानां प्रहरमेकमिति।

३—अ० चू० पृ० १९५ : समेच्च समुवियाण पहसणं सतिरालावपुव्वं संपहासो।

४—(क) जि० चू० पृ० २८७ : सप्पहासो नाम अतीव पहासो सप्पहासो, परवाविउद्धंसणाविकारणे जइ हसेज्जा तहावि सप्पहासं विवज्जए।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'सप्रहासं च' अतीवहासरूपम्।

५—अ० चू० पृ० १९५ : मिधुकहाओ रहस्सकधाओ इत्थी संबद्धाओ तथाभूताओ वा ताओ।

६—जि० चू० पृ० २८७ : मिहोकहाओ रहसियकहाओ भण्णंति, ताओ इत्थिसंबद्धाओ वा होज्जा अण्णाओ वा भत्तवेसकहादियाओ तासु।

७—हा० टी० प० २३५ : 'मिथः कथासु' राहस्यिकीषु।

८—(क) आ० ९।१।१० : णहिए मिहोकहासु, समयंमि णायसुए विसोगे अदक्खु। टीका—'ग्रथितः' अवबद्धो 'मिथः' अन्योन्यं 'कथासु' स्वैरकथासु।
(ख) उत्त० २६.२९ : पडिलेहणं कुणंतो, मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा। (बृहद्वृत्ति) 'मिथः कथां' परस्परसंभाषणात्मिकां··· स्त्र्यादिकथोपलक्षणमेतत्।
(ग) ओ० नि० वृ० २७२ : 'मिथः कथां' मैथुनसंबद्धाम्।

९—ओव० ३० : सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते तं जहा—वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।

जिनदास चूर्णि में 'अज्झयणंमि रओ सया' पाठ है और 'अध्ययन' का अर्थ स्वाध्याय किया है[१]। हरिभद्रसूरि ने स्वाध्याय का अर्थ वाचना आदि किया है[२]।

श्लोक ४२ :

११३. श्रमण-धर्म में (समणधम्मम्मि [क]) :

यहाँ अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय और प्रतिलेखन आदि श्रमण-चर्या को 'श्रमण-धर्म' कहा है। सूत्रकार का आशय यह है कि अनुप्रेक्षाकाल में मन को, स्वाध्याय-काल में वचन को और प्रतिलेखन-काल में काया को श्रमण-धर्म में लगा देना चाहिए और भङ्ग-प्रधान (विकल्प-प्रधान) श्रुत में तीनों योगों का प्रयोग करना चाहिए। उसमें मन से चिन्तन, वचन से उच्चारण और काया से लेखन—ये तीनों होते हैं[३]।

११४. यथोचित (धुवं [ख]) :

ध्रुव का शब्दार्थ है निश्चित। यथोचित इसका भावार्थ है। जिस समय जो क्रिया निश्चित हो, जिसका समाचरण उचित हो उस समय वही क्रिया करनी चाहिए[४]।

११५. लगा हुआ (जुत्तो [ग]) :

युक्त का अर्थ हैं व्यापृत—लगा हुआ[५]।

११६. फल (अट्ठं [ग]) :

यहाँ अर्थ शब्द फलवाची है[६]। इसका दूसरा अर्थ है ज्ञानादि रूप वास्तविक अर्थ[७]।

श्लोक ४३ :

११७. श्लोक ४३ :

पिछले श्लोक में कहा है—श्रमण-धर्म मे लगा हुआ मुनि अनुत्तर फल को प्राप्त होता है, उसी को इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में स्पष्ट किया है। श्रमण-धर्म में मन, वाणी और शरीर का प्रयोग करने वाला इहलोक में वन्दनीय होता है। श्रमण-धर्म मे एक दिन के दीक्षित साधु को भी लोग विनयपूर्वक वन्दन करते हैं और वह परलोक मे उत्तम स्थान मे उत्पन्न होता है[८]। आगामी दो चरणों में श्रमण-धर्म की उपलब्धि के दो उपाय बतलाए हैं—(१) बहुश्रुत की उपासना और (२) अर्थ-विनिश्चय के लिए प्रश्न[९]।

१—जि० चू० पृ० २८७ : 'अज्झयणंमि रओ सया' अज्झयणं सज्झाओ भण्णइ, तंमि सज्झाए सदा रतो भविज्जासि।

२—हा० टी० प० २३५ : 'स्वाध्याये' वाचनादौ।

३—अ० चू० पृ० १९५ : जोगं मणोवयणकायमयं अणुप्पेहणसज्झायपडिलेहणादिसु पत्तेयं समुच्चयेण वा व सद्देण नियमेण भंगियसुते तिविधमवि।

४—(क) अ० चू० पृ० १९५ : अण्णमो काले अण्णोण्णमबाहंतं धुवं।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'ध्रुवं' कालादौचित्येन नित्यं संपूर्ण सर्वत्र प्रधानोपसर्जनभावेन वा, अनुप्रेक्षाकाले मनोयोगमध्ययनकाले वाग्योगं प्रत्युपेक्षणाकाले काययोगमिति।

५—हा० टी० प० २३५ : 'युक्त' एवं व्यापृतः।

६—अ० चू० पृ० १९५ : अत्थो सद्दो इह फलवाची।

७—हा० टी० प० २३५ : 'अर्थं' ज्ञानादिरूपम्।

८—अ० चू० पृ० १९५-९६ : इहलोगे एगदिवसदिक्खितोवि विणएणं वंदिज्जते य पूइज्जते य अवि रायराईहिं। परलोए सुकुलसंभवादि।

९—अ० चू० पृ० १९६ : सव्वलोयस्स उवलंभकत्तं बहुसुतं पज्जुवासेज्ज पज्जुवासमाणो पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं।

११८. बहुश्रुत (बहुस्सुयं ग) :

जो आगम-वृद्ध हो—जिसने श्रुत का बहुत अध्ययन किया हो, वह बहुश्रुत कहलाता है[1]। जिनदास चूर्णि ने आचार्य, उपाध्याय आदि को बहुश्रुत माना है[2]। बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। प्रकल्पाध्ययन (निशीथ) का अध्ययन करने वाला जघन्य, चतुर्दश पूर्वों का अध्ययन करने वाला उत्कृष्ट तथा प्रकल्पाध्ययन और चतुर्दश पूर्वों के बीच का अध्ययन करने वाला मध्यम बहुश्रुत कहलाता है[3]।

११९. अर्थ-विनिश्चय (अत्थविणिच्छयं घ) :

अर्थ-विनिश्चय—तत्त्व का निश्चय, तत्त्व की यथार्थता[4]।

श्लोक ४४ :

१२०. श्लोक ४४ :

पिछले श्लोक में कहा है—बहुश्रुत की पर्युपासना करे। इस श्लोक में उसकी विधि बतलाई गई है[5]।

१२१. संयमित कर[6] (पणिहाय ख) :

इसका अर्थ है—हाथों को न नचाना, पैरों को न फैलाना और शरीर को न मोड़ना[7]।

१२२. आलीन…और गुप्त… होकर (अल्लीणगुत्तो ग) :

आलीन का शाब्दिक अर्थ है—थोड़ा लीन। तात्पर्य की भाषा मे जो गुरु के न अति-दूर और न अति-निकट बैठता है, उसे 'आलीन' कहा जाता है[8]। जो मन से गुरु के वचन मे दत्तावधान[9] और प्रयोजनवश बोलने वाला होता है, उसे 'गुप्त' कहा जाता है[10]। शिष्य को गुरु के समीप आलीन-गुप्त हो बैठना चाहिए।

श्लोक ४५ :

१२३. श्लोक ४५ :

पिछले श्लोक में कहा है—गुरु के समीप बैठे। इस श्लोक मे गुरु के समीप कैसे बैठना चाहिए उसकी विधि बतलाई गई है[11]। शिष्य के लिए गुरु के पार्श्व-भाग में, आगे और पीछे बैठने का निषेध है। इसका तात्पर्य है कि पार्श्व-भाग में, कानो की समश्रेणि मे न बैठे। वहाँ बैठने पर शिष्य का शब्द सीधा गुरु के कान मे जाता है। उससे गुरु की एकाग्रता का भंग होता है। इस आशय से कहा है कि

१—हा० टी० प० २३५ : 'बहुश्रुतम्' आगमवृद्धम्।

२—जि० चू० पृ० २८७ : बहुसुयगहणेणं आयरियउवज्झायादीयाण गहणं।

३—नि० पी० भा० (गाथा ४९५) : बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो, सो तिविहो जहण्णो मज्झिमो उक्कोसो। जहण्णो जेण पकप्पज्झयणं अधीतं, उक्कोसो चोद्दसपुव्वधरो, तम्मज्झे मज्झिमो।

४—(क) अ० चू० पृ० १९६ : अत्थविनिच्छयो तब्भावनिण्णयो तं।

(ख) जि० चू० पृ० २८७ : विणिच्छओ णाम विणिच्छओत्ति वा अवितहभावोत्ति वा एगट्ठं।

(ग) हा० टी० प० २३५ : 'अर्थविनिश्चयम्' अपायरक्षक कल्याणावहं वाऽर्थावितथभावमिति।

५—अ० चू० पृ० १९६ : पज्जुवासणे अयं विही—'हत्थं पाय च कायं च' सिलोगो।

६—हा० टी० प० २३५ : 'प्रणिधाये'ति संयम्य।

७—जि० चू० पृ० २८८ : पणिहाय णाम हत्थेहिं हत्थनट्टणादीणि अकरं पाएहिं पसारणादीणि अकुव्वंतो काएण सासणवृणादीणि अकुव्वंतो।

८—जि० चू० पृ० २८८ : अल्लीणो नाम ईसिलीणो अल्लीणो, णातिदूरत्थो ण वा अच्चासण्णो।

९—अ० चू० पृ० १९९ : मणसा गुरुवयणे उवयुत्तो।

१०—जि० चू० पृ० २८८ : वायाए कज्जमेत्तं भासंतो।

११—अ० चू० पृ० १९९ : तस्स चासणनियमणमिणं।

गुरु के पार्श्व-भाग में अर्थात् बराबर न बैठे[1]। आगे न बैठे अर्थात् गुरु के सम्मुख अत्यन्त निकट न बैठे। वैसा करने से अविनय होता है और गुरु को वन्दना करने वालों के लिए व्याघात होता है, इस आशय को 'आगे न बैठे' इन शब्दों में समाहित किया है[2]।

पीछे न बैठे—इसका आशय भी यही है कि गुरु से सटकर न बैठे अथवा पीछे बैठने पर गुरु के दर्शन नहीं होते[3]। उनके इङ्गित और आकार को नहीं समझा जा सकता, इसलिए कहा है—'पीछे न बैठे'। 'गुरु के ऊरु से अपना ऊरु सटाकर बैठना' अविनय है। इसलिए इसका निषेध है। सारांश की भाषा में असभ्य और अविनयपूर्ण ढंग से बैठने का निषेध है।

१२४. ऊरु से अपना ऊरु सटाकर (ऊरुं समासेज्जा ग) :

ऊरु का अर्थ है—घुटने के ऊपर का भाग। 'समासेज्जा' का सस्कृत रूप टीका में 'समाश्रित्य' है। समाश्रित्य अर्थात् करके[4]। 'समासेज्जा' का संस्कृत रूप 'समाश्रयेत्' होना चाहिए। समासि (समा+श्रि) धातु है। इसके आगे 'ज्जा' लगाने पर 'समासेज्जा' रूप बनता है। यदि 'समासाद्य' रूप माना जाए तो पाठ 'समास (सि) ज्ज' होना चाहिए। आयारो (८.८.१) में 'समासिज्ज' (या समासज्ज) शब्द मिलता है। उसका सस्कृत रूप 'समासाद्य' (प्राप्त करके) किया है[5]। इन दोनों का शाब्दिक अर्थ है—ऊरु को कर या प्राप्त कर और उनका भावार्थ अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'अपने ऊरु से गुरु के ऊरु का स्पर्श कर'[6] तथा जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार 'ऊरु रखकर'[7] इन शब्दो मे है।

उत्तराध्ययन (१.१८) मे 'न जुंजे ऊरुणा ऊरु' पाठ है। इसकी व्याख्या में चूर्णिकार ने अगस्त्य चूर्णि के शब्दों का ही अनुसरण किया है[8]। शान्त्याचार्य ने भी इसका अर्थ—'गुरु के ऊरु से अपना ऊरु न सटाए'[9]—किया है। इनके द्वारा भी अगस्त्य चूर्णि के आशय की पुष्टि होती है।

श्लोक ४६ :

१२५. बिना पूछे न बोले (अपुच्छिओ न भासेज्जा क) :

यहाँ निष्प्रयोजन—बिना पूछे बोलने का वर्जन है, प्रयोजनवश नहीं[10]।

१२६. बीच में (भासमाणस्स अंतरा ख) :

'आपने यह कहा था, यह नहीं' इस प्रकार बीच में बोलना असभ्यता है, इसलिए इसका निषेध है[11]।

१—अ० चू० पृ० १९६ : समुप्पहप्पेरिया सद्दपोग्गला कण्णबिलमणुपविसंतीति कण्णसमसेढी पक्खो, ततो ण चिट्ठे गुरूण अंतिए तथा अणेगग्गता भवति।

२—जि० चू० पृ० २८८ : पुरओ णाम अग्गओ, तत्थवि अविणओ वंदमाणाणं च वग्घाओ, एवमादि दोसा भवंतित्तिकाऊण पुरओ गुरूण नवि चिट्ठेज्जत्ति।

३—हा० टी० प० २३५ : यथासंख्यमविनयवन्दमानान्तरायादर्शनादिदोषप्रसङ्गात्।

४—हा० टी० प० २३५ : समाश्रित्य ऊरोरुपर्यूरुं कृत्वा।

५—आचा० वृ० १.८.८.१ : 'समासाद्य' प्राप्य।

६—अ० चू० पृ० १९६ : ऊरुणमूरुणो संघट्टेऊण एवमवि ण चिट्ठे।

७—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'ण य ऊरुं समासिज्जा' णाम ऊरुणं ऊरुस्स उवरिं काऊण ण गुरुसगासे चिट्ठेज्जत्ति।

(ख) हा० टी० प० २३५ : न च 'ऊरुं समाश्रित्य' ऊरोरुपर्यूरुं कृत्वा तिष्ठेद्गुर्वन्तिके, अविनयादिदोषप्रसङ्गात्।

८—उत्त० चू० पृ० ३५ : ऊरुणमूरुणोय संघट्टेऊण एवमवि ण चिट्ठेज्जा।

९—उत्त० बृ० वृ० १.१८ : 'न युञ्ज्यात्' न सङ्घट्टयेद् अत्यासन्नोपवेशादिभिः, 'ऊरुणा' आत्मीयेन 'ऊरु' गुरुसंबन्धिनं, तथा-करणेऽत्यन्ताविनयसम्भवात्।

१०—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'अपुच्छिओ' निक्कारणे ण भासेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३५ : अपृष्टो निष्कारणं न भाषेत।

११—जि० चू० पृ० २८८ : भासमाणस्स अंतरा ण कुज्जा, जहा णं एवं ते भणितं एवं ण।

१२७. चुगली न खाए (पिट्ठिमंसं न खाएज्जा ^घ^) :

परोक्ष में किसी का दोष कहना—'पृष्ठिमांसभक्षण' अर्थात् चुगली खाना कहलाता है[१]।

१२८. कपटपूर्ण असत्य का (मायामोसं ^घ^) :

'मायामृषा' यह संयुक्त शब्द है। 'माया' का अर्थ है कपट और 'मृषा' का अर्थ है असत्य। असत्य बोलने से पहले माया का प्रयोग अवश्य होता है। जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह अयथार्थता को छिपाने के लिए अपने भावों पर भाषा का इस प्रकार से आवरण डालने का यत्न करता है जिससे सुनने वाले लोग उसकी बात को यथार्थ मान लें, इसलिए चिन्तनपूर्वक जो असत्य बोला जाता है उसके लिए 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है[२]। इसका दूसरा अर्थ कपट-सहित असत्य वचन भी किया जाता है।[३]

श्लोक ४७ :

१२९. सर्वथा (सव्वसो ^क^) :

सर्वशः अर्थात् सब प्रकार से—सब काल और सब अवस्थाओं में[४]।

श्लोक ४८ :

१३०. आत्मवान् (अत्तवं ^घ^) :

'आत्मा' शब्द स्व, शरीर और आत्मा—इन तीन अर्थों मे प्रयुक्त होता है। सामान्यतः जिसमें आत्मा है उसे 'आत्मवान्' कहते हैं[५], किन्तु अध्यात्म-शास्त्र में यह कुछ विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त होता है। जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हो, उसे 'आत्मवान्' कहा जाता है[६]।

१३१. दृष्ट (दिट्ठं ^क^) :

जिस भाषा का विषय अपनी आँखो से देखा हो, वह 'दृष्ट' कहलाती है[७]।

१३२. परिमित (मियं ^क^) :

उच्च स्वर से न बोलना और जितना आवश्यक हो उतना बोलना[८]—यह 'मितभाषा' का अर्थ है।

१३३. प्रतिपूर्ण (पडिपुन्नं ^ख^) :

जो भाषा स्वर, व्यञ्जन, पद आदि सहित हो, वह 'प्रतिपूर्णभाषा' कहलाती है[९]।

१—(क) जि० चू० पृ० २८८ : जं परंमुहस्स अववोलिज्जइ त तस्स पिट्ठिमंसभक्खणं भवइ।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'पृष्ठिमांसं' परोक्षदोषकीर्तनरूपम्।

२—जि० चू० पृ० २८८ : मायाए सह मोसं मायामोसं, न मायामंतरेण मोसं भासइ, कह ?, पुव्वि भासं कुडिलीकरेइ पच्छा भासइ।

३—(क) जि० चू० पृ० २८८ : अहवा जं मायासहियं मोसं।
(ख) हा० टी० प० २३५ : मायाप्रधानां मृषावाचम्।

४—जि० चू० पृ० २८९ : सव्वसो नाम सव्वकाल सव्वावत्थासु।

५—(क) हा० टी० प० २३६ : 'आत्मवान्' सचेतन इति।
(ख) जि० चू० पृ० २८९ : अत्तवं नाम अत्तवंति वा चित्तवंति वा एगट्ठा।

६—अ० चू० पृ० १९७ : नाणदंसणचरित्तमयो जस्स आया अत्थि, सो अत्तवं।

७—(क) जि० चू० पृ० २८९ : दिट्ठं नाम जं चक्खुणा सयं उवलद्धं।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'दृष्टां' दृष्टार्थविषयाम्।

८—(क) अ० चू० पृ० १९७ : अणुच्चं कज्जमेत्तं च मितं।
(ख) जि० चू० पृ० २८९ : मितं दुविहं—सद्दओ परिमाणओ य, सद्दओ अणउच्चं उच्चारिज्जमाणं मितं, परिमाणओ कज्जमेत्त उच्चारिज्जमाणं मितं।
(ग) हा० टी० प० २३५ : 'मितां' स्वरूपप्रयोजनाभ्याम्।

९—(क) जि० चू० पृ० २८९ : पडुप्पन्नं नाम सरवंजणपयादीहिं उववेतं।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'प्रतिपूर्णां' स्वरादिभिः।

१३४. (वियं जियं ^ज^) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'वियं जियं' इन शब्दों को पृथक् मानकर व्याख्या की गई है। 'वियं' का अर्थ व्यक्त है[1]। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'जियं' का अर्थ व्यामोह उत्पन्न करने वाली अर्थात् स्मृत भाषा[2] और टीकाकार ने परिचित भाषा किया है[3]। 'व्यक्त' का प्राकृत रूप 'वत्त' या 'वियत्त' बनता है। उसका 'विय' रूप बहुत प्राचीन होना चाहिए। यजुर्वेद में व्यक्त करने के अर्थ में 'विव' शब्द का प्रयोग हुआ है[4]। संभव है यह 'विव' ही आगे चल कर 'विय' बन गया हो।

जिनदास महत्तर 'वियंजियं' को एक शब्द मानते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ तथ्य है[5]। अनुयोगद्वार के आधार पर 'वियंजियं' की एक कल्पना और हो सकती है। वहाँ 'सिक्खितं ठित जित मितं परिजित' ये पाँच शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। जो पढ़ लिया जाता है उस पद को शिक्षित', जिस शिक्षित पद की विस्मृति नहीं होती उसे 'स्थित', जो पद परिवर्तन करते समय या किसी के पूछने पर शीघ्र याद आ जाए वह 'जित', जिसके श्लोक, पद और वर्ण आदि की सख्या जानी हुई हो वह 'मित' तथा परिवर्तन करते समय जिसे क्रम या उत्क्रम से—किसी भी प्रकार से याद किया जा सके वह 'परिचित' कहलाता है[6]। दशवैकालिक का प्रस्तुत प्रकरण भी भाषा से सम्बन्धित है, इसलिए कल्पना की जा सकती है कि लिपि-भेद के कारण 'ठियं जिय' के स्थान पर 'विय जिय' ऐसा पाठ हो गया हो, जिसका होना बहुत संभव है। चूर्णिकार और टीकाकार के सामने वह परिवर्तित पाठ रहा है और वही उनके व्याख्या-भेद का हेतु बना है।

श्लोक ४९ :

१३५. श्लोक ४९ :

प्रस्तुत श्लोक में आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—ये तीनो शब्द द्वयर्थक हैं। द्वादशाङ्गी में पहला अङ्ग आचार, पाँचवाँ प्रज्ञप्ति और बारहवाँ दृष्टिवाद है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ भाषा के विनयों—नियमो को धारण करने वाला किया है[7]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'आचारधर' शब्दो के लिङ्ग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) को जानता है[8]। टीकाकार ने 'आचारधर' का अर्थ यही किया है। प्रज्ञप्तिधर का अर्थ लिङ्ग का विशेष जानकार और दृष्टिवाद के अध्येता का अर्थ प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, काल, कारक आदि व्याकरण के अङ्गों को जानने वाला किया है[9]। दीपिकाकार टीकाकार का अनुगमन करते हैं। अवचूरिकार ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ क्रमश: आचाराङ्गधर और भगवतीधर किया है। आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—इनका सम्बन्ध भाषा-कौशल से है, इसलिए कहा गया है कि आचार और प्रज्ञप्ति को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला बोलने में चूक जाए तो उसका उपहास न किया जाए।

१—(क) अ० चू० पृ० १९७ : वियं व्यक्तं।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'व्यक्ताम्' अलल्लाम्।

२—अ० चू० पृ० १९७ : जितं म वामोहकरमणेकाकारं।

३—हा० टी० प० २३५ : 'जितां' परिचिताम्।

४—अध्याय १३.३।

५—जि० चू० पृ० २८९ : 'वियंजितं' णाम वियंजितंति वा तत्थंति वा एगट्ठा।

६—अनु० सू० पृ० १४।

७—अ० चू० पृ० १९७ : आयारधरो भासेज्जा तेसु विणीयभासाविणयो, विसेसेण पन्नत्ति-धरो···एतं वयणलिंगवण्णविवज्जासे ण अवयसे।

८—जि० चू० पृ० २८९ : आयारधरो इत्थिपुरिसणपुंसगलिंगाणि जाणइ।

९—हा० टी० प० २३६ : आचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवंभूतम्। तथा दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम्।

प्रस्तुत श्लोक में सैद्धान्तिक भूल का प्रसग नहीं है किन्तु बोलते समय लिङ्ग, विभक्ति, कारक, काल आदि का विपर्यास हो जाए अर्थात् वाक्य-रचना में कोई त्रुटि आए, उसे सुनकर उपहास न करने का उपदेश है। प्रसग के अनुसार दिट्ठिवाय (दृष्टिपात या दृष्टिवाद) का अर्थ नयवाद या विभज्यवाद होना चाहिए। जो बात विभाग करके कही जानी चाहिए वह प्रमादवश अन्यथा कही जाए तो उपहास का विषय बन सकता है। प्रस्तुत श्लोक में उसका निषेध है। नंदी [सू० ४१] में दृष्टिवाद का प्रयोग सम्यक्त्ववाद के अर्थ में हुआ है जो नयवाद के अधिक निकट है। आचाराङ्ग और प्रज्ञप्ति का वर्तमान रूप भाषा के व्याकरणबद्ध प्रयोग की कोई विशेष जानकारी नहीं देता। दृष्टिवाद में व्याकरण का समावेश होता है। सम्भव है आचार और प्रज्ञप्ति भी व्याकरण ग्रन्थ रहे हों। दशवैकालिक निर्युक्ति में भी ये शब्द मिलते हैं।

"आयारे ववहारे पन्नत्ती चेव दिट्ठिवाए य।
एसा चउव्विहा खलु कहा उ अक्खेवणी होइ॥" (१९४)

टीकाकार ने आचार का अर्थ आचरण, प्रज्ञप्ति का अर्थ समझाना और दृष्टिवाद का अर्थ सूक्ष्म-तत्त्व का प्रतिपादन किया है[1]। चूर्णिकारों ने यहाँ इन्हें द्व्यर्थक नहीं माना है। टीकाकार ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए आचार आदि को शास्त्र-वाचक भी माना है[2]। स्थानाङ्ग में आक्षेपणी कथा के वे ही चार प्रकार बतलाये हैं जिनका उल्लेख निर्युक्ति की उक्त गाथा में हुआ है[3]। इसकी व्याख्या के शब्द भी हरिभद्र सूरि की उक्त व्याख्या से भिन्न नहीं हैं। अभयदेव सूरि ने मतान्तर का उल्लेख भी हरिभद्र सूरि के शब्दों में ही किया है। व्यवहार (३) के 'पन्नत्ति कुसले' की व्याख्या में वृत्तिकार ने प्रज्ञप्ति का अर्थ कथा किया है।

भाष्यकार यहाँ एक बहुत ही रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। क्षुल्लकाचार्य प्रज्ञप्ति-कुशल (कथा-कुशल) थे। एक दिन मुरुण्डराज ने पूछा—भगवन् ! देवता गतकाल को कैसे नहीं जानते, इसे स्पष्ट कीजिए ? राजा ने प्रश्न पूछा कि आचार्य यकायक खड़े हो गए। आचार्य को खड़ा होते देख राजा भी तत्काल खड़ा हो गया। आचार्य के पास क्षीराश्रवलब्धि थी। उन्होंने उपदेश प्रारम्भ किया। उनकी वाणी में दूध की मिठास टपक रही थी। एक प्रहर बीत गया। आचार्य ने पूछा—राजन् ! तुझे खड़े हुए कितना समय हुआ है ? राजा ने उत्तर दिया—भगवन् ! अभी-अभी खड़ा हुआ हूँ। आचार्य ने कहा—एक प्रहर बीत चुका है। तू उपदेश-वाणी में आनन्द-मग्न हो गतकाल को नहीं जान सका, वैसे ही देवता भी गीत और वाद्य में आनन्द-विभोर होकर गतकाल को नहीं जानते। राजा अब निरुत्तर था[4]।

१३६. पढ़ने वाला (अहिज्जगं ख) :

इसका संस्कृत रूप 'अधीयान' किया गया है[5]। चूर्णि और टीका का आशय यह है कि जो सम्पूर्ण दृष्टिवाद को पढ़ लेता है, वह भाषा के सब प्रयोगों का अभिज्ञ हो जाता है, इसलिए उसके बोलने में लिङ्ग आदि की स्खलना नहीं होती और जो वाणी के सब प्रयोगों को जानता है उसके लिए कोई शब्द अशब्द नहीं होता। वह अशब्द को भी सिद्ध कर देता है। प्रायः स्खलना वही करता है, जो दृष्टिवाद का अध्ययन पूर्ण नहीं कर पाता[6]। दृष्टिवाद को पढ़ने वाला बोलने में चूक सकता है और उसे पढ़ चुका वह नहीं चूकता—इस आशय को ध्यान में रखकर चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे 'अधीयान' के अर्थ में स्वीकृत किया है।

१—हा० टी० प० ११० : आचारो—लोचास्नानादिः व्यवहारः—कथञ्चिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः प्रज्ञप्तिश्चैव—संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापना दृष्टिवादश्च—श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादि भावकथनम्।

२—हा० टी० प० ११० : अन्ये त्वभिदधति—आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचाराद्यभिधानादिति।

३—ठा० ४.२४७ : आयारअक्खेवणी ववहारअक्खेवणी पन्नत्तिअक्खेवणी दिट्ठिवातअक्खेवणी।

४—व्य० भा० ४.३ १४५-१४९।

५—(क) अ० चू० पृ० १९७ : दिट्ठिवादमधिज्जगं—दिट्ठिवादमज्झयणपरं।
(ख) हा० टी० प० २३६ : दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम्।

६—(क) अ० चू० पृ० १९७ : अधीतेसव्ववातो गतविसारदस्स नत्थि खलितं।
(ख) जि० चू० पृ० २८९ : अधिज्जयगहणेण अधिज्जमाणस्स वयणखलणा पायसो भवइ, अधिज्जिए पुण निरवसेसे दिट्ठिवाए सव्ववयोगजाणत्तणेण अप्पमत्तणेण य वतिविक्खलियमेव नत्थि, सव्ववयोगतवियाणया असद्दमवि सद्दं कुज्जा।

१३७. बोलने में स्खलित हुआ है (वइविक्खलियं [घ]) :

वाग्स्खलित का अर्थ है—बोलने में स्खलित होना। जिनदास चूर्णि में इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं—कोई व्यक्ति 'घड़ा ला' के स्थान में 'घड़ा लाता हूँ' और 'सोमशर्मा' के स्थान में 'शर्मसोम' कहता है यह वाणी की स्खलना है[१]।

श्लोक ५० :

१३८. श्लोक ५० :

कोई व्यक्ति नक्षत्र आदि के विषय में पूछे तो उससे इस प्रकार कहना चाहिए कि 'यह हमारा अधिकार क्षेत्र नहीं है' इससे अहिंसा की सुरक्षा भी हो जाती है और अप्रिय भी नहीं लगता[२]।

१३९. नक्षत्र (नक्खत्तं [क]) :

कृत्तिका आदि जो नक्षत्र हैं उनके विषय में—आज चन्द्रमा अमुक नक्षत्र-युक्त है—इस प्रकार गृहस्थ को न बताए[३]।

१४० स्वप्नफल (सुमिणं [क]) :

स्वप्न का शुभ-अशुभ फल बताना[४]।

१४१. वशीकरण (जोगं [क]) :

यहाँ योग का अर्थ है—औषध[५] या खाद्य आदि पदार्थों के संयोग की विधि अथवा वशीकरण[६]। संयोग की विधि, जैसे—दो पल घी, एक पल मधु, एक आढक दही, बीस काली मिर्च और दो भाग चीनी या गुड़—ये सब चीजें मिलाने से राजा के खाने योग्य 'रसालू' नामक पदार्थ बनता है[७]। वशीकरण अर्थात् मन्त्र, चूर्ण आदि प्रयोगों से दूसरों को अपने वश में करना।

१४२. निमित्त (निमि [ख]) :

निमित्त का अर्थ है अतीत, वर्तमान और भविष्य-संबन्धी शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या[८]।

१४३. मन्त्र (मंत [ख]) :

मन्त्र का अर्थ है—देवता या अलौकिक शक्ति की प्राप्ति के लिए जपा जाने वाला शब्द या शब्द-समूह। मंत्र के साथ विद्या का ग्रहण स्वतः प्राप्त है। ये वृश्चिक मन्त्र आदि अनेक प्रकार के होते हैं[९]।

१—जि० चू० पृ० २८९ : वायविक्खलियं नाम विविहमनेगप्पगारं वइण खलियं भण्णइ, जहा घडं आणेहिसि (भाणियव्वे घडं आणेमित्ति) भणियं, पुव्वाभिहाणं वा पच्छा उच्चारयइ, जहा सोमसम्मोत्ति भणियव्वे सम्मसोमोत्ति भणियं च, एवमादि वायविक्खलियं।

२—हा० टी० प० २३६ : ततश्च तदप्रीतिपरिहारार्थमित्थं ब्रूयाद्—अनधिकारोऽत्र तपस्विनामिति।

३—जि० चू० पृ० २८९ : गिहत्थाण पुच्छमाणाण णो णक्खत्तं कहेज्जा, जहा चंदिमा अज्ज अमुकेण णक्खत्तेण जुत्तोत्ति।

४—(क) जि० चू० पृ० २८९ : सुमिणे अव्वत्तदंसणे।

(ख) हा० टी० प० २३६ : 'स्वप्नं' शुभाशुभफलमनुभूतादि।

५—अ० चू० पृ० १९७ : जोगो ओसहसमवावो।

६—(क) जि० चू० पृ० २९० : अहवा निद्देसणवसीकरणाणि जोगो भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २३६ : 'योग' वशीकरणादि।

७—जि० चू० पृ० २८९-२९० : जोगो जहा—दो घयपला मधु पलं दहियस्स य आढयं मिरीय वीसा।

खंडगुला दो भागा एस रसालू निवइजोगो।

८—(क) जि० चू० पृ० २९० निमित्तं तीतादी।

(ख) हा० टी० प० २३६ : 'निमित्तं' अतीतादि।

९—(क) जि० चू० पृ० २९० : मंतो—असाहणो 'एगमहणे गहणं तज्जातीयाण'मितिकाउं विज्जा गहिता।

(ख) हा० टी० प० २३६ : 'मन्त्र' वृश्चिकमन्त्रादि।

१४४. जीवों की हिंसा के (भूयाहिगरणं [घ]) :

एकेन्द्रिय आदि भूत कहलाते हैं। उन पर संघट्टन, परितापन आदि के द्वारा अधिकार करना—उनका हनन करना, 'भूताधिकरण' कहलाता है[1]।

श्लोक ५१ :

१४५. दूसरों के लिए बने हुए (अन्नट्ठं पगडं [क]) :

अन्यार्थ—प्रकृत अर्थात् साधु के अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए बनाया हुआ[2]। यहाँ अन्यार्थ शब्द यह सूचित करता है कि जिस प्रकार गृहस्थो के लिए बने हुए घरा में साधु रहते हैं, उसी प्रकार अन्य-तीर्थिको के लिए निर्मित वसति में भी साधु रह सकते हैं[3]।

१४६. गृह (लयणं) :

'लयन' का अर्थ है पर्वतो में उत्खनित पाषाण-गृह । जिसमें लीन होते हैं, उसे लयन कहा जाता है[4]। लयन और घर एक अर्थ वाले हैं[5]।

१४७. स्त्री और पशु से रहित (इत्थीपसुविवज्जियं [घ]) :

यहाँ स्त्री, पशु के द्वारा नपुंसक का भी ग्रहण होता है। विवर्जित का तात्पर्य है जहाँ ये दीखते हो वैसे मकान में साधु को नहीं रहना चाहिए[6]।

श्लोक ५२ :

१४८. केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे (नारीणं न लवे कहं [ख]) :

'नारीण' यह षष्ठी का बहुवचन है। इसके अनुसार इस चरण का अर्थ होता है—स्त्रियो की कथा न कहे अथवा स्त्रियां को कथा न कहे। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—मुनि जहाँ विविक्त-शय्या में रहता है वहाँ अपनी इच्छा से आई हुई स्त्रियो को श्रृङ्गार-सम्बन्धी कथा न कहे[7]। जिनदास चूर्णि और टीका मे इसका अर्थ है – मुनि स्त्रियो को कथा न कहे[8]। हरिभद्र ने इस अर्थ का विचार

१—(क) अ० चू० पृ० १९७ : भूताणि उपरोधकिरियाए अधिकयंते जम्मि तं भूताधिकरणं ।
(ख) जि० चू० पृ० २९० : भूताणि—एगिंदियाईणि तेसिं संघट्टणपरितावणादीणि अहिय कीरंति जमि तं भूताधिकरण ।
(ग) हा० टी० प० २३६ : भूतानि-एकेन्द्रियादीनि संघट्टनादिनाऽधिक्रियंतेऽस्मिन्निति ।

२ - हा० टी० प० २३६ : 'अन्यार्थं प्रकृतं' न साधुनिमित्तमेव निर्वर्तितम् ।

३—जि० चू० पृ० २९० : अन्नट्ठगहणेण अन्नउत्थिया गहिया, अट्ठाए नाम अन्ननिमित्त, पगडं पकप्पिय भण्णइ ।

४—(क) अ० चू० पृ० १९८ : लीयते जम्मि त लेणं णिलयणमाश्रयः ।
(ख) हा० टी० प० २३६ : 'लयनं' स्थान वसतिरूपम् ।

५— जि० चू० पृ० २९० : लयण नाम लयणत्ति वा गिहति वा एगट्ठा ।

६—(क) जि० चू० पृ० २९० : तहा इत्थीहिं विवज्जियं पसूहि य महीसुट्ठियएडगगवादीहि, 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण' मितिकाउं णपुंसगविवज्जियपि, विवज्जियं नाम जत्थ तेसिं आलोयमादीणि णत्थि तं विवज्जियं भण्णइ, तत्थ आतपर-समुत्था दोसा भवंतित्तिकाउं ण ठाइयव्वं ।
(ख) हा० टी० प० २३७ : स्त्रीपशुपण्डकविवर्जित स्थानाद्यालोकन विरहितम् ।

७—अ० चू० : तत्थ अतिच्छोवगताण वि नारीण सिंगारातिण विसेसेण न कधे कहं ।

८—(क) जि० चू० पृ० २९० : तीए विवित्ताए सेज्जाए णारीणं णो कहं कहेज्जा, किं कहेज्जा, किं कारणं ?, आतपरसमुत्था बम्भचेरस्स दोसा भवंतित्तिकाउं ।
(ख) हा० टी० प० २३७ : 'विविक्ता च' तदन्यसाधुभी रहिता च, चशब्दात्तथाविधभुजङ्गप्रायैकपुरुषयुक्ता च नैवंभूता-वसतियंदि ततो 'नारीणां स्त्रीणां न कथयेत्कथां शङ्कादिदोषप्रसङ्गात् ।

करते हुए लिखा है— औचित्य देखकर पुरुषों को कथा कहनी चाहिए और स्थान अविविक्त हो तो स्त्रियों को भी कथा कहनी चाहिए[1]। स्थानाङ्ग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों के वर्णन में 'नो इत्थीणं कहं कहेत्ता भवइ' के दो अर्थ किए हैं—(१) केवल स्त्रियों को कथा न कहे (२) स्त्रियों के रूपादि से सम्बन्ध रखने वाली कथा न कहे[2]। समवायाङ्ग सूत्र की वृत्ति में उन्होंने 'स्त्रियों को कथा न कहे'—ऐसा एक ही अर्थ माना है[3]।

मूल आगम में इसका एक अर्थ और भी मिलता है नारीजनों के मध्य में शृंगार और करुणापूर्वक कथा नहीं करनी चाहिए[4]। अगस्त्यसिंह स्थविर का अर्थ इसीका अनुगामी है और आगे चल कर उन्होंने 'स्त्रियों को कथा न कहे'—यह अर्थ भी मान्य किया है।

देखिए अगले श्लोक का पाद-टिप्पण।

१४९. गृहस्थों से परिचय न करे, साधुओं से करे (गिहिसंथवं न कुज्जा ग साहूहिं संथवं घ) :

सस्तव का अर्थ ससर्ग या परिचय है। स्नेह आदि दोषो की सभावना को ध्यान मे रखकर गृहस्थ के साथ परिचय करने का निषेध किया है और कुशल-पक्ष की वृद्धि के लिए साधुओं के साथ ससर्ग रखने का उपदेश दिया है[5]।

श्लोक ५३ :

१५०. श्लोक ५३ :

शिष्य ने पूछा —भगवन् ! विविक्त स्थान में स्थित मुनि के लिए किसी प्रकार आई हुई स्त्रियों को कथा कहने का निषेध है—इसका क्या कारण है ?

आचार्य ने कहा—वत्स ! तुम सही मानो, चरित्रवान् पुरुष के लिए स्त्री बहुत बड़ा खतरा है।

शिष्य ने पूछा—कैसे ? इसके उत्तर मे आचार्य ने जो कहा वही इस श्लोक मे वर्णित है[6]।

१५१. बच्चे को (पोयस्स क) :

पोत अर्थात् पक्षी का बच्चा, जिसके पख न आए हो[7]।

१५२. स्त्री के शरीर से भय होता है (इत्थीविग्गहओ भयं घ) :

विग्रह का अर्थ शरीर है[8]। 'स्त्री से भय है' ऐसा न कहकर 'स्त्री के शरीर से भय है' ऐसा क्यो कहा ? इस प्रश्न का उत्तर है—ब्रह्मचारी को स्त्री के सजीव शरीर से ही नही, किन्तु मृत शरीर से भी भय है, यह बताने के लिए 'स्त्री के शरीर से भय है'—यह कहा है[9]।

---

१ हा० टी प० २३७ : औचित्यं विज्ञाय पुरुषाणां तु कथयेत्, अविविक्तायां नारीणामपीति।

२—ठा० ९.३ वृ० : नो स्त्रीणां केवलानामिति गम्यते 'कथां' धर्मदेशनादिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपां यदि वा—'कर्णाटी सुरतोपचार-कुशला, लाटी विदग्धप्रिया' इत्यादिकां प्रागुक्तां वा जात्यादिचतुरूपां कथयिता - तत्कथको भवति ब्रह्मचारीति।

३—सम० वृ० प० १५ : नो स्त्रीणां कथा: कथयिता भवतीति।

४—प्रश्न० संवरद्वार ४ : 'बितियं नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता ·····'।

५—हा० टी० प० २३७ : 'गृहिसंस्तवं' गृहिपरिचयं न कुर्यात् तत्स्नेहादिदोषसंभवात्। कुर्यात्साधुभिः सह 'संस्तव' परिचयं, कल्याण-मित्रयोगेन कुशलपक्षवृद्धिभावतः।

६—अ० चू० पृ १९८ : को पुण निबंधो जं विवित्तलयणत्थितेणावि कहंचि उपगताण नारीण कहा ण कथणीया। भण्णति, वत्स ! ननु चरित्तवतो महाभयमिदं इत्थी नाम, कहं।

७—जि० चू० पृ० २९१ : पोतो नाम अपक्खजायओ।

८—(क) जि० चू० पृ० २९१ : विग्गहो सरीरं भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'स्त्रीविग्रहात्' स्त्रीशरीरात्।

९—(क) जि० चू० पृ० २९१ : आह—इत्थीओ भयंति भाणियव्वे ता किमत्थं विग्गहग्गहणं कयं ?, भण्णइ न केवलं सजीवइ-त्थीसमीवाओ भयं, किन्तु ववगतजीवाएवि सरीरं ततोऽवि भयं भवइ, अओ विग्गहग्गहणं कयंति।

(ख) हा० टी० प० २३७ : विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति।

श्लोक ५४ :

१५३. चित्र-भित्ति (चित्तभित्तिं[क]) :

जिस भित्ति पर स्त्री अंकित हो, उसे यहाँ 'चित्र-भित्ति' कहा है[1]।

१५४. आभूषणों से सुसज्जित (सुअलंकियं[ख]) :

सु-अलंकृत अर्थात् हार, अर्धहार आदि आभूषणों से सज्जित[2]।

श्लोक ५५ :

१५५. (विगप्पियं[ख]) :

विकल्पित अर्थात्—कटा हुआ[3]। टीका में 'कर्णनासाविकृत्ताम्' इति विकृत्तकर्णनासाम्'—है[4]। इसके आधार पर 'कण्णनास विकट्टियं' या 'विगत्तियं' पाठ की कल्पना की जा सकती है। विकट्टिय—विकृत कटा हुआ[5]।

१५६. (अवि[ग]) :

यहाँ 'अपि' शब्द संभावना के अर्थ में है। संभावना—जैसे जिसे हाथ, पाँव कटी हुई सौ वर्ष की बुढ़िया से दूर रहने को कहा है, वह स्वस्थ अंग वाली तरुण स्त्री से दूर रहे—इसकी कल्पना सहज ही हो जाती है[6]।

श्लोक ५६ :

१५७. आत्मगवेषी (अत्तगवेसिस्स[ग]) :

दुर्गति-गमन, मृत्यु आदि आत्मा के लिए अहित हैं। जो व्यक्ति इन अहितों से आत्मा को मुक्त करना चाहता है—आत्मा के अमर स्वरूप को प्राप्त होना चाहता है, उसे 'आत्मगवेषी' कहा जाता है[7]।

जिसने आत्मा के हित की खोज की उसने आत्मा को खोज लिया[8]। आत्म-गवेषणा का यही मूल मंत्र है।

१५८. विभूषा (विभूसा[क]) :

स्नान, उद्वर्तन, उज्ज्वल-वेष आदि—ये सब विभूषा कहलाते हैं[9]।

१—(क) अ० चू० पृ० १९८ : जत्थ इत्थी लिहिता तहाविधं चित्तभित्तिं……।
(ख) जि० चू० पृ० २९१ : जाए भित्तीए चित्तकया नारी तं चित्तभित्तिं।

२—(क) जि० चू० पृ० २९१ : जीवंतिं च जाहे सोभणेण पगारेण हारद्धहारादीहिं अलंकिया दिट्ठा भवइ ताहे तं नारिं सुयलंकितं तं।
(ख) हा० टी० प० २३७ : नारीं वा सचेतनामेव स्वलङ्कृताम्, उपलक्षणमेतदनलङ्कृतां च न निरीक्षेत।

३—जि० चू० पृ० २९१ : अणेगप्पगारं कप्पिया जीए सा कन्ननासाविकप्पिया।

४—हा० टी० प० २३७।

५—पाइयसद्दमहण्णव पृ० ९६०।

६—जि० चू० पृ० २९१ : अविसद्दो संभावणे वट्टइ, किं संभावयति ?, जहा जइ हत्थाविछिन्नावि वाससयजीवी दूरओ परिवज्जणिज्जा, किं पुण जा अपलिच्छिन्ना वयत्था वा ?, एयं संभावयति।

७—(क) जि० चू० पृ० २९२ : अत्तगवेसिणो, अहवा मरणभयभीतस्स अत्तणो उवायगवेसिरोण अत्ता सुट्ठु वा गवेसियो जो एएहिंतो अप्पाणं विमोएइ।
(ख) हा० टी० प० २३७ : 'आत्मगवेसिण' आत्महितान्वेषणपरस्य।

८—अ० चू० पृ० १९९ : अप्पहितगवेसणेण अप्पा गविट्ठो भवति।

९—(क) जि० चू० पृ० २९१ : विभूसा नाम ण्हाणुव्वलणउज्जलवेसादी।
(ख) हा० टी० प० २३७ : 'विभूसा' वस्त्रादिराढा।

१५१. प्रणीत-रस (पणीयरस ख) :

इसका शब्दार्थ है—रूप, रस आदि युक्त अन्न[१], व्यञ्जन[२]। पिण्डनिर्युक्ति में 'प्रणीत' का अर्थ गलत्स्नेह (जिससे घृत आदि टपक रहा हो वैसा भोजन) किया है[३]। नेमिचन्द्राचार्य ने 'प्रणीत' का अर्थ अतिबृंहक—अत्यन्त पुष्टिकर किया है[४]। प्रश्नव्याकरण में प्रणीत और स्निग्ध भोजन का प्रयोग एक साथ मिलता है[५]। इससे जान पड़ता है कि प्रणीत का अर्थ केवल स्निग्ध ही नहीं है, उसके अतिरिक्त भी है। स्थानाङ्ग में भोजन के छह प्रकार बतलाए हैं—मनोज्ञ, रसित, प्रीणनीय, बृंहणीय, दीपनीय और दर्पणीय[६]। इनमें बृंहणीय (धातु का उपचय करने वाला या बलवर्द्धक) और दर्पणीय (उन्मादकर या मदनीय—कामोत्तेजक) जो हैं उन्हीं के अर्थ में प्रणीत शब्द का प्रयोग हुआ है—ऐसा हमारा अनुमान है। इसका समर्थन हमें उत्तराध्ययन (१६.७) के 'पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं' इस वाक्य से मिलता है। प्रणीत-भोजन का त्याग ब्रह्मचर्य की सातवीं गुप्ति है[७]। एक ओर प्रस्तुत श्लोक में प्रणीतरस भोजन को ब्रह्मचारी के लिए ताल-पुट विष कहा है, दूसरी ओर मुनि के लिए विकृति—दूध, दही, घृत आदि का सर्वथा निषेध भी नहीं है। उसके लिए बार-बार विकृति को त्यागने का विधान मिलता है[८]। मुनिजन प्रणीत-भोजन लेते थे, ऐसा वर्णन आगमों में मिलता है[९]।

भगवान् महावीर ने भी प्रणीत-भोजन लिया था[१०]। आगम के कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि मुनि को प्रणीत-भोजन नहीं करना चाहिए और कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि प्रणीत-भोजन किया जा सकता है। यह विरोधाभास है। इसका समाधान पाने के लिए हमें प्रणीत-भोजन के निषेध के कारणों पर दृष्टि डालनी चाहिए। प्रणीत-भोजन मद-वर्धक होता है, इसलिए ब्रह्मचारी उसे न खाए[११]। ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँचवीं भावना (प्रश्नव्याकरण के अनुसार) प्रणीत—स्निग्ध भोजन का विवर्जन है। वहाँ बताया है कि ब्रह्मचारी को दर्पकर—मदवर्धक आहार नहीं करना चाहिए, बार-बार नहीं खाना चाहिए, प्रतिदिन नहीं खाना चाहिए, शाक-सूप अधिक हो वैसा भोजन नहीं खाना चाहिए, डटकर नहीं खाना चाहिए। जिससे संयम-जीवन का निर्वाह हो सके और जिसे खाने पर विभ्रम (ब्रह्मचर्य के प्रति अस्थिर भाव) और ब्रह्मचर्य-धर्म का भ्रंश न हो वैसा खाना चाहिए। उक्त निर्देश का पालन करने वाला प्रणीत-भोजन विरति की भावना से भावित होता है[१२]। प्रणीत की यह पूर्ण परिभाषा है। उक्त प्रकार का प्रणीत-भोजन उन्माद बढ़ाता है, इसलिए उसका निषेध किया गया है। किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए स्निग्ध-पदार्थ आवश्यक हैं, इसलिए उनका भोजन विहित भी है। मुनि का भोजन संतुलित होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रणीत-भोजन का त्याग और जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उसका स्वीकार—ये दोनों सम्मत हैं। जो श्रमण प्रणीत-आहार और तपस्या का संतुलन नहीं रखता उसे भगवान् ने पाप-श्रमण कहा है[१३] और प्रणीत-रस के भोजन को तालपुट-विष कहने का आशय भी यही है।

१—अ० चि० स्वोपज्ञ टीका ३.७७ पृ० १७० : 'प्रणीतमुपसंपन्नं'—प्रणीयतेस्म प्रणीतं रूपरसादिनिष्पन्नमन्नम्।

२—हला० पृ० ४५२ : पाकेन रूपरसादिसंपन्नं व्यञ्जनादि।

३—पि० नि० गाथा ६४५ : जं पुण गलंतनेहं, पणीयमिति तं बुहा बेंति, वृत्ति—यत् पुनर्गलत्स्नेहं भोजनं तत्प्रणीतं, 'बुधाः तीर्थकृदादयो ब्रुवते।

४—उत्त० ३०.२६ नै० वृ० पृ० ३४१ : 'प्रणीतम्' अतिबृंहकम्।

५—प्रश्न० संवरद्वार ४ : आहारपणीयनिद्धभोयण विवज्जते।

६—ठा० ६.१०१ : छव्विहे भोयणपरिणामे पण्णत्ते, तंजहा—मणुन्ने, रसिए, पीणणिज्जे, बिंहणिज्जे, मयणिज्जे, दप्पणिज्जे।

७—उत्त० १६.७ : नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ से निग्गन्थे।

८—दश० चू० २.७ : अभिक्खणं निव्विगइं गया य।

९—अन्त० ८.१।

१०—भग० १५।

११—उत्त० १६.७।

१२—प्रश्न० संवरद्वार ४ : 'न दप्पणं, न बहुसो, न नितिकं, न सायसूपाहिकं, न खद्धं', तहा भोत्तव्वं जहा से जायामायाए भवइ, न य भवइ विब्भमो न भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहारविरति समितिजोगेण भावितो भवति।

१३—उत्त० १७.१५ : दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

१६०. तालपुट-विष (विसं तालउडं [घ]) ।

तालपुट अर्थात् ताल (हथेली) संपुटित हो उतने समय में भक्षण करने वाले को मार डालने वाला विष—तत्काल प्राणनाशक विष । जिस प्रकार जीविताकाङ्क्षी के लिए तालपुट विष का भक्षण हितकर नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिए विभूषा आदि हितकर नहीं होते[१] ।

श्लोक ५७ :

१६१. अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान (अंगपच्चंगसंठाणं [क]) :

हाथ-पैर आदि शरीर के मुख्य अवयव 'अङ्ग' और आँख, दांत आदि शरीर के गौण अवयव 'प्रत्यङ्ग' कहलाते हैं । चूर्णिद्वय में संस्थान स्वतन्त्र रूप में और अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सम्बन्धित रूप में भी व्याख्यात हैं, जैसे—(१) अङ्ग, प्रत्यङ्ग और संस्थान, (२) अङ्ग और प्रत्यङ्गों के संस्थान । संस्थान अर्थात् शरीर की आकृति, शरीर का रूप[२] ।

१६२ कटाक्ष (पेहियं [ख]) :

प्रेक्षित अर्थात् अपाङ्ग-दर्शन—कटाक्ष[३] ।

श्लोक ५८ :

१६३ परिणमन को (परिणामं [घ]) :

परिणाम का अर्थ है वर्तमान पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय में जाना, अवस्थान्तरित होना । शब्द आदि इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ होते रहते हैं । जो मनोज्ञ होते हैं वे विशेष मनोज्ञ या अमनोज्ञ हो जाते हैं और जो अमनोज्ञ होते हैं वे विशेष अमनोज्ञ या मनोज्ञ हो जाते हैं । इसीलिए उनके अनित्य-स्वरूप के चिन्तन का उपदेश दिया गया है[४] ।

१६४. राग-भाव न करे (पेमं नाभिनिवेसए [ख]) :

प्रेम और राग एकार्थक हैं । जिस प्रकार मुनि मनोज्ञ विषयों में राग न करे, उसी प्रकार अमनोज्ञ विषयों से द्वेष भी न करे ।[५]

१—(क) जि० चू० पृ० २९२ : तालपुडं नाम जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं, जहा जीवियकंखिणो नो तालपुडविसभक्खणं सुहावहं भवति तहा धम्मकामिणो नो विभूसाईणि सुहावहाणि भवंतित्ति ।

(ख) हा० टी० प० २३७ : तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितम् ।

२—(क) अ० चू० पृ० १९९ : अंगाणि हत्थादीणि, पच्चंगाणि णयणदंसणादीणि, संठाणं समचतुरंसादिसरीररूवं । अहवा अंगपच्चंगाणि संठाणं अंगपच्चंगसंठाणं ।

(ख) जि० चू० पृ० २९२ : अंगाणि हत्थपायादीणि, पच्चंगाणि नयणदसणाईणि, संठाणं समचउरंसाइं, अहवा तेसिं चेव अंगाणं पच्चंगाण य संठाणग्गहणं कयति ।

(ग) हा० टी० प० २३७ : अङ्गानि—शिरः प्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि—नयनादीनि एतेषां संस्थानं—विन्यासविशेषम् ।

३—अ० चू० पृ० १९९ : पेहितं सावंग णिरिक्खणं ।

४—(क) जि० चू० पृ० २९२-२९३ : ते चेव सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, ण पुण जे मणुन्ना ते मणुन्ना चेव भवंति, अमणुन्ना वा अच्चंतमणुन्ना एव भवंति, एवं रूवादिसुवि भाणियव्वं ।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'परिणामं' पर्यायान्तरापत्तिलक्षणं, ते हि मनोज्ञा अपि सन्तो विषयाः अमनोज्ञतया परिणमन्ति अमनोज्ञा अपि मनोज्ञतया ।

५—(क) जि० चू० पृ० २९२ : पेमं नाम पेमंति वा रागोत्ति वा एगट्ठा, 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण' मितिकाउं अमणुन्नेसुवि दोसं न गच्छेज्जा ।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'प्रेम' रागम् ।

श्लोक ५९ :

१६५. उपशान्त कर (सीईभूएण [घ]) :

शीत का अर्थ है उपशान्त[1]। क्रोध आदि कषाय को उपशान्त करने वाला 'शीतीभूत' कहलाता है[2]।

श्लोक ६० :

१६६. (जाए [क]) :

जिस अर्थात् प्रव्रजित होने के समय होने वाली (श्रद्धा) से[3]।

१६७. श्रद्धा से (सद्धाए [क]) :

धर्म में आदर[4], मन का परिणाम[5] और प्रधान गुण का स्वीकार[6] —श्रद्धा के ये विभिन्न अर्थ किए गए हैं। इन सबको मिलाकर निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—जीवन-विकास के प्रति जो आस्था होती है, तीव्र मनोभाव होता है वही 'श्रद्धा' है।

१६८. उस श्रद्धा को (तमेव [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह श्रद्धा का सर्वनाम है[7] और जिनदास चूर्णि के अनुसार पर्याय-स्थान का[8]। आचाराङ्ग वृत्ति मे इसे श्रद्धा का सर्वनाम माना है[9]।

१६९. आचार्य-सम्मत (आयरियसम्मए [घ]) :

आचार्य-सम्मत अर्थात् तीर्थंकर, गणधर आदि द्वारा अनुमत[10]। यह गुण का विशेषण है। टीका में उल्लिखित मतान्तर के अनुसार यह श्रद्धा का विशेषण है। श्रद्धा का विशेषण मानने पर दो चरणों का अनुवाद इस प्रकार होगा—आचार्य-सम्मत उसी श्रद्धा का अनु-पालन करे[11]।

श्लोक ६१ :

१७०. (सूरे व सेणाए [ग]) :

जिस प्रकार शस्त्रों से सुसज्जित वीर चतुरङ्ग (घोड़ा, हाथी, रथ और पदाति) सेना से घिर जाने पर अपना और दूसरों का संरक्षण

१—अ० चू० पृ० २०० : सीतभूतेण सीतो उवसतो, जधा निसण्णो देवो, अतो सीतभूतेण उवसंतेण।

२—हा० टी० प० २३८ : 'शीतीभूतेन' क्रोधाद्यग्न्युपगमात्प्रशान्तेन।

३—अ० चू० पृ० २०० : जाएत्ति निक्खमणसमकालं भण्णति।

४—अ० चू० पृ० २०० : सद्धा धम्मे आयरो।

५—जि० चू० पृ० २९३ : सद्धा परिणामो भण्णइ।

६—हा० टी० प० २३८ : 'श्रद्धया' प्रधानगुणस्वीकरणरूपया।

७—(क) अ० चू० : तं सद्धं पव्वज्जासमकालिणिं अणुपालेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३८ : तामेव श्रद्धामप्रतिपातितया प्रवर्द्धमानाम्।

८—जि० चू० पृ० २९३ : तमेव परिआयट्ठाणं।

९—आ० १।३५ : 'जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा, वृ०—'यया श्रद्धया' प्रवर्धमानसंयमस्थानकण्डकरूपया 'निष्क्रान्तः' प्रव्रज्यां गृहीतवान् 'तामेव' श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवम् 'अनुपालयेद्'—रक्षेत्।

१०—जि० चू० पृ० २९१ : 'आयरिअसंमओ'त्ति आयरिया नाम तित्थकरगणधराई तेसिं संमए नाम संमओत्ति वा अनुमओत्ति वा एगट्ठा।

११—हा० टी० प० २३८ : अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमेतदिति व्याचक्षते, तामेव श्रद्धामनुपालयेद् गुणेषु, किंभूताम् ? आचार्यसंमतां, न तु स्वाग्रहकलङ्किताम् इति।

करने में समर्थ होता है उसी प्रकार जो मुनि तप, संयम आदि गुणों से सम्पन्न होता है, वह इन्द्रिय और कषाय रूप सेना से घिर जाने पर अपना और दूसरों का बचाव करने में समर्थ होता है[1]।

१७१. (अलं परेसिं [घ]) :

'अलं' का एक अर्थ विचारण— रोकना भी है। इसके अनुसार अनुवाद होगा कि आयुधों से सुसज्जित वीर अपनी रक्षा करने में समर्थ और पर अर्थात् शत्रुओं को रोकने वाला होता है[2]।

१७२. संयम-योग (संजमजोगयं [क]) :

जीवकाय-संयम, इन्द्रिय-सयम, मनः-सयम आदि के समाचरण को संयम-योग कहा जाता है। इससे सतरह प्रकार के संयम का ग्रहण किया है[3]।

१७३. स्वाध्याय-योग में (सज्झायजोगं [ख]) :

स्वाध्याय तप का एक प्रकार है। तप का ग्रहण करने से इसका ग्रहण सहज ही हो जाता है किन्तु इसकी मुख्यता बताने के लिए यहाँ पृथक् उल्लेख किया है[4]। स्वाध्याय बारह प्रकार के तपों में सब से मुख्य तप है। इस अभिमत की पुष्टि के लिए अगस्त्यसिंह ने एक गाथा उद्धृत की है :

> **बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।**
> **न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं॥** (कल्पभाष्य गा० ११६९)

१७४. प्रवृत्त रहता है (अहिट्ठए [ख]) :

टीका में 'अहिट्ठए' का संस्कृत रूप 'अधिष्ठाता' है[5] किन्तु 'तवं' आदि कर्म हैं, इसलिए यह 'अहिट्ठा' धातु का रूप होना चाहिए।

१७५. आयुधों से सुसज्जित (समत्तमाउहे [ग]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। जिसके पास पाँच प्रकार के आयुध होते हैं, उसे 'समाप्तायुध' (आयुधों से परिपूर्ण) कहा जाता है[6]।

श्लोक ६२ :

१७६. (सि [घ]) :

'सि' शब्द के द्वारा साधु का निर्देश किया गया है[7]।

१—जि० चू० पृ० २९३ : जहा कोई पुरिसो चउरंगबलसमन्नागताए सेणाए अभिरुद्धो संपन्नाउहो अलं (सूरो अ) सो अप्पाणं परं च ताओ संगामाओ नित्थारेउंति, अलं नाम समत्थो, तहा सो एवंगुणजुत्तो अलं अप्पाण परं च इंदियकसायसेणाए अभिरुद्धं नित्थारेउंति।

२—अ० चू० पृ० २०० : अहवा अलं परेसिं, परसद्दो एत्थ सत्तु वृत्ति, अलं सद्दो विचारणे। सो अलं परेसिं वारणसमत्थो सत्तूण।

३—(क) अ० चू० पृ० २०० : सत्तरसविधं संजमजोगं।

(ख) हा० टी० प० २३८ : 'संयमयोग' पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं।

४—(क) जि० चू० पृ० २९३ : ननु तवग्गहणेण सज्झाओ गहिओ ?, आयरिओ आह—सच्चमेयं, किंतु तवभेदोपदरिसणत्थं सज्झायगहणं कयं।

(ख) हा० टी० प० २३८ : इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाभिधानम्।

५—हा० टी० प० २३८ : 'अधिष्ठाता' तपः प्रभृतीनां कर्ता।

६—अ० चू० पृ० २०१ : पंचवि आउधाणि सुविहिताणि जस्स सो समत्तमाउधो।

७—जि० चू० पृ० २९४ : सित्ति साहुणो निद्देसो।

१७७. सद्ध्यान में (सज्झाण क) :

ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल । इनमें धर्म्य और शुक्ल—ये दो सद्ध्यान हैं[1] ।

१७८. मल (मलं ग) :

'मल' का अर्थ है पाप[2] । अगस्त्य चूर्णि में 'मल' के स्थान मे 'रयं' पाठ है । अर्थ की दृष्टि से दोनों समानार्थक हैं ।[3]

श्लोक ६३ :

१७९. (विरायई कम्मघणम्मि अवगए ग) :

अगस्त्य चूर्णि में इसके स्थान में 'विसुज्झती पुव्वकडेण कम्मुणा' और जिनदास चूर्णि में 'विमुच्चइ पुव्वकडेण कम्मुणा' पाठ है । इनका अनुवाद क्रमश. इस प्रकार होगा—पूर्वकृत कर्मों से विशुद्ध होता है, पूर्वकृत कर्मों से विमुक्त होता है ।

१८०. (चंदिमा घ) :

व्याख्याओं में इसका अर्थ चन्द्रमा है[4], किन्तु व्याकरण की दृष्टि से चन्द्रिका होता है[5] ।

१८१. दुःखों को सहन करने वाला (दुक्खसहे क) :

दुःखसह का अर्थ है शारीरिक और मानसिक दु खो को सहन करने वाला[6] या परीषहो को जीतने वाला[7] ।

१८२. ममत्व-रहित (अममे ख) :

जिसके ममकार—मेरापन नहीं होता, वह 'अमम' कहलाता है[8] ।

१८३. अकिञ्चन (अकिंचणे ख) :

जो हिरण्य आदि द्रव्य-किञ्चन और मिथ्यात्व आदि भाव-किञ्चन से रहित होता है, वह 'अकिञ्चन' कहलाता है[9] ।

१८४. अभ्रपटल से वियुक्त (अब्भपुडावगमे घ) :

अभ्रपुट का अर्थ—'बादल के परत' है । भावार्थ की दृष्टि से हिम, रज, तुषार, कुहासा—ये सब अभ्रपुट हैं । अभ्रपुट का अपगम अर्थात् बादल आदि का दूर होना[10] । शरद् ऋतु मे आकाश बादलो से वियुक्त होता है, इसलिए उस समय का चाद अधिक निर्मल होता है । तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है—शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह शोभित होता है[11] ।

१—(क) उत्त० ३०.३५ : अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए ।
धम्मसुक्काइं झाणाइं ....।

(ख) अ० चू० पृ० २०१ : सज्झाणे धम्मसुक्के ।

२—जि० चू० पृ० २९४ : मलंति वा पावंति वा एगट्ठा ।

३—अ० चू० पृ० २०१ : विसुज्झती जं से रय पुरेकड ···· ···रयो मलो पावमुच्यते ।

४—अ० चू० पृ० २०१; जि० चू० पृ० २९४ : चंदिमा चन्द्रमाः ।

५—हैम० ८.१.१८५ : चन्द्रिकायां मः ।

६—अ० चू० पृ० २०१ : दुक्खं सारीरमाणसं सहतीति दुक्खसहो ।

७—हा० टी० प० २३८ : 'दुःखसहः' परीषहजेता ।

८—अ० चू० पृ० २०१ : निम्ममत्ते अममे ।

९—जि० चू० पृ० २९४ : दव्वकिंचणं हिरण्णादि, भावकिंचणं मिच्छत्तअविरतीमादि, तं दव्वकिंचणं भावकिंचणं च जस्स नत्थि सो अकिंचणो ।

१०—अ० चू० पृ० २०१ : अब्भस्सपुडं बलाहतादि, अब्भपुडस्स अवगमो—हिमरओतुसारधूमियादीण वि अवगमो ।

११—अ० चू० पृ० २०१ : जधा सरदि विगतघणे नभसि संपुण्णमंडलो ससि सोभते तधा सो समणं ।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(पढमो उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(प्र० उद्देशक)

आमुख

धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम है 'मोक्ष'[1]। विनय तप है और तप धर्म है, इसलिए विनय का प्रयोग करना चाहिए[2]। जैन-आगमों में 'विनय' का प्रयोग आचार व उसकी विविध धाराओं के अर्थ मे हुआ है। विनय का अर्थ केवल नम्रता ही नहीं है। नम्र-भाव आचार की एक धारा है। पर विनय को नम्रता मे ही बाँध दिया जाए तो उसकी सारी व्यापकता नष्ट हो जाती है। जैन धर्म वैनयिक (नमस्कार, नम्रता को सर्वोपरि मानकर चलने वाला) नहीं है। वह आचार-प्रधान है। सुदर्शन ने थावच्चापुत्त अणगार से पूछा—"भगवन् ! आपके धर्म का मूल क्या है ?" थावच्चापुत्त ने कहा—"सुदर्शन ! हमारे धर्म का मूल विनय है। वह विनय दो प्रकार का है—(१) आगार-विनय (२) अणगार-विनय। पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ—यह आगार-विनय है। पाँच महाव्रत, अठारह पाप-विरति रात्रि-भोज-विरति, दशविध प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएँ यह अणगार विनय है[3]।" प्रस्तुत अध्ययन का नाम विनय-समाधि है। उत्तराध्ययन के पहले अध्ययन का नाम भी यही है। इनमे विनय का व्यापक निरूपण है। फिर भी विनय की दो धाराएँ अनुशासन और नम्रता अधिक प्रस्फुटित हैं।

विनय अंतरंग तप है। गुरु के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, भक्ति और सुश्रूषा करना विनय है[4]।

औपपातिक सूत्र मे विनय के सात प्रकार बतलाए है। उनमें सातवाँ प्रकार उपचार-विनय है। उक्त श्लोक मे उसी की व्याख्या है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वाणी और काय का विनय - ये छह प्रकार शेष रहते है। इन सबके साथ विनय की संगति उद्धत-भाव के त्याग के अर्थ मे होती है। उद्धत भाव और अनुशासन का स्वीकार ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। आचार्य और साधना के प्रति जो नम्र होता है वही आचारवान् बन सकता है। इस अर्थ मे नम्रता आचार का पूर्णरूप है। विनय के अर्थ की व्यापकता की पृष्ठभूमि मे यह दृष्टिकोण अवश्य रहा है।

बौद्ध साहित्य में भी विनय व्यवस्था, विधि व अनुशासन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध-भिक्षुओं के विधि-ग्रन्थ का नाम इसी अर्थ मे 'विनयपिटक' रखा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक है। आचार्य के साथ शिष्य का वर्तन कैसा होना चाहिए—इसका निरूपण पहले में है। "अणतनाणो-वगओ वि संतो"—शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाए तो भी वह आचार्य की आराधना वैसे ही करता रहे जैसे पहले करता था—यह है विनय का उत्कर्ष। जिसके पास धर्म-पद सीखे उसके प्रति विनय का प्रयोग करे मन, वाणी और शरीर से नम्र रहे (श्लोक १२)। जो गुरु मुझे अनुशासन देते है उनकी मैं पूजा करूँ (श्लोक १३) ऐसे मनोभाव विनय की परम्परा को सहज बना देते हैं शिष्य के मानस में ऐसे सस्कार बैठ जाएँ तभी आचार्य और शिष्य का एकात्मभाव हो सकता है और शिष्य आचार्य से इष्ट-तत्व पा सकता है।

दूसरे मे अविनय और विनय का भेद दिखलाया गया है। अविनीत विपदा को पाता है और विनीत सम्पदा का भागी होता है। जो इन दोनों को जान लेता है वही व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है (श्लोक २१)। अविनीत असंविभागी होता है। जो संविभागी नहीं होता वह मोक्ष नहीं पा सकता (श्लोक २२)।

जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करे, वह पूज्य है (श्लोक २)। जो अप्रिय प्रसंग को धर्म-बुद्धि से सहन करता है, वह पूज्य है (श्लोक ८)। पूज्य के लक्षणों का निरूपण—यह तीसरे का विषय है।

१—दसा० ६.२.२ : एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।

२—प्रश्न० संवरद्वार ३ पाँचवीं भावना : विणओ वि तवो तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो।

३—ज्ञाता० ५।

४—उत्त० ३०.३२ : अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ॥

चौथे में चार समाधियों का वर्णन है। समाधि का अर्थ है—हित, सुख या स्वास्थ्य। उसके चार हेतु हैं—विनय, श्रुत, तप और आचार। अनुशासन को सुनने की इच्छा, उसका सम्यक्-ग्रहण उसकी आराधना और सफलता पर गर्व न करना—विनय-समाधि के ये चार अङ्ग हैं। विनय का प्रारम्भ अनुशासन से होता है और अहंकार के परित्याग में उसकी निष्ठा होती है।

मुझे ज्ञान होगा, मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा, सन्मार्ग पर स्थित होऊँगा, दूसरों को भी वहाँ स्थित करूँगा इसलिए मुझे पढ़ना चाहिए—यह श्रुत-समाधि है। तप क्यों तपा जाए? आचार क्यों पाला जाए? इनके उद्देश्य की महत्वपूर्ण जानकारी यहाँ मिलती है। इस प्रकार यह अध्ययन विनय की सर्वांगीण परिभाषा प्रस्तुत करता है।

इसका उद्धार नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से हुआ है[1]।

१—दश० नि० १७।

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (पढमो उद्देसो) : विनय-समाधि (प्रथम उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिंदी अनुवाद
१—थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे[१]। सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥	स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादात्, गुरु-सकाशे विनयं न शिक्षेत । स चैव तु तस्याऽभूतिभाव:, फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥१॥	१—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया[१] या प्रमादवश[३] गुरु के समीप विनय की[४] शिक्षा नहीं लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश[५] के लिए होती है, जैसे—कीचक (बांस) का[६] फल उसके वध के लिए होता है।
२—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा । हीलंति[७] मिच्छं पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूणं ॥	ये चापि "मन्द" इति गुरुं विदित्वा, "डहरो"ऽय "अल्पश्रुत" इति ज्ञात्वा । हीलयन्ति मिथ्या प्रतिपद्यमाना:, कुर्वन्त्याशातना ते गुरूणाम् ॥२॥	२—जो मुनि गुरु को—'ये मंद[८] (अल्पप्रज्ञ) हैं', 'ये अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत हैं,'—ऐसा जानकर उनके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उनकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना करते[९] हैं।
३—पगईए मंदा वि[१०] भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया । आयारमंता गुणसुट्ठियप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा॥	प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्ति एके, डहरा अपि च ये श्रुत-बुद्ध्युपेता: । आचारवन्तो गुणसुस्थितात्मान, ये हीलिता: शिखीव भस्म कुर्यु: ॥३॥	३—कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्द (अल्प-प्रज्ञ) होते हैं और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न[११] होते हैं। आचारवान् और गुणों में सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हों या प्राज्ञ, अवज्ञा प्राप्त होने पर गुण-राशि को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि ईंधन-राशि को।
४—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ । एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे ॥	ये चापि नाग डहर इति ज्ञात्वा, आशातयेयु: तस्याहिताय भवति । एवमाचार्यमपि खलु हीलयन्, निर्गच्छति जातिपथं खलु मन्द: ॥४॥	४—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्द संसार में[१२] परिभ्रमण करता है।
५—"आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा । आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो ॥	आशीविषश्चापि परं सुरुष्ट:, किं जीवनाशात् परं नु कुर्यात् । आचार्यपादा: पुनरप्रसन्ना: अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्ष: ॥५॥	५—आशीविष सर्प[१४] अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि के कारण बनते हैं। अत: आशातना से मोक्ष नहीं मिलता।

६—जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा
आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी
एसोवमासायणया गुरूणं ॥

य: पावकं ज्वलितमपक्रामेत्,
आशीविषं वाऽपि खलु कोपयेत् ।
यो वा विषं खादति जीवितार्थी,
एषोपमाशातनया गुरूणाम् ॥६॥

६—कोई जलती अग्नि को लांघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नहीं होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नहीं होती ।

७—सिया हु से पावय नो डहेज्जा
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हालहलं न मारे
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥

स्याद् खलु स पावको नो दहेत्,
आशीविषो वा कुपितो न भक्षेत् ।
स्याद्विषं हलाहलं न मारयेत्,
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥७॥

७—सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है ।

८—जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे
सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा ।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं
एसोवमासायणया गुरूणं ॥

य: पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्,
सुप्तं वा सिंहं प्रतिबोधयेत् ।
यो वा ददीत शक्त्यग्रे प्रहारं,
एषोपमाशातनया गुरूणाम् ॥८॥

८—कोई सिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, गुरु की आशातना इनके समान है ।

९—सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥

स्यात् खलु शीर्षेण गिरिमपि भिन्द्यात्,
स्यात् खलु सिंहः कुपितो न भक्षेत् ।
स्यान्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रं,
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥९॥

९—सम्भव है सिर से पर्वत का भी भेदन कर डाले, सम्भव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है ।

१०—आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥

आचार्यपादाः पुनरप्रसन्ना
अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः ।
तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी,
गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ॥१०॥

१०—आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता । आशातना से मोक्ष नहीं मिलता । इसलिए मोक्ष-सुख चाहने वाला मुनि गुरु-कृपा के अभिमुख रहे ।

११—जहाहियग्गी जलणं नमंसे
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥

यथाऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्येद्,
नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम् ।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत,
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥११॥

११—जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण[15] विविध आहुति[16] और मन्त्रपदों[17] से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे ।

१२—जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥

यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत,
तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत ।
सत्कुर्वीत शिरसा प्राञ्जलिकः,
कायेन गिरा भो मनसा च नित्यम् ॥१२॥

१२—जिसके समीप धर्मपदों की[18] शिक्षा लेता है उसके समीप विनय का प्रयोग करे । शिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर[19] (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे ।

१३—लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति ।।
ते हं गुरू सययं पूययामि ।।

लज्जा दया संयम ब्रह्मचर्यं,
कल्याणभागिन विशोधिस्थानम् ।
ये मा गुरवः सततमनुशासति,
तानहं गुरून् सततं पूजयामि ।।१३।।

१३—लज्जा[20], दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याणभागी साधु के लिए विशोधि-स्थल हैं। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ।

१४—जहा निसंते तवणच्चिमाली
पभासई केवलभारहं तु ।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए
विरायई सुरमज्झे व इंदो ।।

यथा निशान्ते तपन्नर्चिर्माली,
प्रभासते केवलभारतं तु ।
एवमाचार्यः श्रुत-शील-बुद्धया,
विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ।।१४।।

१४—जैसे दिन में प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत[21] (भरत क्षेत्र) को प्रकाशित करता है वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करते हैं और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होते हैं।

१५—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो
नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ।।

यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तः,
नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा ।
खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते,
एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ।।१५।।

१५—जिस प्रकार बादलों से मुक्त विमल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत, कार्तिक-पूर्णिमा[22] में उदित चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होते हैं।

१६—महागरा आयरिया महेसी
समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं
आराहए तोसए धम्मकामी ।।

महाकरान् आचार्यान् महैषिणः,
समाधियोगस्य श्रुतशीलबुद्ध्या ।
सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि,
आराधयेत् तोषयेद्धर्मकामी ।।१६।।

१६—अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मुनि निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुतशील और बुद्धि के[23] महान् आकर, मोक्ष की एषणा करने वाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे।

१७—सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं
सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ।।

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि,
शुश्रूषयेत् आचार्यमप्रमत्तः ।
आराध्य गुणाननेकान्,
स प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ।।१७।।

१७—मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

त्ति बेमि ।

इति ब्रवीमि ।

ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ९ (प्रथम उद्देशक)

श्लोक १ :

१. (विणयं न सिक्खे [ख]) ।

अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने 'विणयं न सिक्खे' के स्थान पर 'विणए न चिट्ठे' पाठ मानकर व्याख्या की है[1]। टीकाकार ने इसे पाठान्तर माना है[2]। इसका अर्थ - विनय में नहीं रहता—किया है।

२. माया (मय [क]) :

मूल शब्द 'माया' है। छन्द-रचना की दृष्टि से 'या' को 'य' किया गया है[3]।

३. प्रमादवश (प्पमाया [क]) :

यहाँ प्रमाद का अर्थ इन्द्रियों की आसक्ति, नींद, मद्य का आसेवन, विकथा आदि है[4]।

४. विनय की (विणयं [ख]) :

यहाँ विनय शब्द अनुशासन, नम्रता, संयम और आचार के अर्थ में प्रयुक्त है। इन विविध अर्थों की जानकारी के लिए देखिए दशाश्रुतस्कन्ध द० ४। विनय दो प्रकार का होता है—ग्रहण-विनय और आसेवन-विनय[5]। ज्ञानात्मक विनय को ग्रहण-विनय और क्रियात्मक विनय को आसेवन-विनय कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि और टीका में केवल आसेवन-विनय और शिक्षा-विनय—ये दो भेद माने हैं[6]। आसेवन-विनय का अर्थ सामाचारी शिक्षण, प्रतिलेखनादि क्रिया का शिक्षण या अभ्यास होता है और शिक्षा-विनय का अर्थ है—इनका ज्ञान।

१—(क) अ० चू० पृ० २०६ . विणए न चिट्ठे विणए ण ट्ठाति।

(ख) जि० चू० पृ० ३०२ : विनयेन न तिष्ठति।

२—हा० टी० प० २४३ : अन्ये तु पठन्ति—गुरोः सकाशे 'विनये न तिष्ठति' विनये न वर्त्तते, विनयं नासेवत इत्यर्थः।

३--(क) अ० चू० पृ० २०६ : मय इति मायातो, एत्थ आयारस्स ह्रस्सता, सरह्रस्सता य लक्खणविज्जाए अत्थि जधा—'ह्रस्वो णपुंसके' प्रातिपदिकस्य पागते विसेसेण, जधा एत्थेव 'वा' सद्दस्स।

(ख) जि० चू० पृ० ३०१ : मयगहणेण मायागहणं, मयकारहस्सत्तं बधाणुलोमकयं।

(ग) हा० टी० प० २४२ . मायातो निकृतिरूपायाः।

४—(क) अ० चू० पृ० २०६ : इंदिय निद्दामज्जादिप्पमादेण।

(ख) जि० चू० पृ० ३०१ : प्रमादग्रहणेण णिद्दाविकहादिपमादट्ठाणा गहिया।

(ग) हा० टी० प० २४२ : प्रमादात्—निद्रादेः सकाशात्।

५—जि० चू० पृ० ३०१। विणये दुविहे—गहणविणए आसेवणाविणए।

६—(क) अ० चू० पृ० २०६ : दुविहे आसेवण सिक्खा विणए।

(ख) हा० टी० प० २४२ : 'विनयम्' आसेवनाशिक्षाभेदभिन्नम्।

५. विनाश (अभूइभावो [ग]) :

अभूतिभाव—'भूति' का अर्थ है विभव या ऋद्धि। भूति के अभाव को 'अभूतिभाव' कहते हैं। यह अगस्त्य चूर्णि और टीका की व्याख्या है[1]। जिनदास चूर्णि मे अभूतिभाव का पर्याय शब्द विनाशभाव है[2]।

६. कीचक (बांस) का (कीयस्स [घ]) :

हवा से शब्द करते हुए बास को कीचक कहते हैं[3]। वह फल लगने पर सूख जाता है। इसकी जानकारी चूर्णि में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक से मिलती है। जैसे कहा है—चींटियो के पर, ताड, कदली और हरताल के फल तथा अविद्वान्—अविवेकशील व्यक्ति का ऐश्वर्य उन्हीं के विनाश के लिए होता है[4]।

तुलना—**यो सासनं अरहतं अरियान धम्मजीविनं।**
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं॥
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय फुल्लति॥ (धम्मपद १२८)

—जो दुर्बुद्धि मनुष्य अरहन्तों तथा धर्म-निष्ठ आर्य-पुरुषों के शासन की, पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर, अवहेलना करता है, वह आत्मघात के लिए बांस के फल की तरह प्रफुल्लित होता है।

श्लोक २ :

७. (हीलंति [ग]) :

संस्कृत मे अवज्ञा के अर्थ मे 'हील्' धातु है। अगस्त्य चूर्णि मे इसका समानार्थक प्रयोग 'ह्रेपयति' और 'अहियालेंति' है[5]।

८. मंद (मंदि [क]) :

मन्द का अर्थ सत्प्रज्ञाविकल - अल्पबुद्धि है। प्राणियों मे ज्ञानावरण के क्षयोपशम की विचित्रता होती है। उसके अनुसार कोई तीव्र बुद्धि वाला होता है—तन्त्र, युक्ति आदि की आलोचना में समर्थ होता है और कोई मन्द बुद्धि वाला होता है—उनकी आलोचना में समर्थ नही होता[6]।

९. आशातना (आसायण [घ]) :

आशातना का अर्थ विनाश करना या कदर्थना करना है। गुरु की लघुता करने का प्रयत्न या जिससे अपने सम्यग्दर्शन का ह्रास हो, उसे आशातना कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थलो मे इसके प्रतिकूल वर्तन, विनय-भ्रंश, प्रतिषिद्धकरण, कदर्थना आदि ये भिन्न-भिन्न अर्थ भी मिलते है।

१—(क) अ० चू० पृ० २०६ : भूतीभावो ऋद्धी भूतीए अभावो अभूतिभावो।

(ख) हा० टी० प० २४३ : 'अभूतिभाव' इति अभूतेर्भावोऽभूतिभावः, असद्भाव इत्यर्थः।

२—जि० चू० पृ० ३०२ : अभूतिभावो नाम अभूतिभावोत्ति वा विनासभावोत्ति वा एगट्ठा।

३—अ० चि० ४.२१९ : स्वनन् वातात् स कीचकः।

४—अ० चू० पृ० २०६ : कीयो वंसो, सो य फलेण सुक्कति। उक्तं च—

पक्षाः पिपीलिकानां, फलानि तलकदलीवंशपत्राणाम्।
ऐश्वर्यं चाऽविदुषामुत्पद्यन्ते विनाशाय॥

५—अ० चू० पृ० २०७।

६—हा० टी० प० २४३ : क्षयोपशमवैचित्र्यात्तन्त्रयुक्त्यालोचनाऽसमर्थः सत्प्रज्ञाविकल इति।

श्लोक ३ :

१०. (पगईए मंदा वि [क]) :

इसका अनुवाद 'वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मंद (प्रज्ञा-विकल)' किया है। इसका आधार टीका है[1]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अनुवाद—स्वभाव से मंद होते हुए भी उपशान्त होते हैं—यह होता है[2]।

११. श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न (सुयबुद्धोववेया [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ बहुश्रुत पण्डित किया है[3], परन्तु टीकाकार ने भविष्य में होने वाली बहुश्रुतता के आधार पर वर्तमान में उसको अल्पश्रुत' माना है[4]।

श्लोक ४ :

१२. संसार में (जाइपहं [घ]) :

इसका अर्थ है 'संसार'। अगस्त्य चूर्णि ने जातिवध को मूल और जातिपथ को वैकल्पिक पाठ माना है। जातिवध का अर्थ—जन्म-मरण और जातिपथ का अर्थ जातिमार्ग (संसार) है[5]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ द्वीन्द्रिय आदि की योनियों में भ्रमण करना किया है[6]।

श्लोक ५ :

१३. श्लोक ५ :

इस श्लोक के तृतीय और चतुर्थ चरण और दसवें श्लोक के प्रथम और द्वितीय चरण तुल्य हैं। टीकाकार अबोधि को कम मानते हैं और 'कुर्वन्ति' क्रिया का अध्याहार करते हैं[7]। इनमें प्रयुक्त 'आसायण' शब्द में कोई विभक्ति नहीं है। उसे तीन विभक्तियों में परिवर्तित किया जा सकता है : **'आशातनया, आशातनातः, सत्यामाशातनायाम्,'**—आसातना से, आसातना के द्वारा, आसातना में। जिनदास चूर्णि (पृ० ३०६) में 'आसायणा दोसावहा' ऐसा किया है।

१४. आशीविष सर्प (आसीविसो [क]) :

इसका अर्थ सर्प है। अगस्त्य चूर्णि में 'आसी' का अर्थ सर्प की दाढा किया है। जिसकी दाढा में विष हो, उसे 'आसीविस' कहा जाता है[8]।

१—हा० टी० प० २४४ : 'पगइ'त्ति सूत्र, 'प्रकृत्या' स्वभावेन कर्मवैचित्र्यात् 'मन्दा अपि' सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्ति 'एके' केचन वयोवृद्धा अपि।

२—अ० चू० पृ० २०७ · स्वभावो पगती, तीए मंदा वि णातिवायासा उवसता।

३—अ० चू० पृ० २०७ : सुतबुद्धोववेता ······बहुसुता पडिता।

४—हा० टी० प० २४४ : भाविनीं वृत्तिमाश्रित्याल्पश्रुता इति।

५—अ० चू० पृ० २०७ जाती—समुप्पत्ती, वधो—मरणं, जम्ममरणाणि, अथवा जातिपथं—जातिमग्गं संसारं।

६—(क) जि० चू० पृ० ३०४ बेइंदियाईसु जातीसु।

(ख) हा० टी० प० २४४ : 'जातीपन्थानं' द्वीन्द्रियादिजातिमार्गम्।

७—(क) दश० ६.१.५ हा० टी० प० २४४ : कुर्वन्ति अबोधिम्।

(ख) वही, ६.१.१० हा० टी० पृ० २४५ : पूर्वार्धं पूर्ववत्।

८—अ० चू० पृ० २०८ : सप्पस्स दाढा आसी, आसीए विसं जस्स सो आसीविसो।

श्लोक ११ :

१५· आहिताग्नि ब्राह्मण (आहियग्गी [क]) :

वह ब्राह्मण जो अग्नि की पूजा करता है और उसको सतत ज्वलित रखता है, आहिताग्नि कहलाता है[१]।

१६· आहुति (आहुई [ख]) :

देवता के उद्देश्य से मन्त्र पढकर अग्नि में घी आदि डालना[२]।

१७. मन्त्रपदों से (मंतपय [ख]) :

मन्त्रपद का अर्थ 'अग्नये स्वाहा' आदि मन्त्र वाक्य है[३]। जिनदास चूर्णि में 'पद' का अर्थ 'क्षीर' किया है[४]।

श्लोक १२ :

१८ धर्म-पदों को (धम्मपयाइ [क]) :

वे धार्मिक वाक्य जिनका फल धर्म का बोध हो[५]।

१९ शिर को झुकाकर, हाथों को जोडकर (सिरसा पंजलीओ [ग])

ये शब्द 'पञ्चाङ्ग-वदन' विधि की ओर संकेत करते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। दोनों घुटनों को भूमि पर टिका कर, दोनों हाथों को भूमि पर रखकर, उस पर अपना मस्तक रखे —यह पंचाङ्ग (दो पैर, दो हाथ और एक शिर)-वदन की विधि है[६]। टीकाकार ने इस विधि का कोई उल्लेख नहीं किया है। बंगाल में नमस्कार की यह विधि आज भी प्रचलित है।

श्लोक १३ :

२०. लज्जा (लज्जा [क]) :

इसका अर्थ है—अकरणीय का भय या अपवाद का भय[७]।

१—(क) अ० चू० : आहिअग्गी —एस वेदवादो जधा हव्ववाहो सव्वदेवाण हव्व पावेति अतो ते तं परमादरेण हुणति।

(ख) जि० चू० पृ० ३०६ : आहियअग्गी-बभणो।

(ग) हा० टी० प० २४५ : 'आहिताग्नि:' कृतावसथादिर्ब्राह्मण:।

२—(क) जि० चू० पृ० ३०६ : णाणाविहेणघयाविणा मतं उच्चारेऊण आहुय वलयइ।

(ख) हा० टी० प० २४५ : आहुतयो —घृतप्रक्षेपादिलक्षणा।

३ - हा० टी० प० २४५ : मन्त्रपदानि —अग्नये स्वाहेत्येवमादीनि।

४—जि० चू० पृ० ३०६ : पद खीर भण्णइ।

५—हा० टी० प० २४५ : 'धर्मपदानि' धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि।

६—(क) अ० चू० : सिरसा पंजलितोसि—एतेण पंचंगितस्स वदण गहणं ·····जाणुदुवलपाणितलचतुरं सिर च भूमिए णिमेऊण।

(ख) जि० चू० पृ० ३०६ . पचंगीएण वंदणिएण, तंजहा—जाणुदुग भूमीए निवडिएण हत्थदुएण भूमीए अवट्ठंभिय ततो सिरं पंचमं निवाएज्जा।

७—(क) अ० चू० : अकरणिज्जसंकणं लज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० ३०६ : लज्जा अववायभयं।

(ग) हा० टी० प० २४६ : 'लज्जा' अपवादभयरूपा।

श्लोक १४ :

२१. भारत (भारहं ख) :

यहाँ भारत का अर्थ जम्बूद्वीप का दक्षिण भाग है[१]।

श्लोक १५ :

२२. कार्तिक-पूर्णिमा (कोमुइ क) :

दशवैकालिक की व्याख्या में इसका अर्थ कार्तिक पूर्णिमा किया है[२]। मोनियर विलियम्स ने इसके कार्तिक पूर्णिमा और आश्विन पूर्णिमा—ये दोनों अर्थ किए हैं[३]। 'से सोहइ विमले अब्भमुक्के' इसके साथ आश्विन पूर्णिमा की कल्पना अधिक संगत है ; शरद् पूर्णिमा की विमलता अधिक प्रचलित है।

श्लोक १६ :

२३. समाधियोग और बुद्धि के (समाहिजोगे बुद्धिए ख) :

चूर्णिद्वय में इनका अर्थ षष्ठी विभक्ति और टीका मे तृतीया विभक्ति के द्वारा किया है तथा सप्तमी के द्वारा भी हो सकता है। चूर्णि के अनुसार समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि का सम्बन्ध 'महाकर' शब्द से होता है[४]—जैसे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर। टीका के अनुसार इनका सम्बन्ध 'महेसी' शब्द से है—जैसे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के द्वारा महान् की एषणा करने वाले[५]।

१—अ० चू० : सब्व दक्खिणं जंबूदीववरिस।

२ (क) अ० चू० : कुमुदाणि उप्पलविसेसो, कुमुदेहिं प्रहसणभूतेहिं कीडणं जिए सा कोमुदी, कुमुदाणि वा सन्ति सा पुण कत्तिय पुण्णिमा।

(ख) जि० चू० पृ० ३०७।

(ग) हा० टी० प० २४६।

३—A Sanskrit-English Dictionary, P. 316.

४—(क) अ० चू० : महागरा समाधिजोगाणां सुतस्स बारसंगस्स सीलस्स य बुद्धिए य अथवा सुतसीलबुद्धीए समाधिजोगाणं महागरा।

(ख) जि० चू० पृ० ३०८।

५—हा० टी० प० २४६ : 'महैषिणो' मोक्षैषिणः, कथं महैषिण इत्याह—'समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिभिः' समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः श्रुतेन—द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन—परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(बीओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(द्वितीय उद्देशक)

विणयसमाही (बीओ उद्देसो) : विनय-समाधि (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा । साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥	मूलात् स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य, स्कन्धात्पश्चात्समुपयन्ति शाखाः । शाखाभ्य प्रशाखा विरोहन्ति पत्राणि, ततस्तस्य पुष्प च फलं च रसश्च ॥१॥	१ वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ आती हैं, और शाखाओं मे से प्रशाखाए निकलती हैं । उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है ।
२—एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो । जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छई ॥	एवं धर्मस्य विनयो, मूलं परमस्तस्य मोक्षः । येन कीर्ति श्रुत श्लाघ्य, निःशेषं चाभिगच्छति ॥२॥	२—इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' (आचार) और उसका परम (अंतिम) फल[1] है मोक्ष । विनय के द्वारा मुनि कीर्ति, श्लाघनीय[2] श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वो को[3] प्राप्त होता है ।
३—जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे । वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा ॥	यश्च चण्डो मृगस्तब्ध , दुर्वादी निकृतिः शठः । उह्यते सोऽविनीतात्मा, काष्ठ स्रोतोगत यथा ॥३॥	३—जो चण्ड, मृग[4]—अज्ञ, स्तब्ध, अप्रिय-वादी, मायावी और शठ[5] है, वह अविनीतात्मा संसार-स्रोत मे वैसे ही प्रवाहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत मे पडा हुआ काठ ।
४—विणयं पि जो उवाएणं चोइओ कुप्पई नरो । दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं दंडेण पडिसेहए ॥	विनयमपि यः उपायेन, चोदित कुप्यति नरः । दिव्यां स श्रियमायान्तीं, दण्डेन प्रतिषेधति ॥४॥	४—विनय में उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डडे से रोकता है ।
५—तहेव अविणीयप्पा उववज्झा हया गया । दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥	तथैवाऽविनीतात्मान., उपवाह्या हया गजाः । दृश्यन्ते दु खमेधमाना:, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥५॥	५—जो औपवाह्य[6] घोड़े और हाथी अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दु:ख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।
६—तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया गया । दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥	तथैव सुविनीतात्मान:, उपवाह्या हया गजाः । दृश्यन्ते सुखमेधमाना:, ऋद्धिं प्राप्ता महायशस ॥६॥	६—जो औपवाह्य घोडे और हाथी सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।

७—तहेव अविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता
छाया विगलितेंदिया ॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
'छाताः' विकलितेन्द्रियाः ॥७॥

८—दंडसत्थपरिजुण्णा
असब्भवयणेहि य ।
कलुणा विवन्नछंदा
खुप्पिवासाए परिगया ॥

दण्डशस्त्राभ्यां परिजीर्णाः,
असभ्यवचनैश्च ।
करुणा विपन्नच्छन्दसः,
क्षुत्पिपासया परिगताः ॥८॥

७-८—लोक में जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, क्षत-विक्षत या दुर्बल[७], इन्द्रिय-विकल[८], दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

९—तहेव सुविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः ।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥९॥

९—लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१०—तहेव अविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
आभियोग्यमुपस्थिताः ॥१०॥

१०—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

११—तहेव सुविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥११॥

११—जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१२—जे आयरियउवज्झायाणं
सुस्सूसावयणंकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति
जलसित्ता इव पायवा ॥

ये आचार्योपाध्याययोः,
शुश्रूषावचनकराः ।
तेषां शिक्षाः प्रवर्धन्ते,
जलसिक्ता इव पादपाः ॥१२॥

१२—जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की[९] शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं, उनकी शिक्षा[१०] उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष।

१३—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
सिप्पा णेउणियाणि य ।
गिहिणो उवभोगट्ठा
इहलोगस्स कारणा ॥

आत्मार्थं परार्थं वा,
शिल्पानि नैपुण्यानि च ।
गृहिण उपभोगार्थं,
इहलोकस्य कारणाय ॥१३॥

१३-१४—जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प[११] और नैपुण्य[१२] सीखते हैं—

१४—[13]जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं ।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया ॥

येन बन्धं वधं घोरं,
परितापं च दारुणम् ।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति,
युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः ॥१४॥

वे पुरुष ललितेन्द्रिय[14] होते हुए भी शिक्षा-काल में (शिक्षक के द्वारा) घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं।

१५—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥

तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति,
तस्य शिल्पस्य कारणाय ।
सत्कुर्वन्ति नमस्यन्ति,
तुष्टा निर्देशवर्तिनः ॥१५॥

१५ फिर भी वे उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते हैं[15], नमस्कार करते हैं[16] और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

१६—किं पुण जे सुयग्गाही
अणंतहियकामए ।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए ॥

किं पुनर्यः श्रुतग्राही,
अनन्तहितकामकः ।
आचार्या यद् वदेयुः भिक्षु.,
तस्मात्तन्नातिवर्तयेत् ॥१६॥

१६—जो आगम-ज्ञान को पाने में तत्पर और अनन्तहित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लंघन न करे।

१७—नीयं सेज्जं गइं ठाणं
नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वंदेज्जा
नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥

नीचां शय्यां गतिं स्थानं,
नीचं चासनानि च ।
नीचं च पादौ वन्देत,
नीचं कुर्याच्चाञ्जलिम् ॥१७॥

१७—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे[17], नीची गति करे[18], नीचे खड़ा रहे[19], नीचा आसन करे[20], नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे[21] और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े[22]।

१८—[23]संघट्टइत्ता काएणं
तहा उवहिणामवि[24] ।
खमेह अवराहं मे
वएज्ज न पुणो त्ति य ॥

संघट्य कायेन,
तथोपधिनापि ।
क्षमस्वापराधं मे,
वदेन्नपुनरिति च ॥१८॥

१८—अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से[25] आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

१९—[26]दुग्गओ वा पओएणं
चोइओ वहई रहं ।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं[27]
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥

दुर्गवो वा प्रतोदेन,
चोदितो वहति रथम् ।
एवं दुर्बुद्धिः कृत्यानां,
उक्त उक्तः प्रकरोति ॥१९॥

१९—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है।

* (आलवंते लवंते वा
न निसेज्जाए पडिस्सुणे ।
मोत्तूणं आसणं धीरो
सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥)

(आलपन्तं लपन्तं वा,
न निषद्यायां प्रतिशृणुयात् ।
मुक्त्वा आसनं धीरः,
शुश्रूषया प्रतिशृणुयात् ॥)

(बुद्धिमान् शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, किन्तु आसन को छोड़कर शुश्रूषा के साथ उनके वचन को स्वीकार करे ।)

२०—कालं छंदोवयारं च
पडिलेहित्ताण हेउहिं ।
तेण तेण उवाएण
तं तं संपडिवायए ॥

कालं छन्दोपचारं च,
प्रतिलेख्य हेतुभि. ।
तेन तेनोपायेन,
तत्तत्सम्प्रतिपादयेत् ॥२०॥

२०—काल[२८], अभिप्राय[२९] और आराधन-विधि[३०] को हेतुओं से जानकर, उस-उस (तदनुकूल) उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे ।

२१—विवत्ती अविणीयस्स
संपत्ती विणियस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं
सिक्खं से अभिगच्छइ ॥

विपत्तिरविनीतस्य,
सम्पत्ति (सम्प्राप्ति) विनीतस्य च ।
यस्यैतद् द्विधा ज्ञात,
शिक्षां सोऽभिगच्छति ॥२१॥

२१—'अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्प्राप्ति[३१] होती है'—ये दोनों जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है ।

२२—जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे
पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे ।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए
असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥

यश्चापि चण्डो मतिऋद्धिगौरव,
पिशुनो नर साहसो हीनप्रेषणः ।
अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविद,
असंविभागी न खलु तस्य मोक्षः ॥२२॥

२२—जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है[३२], जो पिशुन है, जो साहसिक है[३३], जो गुरु की आज्ञा का यथा-समय पालन नहीं करता[३४], जो अदृष्ट-(अज्ञात) धर्मा है, जो विनय में निपुण नहीं है, जो असंविभागी है[३५] उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता ।

२३—निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं
सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया ।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥

निर्देशवर्तिनः पुनर्ये गुरूणां,
श्रुतार्थधर्माणो विनये कोविदाः ।
तीर्त्वा ते ओघमिमं दुरुत्तर,
क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमांगता ॥२३॥

२३—और जो गुरु के आज्ञाकारी है, जो गीतार्थ हैं[३६], जो विनय में कोविद हैं, वे इस दुस्तर संसार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं ।

त्ति बेमि ।

इति ब्रवीमि ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

* यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती है, कुछ में नहीं ।

टिप्पण : अध्ययन ९ (द्वितीय उद्देशक)

श्लोक २ :

१. परम (अंतिम) फल (परमो [क]) :

उपमा में मूल और परम की मध्यवर्ती अपरम अवस्थाओं का उल्लेख है, परन्तु उपमेय में केवल मूल और परम का उल्लेख है। देवलोक-गमन, सुकुल में उत्पन्न होना, क्षीराश्रव, मध्वाश्रव आदि यौगिक विभूतियों को प्राप्त होना विनय के अपरम तत्त्व हैं[१]।

२. श्लाघनीय (सिग्घं [ग]) :

प्राकृत में श्लाघ्य के 'सग्घं' और 'सिग्घं' दोनों रूप बनते हैं। यह श्रुत का विशेषण है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'सग्घं' का प्रयोग किया है[२]। सूत्रकृताङ्ग (१.३.२.१६) में भी 'सग्घ' रूप मिलता है—'भुंज भोगे इमे सग्घे'।

३. समस्त इष्ट तत्त्वों को (निस्सेसं [घ]) :

जिनदास चूर्णि में इसका प्रयोग 'कीर्ति, श्लाघनीय श्रुत इत्यादि समस्त' इस अर्थ में किया है[३]। टीका के अनुसार यह श्रुत का विशेषण है[४]। अगस्त्य चूर्णि में इसे 'णिसेयसं' (निश्रेयस्—मोक्ष) शब्द माना है[५]।

श्लोक ३ :

४. मृग (मिए [क]) :

मृग-पशु की तरह जो अज्ञानी होता है, उसे मृग कहा गया है[६]। मृग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। आरण्यक-पशु[७] या सामान्य पशुओं[८] को भी मृग कहा जाता है।

५ मायावी और शठ (नियडी सढे [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ 'माया के द्वारा शठ' किया है[९]। टीका मे इन दोनो को पृथक् मानकर 'नियडी' का अर्थ मायावी और 'सढे' का अर्थ संयम-योग में उदासीन किया है[१०]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३०९ : अपरमाणि उ खंधो साहा पत्तपुप्फफलाणिति, एवं धम्मस्स परमो मोक्खो, अपरमाणि उ देवलोग-सुकुलपच्चायायांदीणि खीरासवमधुरासवादीणिति।

(ख) हा० टी० प० २४७।

२—अ० चू० : सुतं च सग्घं सायणीयमधिगच्छति।

३—जि० चू० पृ० ३०९ : एवमादि, निस्सेसं अभिगच्छतीति।

४—हा० टी० प० २४७ : 'श्रुतम्' अङ्गप्रविष्टादि 'श्लाघ्यं' प्रशंसास्पदभूतं 'निःशेषं' 'सम्पूर्णम्' 'अधिगच्छति'।

५— अ० चू० : णिसेयसं च मोक्खमधिगच्छति।

६—अ० चू० : मंदबुद्धी मितो।

७—सूत्र० १.१.२.६ वृ० : मृगा आरण्याः पशवः।

८—An animal in general (A Sanskrit English Dictionary). Page 689.

९—अ० चू० : नियडी मातातीए सढो नियडी सढो।

१०—हा० टी० प० २४७ : 'निकृतिमान्' मायोपेतः 'शठः' संयमयोगेष्वनादृतः।

श्लोक ५ :

६. औपवाह्य (उववज्झा ख) :

इसके संस्कृत रूप 'उपवाह्य' और 'औपवाह्य'— दोनों किए जा सकते हैं[1]। इन दोनों का अर्थ—सवारी के काम में आने वाले अथवा राजा की सवारी में काम आने वाले वाहन—हाथी, रथ आदि है[2]। कारण या अकारण—सब अवस्थाओं में जिसे वाहन बनाया जाए, उसे औपवाह्य कहा जाता है[3]।

श्लोक ७ :

७. क्षत-विक्षत या दुर्बल (छाया घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने मूल पाठ 'छाया विगलिदिया' और वैकल्पिक रूप से 'छाया विगलितिंदिया' माना है। उनके अनुसार मूल पाठ का अर्थ है—शोभा-रहित या अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ-इन्द्रिय वाले काने, अंध, बधिर आदि और वैकल्पिक पाठ का अर्थ है - भूख से अभिभूत विगलित-इन्द्रिय वाले[4]। वैकल्पिक पाठ के 'छाया' का संस्कृत रूप 'छाता:' होता है और इसका अर्थ है—दुर्बल[5]। यह बुभुक्षित और कृश के अर्थ में देशी शब्द भी है[6]।

जिनदास महत्तर और टीकाकार ने यह पाठ 'छायाविगलितेंदिया' माना है और छाया का अर्थ 'चाबुक के प्रहार से व्रणयुक्त शरीर वाला' किया है[7]।

८. इन्द्रिय-विकल (विगलितेंदिया घ) :

जिनकी इन्द्रियाँ विकल हों—अपूर्ण या नष्ट हों उन्हें 'विकलितेंदिय' (या विकलेन्द्रिय) कहा जाता है। काना, अन्धा, बहरा अथवा जिनकी नाक, हाथ, पैर आदि कटे हुए हों, वे विकलितेन्द्रिय होते हैं[8]।

१—पाइयसद्दमहण्णव परिशिष्ट पृ० १२२४।

२—(क) हा० टी० प० २४८ : उपवाह्यानां—राजादिवल्लभानामेते कर्मकरा इत्योपवाह्या.।
(ख) अ० चि० ४.२८८ : राजवाह्यास्तूपवाह्याः ।
(ग) बृ० हि० पृ० २००,२२८ ।

३—(क) अ० चू० : उप्पेध सव्वावत्थं वाहणीया उवज्झा ।
(ख) जि० चू० पृ० ३१० : कारणमकारणे वा उवेज्ज वाहिज्जंति उववज्झा ।

४—अ० चू० : छाया शोभा सा पुण सरूवता सविसयगहणसामत्थं वा। छायातो विगलेंदियाणि जेसिं ते छायाविगलेंदिया, काणंध-बधिरादयो भट्ठछायेंदिया, अहवा छाया छुहाभिभूता विगलितिंदिया विभंगितिंदिया ।

५—अ० चि० ३.११३······दुर्बल: कृश ।
क्षाम: क्षीणस्तनुश्छातस्तलिमाऽमांसपेलवा: ।।

६—(क) दे० ना० वर्ग ३.३३ पृ० १०४ : "छाओ बुभुक्षितः कृशश्च"।
(ख) ओ० नि० भा० २६०।

७—(क) हा० टी० प० २४८ : 'छाता:' कसघातव्रणाङ्कितशरीरा:।
(ख) जि० चू० पृ० ३११।

८—(क) अ० चू० : विगलिंदिया काणंधबधिरादयो।
(ख) हा० टी० प० २४८ : 'विगलितेन्द्रिया' अपनीतनासिकादीन्द्रिया: पारदारिकादय:।
(ग) जि० चू० पृ० ३११ : विगलितेंदिया णाम हत्थपायाईहिं छिन्ना, उद्धियणयणा य विगलिंदिया भन्नंति।

श्लोक १२ :

९. आचार्य और उपाध्याय को (आयरियउवज्झायाणं[क]) :

जैन परम्परा में आचार्य और उपाध्याय का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परम्परा एक प्रवाह है। उसका स्रोत सूत्र है। उसकी आत्मा है अर्थ। अर्थ और सूत्र के अधिकारी आचार्य और उपाध्याय होते हैं। अर्थ की वाचना आचार्य देते हैं। उपाध्याय का कार्य है सूत्र की वाचना देना[1]। स्मृतिकार की भाषा में भी आचार्य और उपाध्याय की सही व्याख्या मिलती है[2]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरु-पद पर स्थापित होता है, वह आचार्य कहलाता है[3]। जिनदास चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ को जानने वाला आचार्य होता है और सूत्र तथा अर्थ का जानकार हो किन्तु गुरु-पद पर स्थापित न हो वह भी आचार्य कहलाता है[4]।

टीका के अनुसार सूत्रार्थ दाता अथवा गुरु—स्थानीय ज्येष्ठ-आर्य 'आचार्य' कहलाता है[5]। इन सबका तात्पर्य यही है कि गुरुपद पर स्थापित या अस्थापित जो सूत्र और अर्थ प्रदाता है, वह आचार्य है। इससे गुरु और आचार्य के तात्पर्यार्थ में जो अन्तर है, वह स्पष्ट होता है।

१०. शिक्षा (सिक्खा[ग]) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) ग्रहण-शिक्षा और (२) आसेवन-शिक्षा[6]। कर्तव्य का ज्ञान ग्रहण-शिक्षा और उसका आचरण का अभ्यास आसेवन-शिक्षा कहलाता है।

श्लोक १३ :

११. शिल्प (सिप्पा[ख]) :

कारीगरी। स्वर्णकार, लोहकार, कुम्भकार आदि का कर्म[7]।

१—ओ० नि० वृ० . 'अत्थं वाएइ आयरिओ'
'सुत्तं वाएइ उवज्झाओ'
वृत्ति—सूत्रप्रदा उपाध्यायाः, अर्थप्रदा आचार्या।

२—वृ० गौ० स्मृ० अ० १४.५९,६० : "इहोपनयन वेदान् योऽध्यापयति नित्यशः।
सुकल्पान् इतिहासांश्च स उपाध्याय उच्यते॥
साङ्गान् वेदांश्च योऽध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च।
विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते।"

३—अ० चू० ९.२.१ : सुत्तत्थतदुभयादि गुणसम्पण्णो अप्पणो गुरूहिं गुरुपदे त्थावितो आयरिओ।

४—जि० चू० पृ० ३१८ : आयरिओ सुत्तत्थतदुभयविऊ, जो वा अन्नोऽवि सुत्तत्थतदुभयगुणेहिं अ उववेओ गुरुपए न ठाविओ सोऽवि आयरिओ चेव।

५—हा० टी० प० २५२ : 'आचार्य' सूत्रार्थप्रदं तत्स्थानीयं वाऽन्यं ज्येष्ठार्यम्।

६—(क) जि० चू० पृ० ३१३ : सिक्खा दुविहा—गहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य।
(ख) हा० टी० प० २४९ : 'शिक्षा' ग्रहणासेवनालक्षणा।

७—(क) अ० चू० : सिप्पाणि सुवण्णकारादीणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३१३ : सिप्पाणि—कुंभारलोहारादीणि।
(ग) हा० टी० प० २४९ : 'शिल्पानि' कुम्भकारक्रियादीनि।

१२. नैपुण्य (णेउणियाणि [ख]) :

कौशल, बाण-विद्या[1], लौकिक कला[2], चित्र-कला[3] ।

श्लोक १४ :

१३ श्लोक . १३.१४.

इनमें बन्ध, वध और परिताप के द्वारा अध्यापन की उस स्थिति पर प्रकाश पडता है जिस युग में अध्यापक अपने विद्यार्थियों को सांकल से बाँधते थे, चाबुक आदि से पीटते थे और कठोर वाणी से भर्त्सना देते थे[4] ।

१४. ललितेन्द्रिय (ललिइंदिया [घ]) :

जिनकी इन्द्रियाँ ललित—क्रीडाशील या रमणीय होती हैं, वे ललितेन्द्रिय कहलाते हैं[5] । अगस्त्य चूर्णि में वैकल्पिक व्याख्या 'लालितेंदिय' शब्द की हुई है । जिनकी इन्द्रियाँ सुख के द्वारा लालित होती हैं, उन्हे लालितेन्द्रिय कहा जाता है । 'लकार' को ह्रस्वादेश करने पर ललितेन्द्रिय हो जाता है[6] ।

श्लोक १५ :

१५. सत्कार करते हैं (सक्कारंति [ग]) :

किसी को भोजन, वस्त्र आदि से सम्मानित करना 'सत्कार' कहलाता है[7] ।

१६. नमस्कार करते हैं (नमंसंति [ग]) :

गुरुजन के आने पर उठना, हाथ जोड़ना आदि 'नमस्कार' कहलाता है[8] । अगस्त्यचूर्णि में इसके स्थान पर 'समाणेति' पाठ है और उसका अर्थ स्तुति-वचन, चरण-स्पर्श आदि किया है ।[9]

१—अ० चू० : ईसत्थसिक्खाकोसल्लादीणि ।

२— जि० चू० पृ० ३१३ : णेउणिआणि लोइयाओ कलाओ ।

३— हा० टी० प० २४६ : 'नैपुण्यानि च' आलेख्यादिकलालक्षणानि ।

४—(क) अ० चू : बंधं णिगलादीहिं वध लकुलादीहिं घोरं पालत्थिपाव भयाणहुं परितावणं अंगभंगादीहिं ।

(ख) जि० चू० पृ० ३१३, ३१४ : तत्थ निगलादीहिं बंधं पावेंति, वेत्तासयादिहिं य वधं घोरं पावेंति, तओ तेहिं बंधेहिं वधेहि य परितावो सुदारुणो भवइत्ति, अहवा परितावो निट्ठुरचोयणतज्जियस्स जो मणि संतावो सो परितावो भण्णइ ।

(ग) हा० टी० प० २४६ : 'बन्धं' निगडादिभिः 'वधं' कषादिभिः 'घोर' रौद्र परितापं च 'दारुणम्' एतज्जनितमनिष्टं निर्भर्त्स-नादिवचनजनितम् ।

५—(क) अ० चू० : ललिताणि लाडणातिसुक्खसमुचिताणि इंदियाणि जेसिं रायपुत्तप्पभीतीण ते ललितेंदिया ।

(ख) जि० चू० पृ० ३१४ : ललिइंदिया नाम आगब्भाओ ललियाणि इंदियाणि जेसिं ते ललिइंदिया, अच्चन्तसुहितत्ति वुत्तं भवति, ते य रायपुत्तादि ।

(ग) हा० टी० प० २४६ : 'ललितेन्द्रिया' गर्भेश्वरा राजपुत्रादयः ।

६—अ० चू० : लालितेंदिया वा सुहेहिं, लकारस्स ह्रस्सादेसो ।

७—(क) अ० चू० : भोयणच्छादण गंधमल्लेण य सक्कारंति ।

(ख) जि० चू० पृ० ३१४ : सक्कारो भोजणाच्छादणादिसंपादणओ भवइ ।

(ग) हा० टी० प० २५० : 'सत्कारयन्ति' वस्त्रादिना ।

८—(क) जि० चू० पृ० ३१४ : नमंसणा अब्भुट्ठाणंजलिपग्गहादी ।

(ख) हा० टी० प० २५० : 'नमस्यन्ति' अञ्जलिप्रग्रहादिना ।

९—अ० चू० : थुतिवयणपादोवक्करिसं समयक्करणादीहिं व समाणेंति ।

श्लोक १७ :

१७. नीची शय्या करे (नीयं सेज्जं [क]) :

आचार्य की शय्या (बिछौने) से अपनी शय्या नीचे स्थान में करना[1]।

१८. नीची गति करे (गइं [क]) :

नीची गति अर्थात् शिष्य आचार्य से आगे न चले, पीछे चले। अति समीप और अति दूर न चले। अति समीप चलने से रजें उड़ती हैं और अति दूर चलना प्रत्यनीकता तथा आशातना है[2]।

१९. नीचे खड़ा रहे (ठाणं [ख]) :

मुनि आचार्य खड़े हों उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे[3]। आचार्य के आगे और पार्श्व भाग में खड़ा न हो[4]।

२०. नीचा आसन करे (नीयं च आसणाणि [ख]) :

आचार्य के आसन—पीठ, फलक आदि से अपना आसन नीचा करना। हरिभद्र ने इसका अर्थ—लघुतर आसन किया है[5]।

२१. नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे (नीयं च पाए वंदेज्जा [ग]) :

आचार्य आसन पर आसीन हो और शिष्य निम्न भूभाग में खड़ा हो फिर भी सीधा खड़ा-खड़ा वन्दना न करे, कुछ झुककर करे। शिर से चरण स्पर्श कर सके उतना झुककर वन्दना करे[6]।

२२. नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े (नीयं कुज्जा य अंजलिं [घ]) :

वन्दना के लिए सीधा खड़ा-खड़ा हाथ न जोड़े, किन्तु कुछ झुककर वैसा करे[7]।

१—(क) अ० चू० : सेज्जा संथारओ तं णीयतरमायरियसंथारगाओ कुज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० ३१४ : सेज्जा संथारओ भण्णइ, सो आयरियस्संतियाओ णीयतरो कायव्वो।

(ग) हा० टी० प० २५० : नीचां 'शय्यां' संस्तारकलक्षणामाचार्यशय्यायाः सकाशात्कुर्यादिति योगः।

२—(क) अ० चू० : ण आयरियाण पुरतो गच्छेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० ३१४-३१५ : 'णीया' नाम आयरियाण पिट्ठओ गंतव्वं, तमवि णो अच्चासण्णं, ण वा अतिदूरत्थेण गंतव्वं, अच्चासण्णे ताव पादरेणुणा आयरियसंघट्टणदोसो भवइ, अइदूरे पडिणीय आसायणादि बहवे दोसा भवंतीति, अतो णच्चासण्णे णातिदूरे य चंकमितव्वं।

(ग) हा० टी० प० २५० : नीचां गतिमाचार्यगतेः, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुतं यायादित्यर्थः।

३—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा जंमिवि ठाणे आयरिया उवचिट्ठा अच्छंति तत्थं जं णीययरं ठाणं तंमि ठाइयव्वं।

(ख) हा० टी० प० २५० : नीचं स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमितिभावः।

४—अ० चू० : ठाणमवि जं ण पच्छतो ण पुरतो, एवमादि अविरुद्धं तं णीतं तहा कुज्जा।

५—(क) अ० चू० : एवं पीढफलगादिमवि आसणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा णीययरे पीढगाइंमि आसणे आयरिअणुण्णाए उवविसेज्जा।

(ग) हा० टी० प० २५० : 'नीचानि' लघुतराणि कदाचित्कारणजाते 'आसनानि' पीठकानि तस्मिन्नुपविष्टे तदनुज्ञातः सेवेत।

६—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : जइ आयरिओ आसणे इतरो भूमिए णीययरे भूमिप्पदेसे वंदमाणो उवट्ठिओ ण वंदेज्जा, किन्तु जाव सिरेण कुसे पादे ताव णीयं वंदेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २५० : 'नीचं' च सम्यगवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, नावज्ञया।

७—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा अंजलिमवि कुव्वमाणेण णो पहाणंमि उवट्ठितेण अंजली कायव्वा, किंतु ईसिअवणएण कायव्वा।

(ख) हा० टी० प० २५० : 'नीचं' नम्रकायं 'कुर्यात्' संपादयेच्चाञ्जलिं, न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति।

श्लोक १८ :

२३. श्लोक १८ :

आसातना होने पर क्षमा-याचना करने की विधि इस प्रकार है—शिर झुकाकर गुरु से कहे—मेरा अपराध हुआ है उसके लिए मैं "मिच्छामि दुक्कडं" का प्रायश्चित्त लेता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। मैं फिर से इसे नहीं दोहराऊँगा[1]।

२४. (उवाहिणामवि [ख]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

२५. किसी दूसरे प्रकार से (अवि [ख]) :

यह अपि शब्द का भावानुवाद है। यहाँ 'अपि' संभावना के अर्थ में है[2]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गमन से उत्पन्न वायु से' और जिनदास चूर्णि के अनुसार 'काया और उपधि—दोनों से एक साथ स्पर्श हो जाने पर' यह 'अपि' का संभावित अर्थ है[3]।

श्लोक १९ :

२६. पाठान्तर :

उन्नीसवें श्लोक के पश्चात् कुछ आदर्शों में 'आलवंते·········' यह श्लोक है। किन्तु चूर्णि और टीका में यह व्याख्यात नहीं है। उत्तराध्ययन (१.२१) में यह श्लोक है। प्रकरण की दृष्टि से व्याख्या के रूप में उद्धृत होते-होते मूल में प्रक्षिप्त हो गया—ऐसा संभव है।

२७. (किच्चाणं [ग]) :

'कृत्य' का अर्थ वन्दनीय या पूजनीय है। आचार्य, उपाध्याय आदि वन्दनीय गुरुजन 'कृत्य' कहलाते हैं[4]। चूर्णियों में और वैकल्पिक रूप में टीका में 'किच्चाइं' पाठ माना है। उसका अर्थ है—आचार्य, उपाध्याय के द्वारा अभिलषित कार्य[5]।

श्लोक २० :

२८. काल (कालं [क]) :

'काल को जानकर'—इसका आशय यह है कि शिष्य आचार्य के लिए शरद् आदि ऋतुओं के अनुरूप भोजन, शयन, आसन आदि

१—जि० चू० पृ० ३१५ : सो य उवाओ इमो—सिरं भूमीए निवाडेऊण एवं वएज्जा, जहा—अवराहो मे, मिच्छामि दुक्कडं, खंतव्वमेयं, णाहं भुज्जो करिहामित्ति।

२—अ० चू० : अविसद्देण अच्चासण्णं गमण वायुणा वा।

३—जि० चू० पृ० ३१५ : अविसद्दो संभावणे वट्टइ, किं संभावयति ?, जहा दोहिंवि कायोवहीहिं जया जमगसमगं घट्टिओ भवइ।

४—हा० टी० प० २५० : 'कृत्यानाम्' आचार्यादीनाम्।

५— (क) अ० चू० : आयरियकरणीयाणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३१५ : जाणि आयरियउवज्झायाईणं किच्चाइं अवस्सइयाणि ताणि।
(ग) हा० टी० प० २५० : 'कृत्यानि वा' तदभिलषितकार्याणि।

जाए[1]। जैसे—शरद्-ऋतु में वात-पित्त हरने वाले द्रव्य, हेमन्त में उष्ण, वसन्त में श्लेष्म हरने वाले, ग्रीष्म में शीतकर और वर्षा में उष्ण आदि-आदि[2]।

२६. अभिप्राय (छंदं [क]) :

शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य की इच्छा को जाने। देश-काल के आधार पर इच्छाएँ भी विभिन्न होती हैं, जैसे—किसी को छाछ आदि, किसी को सत्तू आदि इष्ट होते हैं। क्षेत्र के आधार पर भी रुचि की भिन्नता होती है, जैसे—कोंकण देश वालों को पेया प्रिय होती है, उत्तरापथ वासियों को सत्तू आदि-आदि[3]।

३०. आराधन-विधि (उवयारं [क]) :

अगस्त्य चूर्णि में 'उवयार' का अर्थ आज्ञा[4], जिनदास चूर्णि में 'विधि'[5] और टीका में 'आराधना का प्रकार'[6] किया है।

श्लोक २१ :

३१. सम्पत्ति (संपत्ती [ख]) :

इसका अर्थ है सम्पदा[7]। अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ कार्य-लाभ[8] और टीका में सम्प्राप्ति किया है[9]।

श्लोक २२ :

३२. जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है (मइइड्ढिगारवे [क]) :

जो मति द्वारा ऋद्धि का गर्व वहन करता है[10], जो आतीयता का गर्व करता है[11] और जो ऋद्धि-गौरव में अभिनिविष्ट है[12]—ये क्रमशः अगस्त्य चूर्णि, जिनदास चूर्णि और टीका के अर्थ हैं। मति अर्थात् श्रुत और ऋद्धि-ऐश्वर्य का गर्व—यह इसका सरल अर्थ प्रतीत होता है।

१—अ० चू० : जधा कालं जोग्गं भोजणसयणासणादि उवणेयं।

२—जि० चू० पृ० : ३१५-१६ : तत्थ सरदि वातपित्तहराणि दव्वाणि आहरति, हेमन्ते उण्हाणि, वसंते हिंमहराणि (सिंभहराणि), गिम्हे सीयकरणानि, वासासु उण्हवण्णाणि (उण्णवण), एवं ताव उडु उडु पप्प गुरूण अट्ठाए दव्वाणि आहरिज्जा, तहा उडुं पप्प सेज्जमवि आणेज्जा।

३—जि० चू० पृ० ३१६ : छन्दो णाम इच्छा भण्णइ, कयाइ अणुदुप्पयोगमवि दव्वं इच्छति, भणियं च—'अण्णस्स पिया छासी मासी अण्णस्स आसुरी किसरा। अण्णस्स धारिया पूरिया य बहुडोहलो लोगो॥' तहा कोई सत्तुए इच्छइ कोति एगरसं इच्छइ, देसं वा पप्प अण्णस्स पियं जहा कुडुक्काणं कोंकणयाण पेज्जा, उत्तरापहगाणं सत्तुया, एवमादि।

४—अ० चू० : उवयारो आणा कोति आणत्तिआए तूसति।

५—जि० चू० पृ० ३१६ : 'उवयार' णाम विधी भण्णइ।

६—हा० टी० प० २५० : 'उपचारम्' आराधनाप्रकारम्।

७—जि० चू० पृ० ३१६ : अट्ठे हिं विणीयस्स संपदा भवति।

८—अ० चू० : संपत्ती कज्जलाभो।

९—हा० टी० प० २५१ : संप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादिगुणानाम्।

१०—अ० चू० : जो मतीए इड्ढिगारवमुव्वहति।

११—जि० चू० पृ० ३१६ : आतीए इड्ढिगारवं वहति, जहाऽहं उत्तमजातीओ कहमेतस्स पासे अभिगहामित्ति अति इड्ढी गारवो भण्णति।

१२—हा० टी० प० २५१ : 'ऋद्धिगौरवमतिः' ऋद्धिगौरवे अभिनिविष्टः।

३३. जो साहसिक है (साहस ^ख^) :

इसका अर्थ है—बिना सोचे-समझे आवेश में कार्य करने वाला अथवा 'अकृत्य कार्य करने में तत्पर'[1]। इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ है। प्राचीन साहित्य में इसका प्रयोग चोर, हिंसक, शोषक आदि के अर्थ में होता था, परन्तु कालान्तर में इसका अर्थ शक्तिशाली, संकल्पवान् हुआ है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में 'साहस' को हिंसा का पर्यायवाची शब्द माना है[2]। कोशकार होरेस हेमेन विल्सन ने 'साहस' के हिंसा और शक्ति दोनों अर्थ किए हैं परन्तु 'साहसिक' का हिंसापरक अर्थ ही किया है[3]।

३४. जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता (हीणपेसणे ^ख^) :

'पेसण' का अर्थ है नियोजन, कार्य में प्रवृत्त करना, आज्ञा आदि। जो शिष्य अपने गुरु की आज्ञा को हीन—लघु करता है—यथासमय उसका पालन नहीं करता, वह हीन-प्रेषण कहलाता है[4]।

३५. जो असंविभागी है (असंविभागी ^ग^) :

जो अपने लाए हुए आहार आदि का दूसरे समानधर्मी साधुओं को संविभाग नहीं देता, वह 'असंविभागी' कहलाता है[5]। 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'—यह धर्म-सूत्र आधुनिक समाजवाद की भावना का प्रतिनिधि-वाक्य है।

श्लोक २३ :

३६. जो गीतार्थ है (सुयत्थधम्मा ^ख^) :

अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ गीतार्थ किया है और इसकी व्युत्पत्ति 'जिसने अर्थ और धर्म सुना है' की है[6]। जिनदास चूर्णि में भी इसकी दो व्युत्पत्तियाँ (जिसने अर्थ-धर्म सुना है अथवा धर्म का अर्थ सुना है) मिलती हैं[7]। टीकाकार दूसरे व्युत्पत्तिक अर्थ को मानते हैं[8]।

१—(क) अ० चू० : रभसेण किच्चकारी साधसो।
  (ख) जि० चू० पृ० ३१७ . साहसो णाम जं किंचि तारिसं त असकिओ चेव पडिसेवतित्तिकाऊण साहस्सिओ भण्णइ।
  (ग) हा० टी० प० २५१ : 'साहसिकः' अकृत्यकरणपरः।

२—प्रश्न० संवरद्वार १।

३—A Sanskrit-English Dictionary. Page 986. : साहस oppression, cruelty, violence, strength. साहसिक violent, Brutal, etc.

४—(क) अ० चू० : पेसण जधाकालं मुपपादयितुमसत्तो हीणपेसणो।
  (ख) जि० चू० पृ० ३१७ : जो य पेसणं तं आयरिएहिं दिन्नं तं देसकालादीहिं हीणं करेतित्ति हीणपेसणे।
  (ग) हा० टी० प० २५१ : 'हीनप्रेषणः' हीनगुर्वाज्ञापरः।

५—(क) अ० चू० : असंविभयणसीलो—असविभागी।
  (ख) जि० चू० पृ० ३१७ : संविभायणासीलो सविभागी, ण संविभागी असंविभागी।
  (ग) हा० टी० प० २५१ : यत्र क्वचन लाभे न संविभागवान्।
  (घ) उत्त० १७.११ बृ० वृ० : संविभजति—गुर्वादिभ्य उचितमशनादि यच्छतीत्येवंशीलः संविभागी न तथा य आत्म-पोषकत्वेनैव सोऽसंविभागी।

६—अ० चू० : सुतो अत्थो धम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा।

७—जि०चू०पृ०३१७ : सुयोऽत्थधम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा, गीयत्थित्ति वुत्तं भवइ,अहवा सुओ अत्थो धम्मस्स जेहिं ते सुतत्थधम्मा।

८—हा० टी० प० २५१ : 'श्रुतार्थधर्मा' इति प्राकृतशैल्या श्रुतधर्मार्था गीतार्था इत्यर्थः।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(तइओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(तृतीय उद्देशक)

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (तइओ उद्देसो) : विनय-समाधि (तृतीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा । आलोइयं इंगियमेव नच्चा जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो ॥	आचार्यमग्निमिवाहिताग्निः, शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात् । आलोकितं इङ्गितमेव ज्ञात्वा, यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥१॥	१—जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इङ्गित को जानकर उनके अभिप्राय की आराधना करता है[१], वह पूज्य है ।
२—आयारमट्ठा विणयं पउंजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं । जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥	आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत, शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम् । यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन्, गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥२॥	२—जो आचार के लिए[२] विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उनके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है ।
३—राइणिएसु विणयं पउंजे डहरा वि य जे परियायजेट्ठा । नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥	रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत, डहरा अपि ये पर्यायज्येष्ठाः । नीचत्वे वर्तते सत्यवादी, अवपातवान् वाक्यकरः स पूज्यः ॥३॥	३—जो अल्पवयस्क[३] होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ[४] हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति विनय का प्रयोग करता है, नम्र व्यवहार करता है, सत्यवादी है, गुरु के समीप रहने वाला है[५] और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है ।
४—अन्नायउंछं चरई विसुद्धं जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं । अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥	अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं, यापनार्थं समुदानं च नित्यम् । अलब्ध्वा न परिदेवयेत्, लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥४॥	४—जो जीवन-यापन के लिए[६] विशुद्ध सामुदायिक अज्ञात-उञ्छ (भिक्षा) की[७] सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर खिन्न नहीं होता[८], मिलने पर श्लाघा नहीं करता[९], वह पूज्य है ।
५—संथारसेज्जासणभत्तपाणे अप्पिच्छया अइलाभे वि संते । जो एवमप्पाणभितोसएज्जा संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥	संस्तार-शय्यासन-भक्तपाने, अल्पेच्छताऽतिलाभेपि सति । य एवमात्मानमभितोषयेत्, सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥५॥	५—संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जो अल्पेच्छ होता है[१०], अपने-आप को सन्तुष्ट रखता है और जो संतोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है ।

६—[1]सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥

शक्याः सोढुमाशया कण्टकाः,
अयोमया उत्सहमानेन नरेण ।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्य ॥६॥

६—पुरुष धन आदि की आशा से लोह-मय कांटो को सहन कर सकता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों में पैठते हुए[12] वचनरूपी कांटों को सहन करता है, वह पूज्य है ।

७—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

मुहूर्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः,
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धरा ।
वाग्-दुरुक्तानि दुरुद्धराणि,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥७॥

७—लोहमय कांटे अल्पकाल तक दुःख-दायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं[13] किन्तु दुर्वचनरूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले[14] और महा-भयानक होते हैं ।

८—समावयंता वयणाभिघाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति ।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥

समापतन्तो वचनाभिघाताः,
कर्णंगता दौर्मनस्यं जनयन्ति ।
धर्मेति कृत्वा परमाग्रशूरः,
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्य ॥८॥

८—सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुंचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं । जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी[15], जितेन्द्रिय पुरुष 'यह मेरा धर्म है'— ऐसा मानकर उन्हें सहन करता है, वह पूज्य है ।

९—अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥

अवर्णवादञ्च पराङ्मुखस्य,
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकाञ्च भाषाम् ।
अवधारिणीमप्रियकारिणीञ्च,
भाषां न भाषेत सदा स पूज्य. ॥९॥

९—जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता, जो सामने विरोधी[16] वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारिणी[17] और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता, वह पूज्य है ।

१०—अलोलुए अक्कुहए[18] अमाई
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती ।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥

अलोलुपः अकुहकः अमायी,
अपिशुनश्चापि अदीनवृत्तिः ।
नो भावयेत् नो अपि च भावितात्मा
अकौतूहलश्च सदा स पूज्यः ॥१०॥

१०—जो रसलोलुप नहीं होता[19], इन्द्र-जाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता, माया नहीं करता, चुगली नहीं करता[20] दीनभाव से याचना नहीं करता[21], दूसरों से आत्मश्लाघा नहीं करवाता[22], स्वयं भी आत्म-श्लाघा नहीं करता और जो कुतूहल नहीं करता[23], वह पूज्य है ।

११—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः,
गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधून् ।
विज्ञाय आत्मकमात्मकेन,
यो राग-द्वेषयोः समः स पूज्यः ॥११॥

११—गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु । इसलिए साधु-गुणों—साधुता को ग्रहण कर और असाधु-गुणों—असाधुता को छोड़[24] । आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है, वह पूज्य है ।

१२—तहेव डहरं व महल्लगं वा
इत्थीपुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

तथैव डहरं च 'महान्तं' वा,
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा ।
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत्,
स्तम्भञ्च क्रोधञ्च त्यजेत् स पूज्यः ॥१२॥

१२—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता[२५], जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है ।

१३—[२६]जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए[२७] स पुज्जो ॥

ये मानिताः सततं मानयन्ति,
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तान्मानयेन्मानार्हांस्तपस्विनः,
जितेन्द्रियान् सत्यरतान् स पूज्यः ॥१३॥

१३—अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किए जाने पर जो शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता उसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है ।

१४—तेसिं गुरूणं गुणसागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पचरए तिगुत्तो
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥

तेषां गुरूणां गुणसागराणां,
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरेन्मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः,
अपगत-चतुष्कषायः स पूज्यः ॥१४॥

१४—जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओं के सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों में रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त[२८] तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है[२९], वह पूज्य है ।

१५—गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिय रयमलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गय ॥

गुरुमिह सततं प्रतिचर्य मुनिः,
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः ।
धूत्वा रजोमलं पुरा कृतं,
भास्वरामतुलां गतिं गतः ॥१५॥

१५—इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर[३०], जिनमत-निपुण[३१] (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल[३२] मुनि पहले किए हुए रज और मल को[३३] कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है ।

त्ति बेमि ।

इति ब्रवीमि ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पण : अध्ययन ६ (तृतीय उद्देशक)

श्लोक १ :

१. अभिप्राय की आराधना करता है (छन्दमाराहयइ [घ]) :

छन्द का अर्थ है इच्छा। विनीत शिष्य केवल गुरु का कहा हुआ काम ही नहीं, किन्तु उनके निरीक्षण और संकेत को समझ कर स्वयं समयोचित कार्य कर लेता है। शीतकाल की ऋतु है। आचार्य ने वस्त्र की ओर देखा। शिष्य समझ गया। आचार्य को ठंड लग रही है, वस्त्र की आवश्यकता है। उसने वस्त्र लिया और आचार्य को दे दिया यह 'आलोकित' को समझ कर छन्द की आराधना का प्रकार है[1]।

आचार्य के कफ का प्रकोप हो रहा है। औषध की अपेक्षा है। उन्होंने कुछ भी नहीं कहा फिर भी शिष्य उनका इङ्गित—मन का भाव बताने वाली अङ्ग-चेष्टा देखकर सूंठ ला देता है। यह इङ्गित के द्वारा छन्द की आराधना का प्रकार है। आलोकित और इङ्गित से जैसे अभिप्राय जाना जाता है, वैसे और-और साधनों से भी जाना जा सकता है। कहा भी है :

इङ्गिताकारितैश्चैव, क्रियाभिर्भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ अ० चू०॥

इङ्गित, आकार, क्रिया, भाषण, नेत्र और मुँह का विकार - इनके द्वारा आन्तरिक चेष्टाएँ जानी जाती हैं।

श्लोक २ :

२. आचार के लिए (आयारमट्ठा [क]) :

ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्र और वीर्य—ये पांच आचार कहलाते हैं। विनय इन्हीं की प्राप्ति के लिए करना चाहिए[3]। यह परमार्थ का उपदेश है। ऐहिक या पारलौकिक पूजा, प्रतिष्ठा आदि के लिए विनय करना परमार्थ नहीं है।

श्लोक ३ :

३. अल्पवयस्क (डहरा [ख]) :

'डहर' और 'दहर' एक ही शब्द है। वेदान्तसूत्र मे 'दहर' का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ ब्रह्म है (इसके लिए १.३.१४ से १.३.२३ तक का प्रकरण द्रष्टव्य है)। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी 'दहर' शब्द प्रयुक्त हुआ है[4]।

शाङ्करभाष्य के अनुसार उसका अर्थ अल्प—लघु है[5]।

१—हा० टी० प० २५२ : यथा शीते पतति प्रावरणावलोकने तदानयने।

२—हा० टी प० २५२ : इङ्गिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्याद्यानयनेन।

३—जि० चू० पृ० ३१८ : पंचविधस्स णाणाइआयारस्स अट्ठाए साधु आयरियस्स विणयं पउंजेज्जा।

४—छान्दो० ८.१.१ : यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

५—वही, शा० भाष्य : दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकसदृशं वेश्मेव वेश्म द्वारपालादिमत्त्वात्। 'दहर' अर्थात् छोटा-सा कमल-सदृश गृह है—द्वारपालादि से युक्त होने के कारण जो गृह के समान गृह है।

४. दीक्षा-काल में ज्येष्ठ (परीयायजेट्ठा [ख])

ज्येष्ठ या स्थविर तीन प्रकार के होते हैं।

(१) जाति-स्थविर जो जन्म से ज्येष्ठ होते हैं।

(२) श्रुत-स्थविर—जो ज्ञान से ज्येष्ठ होते है।

(३) पर्याय-स्थविर—जो दीक्षा-काल से ज्येष्ठ होते है।

यहाँ इन तीनो में से 'पर्याय ज्येष्ठ' की विशेषता बतलाई गई है[1]। जो जाति और श्रुत से ज्येष्ठ न होने पर भी पर्याय से ज्येष्ठ हो उसके प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए।

५. जो गुरु के समीप रहने वाला है (ओवायवं [घ])

आगम-टीकाओं में 'ओवाय' के सस्कृत रूप 'उपपात और अवपात' दोनों दिये जाते हैं। उपपात का अर्थ है—समीप व आज्ञा और अवपात का अर्थ है -वन्दन, सेवा आदि। अगस्त्य चूर्णि में 'ओवायव' का अर्थ 'आचार्य का आज्ञाकारी' किया है[2]। जिनदास चूर्णि में भी 'ओवाय' का अर्थ आज्ञा—निर्देश किया है[3]। टीकाकार ने 'ओवायव' के दो अर्थ किए हैं—वन्दनशील या समीपवर्ती[4]। 'अव' को 'ओ' होता है परन्तु 'उप' को प्राकृत व्याकरण मे 'ओ' नही होता। आर्ष प्रयोगो मे 'उप' को 'ओ' किया जाता है, जैसे—उपवास= ओवास (पउमचरिय ४२, ८९)।

वन्दनशील के अतिरिक्त 'समीपवर्ती या आज्ञाकारी' अर्थ 'उपपात' शब्द को ध्यान में रखकर ही किए गए हैं। 'ओवायवं' से अगला शब्द 'वक्ककर' है। इसका अर्थ है—गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला[5]। इसलिए 'ओवायवं' का अर्थ 'वन्दनशील' और 'समीपवर्ती' अधिक उपयुक्त है। जिनदास महत्तर ने 'आज्ञायुक्त वचन करने वाला'—इस प्रकार सयुक्त अर्थ किया है। परन्तु 'ओवायवं' शब्द स्वतन्त्र है, इसलिए उसका अर्थ स्वतंत्र किया जाए यह अधिक सगत है।

श्लोक ४ :

६ जीवन-यापन के लिए (जवणट्ठया [ख])

संयम-भार को वहन करने वाले शरीर को धारण करने के लिए—यह अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार की व्याख्या है[6]। जिनदास महत्तर इसी व्याख्या को कुछ और स्पष्ट करते हैं, जैसे—यात्रा के लिए गाड़ी के पहिए मे तेल चुपड़ा जाता है वैसे ही संयम-यात्रा को निभाने के लिए भोजन करना चाहिए[7]।

१—अ० चू० : जातिसुतथेरभूमीहितो परियागथेरेभूमिमुक्करिस्संतेहि विसेसिज्जति डहरावि जो वयसा परियायजेट्ठा पव्वज्जा-महल्ला।

२—अ० चू० : आयरिअ आणाकारी ओवायवं।

३—जि० चू० पृ० ३११ : उवातो नाम आणानिद्देसो।

४—हा० टी० प० २५३ : 'अवपातवान्' वन्दनशीलो निकटवर्ती वा।

५—हा० टी० प० २५३ : 'वाक्यकरो' गुरुनिर्देशकरणशील:।

६—(क) अ० चू० : संजमभारव्वह सरीरधारणत्थं जवणट्ठता।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'यापनार्थं' संयमभरोद्वाहिशरीरपालनाय नान्यथा।

७—जि० चू० पृ० ३११ : 'जवणट्ठया' नाम जहा सगडस्स अब्भंगो जत्तत्थं कीरइ, तहा संजमजत्तानिव्वहणत्थं आहारेयव्वंति।

७. अपना परिचय न देते हुए ···उञ्छ (भिक्षा) की (अन्नायउञ्छं [क])

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अज्ञात और 'उञ्छ' की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न स्थलों में इस प्रकार की हैं—जो मित्र, स्वजन आदि न हो वह 'अज्ञात' कहलाता है[१]। पूर्व-संस्तव— मातृ-पितृपक्षीय परिचय और पश्चात्-संस्तव—ससुरपक्षीय परिचय के बिना प्राप्त भैक्ष्य 'अज्ञात-उंछ' कहलाता है[२]। उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषो से रहित जो भैक्ष्य उपलब्ध हो वह 'अज्ञात-उञ्छ' है[३]। 'अज्ञात-उञ्छ' की ८.२३ में भी यही व्याख्या है[४]। उक्त व्याख्याओं के आधार पर 'अज्ञात-उञ्छ' के फलितार्थ दो हैं :

१. अज्ञात घर का उञ्छ।
२. अज्ञात—अपना परिचय दिए बिना प्राप्त उञ्छ।

जिनदास महत्तर के अनुसार भी 'अज्ञात उञ्छ' के ये दोनों अर्थ फलित होते हैं[५]। टीकाकार 'अज्ञात' को केवल मुनि का ही विशेषण मानते हैं[६]। शीलाङ्काचार्य ने 'अज्ञातपिण्ड' का अर्थ अन्त-प्रान्त और पूर्वापर अपरिचितों का पिण्ड किया है[७]। उत्तराध्ययन की वृत्ति में 'अज्ञातैषी' का अर्थ अपने विशेष गुणो का परिचय न देकर गवेषणा करने वाला किया है[८]। प्रश्नव्याकरण में शुद्ध उञ्छ की गवेषणा के प्रकरण मे 'अज्ञात' शब्द भिक्षु के विशेषण रूप मे प्रयुक्त हुआ है[९]। यहाँ 'अज्ञात' मुनि का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि मुनि अपना परिचय दिए बिना शुद्ध उञ्छ की गवेषणा करे।

अनुसन्धान के लिए देखिए दशवैकालिक ८.२३।

८. खिन्न······होता (परिदेवएज्जा ग) :

भिक्षा न मिलने पर खिन्न होना— "मैं मन्दभाग्य हूँ, यह देश अच्छा नही है"—इस प्रकार विलाप या खेद करना[१०]।

९. श्लाघा·········करता (विकत्थयई [ख]) :

भिक्षा मिलने पर "मैं भाग्यशाली हूँ या यह देश अच्छा है"—इस प्रकार श्लाघा करना[११]।

१—अ० चू० ६.३.४. : अन्नात जं न मित्तसयणादि।

२—अ० चू० चूलिका २.५. : तमेव समुदाणं पुव्वपच्छा संथवादीहिं ण उप्पादियमिति······अन्नातउंछ।

३—अ० चू० १०.१६ : 'उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं अन्नायमन्नातेण समुप्पावित ···अन्नातउंछं।

४—अ० चू० : भावुंछ 'अन्नातमेषणा सुद्धमुपपातियं'।

५—जि० चू० पृ० ३१६ : भावुंछं अन्नायेण, तमन्नायं उंछं चरति।

६—हा० टी० प० २५३ : 'अज्ञातोञ्छं' परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्धरितादि।

७—सू० १.७.२७ वृ० : अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञातपिण्ड. अन्तप्रान्त इत्यर्थः, अज्ञातेभ्यो वा पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा भिक्षोऽज्ञातपिण्डः

८—उत्त० १५. बृ० वृ० : अज्ञातः तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगत एषयते ग्रासादिक गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी।

९—प्रश्न० संवरद्वार १.४ : चउत्थं आहारएसणाए सुद्धं उञ्छं गवेसियव्वं अण्णाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे········।

१०—(क) जि० चू० पृ० ३१६ : परिदेवइज्जा, जहाऽहं मंदभागो न लभामि, अहो पंतो एस जणो, एवमादि।
(ख) हा० टी० प० २५३ : परिदेवयेत् खेदं यायात्, यथा—मन्दभाग्योऽहमशोभनो वाऽयं देश इति।

११—(क) जि० चू० पृ० ३१६ : तत्थ विकत्था णाम सलाघा भण्णति, जह अहो एसो सुण्णहियणामो जणो, अहय वा अहं लभामि, को अन्नो एवं लभिहिति।
(ख) हा० टी० प० २५३ : 'विकत्थते' श्लाघां करोति—सपुण्योऽहं शोभनो वाऽयं देश इति।

श्लोक ५ :

१०. जो अल्पेच्छ होता है (अप्पिच्छया ^ग^) :

अल्पेच्छता का तात्पर्य है—प्राप्त होने वाले पदार्थों में मूर्च्छा न करना और आवश्यकता से अधिक न लेना[१]।

श्लोक ६ :

११. श्लोक ६ :

पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटो को सहन कर लेता है —यहाँ सूत्रकार ने एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है। चूर्णिकार उसे इस भाषा में प्रस्तुत करते हैं—

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के कांटो पर बैठ या सो जाते थे। उधर आने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते "उठो, उठो, जो तुम चाहोगे वही तुम्हें देंगे।" इतना कहने पर वे उठ खड़े होते[२]।

१२. कानों में पैठते हुए (कण्णसरे ^घ^) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—'कानों में प्रवेश करने वाले अथवा कानों के लिए बाण जैसे तीखे,[३]। जिनदास और टीकाकार ने इसका केवल एक (प्रथम) अर्थ ही किया है।[४]

श्लोक ७ :

१३. सहजतया निकाले जा सकते हैं (सुउद्धरा ^ख^) :

जो बिना कष्ट के निकाला जा सके और मरहमपट्टी कर व्रण को ठीक किया जा सके—यह 'सुउद्धर' का तात्पर्यार्थ है[५]।

१४. वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले (वेराणुबंधीणि ^घ^) :

अनुबन्ध का अर्थ सातत्य, निरन्तरता है। कटु वाणी से वैर आगे से आगे बढ़ता जाता है, इसलिए उसे वैरानुबन्धी कहा है[६]।

१—जि० चू० पृ० ३२० : अप्पिच्छया णाम णो मुच्छं करेइ, ण वा अतिरित्ताणि गिण्हइ।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'अल्पेच्छता' अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहणं वा।

२—(क) अ० चू० : सक्कणीया सक्का सहितुं मरिसेतुं, लाभो आसा, ताए कंटगा बब्बूलपभीतीण जधा केति तित्थाविसेसेसु लोभेण अवस्स मम्हे धम्ममुद्दिस्स कोति उत्थावेहितित्ति कंटकसयणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३२० : जहा कोयि लोहमयकंटया पत्थरेऊण सयमेव उच्छुहमाणा ण पराभियोगेण तेसिं लोहकंटगाणं उवरिं णुविज्जति, ते य अण्णे पासित्ता किवापरिगयचेतसा अहो वराणा एते अत्थहेउं इमं आवइं पत्तत्ति भणति जहा उट्ठेह उट्ठेहत्ति, जं मग्गह तं भे पयच्छामो, तओ तिक्खकंटाणिभिन्नसरीरा उट्ठेंति।

३—अ० चू० : कण्णं सरंति पावंति कण्णसरा अथवा सरीरस्स दुस्सहयायुधं सरो तहा ते कण्णस्स एवं कण्णसरा।

४—(क) जि० चू० पृ ३१९ : कण्णं सरंतीति कण्णसरा, कण्णं पविसंतीति वुत्तं भवइ।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'कर्णसरान्' कर्णगामिनः।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२० : सुहं च उद्धरिज्जंति, वणपरिकम्मणादीहि य उवाएहिं पण्णविज्जंति।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'सूद्धराः' सुखेनैवोद्ध्रियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते।

६—हा० टी० प० २५३ : तथाऽवधारणद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति।

श्लोक ८ :

१५. जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी (परमग्गसूरे [ग]) :

स्थानाङ्ग सूत्र (४.३६७) में चार प्रकार के शूर बतलाए हैं :

(१) युद्ध-शूर, (२) तपस्या-शूर, (३) दान-शूर और (४) धर्म-शूर ।

इन सब में धर्म-शूर (धार्मिक श्रद्धा से कष्टों को सहन करने वाला) परमाग्र-शूर होता है[1]। अग्र का एक अर्थ लक्ष्य भी है[2]। परम (मोक्ष) के लक्ष्य में जो शूर होता है, वह 'परमाग्र-शूर' कहलाता है ।

श्लोक ९ :

१६. विरोधी (पडिणीयं [ख]) :

प्रत्यनीक अर्थात् विरोधी, अपमानजनक या आपत्तिजनक[3]।

१७. निश्चयकारिणी (ओहारिणिं [ग]) :

देखिए ७.५४ का टिप्पण, संख्या ८३ ।

श्लोक १० :

१८. जो रसलोलुप नहीं होता (अलोलुए [क]) :

इसका अर्थ है—'आहार आदि में लुब्ध न होने वाला', स्वदेह में अप्रतिबद्ध रहने वाला[4]।

१९. (अक्कुहए) :

देखिए १०.२० का 'कुहक' शब्द का टिप्पण ।

२०. चुगली नहीं करता (अपिसुणे [ख]) :

अपिशुन अर्थात् मिले हुए मनो को न फाड़ने वाला, चुगली न करने वाला[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२१ : परमग्गसूरे णाम जुद्धसूर-तवसूर दाणसूरादीणं सूराणं सो धम्मसद्धाए सहमाणो परमग्गसूरो भवइ, सव्वसूराणं पाहण्णयाए उवरि वट्टइत्ति वुत्तं भवति ।

(ख) हा० टी० प० २५४ : 'परमाग्रशूरो' दानसंग्रामशूरापेक्षया प्रधानः शूरः ।

२—A Sanskrit-English Dictionary, P. 6.

३—हा० टी० प० २५४ : 'प्रत्यनीकाम्' अपकारिणीं चौरस्त्वमित्यादिरूपाम् ।

४—(क) अ० चू० आहारदेहादिसु अपडिबद्धे अलोलुए ।

(ख) जि० चू० पृ० ३२१ : उक्कोसेसु आहारादिसु अलुद्धो भवइ, अहवा जो अप्पणोवि देहे अप्पडिबद्धो सो अलोलुओ भण्णइ ।

(ग) हा० टी० प० २५४ : 'अलोलुप' आहारादिष्वलुब्धः ।

५—(क) अ० चू० : अभेदकारए ।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२ : 'अपिसुणे' णाम णो मणोपीतिभेदकारए ।

(ग) हा० टी० प० २५४ : 'अपिशुनश्चापि' नो भेदकर्ता ।

२१. दीन-भाव से याचना नहीं करता (अदीणवित्ती [क]) :

अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट की अप्राप्ति होने पर जो दीन न हो, जो दीन-भाव से याचना न करे, उसे अदीन-वृत्ति कहा जाता है[१]।

२२. दूसरों से आत्म-श्लाघा······करवाता (भावए [ग]) :

'भाव' धातु का अर्थ है—वासित करना, चिंतन करना, पर्यालोचन करना। 'नो भावए नो वि य भावियप्पा'—इसका शाब्दिक अर्थ है—न दूसरों को अकुशल भावना से भावित—वासित करे और न स्वयं अकुशल भावना से भावित हो। 'जो दूसरो से आत्म-श्लाघा नहीं करवाता और जो स्वयं भी आत्म-श्लाघा नही करता'—यह इसका उदाहरणात्मक भावानुवाद है[२]।

'भावितात्मा' मुनि का एक विशेषण भी है। जिसकी आत्मा धर्म-भावना से भावित होती है, उसे 'भावितात्मा' कहा जाता है। यहाँ भावित का अभिप्राय दूसरा है। प्रकारान्तर से इस चरण का अर्थ –'नो भापयेद् नो अपि च भापितात्मा—न दूसरो को डराए और न स्वयं दूसरों से डरे—भी किया जा सकता है।

२३. जो कुतूहल नहीं करता (अकोउहल्ले [घ]) :

कुतूहल का अर्थ है—उत्सुकता, किसी वस्तु या व्यक्ति को देखने की उत्कट इच्छा, क्रीड़ा। जो उत्सुकता नही रखता, क्रीडा नहीं करता अथवा नट-नर्तक आदि के करतबो को देखने की इच्छा नही करता, वह अकुतूहल होता है[३]।

श्लोक ११ :

२४. असाधुओं के गुण को छोड़ (मुंचऽसाहू [ख]) :

यहाँ 'असाहू' शब्द के अकार का लोप किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ समान की दीर्घता न कर कितंत (कृतान्त—कृतो अन्तो येन) की तरह 'पररूप' ही रखा है[४]। जिनदास महत्तर ने ग्रन्थ-लाघव के लिए आकार का लोप किया है—ऐसा माना है[५]। टीकाकार ने 'प्राकृतशैली' के अनुसार 'अकार' का लोप माना है[६]। यहाँ गुण शब्द का अध्याहार होता है—मुंचासाधुगुणा अर्थात् असाधु के गुणों को छोड़[७]।

१—(क) अ० चू० : आहारोवहिमादीसु विरूवेसु लब्भमाणेसु अलब्भमाणेसु वा दीणं वत्तए अदीणवित्ती।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२ : अदीणवित्ती नाम आहारोवहिमाइसु अलब्भमाणेसु णो दीणभावं गच्छइ, तेसु लद्धेसुवि अदीण-भावो भवइत्ति।

२—(क) अ० चू० : परत्थेण अव्वतिरित्थियेण वा मए लोगमज्झे गुणमत्तं भावेज्जासित्ति एवं णो भावये देतेसिं वा कंचि अप्पणा णो भावये। अहमेवं गुण इति अप्पणा वि ण भावितप्पा।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२।

(ग) हा० टी० प० २५४।

३—(क) जि० चू० पृ० ३२२ : तहा नडनट्टगादिसु णो कुउहलं करेइ।

(ख) हा० टी० प० २५४ : अकौतुकश्च सदा नटनर्तकादिषु।

४—अ० चू० : एत्थ ण समाणदीर्घता किंतु पररूवं कतांतवदिति।

५—जि० चू० पृ० ३२२ : गंथलाघवत्थमकारलोवं काऊण एवं पढिज्जइ जहा मुंचऽसाधुत्ति।

६—हा० टी० प० २५४।

७—अ० चू० : मुंचासाधुगुणा इति वयणसेसो।

श्लोक १२ :

२५. जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता (हीलए ··· खिसएज्जा) :

अगस्त्यसिंह ने किसी को उसके दुश्चारित्र की स्मृति कराकर लज्जित करने को हीलना और बार-बार लज्जित करने को खिंसना माना है।[1] जिनदास महत्तर ने—दूसरों को लज्जित करने के लिए अनीश्वर को ईश्वर और दुष्ट को भद्र कहना हीलना है—ऐसा माना है और खिंसना के पांच कारण माने हैं :

(१) जाति से, यथा—तुम मलेच्छ जाति के हो।

(२) कुल से, यथा—तुम जार से उत्पन्न हुए हो।

(३) कर्म से, यथा—तुम मूर्खों से सेवनीय हो।

(४) शिल्प से, यथा—तुम चमार हो।

(५) व्याधि से, यथा—तुम कोढ़ी हो।

आगे चलकर हीलना और खिंसना का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

दुर्वचन से किसी व्यक्ति को एक बार लज्जित करना 'हीलना' और बार-बार लज्जित करना 'खिंसना' है, अथवा अतिपरुष वचन कहना 'हीलना' और सुनिष्ठुर वचन कहना 'खिंसना' है[2]।

टीकाकार ने ईर्ष्या या अन-ईर्ष्या से एक बार किसी को 'दुष्ट' कहना हीलना और बार-बार कहना खिंसना—ऐसा माना है[3]।

श्लोक १३ :

२६. श्लोक १३ :

अगस्त्य चूर्णि[4] और टीका[5] के अनुसार 'तवस्सी, जिइंदिए, सच्चरए'—ये 'पूज्य' के विशेषण है और जिनदास चूर्णि के अनुसार ये आचार्य के विशेषण हैं[6]। अनुवाद मे हमने इस अभिमत का अनुसरण किया है। पूर्वोक्त अभिमत के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—'जो तपस्वी है, जो जितेन्द्रिय है, जो सत्यरत है।'

२७. (सच्चरए [घ]) :

सत्यरत अर्थात् सयम में रत। देखिए, पूर्वोक्त टिप्पणी के पादटिप्पण स० ४-६।

१—अ० चू० : पुव्वदुच्चरितादि लज्जावणं हीलणं, अंबाडणाति किलेसण खिंसण।

२—जि० चू० पृ० ३२३ : तत्थ हीलणा जहा सूया अणीसरं ईसरं भण्णइ, दुट्टं भद्दगं भण्णइ, एवमादि खिंसीव असूयाइ जाइतो कुलओ कम्माओ सिप्पयो वाहिओ वा भवति, जाइओ जहा तुमं मच्छजाइजातो, कुलओ जहा तुम जारजाओ, कम्मओ जहा तुम अबोहि भयणीज्जो, सिप्पयो जहा तुम सो चम्मगारो, वाहिओ जहा तुमं सो कोढिओ, अहवा हीलणाखिंसणाण इमो विसेसो—हीलणा नाम एक्कवार दुव्वयणियस्स भवइ, पुणो २ खिंसणा भवइ।

३—हा० टी० प० २५४ : सूयया असूयया वा सकृद्दुष्टाभिधानं हीलनं, तदेवासकृत्खिंसनमिति।

४—अ० चू० : बारस विहे तपोरते तवस्सी, जितसोतादिदिए, सच्चं संजमो तंमि जधा भणित विणयसच्चकरणे वा रते सच्चरते स एव पुज्जो भवति।

५—हा० टी० प० २५५ : तपस्वी सन् जितेन्द्रियः सत्यरत इति, प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणत्रयम्।

६—जि० चू० पृ० ३२३ : तवस्सी णाम तवो बारसविधो सो जेसिं आयरियाणं अत्थि ते तवस्सिणो, जिइंदिए णाम जियाणि सोयाईणि इंदियाणि जेहिं ते जिइंदिया, सच्चं पुण भणियं जहा वक्कसुद्धीए तंमि रओ सच्चरओ।

श्लोक १४ :

२८. मन, वाणी और शरीर से गुप्त (तिगुत्तो ग) :

गुप्ति का अर्थ है—गोपन, संवरण । वे तीन हैं :
(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति[1] ।
इन तीनों से जो युक्त होता है, वह 'त्रिगुप्त' कहलाता है[2] ।

२९. क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है (चउक्कसायावगए घ) :

कषाय की जानकारी के लिए देखिए ८.३६-३९ ।

श्लोक १५ :

३०. सेवा कर (पडियरिय क) :

प्रतिचर्य अर्थात् विधिपूर्वक आराधना करके, शुश्रूषा करके, भक्ति करके[3] ।

३१. जिनमत-निपुण (जिणमयनिउणे ख)

जो आगम में प्रवीण होता है, उसे 'जिनमत-निपुण' कहा जाता है[4] ।

३२. अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल (अभिगमकुसले ख) :

अभिगम का अर्थ है अतिथि—साधुओं का आदर-सम्मान व भक्ति करना । इस कार्य में जो दक्ष होता है, वह 'अभिगम-कुशल' कहलाता है[5] ।

३३. रज और मल को (रयमलं ग) :

आश्रव-काल में कर्म 'रज' कहलाता है और बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित काल में 'मल' कहलाता है[6] । यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है । कहीं-कहीं 'रज' का अर्थ आश्रव द्वारा आकृष्ट होने वाले 'कर्म' और 'मल' का अर्थ आश्रव किया है ।

१—उत्त० २४.१९-२५ ।

२—हा० टी० प० २५५ : 'त्रिगुप्तो' मनोगुप्त्यादिमान् ।

३—(क) अ० चू० : जधा जोगं सुस्सूसिऊण पडियरिय ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२४ : जिणोवइट्ठेण विणएण आराहेऊण ।
(ग) हा० टी० प० २५५ : 'परिचर्य' विधिना आराध्य ।

४—हा० टी० प० २५५ : 'जिनमतनिपुणः' आगमे प्रवीणः ।

५—(क) जि० चू० ० ३२४ : अभिगमो नाम साधूणमायरियाणं जा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ, तंमि कुसले ।
(ख) हा० टी० प० २५५ : 'अभिगमकुशलो' लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः ।
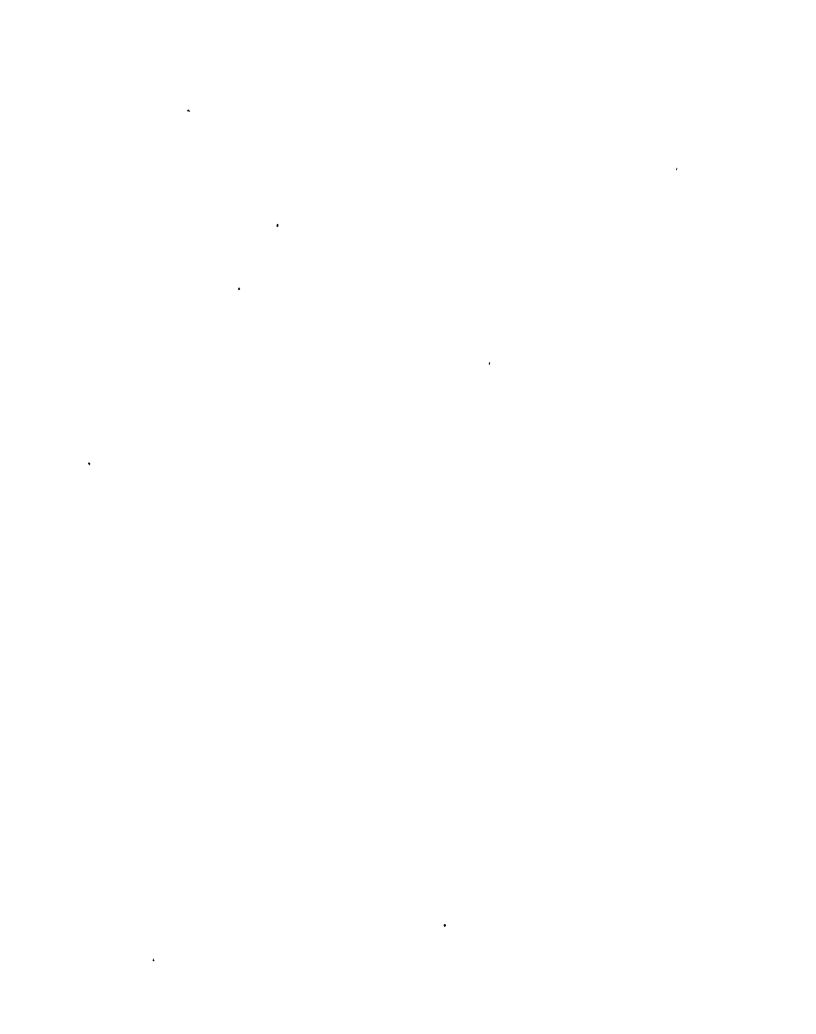
६—अ० चू० : आसवकालेरयो बद्धपुट्ठनिकाइयं कम्मं मलो ।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(चउत्थो उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(चतुर्थ उद्देशक)

विणयसमाही (चउत्थो उद्देसो) : विनय समाधि (चतुर्थ उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु[२] थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० १	श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥१॥	आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी) ने इस प्रकार कहा—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में[१] स्थविर[३] भगवान् ने विनय-समाधि[४] के चार स्थानों का प्रज्ञापन किया है।
कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० २	कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥२॥	वे विनय-समाधि के चार स्थान कौन से हैं जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है ?
इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता तंजहा - (१) विणयसमाही (२) सुयसमाही (३) तवसमाही (४) आयारसमाही।	इमानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा -(१) विनय-समाधिः, (२) श्रुत-समाधिः, (३) तपः-समाधिः, (४) आचार-समाधिः।	वे विनय-समाधि के चार प्रकार ये हैं, जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है, जैसे—विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि।
१—[५]विणए सुए अ तवे आयारे निच्चं पंडिया। अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया ॥ सू० ३	विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिताः। अभिरामयन्त्यात्मानं, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥१॥	१—जो जितेन्द्रिय होते हैं वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार में लीन किए रहते हैं[६]।
चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ तंजहा—(१) अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ (२) सम्मं संपडिवज्जइ (३) वेयमाराहयइ (४) न य भवइ अत्तसंपग्गहिए। चउत्थं पयं भवइ।	चतुर्विधः खलु विनय-समाधिर्भवति। तद्यथा—(१) अनुशास्यमानः शुश्रूषते, (२) सम्यक् सम्प्रतिपद्यते, (३) वेदमाराधयति, (४) न च भवति सम्प्रगृहीतात्मा,—चतुर्थं पदं भवति।	विनय-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे— (१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है[७]। (२) अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है। (३) वेद (ज्ञान)[८] की आराधना करता है[९] अथवा (अनुशासन के अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी को सफल बनाता है)।
भवइ य इत्थ सिलोगो—	भवति चात्र श्लोकः —	

(४) आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता[10]—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (विनय-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

२ - पेहेइ हियाणुसासणं
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए ।
न य माणमएण मज्जइ
विणयसमाही आययट्ठिए[१५] ॥

सू० ४

स्पृहयति हितानुशासनं,
शुश्रूषते तच्च पुनरधितिष्ठति ।
न च मान-मदेन माद्यति,
विनयसमाधावायतार्थिक: ॥२॥

(१) मोक्षार्थी मुनि[11] हितानुशासन की अभिलाषा करता है[12]—सुनना चाहता है ।

(२) शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है ।

(३) अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है[13] ।

(४) मैं विनय-समाधि में कुशल हूँ—इस प्रकार गर्व के उन्माद से[14] उन्मत्त नहीं होता ।

चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ तंजहा—(१) सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (२) एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (३) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (४) ठिओ परं ठावइस्सामित्ति अज्झाइयव्वं भवइ। चउत्थं पयं भवइ ।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति । तद्यथा—(१) श्रुतं मे भविष्यतीत्यध्येतव्य भवति, (२) एकाग्रचित्तो भविष्यामीत्यध्येतव्यं भवति,(३)आत्मानं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति, (४) स्थितः परं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति,—चतुर्थं पदं भवति ।

भवति चाऽत्र श्लोकः —

श्रुत-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) 'मुझे श्रुत[15] प्राप्त होगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए ।

(२) 'मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए ।

(३) 'मैं आत्मा को धर्म मे स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए ।

(४) 'मैं धर्म मे स्थित होकर दूसरो को उसमे स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए । यह चतुर्थ पद है और यहाँ (श्रुत-समाधि के प्रकरण मे) एक श्लोक है—

३—नाणमेगग्गचित्तो य
ठिओ ठावयई परं ।
सुयाणि य अहिज्जित्ता
रओ सुयसमाहिए ॥

सू० ५

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च,
स्थितः स्थापयति परम् ।
श्रुतानि चाधीत्य,
रत. श्रुतसमाधौ ॥३॥

अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, धर्म मे स्थित होता है और दूसरो को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत-समाधि में रत हो जाता है ।

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ तंजहा—(१) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा (२) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा (३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, (४) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा । चउत्थं पयं भवइ ।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विध खलु तपः समाधिर्भवति । तद्यथा (१) नो इहलोकार्थं तपोधितिष्ठेत्, (२) नो परलोकार्थं तपोधितिष्ठेत्, (३) नो कीर्ति वर्णशब्दश्लोकार्थं तपोधितिष्ठेत्, (४) नान्यत्र निर्जरार्थात् तपोधितिष्ठेत् चतुर्थं पदं भवति ।

भवति चाऽत्र श्लोकः —

तप-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) इहलोक [वर्तमान जीवन की भोगभिलाषा] के निमित्त तप नहीं करना चाहिए ।

(२) परलोक[पारलौकिक भोगाभिलाषा] के निमित्त[17] तप नहीं करना चाहिए ।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक[18] के लिए तप नहीं करना चाहिए ।

(४) निर्जरा के[19] अतिरिक्त[20] अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (तप-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

४—विविहगुणतवोरए य निच्चं
भवइ निरासए[२१] निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं
जुत्तो सया तवसमाहिए ॥
सू० ६

विविधगुणतपोरतश्च नित्यं,
भवति निराशकः निर्जरार्थिकः।
तपसा धुनोति पुराण-पापकं,
युक्तः सदा तपः-समाधिना ॥४॥

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा युक्त हो जाता है।

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तंजहा—(१) नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (२) नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, (३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (४) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा। चउत्थं पयं भवइ।
भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति। तद्यथा—(१) नो इहलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (२) नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (३) नो कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (४) नान्यत्रार्हतेभ्यो हेतुभ्य आचारमधितिष्ठेत्। चतुर्थं पदं भवति।
भवति चाऽत्र श्लोकः—

आचार-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे :
(१) इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।
(२) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।
(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।
४—आर्हत-हेतु के[२२] अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ पद है और यहां (आचार-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

५—जिणवयणरए अतिंतिणे
पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे
भवइ य दंते भावसंधए[२६] ॥
सू० ७

जिनवचनरतोऽतिन्तिणः,
प्रतिपूर्ण आयतमायतार्थिकः।
आचारसमाधिसंवृतः,
भवति च दान्तो भावसन्धकः ॥५॥

५—जो जिनवचन[२३] में रत होता है, जो प्रलाप नहीं करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है[२४], जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा संवृत होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला[२५] तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

६—अभिगम चउरो समाहिओ
सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउलहियसुहावहं पुणो
कुव्वइ सो पयखेममप्पणो ॥

अभिगम्य चतुरः समाधीन्,
सुविशुद्धः सुसमाहितात्मकः।
विपुलहितसुखावहं पुनः,
करोति स पद क्षेममात्मनः ॥६॥

६—जो चारों समाधियों को जानकर[२७] सुविशुद्ध और सुसमाहित-चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्ष-स्थान को प्राप्त करता है।

७—जाइमरणाओ मुच्चई
इत्थंथं च चयइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥
त्ति बेमि।

जातिमरणात् मुच्यते,
इत्थंस्थं च त्यजति सर्वशः।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः,
देवो वाऽल्परजा महर्द्धिकः ॥७॥
इति ब्रवीमि।

७—वह जन्म-मरण से[२८] मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओं को[२९] पूर्णतः त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध अथवा अल्प कर्म वाला[३०] महर्द्धिक देव[३१] होता है।

ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ६ (चतुर्थ उद्देशक)

सूत्र १ :

१. इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (इह) :

'इह' शब्द के द्वारा दो अर्थ गृहीत किए गए हैं—(१) निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे और (२) इस लोक में—इस क्षेत्र में[1]।

२. (खलु) :

यहाँ 'खलु' शब्द से अतीत और अनागत स्थविरो का ग्रहण किया गया है[2]।

३. स्थविर (थेरेहिं) :

यहाँ स्थविर का अर्थ गणधर किया है[3]।

४. समाधि (समाहो) :

समाधि शब्द अनेकार्थक है। टीकाकार ने यहा उसका अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है[4]। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए समाधि के चार रूप बतलाए गए हैं। अगस्त्यसिंह ने समारोपण और गुणो के समाधान (स्थिरीकरण या स्थापन) को समाधि कहा है। उनके अनुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या इनके द्वारा होने वाले गुणों के समाधान को विनय-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि कहा जाता है[5]।

सूत्र ३ :

५. (विणए सुए अ तवे ······) :

यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस श्लोक मे पूर्व गद्य-भाग मे चार समाधियो का नामोल्लेख हो चुका है तो फिर उसकी पुनरावृत्ति क्यो की गई ? अगस्त्यसिंह स्थविर एव जिनदास महत्तर इस शका का निरसन करते हुए कहते हैं कि उद्दिष्ट अर्थ की स्फुट

१—(क) जि० चू० पृ० ३२५ : इहत्ति नाम इह सासणे।
(ख) अ० चू० : इहेति इहलोगे सासणे वा।
(ग) हा० टी० प० २५५ : इह क्षेत्रे प्रवचने वा।

२—(क) अ० चू० : खलु सद्दो अतीताणागत थेराण वि एव पण्णवणा विसेसणत्थ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : खलुसद्दो ········ विसेसयति।
(ग) हा० टी० प० २५५ : खलुशब्दो विशेषणार्थ: न केवलमत्र किं त्वन्यत्राप्यन्यतीर्थंकृत्प्रवचनेष्वपि।

३—(क) अ० चू० : थेरा पुण गणधरा।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : थेरग्गहणेण गणहराणं गहणं कयं।
(ग) हा० टी० प० २५५ : 'स्थविरैः' गणधरैः।

४—हा० टी० प० २५६ : समाधानं समाधिः—परमार्थत-आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यम्।

५—अ० चू० : जं विणयसमारोवणं विणयेण वा जं गुणाण समाधाणं एस विणयसमाधी भवतीति।

अभिव्यक्ति के लिए श्लोक दिया जाता है[1]। इस अभिमत की पुष्टि के लिए वे पूर्वज आचार्यों के अभिमत का भी उल्लेख करते हैं। जो अर्थ गद्य में कहकर पुन: श्लोक मे कहा जाता है, वह व्यक्ति के अर्थ-निश्चय (स्फुट अर्थ-निश्चय) में सहायक होता है और दुरूह स्थलों को सुगम बना देता है[2]।

६. लीन किए रहते हैं (अभिरामयंति) :

'अभिराम' का यहाँ अर्थ है जोतना, योजित करना[3], विनय आदि गुणों में लगाना[4], लीन करना।

सूत्र ४ :

७. सुनना चाहता है (सुस्सूसइ) :

'शुश्रूष्' धातु का यहाँ अर्थ है— सम्यक् रूप से ग्रहण करना[5]। इसका दूसरा अर्थ है सुनने की इच्छा करना या सेवा करना।

८. (ज्ञान) को (वेयं) :

वेद का अर्थ है ज्ञान[6]।

९. आराधना करता है (आराहयइ) :

आराधना का अर्थ है—ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना[7]।

१०. आत्मोत्कर्ष · · नहीं करता (अत्तसंपग्गहिए) :

जिसकी आत्मा गर्व मे सप्रगृहीत (अभिमान से अवलिप्त) हो, उसे सप्रगृहीतात्मा (आत्मोत्कर्ष करने वाला) कहा जाता है। मैं विनीत हूँ, कार्यकारी हूँ —ऐसा सोचना आत्मोत्कर्ष है[8]।

१—(क) अ० चू० : उद्दिट्ठस्स अत्थस्स फुडीकरणत्थं सुभणणत्थं सिलोगबंधो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : तेसिं चेव अत्थाण फुडीकरणणिमित्तं अविकप्पणानिमित्तं च।

२—(क) अ० चू० : गद्येनोक्त: पुन: श्लोके, योऽर्थ: समनुगीयते।
स व्यक्तिव्यवसायार्थं, दुरुक्तग्रहणाय च॥
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : "यदुक्तो य: (ऽत्र) पुन: श्लोकैरर्थस्समनुगीयते।

३—जि० चू० पृ० ३२५ : अप्पाणं जोतंति त्ति।

४—हा० टी० प० २५६ : 'अभिरमयन्ति' अनेकार्थत्वाद्धातूनामाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जते।

५—(क) अ० चू० सुस्सूसतीय परमेणादरेण आयरिओवज्झाए।
(ख) जि० चू० पृ० ३२७ : आयरियउवज्झायादओ य आदरेण हिओवदेसगत्तिकाऊण सुस्सूसइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ : 'शुश्रूषति' अनेकार्थत्वाद्धातूनां विधिवदवबुध्यते।

६—(क) अ० चू० : विदति जेण अत्थविसेसे जंमि वा भणिते विदति सो वेदो तं पुण नाणमेव।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : वेदो—णाणं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २५५ : वेद्यतेऽनेनेति वेद:—श्रुतज्ञानम्।

७—(क) जि० चू० पृ० ३२६ : तत्थ जं जहा भणितं तहेव कुव्वमाणो तमाराहइत्ति।
(ख) हा० टी० प० २५६ : आराधयति······यथोक्तानुष्ठानपरस्तया सफलीकरोति।

८—(क) अ० चू० : संपग्गहितो गव्वेण जस्स अप्पा सो अत्तसंपग्गहितो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : अत्तुक्करिसं करेइत्ति, जहा विणीयो अहुत्तकारी य एवमादि।

११. मोक्षार्थी मुनि (आययट्ठिए) :

आयतार्थी—मोक्षार्थी[1]। इसका दूसरा अर्थ है भविष्यकालीन सुख का इच्छुक[2]।

१२. अभिलाषा करता है (पेहेइ) :

इसके संस्कृत रूप तीन होते हैं :

१. प्र + ईक्ष = प्रेक्षते—देखना।

२. प्र + इह = प्रेहते।

३ स्पृह—स्पृहयति—प्रार्थना करना, इच्छा करना, चाहना[3]।

१३. आचरण करता है (अहिट्ठए) :

अनुशासन के अनुकूल आचरण करना[4]।

१४. गर्व के उन्माद से (माणमएण) :

मान का अर्थ गर्व और मद का अर्थ उन्माद है[5]। टीका मे मद का अर्थ गर्व किया है[6]।

१५. (विणयसमाही आययट्ठिए) :

इस चरण में विनय-समाधि और आयतार्थिक—इन दोनो का समास है। विनय-समाधि में आयतार्थिक है—इसका विग्रह इस प्रकार किया है[7]।

सूत्र ५ :

१६ श्रुत (सुयं)

गणिपिटक[8]।

१—(क) अ० चू० : विणयसमाधिमतेण विणयसमाधीए आयतमद्धाण विप्पकरिसतो मोक्खो तेण तंमि वा अत्थी सएव आययत्थिक:।

(ख) जि० चू० पृ ३२७ : आयओ मोक्खो भण्णइ, तं आययं कंखयतीति आययट्ठए।

२—अ० चू० : अहवा आयधी आगामीकालो तंमि सुहत्थी आययत्थी।

३—(क) अ० चू० : पत्थयति वीहेति।

(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : पेहतित्ति वा पेच्छतित्ति वा एगट्ठा।

(ग) हा० टी० प० २५६ : 'प्रार्थयते हितानुशासनम्' इच्छति।

४—(क) अ० चू० : अधा भणितं करेति।

(ख) जि० चू० पृ० ३२७ : अहिट्ठेति नाम अहिट्ठयतित्ति वा आयरइत्ति वा एगट्ठा।

(ग) हा० टी० प० २५६ : अधितिष्ठति—यथावत् करोति।

५—अ० चू० : अप्पाण असमाण मण्णमाणो माण एव मतो माणमतो।

६—हा० टी० प० २५६ : मानगर्वेण।

७—(क) हा० टी० प० २५६ : 'विनयसमाधौ' विनयसमाधिविषये 'आयतार्थिको' मोक्षार्थी।

(ख) अ० चू० : विणयसमाधीए वा सुट्ठु आदरेण अत्थी विणयसमाधीआययट्ठिए।

८—(क) जि० चू० पृ० ३२७ : दुवालसंग गणिपिडगं।

(ख) हा० टी० प० २५७ : आचारादि द्वादशाङ्गम्।

सूत्र ६ :

१७. इहलोक के निमित्त · परलोक के निमित्त (इहलोगट्ठयाए···परलोगट्ठयाए) :

उत्तराध्ययन में कहा है—धर्म करने वाला इहलोक और परलोक दोनो की आराधना कर लेता है और यहाँ बतलाया है कि इहलोक और परलोक के लिए तप नही करना चाहिए। इनमें कुछ विरोधाभास जैसा लगता है। पर इसी सूत्र के श्लोकगत 'निरासए' शब्द की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो इनमें कोई विरोध नही दीखता। इहलोक और परलोक के लिए जो तप का निषेध है उसका सम्बन्ध पौद्गलिक सुख की आशा से है। तप करने वाले को निराश (पौद्गलिक सुखरूप प्रतिफल की कामना से रहित होकर) तप करना चाहिए। तपस्या का उद्देश्य ऐहिक या पारलौकिक भौतिक सुख-समृद्धि नही होना चाहिए। जो प्रतिफल की कामना किए बिना तप करता है उसका इहलोक भी पवित्र होता है और परलोक भी। इस तरह वह दोनो लोको की आराधना कर लेता है[१]।

१८. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (कित्तिवण्णसद्दसिलोग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इन चार शब्दो के अलग-अलग अर्थ करते हैं[२] :

कीर्ति —दूसरो के द्वारा गुणकीर्तन।

वर्ण – लोकव्यापी यश।

शब्द—लोक-प्रसिद्धि।

श्लोक · ख्याति।

हरिभद्र के अर्थ इनसे भिन्न हैं। सर्व दिग्व्यापी प्रशंसा कीर्ति, एक दिग्व्यापी प्रशसा वर्ण, अर्द्ध दिग्व्यापी प्रशसा शब्द और स्थानीय प्रशसा श्लोक[३]।

जिनदास महत्तर ने चारों शब्दो को एकार्थक माना है[४]।

१९. निर्जरा के (निजरट्ठयाए) :

निर्जरा नव-तत्त्वों में एक तत्त्व है। मोक्ष के ये दो साधन हैं—सवर और निर्जरा। सवर के द्वारा अनागत कर्म-परमाणुओं का निरोध और निर्जरा के द्वारा पूर्व-सचित कर्म-परमाणुओ का विनाश होता है। कर्म-परमाणुओ के विनाश और उससे निष्पन्न आत्म-शुद्धि—इन दोनों को निर्जरा कहा जाता है[५]। भगवान् ने कहा—'केवल आत्म-शुद्धि के लिए तप करना चाहिए।' यह वचन उन सब मतवादो के साथ अपनी असहमति प्रगट करता है जो स्वर्ग या ऐहिक एवं पारलौकिक सुख-सुविधा के लिए धर्म करने का विधान करते थे, जैसे—'स्व.कामोग्नि यथा यजेत्' आदि।

२०. अतिरिक्त (अन्नत्थ) :

अतिरिक्त, छोड़कर, वर्जकर[६]। देखिए अ० ४ सू० ८ का टिप्पण।

२१. (निरासए) :

पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित[७]।

१—उत्त० ८.२० : इह एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिंति जे उ काहिंति, तेहिं आराहिया दुवे लोग॥

२—अ० चू० : परेहिं गुणसंसद्दण कित्ती, लोकव्यापी जसो वण्णो, लोके विदितया सद्दे, परेहिं पूर (य) णं सिलोगो।

३—हा० टी० प० २५७ : सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थान एव श्लाघा।

४—जि० चू० पृ० ३२८ : कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठया एगट्ठा।

५—जैन० सि० ५.१३.१५।

६—जि० चू० पृ० ३२८ : अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ।

७—(क) जि० चू० पृ० ३२८ : निग्गता आसा अप्पसत्था जस्स सो निरासए।

(ख) हा० टी० प० २५७ : 'निराशो' निष्प्रत्याश इहलोकादिषु।

सूत्र ७ :

२२. आर्हत-हेतु के (आरहंतेहिं हेऊहिं) :

आर्हत-हेतु—अर्हन्तों के द्वारा मोक्ष-साधना के लिए उपदिष्ट या आचीर्ण हेतु । वे दो हैं— संवर और निर्जरा[1] ।

२३. जिनवचन (जिणवयण) :

इसका अर्थ जिनमत या आगम है[2] ।

२४. जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है (पडिपुण्णायय) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'पूर्ण भविष्यत्काल' किया है[3] ।
जिनदास और हरिभद्र ने 'पडिपुण्ण' का अर्थ सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण और 'आययं' का अर्थ 'अत्यन्त' किया है[4] ।

२५. इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला (दंते) :

इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय का दमन करने वाला 'दान्त' कहलाता है[5] ।

२६. (भावसंधए) :

मोक्ष को निकट करने वाला[6] ।

श्लोक ६ :

२७. जानकर (अभिगम) :

टीका के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया का रूप है[7] । 'अभिगम्य' के 'य' का लोप होने पर 'अभिगम्म' ऐसा होना चाहिए । किन्तु प्राप्त सभी प्रतियो में 'अभिगम' ऐसा पाठ मिलता है । इसलिए लिखित आधार के अभाव में इसी को स्थान दिया गया है ।

१—(क) अ० चू० · जे अरहंतेहि अणासवत्तकंमनिज्जरणादयो गुणा भणिता आयिण्णा वा ते आरहंतिया हेतवो कारणाणि ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२८ : जे आरहंतेहि अणासवत्तणकम्मणिज्जरणमादि मोक्खहेतवो भणिता आचिन्ना वा ते आरहंतिए हेऊ ।
(ग) हा० टी० प० २५८ : 'आर्हतै.' अर्हत्सबन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभि: ।

२—(क) अ० चू० : जिणाणं वयणं जिणवयण मतं ।
(ख) हा० टी० प० २५८ : 'जिनवचनरत' आगमे सक्त: ।

३—अ० चू० : पडिपुण्ण आयत आगामिकाल सव्व आगामिणं काल पडिपुण्णायतं ।

४—(क) जि० चू० पृ० ३२६ : पडिपुन्नं नाम पडिपुन्नंति वा निरवसेसंति वा एगट्ठा, सुत्तत्थेहिं पडिपुण्णो, आययमा अच्चत्थ ।
(ख) हा० टी० प० २५८ : प्रतिपूर्णः सूत्रादिना, आयतम्—अत्यन्तम् ।

५—(क) अ० चू० : इंदिय णोइंदियदमेण दंते ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : दंते दुविहे—इंदिएहि य णोइंदिएहि य ।
(ग) हा० टी० प० २५८ : दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्याम् ।

६—(क) जि० चू० पृ० ३२६ : भावो मोक्खो त दूरत्थमप्पणा सह संधए ।
(ख) हा० टी० प० २५८ : 'भावसंधक:' भावो—मोक्षस्तत्संधक आत्मनो मोक्षासन्नकारी ।

७—हा० टी० प० २५८ : 'अभिगम्य' विज्ञायासेव्य च ।

श्लोक ७ :

२८. जन्म-मरण से (जाइमरणाओ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—जन्म-मृत्यु और संसार[1]। जिनदास और हरिभद्र ने जाति-मरण का अर्थ संसार किया है[2]।

२९. नरक आदि अवस्थाओं को (इत्थंथं) :

इत्थं का अर्थ है—इस प्रकार। जो इस प्रकार स्थित हो—जिसके लिए 'यह ऐसा है'—इस प्रकार का व्यपदेश किया जाए उसे 'इत्थंस्थ' कहा जाता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ, शरीर, वर्ण, संस्थान आदि जीवों के व्यपदेश के हेतु हैं। इत्थस्थ को त्याग देता है अर्थात् उक्त हेतुओं के द्वारा होने वाले अमुक-अमुक प्रकार के निश्चित रूपों को त्याग देता है[3]। अगस्त्य चूर्णि में 'इत्थत्त' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ है—इस प्रकार की अवस्था का भाव[4]।

३०. अल्प कर्म वाला (अप्परए) :

इसका संस्कृत रूप है 'अल्परजाः' और इसका अर्थ है—थोड़े कर्म वाला[5]। टीकाकार ने इसका संस्कृत रूप 'अल्परतः' देकर इसका अर्थ 'अल्प आसक्ति वाला' किया है[6]।

३१. महर्द्धिक देव (महिड्ढिए) :

महान् ऋद्धि वाला, अनुत्तर आदि विमानों में उत्पन्न[7]।

१—अ० चू० : जाती समुप्पत्ती, देहपरिच्चागो मरणं अहवा जातीमरणं संसारो।

२—(क) जि० चू० पृ० ३२९ : जातीमरण संसारो।
(ख) हा० टी० प० २५८ : 'जातिमरणात्' संसारात्।

३—(क) हा० टी० प० २५८ : इदं प्रकारमापन्नमित्थम् इत्थं स्थितमित्थस्थं नारकादिव्यपदेशबीजं वर्णसंस्थानादि।
(ख) जि० चू० पृ० ३२९ : 'इत्थत्थ' णाम जेण भण्णइ एस नरो वा तिरिओ मणुस्सो देवो वा एवमादि।

४—अ० चू० : अयं प्रकार इत्थं— तस्स भावो इत्थत्तं।

५—(क) अ० चू० : अप्परते अप्पकम्मावसेसे।
(ख) जि० चू० पृ० ३२९ : थोवावसेसेसु कम्मसत्तेण।

६—हा० टी० प० २५८ : 'अल्परतः' कण्डूपरिगतकण्डूयनकल्परतरहितः।

७—हा० टी० प० २५८ : 'महर्द्धिकः'—अनुत्तरवैमानिकादि।

दसमं अज्झयणं

स-भिक्खु

दशम अध्ययन

सभिक्षु

आमुख

सदृश वेष और रूप के कारण मूलत: भिन्न-भिन्न वस्तुओं की संज्ञा एक पड़ जाती है।

जात्य-सोने और यौगिक-सोने—दोनों का रंग सदृश (पीला) होने से दोनों 'सुवर्ण' कहे जाते है।

जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो वह 'भिक्षु' कहलाता है। सच्चा साधु भी भिक्षा कर खाता है और ढोंगी साधु भी भिक्षा कर खाता है, इससे दोनों की संज्ञा 'भिक्षु' बन जाती है।

पर असली सोना जैसे अपने गुणों से कृत्रिम सोने से सदा पृथक् होता है, वैसे ही सद्-भिक्षु असद्-भिक्षु से अपने गुणों के कारण सदा पृथक् होता है।

कसौटी पर कसे जाने पर जो खरा उतरता है, वह सुवर्ण होता है। जिसमे सोने की युक्ति—रंग आदि तो होते हैं पर जो कसौटी पर अन्य गुणों से खरा नहीं उतरता, वह सोना नहीं कहलाता।

जैसे नाम और रूप से यौगिक-सोना सोना नहीं होता, वैसे ही केवल नाम और वेष से कोई सच्चा भिक्षु नहीं होता। गुणों से ही सोना होता है और गुणों से ही भिक्षु। विष की घात करने वाला, रसायन, मांगलिक, विनयी, लचीला, भारी, न जलने वाला, काट-रहित और दक्षिणा-वर्त्त—इन गुणों से उपेत सोना होता है।

जो कष, छेद, ताप और ताडन—इन चार परीक्षाओं मे विषघाती आदि गुणों से संयुक्त ठहरता है, वह भाव-सुवर्ण—असली सुवर्ण है और अन्य द्रव्य-सुवर्ण - नाम मात्र का सुवर्ण।

सवेग, निर्वेद, विवेक (विषय-त्याग), सुशील-ससर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, क्षांति, मार्दव, आर्जव, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक-शुद्धि—ये सच्चे भिक्षु के लिंग हैं।

जो इनमें खरा ठहरता है, वही सच्चा भिक्षु है। जो केवल भिक्षा मांगकर खाता है पर अन्य गुणों से रहित है, वह सच्चा भिक्षु नहीं होता। वर्ण से जात्य-सुवर्ण के सदृश होने पर भी अन्य गुण न होने से जैसे यौगिक-सोना सोना नहीं ठहरता।

सोने का वर्ण होने पर भी जात्य-सुवर्ण वही है जो गुण-सयुक्त हो। भिक्षाशील होने पर भी सच्चा भिक्षु वही है जो इस अध्ययन में वर्णित गुणों से सयुक्त हो।

भिक्षु का एक निरुक्त है—जो भेदन करे वह 'भिक्षु'। इस अर्थ से जो कुल्हाड़ा ले वृक्ष का छेदन-भेदन करता है वह भी भिक्षु कहलाएगा, पर ऐसा भिक्षु द्रव्य-भिक्षु (नाम मात्र से भिक्षु) होगा। भाव-भिक्षु (वास्तविक भिक्षु) तो वह होगा जो तपरूपी कुल्हाड़े से संयुक्त हो। वैसे ही जो याचक तो है पर अविरत है—वह भाव-भिक्षु नहीं द्रव्य-भिक्षु है।

जो भीख मांगकर तो खाता है पर स-दार और आरंभी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर मिथ्या-दृष्टि है, त्रस-स्थावर जीवों का नित्य वध करने में रत है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर संचय करने वाला है, परिग्रह में मन, वचन, काया और कृत, कारित, अनुमोदन रूप से निरत—आसक्त है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर सचित्त-भोजी है, स्वय पकाने वाला है, उद्दिष्ट-भोजी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर तीन करण तीन योग से आत्म, पर और उभय के लिए सावद्य प्रवृत्ति करता है तथा अर्थ-अनर्थ पाप में प्रवृत्त है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

प्रश्न है—फिर भाव-भिक्षु (सद्-भिक्षु) कौन है?

उत्तर है—जो आगमत: उपयुक्त और भिक्षु के गुणों को जानकर उनका पालन करता है, वही भाव-भिक्षु है।

वे गुण कौन से हैं ? इस अध्ययन में इसी प्रश्न का उत्तर है ।

इस अध्ययन का नाम 'स-भिक्षु' या 'सद्-भिक्षु' है[1] । यह प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार है । पूर्ववर्ती ९ अध्ययनों में वर्णित आचारनिधि का पालन करने के लिए जो भिक्षा करता है वही भिक्षु है, केवल उदर-पूर्ति करने वाला भिक्षु नहीं है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है[2] । 'स' और 'भिक्खु' इन दोनों के योग से भिक्षु शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है । इसके अनुसार भिक्षाशील व्यक्ति भिक्षु नहीं है, किन्तु जो अहिंसक जीवन के निर्वाह के लिए भिक्षा करता है वही भिक्षु है । इससे भिखारी और भिक्षु के बीच की भेद-रेखा स्पष्ट हो जाती है । इस अध्ययन की २१ गाथाएं हैं । सबके अन्त मे 'सभिक्षु' शब्द का प्रयोग है । उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन में भी ऐसा ही है । उसका नाम भी यही है । विषय और पदों की भी कुछ समता है । संभव है शय्यम्भवसूरि ने दसवें अध्ययन की रचना में उसे आधार माना हो ।

भिक्षु-वर्ग विश्व का एक प्रभावशाली संगठन रहा है । धर्म के उत्कर्ष के साथ धार्मिकों का उत्कर्ष होता है । धार्मिकों का नेतृत्व भिक्षु वर्ग के हाथ में रहा । इसलिए सभी आचार्यों ने भिक्षु की परिभाषाएँ दीं और उसके लक्षण बताए । महात्मा बुद्ध ने भिक्षु के अनेक लक्षण बतलाए हैं । 'धम्मपद' में 'भिक्खुवग्ग' के रूप में उनका संकलन भी है । उसकी एक गाथा 'स-भिक्खु' अध्ययन की १५वें श्लोक से तुलनीय है :

> हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो, वाचायसञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो ।
> अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खू ।। (धम्म० २५ ३)
> हत्थ-संजए पाय-संजए, वाय-संजए, संजइंदिए ।
> अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ।। (दश० १०.१५)

भिक्षु-चर्या की दृष्टि से इस अध्ययन की सामग्री बहुत ही अनुशीलन योग्य है । वोसट्ठचत्तदेहे (श्लोक १३), अन्नाय उछं (श्लोक १६), पत्तेयं पुण्णपावं (श्लोक १८) आदि-आदि वाक्यांश यहां प्रयुक्त हुए है, जिनके पीछे श्रमणों का त्याग और विचार-मन्थन का इतिहास झलक रहा है ।

यह नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[3] ।

१—हैम० ८.१.११ : सद्-भिक्षु का भी प्राकृत रूप सभिक्खू बनता है । अन्त्यव्यञ्जनस्य······सद्भिक्षुः=सभिक्खू ।

२—(क) दश० नि० ३३० : जे भावा दसवेआलिअम्मि, करणिज्ज वण्णिअ जिणेहिं ।
तेसिं समावणंमिति (मी) जो भिक्खू भण्णइ स भिक्खू ।।

(ख) दश० नि० ३५६ : जो भिक्खू गुणरहिओ भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू ।

३—दश० नि० पा० १७ ।

दसमं अज्झयणं : दशम अध्ययन

स-भिक्खु : सभिक्षु

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—निक्खम्ममाणाए[1] बुद्धवयणे निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा । इत्थीण वसं न यावि गच्छे वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू ॥	निष्क्रम्याज्ञया बुद्धवचने, नित्यं समाहितचित्तो भवेत् । स्त्रीणां वशं न चापि गच्छेत्, वान्तं न प्रत्यापिबति (प्रत्यावत्ते) यः स भिक्षुः ॥१॥	१—जो तीर्थङ्कर के उपदेश से[1] निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले[2]), निर्ग्रंथ-प्रवचन में[3] सदा समाहित चित्त[4] होता है, जो स्त्रियों के अधीन नहीं होता, जो वमे हुए को वापस नहीं पीता[5] (त्यक्त भोगों का पुनः सेवन नहीं करता)—वह भिक्षु[6] है ।
२—[7]पुढविं न खणे न खणावए सीओदगं न पिए न पियावए । अगणिसत्थं जहा सुनिसियं तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥	पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत्, शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् । अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितं, तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद्यः स भिक्षुः ॥२॥	२—जो पृथ्वी का खनन न करता है[8] और न कराता है, जो शीतोदक[10] न पीता है और न पिलाता है[11], शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण[12] अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है[13]—वह भिक्षु है ।
३—अनिलेण न वीए न वीयावए हरियाणि न छिंदे न छिंदावए । बीयाणि सया विवज्जयंतो सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥	अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेत्, हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत् । बीजानि सदा विवर्जयन्, सचित्तं नाहरेत् यः स भिक्षुः ॥३॥	३—जो पंखे आदि से[14] हवा न करता है और न कराता है[15], जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है[16], जो बीजों का सदा विवर्जन करता है (उनके सस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नहीं करता[17]—वह भिक्षु है ।
४—वहणं तसथावराण होइ पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं । तम्हा उद्देसियं न भुंजे नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥	हननं त्रसस्थावराणां भवति, पृथ्वीतृणकाष्ठनिःश्रितानाम् । तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत, नो अपि पचेन्न पाचयेत् । यः स भिक्षुः ॥४॥	४—भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है, अतः जो औद्देशिक[18] (अपने निमित्त बना हुआ) नहीं खाता तथा जो स्वयं न पकाता है और न दूसरों से पकवाता है[19]—वह भिक्षु है ।
५—रोइय नायपुत्तवयणे अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए । पंच य फासे महव्वयाइं पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥	रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनम्, आत्मसमान्मन्येत षडपि कायान् । पञ्च च स्पृशेन्महाव्रतानि, पंचास्रवान् संवृणुयाद् यः स भिक्षुः ॥५॥	५—जो ज्ञातपुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छहों कायों (सभी जीवों) को आत्म-सम मानता है[20], जो पाँच महाव्रतों का पालन करता है[21], जो पाँच आस्रवों का संवरण करता है[22]—वह भिक्षु है ।

६—चत्तारि वमे सया कसाए
धुवयोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूवरयए
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ।।

चतुरो वमेत् सदा कषायान्,
ध्रुवयोगी च भवेद् बुद्धवचने ।
अधनो निर्जातरूपरजतः,
गृहियोगं परिवर्जयेद् यः स भिक्षुः ।।६।।

६—जो चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का परित्याग करता है, जो निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे ध्रुवयोगी[२३] है जो अधन है, जो स्वर्ण और चाँदी से रहित है, जो गृही योग[२४] (क्रय-विक्रय आदि) का वर्जन करता है — वह भिक्षु है ।

७—सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे
अत्थि हु[२७] नाणे तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं
मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ।।

सम्यग्दृष्टिः सदाऽमूढः,
अस्ति खलु ज्ञानं तपः संयमश्च ।
तपसा धुनोति पुराणपापकं,
सुसंवृतमनोवाक्-कायः
यः स भिक्षुः ।।७।।

७—जो सम्यक् दर्शी[२५] है, जो सदा अमूढ है[२६], जो ज्ञान, तप और सयम के अस्तित्व मे आस्थावान् है, जो तप के द्वारा पुराने पापो को प्रकम्पित कर देता है, जो मन, वचन तथा काय से सुसवृत[२८] है वह भिक्षु है ।

८—तहेव असणं पाणगं वा
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता ।
होही अट्ठो सुए परे वा
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ।

तथैवाशनं पानकं वा,
विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ।
भविष्यत्यर्थः श्वः परस्मिन्वा,
तं न निदध्यान्न निधापयेद्
यः स भिक्षुः ।।८।।

८—पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर—यह कल या परसो[२९] काम आएगा—इस विचार से जो न सन्निधि (संचय) करता है[३०] और न कराता है—वह भिक्षु है ।

९—तहेव असणं पाणगं वा
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता ।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे
भोच्चा सज्झायरए य जे स भिक्खू ।।

तथैवाशनं पानकं वा,
विविधं खाद्य स्वाद्यं लब्ध्वा ।
छन्दयित्वा साधर्मिकान् भुञ्जीत,
भुक्त्वा स्वाध्यायरतश्च
यः स भिक्षुः ।।९।।

९—पूर्वोक्त प्रकार से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर जो साधर्मिको को[३१] निमन्त्रित कर[३२] भोजन करता है, जो भोजन कर चुकने पर स्वाध्याय में रत रहता है—वह भिक्षु है ।

१०—न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजमधुवजोगजुत्ते
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खु ।।

न च वैग्रहिकीं कथां कथयेत्,
न च कुप्येन्निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः ।
संयम-ध्रुवयोगयुक्तः
उपशान्तोऽविहेठको यः स भिक्षुः ।।१०।।

१०—जो कलहकारी कथा[३३] नहीं करता, जो कोप नही करता[३४], जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत है[३५], जो प्रशान्त है, जो सयम में ध्रुवयोगी है[३६], जो उपशान्त है[३७], जो दूसरो को तिरस्कृत नहीं करता[३८]—वह भिक्षु है ।

११—जो सहइ हु गामकंटए
अक्कोसपहारतज्जणाओ य ।
भयभेरवसद्दसंपहासे
समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खु ।।

यः सहते खलु ग्रामकण्टकान्,
आक्रोशप्रहारतर्जनाश्च ।
भयभैरवशब्दसंप्रहासान्,
समसुखदुःखसहश्च यः स भिक्षुः ।।११।।

११—जो कांटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयों[३९], आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं[४०] और बैताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को[४१] सहन करता है[४२] तथा सुख और दुःख को समभाव-पूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है ।

१२—पडिमं पडिवज्जिया मसाणे
नो भायए भयभेरवाइं दिस्स ।
विविहगुणतवोरए य निच्चं
न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू ।।

प्रतिमां प्रतिपद्य श्मशाने,
नो बिभेति भयभैरवाणि दृष्ट्वा ।
विविधगुणतपोरतश्च नित्यं,
न शरीरं चाभिकांक्षति
यः स भिक्षुः ।।१२।।

१२—जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण कर[४३] अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देखकर नहीं डरता, जो विविध गुणों और तपों में रत होता है[४४], जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता[४५]—वह भिक्षु है ।

१३—असइं वोसट्ठचत्तदेहे
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा
अनियाणे अकोउहल्ले य जे स
भिक्खू ।।

असकृद् व्युत्सृष्टत्यक्तदेह,
आक्रुष्टो वा हतो वा लूषितो वा ।
पृथ्वीसमो मुनिर्भवेत्,
अनिदानोऽकौतूहलो
यः स भिक्षुः ।।१३।।

१३—जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है[४६], जो आक्रोश देने, पीटने और काटने पर पृथ्वी के समान सर्व-सह[४७] होता है, जो निदान नहीं करता[४८], जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है ।

१४—अभिभूय काएण परीसहाइं
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।
विइत्तु जाइमरणं महब्भयं
तवे[५२] रए सामणिए जे स भिक्खू ।।

अभिभूय कायेन परिषहान्,
समुद्धरेज्जातिपथादात्मकम् ।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं,
तपसि रतः श्रामण्ये यः स भिक्षुः ।।१४।।

१४—जो शरीर से[४९] परीषहों को[५०] जीतकर जाति-पथ (संसार)[५१] से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभय जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है—वह भिक्षु है ।

१५—हत्थसंजए पायसंजए
वायसंजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा
सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ।।

हस्तसंयतः पादसंयतः,
वाक्संयतः संयतेन्द्रियः ।
अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा,
सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः ।।१५।।

१५—जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत[५३] है, वाणी से संयत[५४] है, इन्द्रियों से संयत[५५] है, अध्यात्म[५६] में रत है, भलीभांति समाहित है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है ।

१६—उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे
अन्नायउंछंपुल निप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ।।

उपधौ अमूर्च्छितोऽगृद्धः,
अज्ञातोञ्छपुलो निष्पुलाकः ।
क्रयविक्रयसन्निधितो विरतः,
सर्वसङ्गापगतो यः स भिक्षुः ।।१६।।

१६—जो मुनि वस्त्रादि उपधि में मूर्च्छित नहीं है, जो अगृद्ध है[५७], जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है[५८], जो क्रय-विक्रय और सन्निधि से[५९] विरत[६०] है, जो सब प्रकार के संगों से रहित है (निर्लेप है)[६१]—वह भिक्षु है ।

१७—अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे
उंछं[६३] चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ।।

अलोलो भिक्षुर्न रसेषु गृद्धः,
उञ्छं चरेज्जीवितं नाभिकांक्षेत् ।
ऋद्धिं च सत्कारणं पूजनञ्च,
त्यजति स्थितात्मा अनिभो
यः स भिक्षुः ।।१७।।

१७—जो अलोलुप है[६२], रसों में गृद्ध नहीं है, जो उञ्छचारी है (अज्ञात कुलों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता है), जो असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं करता, जो ऋद्धि[६४], सत्कार और पूजा की स्पृहा को त्यागता है, जो स्थितात्मा[६५] है, जो अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता—वह भिक्षु है ।

१८—न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू॥

न परं वदेदयं कुशीलः,
येनान्यः कुप्येन्न तद् वदेत्।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं,
आत्मानं न समुत्कर्षयेद्यः स भिक्षुः॥१८॥

१८—प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं[६६]—ऐसा जानकर जो दूसरे को[६७] 'यह कुशील (दुराचारी)[६८] है" ऐसा नहीं कहता, जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नहीं लाता—वह भिक्षु है।

१९—न जाइमत्ते न य रूवमत्ते
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू॥

न जातिमत्तो न च रूपमत्तः,
न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य,
धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः॥१९॥

१९—जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सब मदों को[६९] वर्जता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह भिक्षु है।

२०—पवेयए अज्जपयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू॥

प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिः,
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिङ्गं,
न चापि हास्यकुहको यः स भिक्षुः॥२०॥

२०—जो महामुनि आर्यपद (धर्मपद)[७०] का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिङ्ग का[७१] वर्जन करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहल पूर्ण चेष्टा नहीं करता—[७२] वह भिक्षु है।

२१—तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणरागमं गइं॥

तं देहवासमशुचिमशाश्वतं,
सदा त्यजेन्नित्यहितः स्थितात्मा।
छित्वा जातिमरणस्य बन्धनम्,
उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम्॥२१॥

२१—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत-हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को[७३] सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को छेदकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

त्ति बेमि॥

इति ब्रवीमि।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पण : अध्ययन १०

श्लोक १ :

१. (निक्खम्ममाणाए [क]) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

२. तीर्थंकर के उपदेश से (आणाए [क]) :

आज्ञा का अर्थ वचन, सन्देश[1], उपदेश[2] या आगम है[3] । इसका पाठान्तर 'आदाय' है । उसका अर्थ है ग्रहणकर अर्थात् तीर्थङ्करों की वाणी को स्वीकार कर[4] ।

३. निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले) (निक्खम्म [क]) :

निष्क्रम्य का भावार्थ—
अगस्त्य चूर्णि[5] मे घर या आरम्भ-समारम्भ से दूर होकर, सर्वसग का परित्याग कर किया है ।
जिनदास चूर्णि[6] मे गृह से या गृहस्थभाव से दूर होकर द्विपद आदि को छोड़कर किया है ।
टीका[7] मे द्रव्य-गृह और भाव-गृह से निकल (प्रवज्या ग्रहण कर) किया है ।

द्रव्य-गृह का अर्थ है—घर । भाव-गृह का अर्थ है गृहस्थ-भाव—गृहस्थ-सम्बन्धी प्रपच और सम्बन्ध । इस तरह चूर्णिकार और टीकाकार के अर्थ मे कोई अन्तर नही है । टीकाकार ने चूर्णिकार के ही अर्थ को गूढ़ रूप में रखा है ।

४. निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (बुद्धवयणे) :

तत्त्वो को जानने वाला अथवा जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ हो, वह व्यक्ति बुद्ध कहलाता है। जिनदास महत्तर यहाँ एक प्रश्न उपस्थित करते हैं । शिष्य ने कहा कि 'बुद्ध' शब्द से शाक्य आदि का बोध होता है । आचार्य ने कहा—यहाँ द्रव्य-बुद्ध-पुरुष (और द्रव्य-भिक्षु) का नहीं, किन्तु भाव-बुद्ध-पुरुष(और भाव-भिक्षु) का ग्रहण किया है । जो ज्ञानी कहे जाते हैं पर सम्यक्-दर्शन के अभाव से जीवाजीव

१—अ० चू० : आणा वयणं संदेसो वा ।

२—हा० टी० प० २६५ : 'आज्ञया' तीर्थंकरगणधरोपदेशेन ।

३—जि० चू० पृ० ३३८ : आणा वा आणत्ति नाम उववायोत्ति वा उवदेसोत्ति वा आगमोत्ति वा एगट्ठा ।

४—जि० चू० पृ० ३३७ : अथवा आदाय, 'बुद्धवयणं' बुद्धाः—तीर्थंकराः तेषां वचनमादाय गृहीत्वेत्यर्थः ।

५—अ० चू० : निक्खम्म निक्खम्मिऊण निगच्छिऊण गिहातो आरंभातो वा ।

६—जि० चू० पृ० ३३७ : निष्क्रम्य, तीर्थकरगणधराज्ञया निष्क्रम्य सर्वसंगपरित्यागं कृत्वेत्यर्थः·······निक्खम्म नाम गिहाओ गिहत्थ भावाओ वा दुपयादीणि य चइऊण ।

७—हा० टी० प० २६५ : 'निष्क्रम्य' द्रव्यभावगृहात् प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थः ।

के भेद को नहीं जानते और पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा करते हैं, वे द्रव्य-बुद्ध (और द्रव्य-भिक्षु) हैं—नाम मात्र के बुद्ध (और नाम मात्र के भिक्षु) हैं। जो पृथ्वी आदि जीवों को जानकर उनकी हिंसा का परिहार करते हैं, वे भाव-बुद्ध (और भाव-भिक्षु) कहलाते हैं अर्थात् वे ही वास्तव में बुद्ध हैं[1] (और वे ही वास्तव में भिक्षु हैं)। इसलिए यहाँ बुद्ध का अर्थ तीर्थङ्कर या गणधर है[1]। चूर्णिकार ने इस आशंका में उत्तरकालीन प्रसिद्धि को प्रधानता दी है। महात्मा गौतम बुद्ध उत्तरकाल में बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गए। जैन साहित्य में प्राचीन काल से ही तीर्थंकर या आगम-निर्माता के अर्थ में बुद्ध शब्द का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग होता रहा है।

बुद्ध-प्रवचन का अर्थ द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) है[3]। द्वादशाङ्गी और उसके आधारभूत धर्मशासन के लिए 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' शब्द आगम विश्रुत है। इसलिए हमने 'बुद्धवयणे' का अनुवाद यही किया।

५. समाहित-चित्त (चित्तसमाहिओ [ख]) :

जिसका चित्त सम्—अच्छी तरह से आहित—लीन होता है, उसे समाहित-चित्त कहते हैं[4]। जो चित्त से अतिप्रसन्न होता है, उसे समाहित-चित्त कहते हैं[5]। समाहित-चित्त अर्थात् चित्त की समाधि वाला—प्रसन्नता वाला।

चित्त-समाधि का सबसे बडा विघ्न विषय की अभिलाषा है। स्पर्श, रस आदि विषयो मे स्त्री-सम्बन्धी विषयेच्छा सर्वाधिक दुर्जेय है, इसलिए श्लोक के अगले दोनो चरणो में चित्त-समाधि की सबसे बडी व्याधि से बचने का मार्ग बताया गया है[6]।

६. जो वमे हुए को वापस नहीं पीता (वंतं नो पडियायई [घ]) :

इसके स्पष्टीकरण के लिए देखिए २.६,७,८ का अर्थ और टिप्पण। यह वहाँ प्रयुक्त—'नेच्छति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे'। 'वंतं इच्छसि आवेउ सेय ते मरणं भवे'—वाक्यो की याद दिलाता है।

७. भिक्षु (भिक्खू [घ]) :

सूत्रकृताङ्ग के अनुसार भिक्षु की व्याख्या इस प्रकार है—जो निरभिमान, विनीत, पाप-मल को धोने वाला, दान्त, बन्धन-मुक्त होने योग्य, निर्मम, नाना प्रकार के परीषह और उपसर्गों से अपराजित, अध्यात्मयोगी, विशुद्ध-चारित्र-सम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा, यशस्वी या विवेकशील और परदत्त-भोजी हो, वह भिक्षु कहलाता है[7]।

श्लोक २ :

८. श्लोक २-३ :

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा के परिहार का उपदेश चौथे, पाँचवें, छट्ठे और आठवें अध्ययन में दिया गया है। उसी को यहाँ दोहराया है। प्रश्न होता है एक ही आगम मे इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ क्यों? आचार्य ने उत्तर दिया—शिष्य को स्थिर मार्ग पर आरूढ़ करने के लिए ऐसा किया गया है, इसलिए यह पुनरुक्त दोष नही है।

१—जि० चू० पृ० ३३९ : आह—ननु बुद्धग्गहणेण य सक्काइणो गहणं पावइ, आयरिओ आह—न एत्थ दव्वबुद्धाण दव्वभिक्खूण य गहणं कयं, कहं ते दव्वबुद्धा दव्वभिक्खुया?, जम्हा ते सम्मदंसणाभावेण जीवाजीवविसेसं अजाणमाणा पुढविमाई जीवे हिंसमाणा दव्वबुद्धा दव्वभिक्खू य भवंति, कहं तेहिं चित्तसमाधियत्तं भविस्सइ जे जीवाजीवविसेसं न उवलभंति?, जे पुढविमादि जीवे जाऊणं परिहरंति ते भावबुद्धा भावभिक्खू य भन्नंति, छज्जीवनिकायजाणगो य रक्खणपरो य भावभिक्खू भवति।

२—हा० टी० प० २६६ : 'बुद्धवचने' अवगततत्त्वतीर्थकरगणधरवचने।

३—अ० चू० : बुद्धा जाणगा तेसिं वयणं—बुद्धवयणं दुवालसंगं गणिपिडगं।

४—जि० चू० पृ० ३३८ : चित्तं पसिद्धं तं सम्मं आहितं जस्स सो चित्तसमाहिओ।

५—हा० टी० प० २६५ : 'चित्तसमाहितः' चित्तेनातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भः।

६—अ० चू० : चित्तसमाधाणविग्घभूता विसया तत्थवि पाहण्णेण इत्थियाओत्ति भणति इत्थीवसं।

७—सू० १.१६.३ : एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खुत्ति वच्चे।

(१) पुत्र विदेश जाता है तब पिता उसे शिक्षा देता है । कर्तव्य की विस्मृति न हो जाए, इसलिए वह अपनी शिक्षा की कई पुनरावृत्तियाँ कर देता है ।

(२) सभ्रम या स्नेहवश पुनरुक्ति की जाती है, जैसे—साँप है—आ, आ, आ ।

(३) रोगी को बार-बार औषधि दिया जाता है ।

(४) मंत्र का जप तब तक किया जाता है जब तक वेदना का उपशम नहीं होता । इन सबमें पुनरावर्तन है पर उनकी उपयोगिता है, इसलिए वे पुनरुक्त नहीं माने जाते । वही पुनरावर्तन या पुनरुक्ति दोष माना जाता है जिसकी कोई उपयोगिता न हो ।

लौकिक और वैदिक-साहित्य में भी अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती हैं । तात्पर्य यही है कि प्रकृत विषय की स्पष्टता, उसके समर्थन या उसे अधिक महत्त्व देने के लिए उसका उल्लेख किया जाता है, वह दोष नहीं है ।

९. पृथ्वी का खनन न करता है (पुढविं न खणे [क]) :

पृथ्वी जीव है[१] । उसका खनन करना हिंसा है । जो पृथ्वी का खनन करता है, वह अन्य त्रस-स्थावर जीवों का भी वध करता है । खनन यहाँ सांकेतिक है । इसका भाव है—मन, वचन, काया से ऐसी कोई भी क्रिया न करना, न कराना और न अनुमोदन करना जिससे पृथ्वी जीव की हिंसा हो ।

देखिए- ४ सू० १८, ५.१.३; ६.२७, २८, २९, ८.४, ५ ।

१०. शीतोदक (सीओदगं [ख]) :

जो जल शस्त्र-हत नहीं होता (सजीव होता है) उसे शीतोदक कहते हैं[२] । इसी सूत्र के चौथे अध्ययन (सू० ५) में कहा है—'आऊ चित्तमंतमक्खाया… …अन्नत्थ सत्थ परिणएणं ।'

११. न पीता है और न पिलाता है (न पिए न पियावए [ख]) :

पीना-पिलाना केवल सांकेतिक शब्द हैं । इनका भावार्थ है—ऐसी कोई क्रिया या कार्य नहीं करना चाहिए जिससे जल की हिंसा हो ।

देखिए—४ सू० १९; ६.२९, ३०, ३१; ७.३९, ८.६, ७,५१,६२ ।

१२. शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण (सुनिसियं [ग]) :

जैसे शस्त्र की तेज धार घातक होती है, वैसे ही अग्नि छह जीवकाय की घातक है । इसलिए इसे 'सुनिशित' कहा जाता है[३] ।

१३. न जलाता है और न जलवाता है (न जले न जलावए [घ]) :

'जलाना' केवल सांकेतिक शब्द है । भाव यह है कि ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे अग्नि का नाश हो ।

देखिए —४ सू० २०; ६.३२, ३३, ३४, ३५; ८.८ ।

श्लोक ३ :

१४. पंखे आदि से (अनिलेण) :

चूर्णिद्वय में 'अनिल' का अर्थ वायु[४] और टीका में उसका अर्थ 'अनिल' के हेतुभूत वस्त्र-कोण आदि किया है[५] ।

१—अ० ४ सू० ४ : पुढवी चित्तमंतमक्खाया………अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।

२—(क) अ० चू० : सीतोदगं अविगतजीवं ।

(ख) जि० चू० पृ० ३३९ : 'सिओदगं' नाम उदगं असत्थहयं सजीवं सीतोदगं भण्णइ ।

(ग) हा० टी० प० २६५ : 'शीतोदक' सचित्तं पानीयम् ।

३—अ० चू० : जधा सत्थपरसुछुरिगादि सत्थमणुधारं छेदणं तधा समततो दहणकं ।

४—(क) अ० चू० : अणिलो वायू ।

(ख) जि० चू० पृ० ३४० : अनिलो वाऊ भण्णइ ।

५—हा० टी० प० २६५ : 'अनिलेन' अनिलहेतुना चेलकर्णादिना ।

१५. हवा न करता है और न कराता है (न वीए न वीयावए [क]) :

हवा लेना केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वायु का हनन हो।
देखिए—४ सू० २१; ६.३६, ३७, ३८, ३९; ८.९

१६. छेदन न करता है और कराता है (न छिंदे न छिंदावए [ख]) :

छेदन शब्द केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वनस्पतिकाय का हनन हो।
देखिए—४.२२, ६.४१, ४२, ४३; ८.१०, ११।

१७ सचित्त का आहार नहीं करता (सचित्तं नाहारए [घ]) :

जैन-दर्शन के अनुसार वनस्पतिकाय सजीव है। भगवान् ने कहा है—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काय द्वारा तीन प्रकार से (करने, कराने और अनुमोदन रूप से) वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते। जो साधु वनस्पतिकाय की हिंसा करता है, वह तदाश्रित देखे जाते हुए और नहीं देखे जाते हुए विविध त्रस प्राणियों की भी हिंसा करता है। साधु दुर्गति को बढ़ाने वाले इस वनस्पतिकाय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग करे (दश० ६.४१, ४२)। दश० ४ सूत्र २२ में वनस्पति की तीन करण तीन योग से विराधना न करने की व्रत-प्रज्ञप्ति दी है। दश० ८.१०,११ में कहा है—"साधु तृण-घास-वृक्षादि तथा किसी वृक्षादि के फल और मूल को न काटे तथा नाना प्रकार के सचित्त बीजों के सेवन की मन से भी इच्छा न करे। वृक्षों के कुंज में एवं गहन वन में, बीजों पर अथवा दूब आदि हरितकाय पर, उदक पर, सर्पच्छत्रा पर, पनक पर एवं लीलन-फूलन पर साधु कभी भी खड़ा न हो।"

सूत्रकृताङ्ग १.७,८,९ में कहा है—"हरित वनस्पति सजीव है। मूल, शाखा और पत्रादि में पृथक्-पृथक् जीव हैं। जो अपने सुख के लिए—आहार और देह के लिए उसका छेदन करता है, वह प्रगल्भ बहुत प्राणियों का अतिपात करता है। जो बीज का नाश करता है, वह जाति-अंकुर और उसकी वृद्धि का विनाश करता है, वह अनार्यधर्मी है।" इसी तरह आचाराङ्ग १.१.५ में वनस्पतिकाय के आरम्भ-त्याग का उपदेश दिया है। इस श्लोक में मुनि के लिए सचित्त वनस्पति खाने का निषेध है[1]।

जो वनस्पति सचित्त है—शस्त्रादि के प्रयोग से पूर्ण परिणत नहीं (अचित्त नहीं हुई) है उसका भक्षण साधु न करे। उसका भक्षण करना अनाचीर्ण है। प्रश्न हो सकता है शस्त्र-परिणत अचित्त वनस्पति कहाँ मिलेगी? इसका समाधान यह है—गृहस्थों के यहाँ नाना प्रयोजनों से कन्द, मूल, फल और बीज का स्वाभाविक रूप से छेदन-भेदन होता ही रहता है। खाने के लिए नाना प्रकार की वनस्पतियाँ छेदी-भेदी और पकाई जाती हैं। साधु ऐसी अचित्त (प्रासुक-निर्जीव) वनस्पतियां प्राप्त हों तो ले, अन्यथा नहीं। कहा है—'भूख से पीड़ित होने पर भी संयम-बल वाले तपस्वी साधु को चाहिए कि वह फल आदि को स्वयं न तोड़े, न दूसरों से तुड़वाए, न स्वयं पकाए, न दूसरों से पकवाए[2]।'

इस विषय में बौद्धों का नियम जान लेना भी आवश्यक है। विनयपिटक में कहा है—"जो भिक्षुणी कच्चे अनाज को माँगकर या मंगवाकर, भूनकर या भुनवाकर, कूटकर या कुटवाकर, पकाकर या पकवाकर, खाए उसे 'पाचित्तिय' कहा है[3]।" इसी तरह वहाँ कहा है—"जो भिक्षुणी पेशाब या पाखाने को, कूड़े या जूठे को हरियाली पर फेंके उसे 'पाचित्तिय' कहा है[4]।" इसी तरह वृक्ष काटने को 'पाचित्तिय' कहा है[5]।

एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में विहार करते थे। उनके पेट में वायु की पीड़ा उत्पन्न हुई। आनन्द ने स्वयं तिल, तन्दुल और मूँग को माँग, आराम के भीतर ला, स्वयं पका यवागू (खिचड़ी) बुद्ध के सामने उपस्थित की। बुद्ध ने यवागू कहाँ से आई, यह जाना। उसकी उत्पत्ति की बात जान फटकारते हुए बोले—"आनन्द! अनुचित है, अकरणीय है। आनन्द! जो कुछ भीतर रखा गया है वह भी निषिद्ध है, जो कुछ भीतर पकाया गया है वह भी निषिद्ध है, जो स्वयं पकाया गया है वह भी निषिद्ध है। जो भीतर

१—जि० चू० पृ० ३४१ : सचित्तग्गहणेण सव्वस्स पत्तेयसाहारणस्स समेयस्स वणप्फइकायस्स गहणं कयं, तं सचित्तं णो आहारेज्जा।
२—उत्त० २.२।
३—भिक्खुनी पातिमोक्ख अ० ४.७।
४— " " ४.८।
५— " " ५.११।

रखे, भीतर पकाए और स्वय पकाए को खाए उसे दुक्कट का दोष हो और द्वार पर पकाए तो दोष नही, बाहर रखे, बाहर पकाए किन्तु दूसरों द्वारा पकाए का भोजन करे तो दोष नही[1] ।"

एक बार राजगृह में दुर्भिक्ष पडा । बाहर रखने से दूसरे ले जाते थे । बुद्ध ने भीतर रखने की अनुमति दी । भीतर रखवाकर बाहर पकाने में भी ऐसी ही दिक्कत थी । बुद्ध ने भीतर पकाने की अनुमति दी । दूसरे पकाने वाले बहु भाग ले जाते थे । बुद्ध ने स्वय पकाने की अनुमति दी। नियम हो गया—"भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ भीतर रखे, भीतर पकाए और हाथ से पकाए की[2] ।"

श्लोक ४ :

१८. औद्देशिक (उद्देसियं ग) :

इसके अर्थ के लिए देखिए दश० ३.२ का अर्थ और टिप्पण ।

१९. न पकाता है और न पकवाता है (नो वि पए न पयावए घ) :

'पकाते हुए की अनुमोदना नही करता' इतना अर्थ यहाँ और जोड लेना चाहिए । पकाने और पकवाने मे त्रस-स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियो की हिसा होती है अत मन, वचन, काया से तथा कृत, कारित, अनुमोदन से पाक का वर्जन किया गया है ।

श्लोक २ और ३ मे स्थावर जीव (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का खनन आदि क्रियाओ द्वारा वध करने का निषेध किया गया है । श्लोक ४ में ऐसे कार्यों का निषेध आ जाता है, जिसमे त्रस-स्थावर जीवो का घात हो । त्रस जीवो के घात का वर्जन भी अनेक स्थलो पर आया है ।

देखिए—४ सू० २३; ६.४३,४४,४५ ।

श्लोक ५ :

२०. आत्म-सम मानता है (अत्तसमे मन्नेज्ज क) :

जैसे दुःख मुझे अप्रिय है वैसे ही छह ही प्रकार के जीव-निकायो को अप्रिय है जो ऐसी भावना रखता है तथा किसी जीव की हिसा नही करता, वही सब जीवो को आत्मा के समान मानने वाला होता है । इसी आगम मे साधु को बार-बार 'छसु संजए'—छह ही प्रकार के जीवो के प्रति सयमी रहने वाला—कहा गया है ।

देखिए—४ सू० १०; ६.८,९,१०;७.५६;८.२,३ ।

२१. पालन करता है (फासे ग) :

'स्पर्श' शब्द का व्यवहार साधारणत: 'छूने' के अर्थ में होता है । आगम-साहित्य में इसका प्रयोग पालन या आचरण के अर्थ में भी होता है[3] । यहां 'स्पृश्' धातु पालन या सेवन के अर्थ में व्यवहृत है[4] ।

२२. पाँच आस्रवों का संवरण करता है (पंचासवसंवरे घ) :

पाँच आस्रवों की गिनती दो प्रकार से की जाती है :

१. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ।

२. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ।

१—वि० पि० म० म० ३.८ ।

२—वि० वि० म० म० ६ ।

३—उत्त० १०.२० ।

४—हा० टी० प० २६५ : सेवते महाव्रतानि ।

यहाँ पांच आस्रव से स्पर्शन आदि विवक्षित हैं[1]। अगस्त्य चूर्णि में 'संवरे' पाठ है और जिनदास चूर्णि एवं टीका में वह 'संवर' के रूप में व्याख्यात है[2]।

श्लोक ६ :

२३. ध्रुवयोगी (धुवजोगी ख) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार जो बुद्ध (तीर्थङ्कर) के वचनानुसार मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करने वाला हो, प्रतिलेखन आदि आवश्यक कार्यों को नियमित रूप से करने वाला हो, वह 'ध्रुवयोगी' कहलाता है। कहा भी है—जिनशासन बुद्धों के वचनरूप द्वादशाङ्गी—गणीपिटक में जिसका योग (मन, वचन और काया) हो, जो पांच प्रकार के स्वाध्याय में रत हो, जिसके चल (चलत्पद) आदि न हों, वह 'ध्रुवयोगी' है[3]।

जिनदास महत्तर के अनुसार जो क्षण, लव और मुहूर्त मे जागरूकता आदि गुणयुक्त हो, प्रतिलेखन आदि संयम के कार्य को नियमित रूप से करने वाला हो, सावधान होकर मन, वचन और काया से प्रवृत्ति करने वाला हो, बुद्ध-वचन (द्वादशाङ्गी) मे निश्चल योगवाला हो, सदा श्रुत में उपयुक्त हो, वह 'ध्रुवयोगी' कहलाता है[4]।

२४. गृहियोग (गिहिजोगं ख) :

चूर्णियों में गृहियोग का अर्थ पचन-पाचन, क्रय-विक्रय आदि किया है[5]। हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ—मूर्च्छावश गृहस्थ-सम्बन्ध किया है[6]।

श्लोक ७ :

२५. सम्यक्-दर्शी (सम्मद्दिट्ठी क) :

जिसका जिन-प्रतिपादित जीव, अजीव आदि पदार्थों में सम्यग्-विश्वास होता है, उसे सम्यक्-दर्शी—सम्यक्-दृष्टि कहा जाता है[7]।

२६. अमूढ़ है (अमूढे क) :

मिथ्या विश्वासों में रत व्यक्तियों का वैभव देखकर मूढ़ भाव लाने वाला अपने दृष्टिकोण को सम्यक् नही रख सकता। इसलिए

१—अ० चू० : पंचासववाराणि इंदियाणि ताणि आसवा चेव ताणि संवरे।

२—(क) जि० चू० पृ० ३४१ : 'पचासवसंवरे' णाम पंचिंदियसंवुडे, जहा 'सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयं उवगएसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होयव्वं ॥' एवं सव्वेसु भाणियव्वं।

(ख) हा० टी० प० २६५ : 'पञ्चाश्रवसंवृतश्च' द्रव्यतोऽपि पञ्चेन्द्रियसंवृतश्च।

३—अ० चू० : बुद्धा जा तेसिं वयणं बुद्धवयणं तम्मि जोगो कायवालमणेमतं कम्म सी धुवो जोगो जस्स सो धुवजोगीति जोगेण जहा करणीयमायुत्तेण पडिलेहणादि जो जोगो तत्थ निच्चजोगिणाण पुण कदापि करेति कदापि न करेति, भणितं च—

जोगो जोगो जिणसासणंमि धुवबुद्धवयणे।
दुवालसंगे गणिपिडए धुवजोगी पंचविध सज्झायपरो ॥

४—जि० चू० पृ० ३४१ धुवजोगी णाम जो खणलवमुहुत्त पडिबुज्झमाणादिगुणजुत्तो सो धुवजोगी भवइ, अहवा जे पडिलेहणादि संजमजोगा तेसु धुवजोगी भवेज्जा, ण ते अण्णदा कुज्जा अहवा मणवयणकायए जोगे जुंजमाणो आउत्तो जुंजेज्जा, अहवा बुद्धाणवयण दुवालसंग तम्मि धुवजोगी भवेज्जा, सुओवउत्तो सव्वकाल भवेज्जासि।

५—(क) अ० चू० गिहिजोगो—जो तेसिं वावारो पयणपयावणं त।

(ख) जि० चू० पृ० ३४२ : गिहिजोगो णाम पयणविक्कमादि।

६—हा० टी० प० २६६ : 'गृहियोगं' मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धम्।

७—अ० चू० : सब्भावं सद्दहणा लक्खणा सम्मदिट्ठी जस्स सो सम्मदिट्ठी।

सम्यग्-दृष्टि बने रहने के लिए आवश्यक है कि वह अमूढ़ बना रहे। ज्ञान, तप और संयम हैं—यह श्रद्धा अमूढ़दृष्टि के ही होती है। मूढ़-दृष्टि को इस तत्व-त्रयी में विश्वास नहीं होता। इसलिए भिक्षु को अमूढ़ रहना चाहिए[1]।

२७. (अत्थि हु [ख]) :

'ज्ञान, तप और संयम जिनशासन में ही हैं, कुप्रवचनों में नहीं हैं'—इस प्रकार भिक्षु को अमूढ़दृष्टि होना चाहिए। यह जिनदास चूर्णि में 'अत्थि हु' का अर्थ किया है[2] और टीका में—'ज्ञान, तप और संयम हैं' भिक्षु अमूढ़ भाव से इस प्रकार मानता है—यह किया है[3]।

२८. मन, वचन तथा काय से सुसंवृत (मणवयकायसुसंवुडे [घ]) :

अकुशल मन का निरोध अथवा कुशल मन की उदीरणा करना मन से सुसंवृत होना है। अकुशल मन का निरोध और प्रशस्त वचन की उदीरणा अथवा मौन रहना वचन से सुसंवृत होना है। विहित नियमों के अनुसार आवश्यक शारीरिक क्रियाएँ करना—काया से अकरणीय क्रियाएँ नहीं करना—काय से सुसंवृत होना है[4]।

श्लोक ८ :

२९. परसों (परे [ग]) :

इसका मूल 'परे' है। टीका में इसका अर्थ 'परसो' किया है[5] और जिनदास चूर्णि मे तीसरा, चौथा आदि दिन किया है[6]।

३०. न सन्निधि (संचय) करता है (न निहे [घ]) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है—बासी नहीं रखना[7]। टीका में इसका अर्थ है– स्थापित कर नहीं रखता। भावार्थ है—संग्रह नहीं करता[8]।

इस श्लोक के साथ मिलाएँ :

> अन्नानमथो पानानं खादनीयानमथोऽपि वत्थानं।
> लद्धा न सन्निधिं कयिरा, न च परित्तसे तानि अलभमानो॥ सुत्तनिपात ५२-१०।

१—(क) अ० चू० : परतित्थियविभवादीहिं अमूढे।

(ख) जि० चू० पृ० ३४२ : अण्णतित्थियाण सोऊण अण्णेसिं रिद्धीओ दट्ठूण अमूढो भवेज्जा, अहवा सम्मद्दिट्ठिणा जो इयाणीं अत्थो भण्णइ तंमि अत्थि सया अमूढा दिट्ठी कायव्वा।

(ग) हा० टी० प० २६६ : 'अमूढः' अविप्लुतः।

२—जि० चू० पृ० ३४२ : जहा अत्थि हु जोगे नाणे य, तस्स णाणस्स फलं संजमे य, संजमस्स फलं, ताणि य इमंमि चेव जिणवयणे संपुण्णाणि, णो अण्णेसु कुप्पावयणेसुत्ति।

३—हा० टी० प० २६६ : 'अमूढः' अविप्लुत. सन्नेवं मन्यते—अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्ममलापनयनजलकल्पं संयमश्च नवकर्मानुपादानरूपः।

४—जि० चू० पृ० ३४२ : मणवयणकायजोगे सुट्ठु संवुडेत्ति, कह पुण संवुडे ?, तत्थ मणेणं ताव अकुसलमणनिरोधं करेइ, कुसलमणोदीरणं च, वयाएवि पसत्थाणि वायणपरियट्टणाईणि कुव्वइ, मोणं वा आसेवई काएण सयणासणआयाणनिक्खेवणट्ठाणचंकमणाइसु कायचेट्ठाणियमं कुव्वति, सेसाणि य अकरणिज्जाणि य ण कुव्वइ।

५—हा० टी० प० २६६ : परश्वः।

६—जि० चू० पृ० ३४२ : परग्गहणेण तइयचउत्थमादीण दिवसाण गहणं कयं।

७—जि० चू० पृ० ३४२ : 'न निहे न निहावए' णाम न परिवासिज्जत्ति वुत्तं भवति।

८—हा० टी० प० २६६ : 'न निधत्ते' न स्थापयति।

श्लोक ९ :

३१. सार्धमिकों को (साहम्मियाण ग) :

सार्धमिक का अर्थ समान-धार्मिक साधु है[1]। साधु भोजन के लिए विषम-भोगी साधु तथा गृहस्थ को निमन्त्रित नहीं कर सकता। अपने संघ के साधुओं को—जो महाव्रत तथा अन्य नियमों की दृष्टि से समान-धर्मी हैं, उन्हें ही निमंत्रित कर सकता है।

३२. निमन्त्रित कर (छंदिय ग) :

छंद का अर्थ इच्छा है। इच्छापूर्वक निमन्त्रित कर—यह 'छंदिय' का अर्थ है[2]। इसका भावार्थ है—जो आहार आदि प्राप्त किया हो उसमें समविभाग के लिए समान-धर्मा साधुओं को निमन्त्रित करना चाहिए और यदि कोई लेना चाहे तो बाटकर भोजन करना चाहिए[3]। इस नियम के अर्थ को समझने के लिए देखिए—५.१.९४,९५,९६ का अर्थ और टिप्पण।

श्लोक १० :

३३. कलहकारी कथा (वुग्गहियं कहं क) :

विग्रह का अर्थ कलह, युद्ध या विवाद है। जिस कथा, चर्चा या वार्ता से विग्रह उत्पन्न हो, उसे वैग्रहिकी-कथा कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अमुक राजा, देश या और कोई ऐसा है—इस प्रकार की कथा नहीं करनी चाहिए। प्रायः ऐसा होना है कि एक व्यक्ति किसी के बारे में कुछ कहता है और दूसरा तत्काल उसका विरोध करने लग जाता है। बात ही बात में विवाद बढ जाता है, कलह हो जाता है[4]।

जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ कलह-प्रतिबद्ध-कथा किया है[5]। सारांश यह है कि युद्ध-सम्बन्धी और कलह या विपाद उत्पन्न करने वाली कथा नहीं करनी चाहिए। सुत्तनिपात (तुवटक-सुत्त—५.२.१६) में भिक्षु को शिक्षा देते हुए प्रायः ऐसे ही शब्द कहे गये हैं :

न च कत्थिता सिया भिक्खु, न च वाचं पयुतं भासेय्य।
'पागब्भियं' न सिक्खेय्य, कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य॥

भिक्षु धर्मरत्न ने चतुर्थ चरण का अर्थ किया है—कलह की बात न करे। गुजराती अनुवाद में (प्र० २०१) अ० धर्मानन्द कोसम्बी ने अर्थ किया है—'भिक्षु को वाद-विवाद में नहीं पडना चाहिए।'

३४. जो कोप नहीं करता (न य कुप्पे ख) :

इसका आशय है कि कोई विवाद बढाने वाली चर्चा छेड़े तो उसे सुन मुनि क्रोध न करे अथवा चर्चा करते हुए कोई मतवादी कुतर्क उपस्थित करे तो उसे सुन क्रोध न करे[6]।

१—अ० चू० : साधम्मिया समाणधम्मिया साधुणो।

२—(क) अ० चू० : छंदो इच्छा इच्छाकारेण जोयणं छंदणं। एवं छंदिय।
(ख) हा० टी० प० २६६ : 'छन्दित्वा' निमन्त्र्य।

३—जि० चू० पृ० ३४३ : अणुग्गहमिति मन्नमाणो धम्मयाते साहम्मियाते छंदिया भुंजेज्जा छंदिया नाम निमंतिऊण, जइ पडिगाहता तओ तेसिं दाऊण पच्छा सयं भुंजेज्जा।

४—अ० चू० : विग्गहो कलहो। तम्मि तस्स वा कारणं विग्गहिता कथा अमुगो, एरिसो रायादेसो वा। एत्थ सव्वं कलहो समुपज्जति।

५—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : वुग्गहिया नाम कुसुम (कलह) वुत्ता, तं वुग्गहियं कहं णो कहिज्जा।
(ख) हा० टी० प० २६६ : न च 'वैग्रहिकीं' कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति।

६—(क) अ० चू० : जति वि परो कहेज्ज तथावि अम्हं रायाणं देसं वा णिंदसित्ति ण कुप्पेज्जा। वादादी सयमवि कहेज्जा विग्गह कहं ण य पुण कुप्पेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३४३ : जयावि केणई कारणेण वायकहा जप्पकहादी कहा भवेज्जा, ताहे तं कुव्वमाणो णो कुप्पेज्जा।

३५. जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत हैं (निहुइंदिए ^ख^) :

निभृत का अर्थ विनीत है[1]। जिसकी इन्द्रियाँ विनीत हैं—उद्धत नहीं हैं, उसे निभृतेन्द्रिय कहा जाता है[2]।

३६. जो संयम में ध्रुवयोगी है (संजमधुवजोगजुत्ते ^ग^) :

'ध्रुव' का अर्थ अवश्यकरणीय[3] और सर्वदा है[4]। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया। सयम में मन, वचन और काया—इन तीनों योगों से सदा संयुक्त रहने वाला ध्रुवयोगी कहलाता है[5]।

३७. जो उपशान्त है (उवसंते ^घ^) :

इसक अर्थ अनाकुल, अव्याक्षिप्त[6] और काया की चपलता आदि से रहित है[7]।

३८. जो दूसरो को तिरस्कृत नहीं करता (अविहेडए ^घ^) :

विग्रह, विकथा आदि के प्रसगों मे समर्थ होने पर भी जो ताड़ना आदि के द्वारा दूसरो को तिरस्कृत नही करता, उसे 'अविहेडक' कहा जाता है—यह चूर्णि की व्याख्या है[8]। टीका के अनुसार जो उचित के प्रति अनादर नही करता, उसे 'अविहेडक' कहा जाता है। क्रोध आदि का परिहार करने वाला अविहेडक कहलाता है—यह टीका में व्याख्यान्तर का उल्लेख है[9]।

श्लोक ११ :

३९. कांटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयों (गामकंटए ^क^) :

विषय, शब्द, अस्त्र, इन्द्रिय, भूत और गुण के आगे समूह के अर्थ में ग्राम शब्द का प्रयोग होता है—यह शब्दकोश का अभिमत है[10]। आगम के व्याख्या-ग्रन्थों मे ग्राम का अर्थ इन्द्रिय किया है[11]। जो इन्द्रियो को काटों की भांति चुभें, उन्हें ग्राम-कण्टक कहा जाता है। जैसे शरीर मे लगे हुए काटे उसे पीड़ित करते हैं, उसी तरह अनिष्ट शब्द आदि श्रोत्र आदि इन्द्रियो में प्रविष्ट होने पर उन्हें

१—अ० चि० ३.९५ : विनीतस्तु निभृतः प्रश्रितोऽपि च।

२—हा० टी० प० २६६ : 'निभृतेन्द्रियः' अनुद्धतेन्द्रियः।

३—अ० चू० : संजमे धुवो जोगो तववस्सकरणीयाण सजमं धुवजोगो कायवायमणोमत्तेण जोगेण जुत्ते संजमधुवजोगजुत्ते।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : 'धुवं' नाम सव्वकालं।
(ख) हा० टी० प० २६६ : 'ध्रुवं' सर्वकालम्।

५—जि० चू० पृ० ३४३ : संजमधुवजोगजुत्तो भवेज्जा, संजमो पुव्वभणिओ, 'धुवं' नाम सव्वकालं, जोगो मणसादि, तंमि संजमे सव्वकालं तिविहेण जोगेण जुत्तो भवेज्जा।

६—जि० चू० पृ० ३४३ : 'उवसंते' नाम अणाकुलो अव्वक्खित्तो भवेज्जत्ति।

७—हा० टी० प० २६६ : 'उपशान्तः' अनाकुलः कायचापलादिरहितः।

८—(क) अ० चू० : परे विग्गहविकथादिपसंगेसु समत्थो वि ण तालणादिणा विहेडयति एवं स अविहेडए।
(ख) जि० चू० पृ० ३४३ : 'अविहेडए' नाम जे परं अक्कोसतेप्पणादीहिं न विधेडयति से अविहेडए।

९—हा० टी० प० २६६ : 'अविहेठकः' न क्वचिदुचितेऽनादरवान्, क्रोधादीनां विक्षेपक इत्यन्ये।

१०—अ० चि० ६.४१ : ग्रामो विषयशब्दास्त्रभूतेन्द्रियगुणाद् व्रजे।

११—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : गामग्गहणेण इंदियग्गहणं कयं।
(ख) हा० टी० प० २६७ : ग्रामा—इन्द्रियाणि।

दुःखदायी होते हैं अतः कर्कश शब्द आदि ग्राम-कण्टक (इन्द्रिय-कण्टक) कहलाते हैं[1]। जो व्यक्ति ग्राम में काँटे के समान चुभने वाले हों, उन्हें ग्राम-कण्टक कहा जा सकता है। संभव है ग्राम-कण्टक की भांति चुभन उत्पन्न करने वाली स्थितियों को 'ग्राम-कण्टक' कहा हो। यह शब्द उत्तराध्ययन (२.२५) में भी प्रयुक्त हुआ है :

सोच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गामकंटगा।
तुसिणीउ उवेहेज्जा ण ताओ मणसीकरे॥

४०. आक्रोश वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं (अक्कोसपहारतज्जणाओ [ख]) :

आक्रोश का अर्थ गाली है। चाबुक आदि से पीटना, प्रहार[2] और 'कर्मों से डर साधु बना है' - इस प्रकार भर्त्सना करना तर्जना[3] कहलाता है। जिनदास चूर्णि और टीका में आक्रोश, प्रहार, तर्जना को ग्राम-कण्टक कहा है[4]।

४१. बेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को (भयभेरवसद्दसंपहासे [ग]) :

भय-भैरव का अर्थ अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला है। 'अत्यन्त भयोत्पादक शब्द से युक्त संप्रहास उत्पन्न होने पर'—इस अर्थ में 'भयभेरवसद्दसंपहासे' का प्रयोग हुआ है[5]। टीका मे 'सप्रहास' को शब्द का विशेषण मान कर व्याख्या की है—जिस स्थान में अत्यन्त रौद्र भयजनक प्रहास सहित शब्द हो, उस स्थान में[6]।

मिलाएँ सुत्तनिपात की निम्नलिखित गाथाओं से—

भिक्खुनो विजिगुच्छतो भजतो रित्तमासनं।
रुक्खमूलं सुसानं वा पब्बतानं गुहासु वा॥
उच्चावचेसु सयनेसु कीवन्तो तत्थ भेरवा।
येहि भिक्खु न वेधेय्य निग्घोसे सयनासने॥ (५४.४-५)

४२. सहन करता है (सहइ [क]) :

आक्रोश, प्रहार, वध आदि परीषहों को साधु किस तरह सहन करे, इसके लिए देखिए— उत्तराध्ययन २.२४-२७।

श्लोक १२ :

४३. जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहणकर (पडिमं पडिवज्जिया मसाणे [क]) :

यहाँ प्रतिमा का अर्थ कायोत्सर्ग और अभिग्रह (प्रतिज्ञा) दोनों संभव हैं[7]। कुछ विशेष प्रतिज्ञाओं को स्वीकार कर कायोत्सर्ग की

१—जि० चू० पृ० ३४३ : जहा कंटगा सरीरानुगता सरीरं पडियंति तथा अणिट्ठा विसयकंटका सोताइंदियगामे अणुप्पविट्ठा तमेव इंदियं पीडयंति।

२—हा० टी० प० २६७ : प्रहाराः कशादिभिः।

३—जि० चू० पृ० ३४३ : तज्जणाए जहा एते समणा किवणा कम्ममीता पव्वतिया एवमादि।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : ते य कंटगा इमे 'अक्कोसपहारतज्जणाओ।

(ख) हा० टी० प० २६७ : 'ग्रामकण्टकान्' ग्रामा—इन्द्रियाणि तद्दुःखहेतवः कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह—आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाश्चेति।

५—(क) अ० चू० : पच्चवायो भय। रोद्दं भेरवं वेतालकालियादीण सद्दो। भयभेरवसद्देहिं समेच्च पहसणं भयभेरवसद्दसंपहासो। तम्मि समुवत्थिते।

(ख) जि० चू० पृ० ३४३-३४४ : भयं पसिद्धं, भयं च भेरवं, न सव्वमेव भयं भेरवं, किन्तु ?, तत्थवि जं अतीवदारुणं भयं तं भेरवं भण्णइ, वेतालगणादयो भयभेरवकारमेण महता सद्देण जम्मि ठाणे पहसंति सप्पहासे, तं ठाणं भयभेरवसद्दप्पहास भण्णइ।

६—हा० टी० प० २६७ : 'भैरवभया' अत्यन्तरौद्रभयजनकाः शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते तस्मिन्, वैतालादिकृतार्त्तनादाट्टहास इत्यर्थः।

७—हा० टी० प० २६७ : 'प्रतिमां' मासादिरूपाम्।

मुद्रा में स्थित हो श्मशान में ध्यान करने की परम्परा जैन मुनियों में रही है। इसका सम्बन्ध उसी से है[1]।

श्मशानिकाङ्ग बौद्ध-भिक्षुओं का ग्यारहवाँ धुताङ्ग है। देखिए—विशुद्धिमार्ग पृ० ७५, ७६।

४४. जो विविध गुणों और तपों में रत होता है (विविहगुणतवोरए ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार बौद्ध-भिक्षुओं को श्मशानिक होना चाहिए। उनके आचार्यों का ऐसा उपदेश है[2]। जिनदास चूर्णि के अनुसार सब वस्त्रधारी संन्यासी श्मशान में रहते हैं वे भी नहीं डरते। केवल श्मशान मे रहकर नही डरना ही कोई बड़ी बात नहीं है। उसके साथ-साथ विविध गुणो और तपो मे नित्य रत भी रहना चाहिए[3]। निर्ग्रन्थ भिक्षु के लिए यह विशिष्ट मार्ग है।

४५. जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता (न सरीरं चाभिकंखई घ) :

भिक्षु शरीर के प्रति निस्पृह होता है[4]। उसे कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरा शरीर उपसर्गों से बच निकले, मेरे शरीर को दुःख न हो, वह विनाश को प्राप्त न हो[5]।

श्लोक १३ :

४६. जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है (असइं वोसट्ठचत्तदेहे क) :

जिसने शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग किया हो, उसे व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह कहा जाता है[6]। व्युत्सर्ग और त्याग—ये दोनों लगभग समानार्थक हैं फिर भी आगमो में इनका प्रयोग विशेष अर्थ में रूढ है। अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार कर शारीरिक-क्रिया का त्याग करने के अर्थ मे व्युत्सर्ग का और शारीरिक परिकर्म (मर्दन, स्नान और विभूषा) के परित्याग के अर्थ मे त्याग शब्द का प्रयोग होता है[7]।

जिनदास महत्तर ने वोसट्ठ का केवल पर्याय-शब्द दिया है[8]। जो कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान के द्वारा शारीरिक अस्थिरता से निवृत्त होना चाहता है, वह 'वोसिरइ' क्रिया का प्रयोग करता है[9]।

हरिभद्रसूरि ने प्रतिबन्ध के अभाव के साथ व्युत्सृष्ट का सम्बन्ध जोड़ा है[10]। व्यवहार भाष्य की टीका मे भी यही अर्थ मिलता है[11]।

१—दशा० ७।

२—अ० चू० : जधा सक्कभिक्खूण एस उवदेसो मासाणिगेण भवितव्वं। ण य ते तम्मि बिभेंति तम्मतिणिसेधणत्थं विसेसिज्जति।

३—जि० चू० पृ० ३४४ : जहा रत्तपडादीवि सुसाणेसु अच्छंति, ण य बीहिंति, तप्पडिसेधणत्थमिद भण्णइ।

४—हा० टी० प० २६७ : न शरीरमभिकाङ्क्षते निस्पृहतया वार्त्तमानिकं भावि च।

५—जि० चू० पृ० ३४४ : ण य सरीर तेहिं उवसग्गेहिं बाहिज्जमाणोऽवि अभिकंखइ, जहा अइ मम एतं सरीरं न दुक्खाविज्जेज्जा, न वा विणिस्सिज्जेज्जा।

६—अ० चू० : वोसट्ठो चत्तोय देहो जेण सो वोसट्ठचत्तदेहो।

७—अ० चू० : वोसट्ठो पडिमादिसु विणिहत्तकियो। ण्हाणुमद्दणादिविभूसाविरहितो चत्तो।

८—जि० चू० पृ० ३४४ : वोसट्ठं ति वा वोसिरियति वा एगट्ठा।

९—आव० ४ : ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।

१०—हा० टी० प० २६७ : व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देहः।

११—व्य० भा० टी० : व्युत्सृष्टः प्रतिबन्धाभावतः त्यक्तः परिकर्मकरणतो देहो येन स व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः।

व्यवहार भाष्य में वोसट्ठ, निसट्ठ और चत्त—इन तीनों का भी एक साथ प्रयोग मिलता है[1]। तप के बारह प्रकारों में व्युत्सर्ग एक प्रकार का तप है। उसका संक्षिप्त अर्थ है—शरीर की चेष्टाओं का निरोध[2] और विस्तृत अर्थ है—गण (सहयोग), शरीर, उपधि और भक्त-पान का त्याग तथा कषाय, संसार और कर्म के हेतुओं का परित्याग[3]।

शरीर, उपधि और भक्त-पान के व्युत्सर्ग का अर्थ इस प्रकार है :

शरीर की सार-सम्हाल को त्यागना या शरीर को स्थिर करना काय-व्युत्सर्ग कहलाता है। एक वस्त्र और एक पात्र के उपरान्त उपधि न रखना अथवा पात्र न रखना तथा चुल्लुपट्ट और कटिबन्ध के सिवाय उपधि न रखना उपधि-व्युत्सर्ग है। अनशन करना भक्त-पान व्युत्सर्ग है[4]।

निशीथ भाष्य मे सलेखना, व्युत्सृष्टव्य और व्युत्सृष्ट के तीन-तीन प्रकार बतलाये हैं[5]। वे आहार, शरीर और उपकरण हैं[6]।

भगवान् महावीर ने अभिग्रह स्वीकार किया तब शरीर के ममत्व और परिकर्म के परित्याग की सकल्प की भाषा में उन्होंने कहा—'मैं सब प्रकार के उपसर्गों को सहन करूँगा।' यह उपसर्ग-सहन ही शरीर का वास्तविक स्थिरीकरण है और जो अपने शरीर को उपसर्गों के लिए समर्पित कर देता है, उसी को व्युत्सृष्ट-देह कहा जाता है। भगवान् ने ऐसा किया था[7]।

भिक्षु को बार-बार देह का व्युत्सर्ग करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसे काया स्थिरीकरण या कायोत्सर्ग और उपसर्ग सहने का अभिग्रह करते रहना चाहिए।

४७. पृथ्वी के समान सर्वसह (पुढवि समे [ग]) :

पृथ्वी आक्रोश, हनन और भक्षण करने पर भी द्वेष नही करती, सबको सह लेती है। उसी प्रकार भिक्षु आक्रोश आदि को निर्वैर भाव से सहन करे[8]।

४८. जो निदान नहीं करता (अनियाणे [घ]) :

जो ऋद्धि आदि के निमित्त तप-सयम नही करता[9] जो भावी फलाशंसा से रहित होता है[10], जो किए हुए तप के बदले मे ऐहिक फल की कामना नहीं करता, उसे अनिदान कहते है।

श्लोक १४ :

४९. शरीर (काएण [क]) :

अधिकांश परीषह काया से सहे जाते हैं, इसलिए यहाँ—काया से परीषहों को जीतकर—ऐसा कहा है। बौद्ध आदि मन को ही सब

१—व्य० भा० : वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहाओ।

२—उत्त० ३०.३६ : सयणासणठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

३—भग० २५.७ : औप० तपोधिकार।

४—भग० जोड़ २५.७।

५—गाथा १७२० : संलिहितं पि य तिविधं, वोसिरियव्वं च तिविह वोसट्ठं।

६—नि० चू० : आहारो सरीरं उवकरणं च।

७—आ० चू० १५.३४. : तओ णं समणे भगवं महावीरे ... इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—बारसवासाइं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति, तंजहा—दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि।

८—जि० चू० पृ० ३४४ : जहा पुढवी अक्कुस्समाणी हम्ममाणी भक्खिज्जमाणी च न य किंचि पओसं वहइ, तहा भिक्खुणावि सव्वफास-विसहेण होयव्वं।

९—जि० चू० पृ० ३४५ : माणुसरिद्धिनिमित्तं तवसंजमं न कुव्वइ, से अनियाणे।

१०—हा० टी० प० २६७ : 'अनिदानो' भाविफलाशंसारहितः।

कुछ मानते हैं। उनसे मतभेद दिखाने के लिए भी 'काय' का प्रयोग हो सकता है[१]। जैन-दृष्टि यह है कि जैसे मन का नियन्त्रण आवश्यक है, वैसे काया का नियंत्रण भी आवश्यक है और सच तो यह है कि काया को समुचित प्रकार से नियन्त्रित किए बिना मन को नियंत्रित करना हर एक के लिए संभव भी नहीं है[२]।

५०. परीषहों को (परीसहाइं [क]) :

निर्जरा (आत्म-शुद्धि) के लिए और मार्ग से च्युत न होने के लिए जो अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियां और मनोभाव सहे जाते हैं, वे परीषह कहलाते हैं[३]। वे क्षुधा, प्यास आदि बाईस हैं[४]।

५१. जाति-पथ (संसार) से (जाइपहाओ [ख]) :

दोनों चूर्णियों में 'जातिवह' और टीका में 'जातिपह'—ऐसा पाठ है। 'जातिवह' का अर्थ जन्म और मृत्यु[५] तथा 'जातिपथ' का अर्थ संसार किया है[६]। 'जातिपथ' शब्द अधिक प्रचलित एवं गम्भीर अर्थवाला है, इसलिए मूल में यही स्वीकृत किया है।

५२. (तवे [घ]) :

चूर्णिद्वय मे 'भवे' और टीका में 'तवे' पाठ है। यह सम्भवतः लिपिदोष के कारण वर्ण-विपर्यय हुआ है। श्रामण्य मे रत रहता है यह सहज अर्थ है। किन्तु 'तवे' पाठ के अनुसार—श्रमण-सम्बन्धी तप मे रत रहता है[७]—यह अर्थ करना पडा। श्रामण्य को तप का विशेषण माना है, पर वह विशेष अर्थवान् नही है।

श्लोक १५ :

५३. हाथों से संयत, पैरों से संयत (हत्थसंजए पायसंजए क) :

जो प्रयोजन न होने पर हाथ-पैरों को कूर्म की तरह गुप्त रखता है और प्रयोजन पर प्रतिलेखन, प्रमार्जन कर सम्यक् रूप से व्यवहार करता है, उसे हाथों से सयत, पैरों से सयत कहते है[८]।

देखिए—'सजइंदिए' का टिप्पण ५५।

१—(क) अ० चू० : परीसहा पायेण कायेण सहणीया अतो कायेणेति भण्णति। जे बोद्धादयो चित्तमेवणियंतव्वमिति तप्पडिसेधणत्थं कायवयणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : सक्काणं चेत्तवेतसिगा धम्मा इति तं णिसेहणत्थमिदमुच्यते।

२—हा० टी० प० २६७ : 'कायेन' शरीरेणापि, न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या मनोवाग्भ्यामेव, कायेनानभिभवे तत्त्वतस्तदनभिभवात्।

३—तत्त्वा० ९.८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः।

४—उत्त० २।

५—(क) अ० चू० : जातिवधो पुव्वभणितो।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : जातिग्गहणेण जम्मणस्स गहणं कय, वधगहणेणं मरणस्स गहणं कयं।

६—हा० टी० प० २६७ : 'जातिपथात्' संसारमार्गात्।

७—(क) अ० चू० : भवे रते सामणिए—समणभावो सामणियं तम्मि रतो भवे।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ : सामण्णिए रते भवेज्जा, सामणभावो सामण्णियं भन्नइ।

(ग) हा० टी० प० २६७ : 'तपसि रत' तपसि सक्तः, किंभूत इत्याह—'श्रमण्ये' श्रमणानां संबन्धिनि, शुद्ध इति भावः।

८—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : हत्थपाएहिं कुम्मो इव णिक्कारणे जो गुत्तो अच्छइ, कारणे पडिलेहिय पमज्जिय वावारं कुव्वइ, एवं कुव्वमाणो हत्थसंजओ पायसंजओ भवइ।

(ख) हा० टी० प० २६७ : हस्तसंयतः पादसंयत इति-कारणं विना कूर्मवल्लीन आस्ते कारणे च सम्यग्गच्छति।

५४. वाणी से संयत (वायसंजए ख) :

जो अकुशल वचन का निरोध करता है और कार्य होने पर कुशल वचन की उदीरणा करता है, उसे वाणी से संयत कहते हैं[1]।

देखिए—'संजइंदिए' का टिप्पण ५५।

५५. इन्द्रिय से संयत (संजइंदिए ख) :

जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को विषयों में प्रविष्ट नहीं होने देता तथा विषय प्राप्त होने पर जो उनमें राग-द्वेष नहीं करता, उसे इन्द्रियों से संयत कहते हैं[2]।

मिलाएँ—

चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो॥
कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ धम्मपद २५.१-२।

५६. अध्यात्म (अज्झप्प ग) :

अध्यात्म का अर्थ शुभ ध्यान है[3]।

श्लोक १६ :

५७. जो मुनि वस्त्रादि उपधि (उपकरणों) में मूर्च्छित नहीं है, जो अगृद्ध है (उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे क) :

जिनदास महत्तर के अनुसार मूर्च्छा और गृद्धि एकार्थक भी हैं। जहाँ बलपूर्वक कहना हो या आदर प्रदर्शित करना हो वहाँ एकार्थक शब्दों का प्रयोग पुनरुक्त नहीं कहलाता और उन्होंने इनमें अन्तर बताते हुए लिखा है कि—'मूर्च्छा' का अर्थ मोह और 'गृद्धि' का अर्थ प्रतिबन्ध है। उपधि में मूर्च्छित रहने वाला करणीय और अकरणीय को नहीं जानता और गृद्ध रहने वाला उसमें बंध जाता है। इसलिए मुनि को अमूर्च्छित और अगृद्ध रहना चाहिए[4]।

५८. जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है (अन्नायउंछंपुल निप्पुलाए ख) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'अज्ञातोञ्छपुल' का अर्थ है—अज्ञात-कुल की एषणा करने वाला[5] और 'निष्पुलाक' का अर्थ है—मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाकर संयम को निस्सार न करने वाला[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : वायाएवि संजओ, कहं ?, अकुसलवइनिरोधं कुव्वइ, कुसलवइउदीरणं च कज्जे कुव्वइ।
(ख) हा० टी० प० २६७ : वाक्संयतः अकुशलवाग्निरोधकुशलवागुदीरणेन।

२—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : 'संजइंदिए' नाम इंदियविसयपयारणिरोधं कुव्वइ, विसयपत्तेसु इंदियत्थेसु रागद्दोसविणिग्गहं च कुव्वतित्ति।
(ख) हा० टी० प० २६७ : 'संयतेन्द्रियो' निवृत्तविषयप्रसरः।

३—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : 'अज्झप्परए' नाम सोभणज्झाणरए।
(ख) हा० टी० प० २६७ : 'अध्यात्मरतः' प्रशस्तध्यानासक्तः।

४—जि० चू० पृ० ३४५-३४६ : मुच्छासद्दो य गिद्धिसद्दो य दोऽवि एगट्ठा, अच्चत्थनिमित्तं आयरनिमित्तं च पउंजमाणा न पुणरुत्तं भवति, अहवा मुच्छियगहियाणं इमो विसेसो भण्णइ, तत्थ मुच्छासद्दो मोहे वट्टव्वो, गेहियसद्दो पडिबंधे वट्टव्वो, जहा कोइ मुच्छिओ तेण मोहकारणेण कज्जाकज्जं न याणइ, तहा सोऽवि भिक्खू उवहिम्मि अज्झोववण्णो मुच्छिओ किर कज्जाकज्जं न याणइ, तम्हा न मुच्छिओ अमुच्छिओ, अगिद्धिओ अबद्धो भण्णइ, कहं ?, सो तंमि उवहिम्मि सिणेहेण आसन्नभव्वत्तणेण अबद्धो इव वट्टव्वो, णो गिद्धिए अगिद्धिए।

५—अ० चू० : तं पुलएति तमेसति एस अण्णाउञ्छपुलाए।

६—अ० चू० : मूलुत्तरगुणपडिसेवणाए निस्सारं संजमं करेंति एस भावपुलाए तधा णिपुलाए।

जिनदास महत्तर ने 'पुल' को 'पुलाक' शब्द मानकर 'पुलाक निष्पुलाक' की व्याख्या इस प्रकार की है —मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाने से संयम निस्सार बनता है, वह भावपुलाक है। उससे रहित 'पुलाक निष्पुलाक' कहलाता है अर्थात् जिससे संयम पुलाक (सार रहित) बनता हो, वैसा अनुष्ठान न करने वाला[1]।

टीकाकार ने भी 'पुल' को 'पुलाक' शब्द मानकर 'पुलाक निष्पुलाक' का अर्थ संयम को निस्सार बनाने वाले दोषों का सेवन न करने वाला किया है[2]।

हलायुध कोश में 'पुलक' और 'पुलाक' का अर्थ तुच्छ धान्य किया है। मनुस्मृति में इसी अर्थ में 'पुलाक' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]।

५९. सन्निधि से (सन्निहिओ [ग]) :

अशन आदि को रातवासी रखना सन्निधि कहलाता है[4]।

६०. जो क्रय-विक्रय से ··· विरत (कयविक्कय·· विरए [ग]) :

क्रय-विक्रय को भिक्षु के लिए अनेक जगह वर्जित बताया है। बुद्ध ने भी अपने भिक्षुओं को यही शिक्षा दी थी[5]।

६१. जो सब प्रकार के संगों से रहित है (निर्लेप है) (सव्वसंगावगए [घ]) :

संग का अर्थ है इन्द्रियों के विषय[6]। सर्वसंगापगत वही हो सकता है जो बारह प्रकार के तप और सत्तरह प्रकार के संयम में लीन हो।

श्लोक १७ :

६२. जो अलोलुप है (अलोल [क]) :

जो अप्राप्त रसों की अभिलाषा नहीं करता, उसे 'अलोल' कहा जाता है[7]। दश० ९.३.१० में भी यह शब्द आया है। यह शब्द बौद्ध-पिटकों में भी अनेक जगह प्रयुक्त हुआ है।

मिलाएँ—

> चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं।
> रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मिं ॥ सुत्तनिपात ५२.८

६३. (उंछं [ख]) :

पिछले श्लोक में 'उंछ' का प्रयोग उपधि के लिए हुआ और इस पद्य में आहार के लिए हुआ है। इसलिए पुनरुक्त नहीं है[8]।

६४. ऋद्धि (इड्ढि [ग]) :

यहाँ इड्ढि—ऋद्धि का अर्थ योगजन्य विभूति है। इसे लब्धि भी कहा जाता है। ये अनेक प्रकार की होती हैं[9]।

१—जि० चू० पृ० ३४६ : जेण मूलगुणउत्तरगुणपदेण पडिसेविएण निस्सारो संजमो भवति सो भावपुलाओ, एत्थ भावपुलाएण अहिगारो, सेसा उच्चारियसरिसत्तिकाऊण परूविया, तेण भावपुलाएण निपुलाए भवेज्जा, जो तं कुव्वेज्जा तेण पुलाओ भवेज्जत्ति।
२—हा० टी० प० २६८ : पुलाकनिष्पुलाक' इति संयमासारतापादकदोषरहितः।
३—१०.१२५ : पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः।
४—जि० चू० पृ० ३४६ : 'सण्णिही' असणादीणं परिवासणं भण्णइ।
५—सु० नि० ५२.१५ : 'कयविक्कये' न तिट्ठेय्य।
६—जि० चू० पृ० ३४६ : संगोत्ति वा इंदियत्थोत्ति वा एगट्ठा।
७—(क) जि० चू० पृ० ३४६ : जइ तित्तकडुयकसायाई रसे अप्पत्ते णो पत्थेइ से अलोले।
(ख) हा० टी० प० २६८ : अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपरः।
८—हा० टी० प० २६८ : तत्रोपधिमाश्रित्योक्तमिह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यम्।
९—जि० चू० पृ० ३४७ : इड्ढि-विउव्वणमादि।

६५. स्थितात्मा (ठियप्पा [घ]) :

जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में स्थित होती है, उसे स्थितात्मा कहते हैं[1]।

श्लोक १८ :

६६. प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं (पत्तेयं पुण्णपावं [ग]) :

सबके पुण्य-पाप अपने-अपने हैं और सब अपने-अपने कृत्यों का फल भोग रहे हैं —यह जानकर न दूसरे की अवहेलना करनी चाहिए और न अपनी बड़ाई। हाथ उसीका जलता है जो अग्नि हाथ में लेता है। उसी तरह कृत्य उसी को फल देते हैं जो उन्हें करता है। जब ऐसा नियम है तब यह समझना चाहिए कि मैं क्यों दूसरे की निन्दा करूँ और क्यों अपनी बड़ाई[2]।

पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा —ये दोनों महान् दोष हैं। मुनि को मध्यस्थ होना चाहिए, इन दोनों से बचकर रहना चाहिए। इस श्लोक में इसी मर्म का उपदेश है और उस मर्म का आलम्बन सूत्र 'पत्तेय पुण्णपाव' है। जो इस मर्म को समझ लेता है, वह पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा नहीं करता।

६७. दूसरे को (परं [क]) :

प्रव्रजित के लिए अप्रव्रजित 'पर' होता है[3]। जिनदास महत्तर 'पर' का प्रयोग गृहस्थ और वेषधारी के अर्थ में बतलाते हैं[4]। टीकाकार ने इसका अर्थ —अपनी परम्परा से अतिरिक्त दूसरी परम्परा का शिष्य—ऐसा किया है[5]।

६८. कुशील (दुराचारी) (कुसीले [क]) :

गृहस्थ या वेषधारी साधु अव्यवस्थित आचार वाला हो फिर भी 'यह कुशील है'—ऐसा नहीं कहना चाहिए। दूसरे के चोट लगे, अप्रीति उत्पन्न हो, वैसा व्यक्तिगत आरोप करना अहिंसक मुनि के लिए उचित नहीं होता[6]।

श्लोक १९ :

६९. सब मदों को (मयाणि सव्वाणि [क]) :

मद के आठ प्रकार बतलाए हैं :

१. जाति-मद, २. कुल-मद, ३. रूप-मद, ४. तप-मद, ५. श्रुत-मद, ६. लाभ-मद, ७. ऐश्वर्य-मद, ८. प्रज्ञा-मद।

इस श्लोक में जाति, रूप, लाभ और श्रुत के मद का उल्लेख किया है और मद के शेष प्रकारों का 'मयाणि सव्वाणि' के द्वारा निर्देश किया है[7]।

१—जि० चू० पृ० ३४७ : णाणदंसणचरित्तेसु ठिओ अप्पा जस्स सो ठियप्पा।

२—(क) जि० चू० पृ० ३४७ : आह —किं कारणं परो न वत्तव्वो ?, जहा जो चेव अग्गिं गिण्हइ सो चेव डज्झइ, एवं नाऊण पत्तेयं पत्तेयं पुण्णपावं अत्ताणं न समुक्कसइ, जहाऽहं सोभणो एस असोभणोत्ति एवमादि।

(ख) हा० टी० प० २६८ : प्रत्येकं पुण्यपापं, नान्यसंबन्ध्यन्यस्य भवति अग्निदाहवेदनावत्।

३—अ० चू० : परो पव्वतियस्स अपव्वतियो।

४—जि० चू० पृ० ३४७ : परो नाम गिहत्थो लिंगी वा।

५—हा० टी० प० २६८ : 'परं' स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तम्।

६—(क) जि० चू० पृ० ३४७ : जइवि सो अप्पणो कम्मेसु अव्ववत्थिओ तहावि न वत्तव्वो जहाऽयं कुसीलपडिसेवीत्ति, किं कारणं?, तत्थ अपत्तियमादि बहवे दोसा भवंति।

(ख) हा० टी० प० २६८ : न ......वदति—अयं कुशीलः, अप्रीत्यादिदोषप्रसङ्गात्।

७—हा० टी० प० २६९ : न जातिमत्तो यथाऽहं ब्राह्मणः क्षत्रियो वा, न च रूपमत्तो यथाऽहं रूपवानादेयः, न लाभमत्तो यथाऽहं लाभवान्, न श्रुतमत्तो यथाऽहं पण्डितः, अनेन कुलमदादिपरिग्रहः, अत एवाह—मदान् सर्वान् कुलादिविषयानपि।

श्लोक २० :

७०. आर्जव (आर्यपद) (अज्जवयं [क]) :

चूर्णियों में इसके स्थान पर 'अज्जवं' पाठ है और इसका अर्थ ऋजुभाव है[1]। 'अज्जवं' की अपेक्षा 'अज्जपयं' अधिक अर्थ-संग्राहक है, इसलिए मूल में वही स्वीकृत किया है[2]।

७१. कुशील-लिङ्ग का (कुसीललिंगं [ग]) :

इसका अभिप्राय यह है कि परतीर्थिक या आचार-रहित स्वतीर्थिक साधुओं का वेष धारण न करे[3]। इसका दूसरा अर्थ है जिस आचरण से कुशील है, ऐसी प्रतीति हो, वैसे आचरण का वर्जन करे[4]। टीका के अनुसार कुशीलों द्वारा चेष्टित आरम्भ आदि का वर्जन करे[4]।

७२. जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नहीं करता (न यावि हस्सकुहए [घ]) :

कुहक शब्द 'कुह्' धातु से बना है। इसका प्रयोग विस्मय उत्पन्न करने वाला, ऐन्द्रजालिक, वञ्चक आदि अर्थों में होता है। यहाँ पर विस्मित करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हास्यपूर्ण कुतूहल न करे अथवा दूसरों को हंसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा न करे—ये दोनों अर्थ अगस्त्यसिंह स्थविर करते हैं[5], जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि केवल पहला[6]।

दश० ६.३.१० में 'अकुहए' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका अर्थ इन्द्रजाल आदि न करने वाला[7] तथा वादित्र न बजाने वाला किया है[8]।

श्लोक २१ :

७३. अशुचि और अशाश्वत देहवास को (देहवासं असुइं असासयं [क]) :

अशुचि अर्थात् अशुचिपूर्ण और अशुचि से उत्पन्न। शरीर की अशुचिता के सम्बन्ध में सुत्तनिपात अ० ११ में निम्न अर्थ की गाथाएँ मिलती हैं :

"हड्डी और नस से संयुक्त, त्वचा और मांस का लेप चढा तथा चाम से ढँका यह शरीर जैसा है वैसा दिखाई नही देता।

१—(क) अ० चू० : ऋजुभावं दरिसिज्जति ।
(ख) जि० चू० पृ० ३४८ : अज्जवग्गहणेण अहिंसाइलक्खणस्स एयारिसस्स धम्मस्स गहणं कयं, तं आयरियं धम्मपयं गिहीणं साधूण य पवेदेज्जा ।

२—हा० टी० प० २६६ : 'आर्यपदम्' शुद्धधर्मपदम् ।

३—अ० चू० : पंडुरंगादीण कुसीलाणलिंग वज्जेज्जा । अणायाराविवा कुसीललिंगं ण रक्खए ।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४८ : कुसीलाणं पंडुरंगाईण लिंगं ......अथवा जेण आयरिएण कुसीलो संभाविज्जति तं ।
(ख) हा० टी० प० २६६ : 'कुशीललिङ्गम्' आरम्भादिकुशीलचेष्टितम् ।

५—अ० चू० : हस्समेव कुहगं, तं जस्स अत्थि सो हस्सकुहतो । तधा ण भवे । हस्सनिमित्तं वा कुहगं तधाकरेति जधा परस्स हस्स-मुप्पज्जति । एवं ण यावि हस्सकुहए ।

६—(क) जि० चू० पृ० ३४८ : हासकुहए णाम ण ताणि कुहयाणि कुज्जा जेण अन्ने हसंतीति ।
(ख) हा० टी० प० २६६ : न हास्यकारिकुहकयुक्तः ।

७—(क) अ० चू० : इंद-जाल-कुहेडगादीहिं ण कुहावेति णति कुहाविज्जति अकुहए ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२१ : कुहगं—इंदजालादीयं न करेइत्ति अकुहएत्ति ।
(ग) हा० टी० प० २५४ : 'अकुहक' इन्द्रजालादिकुहकरहितः ।

८—जि० चू० पृ० ३२२ : अहवा वाइत्तादि कुहगं भण्णइ, तं न करेइ अकुहएत्ति ।

"इस शरीर के भीतर हैं—आंत, उदर, यकृत, वस्ति, हृदय, फुप्फुस, वक्क—तिल्ली, नासा-मल, लार, पसीना, मेद, लोहू, लसिका, पित्त और चर्बी।

"इसके नौ द्वारों से हमेशा गन्दगी निकलती रहती है। आँख से आँख की गन्दगी निकलती है और कान से कान की गन्दगी।

"नाक से नासिका-मल, मुख से पित्त और कफ, शरीर से पसीना और मल निकलते हैं।

"इसके सिर की खोपड़ी गुदा से भरी है। अविद्या के कारण मूर्ख इसे शुभ मानता है।

"मृत्यु के बाद जब यह शरीर सूजकर नीला हो श्मशान में पड़ा रहता है तो उसे बन्धु-बांधव भी छोड़ देते हैं।"

ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में शरीर की अशाश्वतता के बारे में कहा गया है कि 'यह देह जल के फेन की तरह अध्रुव है; बिजली के झपकारे की तरह अशाश्वत है; दर्भ की नोक पर ठहरे हुए जल-बिन्दु की तरह अनित्य है।" देह जीवरूपी-पक्षी का अस्थिरवास कहा गया है क्योंकि जल्दी या देर से उसे छोड़ना ही पड़ता है।

पढमा चूलिया

रइवक्का

प्रथम चूलिका

रतिवाक्या

आमुख

इस चूलिका का नाम 'रतिवाक्या-अध्ययन' है। असंयम में सहज ही रति और संयम में अरति होती है। भोग में जो सहज आकर्षण होता है वह त्याग में नहीं होता। इन्द्रियों की परितृप्ति में जो सुखानुभूति होती है वह उनके विषय-निरोध में नहीं होती।

सिद्ध योगी कहते हैं 'भोग सहज नहीं है, सुख नहीं है।' साधना से दूर जो हैं वे कहते हैं—'यह सहज है, सुख है।' पर वस्तुतः सहज क्या है ? सुख क्या है ? यह चिन्तनीय रहता है। खुजली के कीटाणु शरीर में होते हैं तब खुजलाने में सहज आकर्षण होता है और वह सुख भी देता है। स्वस्थ आदमी खुजलाने को न सहज मानता है और न सुखकर भी। यहाँ स्थिति-भेद है और उसके आधार पर अनुभूति-भेद होता है। यही स्थिति साधक और असाधक की है। मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब भोग सहज लगता है और वह सुख की अनुभूति भी देता है। किन्तु अल्प-मोह या निर्मोह व्यक्ति को भोग न सहज लगता है और न सुखकर भी। इस प्रकार स्थिति-भेद से दोनों मान्यताओं का अपना-अपना आधार है।

आत्मा की स्वस्थदशा मोहशून्य स्थिति या वीतराग भाव है। इसे पाने का प्रयत्न ही संयम या साधना है। मोह अनादिकालीन रोग है। वह एक बार के प्रयत्न से ही मिट नहीं जाता। इसकी चिकित्सा जो करने चलता है वह सावधानी से चलता है किन्तु कहीं-कहीं बीच में वह रोग उभर जाता है और साधक को फिर एक बार पूर्व स्थिति मे जाने को विवश कर देता है। चिकित्सक कुशल होता है तो उसे सम्हाल लेता है और उभार का उपशमन कर रोगी को आरोग्य की ओर ले चलता है। चिकित्सक कुशल न हो तो रोगी की डावाँडोल मनोदशा उसे पीछे ढकेल देती है। साधक मोह के उभार मे न डगमगाए, पीछे न खिसके—इस दृष्टि से इस अध्ययन की रचना हुई है। यह वह चिकित्सक है जो संयम से डिगते चरण को फिर से स्थिर बना सकता है और भटकते मन पर अंकुश लगा सकता है।

इसीलिए कहा है—'हयरस्सिगयंकुसपोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं'—इस अध्ययन में वर्णित ये अठारह स्थान—घोड़े के लिए वल्गा, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका जैसे हैं। इसके वाक्य संयम में रति उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'रतिवाक्या' रखा गया है[1]।

प्रस्तुत अध्ययन में स्थिरीकरण के अठारह सूत्र हैं। उनमें गृहस्थ-जीवन की अनेक दृष्टियों से अनुपादेयता बतलाई है। जैन और वैदिक परम्परा में यह बहुत बड़ा अन्तर है। वैदिक व्यवस्था में चार आश्रम हैं। उनमे गृहस्थाश्रम सब का मूल है और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। स्मृतिकारों ने उसे अति महत्व दिया है। गृहस्थाश्रम उत्तरवर्ती विकास का मूल है। यह जैन-सम्मत भी है। किन्तु वह मूल है, इसलिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, यह अभिमत जैनों का नहीं है। समाज-व्यवस्था में इसका जो स्थान है, वह निर्विवाद है। आध्यात्मिक चिन्तन में इसकी उत्कर्षपूर्ण स्थिति नहीं है। इसलिए 'गृहवास बन्धन है और संयम मोक्ष'[2], यह विचार स्थिर रूप पा सका।

"पुण्य-पाप का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अपना-अपना है।" "किए हुए पाप-कर्मों को भोगे बिना अथवा तपस्या के द्वारा उनको निर्वीर्य किए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती[3]—" ये दोनों विचार अध्यात्म व नैतिक परम्परा के मूल हैं।

जर्मन-दार्शनिक काण्ट ने जैसे आत्मा, उसका अमरत्व और ईश्वर को नैतिकता का आधार माना है वैसे ही जैन-दर्शन सम्यक्-दर्शन को अध्यात्म का आधार मानता है। आत्मा है, वह ध्रुव है, कर्म (पुण्य-पाप) की कर्त्ता है, भोक्ता है, सुचीर्ण और दुश्चीर्ण कर्म का फल है, मोक्ष का उपाय है और मोक्ष है—ये सम्यक्-दर्शन के अंग हैं। इनमें से दो-एक अंगों को यहाँ वस्तु-स्थिति के सम्यक् निरीक्षण के लिए प्रस्तुत किया गया है। संयम का बीज वैराग्य है। पौद्गलिक पदार्थों से राग हटता है तब आत्मा में लीनता होती है, वही विराग है। "काम-भोग

१—हा० टी० प० २७० : 'धर्मे' चारित्ररूपे 'रतिकारकाणि' 'रतिजनकानि तानि च वाक्यानि येन कारणेन 'अस्यां' चूडायां तेन निमित्तेन रतिवाक्यैषा चूडा, रतिकर्तृणि वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्या।

२—चू० १, सूत्र १, स्था० १२ : बंधे गिहवासे मोक्खे परियाए।

३—चू० १, सूत्र १, स्था० १८ : पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

जन-साधारण के लिए सुप्राप्य हैं। किन्तु संयम वैसा सुलभ नहीं है। मनुष्य का जीवन अनित्य है।" ये वाक्य वैराग्य की धारा को वेग देने के लिए हैं। इस प्रकार ये अठारह स्थान बहुत ही अर्थवान् और स्थिरीकरण के अमोघ आलम्बन हैं। इनके बाद संयम-धर्म से भ्रष्ट होने वाले मुनि की अनुतापपूर्ण मनोदशा का चित्रण मिलता है।

भोग अतृप्ति का हेतु है या अतृप्ति ही है। तृप्ति संयम में है। भोग का आकर्षण साधक को संयम से भोग में घसीट लेता है। वह चला जाता है। जाना है एक आकांक्षा के लिए। किन्तु भोग में अतृप्ति बढ़ती है, संयम का सहज आनन्द नहीं मिलता तब पूर्व दशा से हटने का अनुपात होता है। उस स्थिति में ही संयम और भोग का यथार्थ मूल्य समझ मे आता है।

"आकांक्षा-हीन व्यक्ति के लिए संयम देवलोक सम है और आकांक्षावान् व्यक्ति के लिए वह नरकोपम है।"

इस स्याद्वादात्मक-पद्धति से संयम की उभयरूपता दिखा संयम मे रमण करने का उपदेश जो दिया है, वह सहसा मन को खींच लेता है। आकांक्षा का उन्मूलन करने के लिए अनेक आलम्बन बताए हैं। उनका उत्कर्ष "चइज्जदेह न हु धम्मसासणं"—शरीर को त्याग दे पर धर्म-शासन को न छोड़े—इस वाक्य में प्रस्फुटित हुआ है। समग्र-दृष्टि से यह अध्ययन अध्यात्म-आरोह का अनुपम सोपान है।

पढमा चूलिया : प्रथम चूलिका

रइवक्का : रतिवाक्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
इह खलु भो ! पव्वइएणं, उप्पन्न-दुक्खेणं, संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं, ओहाणुप्पेहिणा[1] अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि - गयंकुस - पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति । तंजहा—	इह खलु भोः ! प्रव्रजितेन उत्पन्नदुःखेन संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन अवधानोत्प्रेक्षिणा अनवधावितेन चैव हयरश्मिगजांकुशपोतपताकाभूतानि इमा न्यष्टादशस्थानानि सम्यक् संप्रतिलेखितव्यानि भवन्ति । तद्यथा :—	मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्रजित हैं किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया[1], संयम मे उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह सयम को छोड गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे सयम छोड़ने से पूर्व अठारह स्थानों का भलीभांति आलोचन करना चाहिए । अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अकुश और पोत के लिए पताका[3] का है । अठारह स्थान इस प्रकार हैं :
१—ह भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी ।	(१) हं हो ! दुष्षमायां दुष्प्रजीविनः ।	(१) ओह ![4] इस दुष्षमा (दुःख-बहुल पांचवें आरे) मे लोग बड़ी कठिनाई में जीविका चलाते हैं[5] ।
२ लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा ॥	(२) लघुस्वका इत्वरिका गृहिणां कामभोगाः ।	(२) गृहस्थो के काम-भोग स्वल्प-सार-सहित[6] (तुच्छ) और अल्पकालिक हैं ।
३—भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा ॥	(३) भूयश्च साचि(ति)बहुला मनुष्याः ।	(३) मनुष्य प्रायः माया-बहुल होते हैं ।
४—इमे य मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सइ ॥	(४) इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ।	(४) यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल स्थायी नही होगा ।
५—ओमजणपुरक्कारे ॥	(५) अवमजनपुरस्कारः ।	(५) गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है—सत्कार करना होता है ।
६—वंतस्स य पडियाइयणं ॥	(६) वान्तस्य च प्रत्यापानम् (दानम्) ।	(६) सयम को छोड़ घर में आने का अर्थ है वमन को वापस पीना ।
७—अहरगइवासोवसंपया ॥	(७) अधरगतिवासोपसंपदा ।	(७) संयम को छोड गृहवास में जाने का अर्थ हैं नारकीय-जीवन का अङ्गीकार ।
८—दुल्लभे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं ॥	(८) दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम् ।	(८) ओह ! गृहवास[8] में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है ।
९—आयंके से वहाय होइ ॥	(९) आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ।	(९) वहाँ आतंक[9] वध के लिए होता है ।
१०—संकप्पे से वहाय होइ ॥	(१०) संकल्पस्तस्य वधाय भवति ।	(१०) वहाँ संकल्प[10] वध के लिए होता है ।

११—सोवक्केसे[11] गिहवासे । निरुवक्केसे परियाए ॥	(११) सोपक्लेशो गृहवासः । निरुपक्लेशः पर्यायः ।	(११) गृहवास क्लेश सहित है[11] और मुनि-पर्याय[12] क्लेश-रहित ।
१२—बंधे गिहवासे । मोक्खे परियाए ॥	(१२) बन्धो गृहवासः । मोक्षः पर्यायः ।	(१२) गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष ।
१३—सावज्जे गिहवासे । अणवज्जे परियाए ॥	(१३) सावद्यो गृहवासः । अनवद्यः पर्यायः ।	(१३) गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य ।
१४—बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा ॥	(१४) बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः ।	(१४) गृहस्थों के काम-भोग बहुजन सामान्य हैं—सर्व सुलभ हैं ।
१५—पत्तेयं पुण्णपावं ॥	(१५) प्रत्येकं पुण्यपापम् ।	(१५) पुण्य और पाप अपना-अपना होता है ।
१६—अणिच्चे खलु भो ! मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले ॥	(१६) अनित्यं खलु भो ! मनुजानां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम्,	(१६) ओह ! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान चचल है ।
१७—बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ॥	(१७) बहु च खलु भो पाप-कर्म प्रकृतम् ।	(१७) ओह ! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप-कर्म किए हैं ।
१८—पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता । अट्ठारसमं पयं भवइ ॥ सू० १	(१८) पापानां च खलु भो ! कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षः, नास्त्यवेदयित्वा, तपसा वा शोषयित्वा । अष्टादशं पदं भवति ।	(१८) ओह ! दुश्चरित्र और दुष्ट-पराक्रम के द्वारा पूर्वकाल में अर्जित किए हुए पाप-कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है[14]—उनसे छुटकारा होता है । उन्हे भोगे बिना (अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किए बिना) मोक्ष नही होता—उनसे छुटकारा नहीं होता । यह अठारहवाँ पद है ।
भवइ य इत्थ सिलोगो[15]—	भवति चाऽत्र श्लोकः—	अब यहाँ श्लोक है ।
१—जया य चयई धम्मं अणज्जो भोगकारणा । से तत्थ मुच्छिए बाले आयइं नावबुज्झइ ॥	यदा च त्यजति धर्मं, अनार्यो भोगकारणात् । स तत्र मूर्च्छितो बालः, आयतिं नावबुध्यते ॥१॥	१—अनार्य[16] जब भोग के लिए धर्म को छोड़ता है तब वह भोग में मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को[17] नहीं समझता ।
२—जया ओहाविओ होइ इंदो वा पडिओ छमं । सव्वधम्मपरिब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ ॥	यदाऽवधावितो भवति, इन्द्रो वा पतितः क्ष्माम् । सर्वधर्मपरिभ्रष्टः, सः पश्चात्परितप्यते ॥२॥	२—जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास में प्रवेश करता है—तब वह धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर पड़ा हुआ इन्द्र ।

३—जया य वंदिमो होइ
पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च वन्द्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यवन्द्यः ।
देवतेव च्युता स्थानात्,
स पश्चात् परितप्यते ॥३॥

३—प्रव्रजित काल में साधु वंदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवन्दनीय हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता ।

४—जया य पूइमो होइ
पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च पूज्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यपूज्यः ।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः,
स पश्चात्परितप्यते ॥४॥

४—प्रव्रजित काल में साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा ।

५—जया य माणिमो होइ
पच्छा होइ अमाणिमो ।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च मान्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यमान्यः ।
श्रेष्ठीव कर्बटे क्षिप्तः,
स पश्चात्परितप्यते ॥५॥

५—प्रव्रजित काल में साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्बट (छोटे से गाँव) में[18] अवरुद्ध किया हुआ श्रेष्ठी[19] ।

६—जया य थेरओ होइ
समइक्कंतजोव्वणो ।
मच्छो व्व गलं गिलित्ता
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च स्थविरो भवति,
समतिक्रान्तयौवनः ।
मत्स्य इव गलं गिलित्वा,
स पश्चात्परितप्यते ॥६॥

६—यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढ़ा होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कांटे को निगलने वाला मत्स्य ।

७—जया य कुकुडंबस्स
कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च कुकुटुम्बस्य,
कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बन्धने बद्धः,
स पश्चात्परितप्यते ॥७॥

७—वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे बन्धन में बंधा हुआ हाथी ।

८—पुत्तदारपरिकिण्णो
मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो
स पच्छा परितप्पइ ॥

पुत्रदारपरिकीर्णः,
मोहसन्तानसन्ततः ।
पङ्कावसन्नो यथा नागः,
स पश्चात्परितप्यते ॥८॥

८—पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त[20] वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फँसा हुआ हाथी ।

९—अज्ज आहं गणी हुंतो
भावियप्पा बहुस्सुओ ।
जइ हं रमंतो परियाए
सामण्णे जिणदेसिए ।।

अद्य तावदहं गणी अभविष्यं,
भावितात्मा बहुश्रुतः ।
यद्यहमरंस्ये पर्याये,
श्रामण्ये जिनदेशिते ।।९।।

९—आज मैं भावितात्मा[21] और बहुश्रुत[22] गणी होता[23] यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चारित्र) मे रमण करता ।

१०—देवलोगसमाणो उ
परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं तु
महानिरयसारिसो ।।

देवलोकसमानस्तु,
पर्यायो महर्षीणाम् ।
रतानामरतानां तु,
महानरकसदृशः ।।१०।।

१०—संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान सुखद होता है और जो सयम में रत नही होते उनके लिए वही (मुनि-पर्याय) महानरक के समान दुःखद होता है ।

११—अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं
रयाण परियाए तहारयाणं ।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए ।।

अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं,
रतानां पर्याये तथाऽरतानाम् ।
निरयोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं,
रमेत तस्मात्पर्याये पण्डितः ।।११।।

११—संयम में रत मुनियों का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर तथा संयम मे रत न रहने वाले मुनियो का दुःख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर पण्डित मुनि संयम में ही रमण करे ।

१२—धम्माउ भट्ठं सिरिओ ववेयं
जन्नग्गि विज्झायमिव प्पतेयं ।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ।।

धर्माद्भ्रष्टं श्रियो व्यपेतं,
यज्ञाग्नि विध्यातमिवाल्पतेजसम् ।
हीलयन्ति एनं दुर्विहितं कुशीलाः,
उद्धृतदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ।।१२।।

१२—जिसकी दाढे उखाड ली गई हो उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवहेलना करते हैं वैसे ही धर्म-भ्रष्ट, चारित्र रूपी श्री से[24] रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि की भाँति निस्तेज[25] और दुर्विहित साधु की[26] कुशील व्यक्ति भी निन्दा करते हैं[27] ।

१३—इहेवधम्मो अयसो अकित्ती
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई ।।

इहैव अधर्मोऽयशोऽकीर्तिः,
दुर्नामधेयं च पृथग्जने ।
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः,
संभिन्नवृत्तस्य चाधस्ताद् गतिः ।।१३।।

१३—धर्म से च्युत, अधर्मसेवी और चारित्र का खण्डन करने वाला साधु[28] इसी मनुष्य-जीवन में अधर्म का[29] आचरण करता है, उसका अयश[30] और अकीर्ति होती है । साधारण लोगों में भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है ।

१४—भुंजित्तु भोगाइ पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो ।।

भुक्त्वा भोगान् प्रसह्य चेतसा,
तथाविधं कृत्वाऽसंयमं बहुम् ।
गतिं च गच्छेदनभिध्यातां दुःखां,
बोधिश्च तस्य नो सुलभा पुनः पुनः ।।१४।।

१४—वह संयम से भ्रष्ट साधु आवेग-पूर्ण चित्त से[31] भोगों को भोगकर और तथाविध प्रचुर असंयम का आसेवन कर अनिष्ट[32] एवं दुःखपूर्ण गति में जाता है और बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि[33] सुलभ नहीं होती ।

१५ इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं,
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं? ॥

अस्य तावन्नारकस्य जन्तोः,
उपनीतदुःखस्य क्लेशवृत्तेः ।
पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं,
किमङ्ग पुनर्ममेदं मनोदुःखम् ॥१५॥

१५—दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनोदुःख कितने काल का है ?

१६—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई
असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥

न मे चिरं दुःखमिदं भविष्यति,
अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः ।
न चेच्छरीरेणानेनापैष्यति,
अपैष्यति जीवित-पर्यवेण मे ॥१६॥

१६—यह मेरा दुःख चिर काल तक नहीं रहेगा । जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है । यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय[३४] तो वह अवश्य मिट ही जाएगी ।

१७ जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ
चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥

यस्यैवमात्मा तु भवेन्निश्चितः,
त्यजेद्देहं न खलु धर्मशासनम् ।
तं तादृशं न प्रचालयन्तीन्द्रियाणि,
उपयद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥१७॥

१७—जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है (दृढ़ संकल्पयुक्त होती है)—'देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए'' —उस दृढ़-प्रतिज्ञ साधु को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को ।

१८—इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो
आयं उवायं विविहं वियाणिया ।
काएण वाया अदु माणसेणं
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिजासि ॥

इत्येवं संदृश्य बुद्धिमान्नरः
आयमुपायं विविधं विज्ञाय ।
कायेन वाचाऽथ मानसेन,
त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ॥१८॥

१८—बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और उनके साधनों को[३५] जानकर तीन गुप्तियों (काय, वाणी और मन) से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ले ।

त्ति बेमि ॥

इति ब्रवीमि ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

रतिवाक्या : प्रथम चूलिका

सूत्र १ :

१. किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया (उप्पन्नदुक्खेणं)

दुःख दो प्रकार के होते है :

१. शारीरिक और

२. मानसिक ।

शीत, उष्ण आदि परीषह शारीरिक दुःख हैं और काम, भोग, सत्कार, पुरस्कार आदि मानसिक । संयम में ये दोनों प्रकार के दुःख उत्पन्न हो सकते हैं ।[1]

२. (ओहाण) :

अवधावन का अर्थ पीछे हटना है । यहाँ इसका आशय है सयम को छोड़ वापस गृहस्थवास में आना ।[2]

३. पोत के लिए पताका (पोयपडागा) :

पताका का अर्थ पतवार होना चाहिए । पतवार नौका के नियन्त्रण का एक साधन है । जिनदास महत्तर और टीकाकार ने 'पताका' तथा अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'पटागार' का अर्थ नौका का पाल किया है । वस्त्र के बने इस पाल के कारण नौका लहरों से क्षुब्ध नहीं होती और उसे इच्छित स्थान की ओर ले जाया जा सकता है ।[3]

४. ओह ! (हं भो) :

'ह' और 'भो'—ये दोनों आदर-सूचक सम्बोधन है । चूर्णिकार इन दोनों को भिन्न मानते हैं[4] और टीकाकार अभिन्न ।[5]

५. लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं (दुप्पजीवी) :

अगस्त्य चूर्णि में 'दुप्पजीवं' पाठ है । इसका अर्थ है—जीविका के साधनो को जुटाना बड़ा दुष्कर है । चूर्णिकार ने आगे

१—(क) जि० चू० पृ० ३५२ : दुक्खं दुविधं—सारीरं माणसं वा, तत्थ सारीरं सीउण्हदंसमसगाइ, माणसं इत्थीनिसीहियसक्कारपरीसहादीणं एयं दुविहं दुक्खं उप्पन्नं जस्स तेण उप्पण्णदुक्खेण ।

(ख) हा० टी० प० २७२ : 'उत्पन्नदुःखेन' संजातशीतादिशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन ।

२—(क) जि० चू० पृ० ३५२, ३५३ : अवहावणं अवसप्पणं अतिक्कमणं, संजमातो अवक्कमणमवहावणं ।

(ख) हा० टी० प० २७२ : अवधावनम्—अपसरणं संयमात् ।

३—(क) जि० चू० पृ० ३५३ : जाणवत्तं-पोतो तस्स पडागा सीतपडो, पोतोऽवि सीयपडेण विततेण वीयीहिं न खोहिज्जइ, इच्छियं च देसं पाविज्जइ ।

(ख) हा० टी० प० २७२ : अश्ववारिभगजाङ्कुशबोहित्थसितपटतुल्यानि ।

(ग) अ० चू० : जाणवत्तं पोतो तस्स पडागारोसीतपडो । पोतो वि सीतपडेण विततेण वीचिहिं ण खोभिज्जति, इच्छितं च देसं पाविज्जति ।

४—जि० चू० पृ० ३५३ : हंति भोत्ति संबोधणदुयमादराय ।

५—हा० टी० प० २७२ : हंभो—शिष्यामन्त्रणे ।

बताया है कि समर्थ व्यक्तियों के लिए भी जीविका का निर्वाह कठिन है तब औरों की बात ही क्या ? राज्याधिकारी, व्यापारी और नौकर—ये सब अपने-अपने प्रकार की कठिनाइयों में फंसे हुए हैं[1]।

६. स्वल्प-सार-रहित (तुच्छ) (लहुस्सगा) :

जिन वस्तुओं का स्व (आत्म-तत्त्व) लघु (तुच्छ या असार) होता है, उन्हें 'लघुस्वक' कहा जाता है। चूर्णि और टीका के अनुसार काम-भोग कदलीगर्भ की तरह[2] और टीका के शब्दों में तुषमुष्टि की तरह असार हैं[3]।

७. माया-बहुल होते हैं (साइबहुला) :

'साचि' का अर्थ कुटिल है[4]। 'बहुल' का प्रयोग चूर्णियों के अनुसार प्राय.[5] और टीका के अनुसार प्रचुर के अर्थ में है[6]। 'साइ' असत्य-वचन का तेरहवाँ नाम है[7]। प्रश्न व्याकरण की वृत्ति में उसका अर्थ अविश्वास किया है[8]। असत्य-वचन अविश्वास का हेतु है, इस लिए 'साइ' को भी उसका नाम माना गया। टीका में इसका संस्कृत रूप 'स्वाति' किया है। डा० वाल्टर शुब्रिंग ने 'स्वाति' को त्रुटिपूर्ण माना है[9]। 'स्वाद' का एक अर्थ कलुषता है[10]। चूर्णि और टीका मे यही अर्थ है।

'साय' (स—स्वाद) का अर्थ भी माया हो सकता है। हमने इसका संस्कृत रूप 'साची' किया है। 'साची' तिर्यक् का पर्यायवाची नाम है[11]।

'साइबहुला' का आशय यह है कि जो पारिवारिक लोग हैं, वे एक दूसरे के प्रति विश्वस्त नहीं होते, वैसी स्थिति में जाकर मैं क्या सुख पाऊँगा—ऐसा सोच धर्म मे रति करनी चाहिए। संयम को नहीं छोड़ना चाहिए[12]।

१—(क) अ० चू० : दुक्खं एत्थ पजीव साधगाणि संपातिज्जंतीति ईसरेहिं किं पुण सेसेहिं ? रायाबियाण खिलाभरेहिं, वणियाण भडविणएहिं, सेसाण पेसणेहिं य जीवणसंपादणं दुक्खं।

(ख) जि० चू० पृ० ३५३ : दुप्पजीवी नाम दुक्खेण प्रजीवणं, आजीविआ।

(ग) हा० टी० प० २७२ : दुःखेन - कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीला दुष्प्रजीविनः।

२—अ० चू० : लहुसगाइत्तरकाला कदलीगब्भवदसारगा जम्हा गिहत्थ भोगे चतिऊण रतिं कुणइ धम्मे।

३—हा० टी० प० २७२ : सन्तोऽपि 'लघवः' तुच्छाः प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः।

४—अ० चू० : साति कुडिलं।

५—(क) अ० चू० : बहुलमिति पायो वृत्ति।

(ख) जि० चू० पृ० ३५४ : बहुला इति पायसो।

६—हा० टी० प० २७२ : 'स्वातिबहुला' मायाप्रचुरा।

७—प्रश्न० आस्रवद्वार २।

८—प्रश्न० आस्रवद्वार २ : साति—अविश्रम्भः।

९—दसवेआलिय सुत्त पृ० १२६ : साय-बहुल=स्वाति (wrong for स्वाति) बहुल, मायाप्रचुर H. I think that the sense of this phrase is as translatad.

१०—A Dictionary of Urdu, Classical Hindi and English, Page 691 : Blackness, The black or inner part of the heart.

११—अ० चि० ६.१५१ : तिर्यक् साचिः।

१२—(क) अ० चू० : पुणो २ कुडिल हियया प्रायेण भुज्जो सातिबहुला मणुस्सा।

(ख) जि० चू० पृ० ३५४ : सातिकुडिला, बहुला इति पायसो, कुडिलहियओ पाएण भुज्जो य साइबहुल्ला मणुस्सा।

(ग) हा० टी० प० २७२ : न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानां च कीदृक्सुखम् ? तथा मायाबंधहेतुत्वेन दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति।

८. गृहवास (गिहिवास) :

चूणियों में 'गिहिवास' का अर्थ गृहवास[1] और टीका में गृहपाश[2] किया है। चूणि के अनुसार गृहवास प्रमाद-बहुल होता है और टीका के अनुसार 'गृह' पाश है। उसमें पुत्र-पुत्री आदि का बन्धन है।

९. आतंक (आयंके) :

हैजा आदि रोग जो शीघ्र ही मार डालते हैं, वे आतङ्क कहलाते हैं[3]।

१०. संकल्प (संकप्पे) :

आतंक शारीरिक रोग है और संकल्प मानसिक। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से जो मानसिक आतंक होता है, उसे यहाँ संकल्प कहा गया है[4]।

११. (सोवक्केसे···) :

टीकाकार ने वृद्धाभिप्राय का उल्लेख किया है। उसके अनुसार प्रतिपक्ष सहित 'सोवक्केसे, निरुवक्केसे' आदि छह स्थान होते हैं और 'पत्तेयं पुण्णपाव' से लेकर 'झोसइत्ता' तक एक ही स्थान है। दूसरा मत यह है कि 'सोवक्केसे' आदि प्रतिपक्ष सहित तीन स्थान हैं और 'पत्तेयं पुण्णपाव' आदि स्वतन्त्र हैं[5]। वृद्ध शब्द का प्रयोग चूणिकारों के लिए किया गया है[6]। दूसरा मत किनका है· यह स्पष्ट नहीं होता। टीकाकार ने वृद्धाभिप्राय को ही मान्य किया है[7]।

१२. क्लेश सहित है (सोवक्केसे) :

कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, सेवा, घृत-लवण आदि की चिन्ता—ये गृहि-जीवन के उपक्लेश हैं, इसलिए उसे सोपक्लेश कहा गया है[8]।

१—(क) अ० चू० : ········ गिहत्थवासे।
　　(ख) जि० चू० पृ० ३५५ : ·········गिही (ण) वासे।

२—हा० टी० प० २७३ : 'गृहपाशमध्ये वसता' मित्यत्र गृहशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते।

३—हा० टी० प० २७३ : 'आतङ्कः' सद्योघाती विषूचिकादिरोगः।

४—(क) जि० चू० पृ० ३५६ : आयको सारीरं दुक्खं, संकप्पो माणसं, तं च पियविप्पओगमयं सघाससोगभयविसादादिकमणेगहा संभवति।
　　(ख) हा० टी० प० २७३ : 'संकल्प' इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानसआतङ्कः।

५—हा० टी० प० २७३ : एतदन्तर्गतो वृद्धाभिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽत्रैव, अन्ये तु व्याचक्षते—सोपक्लेशो गृहिवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं गृह्यते, एवं च बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति चतुर्दशं स्थानम्।

६—जि० चू० पृ० ३५६-५७ : मिलाइए—'सोवक्केसे गिहवासे'···· ·· ···एक्कारसमं पदं गयं।
　　　　'निरुवक्केसे परियाए'··· · ····बारसमं पदं गतं।
　　　　'बंधे गिहवासे'··················तेरसमं पदं गतं।
　　　　'मोक्खे परियाए'·············चोद्दसमं पदं गतं।
　　　　'सावज्जे गिहवासे'······ ·· पण्णरसमं पदं गतं।
　　　　'अणवज्जे परियाए'·········सोलसमं पदं गतं।

७—हा० टी० प० २७३ : 'प्रत्येकं पुण्यपाप' मिति···एकमष्टादशं स्थानम्।

८—हा० टी० प० २१७ : उपक्लेशाः—कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः मण्डितकपर्दिताः शीतोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्ता चश्चेति।

१३. मुनि-पर्याय (परियाए सू० स्था० ११) :

पर्याय का अर्थ प्रव्रज्याकालीन-दशा या मुनि-व्रत है[१]। प्रव्रज्या में चारों ओर से (परितः) पुण्य का आगमन होता है, इसलिए इसे पर्याय कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह प्रव्रज्या शब्द का अपभ्रंश है[२]।

१४. भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है (वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता सू० १ स्था० १८) :

किया हुआ कर्म भुगते बिना उससे मुक्ति नहीं होती - यह कर्मवाद का ध्रुव सिद्धान्त है। बद्ध कर्म की मुक्ति के दो उपाय हैं— स्थिति परिपाक होने पर उसे भोगकर अथवा तपस्या के द्वारा उसे क्षीण-वीर्य कर नष्ट कर देना। सामान्य स्थिति यह है कि कर्म अपनी स्थिति पकने पर फल देता है, किन्तु तपस्या के द्वारा स्थिति पकने से पहले ही कर्म को भोगा जा सकता है। इससे फल-शक्ति मन्द हो जाती है और वह फलोदय के बिना ही नष्ट हो जाता है।

१५. श्लोक (सिलोगो सू० १ स्था० १८) :

श्लोक शब्द जातिवाचक है, इसलिए इसमें अनेक श्लोक होने पर भी विरोध नहीं आता[३]।

श्लोक १ :

१६. अनार्य (अणज्जो [ख]) :

अनार्य का अर्थ म्लेच्छ है। जिसकी चेष्टाएँ म्लेच्छ की तरह होती हैं, वह अनार्य कहलाता है[४]।

१७. भविष्य को (आयइं [घ]) :

आयति का अर्थ भविष्यकाल है[५]। चूर्णि में इसका वैकल्पिक अर्थ 'गौरव'[६] व 'आत्महित'[७] भी किया है।

श्लोक ५ :

१८. कर्बट (छोटे से गाँव) में (कब्बडे [ग]) :

कर्बट के अनेक अर्थ हैं :

१. कुनगर जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो[८]।

२. बहुत छोटा सन्निवेश[९]।

३. वह नगर जहाँ बाजार हो।

१—हा० टी० प० २७३ : प्रव्रज्या पर्यायः।

२—अ० चू० : परियातो समंततो पुण्णागमणं, पव्वज्जासद्दस्सेव अवब्भंसो परियातो।

३—हा० टी० प० २७४ : श्लोक इति च जातिपरो निर्देशः, ततः श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रभूतश्लोकोपन्यासेऽपि न विरोधः।

४—(क) जि० चू० पृ० ३५९ : अणज्जा मेच्छादयो, जो तहाठिओ अणज्ज इव अणज्जो।
(ख) हा० टी० प० २७४, २७५ : 'अनार्य' इत्यनार्य इवानार्यो—म्लेच्छचेष्टितः।

५—हा० टी० प० २७५ : 'आयतिम्' आगामिकालम्।

६—अ० चू० : आतती आगामीकालं तं आततिहितं आयति अप्पमित्यर्थः··· · अधवा भण्णति—आयती गौरवं तं।

७—जि० चू० पृ० ३५९ : 'आयती' आगामिको कालो तं······ अथवा आयतीहितं आत्मनो हितमित्यर्थः।

८—जि० चू० पृ० ३६० : कब्बडं कुनगरं, जत्थ जलत्थलसमुब्भवविचित्तभंडविणियोगो नत्थि।

९—हा० टी० प० २७५ : 'कर्बटे' महाक्षुद्रसंनिवेशे।

४. जिले का प्रमुख नगर[1]।

चूर्णियों के कर्बट का मूल अर्थ माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है[2]।

१९. श्रेष्ठी (सेट्ठि ग) :

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अंकित हो वैसा वेष्टन बाँधने की जिसे राजा के द्वारा अनुज्ञा मिली हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है[3]।

'हिन्दू राज्यतन्त्र' मे लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था । आजकल जिसे मेयर कहते हैं, हिन्दुओ के काल मे वह 'श्रेष्ठिन्' या प्रधान कहलाता था[4]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने वहाँ 'श्रेष्ठी' को वणिक्-ग्राम का महत्तर कहा है[5]। इसलिए यह पौराध्यक्ष नहीं, नैगमाध्यक्ष होना चाहिए। वह पौराध्यक्ष से भिन्न होता है[6]। सभवतः नैगम के समान ही पौर सस्था का भी अध्यक्ष होता होगा जिसे नैगमाध्यक्ष के समान ही श्रेष्ठी कहा जाता होगा, किन्तु श्रेणी तथा पूग के साधारण श्रेष्ठी से इसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पौराध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठी के साथ राजनगरी का नाम भी जोड दिया जाता होगा, जैसे - राजगृह श्रेष्ठी तथा श्रावस्ती श्रेष्ठी (निग्रोध जातक ४४५)में राजगृह सेट्ठी तथा एक अन्य साधारण सेट्ठी में स्पष्ट अन्तर किया गया है।

श्लोक ८ :

२०. परम्परा से परिव्याप्त (संताणसंतओ ख) :

'सताण' का अर्थ अव्यवच्छित्ति या प्रवाह है[7] और संतत का अर्थ है व्याप्त[8]।

श्लोक ९ :

२१. भावितात्मा (भावियप्पा) :

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विविध प्रकार की अनित्य आदि भावनाओ से जिसकी आत्मा भावित होती है, उसे भावितात्मा कहा जाता है[9]।

१—A Sanskrit-English Dictionary, P.259. By Sir Monier Williams : Market-Town, the Capital of a district (of two or four hundred Villages.)

२—(क) अ० चू० : चाडचोवगकूडसक्खिसमुब्भावित दुव्ववहारारंभो कब्बडं ।
(ख) जि० चू० पृ० ३६० : वाडबोपम (चाडचोवग) कूडसक्खिसमुब्भाविय-दुक्खछलव्ववहारतं कब्बडं ।

३—नि० भा० ९.२५०३ चूर्णि : जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति तं वेंट्टणगं तं जस्स रण्णा अणुण्णातं सो सेट्ठी भण्णति ।

४—दूसरा खण्ड पृ० १३२ ।

५—(क) अ० चू० : राजकुललद्धसम्माणो समाबिद्धवेट्ठणो वणिग्गाममहत्तरो य सेट्ठी।
(ख) जि० चू० पृ० ३६० ।

६—'धर्म-निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातन्त्रात्मक परंपराएं' पृ० १०६ ।

७—अ० चू० : संताणो अवोच्छित्ती ।

८—हा० टी० प० २७५ : 'संततः' दर्शनादिमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्तः ।

९—अ० चू० : सम्मद्दंसणेण बहुविहेहिय तवोजोगेहि अणिच्चयादिभावणाहि य भावियप्पा ।

२२. बहुश्रुत (बहुस्सुओ [क]) :

बहुश्रुत का अर्थ है—द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) का जानकार[1] या बहुआगमवेत्ता[2]।

२३. होता (हुंतो [क]) :

'अभविष्यत्' और 'भवन' इन दोनों के स्थान में 'हुंतो' रूप बनता है[3]। अनुवाद मे 'अभविष्यत्' का अर्थ ग्रहण किया है। 'भवन' के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होऊँ, यदि जिनोपदिष्ट श्रमण पर्याय —चरित्र में रमण करूं।

श्लोक १२ :

२४. चारित्र-रूपी श्री से (सिरिओ [क]) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ श्रामण्यरूपी लक्ष्मी या शोभा और हरिभद्रसूरि ने तप रूपी लक्ष्मी किया है[4]।

२५. निस्तेज (अप्पतेयं [ख]) :

इसमे अल्प शब्द अभाववाची है। अल्पतेज अर्थात् निस्तेज[5]। समिधा, चर्बी, रुधिर, मधु घृत आदि से हुत अग्नि जैसे दीप्त होती है और हवन के अन्त मे बुझकर वह निस्तेज हो जाती है, वैसे ही श्रमण-धर्म की श्री को त्यागने वाला मुनि निस्तेज हो जाता है[6]।

२६. दुर्विहित साधु की (दुव्विहियं [ग]) :

जिसका आचरण या विधि-विधान दुष्ट होता है, उसे दुर्विहित कहा जाता है। सामाचारी का विधिवत् पालन करने वाले भिक्षुओं के लिए सुविहित और उसका विधिवत् पालन न करने वालो के लिए दुर्विहित शब्द का प्रयोग होता है[7]।

२७. निन्दा करते हैं (हीलंति [ग]) :

चूर्णिद्वय के अनुसार 'हील्' धातु का अर्थ लज्जित करना है और यह नामधातु है[8]। टीका में इसका अर्थ कदर्थना करना किया है[9]।

श्लोक १३ :

२८. चरित्र को खण्डित करने वाला साधु (संभिन्नवित्तस्स [घ]) :

वृत्त का अर्थ शील या चारित्र है। जिसका शील सभिन्न —खण्डित हो जाता है, उसे सभिन्न-वृत्त कहा जाता है[10]।

१—जि० चू० पृ० ३६१ : 'बहुस्सुओ'त्ति अइ ण ओहावतो तो दुवालसगणिपिडगाहिज्जणेण अज्ज बहुस्सुओ।

२—हा० टी० प० २७६ : 'बहुश्रुत' उभयलोकहितबह्वागमयुक्त.।

३—हैम० ८.३.१८०,१८१।

४—(क) जि० चू० पृ० ३६३ : सिरी लच्छी सोभा वा, सा पुण आ समणभावाणुरूवा सामण्णसिरी।

(ख) हा० टी० प० २७६ : 'श्रियोऽपेत' तपोलक्ष्म्या अपगतम्।

५—हा० टी० प० २७६ : अल्पशब्दोऽभावे, तेजःशून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः।

६—अ० चू० : जधामधुमहुसमिधासमुदायवसारुहिरमहुघतादीहिं हूयमाणो अग्गी सभावदित्तीओ अधिगं दिप्पति हवणावसाणे परिविज्झाण मुम्मुरंगारछारत्थो भवति।

७—(क) अ० चू० : विहितो उप्पादितो, दुट्ठु विधितो — दुव्विहितो।

(ख) हा० टी० प० २७६ : 'दुर्विहितम्' उन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनम्।

८—(क) अ० चू० : ह्री इति लज्जा, ह्रुपयंति हीलेंति, यदुक्तम्—ह्रेपयंति।

(ख) जि० चू० पृ० ३६३ : ह्री इति लज्जा, लज्जं वयंति हीलंति—ह्रेपयंति।

९—हा० टी० प० २७६ : 'हीलयन्ति' कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति पङ्क्त्यपसारणादिना।

१०—(क) अ० चू० : वृत्तं शीलं।

(ख) हा० टी० प० २७७ : 'संभिन्नवृत्तस्य च' अखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च।

२९. अधर्म (अधम्मो [क]) :

श्रमण-जीवन को छोड़ने वाला व्यक्ति छह काय के जीवों की हिंसा करता है, श्रमण-गुण की हानि करता है, इसलिए श्रमण-जीवन के परित्याग को अधर्म कहा है[1]।

३०. अयश (अयसो) :

'यह भूतपूर्व श्रमण है'—इस प्रकार दोष-कीर्तन अयश कहलाता है[2]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'अपराक्रम से उत्पन्न न्यूनता' किया है[3]।

श्लोक १४ :

३१. आवेगपूर्ण-चित्त से (पसज्झ चेयसा [क]) :

प्रसह्य का अर्थ हठात्, वेगपूर्वक, बलात्कारपूर्वक या प्रकट है। विषयों के भोग के लिए हिंसा, असत्य आदि में मन का अभिनिवेश करना होता है। वस्तु एक होती है पर जब उसकी चाह अनेकों में होती है तब उसकी प्राप्ति और संरक्षण के लिए बलात्कार का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार भोगों में चित्त की हठधर्मिता होती है[4]।

३२. अनिष्ट (अणभिज्झियं [ग]) :

इसका अर्थ अनभिलषित, अनभिप्रेत या अनिष्ट है[5]।

३३. बोधि (बोही [घ]) :

अर्हत धर्म की उपलब्धि को बोधि कहा जाता है[6]।

श्लोक १६ :

३४. जीवन की समाप्ति के समय (जीवियपज्जवेण [घ]) :

पर्यव और पर्याय एकार्थक हैं। यहाँ पर्यव का अर्थ अन्त है। जीवित का पर्याय अर्थात् मरण[7]।

श्लोक १८ :

३५. लाभ और उसके साधनों को (आयं उवायं [ख]) :

आय अर्थात् विज्ञान, सम्यग्-ज्ञान आदि की प्राप्ति और उपाय अर्थात् आय के साधन[8]।

१—(क) अ० चू० : समणधम्मपरिच्चाग छक्कायारंभेण अपुण्णमाचरति एस अधम्मो—सामण्णगुणपरिहाणी।
(ख) जि० चू० पृ० ३६३ : समणधम्मपरिच्चत्तो छक्कायारंभेण अपुन्नमायइ-रयए, अधम्मो सामण्णपरिच्चागो।

२—(क) अ० चू० : अयसो एस समणगभूतपुव्व इति दोसकित्तणं।
(ख) जि० चू० पृ० ३६३ : अयसो य, से अहा समणभूतपुव्वो इति दोसकित्तणं।

३—हा० टी० प० २७६ : 'अयशः' अपराक्रमकृतं न्यूनत्वम्।

४—(क) अ० चू० : बरिवायावतक्करावीण एग दव्वाभिणिविट्ठाण बलक्कारेण एवं पसज्झं विसयसंरक्खणेय हिंसामोसादि निविट्ठचेतसा।
(ख) हा० टी० प० २७७ : 'प्रसह्यचेतसा' धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन।

५—(क) अ० चू० : अभिलासो अभिज्झा, सा जत्थ समुप्पण्णा तं अभिज्झितं, तव्विवरीयं अणभिज्झितमणभिलसितमणभिप्रेतं।
(ख) हा० टी० प० २७७ : 'अनभिध्यातम्' अभिध्याता—इष्टा न तामनिष्टामित्यर्थः।

६—जि० चू० पृ० ३६४ : अरहतस्स धम्मस्स उवलद्धी बोधी।

७—अ० चू० : परिगमणं पज्जायो अब्भगमणं तं पुण जीवितस्स पज्जायो मरणमेव।

८—(क) जि० चू० पृ० ३६६ : आओ विण्णाणादीण आगमो, उवायो तस्स साहणं अणुट्ठाणं।
(ख) हा० टी० प० २७८ : आयः सम्यग्ज्ञानादेरुपायः—तत्साधनप्रकारः कालविनयादिः।

बिइया चूलिया

विवित्तचरिया

द्वितीय चूलिका

विविक्तचर्या

आमुख

इस अध्ययन में श्रमण की चर्या, गुणों और नियमों का निरूपण है[1], इसलिए इसका नाम विविक्त-चर्या है। 'रतिवाक्या' से इसका रचना-क्रम भिन्न है। उसका प्रारम्भ वर्णनीय विषय से होता है—"इह खलु भो ! पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं ··· ।" इसके आदि-वाक्य में चूलिकाकार विविक्त चर्या के निर्माण की प्रतिज्ञा करते हैं और उसके केवली-भाषित होने का उल्लेख करते हैं "चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं ।" हरिभद्रसूरि ने इस दूसरे चरण की व्याख्या में प्रस्तुत अध्ययन को सीमंधर स्वामी से प्राप्त कहा है[2] ।

इसमें अनुकरण की अन्ध-प्रवृत्ति पर तीव्र प्रहार किया गया है। जनता का बहुमत अनुस्रोतगामी होता है। इन्द्रियं और मन के मनोज्ञ विषयों के आसेवन में रत रहता है, परन्तु साधक ऐसा न करे। वह प्रतिस्रोतगामी बने। उसका लक्ष्य अनुस्रोतगामियों से भिन्न है। साधना के क्षेत्र में बहुमत और अल्पमत का प्रश्न व्यर्थ है। यहाँ सत्य की एषणा और उपलब्धि का ही महत्व है। उसके साधन चर्या, गुण और नियम हैं। नियतवास न करना, सामूहिक भिक्षा करना, एकान्तवास करना, यह चर्या है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य चर्या है। बीच-बीच में गुणों और नियमों की ओर भी संकेत किया गया है। गुण मूल और उत्तर इन दो भागों में विभक्त हैं। पाँच महाव्रत मूल गुण हैं और नमस्कार, पौरुषी आदि प्रत्याख्यान उत्तर-गुण हैं। स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि नियम हैं। इनका जागरूक-भाव से पालन करने वाला श्रमण ही 'प्रतिबुद्धजीवी' हो सकता है।

चर्या का स्वतः प्रमाणभूत नियामक व्यक्ति (आगम-विहारी) वर्तमान में नहीं है। इस समय चर्या का नियमन आगम सूत्रों से हो रहा है। इसलिए कहा गया है "सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू"—भिक्षु को सूत्रोक्त मार्ग से चलना चाहिए। सूत्र का अर्थ है विशाल भावों को संक्षेप में कहना। इसमें अर्थ अधिक होता है और शब्द कम। इस स्थिति में शब्दों की खींच-तान होती है। इसलिए कहा गया है "सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ" सूत्र का अर्थ जैसे आज्ञा दे वैसे चलना चाहिए। चूर्णिकार ने बताया है कि गुरु उत्सर्ग (सामान्य-विधि) और अपवाद (विशेष विधि) से जो मार्गदर्शन दे उसके अनुसार चलना चाहिए[3] ।

पहले सूत्र होता है फिर अर्थ। सूत्रकर्ता एक व्यक्ति होता है किन्तु अर्थकार अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। सूत्र की प्रामाणिकता के लिए विशेष मर्यादा है। केवली, अवधि-ज्ञानी, मनः-पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और अभिन्न-दशपूर्वधर द्वारा रचित शास्त्र ही सूत्र—आगम होते हैं। किन्तु अर्थ की प्रामाणिकता के लिए कोई निश्चित मर्यादा नहीं है। साधारण ज्ञानी की व्याख्या को भी अर्थ कहा जाता है। आगमविहारी का किया हुआ अर्थ भी सूत्रवत् प्रमाण होता है। वे अर्थ-आगम अभी अनुपलब्ध हैं। इसलिए सूत्रकार ने निर्दिष्ट मार्ग से चलने की अनुमति दी है। निर्दिष्ट मार्ग कोई है ही नहीं। मार्ग सूत्र का ही है। अर्थ तो उसीका स्पष्टीकरण मात्र है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह सूत्र—सूचित मार्ग से प्रवृत्त होता है[4] । यह विचार व्याख्याकार की व्याख्या-पद्धति के आधार पर किया गया है। सूत्र-रचना की दृष्टि से विचार किया जाए तो सूत्र और अर्थ परस्पर संबद्ध हैं। उनमें कोई विरोध नहीं होता। विरोध का प्रश्न व्याख्याकार के लिए है। वह सूत्रकार की संक्षिप्त भाषा द्वारा उसके प्रतिपाद्य को यथार्थतया पकड़ नहीं पाता वहाँ सूत्र और अर्थ परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं। यहीं सतर्क रहने की आवश्यकता है।

१—श्लोक ४ : "चरिया गुणा य नियमा, य होंति साहूण दट्ठव्वा ।"

२—देखिए श्लोक १, टिप्पण २ ।

३—अ० चू० : सुत्तणाणेसेण सव्वं ण बुज्झति त्ति विसेसो कीरति—सुत्तस्स अत्थो जह आणवेति—तस्स सुत्तस्स मासकप्पादि उस्सग्गाववाया गुरुहिं निरूविज्जंति अत्थो जहा आणवेति, अधा सो करणीय—मग्गं निरूवेति ।"

४—अ० चू० : "सुत्तसूइएण मग्गेण अत्थो पवत्तइ ।"

सूत्र का आशय समझने के लिए उसके पौर्वापर्य, उत्सर्ग-अपवाद आदि सारी दृष्टियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही यथार्थ अर्थ का ग्रहण हो सकता है। सूत्र के कोरे एक शब्द या वाक्य को पकड़ कर चले, वह उसका हृदय नहीं समझ सकता।

—छठे अध्ययन (श्लोक ६, ७) में कहा है—अठारह स्थानों का वर्जन बाल, वृद्ध और रोगी—सभी निर्ग्रन्थों के लिए अनिवार्य है। इसका अखण्ड और अस्फुटित रूप से पालन होना चाहिए। अठारह में से किसी एक स्थान की विराधना करने वाला निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है। इस शब्दावली मे जो हृदय है, वह पूर्ण अध्ययन को पढ़े बिना नहीं पकड़ा जा सकता। पर्यङ्क (पन्द्रहवें स्थान) और गृहान्तर-निषद्या (सोलहवें स्थान) के अपवाद भी हैं। विशेष स्थिति में अवलोकनपूर्वक पर्यङ्क आदि पर बैठने की अनुमति भी दी है (देखो ६.५४)। वृद्ध, रोगी और तपस्वी के लिए गृहान्तर-निषद्या की भी अनुमति है (देखो ६.५९)।

इन सामान्य और विशेष विधियों को विधिवत् जाने बिना सूत्र का आशय ग्राह्य नहीं बनता। छठे और सातवें श्लोक की भाषा मे मूल-दोष का निषेध भी है। उसके लिए भाषा की रचना यही होनी चाहिए। किन्तु पर्यङ्क और निषद्या उत्तर-दोष हैं। इनके निषेध की भाषा इतनी कठोर नहीं हो सकती। इनमे अपवाद का भी अवकाश है। परन्तु सबका निषेध एक साथ है इसीलिए सामान्य विधि से निषेध की भाषा भी सम है। विशेष विधि का अवसर आने पर जिनके लिए अपवाद का स्थान था उनके लिए अपवाद बतला दिया गया है। इस प्रकार उत्सर्ग-अपवाद आदि अनेकान्त-दृष्टि से सूत्र के आशय का निरूपण ही अर्थ है। यह सूत्र के मार्ग का आलोक है। इसे जानकर ही साधक सूत्रोक्त मार्ग पर चल सकता है।

अध्ययन के उपसंहार में आत्म-रक्षा का उपदेश है। आत्मा को रखते हुए देह की रक्षा की जाए, वह देह-रक्षा भी संयम है। आत्मा को गँवाकर देह-रक्षा करना साधक के लिए इष्ट नहीं होता। आत्मा की अरक्षा व सुरक्षा ही दु:ख और दु:ख-मुक्ति का हेतु है। इसलिए सर्व यत्न से आत्मा की ही रक्षा करनी चाहिए। समग्र दशवैकालिक के उपदेश का फल यही है।

विइया चूलिया : द्वितीय चूलिका

विवित्तचरिया : विविक्तचर्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चूलियं तु[१] पवक्खामि सुयं केवलिभासियं । जं सुणित्तु सपुन्नाणं धम्मे उप्पज्जए मई ।।	चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतां केवलिभाषिताम् । यां श्रुत्वा सपुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः ।।१।।	१—मैं उस चूलिका को कहूँगा जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है[२], जिसे सुन भाग्यशाली जीवो की[३] धर्म में मति उत्पन्न होती है ।
२—अणुसोयपट्ठिएबहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं । पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं ।।	अनुस्रोतः प्रस्थिते बहुजने, प्रतिस्रोतो लब्धलक्ष्येण । प्रतिस्रोत एवात्मा, दातव्यो भवितुकामेन ।।२।।	२—अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे हैं[४] भोग-मार्ग की ओर जा रहे हैं । किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत[५] मे गति करने का लक्ष्य प्राप्त है[६], जो विषय-भोगो से विरक्त हो सयम की आराधना करना चाहता है[७], उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए—विषयानुरक्ति में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए ।
३—अणुसोयसुहोलोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ।।	अनुस्रोतः सुखो लोकः, प्रतिस्रोत आश्रवः सुविहितानाम् : अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्योत्तारः ।।३।।	३—जन-साधारण को स्रोत के अनुकूल चलने मे सुख की अनुभूति होती है, किन्तु जो सुविहित साधु हैं उसका आश्रव[८] (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है । अनुस्रोत ससार है[९] (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है[१०] (जन्म-मरण का पार पाना है) ।
४—तम्हा आयारपरक्कमेण संवरसमाहिबहुलेणं । चरिया गुणा य नियमा य होंति साहूण दट्ठव्वा ।।	तस्मादाचारपराक्रमेण, संवरसमाधिबहुलेन । चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधूनां द्रष्टव्याः ।।४।।	४—इसलिए आचार में पराक्रम करने वाले[११], संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले[१२] साधुओं को चर्या[१३], गुणों[१४] तथा नियमों की[१५] ओर दृष्टिपात करना चाहिए ।
५—अणिएयवासो समुयाणचरिया अन्नायउंछं पइरिक्कया य । अप्पोवही कलहविवज्जणा य विहारचरिया इसिणं पसत्था ।।	अनिकेतवासः समुदानचर्या, अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्तता च । अल्पोपधिः कलहविवर्जना च, विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ता ।।५।।	५—अनिकेतवास[१६] (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना[१७] एकान्तवास[१८], उपकरणों की अल्पता[१९] और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या[२०] (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है ।

६—आइण्णओमाणविवज्जणा य
ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू
तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा ॥

आकीर्णावमानविवर्जना च,
उत्सन्नदृष्टाहृतभक्तपानं ।
संसृष्टकल्पेन चरेद् भिक्षु:,
तज्जातसंसृष्टे यतिर्यतेत ॥६॥

६—आकीर्ण[२१] और अवमान नामक भोज[२२] का विवर्जन, प्राय: दृष्ट-स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण[२३] ऋषियों के लिए प्रशस्त है । भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले । दाता जो वस्तु दे रहा है उसीसे संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे[२४] ।

७—अमज्जमंसासि अमच्छरीया
अभिक्खणं निव्विगइं गओ य ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी
सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा ॥

अमद्यमांसाशी अमत्सरी च,
अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च ।
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी,
स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥७॥

७—साधु मद्य और मांस का अभोजी[२५], अमत्सरी, बार-बार विकृतियों को न खाने वाला[२६], बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला[२७] और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में[२८] प्रयत्नशील हो ।

८—न पडिन्नवेज्जा सयणासणाइं
सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे
ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा ॥

न प्रतिज्ञापयेत् शयनासनानि,
शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानम् ।
ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे,
ममत्वभावं न क्वचित् कुर्यात् ॥८॥

८—साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन, आसन, उपाश्रय, स्वाध्याय-भूमि जब मैं लौटकर आऊँ तब मुझे ही देना । इसी प्रकार भक्त-पान मुझे ही देना—यह प्रतिज्ञा भी न कराए । गाँव, कुल, नगर या देश मे—कहीं भी ममत्व भाव न करे ।

९—गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा
अभिवायणं वंदण पूयणं च ।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥

गृहिणो वैयापृत्यं न कुर्यात्,
अभिवादनं वन्दनं पूजनं च ।
असंक्लिष्टैः समं वसेत्,
मुनिश्चरित्रस्य यतो न हानिः ॥९॥

९—साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे[२९], अभिवादन, वन्दन और पूजन न करे । मुनि संक्लेश-रहित[३०] साधुओं के साथ रहे जिससे कि चरित्र की हानि न हो ।

१०—[३१]न या लभेज्जा निउणं सहायं
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

न वा लभेत निपुणं सहायं,
गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्,
विहरेत् कामेष्वसज्जन् ॥१०॥

१०—यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पाप-कर्मों का वर्जन करता हुआ काम-भोगो मे अनासक्त रह अकेला ही (संघ-स्थित) विहार करे ।

११—संवच्छरं चावि परं पमाणं
बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥

संवत्सरं चाऽपि परं प्रमाणं,
द्वितीयं च वर्षं न तत्र वसेत् ।
सूत्रस्य मार्गेण चरेद् भिक्षुः,
सूत्रस्यार्थो यथाज्ञापयति ॥११॥

११—जिस गाँव में मुनि काल[३२] के उत्कृष्ट प्रमाण तक रह चुका हो (अर्थात् वर्षाकाल में चातुर्मास और शेष काल में एक मास रह चुका हो) वहाँ दो वर्ष (दो चातुर्मास और दो मास) का अन्तर किए बिना न रहे । भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग से चले, सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे वैसे चले ।

१२—जो पुव्वरत्तावररत्तकाले
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥

यः पूर्वरात्रापररात्रकाले,
संप्रेक्षते आत्मकमात्मकेन ।
किं मया कृतं किं च मे कृत्यशेषं,
किं शक्नीयं न समाचरामि ॥१२॥

१२—जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपने-आप अपना आलोचन करता है—मैंने क्या किया ? मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है ? वह कौन सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ ?

१३—किं मे परो[33] पासइ किं व अप्पा
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥

किं मम परः पश्यति किं वात्मा,
किं वाऽहं स्खलितं न विवर्जयामि ।
इत्येवं सम्यगनुपश्यन्,
अनागतं नो प्रतिबन्धं कुर्यात् ॥१३॥

१३—क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा अपनी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूँ ? वह कौन सी स्खलना है जिसे मैं नहीं छोड़ रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक्-प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिबन्ध न करे असंयम में न बंधे, निदान न करे ।

१४—जत्थेव पासे कई दुप्पउत्त
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥

यत्रैव पश्येत् क्वचिद् दुष्प्रयुक्त,
कायेन वाचाऽथ मानसेन ।
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत्,
आकीर्णकः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥१४॥

१४—जहाँ कहीं भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धीर साधु वहीं सम्हल जाए । जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खींचते ही सम्हल जाता है ।

१५—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स
धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं ॥

यस्येदृशा योगा जितेन्द्रियस्य,
धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम् ।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविन,
स जीवति संयमजीवितेन ॥१५॥

१५—जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है । जो ऐसा होता है, वही संयमी जीवन जीता है ।

१६—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो
सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥
त्ति बेमि ।

आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः,
सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः ।
अरक्षितो जातिपथमुपैति,
सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥१६॥
इति ब्रवीमि ।

१६—सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए[34] । अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

विविक्तचर्या : द्वितीय चूलिका

श्लोक १ :

१. (तु [क]) :

इसे भावचूला का विशेषण माना गया है[1]। इसके तीसरे चरण में आया हुआ 'ज' सर्वनाम सहज ही 'चूलियं त' पाठ की कल्पना करा देता है।

२. जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है (सुयं केवलिभासियं [ख]) :

श्रुत[2] और केवली-भाषित—ये दो शब्द उस वृद्धवाद की ओर संकेत करते है जिसमे इस चूलिका को 'सीमंधर केवली के द्वारा भाषित और एक साध्वी के द्वारा श्रुत' कहा गया है[3]। चूर्णियों के अनुसार शास्त्र के गौरव-समुत्पादन के लिए इसे केवली कृत कहा है। तात्पर्य यह है कि यह केवली की वाणी है, जिस किसी का निरूपण नहीं है।

कालक्रम की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह श्रुत-केवली की रचना है—ऐसी संभावना की जा सकती है। 'सुय केवलिभासिय' इस पाठ को 'सुयकेवलिभासिय' माना जाए तो इसका आधार भी मिलता है। 'सुय' का अर्थ 'श्रुत-ज्ञान' किया है। यह अर्थ यहाँ कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। टीकाकार 'केवली-भाषित' के लिए वृद्धवाद का उल्लेख करते हैं, उसकी चर्चा चूर्णियो मे नही है[4]। इसलिए 'श्रुतकेवलिभाषित' इसकी संभावना और अधिक प्रबल हो जाती है।

३. भाग्यशाली जीवों की (सपुन्नाणं [ग]) :

चूर्णियों में यह 'सपुण्य' है जब कि टीका में यह 'सुपुण्य' है। सपुण्य का अर्थ पुण्य-सहित[5] और सुपुण्य का अर्थ उत्तम पुण्य वाला होता है[6]।

श्लोक २ :

४. अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे हैं (अणुसोयपट्ठिए [घ]) :

अनुस्रोत अर्थात् स्रोत के पीछे, स्रोत के अनुकूल। जब जल की निम्न प्रदेश की ओर गति होती है तब उसमें पड़ने वाली वस्तुएँ बह जाती हैं। इसलिए उन्हें अनुस्रोत-प्रस्थित कहा जाता है। यह उपमा है। यहां 'इव' शब्द का लोप माना गया है। अनुस्रोत-

---

१—हा० टी० प० २७८ : तुशब्दविशेषितां भावचूडाम्।

२—अ० चू० : श्रुयते इति श्रुत तं पुण सुतनाणं।

३—हा० टी० प० २७८,२७९।

४—(क) अ० चू० : केवलिय भासितमिति सत्थगोरव मुप्पायणत्थं भगवता केवलिणा भणितं न जेण केण ति।

(ख) जि० चू० पृ० ३६८।

५—(क) अ० चू० : सहपुण्णेण सपुण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० ३६८।

६—हा० टी० प० २७९ : 'सुपुण्यानां' कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनाम्।

प्रस्थित काठ आदि की भाँति जो लोग इन्द्रिय-विषयों के स्रोत में बहे जाते हैं, वे भी अनुस्रोत-प्रस्थित कहलाते हैं[1]।

५. प्रतिस्रोत (पडिसोय [ख]) :

प्रतिस्रोत का अर्थ है—जल का स्थल की ओर गमन। शब्दादि विषयों से निवृत्त होना प्रतिस्रोत है[2]।

६. गति करने का लक्ष्य प्राप्त है (लद्धलक्खेणं [ग]) :

जिस प्रकार धनुर्वेद या बाण-विद्या में निपुण व्यक्ति बालाग्र जैसे सूक्ष्मतम लक्ष्य को बींध देता है (प्राप्त कर लेता है) उसी प्रकार विषय-भोगों को त्यागने वाला संयम के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है[3]।

७. जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है (होउकामेणं [घ]) :

यहाँ 'होउकाम' का अर्थ है—निर्वाण पाने योग्य व्यक्ति[4]। यह शब्द परिस्थितिवाद के विजय की ओर संकेत करता है। आध्यात्मिक वही हो सकता है जो असदाचारी व्यक्तियों के जीवन को अपने लिए उदाहरण न बनाए, किन्तु आगमोक्त विधि के अनुसार ही चले। कहा भी है—मूर्ख लोग परिस्थिति के अधीन हो स्वधर्म को त्याग देते हैं किन्तु तपस्वी और ज्ञानी साधुपुरुष घोर कष्ट पड़ने पर भी स्वधर्म को नहीं छोड़ते, विकृत नहीं बनते[5]।

श्लोक ३ :

८. आश्रव (आसवो [ख]) :

जिनदास चूर्णि में 'आसव' (सं० आश्रव) पाठ है। इसका अर्थ इन्द्रिय-जय किया गया है। टीका में 'आसमो' को पाठान्तर माना है[6]। अगस्त्य चूर्णि में वह मूल है। उसका अर्थ तपोवन या व्रतग्रहण, दीक्षा या विश्राम-स्थल है।

९. अनुस्रोत संसार है (अणुसोओ संसारो [ग]) :

अनुस्रोत-गमन ससार (जन्म-मरण की परम्परा) का कारण है। अभेद-दृष्टि से कारण को कार्य मान उसे ससार कहा है[7]।

१—(क) अ० चू० : अणुसद्दो पच्छाभावे। सोयमिति पाणियस्स णिण्णप्पवेसाभिसप्पणं। सोतेण पाणियस्स गमणेपवत्ते जं तत्थ पडितं कट्ठाति वुज्झति, तं सोतमणुजातीति अणुसोतपडितं। एवं अणुसोतपट्ठित इव। इव सद्द लोवो एत्थ दट्ठव्वो।

(ख) जि० चू० पृ० ३६८।

२—(क) अ० चू० : प्रतीपसोत पडिसोत, जं पाणियस्स थलं प्रतिगमणं।..... सद्दादि विसयपडिलोमा प्रवृत्ती दुक्करा।

(ख) जि० चू० पृ० ३६९ : प्रतीपं श्रोतं प्रतिश्रोतं, जं पाणियस्स थलं प्रति गमनं, तं पुण न साभावितं, देवताविनियोगेण होज्जा, जहा तं असक्कं एवं सद्दादीण विसयाण पडिलोमा प्रवृत्तिः दुक्करा।

३—(क) अ० चू० : जधा ईसत्थं सुसिक्खितो सुसुण्हमवि बालाविग लक्खं लभते तधा कामसुहभावणाभाविते तप्परिच्चागेण संजम-लक्खं जो लभते सो पडिसोतलद्धलक्खो तेण पडिसोतलद्धलक्खेण।

(ख) जि० चू० पृ० ३६९।

४—जि० च० पृ० ३६९ : णिव्वाणगमणारुहो 'भविउकामो' होउकामो तेण होउकामेण।

५—हा० टी० प० २७९ : 'भवितुकामेन' ससारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न क्षुद्रजनाचरितान्युदाहरणीकृत्या-सन्मार्गप्रवण चेतोऽपि कर्त्तव्यम्, अपित्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यमिति, उक्तं च—"निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन, स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः। तपः श्रुतज्ञानधनास्तु साधवो, न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम्।"

६—(क) जि० चू० पृ० ३६९ : आसवो नाम इंदियजओ।

(ख) हा० टी० प० २७९ : 'आश्रवः' इन्द्रियजयादिरूपः परमार्थपेशलः कायवाङ्मनोव्यापारः 'आश्रमो वा' व्रतग्रहणादिरूपः।

७—(क) जि० चू० पृ० ३६९ : अणुसोओ संसारो तहा अणुसोतसुहमुच्छिओ लोगो पवत्तमाणो संसारे निवडइ, संसारकारणं सद्दा-दयो अणुसोता इति कारणे कारणोवयारो।

(ख) हा० टी० प० २७९ : 'अनुस्रोतः संसारः' शब्दादिविषयानुकूल्यं संसार एव, कारणे कार्योपचारात्, यथा विषं मृत्युः दधि त्रपुषी प्रत्यक्षो ज्वरः।

१०. प्रतिस्रोत उसका उतार है (पडिसोओ तस्स उत्तारो [ख]) :

प्रतिस्रोत-गमन संसार-मुक्ति का कारण है। अभेद-दृष्टि से कारण को कार्य मान उसे संसार से उत्तरण या मुक्ति कहा है। चूर्णि में 'उत्तारो' के स्थान में 'निग्घाडो' पाठ है। इसका भावार्थ यही है[1]।

श्लोक ४ :

११. आचार में पराक्रम करने वाले (आयारपरक्कमेण [क]) :

आचार मे पराक्रम का अर्थ है— आचार को धारण करने का सामर्थ्य। आचार में जिनका पराक्रम होता है, उन्हें आचार-पराक्रम कहा जाता है। यह साधु का विशेषण है[2]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'ज्ञानादि में प्रवर्तमान शक्ति वाला' किया है[3]।

१२. संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले (संवरसमाहिबहुलेणं [ख]) :

संवर का अर्थ इन्द्रिय और मन का संवर है[4]। समाधि का अर्थ समाधान, संवर-धर्म मे अप्रकम्प[5] या अनाकुल रहना है। बहुल अर्थात् प्रभूत। संवर में जिनकी समाधि बहुत होती है, वे संवर-समाधि-बहुल कहलाते हैं[6]।

१३. चर्या (चरिया [ग]) :

चर्या का अर्थ मूल व उत्तरगुण रूप चरित्र है[7]।

१४. गुणों (गुणा [ग]) :

चरित्र की रक्षा के लिए जो भावनाएँ हैं, उन्हें गुण कहा जाता है[8]।

१५. नियमों की (नियमा [ग]):

प्रतिमा आदि अभिग्रह नियम कहलाते हैं[9]। आगमों मे भिक्षु के लिए बारह प्रतिमाओं का निरूपण मिलता है[10]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३६६ : तव्विवरीयकारणे य पुण पडिसोओ, तस्स निग्घाडो, जहा पडिलोमं गच्छंतो ण पाडिज्जइ पायाले नदीसोएण तहेव सद्दाविसु अमुच्छिओ संसारपायाले ण पडइ।

(ख) हा० टी० प० २७९ : 'उत्तारः' उत्तरणमुत्तारः, हेतौ फलोपचारात् यथाऽऽयुर्घृतं तन्दुलान्वर्षति पर्जन्यः।

२—(क) अ० चू० : आयारोमूलगुणा परक्कम बल आयारधारणे सामत्थ आयारपरक्कमो जस्स अत्थि सो आयारपरक्कमवान् नमु लोवे कते आयारपरक्कमो साधुरेव।

(ख) जि० चू० पृ० ३६९-७० : आयारपरक्कमेणं, आयारो-मूलगुणो परक्कमो-बलं, आयारधारणे समत्थं, आयारे परक्कमो जस्स अत्थि सो आयारपरक्कमवान्, नमु लोए कए आयारपरिक्कमो साधुरेव।

३- हा० टी० प० २७९ : 'आचारपराक्रमेणे' त्याचारे—ज्ञानादौ पराक्रमः—प्रवृत्ति बलं यस्य स तथाविध इति।

४—जि० चू० पृ० ३७० : संवरो इंदियसंवरो नोइंदियसंवरो य।

५—जि० चू० पृ० ३७० : संवरे समाहाणं तओ अप्पकम्पण बहु लाति-बहुं गिण्हइ, संवरे समाहिं बहुं पडिवज्जइ, संवरसमाधिबहुले, तेण संवरसमाधिबहुलेण।

६—हा० टी० प० २७९ : संवरे—इन्द्रियादिविषये समाधिः— अनाकुलत्वं बहुलं—प्रभूतं यस्य सः।

७—जि० चू० पृ० ३७० : चरिया चरित्तमेव, मूलुत्तरगुणसमुवायो।

८—जि० चू० पृ० ३७० : गुणा तेसिं सारक्खणनिमित्तं भावणाओ।

९—जि० चू० पृ० ३७० : नियमा—पडिमादयो अभिग्गहविसेसा।

१०—दशा० ७वीं दशा।

श्लोक ५ :

१६. अनिकेतवास (अणिएयवासो [क]) :

निकेत का अर्थ घर है। व्याख्याकारों के अनुसार भिक्षु को घर में नहीं, किन्तु उद्यान आदि एकान्त स्थान में रहना चाहिए[1]। आगम-साहित्य में सामान्त: भिक्षुओं के उद्यान, शून्यगृह आदि में रहने का वर्णन मिलता है। यह शब्द उसी स्थिति की ओर संकेत करता है। इसका तात्पर्य 'विविक्त-शय्या' से है। मनुस्मृति में मुनि को अनिकेत कहा है[2]। 'अनिकेतवास' का अर्थ गृह-त्याग भी हो सकता है। चूर्णि और टीका में इसका अर्थ अनियतवास—सदा एक स्थान में न रहना भी किया है[3]।

१७. अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना (अन्नायउंछं [ख]) :

पूर्व परिचित पितृ-पक्ष और पश्चात् परिचित श्वसुर-पक्ष से गृहीत न हो किन्तु अपरिचित कुलों से प्राप्त हो, उस भिक्षा को अज्ञातोञ्छ कहा जाता है[4]। टीकाकार ने इसका अर्थ विशुद्ध उपकरणों का ग्रहण किया है[5]।

१८. एकान्तवास (पइरिक्कया [ख]) :

इसका अर्थ है एकान्त स्थान, जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु आदि रहते हों वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों की साधना में विघ्न उपस्थित हो सकता है, इसलिए उन्हें विजन-स्थान में रहने की शिक्षा दी गई है[6]।

१९. उपकरणों की अल्पता (अप्पोवही [ग]) :

अल्पोपधि का अर्थ उपकरणों की अल्पता या अक्रोध-भाव—ये दोनों हो सकते हैं[7]।

२०. विहार-चर्या (विहारचरिया [घ]) :

विहार-चर्या का अर्थ वर्तन या जीवन-चर्या है[8]। जिनदास चूर्णि और टीका मे इसका अर्थ विहार—पाद-यात्रा की चर्या किया है[9]। पर यह विहार-चर्या शब्द इस श्लोक मे उक्त समस्त चर्या का सग्राहक है, इसलिए अगस्त्य चूर्णि का अर्थ ही अधिक संगत लगता है। कुल विवरण में भी विहार का यही अर्थ मिलता है[10]।

१—जि० चू० पृ० ३७० : अणिएयवासोत्ति निकेत—घरं तमि ण वसियव्व, उज्जाणाइवासिणा होयव्व।

२—म० स्मृ० अ० ६.४३ : अनग्निरनिकेतः स्यात्।

३—(क) अ० चू० : अणिययवासो वा जतो ण निच्चमेगत्थ वसियव्व किन्तु विहरितव्वं।

　(ख) जि० चू० पृ० ३७० : अणियवासो वा अनिययवासो, निच्च एगते न वसियव्वं।

　(ग) हा० टी० प० २८० : अनियतवासो मासकल्पादिना 'अनिकेतवासो वा' अगृहे उद्यानादौ वासः।

४—जि० चू० पृ० ३७० : पुव्वपच्छासंथवादीहिं ण उप्पादियमिति भावओ, अन्नायं उंछं।

५—हा० टी० प० २८० : 'अज्ञातोञ्छं' विशुद्धोपकरणग्रहणविषयम्।

६—(क) जि० चू० पृ० ३७० : पइरिक्कं विवित्तं भण्णइ, त०वे जं विजणं भावे रागाइ विरहितं, सपक्खपरपक्खे माणवज्जियं वा, तब्भावा पइरिक्कयाओ।

　(ख) हा० टी० प० २८० : 'पइरिक्कया य' विजनैकान्तसेविता च।

७—(क) अ० चू० : उपधाणमुपधि। तत्थ दव्व अप्पोपधी जं एगेण वत्थेण परिवुसित एवमादि। भावतो अप्पकोधादी भारणं सपक्खपरपक्खगतं।

　(ख) जि० चू० पृ० ३७० : पहाणमुवही जं एगवत्थपरिच्चाए एवमादि, भावओ अप्पं कोहादिवारणं सपक्खपरपक्खे गत।

८—अ० चू० : सव्वा वि एसा विहारचरिया इतिणं पसत्था—विहरण विहारो जं एव पवत्तियव्वं। एतस्स विहारस्स आचरणं विहारचरिया।

९—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : विहरणं विहारो, सो य मासकप्पाइ, तस्स विहारस्स चरणं विहारचरिया।

　(ख) हा० टी० प० २८० : 'विहारचर्या' विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा।

१०—हा० कु० चतुर्थ विवरण : विहरणं विहारः—सव्याकृतसमस्तव्यलिक्रियाकरणम्।

श्लोक ६ :

२१. आकीर्ण (आइण्ण^क) :

वह भोज जहाँ बहुत भीड़ हो, आकीर्ण कहलाता है। भिक्षु आकीर्ण में भिक्षा लेने जाए तो वहाँ हाथ, पैर आदि के चोट आने की संभावना रहती है, इसलिए इसका निषेध है[1]।

तुलना करिए—आयारचूला १.३४।

२२. अवमान नामक भोज (ओमाण^क) :

वह भोज, जहाँ गणना से अधिक खाने वालों की उपस्थिति होने के कारण खाद्य कम हो जाये, अवमान कहलाता है[2]। जहाँ 'परिगणित' लोगों के लिए भोजन बने वहाँ से भिक्षा लेने पर भोजकार अपने निमन्त्रित अतिथियों के लिए फिर से दूसरा भोजन बनाता है या भिक्षु के लिए दूसरा भोजन बनाता है या देता ही नहीं, इस प्रकार अनेक दोषों की सभावना से इसका निषेध है।

तुलना करिए—आयारचूला १.३।

२३. प्रायः दृष्ट-स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण (ओसन्नदीट्ठाहडभत्तपाणे^ख) :

इसका अर्थ है प्रायः[3] दृष्ट-स्थान से भक्त-पान लेना। इसकी मर्यादा यह है कि तीन घरो के अन्तर से लाया हुआ भक्त-पान हो, वह ले, उससे आगे का न ले[4]।

२४. भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है उसीसे संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे (संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू^ग, तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा^घ) :

लिप्त हाथ या भाजन से आहार लेना 'संसृष्ट कल्प' कहलाता है। सचित्त वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना मुनि के लिए निषिद्ध है अतः वह 'तज्जात ससृष्ट' होना चाहिए। जात का अर्थ प्रकार है। जो एक ही प्रकार के होते हैं वे 'तज्जात' कहलाते हैं[5]।

स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार 'तज्जात ससृष्ट' का अर्थ है—देय वस्तु के समान—जातीय वस्तु से लिप्त[6]।

सजीव वस्तु से संसृष्ट हाथ और भाजन से लेना निषिद्ध है और पश्चात् कर्म-दोष टालने के लिए तज्जातीय वस्तु से असंसृष्ट हाथ और भाजन से लेना भी निषिद्ध है।

इसके लिए देखिए दशवैकालिक ५.१.३५।

१—जि० चू० पृ० ३७१ : 'आइण्ण' मिति अच्चत्थं आइण्णं, तं पुण रायकुलसंखडिमाइ, तत्थ महाजणविमद्दो पविसमाणस्स हत्थपादादिलूसणभाणभेदाई दोसा, उक्कट्ठुगमणा इ'दिये दायगस्स लोहेइत्ति।

२—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : ओमाणविवज्जणं नाम अवमं-ऊणं अवमाणं ओमो वा मोणा जत्थ संभवइ तं ओमाणं।

(ख) हा० टी० प० २८०-१ : अवमानं—स्वपक्षपरपक्षप्राभृत्यजं लोकाबहुमानादि ···अवमाने अलाभाधाकर्मादिदोषात्।

३—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : उस्सण्णसद्दो पायोवित्तीए वट्टइ, जहा—'देवा ओसण्णं सातं वेदणं वेदेंति।

(ख) हा० टी० प० २८१।

४—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : दिट्ठाहडं जं जत्थ उवयोगो कीरइ, तिआइघरंतराओ परतो, णाणित्ति (दि) ट्ठाभिहडकरणं, एवं ओसण्णं दिट्ठाहडभत्तपाणं गेण्हिज्जत्ति।

(ख) हा० टी० प० २८१ : इदं चोत्सन्नदृष्टाहृतं यत्रोपयोगः शुद्ध्यति, त्रिगृहान्तरादारत इत्यर्थः, 'भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ बीओ अ दोसुमुवओग' मिति वचनात्।

५—अ० चू० : तज्जाय संसट्ठमिति जात सद्दो प्रकारवाची, तज्जातं तथा प्रकारं जधा आमगोरसो आमस्स भ बोरसस्स तज्जातो कुसणादि पुण अतज्जातं।

६—स्था० ५.१ वृ० : तज्जातेन देयद्रव्याविरोधिना यत्संसृष्टं हस्तादि।

श्लोक ७ :

२५. मद्य और मांस का अभोजी (अमज्जमंसासि) [क] :

चूर्णिकारों ने यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया है—"पिण्डैषणा—अध्ययन (५.१.७३) मे केवल बहु-अस्थि वाले मांस लेने का निषेध किया है और यहाँ मांस-भोजन का सर्वथा वर्जन किया है यह विरोध है ?" और इसका समाधान ऐसा किया है—"यह उत्सर्ग सूत्र है तथा वह कारणिक -- अपवाद सूत्र है। तात्पर्य यह है कि मुनि मास न ले सामान्य विधि यही है किन्तु विशेष कारण की दशा में लेने को बाध्य हो तो परिशाटन-दोषयुक्त (देखें ५.१.७४) न ले[१]।"

यह चूर्णिकारों का अभिमत है। टीकाकार ने यहाँ उसकी चर्चा नही की है। चूर्णिगत उल्लेखों से भी इतना स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षुओं की भाँति जैन-भिक्षुओं के लिए मास-भोजन सामान्यत: विहित नही किन्तु अत्यन्त निषिद्ध है। अपवाद विधि कब से हुई—यह अन्वेषणीय विषय है। आज क जैन-समाज का बहुमत इस अपवाद को मान्य करने के लिए प्रस्तुत नही है।

२६. बार-बार विकृतियो को न खाने वाला (अभिक्खणं निव्विगइं गया [ख]) .

मद्य और मांस भी विकृति है[२]। कुछ विकृति-पदार्थ भक्ष्य है और कुछ अभक्ष्य। चूर्णियो के अनुसार भिक्षु के लिए मद्य-मास का जैसे अत्यन्त निषेध है वैसे दूध-दही आदि विकृतियो का अत्यन्त निषेध नही है[३]। फिर भी प्रतिदिन विकृति खाना उचित नहीं होता, इसलिए भिक्षु बार-बार निर्विकृतिक (विकृति रहित रूखा) भोजन करने वाले होते हैं।

चूर्णियों में पाठान्तर का उल्लेख हैं - 'केयिपढति'—अभिक्खणिव्वितिय जोगया य (अ० चू०) इसका अर्थ यही है कि भिक्षु को बार-बार निर्विकृतिक-योग स्वीकार करना चाहिए[४]।

२७. बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला (अभिक्खणं काउस्सग्गकारी [ग]) :

गमनागमन के पश्चात् मुनि ईर्यापथिक (प्रतिक्रमण-कायोत्सर्ग)[५] किए बिना कुछ भी न करे—यह टीका का आशय है[६]।

चूर्णियो के अनुसार कायोत्सर्ग में स्थित मुनि के कर्म-क्षय होता है, इसलिए उसे गमनागमन, विहार आदि के पश्चात् बार-बार कायोत्सर्ग करना चाहिए[७]।

मिलाए—१०.१३।

१—(क) अ० चू० : ननु पिंडेसणाए भणितं—बहुअट्ठितं पोग्गल, अणिमिसं वा बहुकटग (५ १) इति तत्थ बहुअट्ठितं निसिद्धमिह सव्वहा। विरुद्धमिह परिहरण, सेइमं उस्सग्ग सुत्तं। त कारणीयं जताकारणे गहणं तदा परिसाडी परिहरणत्थं सुद्धं घेतव्वं ण बहुयट्ठितमिति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : अमज्जमंसासी भवेज्जा एवमादि, आह-णणु पिंडेसणाए भणियं 'बहुअट्ठियं पोग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटकं', आयरिओ आह—तत्थ बहुअट्ठिय णिसिद्धमितिऽत्थ सव्व णिसिद्ध, इमं उस्सग्ग सुत्तं, तं तु कारणीयं, जदा कारणे गहणं तदा पडिसाडिपरिहरणत्थं सुत्त घेत्तव्वं न बहुपडि(अट्ठि)यमिति।

२—प्रश्न० संवरद्वार ४ भावना ५।

३—(क) अ० चू० : अभिक्खणमिति पुणो पुणो निव्विइयं करणीय। ण जधामज्जमंसाण अच्चंत पडिसेधो तधा विगतीणं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : 'अभिक्खणं निव्विगतं गया ये' ति अप्पो कालविसेसो अभिक्खणमिति, अभिक्खणंणिव्वियं करणीय-जहा मज्जमंसाणं अच्चंतपडिसेधो (न) तहा सेसाणं।

४ - जि० चू० पृ० ३७२ : केई पढंति—'अभिक्खणं णिव्वितीया जोगो पडिवज्जियव्वो' इति।

५—देखिए ५.१.८८ में 'इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे' का टिप्पण।

६ हा० टी० प० २८१ : 'कायोत्सर्गकारी भवेत्' ईर्यापथप्रतिक्रमणकृत्वा न किञ्चिदन्यत् कुर्याद्, तदशुद्धतापत्ते:।

७—(क) अ० चू० : काउस्सग्गेसुट्ठितस्स कम्मनिज्जराभवतीति गमणागमणविहारादिसु अभिक्खणं काउस्सग्गकारिणा भवितव्वं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : काउस्सग्गे ठियस्स कम्मनिज्जरा भवइ, गमणागमणविहारादीसु अभिक्खणं काउस्सग्गे 'सऊसियं नीससियं' पढियव्वा गाथा।

२८. स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में (सज्झायजोगे [घ]) :

स्वाध्याय के लिए योग-वहन (आचामाम्ल आदि तपोनुष्ठान) करने की एक विशेष विधि है। आगम अध्ययन के समय मुनि इस तपोयोग को वहन करते हैं[1]। इसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए—विधिप्रपा।

श्लोक ९ :

२९. साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे (गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा [क]) :

गृहि-वैयापृत्य—गृहस्थ का आदर करना, प्रीतिजनक उपकार करना—ये असंयम का अनुमोदन करने वाले हैं, इसलिए मुनि इनका आचरण न करे[2]।

देखिए—३.६ का टिप्पण ३४।

३०. संक्लेश रहित (असंकिलिट्ठेहिं [ग]) :

गृहि-वैयापृत्य आदि राग-द्वेष के द्वारा जिसका मन बाधित होता है, उसे संक्लिष्ट कहा जाता है। असंक्लिष्ट इसका प्रतिपक्ष है[3]।

श्लोक १० :

३१. श्लोक १० :

एकाकी-विहार प्रत्येक मुनि के लिए विहित नहीं है। जिसका ज्ञान समृद्ध होता है, शारीरिक संहनन सुदृढ होता है, वह आचार्य की अनुमति पाकर ही एकल-विहार प्रतिमा स्वीकार कर सकता है। इस श्लोक मे आपवादिक स्थिति की चर्चा है। इसका आशय है कि क्वचित् संयम-निष्ठ साधुओं का योग प्राप्त न हो तो सयमहीन के साथ न रहे, भले कदाचित् अकेला रहने की स्थिति आ जाए। जो मुनि रस-लोलुप हो आचार्य के अनुशासन की अवहेलना कर, सयम-विमुख बन अकेले हो जाते हैं और इस सूत्र के आशय को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं, वह अभीष्ट नहीं है।

श्लोक ११ :

३२. काल (संवच्छरं [क]) :

मुनि कारण के बिना एक स्थान में नहीं रह सकता[4]। उसके लिए अनियतवास को प्रशस्त कहा गया है[5]। विहार की दृष्टि से वर्षाकाल को दो भागों में बाँटा गया है—वर्षाकाल और ऋतुबद्ध-काल। वर्षाकाल में मुनि एक स्थान में चार मास रह सकता है और ऋतुबद्ध-काल में एक मास। चातुर्मास का काल मुनि के एक स्थान में रहने का उत्कृष्ट काल है, इसलिए यहाँ उसे संवत्सर कहा

१—(क) जि० चू० पृ० ३७२ : वायणादि बज्झो सज्झाओ तस्स जं विहाणं आयबिलाइजोगो तंमि।

(ख) हा० टी० प० २८१ : 'स्वाध्याययोगे' वाचनाद्युपचारव्यापार आचामाम्लादौ।

२—जि० चू० पृ० ३७३ : वेयावडियं नाम तथाऽऽदरकरणं, तेसिं वा पीतिजणणं, उपकारक असंजमाणुमोयणं ण कुज्जा।

३—(क) जि० चू० पृ० ३७३ : गिहिवेयावडियादिरागदोसविबाहितपरिणामा संकिलिट्ठा, तहा भूते परिहरिऊण असंकिलिट्ठेहिं वसेज्जा, संपरिहारी संवसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २८२ : 'असंक्लिष्टैः' गृहिवैयावृत्यकरणसंक्लेशरहितैः।

४—बृहत्० भा० १.३६ : कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत गिम्हासु चारए।

५—दश० चू० २.५ अ० चू० : अतो ण णिच्चमेगत्थ वसियव्वं किंतु विहरितव्वं।

गया है[1]। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि का अभिमत भी यही है। चूर्णिकार 'अवि' को सम्भावनार्थक मानते हैं[2]। इनके अनुसार कारण विशेष की स्थिति में उत्कृष्ट-वास मर्यादा से अधिक भी रहा जा सकता है—'अपि' शब्द का यह अर्थ है। हरिभद्रसूरि 'अपि' शब्द के द्वारा एक मास का सूचन करते हैं[3]। आचाराङ्ग में ऋतु-बद्ध और वर्षाकाल के कल्प का उल्लेख है। किन्तु वर्षाकाल और शेषकाल में एक जगह रहने का उत्कृष्ट कल्प (मर्यादा) कितना है, इसका उल्लेख वहाँ नहीं है। वर्षावास का परम-प्रमाण चार मास का काल है[4] और शेषकाल का परम-प्रमाण एक मास का है[5]। यहाँ बतलाया गया है कि जहाँ उत्कृष्ट काल का वास किया हो वहाँ दूसरी बार वास नहीं करना चाहिए और तीसरी बार भी। तीसरी बार का यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु यहाँ चकार के द्वारा वह प्रतिपादित हुआ है, ऐसा चूर्णिकार का अभिमत है[6]। तात्पर्य यह है कि जहाँ मुनि एक मास रहे वहाँ दो मास अन्यत्र बिताए बिना न रहे। इसी प्रकार जहाँ चातुर्मास करे वहाँ दो चातुर्मास अन्यत्र किए बिना चातुर्मास न करे।

श्लोक १२ :

३३. (किं मे [क]) :

यहाँ 'मे' पद में तृतीया के स्थान में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है[7]।

श्लोक १६ :

३४. आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए (अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो [क]) :

इस चरण मे कहा गया है कि आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। कुछ लोग देह-रक्षा को मुख्य मानते हैं। उनकी धारणा ह कि आत्मा को गँवाकर भी शरीर की रक्षा करनी चाहिए। शरीर आत्म-साधना करने का साधन ह। किन्तु यहाँ इस मत का खण्डन किया गया है और आत्म-रक्षा को सर्वोपरि माना गया है। महाव्रत के ग्रहण काल से मृत्यु-पर्यन्त आत्म-रक्षा में लगे रहना चाहिए। आत्मा मरती नही, अमर है फिर उसकी रक्षा का विधान क्यों? यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु इसका उत्तर भी स्पष्ट है। यहाँ आत्मा से सयमात्मा [सयम-जीवन] का ग्रहण अभिप्रेत है। सयमात्मा की रक्षा करनी चाहिए। श्रमण के लिए कहा भी गया है कि वह संयम से जीता है[8]। संयमात्मा की रक्षा कैसे हो? इस प्रश्न के सम्बन्ध मे बताया गया है—इन्द्रियो को सुसमाहित करने से—उनकी विषयोन्मुखी या बहिर्मुखी वृत्ति को रोकने से आत्म-रक्षा होती है।

१—अ० चू० : संवच्छर इति कालपरिमाणं। त पुण णेह बारसमासिगंसवच्छति किंतु वरिसारत्त चातुमासितं। स एव जेट्ठोग्गहो।

२—(क) अ० चू० : अपि सद्दो कारण विसेसं दरिसयति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७४ : अविसद्दो संभावणे, कारणे अच्छितव्वंति एयं सभावयति।

३—हा० टी० प० २८३ : अपिशब्दान्मासमपि।

४—बृहत्० भा० १.३६।

५—बृहत्० भा० १.६.७८।

६—अ० चू० : बितियं च वासे—बितियं ततो अणंतरं च सद्देण ततियमवि जतो भणितं तदुगुण, दुगणेणं अपरिहरित्ता ण वट्टति। बितियं ततियं च परिहरिऊण चउत्थे होज्जा।

७—हा० टी० प० २८३ : 'किं मे कृत' मिति छान्दसत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी।

८—दश० चू० २.१५ : सो जीवइ संजमजीविएण।

परिशिष्ट

१. टिप्पण-अनुक्रमणिका

२. पदानुक्रमणिका

३. सूक्त और सुभाषित

४. प्रयुक्त ग्रंथ एवं संकेत-सूची

१. टिप्पण-अनुक्रमणिका

परिशिष्ट-२

पदानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

आ

ध

न

परिशिष्ट-३

सूक्त और सुभाषित

सूक्त और सुभाषित

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं । (१।१)

धर्म सबसे बड़ा मंगल है।

देवा वि तं नमंसंति
जस्स धम्मे सया मणो । (१।१)

उसे देवता भी वन्दना करते हैं, जिसका मन धर्म मे रमता है।

कहं नु कुज्जा सामण्णं
जो कामे न निवारए। (२।१)

वह क्या श्रमण होगा जो कामनाओ को नही छोड़ता ?

वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ ।। (२।२)

जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्रियो और पलगो का परवश होने से (या उनके अभाव मे) सेवन नही करता, वह त्यागी नही कहलाता ।

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ।। (२।३)

त्यागी वह कहलाता है जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनता-पूर्वक भोगों का त्याग करता है।

न सा महं नोवि अहं पि तीसे ।
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ।।२।४)

'वह मेरी नहीं है, मैं उसका नहीं हूं'—इसका आलम्बन ले राग का निवारण करे।

आयावयाही चय सोउमल्लं
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं ।
एवं सुही होहिसि संपराए ।। (२।५)

अपने को तपा। सुकुमारता का त्याग कर। काम-विषय-वासना का अतिक्रम कर। इससे दुःख अपने-आप क्रान्त होगा। (संयम के प्रति) द्वेष-भाव को छिन्न कर। (विषयो के प्रति) राग-भाव को दूर कर। ऐसा करने से तू संसार में सुखी होगा।

वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे। (२।७)

वमन पीने की अपेक्षा मरना अच्छा है।

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ।। (४।७)

कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो।

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ।। (४।८)

यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खड़ा होने, यत्नापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने वाला पाप-कर्म का बन्धन नही करता।

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई ।।४।९)

जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसके पाप-कर्म का बन्धन नही होता।

पढमं नाणं तओ दया । (४।१०)

आचरण से पहले जानो। पहले ज्ञान है फिर दया।

अन्नाणी किं काही
किं वा नाहिइ छेय पावगं । (४।१०)

अज्ञानी क्या करेगा जो श्रेय और पाप को भी नही जानता?

सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणई सोच्चा जं छेयं तं समायरे ।। (४।११)

जीव सुन कर कल्याण को जानता है और सुनकर ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमे जो श्रेय है, उसी का आचरण करे।

जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहिइ संजमं ।। (४।१२)

जो जीवों को भी नही जानता, अजीवो को भी नहीं जानता, वह जीव और अजीव को न जानने वाला, संयम को कैसे जानेगा?

जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं ।। (४।१३)

जो जीवो को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है, वही जीव और अजीव दोनों को जानने वाला, संयम को जान सकेगा।

वच्चमुत्तं न धारए। (५।१।१९)

मल-मूत्र का वेग मत रोको।

अहो जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥ (५।१।९२)

कितना आश्चर्य है—जिनेश्वर भगवान ने साधुओं को मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी शरीर की धारणा के लिये निरवद्य-वृत्ति का उपदेश किया है।

दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥ (५।१।१००)

मुधादायी दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।

काले कालं समायरे। (५।२।४)

हर काम ठीक समय पर करो।

अलाभो त्ति न सोएज्जा
तवो त्ति अहियासए। (५।२।६)

न मिलने पर चिन्ता मत करो, उसे सहज तप मानो।

अदीणो वित्तिमेसेज्जा। (५।२।२६)

मुहताज मत बनो।

जे न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे। (५।२।३०)

सम्मान न मिलने पर क्रोध और मिलने पर गर्व मत करो।

पूयणट्ठी जसोकामी माणसम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं मायासल्लं च कुव्वई ॥ (५।२।३५)

पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य का आचरण करता है।

पणीयं वज्जए रसं। (५।२।४२)

विकार बढ़ाने वाली वस्तु मत खाओ।

मायामोसं विवज्जए। (५।२।४९)

झूट-कपट से दूर रहो।

अहिंसा निउणं दिट्ठा
सव्वभूएसु संजमो। (६।८)

सब जीवों के प्रति जो संयम है, वही अहिंसा है।

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ (६।१०)

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिये प्राण-वध को भयानक जान कर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

न ते सन्निहिमिच्छन्ति नायपुत्तवओरया। (६।१७)

भगवान महावीर को माननेवाले संचय करना नहीं चाहते।

जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से। (६।१८)

जो संग्रह करता है वह गृही है, साधक नहीं।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। (६।२०)

मूर्च्छा ही परिग्रह है।

अवि अप्पणो वि देहम्मि
नायरंति ममाइयं। (६।२१)

अपने शरीर के प्रति भी ममत्व मत रखो।

सच्चा वि सा न वत्तव्वा
जओ पावस्स आगमो (७।११)

वैसा सत्य भी मत बोलो, जिससे पाप लगे, दूसरों का दिल दुःखे।

बहवे इमे असाहू लोए वुच्चन्ति साहुणो।
न लवे असाहुं साहु त्ति साहुं साहु त्ति आलवे ॥ (७।४८)

ये बहुत सारे असाधु लोक में साधु कहलाते हैं। असाधु को साधु न कहे, जो साधु हो उसी को साधु कहे।

नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं।
एवंगुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे। (७।४९)

ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न--संयम और तप में रत—इस प्रकार गुण-समायुक्त संयमी को ही साधु कहे।

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया।
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया। (७।५६)

वाणी के दोष और गुण को जानो। जो दोषपूर्ण हो, उसका प्रयोग मत करो।

वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं। (७।५६)

हित और अनुकूल वचन बोलो।

धुवं च पडिलेहेज्जा। (८।१७)

शाश्वत की ओर देखो।

न य रूवेसु मणं करे। (८।१९)

रूप से मन मत लो।

मियं भासे। (८।१९)

कम बोलो।

बहुं सुणेइ कण्णेहिं बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ (८।२०)

वह कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिये उचित नहीं।

न य भोयणम्मि गिद्धो। (८।२३)

जिह्वा-लोलुप मत बनो।

आसुरत्तं न गच्छेज्जा। (८।२५)

क्रोध मत करो।

देहे दुक्खं महाफलं। (८।२७)

जो कष्ट आ पड़े, उसे सहन करो।

मियासणे। (८।२९)

कम खाओ।

सुयलाभे न मज्जेज्जा। (८।३०)

ज्ञान का गर्व मत करो।

से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं बीयं तं न समायरे। (८।३१)

जान या अजान में कोई अधर्म-कार्य कर बैठो तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लो, फिर दूसरी बार वह कार्य मत करो।

अणायारं परक्कम्म।
नेव गूहे न निण्हवे। (८।३२)

अपने पाप को मत छिपाओ।

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे।। (८।३५)

जब तक जरा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हो, तब तक धर्म का आचरण करे।

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो।। (८।३६)

क्रोध, मान, माया और लोभ--ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो।। (८।३७)

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मित्रों का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है।

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे।। (८।३८)

उपशम से क्रोध का हनन करो, मृदुता से मान को जीतो, ऋजुभाव से माया को जीतो और सन्तोष से लोभ को जीतो।

राइणिएसु विणयं पउंजे। (८।४०)

बड़ों का सम्मान करो।

निद्दं च न बहुमन्नेज्जा। (८।४१)

नींद को बहुमान मत दो।

बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा। (८।४३)

बहुश्रुत की उपासना करो।

अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा।। (८।४६)

बिना पूछे मत बोलो, बीच में मत बोलो।

पिट्ठिमंसं न खाएज्जा। (८।४६)

चुगली मत करो।

अप्पत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं।। (८।४७)

जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोलो।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं वियं जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं।। (८।४८)

आत्मवान् दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण, व्यक्त, परिचित, वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले।

आयारपन्नत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वइविक्खलियं नच्चा न तं उवहसे मुणी।। (८।४९)

आचारांग और प्रज्ञप्ति को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला मुनि बोलने में स्खलित हुआ है (उसने वचन, लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जानकर भी मुनि उसका उपहास न करे।

गिहिसंथवं न कुज्जा। (८।५२)

गृहस्थ से परिचय मत करो।

कुज्जा साहूहिं संथवं। (८।५२)

भलों की संगत करो।

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविगप्पियं।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए।। (८।५५)

जिसके हाथ-पैर कटे हुए हो, जो कान-नाक से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए। (९।१।६)

बड़ों की अवज्ञा करने वाला मुक्ति नही पाता।

जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं।। (९।१।१२)

जिसके समीप धर्मपदो की शिक्षा लेता है उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर, हाथो को जोड़कर, (पंचांग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे।

लज्जा दया संजम बंभचेरं।
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।। (९।१।१३)

विशोधी के चार स्थान हैं—लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य।

सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो। (९।१।१७)

आचार्य की सुश्रूषा करो।

धम्मस्स विणओ मूलं। (९।२।२)

धर्म का मूल विनय है।

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ।।(९।२।२१)

अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है—ये दोनों जिसे ज्ञात हैं, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।

असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। (९।२।२२)

संविभाग के बिना मुक्ति नहीं।

आयारमट्ठा विणयं पउंजे। (९।३।२)

चरित्र-विकास के लिये अनुशासित बनो।

नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई। (९।३।३)

सत्य का शोधक नम्र होता है।

वक्ककरे स पुज्जो। (९।३।३)

अनुशासन मानने वाला ही पूज्य होता है।

मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ (९।३।७)

लोहमय कांटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं, किन्तु दुर्वचन रूपी कांटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले और महाभयानक होते हैं।

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू। (९।३।११)

साधु और असाधु गुण से होता है, जन्म से नहीं।

गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू। (९।३।११)

साधु बनो असाधु नहीं।

सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मैं एकाग्रचित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। (९।४।सू०५)

मैं धर्म मे स्थिर होकर दूसरों को उसमे स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा। (९।४।सू०६)

(१) इहलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए। (२) परलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए। (३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए। (४) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए।

निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा। (१०।१)

सदा प्रसन्न (आत्म-लीन) रहो।

वंतं नो पडियायई। (१०।१)

वमन को मत पीओ।

अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए। (१०।५)

सबको आत्म-तुल्य मानो।

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा। (१०।१०)

कलह को बढ़ाने वाली चर्चा मत करो।

समसुहदुक्खसहे। (१०।११)

सुख-दुःख में समभाव रखो।

न सरीरं चाभिकंखई। (१०।१२)

शरीर में आसक्त मत बनो।

पुढवि समे मुणी हवेज्जा (१०।१०)

पृथ्वी के समान सहिष्णु बनो।

न रसेसु गिद्धे। (१०।१७)

स्वाद-लोलुप मत बनो।

न परं वएज्जासि अयं कुसीले। (१०।१७)

दूसरों को बुरा-भला मत कहो।

अत्ताण न समुक्कसे। (१०।१८)

अहंकार मत करो।

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते। (१०।१९)

जाति, रूप, लाभ और श्रुत का गर्व मत करो।

पत्तेयं पुण्णपावं। (चू०१।सू०१ स्था०५१)

पुण्य और पाप अपना-अपना है।

मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले। (चू०१।सू०१ स्था०१६)

यह मनुष्य-जीवन कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की तरह चंचल है।

देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं तु महानिरयसारिसो ॥ (चू०१।१०)

संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है। और जो संयम में रत नहीं होते उनके लिए वही महानरक के समान दुःखद होता है।

संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई। (चू० १।१३)

आचार-भ्रष्ट की दुर्गति होती है।

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेण वेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥ (चू० १।१६)

यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय तो अवश्य ही मिट जायगी।

चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं (चू० १।१७)

शरीर को छोड़ दो पर धर्म को मत छोड़ो।

अणुसोओ संसारो। (चू० २।३)

जो सुभावना है, वह संसार है।

पडिसोओ तस्स उत्तारो (चू०२।३)

प्रतिस्रोत मोक्ष का पथ है—प्रवाह के प्रतिकूल चलना मुक्ति का मार्ग है।

असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा। (चू०२।९)

क्लेश न करने वालों के साथ रहो।

संपिक्खई अप्पगमप्पएणं। (चू०२।१२)

आत्मा से आत्मा को देखो।

तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं। (चू०२।१५)

वही प्रतिबुद्धजीवी है, जो संयम से जीता है।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो।
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥ (चू० २।१६)

सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

प्रयुक्त ग्रन्थ एवं संकेत-सूची

ग्रन्थ संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ नाम
	अंगविज्जा
अंग० चू०	अंगपण्णत्ति चूलिका
अंत०	अंतगडदशा
अ० चू०	अगस्त्यसिंह चूर्णि (दशवैकालिक)
अ० वे०	अथर्ववेद
अनु०	अनुयोगद्वार
अनु० वृ०	अनुयोगद्वार वृत्ति
अन्त०	अन्तकृतदशा
	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका
अ० चि०	अभिधान चिन्तामणि
अमर०	अमरकोष
अ० प्र०	हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण
	अष्टाध्यायी (पाणिनि)
आ० अ०	आगम अठोत्तरी
आ०	आयारो
आ० चू०	आचारचूला
आचा० नि०	आचाराङ्ग निर्युक्ति
आचा० नि० वृ०	आचाराङ्ग निर्युक्ति वृत्ति
आचा० वृ०	आचाराङ्ग वृत्ति
आव०	आवश्यक
आ० नि०	आवश्यक निर्युक्ति
आ० हा० वृ० आव० हा० वृ०	आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति
	आह्निक प्रकाश
उत्त०	उत्तराध्ययन
उत्त० चू०	उत्तराध्ययन चूर्णि
उत्त० नि०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उत्त० ने० वृ०	उत्तराध्ययन नेमिचन्द्रीय वृत्ति
उत्त० वृ० उत्त० बृ० वृ० बृ० वृ०	उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति
उत्त० स०	उत्तराध्ययन सर्वार्थसिद्धि टीका
उपा०	उपासकदशा
उपा० टी०	उपासकदशा टीका

ग्रन्थ संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ नाम
	ऋग्वेद
ओ० नि० ओघ० नि०	ओघनिर्युक्ति
ओ० नि० भा०	ओघनिर्युक्ति भाष्य
ओ० नि० वृ०	ओघनिर्युक्ति वृत्ति
औप०	औपपातिक
औप० टी०	औपपातिक टीका
	कठोपनिषद् (शाङ्कर भाष्य)
कल्प०	कल्पसूत्र
	कात्यायनकृत पाणिनि का वार्तिक
	कालीदास का भारत
कौटि० अर्थ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र
कौ० अ०	कौटलीय अर्थशास्त्र
	गच्छाचार
गीता० शा० भा०	गीता (शाङ्करभाष्य)
गोभिल स्मृ०	गोभिल स्मृति
च०	चरक
चरक सिद्धि०	चरक सिद्धिस्थान
च० सू०	चरक सूत्रस्थान
चू० (दश०)	चूलिका (दशवैकालिक)
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
छान्दो० शा० भा०	छान्दोग्योपनिषद् (शांकरभाष्य)
जम्बू०	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
ज० ध० धवला	जय धवला
जा० प्र० खं०	जातक प्रथम खण्ड
जि० चू०	जिनदास चूर्णि (दशवैकालिक)
जीवा० वृ० जी० वृ०	जीवाभिगम वृत्ति
जै० भा०	जैन भारती (साप्ताहिक पत्रिका)
	जैन सत्य प्रकाश (पत्रिका)
जै० सि० दी० जै० सि०	जैन सिद्धान्त दीपिका
ज्ञात०	ज्ञाताधर्मकथा

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम
ठा०	ठाणं
तत्त्वा०	तत्त्वार्थाधिगम सूत्र
त० भा० तत्त्वा भा०	तत्त्वार्थ भाष्य
तत्त्वा० भा० टी०	तत्त्वार्थ भाष्य टीका
दशवै० दश०	दसवेआलिय सुत्तं दशवैकालिक (के० वी० अभ्यङ्कर) (मनसुख लाल) (जी० घेलाभाई) (तिलकाचार्य वृत्ति)
दशवै० चू० दश० चू०	दशवैकालिक चूलिका
दशवै० दी० दी०	दशवैकालिक दीपिका
दश० नि०	दशवैकालिक निर्युक्ति
दशा०	दशाश्रुतस्कन्ध
दे० ना०	देशी नाममाला
द्वा० कु०	द्वादश कुलक
ध० ना० धन० नाम०	धनञ्जय नाममाला
धम्म०	धम्मपद
	धर्म निरपेक्ष भारत की प्रजातन्त्रात्मक परम्पराए
नं० नं० सू० नन्दी सू०	नन्दी सूत्र
नं० सू० गा०	नन्दी सूत्र गाथा
नाया०	नायाधम्मकहा
	नालन्दा विशाल शब्द-सागर
नि०	निशीथ
नि० चू० उ०	निशीथ चूर्णि उद्देशक
नि० चू०	निशीथ चूर्णि
नि० पी०	निशीथ पीठिका
नि० भा०	निशीथ भाष्य
नि० भा० गा०	निशीथ भाष्य गाथा
नि० पी० भा० चू०	निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि
नि० पी० भा०	निशीथ पीठिका भाष्य
नि० गा०	निर्युक्ति गाथा (दशवैकालिक)
	नृसिंह पुराण
पन्न०	पन्नवणा
पन्न० भा०	पन्नवणा भाष्य
पाइ० ना०	पाइय नाममाला

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम
	पाइयसद्दमहण्णव
पा० भा०	पाणिनिकालीन भारत
पा० व्या०	पाणिनि व्याकरण
पि० नि०	पिण्ड निर्युक्ति
पि० नि० वृ० पि० नि० टी०	पिण्ड निर्युक्ति टीका
प्रज्ञा०	प्रज्ञापना
	प्रबन्ध पर्यालोचन
	प्रभावक चरित्र
	प्रवचन परीक्षा विश्राम
प्रव० सारो० प्र० सा०	प्रवचन सारोद्धार
प्रव० टी०	प्रवचन सारोद्धार टीका
प्रव०	प्रवराध्याय
प्र० प्र० अव०	प्रशमरति प्रकरण अवचूरि
प्र० प्र० प्रशम०	प्रशमरति प्रकरण
प्र० उ०	प्रश्न उपनिषद्
प्रश्न० (आस्रव०)	प्रश्न व्याकरण आस्रवद्वार
प्रश्न०	प्रश्नव्याकरण
प्र० वृ०	प्रश्नव्याकरण वृत्ति
प्रश्न० सं०	प्रश्नव्याकरण संवरद्वार
	प्राचीन भारत
	प्राचीन भारतीय मनोरंजन
बृ० हि०	बृहद् हिन्दीकोष
	ब्रह्मचर्य
भग० जो०	भगवती जोड़
भग०	भगवती
भग० टी० भग० वृ०	भगवती टीका
भा० गा०	भाष्य गाथा
भिक्षु ग्रंथ०	भिक्षुग्रंथ रत्नाकर
भिक्षु०	भिक्षुशब्दानुशासन
	भिक्खुनो पातिमोक्ख
म० नि०	मज्झिम निकाय
म० स्मृ०	मनुस्मृति
म० भा० महा०	महाभारत
महा० शा०	महाभारत शान्तिपर्व
	महावग्गो (विनय पिटक)
मूला०	मूलाचार
मेघ० उ०	मेघदूत उत्तरार्द्ध
	मोहमुद्गराष्टकम्

ग्रंथ संकेत	प्रयुक्त ग्रंथ नाम
	यजुर्वेद
	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
	रसतरंगिणी
	लघुहारीत
व० चं०	वनस्पति चन्द्रोदय
व० स्मृ० वशिष्ठ०	वशिष्ठ स्मृति
वि० पि०	विनय पिटक
	विनय पिटक महावग्ग
	" " चुल्लवग्ग
	" भिक्खुनी पातिमोक्ख छत्तवग्ग
	" भिक्खु पातिमोक्ख
	भ० पातिमोक्ख
	विशुद्धि मार्ग भूमिका
वि० पु०	विष्णु पुराण
वृ० गौ० स्मृ०	वृद्ध गौतम स्मृति
व्य० व्यव०	व्यवहार
व्य० भा०	व्यवहार भाष्य
व्य० भा० टी०	व्यवहार भाष्य टीका
शा० नि० भू० शा० नि० शालि० नि०	शालिग्राम निघंटु भूषण
शु० शुक्र० नी०	शुक्रनीति
श्रमण०	श्रमण सूत्र
	श्री महावीर कथा
	षड्भाषाचन्द्रिका
सं० नि०	संयुक्त निकाय
	सदेह विषौषधि
सम०	समवायाङ्ग
सम० टी० सम० वृ०	समवायाङ्ग टीका
	सामाचारी शतक
	समीसांझनो उपदेश (गो.जी.पटेल)
	सिद्ध चक्र (पत्रिका)

ग्रन्थ संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम
सु० नि०	सुत्त निपात
सु० नि० (गुज०)	सुत्त निपात (गुजराती)
सु०	सुश्रुत
सु० चि०	सुश्रुत चिकित्सा स्थान
सु० सू०	सुश्रुत सूत्र स्थान
सू०	सूत्रकृताङ्ग
सू० चू०	सूत्रकृताङ्ग चूर्णि
सू० टी०	सूत्रकृताङ्ग टीका
	स्कन्द पुराण
स्था० टी० स्था० वृ०	स्थानाङ्ग टीका
स्मृ० अ०	स्मृति अर्थशास्त्र
हल० हला०	हलायुध कोष
हा० टी०	हारिभद्रीय टीका (दशवैकालिक)
	हिन्दू राज्यतन्त्र (दूसरा खण्ड)
हैम० हैमश०	हैम शब्दानुशासन
	A Dictionery of Urdu, Classical Hindi & English
	A Sanskrit English Dictionery
	Dasavealiya Sutra By K. V. Abhyankar, M. A.
	Dasvaikalika Sutra : A Study By M. V. Patwardhan.
	History of Dharmashastra By P. V. Kane, M. A. LL.M.
	Journal of the Bihar & Orissa Research Society
	The Book or Gradual Sayings Translated by E. M. Hare
	The Book of the Discipline (Sacred Books of the Buddhists) (Vol. XI)
	The Uttaradhyayan Sutra By J. Charpentier, Ph. D.